प्रथमआवृत्ति प्रति-५५०	राजसंस्करण-३०) रु० राजाधिराज " -४०) रु०	वीर सवत् २४६८ विक्रम सवत् २०२८

* प्राप्तिस्थान *

भारती प्राच्यतत्त्व प्रकाशन-समिति
C/o रमणलाल लालचंद
१३५/१३७ झवेरी बाजार बम्बई २

•

भारती प्राच्यतत्त्व-प्रकाशन-समिति
C/o शा समरथमल रायचंदजी
पिंडवाड़ा, (राज०)
स्टे० सिरोही रोड (W. R.)

•

भारतीय-प्राच्यतत्त्व-प्रकाशन-समिति
शा. रमणलाल वजेचन्द,
C/o दिलीपकुमार रमणलाल,
मस्कती मार्केट,
अहमदाबाद २.

•

मुद्रक—
ज्ञानोदय प्रिंटींग प्रेस, पिंडवाड़ा

Acharyadeva Shrimad-Vijaya-Premasurishwara-Karma-Sahitya Granthmala
GRANTH NO. 8

BANDHA VIHANAM
UTTARA PAYADI
PAYES BANDHO

[Along with **"PREMAPRABHA"** commentary]
By
A GROUP OF DISCIPLES



Inspired and Guided by
His Holiness Acharya Shrimad Vijaya
PREMASURISHWARJI MAHARAJA
the leading authority of the day
on Karma philosophy.



Published by-
Bharatiya Prachya Tattva Prakashana Samiti, Pindwara

First Edition Copies 550	DELUXE EDITION RS 30 SUPER DELUXE ,, RS. 40	A. D. 1972

AVAILABLE FROM :

1. BHARATIYA PRACHYA TATTVA PRAKASHANA SAMITI
C/o .Shah Ramanlal Lalchandji,
135/37 Zaveri Bazzar
BOMBAY-2
(INDIA)



2. BHARTIYA PRACHYA TATTVA PRAKASHANA SAMITI.
C/o Shah Samarathmal Raychandji,
PINDWARA, (Rajasthan)
St. Sirohi Road (W. R)
(INDIA)



3. Shah Ramanlal Vajechand,
C/o Dilipkumar Ramanlal,
Maskati Market,
AHAMEDABAD- 2.
(INDIA)



Printed by :
Gyanodaya Printing Press
PINDWARA. (Raj.)
St. Sirohi Road, (W.R)
(INDIA)

सकलागम रहस्यवेदि—सूरिपुरन्दर—बहुश्रुतगीतार्थ—परज्योतिर्विद् परमगुरुदेव



परमपूज्य आचार्यदेवेश श्रीमद्विजयदानसूरीश्वरजी महाराजा

-: पदार्थसंग्रहकारा :-

कर्मशास्त्रधुरीण गच्छाधिपा- ऽऽचार्यदेव-श्रीमद् विजयप्रेमसूरीश्वर-विनीत-विनेय-प्रभावक-प्रवचनकार-पंन्यासप्रवर-श्रीभानुविजयगणिवर्य विनेयमुनिवर्यश्री धर्मघोषविजयान्तिषदो विद्वद्वर्य गीतार्थमुनिश्री-**जयघोषविजयाः**, पंन्यासप्रवरश्री भानुविजयगणिवर्य-विनेया मुनिश्री-**धर्मानन्दविजयाः**, गच्छाधिपतिविनीतविनेय-गीतार्थमूर्धन्य-पंन्यासप्रवर-श्रीहेमन्तविजयगणिवर्यविनेय मुनिराजश्री-ललितशेखरविजय-शिष्यरत्न-मुनिवर्यश्री राजशेखरविजय-शिष्याणवो मुनिश्री**वीरशेखरविजयाश्च**



— मूलगाथाकाराः —

प्राकृतविशारदा मुनिश्री**वीरशेखरविजयाः** ।



—: टीकाकारः सम्पादकश्च :—

सिद्धान्तमहोदधि कर्मसाहित्यनिष्णात सच्चारित्रचूडामणि स्व. **आचार्यदेव श्रीमद्विजयप्रेम-सूरीश्वर**- विनेयरत्न विद्वद्वर्य प्रभावकप्रवचनकार **पन्यासप्रवर श्रीभानुविजय-गणिवरविनेयमुनिवर्य श्री-धर्मघोषवि**जयविनेय **मुनि-जयघोष विजयः**



— संशोधका —

कर्मशास्त्रविशारद-गच्छाधिपति-श्रीमद्-विजयप्रेमसूरीश्वरपट्टप्रभावका आगमप्रज्ञा-ऽऽचार्यदेव-**श्रीमद्-विजयजम्बूसूरीश्वराः पदार्थसंग्रहकारमुनिप्रवराश्च**

संपादकीय

विश्व विचित्रताओं से भरपूर है। इन विचित्रताओं का कारण भिन्न भिन्न दर्शनकार भिन्न भिन्न ईश्वर, प्रकृति, अदृष्ट आदि बताते हैं जब कि जैन दर्शनकार मुख्य कारण कर्म कहते हैं इसी कर्म के भेद-प्रभेद, आत्मा के साथ इसके संयोग के कारण, विपाकानुभवावस्था में आत्मा पर इसकी गहरी असर, इसके समूल उच्छेद के उपाय आदि का गहन चिन्तन करने वाले वर्तमान-युग में सिद्धान्त-महोदधि कर्म-साहित्य-निष्णात परमाराध्यपाद पूज्य स्व० आचार्यदेव **श्री-मद्विजय प्रेमसूरीश्वरजी** महाराजा हुए। कर्म-विषयक शास्त्रों का जो गहन चिन्तन आपने किया वह 'बंध विधान' के अन्तर्गत प्रकाशित ग्रन्थों में साकार हो रहा है।

आपने शिष्य-प्रशिष्य गण को अपने सान्निध्य में रखकर आगम, छेदग्रन्थ, कर्मग्रन्थ, कम्म पयडि आदि ग्रन्थों का तलस्पर्शी अभ्यास कराया, तत्पश्चात् **'बंध विधान'** ग्रन्थों में ग्रथित करने योग्य पदार्थों की संकलनादि का कार्य भार सौंपा। आपकी कृपा और आपके ही सान्निध्य से अनेक वृत्तिकारों की वृत्तियां से समन्वित 'बंध-विधान' ग्रन्थों के सर्जन-कार्य का करीबन तीन चौथाई (पौना) हिस्सा आपकी जीवितावस्था में ही पूर्ण हुआ था जिसका सूक्ष्मता से सांगोपांग संशोधन स्वयं आपने अपने नाजुक स्वास्थ्य में भी किया था। शेष कार्य भी मुनि-वृन्द द्वारा शिघ्र ही सम्पूर्ण हो रहा है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के पदार्थों की संकलना के बाद वृत्ति लिखने का तथा संपादन कार्य भी मेरे जिम्मे रहा। इस कार्य को यत्किंचित् पूरा कर सका हूँ इसमें मुख्य कारण स्व. पू. आचार्य देव की कृपा ही है, आपने अपने सान्निध्य में रखकर मुजे ग्रहण शिक्षा और आसेवन शिक्षा प्रदान की। पूज्य गुरुमह पन्यास प्रवर **श्री भानुविजयजी म. गणिवर्य** का भी उपकार असीम है, आपने भीम भवसागर में डूबते मुझे संयम नौका प्रदान की। स्व. पू. पन्यास प्रवर **श्री पद्मविजयजी. गणिवर्य** की खूब कृपा दृष्टि रही, आपने मेरी आसेवन शिक्षा में पूरा २ हाथ बटाया। तथा पू. गुरुदेव श्री **धर्मघोषविजयजी. म.** जो संसारी संबंध से मेरे पिता श्री है आपका भी असीम उपकार है, आपने स्वयं भागवती प्रव्रज्या स्वीकारी और साथ ही मुझे भी प्रदान करवाकर अनंत संसार के सैकड़ों दारुण विपाकों से मेरी आत्मा की रक्षा कर पितृ-संज्ञा को सार्थक किया।

इस ग्रन्थ का संशोधन कार्य आगमप्रज्ञ पूज्य आचार्यदेव श्रीमद्विजय **जम्बूसूरीश्वरजी** महाराजा, विद्वद् मुनिवर्य **श्री धर्मानन्द विजयजी** तथा विद्वद् मुनिवर्य श्री **वीरशेखर विजयजी** ने किया। इसी मुनि युगल ने संपादक कार्य में भी पूर्ण सहयोग दिया। मुनिवर्य **श्री जितेन्द्रविजयजी** ने भी शुरु से लगाकर अन्तर-द्वार तक के मेटर का संशोधन किया। शुरु शुरु में मुनिवर्य श्री **जगच्चन्द्र विजयजी** ने भी संशोधन और संपादन कार्य में सहयोग देने पूर्वक कुछ महत्त्व की सूचनाओं से संपादन कार्य में गति प्रदान की। महेसाणा जैन श्रेयस्कर मण्डल पाठशाला के प्रधानाध्यापक श्राद्धवर्य **पुखराजजी** अमीचन्दजी ने मूल मेटर को सुना तथा संमार्जित करवाया। पण्डितवर्य रतिलाल, वसंतलाल, शान्तिलाल आदि ने प्रेस कोपी तय्यार की। पण्डितवर्य वसंतलाल ने तो छपे हुए फर्मों को देखकर प्रेसदोषादि के कारण रही हुई अशुद्धियों का शुद्धि-पत्रक भी तय्यार किया जो संलग्न है। इसी तरह प्रस्तुत ग्रन्थ में अनेकों ने साक्षात् या परम्परा से सहयोग देकर श्रुत-भक्ति का लाभ लिया उन सर्व के प्रति मैं कृतज्ञता भाव को प्रदर्शित करता हूं।

अन्त में पदार्थ, भाषादि की शुद्धि के लिये सावधानी रखने पर भी छाद्मस्थ्य दोष से क्षति रह गई हो तो मिथ्यादुष्कृत देता हूं।

—मुनि जयघोषविजयः



सादर-समर्पण

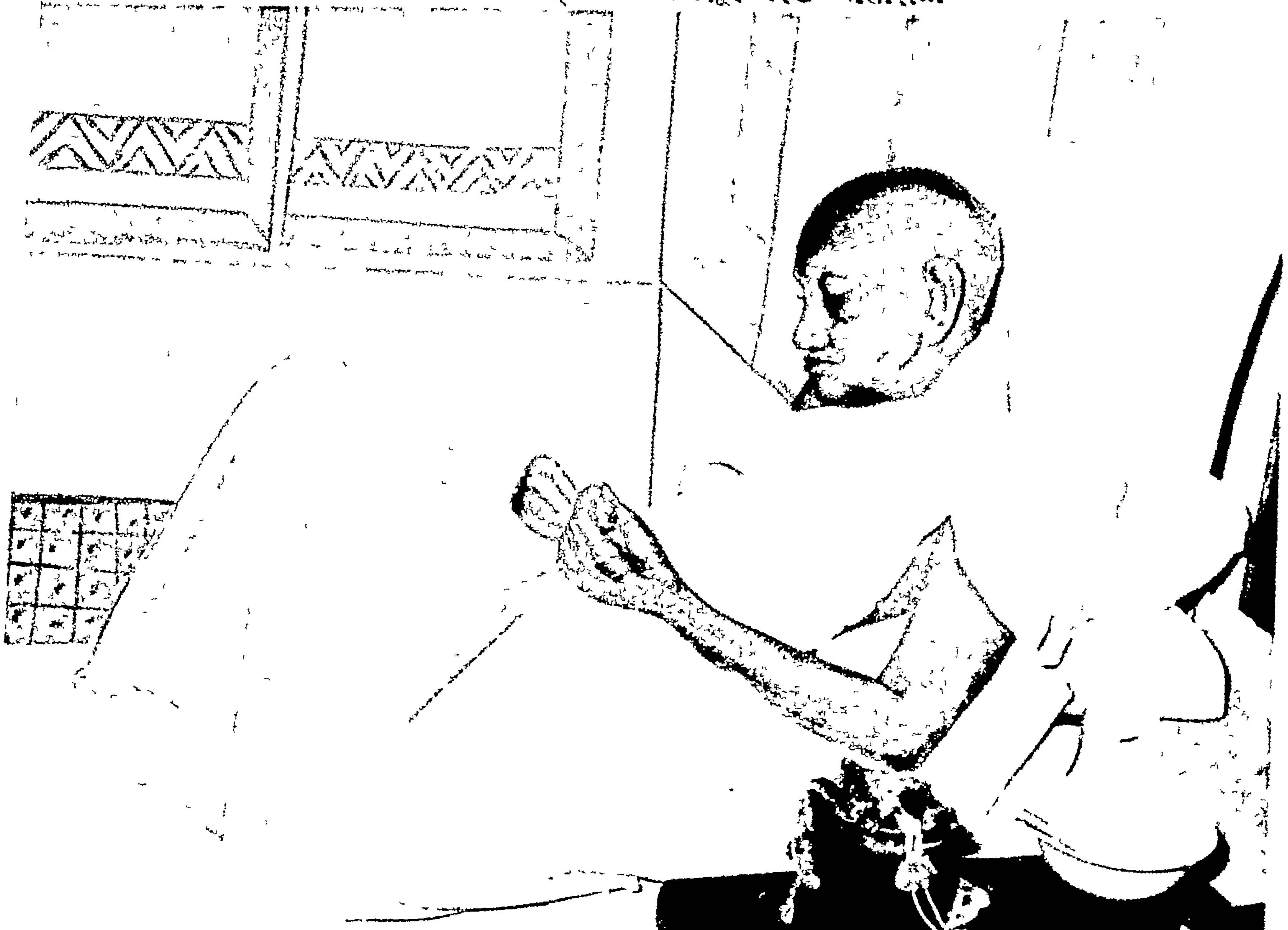
जिनकी तत्त्वदृष्टि और वात्सल्यपूर्ण प्रेरणा के कारण अज्ञान से पीडित तथा बाल-स्वभाव से चंचल मुझ जैसे में भी ज्ञान की स्फुरणा हुई तथा संयम में किञ्चित् स्थिरता आई जिन्होंने असीम कृपा कर **'बंध विधान'** ग्रन्थों के पदार्थों की संकलनादि का कार्य भार मुझे भी सौंपा उन्हीं युगपुरुष प्रगुरुमह सिद्धान्त महोदधि कर्म साहित्य-निष्णात सूरिपुरन्दर परमाराध्यपाद स्व. पूज्य आचार्यदेव श्री **मद्विजयप्रेमसूरीश्वरजी महाराजा** की पुण्य स्मृति में

निर्मलरत्नत्रयेप्सुः—

—मुनिजयघोषविजयः

સિદ્ધાન્તમહોદધિ સુવિશાલગચ્છાધિપતિ કર્મશાસ્ત્રરહસ્યવેદી શાસનશિરછત્ર સ્વ. પરમપૂજ્ય

આચાર્યદેવ શ્રીમદ્ વિજયપ્રેમસૂરીશ્વરજી મહારાજા



प्रकाशकीय

आसन्न उपकारी चरमतीर्थपति श्री वर्धमानस्वामिरूप हिमवद्गिरि से नीकली श्रुतगङ्गा जो करोड़ों जन्मों के पापमल से मलीन प्राणिगण को पवित्र करने के लिए प्रसिद्ध और विश्व की विविध आधि-व्याधियों से संतप्त शरीरधारिओं को शीतल करने में समर्थ है, उसके पवित्र प्रवाह को मुनि-वृषभों ने कुछ काल तक कण्ठस्थ पठन-पाठन पूर्वक प्रवाहित रखा । तत्पश्चात् दुःषमकाल के विषम-प्रभाव से बुद्धि-बलादि की प्रतिक्षण हो रही हानि के कारण यह पवित्र और अत्युपयोगी प्रवाह भी हीन-क्षीण न हो जाय अतः पूर्वर्षिओं ने द्वादशांगी रूप श्रुतगङ्गा के ग्यारह अंग जो सूत्र-संख्या की अपेक्षा से सिमित थे उनको लेखन बद्ध किये । किन्तु बारहवां अंग दृष्टिवाद अति-गहन था तथा उसके अन्तर्गत चौदह-पूर्व की सूत्र-संख्या तो इतनी विस्तृत थी कि उसे कण्ठस्थ रखना दुष्कर था, और परिमित साधनों से लेखनरूप शब्ददेह देना भी कठिन कार्य था । ऐसी स्थिति में महर्षिओने सारभूत पदार्थों के संग्रहरूप प्रकरण ग्रन्थों की रचना का आरम्भ किया । फलतः वह प्रकरण ग्रन्थो आज भी जिज्ञासुओं की ज्ञानपिपासा छिपाने के लिए स्रोतरूप सिद्ध हो रहे हैं ।

इन प्रकरण रचना रूप पूर्वमहर्षियों के महाप्रयत्नों के अन्तर्गत उक्तहेतु को लक्ष्य कर स्व० आचार्यदेव सिद्धान्तमहोदधि कर्मसाहित्य निष्णात परम निस्पृह १००८ श्रीमद्विजय-**प्रेमसूरीश्वरजी** महाराज साहेब ने भी कर्म, जो कि द्रव्यानुयोग का अतिगहन और सूक्ष्म विषय है, मन्दमति-जीवों की तो इसमें तलस्पर्शी पहुंच ही नहीं होती, शायद इसी कारण कर्मविषयक अभ्यासिओं की खूब कमी है, यही बात ध्यान में रखकर इस विषय को सरल और विस्तृत रूप से संकलन कराने का शुभसंकल्प किया । महात्माओं के संकल्प कभी निष्फल नहीं होते हैं । फलतः स्वयं अपने शिष्य प्रशिष्यों को कर्म-विषयक तलस्पर्शी अभ्यास करवाया और उनको कर्म-साहित्य के नव-निर्माण के लिए उत्साहित किया । अपूर्व ग्रन्थों का सर्जन हुआ और हो रहा है ।

पू. स्व० आचार्यदेव की असीमकृपा से हम **'खवगसेढी'** आदि ग्रन्थों के प्रकाशन कार्य में सफल रहे । प्रस्तुत ग्रन्थ **'पएसबंधो'** के प्रकाशन अवसर पर सफलता की प्रसन्नता के साथ साथ ग्रन्थ के पदार्थ-संग्रहकार पूज्य मुनिराजश्री **जयघोष** वि० म०, पू० मु० श्री **धर्मानन्द** वि. म., पू. मु. श्री **वीरशेखर** वि. म., मूलगाथाकार पू. मु. श्री वीरशेखर वि. म.,

वृत्तिकार और संपादक पू. श्री जयघोष वि. म., आप सर्व का खूब खूब हार्दिक आभार हम व्यक्त करते हैं ।

अहमदावाद (राजनगर) के मध्य कालुपुर रोड पर विशाल भूमि-गृह से युक्त छ मञ्जिला गगन चुम्बि भवन शहर की शोभा में अभिवृद्धि कर रहा है वह **श्री दानसूरीश्वर-ज्ञान मन्दिर-पौषधशाला** के नाम से प्रसिद्ध है । तलभवन में **परमगुरुवर्यश्रीमद्विजय दानसूरीश्वरजी महाराजा** की स्वदेह प्रमाण प्रतिकृति सुप्रतिष्ठित हैं जिसके दर्शन वंदन से प्रतिदिन वडी संख्या में भक्त-जन अपनी आत्मा को पावन करते हैं । इसी भवन के विशाल भूमि-गृह में विविध साहित्य का हजारों पुस्तकें और प्रतों के रूप में वडा भारी संग्रह है । आदान-प्रदान की सुचारु व्यवस्था के कारण अहमदावाद में तथा वहार गांव में रहा हुआ श्रमण संघ इस संग्रह का पूरा लाभ उठा रहा है । जिसका श्रेयः ट्रस्ट के कार्यशील ट्रस्टी मण्डल को आभारी है । प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रकाशन में भी इसी ट्रस्ट **अहमदावाद** से रु० १००००) की विपुल धनराशी ग्रन्थ प्रकाशन में द्रव्य सहाय रूप प्राप्त हुई तदर्थ ज्ञानमन्दिर ट्रस्टी मण्डल की हम भूरी-भूरि प्रशंसा करते हैं । ज्ञानोदय-मुद्रणालय पिन्डवाडा के व्यवस्थापका व्यावर निवासी फतेहचन्दजी जैन और अन्य कर्मचारिओं की सेवा भी प्रशंसनीय रही ।

निकट भविष्य में और अधिक ग्रन्थों के प्रकाशन की आशा में ।

भवदीय-
शा. समरथमल रायचन्दजी (मंत्री)
शा. शान्तिलाल सोमचंद (भाणाभाइ) (मंत्री)
शा. लालचन्द छगनलालजी (मंत्री)
भारतीय-प्राच्य-तत्त्व-प्रकाशन समिति

(i) पिंडवाड़ा
स्टे सिरोहीरोड (राजस्थान)
(ii) १३५/१३७ जौहरी बाजार
बम्बई-२

विषयानुक्रमणिका

विषयः	पृष्ठाङ्कः
(६) अन्तरद्वारम् (एकजीवाश्रितम्)	
ओघतो ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्य जघन्योत्कृष्टान्तरम्	१६८
ओघतोऽनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्य जघन्योत्कृष्टान्तरम्	१६९-१७१
प्रकृतिसंग्रहनिरूपणम्	१७१
मार्गणास्वायुर्वर्जाना ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्य जघन्यान्तरम्	१७२
मार्गणास्वायुर्वर्जाना ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टान्तरम्	१७२-१८६
आयुर्वर्जानामनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्य मार्गणापञ्चके जघन्योत्कृष्टान्तर शेषमार्गणासु च जघन्यान्तरम्	१८६-२०२
मार्गणास्वायुरुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्य जघन्यान्तरम्	२०२
मार्गणास्वायुरुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टान्तरम्	२०३-२०८
मार्गणास्वायुरनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्य ह्रस्वान्तरम्	२०८
मार्गणास्वायुरनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्य ज्येष्ठान्तरम्	२०८-२१०
ओघतो जघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्योत्कृष्टान्तरम्	२१०-२१२
ओघतोऽजघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्योत्कृष्टान्तरम्	२१२-२१४
मार्गणास्वायुर्वर्जानां जघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्यान्तरम्	२१४-२२४
मार्गणास्वायुर्वर्जानां जघन्यप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टान्तरम्	२२५-२३१
मार्गणास्वायुर्वर्जानामजघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्यान्तरम्	२३२
मार्गणास्वायुर्वर्जानामजघन्यप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टान्तरम्	२४५-२५०
मार्गणास्वायुर्जघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्यान्तरम्	२५०-२५२
मार्गणास्वायुर्जघन्यप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टान्तरम्	२५२-२५७
मार्गणास्वायुरजघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्योत्कृष्टान्तरम्	२५७-२५८
(७) सन्निकर्षद्वारम्	
सन्निकर्षस्वरूपं तद्भेदाश्च	२५८
स्वस्थान सन्निकर्षः	
ज्येष्ठप्रदेशबन्धसत्कः	
ज्ञानावरणवेदनीयायुर्गोत्रान्तरायाणामोघतो मार्गणासु च	२५९-२६०
दर्शनावरणोत्तरप्रकृतीनामोघतः	२६०
मार्गणासु दर्शनावरणस्योत्तरप्रकृतीनाम्	२६१-२६३
ओघतो मोहनीयसत्कोत्तरप्रकृतीनाम्	२६३-२६७
मार्गणासु मोहनीयप्रकृतीनाम्	२६७-२७४
ओघतो नामप्रकृतीनाम्	२७४-२८२
मार्गणासु नामप्रकृतीनाम्	२८२-२९७
जघन्यप्रदेशबन्धसत्कः	
ज्ञानावरणदर्शनावरणवेदनीयायुर्गोत्रान्तरायाणामोघे मार्गणासु च	२९८
ओघतो मोहनीयप्रकृतीनाम्	२९९
मार्गणासु मोहनीयप्रकृतीनाम्	२९९-३०१
ओघतो नामप्रकृतीनाम्	३०१-३०६
मार्गणासु नामप्रकृतीनाम्	३०७-३२७
परस्थान-सन्निकर्षः	
उत्कृष्टप्रदेशबन्धसत्कः	
ओघतः सर्वोत्तरप्रकृतीनाम्	३२८-३४१
मार्गणासु बन्धप्रायोग्यसर्वोत्तरप्रकृतीनाम्	३४१-४११
जघन्यप्रदेशबन्धसत्क ओघतः सर्वोत्तरप्रकृतीनाम्	४११-४१७
मार्गणासु बन्धप्रायोग्यसर्वोत्तरप्रकृतीनाम्	४१७-४७४
टीकाकृत्प्रशस्तिः	४७६
द्रव्यसहायकप्रशस्तिः	४७६-४७७

॥ ॐ ह्रीँ अर्हँ नमः ॥

॥ श्रीशङ्खेश्वरपार्श्वनाथाय नमः ॥

सकलागमरहस्यवेदिपरमज्योतिर्विच्छ्रीमद्विजयदानसूरीश्वरसद्गुरुभ्यो नमः ।

प्रवचनकौशल्याधार सुविहिताग्रणी-गच्छाधिपति-परमशासनप्रभावक-सिद्धान्तमहोदधि-
कर्मशास्त्रनिष्णाता-ऽऽचार्यदेवश्रीमद्विजयप्रेमसूरीश्वरपादानां पुण्यतमनिश्रायां
तदन्तेवासिवृन्दविनिर्मितं मुनिश्रीजयघोषविजय-धर्मानन्दविजय-
वीरशेखरविजयसंगृहीतपदार्थकं मुनिश्रीवीरशेखरविजय-
विरचितमूलगाथाकं प्रेमप्रभाटीकाविभूपितम्

बंधविहाणं

तत्र

मुनिश्रीजयघोषविजयविरचित—

प्रेमप्रभाटीकासमलङ्कृतः

उत्तरपयडि-

पएसबंधो

(उत्तरप्रकृतिप्रदेशबन्धः)

प्रेमप्रभाटीका—

सर्वज्ञं सकलार्थदर्शिनमिलालङ्कारहारोपमम् ,
सद्भावाञ्चितचित्तवित्तमहितं सर्वाङ्गिसेव्यक्रमम् ।
सर्वारिष्टविनाशकं शिवकरं दुर्भेद्यसर्वागमम् ,
वन्देऽनुत्तरधामधाममनघं श्रीमद्युगादीश्वरम् ॥१॥

यन्नाम्ना ह्यभवन् महार्तिविलयो भावी भवत्यद्य भोः,
यन्नाम्ना निखिलं जगत् प्रियतमां प्राप्नोति शान्तिं परां ।
यन्नाम्ना भवरोगशोकभयदं दुःखं सुदूरीकृतं,
स्यान्मे शान्तिजिनेश्वरो भवभयभ्रान्तिप्रशान्त्यै प्रभुः ॥२॥

त्रैलोक्यालम्बदण्डः परमपदगृहारोहनिःश्रेणिदण्डः,
कन्दर्पाघातदण्डो भवजलधिपतद्देहिनां सेतुदण्डः ।
दोर्दण्डः पातु नेमेर्नरकपुरमहाद्वाररोधैकदण्डः,
सद्धर्माधारदण्डो हरिनिबिडकराकर्षणान्दोलदण्डः ॥३॥

पापौघप्रसरद्घनाघनगणप्रासाग्रवेगाशुगं
विश्वव्याप्तविशिष्टशिष्टजनताजातप्रतिष्ठागृहं
श्रद्धेयं सुमनःप्रतिक्षणवरस्मर्तव्यसन्नामकं
वन्दे **पार्श्वविभुं** प्रभावभवनं श्रीपार्श्व-पार्श्वं परम् ॥४॥

स्वस्तिश्रीनिलयं प्रभाववलयं विज्ञानविद्यालयम्
पापौघप्रलयं प्रलीनसकलद्वन्द्वं प्रमोदालयम्
स्याद्वादप्रवहद्महात्रिपथगाधारातुषारालयम्
वन्दे वन्द्यपदं सदैव विमलं **श्रीत्रैशलेयं** जिनम् ॥५॥

ज्योतिर्विदां परतमो व्रतिनां वरेण्यः,
प्रश्नोत्तरेषु चतुरस्तरणिप्रतापी ।
श्रीदानसूरिरचलः कृतिसङ्घवादे,
कक्षीकरोतु सततं मम दासभावम् ॥६॥

स्वाध्यायध्यानमग्नः प्रवरगुणनिधिः कर्मसाहित्यनिष्णः
सिद्धान्ते सिद्धबुद्धिः शमरसजलधी राजते **प्रेमसूरिः** ।
गच्छाकाशे विशाले भमुनिपरिवृतो राजराजप्रकारः
दृष्ट्वा यं चं चकोरीव चतुरमुनिधीः सम्परीनर्ति शुभ्रा ॥७॥

श्रीदानसूरीन्द्रसुपट्टसिन्धुप्रोल्लाससम्पूर्णपयोधिपुत्रः,
श्री प्रेमसूरिर्जयतात् जगत्यां प्रोद्दर्पकन्दर्पमहारिजैत्रः ॥८॥

गुरुश्रीमत्प्रेमप्रवरचरणाब्जे मधुकरः,
वरः शिष्यः शिष्यैः परिवृत इवेन्दुर्ग्रहगणैः
तपस्तेजः सम्यक् तपति यदीयं सद् मुनिगणे
तपोभानुर्भानुविजयगणिवर्यो विजयतात् ॥९॥

यो वान्येऽपि भवोदधेर्मम पिता मे चाशुनिस्तारक-
श्चारित्रप्रतिपालने मयि सदा यस्यामितप्रेरणा

संसारार्तिनिवारणान्निजपदं चक्रे कृतार्थं च यो
भूयान्मुक्तिपथे मदीयगुरुराट् श्रीधर्मघोषाभिधः ॥१०॥
विवरणेऽतिदुर्गेऽस्मिन् दिग्दर्शनपरायणान्
यतिवृन्दारकानत्र स्मरणपथमानये ॥११॥
द्रूहिणवदनपद्मे राजहंसीव शुभ्रा
सकलकलुषवल्लीकन्दकुद्दालकल्पा
अमरशतनताङ्घ्रिः कामधेनुः कवीनां
दहतु कमलहस्ता भारती कल्मषं नः ॥१२॥

अथ श्रीबन्धविधाने प्रकृतिस्थितिरसबन्धान् सप्रभेदान् मूलप्रकृतिप्रदेशबन्धं च सविस्तरं निरुप्य उत्तरप्रकृतिप्रदेशबन्धं निरुपयितुकामो मूलकृदादौ तावद् मङ्गलादिचतुष्कं निबध्नन्नाह—

अह सिरिभाभापासं भइउं भद्दंकरं भविजणाणं ।
भणिमो पएसबंधं उत्तरपयडीसु गुरुवयसा ॥१॥

(प्रे०) "**अह**"त्ति, अथशब्द आनन्तर्ये, मूलप्रकृतिप्रदेशबन्धं नानाधिकारैर्निरुप्य तदनन्तरमित्यर्थः, "**सिरिभाभापास**" मित्यादि, **श्रीअणहीलपुरपट्टण**के भाभासंज्ञकपाटके विराजमानं सप्रभावं **श्रीपार्श्वनाथस्वामिनम्** "**भइउं**" भज् धातुः सेवायाम्, सेवा पुनरिह मनोवाक्कायशरणरूपा ग्राह्या, श्रीभाभापार्श्वनाथस्वामिनं योगत्रयेण सम्यक्शरणं स्वीकृत्य इत्यर्थः, किं विशिष्टं श्रीपार्श्वनाथमित्याह--"**भद्दंकरं भविजणाण**" इति, भद्रं करोतीति भद्रंकरस्तम्, अपवर्गसुखलक्षणकल्याणकरस्तमित्यर्थः, प्रधानफलजनकत्वापेक्षया एतत्, आनुषङ्गिकफलापेक्षया तु भगवच्छरणेन विघ्नविनायकविघटनाद् आपत्तिर्विनाशः चित्तसमाधिलाभश्च । केषामित्याह-'**भव्यजनानां**' इति, इह भव्यजनानामिति सामान्यनिर्देशेऽपि कालादिसामग्रीसहकृतानां प्राधान्येन भद्रंकरा भवन्तीति, स्वर्गादिप्राप्त्यपेक्षया तु भगवदाज्ञानुकूल्येन वर्तमानानां भव्यानामभव्यानां दुर्भव्यानामपि । भजित्वेत्यत्र "क्त्वा" प्रत्ययस्योत्तरक्रियासापेक्षत्वात् "भणिमो" इत्यनेनोत्तरक्रियामाह-"**भणिमो**" कथयामि, कमित्याह "**पएसबंध**"मिति प्रदेशबन्धम्, बध्यमानानां कर्मणां दलिकप्रमाणादिकमित्यर्थः, "**उत्तरपयडीसु**" उत्तरप्रकृतिषु, सप्तमीविभक्तेर्विषयार्थत्वादुत्तरप्रकृतिविषयमित्यर्थः । सर्वाण्यपि कार्याणि गुर्वनुज्ञातानि गुर्वादिष्टानि वा मुमुक्षुभिः कार्याणि, ततोऽयमपि ग्रन्थो नानावृत्तिकृद्विनिर्मितवृत्तिसमन्वितो गुरुवचसा एव समजायत इत्याह '**गुरुवयसा**'इति । तत्र गुरवः साक्षाद्रूपेण सच्चारित्रचूडामणयः कर्मसाहित्यनिष्णाताः सिद्धान्तपारंगता आचार्यपादाः श्रीमद्विजयप्रे**मसूरीश्वराः**, तेषां प्रेरणाप्रसादादित्यर्थः ।

अत्र "गुरुवचसा" इत्यनेन शास्त्रवचनानुसारेण इत्यपि ज्ञापितम् । अत्र गाथापूर्वार्धेन प्रकृत-ग्रन्थसमाप्त्यादिकप्रतिबन्धकप्रत्यूहप्रलयार्थं देवाधिदेवशरणात्मकं मङ्गलमभिहितम् । गाथा-यामुत्तरार्धेनाऽभिधेयमुत्तरप्रकृतिप्रदेशबन्धविध्याख्यमभिहितम् । प्रयोजनसम्बन्धौ साक्षादनुक्ता-वपि सामर्थ्यादधिगम्यौ, प्रयोजनं त्वत्रऽनन्तरपरम्पररूपं द्विविधं वर्तते, उभयमपि कर्तृश्रोतृभेदाभ्यां द्विविधम्, ग्रन्थकर्तुरनन्तरप्रयोजनं बन्धविधेर्ज्ञानविश्रापनम् । श्रोतुश्च तज्ज्ञानकरणम् । उभयोरपि परम्परप्रयोजनमपवर्गाऽवाप्तिः । सम्बन्धोऽप्यत्र द्विधा तर्कानुसारिणमाश्रित्य उपायो-पेयभावरूपः वाच्यवाचकभावरूपो वा, श्रद्धानुसारिणं प्रतीत्य पुनः गुरुपर्वक्रमलक्षणः स चाग-णितलब्धिमन्तं चतुर्दशपूर्वविच्छ्रेष्ठं गणभृद्वरं श्रीसुधर्मास्वामिनमादौ कृत्वा यावदस्मद्गुरु-प्रवरं तपगच्छगगनदिनमणिं सिद्धान्तमहोदधिपदालङ्कृतमाचार्यदेवं श्रीमद्विजयप्रेमसूरिपादं परम्परालक्षणो ज्ञेयः । उभयरूपोऽपि सम्बन्धोऽस्मिन् ग्रन्थे समस्तीति ॥१॥

तदेवं मङ्गलादिचतुष्टयमभिधाय उत्तरप्रकृतिप्रदेशबन्धरूपाभिधेयस्य या चत्वारो महा-धिकारा भवन्ति, तानेव नामग्राहपूर्वकं दर्शयन्नाह—

चत्तारो अहिगारा तत्थ खलु जहक्कमं मुणेयव्वा ।
पढमो भूओगारो पयणिक्खेवो तहा वुड्ढी ॥२॥

(प्रे०) "चत्तारो" इत्यादि, बन्धविधानशास्त्रस्य प्रदेशबन्धनामचतुर्थमहाखण्डस्योत्त-रार्धे उत्तरप्रकृतिप्रदेशबन्धप्ररूपणायां चत्वारो महाधिकारा भवन्ति, तेषां नामानि उत्तरार्धेन दर्शि-तानि. तद्यथा-"पढमो" इत्यादि, भूयस्काराद्यधिकारेभ्यः प्रथमतयोपात्तत्वात् क्रमगुणनिष्पन्नः प्रथमाधिकारसंज्ञकाद्याधिकारः, यद्वा प्रथममुत्कृष्टादिप्रदेशबन्धानां स्वामित्वकालान्तरादीनां ज्ञाने सति भूयस्कारादीनां सुखेनावगमाच्छेषाधिकारेभ्यः प्रथमस्थितत्वाच्च प्रथमाधिकारः । द्वितीयो भूयस्काराधिकारः, प्रदेशसत्कभूयस्काराल्पतरावस्थितावक्तव्यबन्धानां अत्राधिकारे सत्पद-स्वामित्वादिनानाद्वारैर्निरूपणं भविष्यति । एवं तृतीये पदनिक्षेपाधिकारे उत्कृष्टजघन्यपदाभ्यां प्रदेशस्यैव भूयस्काराल्पतरावस्थितबन्धविशेषाणां निरूपणं करिष्यते । चतुर्थे वृद्ध्यधिकारेऽनन्तगुण-वृद्धिहानी विहाय यथासंभवं पञ्चविधानां चतुर्विधानां वा वृद्धिहानीनामल्पतरावस्थितयोश्च सत्प-दस्वामित्वादिद्वारैः प्ररूपणं करिष्यते ॥२॥ अथ तेषां चतुरधिकाराणां द्वारसंख्यां निरूपयन्नाह—

तेसु पढमाईसु अहिगारेसु चउसु जहाकमसो ।
हुन्ते सोलस तेरस तिण्णि य तेरस दुआराणि ॥३॥

(प्रे०) "तेसु" मित्यादि, प्रागनन्तरनिर्दिष्टार्थाधिकारचतुष्के क्रमशः षोडशादीनि द्वाराणि, भवन्ति, तद्यथा-प्रथमाधिकारे षोडश द्वाराणि, द्वितीये भूयस्काराधिकारे त्रयोदश द्वाराणि, तृतीये पदनिक्षेपाधिकारे त्रीणि द्वाराणि, चतुर्थे वृद्ध्यधिकारे त्रयोदशद्वाराणि भवन्तीति ॥३॥

।। प्रथमाधिकारः ।।

तत्रादौ प्रथमाधिकारं निरूपयिषुस्तद्द्वाराणि नामतो निरूपयन्नाह--

तहि आइमअहिगारे णेयाइं दलविभाजणं ठाणं ।
सामित्तसाइआई कालंतरसण्णियासा य ।।४।।
भंगविचयो य भागो परिमाणं खेत्तफोसणा कालो ।
अंतरभावऽप्पबहू सोलस दाराणि जहकमसो ।।५।।

(प्रे०) 'तही' त्यादि, तत्रानन्तरप्रागादिष्टाधिकारचतुष्टयमध्ये प्रथमाधिकारे यानि षोडश द्वाराणि संख्यातो दर्शितानि, तान्येव नामत आह-प्रथमं दलविभाजनद्वारम्, द्वितीयं स्थानद्वारम्, तृतीयं स्वामित्वद्वारम्, चतुर्थं साद्यादिद्वारम्, पञ्चमं कालद्वारम्, षष्ठमन्तरद्वारम्, सप्तमं सन्निकर्षद्वारम्, एतानि सप्तद्वाराणि एकजीवविषयकाणि भवन्ति । तदनु नानाजीवविषयकाणि द्वाराणि, तत्राष्टमं भङ्गविचयद्वारम्, नवमं भागद्वारम्, दशमं परिमाणद्वारम्, एकादशं क्षेत्रद्वारम्, द्वादशं स्पर्शनाद्वारम्, त्रयोदश कालद्वारम्, चतुर्दशमन्तरद्वारम्, पञ्चदशं भावद्वारम्, षोडशमल्पबहुत्वद्वारमिति षोडशद्वाराणां नामानि । अत्र क्षेत्र- स्पर्शना-भावद्वारेषु एकजीवमधिकृत्य प्ररूपणसंभवेऽपि सुगमप्रायस्त्वात्तन्न विव्रियन्ते । एतेषां स्वरूपं प्राक्स्थितिबन्धप्रेमप्रभादावनेकशो व्याख्यातमिति न पुनर्व्याख्यायते ।।४-५।।

卐

।। प्रथमं दलविभाजनद्वारम् ।।

अथ ग्रन्थकार आद्यं दलविभाजनद्वारं निरूपयितुकाम स्तं कर्मप्रकृतिगाथाभिर्दर्शयन्नाह-

जं सव्वघातिपत्तं सगकम्मपएसणंतमो भागो ।
आवरणाण चउद्धा तिहा य अह पंचहा विग्घे ।।६।।

(मलय०)—सम्प्रत्युत्तरप्रकृतीनां भागविभागोपदर्शनार्थमाह-'जं' ति, यत् कर्मदलिकं सर्वघातिप्राप्तं केवलज्ञानावरणीयादिरूपसर्वघातिप्रकृतिषु गतं तत् स्वकर्मप्रदेशानामनन्ततमो भागः, स्वकीयाया ज्ञानावरणादिरूपाया मूलप्रकृतेर्यो मौलो भागस्तस्यानन्ततमो भाग इत्यर्थः । काऽत्र युक्तिरिति चेद्, उच्यते-इहाष्टानामपि मूलप्रकृतीनां प्रत्येकं ये स्निग्धतराः परमाणवस्ते स्तोकाः । ते च स्वस्वमूलप्रकृतिपरमाणूनामनन्ततमो भागः । त एव च सर्वघातिप्रकृतियोग्या इति यत्सर्वघातिप्राप्तं तत् स्वमूलप्रकृतिप्रदेशानामनन्ततमो भागः । तस्मिश्चानन्ततमे भागेऽप-

सारिते शेषं यद्दलिकं तत्सर्वघातिप्रकृतिव्यतिरिक्तेभ्यः तत्कालबध्यमानेभ्यः स्वस्वमूलप्रकृत्यवान्तरभेदेभ्यो विभज्य विभज्य दीयते । तथा चाह–'आवरणाण' इत्यादि । 'आवरणयोः' ज्ञानावरणदर्शनावरणयोः प्रत्येकं मूलभागस्य सर्वघातिप्रकृतिनिमित्तेऽनन्ततमे भागेऽपसारिते सति शेषस्य दलिकस्य यथाक्रमं चतुर्धा त्रिधा च विभागः क्रियते, कृत्वा च शेषदेशघातिप्रकृतिभ्यो दीयते । तथा 'विघ्ने'–अन्तराये यो मूलभागः स समग्रोऽपि पञ्चधा कृत्वा दानान्तरायादिभ्यो दीयते । इयमत्र भावना–ज्ञानावरणीयस्य स्थित्यनुसारेण यो मूलभाग आभजति, तस्यानन्ततमो भागः केवलज्ञानावरणाय दीयते, शेषस्य चत्वारो भागाः क्रियन्ते, ते च मतिज्ञानावरणश्रुतज्ञानावरणावधिज्ञानावरणमनःपर्यवज्ञानावरणेभ्यो दीयन्ते । दर्शनावरणीयस्यापि यो मूलभाग आभजति तस्यानन्ततमं भागं षोढा कृत्वा निद्रापञ्चककेवलदर्शनावरणाभ्यां सर्वघातिभ्यां प्रयच्छति, शेषस्य च त्रयो भागाः क्रियन्ते, ते च चक्षुरचक्षुरवधिदर्शनावरणेभ्यो दीयन्ते । अन्तरायस्य पुनर्यो मूलभाग आभजति स समग्रोऽपि सर्वघात्यवान्तरभेदाभावात् पञ्चधा कृत्वा दानान्तरायादिभ्यो दीयते ॥६॥

मोहे दुहा चउद्धा य पंचहा वावि बज्झमाणीणं ।
वेयणिआउयगोएसु बज्झमाणीण भागो सिं ॥७॥

(मलय०)–'मोहे' त्ति । मोहनीये स्थित्यनुसारेण यो मूलभाग आभजति तस्यानन्ततमो भागः सर्वघातिप्रकृतियोग्यो द्विधा क्रियते, अर्धं दर्शनमोहनीयस्य, अर्धं चारित्रमोहनीयस्य । तत्रार्धं दर्शनमोहनीयस्य सत्कं समग्रमपि मिथ्यात्वमोहनीयस्य ढौकते । चारित्रमोहनीयस्य तु सत्कमर्धं द्वादशधा क्रियते, ते च द्वादशभागा आद्येभ्यो द्वादशकषायेभ्यो दीयन्ते । सम्प्रति शेषदलिकभागविधिरुच्यते–'मोहे दुह' इत्यादि । शेषस्य च मूलभागस्य द्वौ भागौ क्रियेते, एकः कषायमोहनीयस्य, अपरो नोकषायमोहनीयस्य । तत्र कषायमोहनीयस्य भागः पुनश्चतुर्धा क्रियते, ते च चत्वारोऽपि भागाः संज्वलनक्रोधादिभ्यो दीयन्ते । नोकषायमोहनीयस्य तु भागः पञ्चधा क्रियते, ते पञ्चापि भागा यथाक्रमं त्रयाणां वेदानामन्यतमस्मै वेदाय बध्यमानाय हास्यरतियुगलारतिशोकयुगलयोरन्यतरस्मै युगलाय भयजुगुप्साभ्यां च दीयन्ते, नान्येभ्यः, बन्धाभावात् , न हि नवापि नोकषाया युगपद् बन्धमायान्ति किन्तु यथोक्ताः पञ्चैव । तथा वेदनीयायुर्गोत्रेषु यो मूलभाग आभजति स एतेषामेव एकैकस्याः प्रकृतेर्बध्यमानाया ढौकते, द्विप्रभृतीनाममीषां युगपद्बन्धाभावात् ॥ ७ ॥

पिंडपगतीसु बज्झंतिगाण वन्नरसगंधफासाणं ।
सव्वासिं संघाए तणुम्मि य तिगे चउक्के वा ॥८॥

(मलय०)—'पिंड' त्ति । पिण्डप्रकृतयो नामप्रकृतयः । यदाह चूर्णिकृत्–"पिंडपगईओ नामपगईओ" त्ति । तासु मध्ये बध्यमानानामन्यतमगतिजातिशरीरबन्धनसंघातनसंहननसंस्थानाङ्गोपाङ्गानुपूर्वीणां वर्णगन्धरसस्पर्शागुरुलघूपघातपराघातोच्छ्वासनिर्माणतीर्थकरणामातपोद्योत-प्रशस्तविहायोगतित्रसस्थावरबादरसूक्ष्मपर्याप्तापर्याप्तप्रत्येकसाधारणस्थिरास्थिरशुभाशुभसुस्वरदुःस्वरसुभगदुर्भगादेयानादेययशःकीर्त्ययशःकीर्त्यन्यतराणां च मूलभागो विभज्य समर्पणीयः । अत्रैव विशेषमाह-'वण्ण' इत्यादि । वर्णगन्धरसस्पर्शानां प्रत्येकं यद्भागलब्धं दलिकमायाति तत्सर्वेभ्यस्तेषामवान्तरभेदेभ्यो विभज्य विभज्य दीयते । तथाहि-वर्णनाम्नो यद्भागलब्धं दलिकं तत्पञ्चधा कृत्वा शुक्लादिभ्योऽवान्तरभेदेभ्यो विभज्य प्रदीयते । एवं गन्धरसस्पर्शानामपि यस्य यावन्तो भेदास्तस्य संबन्धिनो भागस्य तति भागाः कृत्वा तावद्भ्योऽवान्तरभेदेभ्यो दातव्याः । तथा संघातने तनौ च प्रत्येकं यद्भागलब्धं दलिकमायाति तत्त्रिधा चतुर्धा वा कृत्वा त्रिभ्यश्चतुर्भ्यो वा दीयते । तत्रौदारिकतैजसकार्मणानि वैक्रियतैजसकार्मणानि वा त्रीणि शरीराणि संघातनानि वा युगपत् बध्नता त्रिधा क्रियते, वैक्रियाहारकतैजसकार्मणरूपाणि चत्वारि शरीराणि संघातनानि वा बध्नता चतुर्धा क्रियते ॥८॥

सत्तेक्कारविगप्पा बंधणणामाण मूलपगईणं ।
उत्तरसगपगईण य अप्पबहुत्ता विसेसो सिं ॥९॥

(मलय०)—'सत्त' त्ति, बन्धननाम्नां भागलब्धं यद्दलिकमायाति तस्य सप्त विकल्पाः सप्तभेदा एकादश वा विकल्पाः क्रियन्ते । तत्रौदारिकौदारिक १ औदारिकतैजस २ औदारिककार्मण ३ औदारिकतैजसकार्मण ४ तैजसतैजस ५ तैजसकार्मण ६ कार्मणकार्मण ७ रूपाणि वैक्रियचतुष्कतैजसत्रिकरूपाणि वा सप्त बन्धनानि बध्नता सप्त । वैक्रियचतुष्काहारकचतुष्कतैजसत्रिकलक्षणान्येकादश बन्धनानि बध्नता एकादश । अवशेषाणां च प्रकृतीनां यद्भागलब्धं दलिकमायाति तन्न भूयो विभज्यते, तासां युगपदवान्तरद्वित्र्यादिभेदबन्धाभावात् । तेन तासां तदेव परिपूर्णं दलिकं भवति । इहैकाध्यवसायगृहीतस्य कर्मदलिकस्य परमाणवो विभागशः कृत्वा मूलप्रकृतिभ्य उत्तरप्रकृतिभ्यश्च दत्ताः, तत्र न ज्ञायते जघन्यपदे उत्कृष्टपदे वा कस्याः कियान् भागस्ततो विशेषपरिज्ञानार्थमाह–'मूलपगई' इत्यादि । आसां मूलप्रकृतीनामुत्तरस्वप्रकृतीनां च परस्परं भागस्य विशेषोऽल्पबहुत्वात् शास्त्रान्तरोक्ताद् द्रष्टव्यः । तत्र मूलप्रकृतीनामल्पबहुत्वं दर्श्यते–इह कर्मणां स्थित्यनुसारतो भाग आभजति, यस्य बृहती स्थितिस्तस्य बृहद्भागः, यस्य स्तोका तस्य स्तोक इति । तत्रायुषो भागः सर्वस्तोकः, सर्वेभ्योऽप्यन्येभ्यः स्तोकस्थितिकत्वात् तत्स्थितेरुत्कर्षतोऽपि त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमप्रमाणत्वात् । ततो नामगोत्रयोर्भागो बृहत्तरः, तयोः स्थितेर्विंशतिसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणत्वात्, स्वस्थाने तु द्वयोरपि परस्परं तुल्यः, समानस्थितिकत्वात् । ततोऽपि ज्ञानावरणदर्शनावरणान्तरायाणां बृहत्तमः,

तेषां स्थितेस्त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोटीप्रमाणत्वात्, स्वस्थाने परस्परं तुल्य एव, तुल्यस्थितिकत्वात्। ततोऽपि मोहनीयस्य बृहत्तमः, तस्य स्थितेः सप्ततिसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणत्वात्। वेदनीयं यद्यपि ज्ञानावरणीयादिभिः सह समस्थितिकम्, तथापि तस्य भागः सर्वोत्कृष्ट एव वेदितव्यः, अन्यथा स्पष्टतरस्वफलसुखदुःखोपदर्शकत्वानुपपत्तेः। इदानीं स्वस्वोत्तरप्रकृतीनामुत्कृष्टपदे जघन्यपदे चाल्पबहुत्वमभिधीयते – तत्रोत्कृष्टपदे सर्वस्तोकं केवलज्ञानावरणस्य प्रदेशाग्रम्, ततो मनःपर्यवज्ञानावरणीयस्यानन्तगुणम्, ततोऽवधिज्ञानावरणीयस्य विशेषाधिकम्, ततः श्रुतज्ञानावरणीयस्य विशेषाधिकम्, ततोऽपि मतिज्ञानावरणीयस्य विशेषाधिकम्। तथा दर्शनावरणीये उत्कृष्टपदे सर्वस्तोकं प्रचलायाः प्रदेशाग्रम्, ततो निद्राया विशेषाधिकम्, ततोऽपि प्रचलाप्रचलाया विशेषाधिकम्, ततोऽपि निद्रानिद्राया विशेषाधिकम्, ततः स्त्यानर्द्धेर्विशेषाधिकम्, ततः केवलदर्शनावरणीयस्य विशेषाधिकम्, ततोऽवधिदर्शनावरणीयस्यानन्तगुणम्, ततोऽचक्षुर्दर्शनावरणीयस्य विशेषाधिकम्, ततोऽपि चक्षुर्दर्शनावरणीयस्य विशेषाधिकम्। तथा सर्वस्तोकमुत्कृष्टपदे प्रदेशाग्रमसातवेदनीयस्य, ततो विशेषाधिकं सातवेदनीयस्य। तथा मोहनीये सर्वस्तोकमुत्कृष्टपदे प्रदेशाग्रमप्रत्याख्यानावरणमानस्य, ततोऽप्रत्याख्यानावरणक्रोधस्य विशेषाधिकम्, ततोऽप्रत्याख्यानावरणमायाया विशेषाधिकम्, ततोऽप्रत्याख्यानावरणलोभस्य विशेषाधिकम्, ततः प्रत्याख्यानावरणमानस्य विशेषाधिकम्, ततः प्रत्याख्यनावरणक्रोधस्य विशेषाधिकम्, ततः प्रत्याख्यानावरणमायाया विशेषाधिकम्, ततः प्रत्याख्यानावरणलोभस्य विशेषाधिकम्, ततोऽनन्तानुबन्धिमानस्य विशेषाधिकम्, ततोऽनन्तानुबन्धिक्रोधस्य विशेषाधिकम्, ततोऽनन्तानुबन्धिमायाया विशेषाधिकम्, ततोऽनन्तानुबन्धिलोभस्य विशेषाधिकम्, ततो मिथ्यात्वस्य विशेषाधिकम्, ततो जुगुप्साया अनन्तगुणम्, ततो भयस्य विशेषाधिकम्, ततो हास्यशोकयोर्विशेषाधिकम्, स्वस्थाने तु द्वयोरपि परस्परं तुल्यम्, ततो रत्यरत्योर्विशेषाधिकम्, तयोः पुनः स्वस्थाने तुल्यम्, ततः स्त्रीवेदनपुंसकवेदयोर्विशेषाधिकम् स्वस्थाने द्वयोरपि परस्परं तुल्यम्, ततः संज्वलनक्रोधस्य विशेषाधिकम्, ततः संज्वलनमानस्य विशेषाधिकम्, ततः पुरुषवेदस्य विशेषाधिकम्, ततः संज्वलनमायाया विशेषाधिकम्, ततः संज्वलनलोभस्य संख्येयगुणम्। तथा चतुर्णामप्यायुषामुत्कृष्टपदे प्रदेशाग्रं परस्परं तुल्यम्। नामकर्मणि उत्कृष्टपदे प्रदेशाग्रं गतौ देवगतिनरकगत्योः सर्वस्तोकम्, ततो मनुजगतौ विशेषाधिकम्, ततस्तिर्यग्गतौ विशेषाधिकम्। तथा जातौ चतुर्णां द्वीन्द्रियादिजातिनाम्नामुत्कृष्टपदे प्रदेशाग्रं सर्वस्तोकम्, स्वस्थाने तु तेषां परस्परं तुल्यम्, तत एकेन्द्रियजातेर्विशेषाधिकम्। तथा शरीरनाम्नि सर्वस्तोकमुत्कृष्टपदे प्रदेशाग्रमाहारकशरीरस्य, ततो वैक्रियशरीरनाम्नो विशेषाधिकम्, तत औदारिकशरीरनाम्नो विशे-

पाधिकम् , ततस्तैजसशरीरनाम्नो विशेषाधिकम् , ततोऽपि कार्मणशरीरनाम्नो विशेषाधिकम् , एवं संघातननाम्न्यपि द्रष्टव्यम् । तथा बन्धननाम्नि सर्वस्तोकमुत्कृष्टपदे प्रदेशाग्रमाहारकाहारकबन्धननाम्नः, तत आहारकतैजसनाम्नो विशेषाधिकम् , तत आहारककार्मणबन्धननाम्नो विशेषाधिकम् , तत आहारकतैजसकार्मणबन्धननाम्नो विशेषाधिकम् , ततो वैक्रियवैक्रियशरीरबन्धननाम्नो विशेषाधिकम् , ततो वैक्रियतैजसबन्धननाम्नो विशेषाधिकम् , ततो वैक्रियकार्मणबन्धननाम्नो विशेषाधिकम् ,ततो वैक्रियतैजसकार्मणबन्धननाम्नो विशेषाधिकम् , तत औदारिकौदारिकबन्धननाम्नो विशेषाधिकम् , तत औदारिकतैजसबन्धननाम्नो विशेषाधिकम् , तत औदारिककार्मणबन्धननाम्नो विशेषाधिकम् , ततोऽप्यौदारिकतैजसकार्मणबन्धननाम्नो विशेषाधिकम् , ततस्तैजसतैजसबन्धननाम्नो विशेषाधिकम् , ततस्तैजसकार्मणबन्धननाम्नो विशेषाधिकम् , ततः कार्मणकार्मणबन्धननाम्नो विशेषाधिकम् । तथा संस्थाननाम्नि संस्थानानामाद्यन्तवर्जानां चतुर्णामुत्कृष्टपदे प्रदेशाग्रं सर्वस्तोकम् , स्वस्थाने तु तेषां परस्परं तुल्यम् । ततः समचतुरस्रसंस्थानस्य विशेषाधिकम् ।

ततोऽपि हुण्डसंस्थानस्य विशेषाधिकम् । तथाऽङ्गोपाङ्गनाम्नि सर्वस्तोकमुत्कृष्टपदे प्रदेशाग्रमाहारकाङ्गोपाङ्गनाम्नः ततो वैक्रियाङ्गोपाङ्गनाम्नो विशेषाधिकम् , ततोऽप्यौदारिकाङ्गोपाङ्गनाम्नो विशेषाधिकम् । तथा संहनननाम्नि सर्वस्तोकमाद्यानां पञ्चानां संहनननामुत्कृष्टपदे प्रदेशाग्रम् , स्वस्थाने तु तेषां परस्परं तुल्यम् , ततः सेवार्तसंहननस्य विशेषाधिकम् । तथा वर्णनाम्नि सर्वस्तोकमुत्कृष्टपदे प्रदेशाग्रं कृष्णवर्णनाम्नः, ततो नीलवर्णनाम्नो विशेषाधिकम् , ततो लोहितवर्णनाम्नो विशेषाधिकम् , ततो हारिद्रवर्णनाम्नो विशेषाधिकम् , ततोऽपि शुक्लवर्णनाम्नो विशेषाधिकम्, तथा गन्धनाम्नि सर्वस्तोकं सुरभिगन्धनाम्नः, ततो विशेषाधिकं दुरभिगन्धनाम्नः, तथा रसनाम्नि सर्वस्तोकं कटुरसनाम्नः, ततस्तिक्तरसनाम्नो विशेषाधिकम् । ततः कषायरसनाम्नो विशेषाधिकम् , ततः अम्लरसनाम्नो विशेषाधिकम् , ततोऽपि मधुररसनाम्नो विशेषाधिकम् । तथा स्पर्शनाम्नि सर्वस्तोकमुत्कृष्टपदे कर्कशगुरुस्पर्शनाम्नोः प्रदेशाग्रम् , स्वस्थाने तु द्वयोरपि परस्परं तुल्यम् , ततो मृदुलघुस्पर्शनाम्नो विशेषाधिकम् , स्वस्थाने तु तयोः द्वयोरपि परस्परं तुल्यम् , ततो रूक्षशीतस्पर्शनाम्नोर्विशेषाधिकम् , स्वस्थाने तु तयोर्द्वयोरपि परस्परं तुल्यम् , ततः स्निग्धोष्णस्पर्शनाम्नोर्विशेषाधिकम् , स्वस्थाने तु तयोरपि द्वयोः परस्परं तुल्यम् । तथानुपूर्वीनाम्नि सर्वस्तोकं प्रदेशाग्रं देवगतिनरकगत्यानुपूर्व्योः, स्वस्थाने तु द्वयोरपि परस्परं तुल्यम् , ततो मनुजगत्यानुपूर्व्या विशेषाधिकम् , ततस्तिर्यगानुपूर्व्या विशेषाधिकम् । तथा सर्वस्तोकमुत्कृष्टपदे प्रदेशाग्रं त्रसनाम्नः, ततो विशेषाधिकं स्थावरनाम्नः । तथा सर्वस्तोकं प्रदेशाग्रं पर्याप्तनाम्नः, ततो विशेषाधिकमपर्याप्तनाम्नः, एवं स्थिरास्थिरयोः, शुभाशुभयोः, सुभगदुर्भगयोः, आदेयानादेययोः, सूक्ष्मबादरयोः, प्रत्येकसाधारणयोर्वाच्यम् ,

तथा सर्वस्तोकमयशःकीर्तिनाम्नः प्रदेशाग्रम्, ततो यशःकीर्तिनाम्नः संख्येयगुणम्। शेषाणामातपोद्योतप्रशस्ताप्रशस्तविहायोगतिसुस्वरदुःस्वराणां परस्परं तुल्यमुत्कृष्टपदे प्रदेशाग्रम्। निर्माणोच्छ्वासपराघातोपघातागुरुलघुतीर्थकराणां त्वल्पबहुत्वं नास्ति, यत इदमल्पबहुत्वं सजातीयप्रकृत्यपेक्षया, यथा कृष्णादिवर्णनाम्नः शेषवर्णापेक्षम्, प्रतिपक्षप्रकृत्यपेक्षया वा यथा सुभगदुर्भगयोः, न चैता परस्परं सजातीयाः, अभिन्नैकमूलपिण्डप्रकृत्यभावात्, नापि विरुद्धा युगपदपि बन्धसम्भवात्। तथा गोत्रे सर्वस्तोकमुत्कृष्टपदे प्रदेशाग्रं नीचैर्गोत्रस्य, ततो विशेषाधिकमुच्चैर्गोत्रस्य। तथाऽन्तराये सर्वस्तोकं दानान्तरायस्य, ततो लाभान्तरायस्य विशेषाधिकम्, ततो भोगान्तरायस्य विशेषाधिकम्, ततो उपभोगान्तरायस्य विशेषाधिकम्, ततो वीर्यान्तरायस्य विशेषाधिकम्। तदेवमुक्तमुत्तरप्रकृतीनामुत्कृष्टपदे प्रदेशाग्राल्पबहुत्वम् इति ॥१॥ (एवं जघन्यप्रदेशबन्धसत्काल्पबहुत्वं कर्मप्रकृतिवृत्तितोऽवसातव्यमिति)।

एवं श्रीमन्मलयगिरिवृत्त्या दलविभाजनं दर्शितम्, अथ उक्तगाथाभिरेव समतांतरं दलविभाजनं विस्तरतो निरूपयामः, तद्यथा–केनाऽपि जीवेन अन्यतमेन योगेन कस्मिंश्चिदप्येकस्मिन् समये गृहीतकर्मपुद्गलानां "**समयप्रबद्ध**" इत्यपरनाम्नां कस्यां कस्यां प्रकृतौ कियान् भागः प्राप्यते ? इत्येतन्निरूपणप्रधानं दलविभाजनं विंशत्युत्तरशतप्रकृतीनां गाथाचतुष्केण निरूपयन्नाह-

(प्रे०) "**ज सव्वघाइ**" इत्यादि, गाथाचतुष्कम्, अत्र किंचिदुपयोगित्वान्मूलप्रकृतीनां दलविभागः स्मार्यते, तद्यथा–एकस्मिन्समये मूलप्रकृतयोऽष्टौ सप्त षड् एका वा बध्यते, एकसमयगृहीतदलिकानां यावत्यो मूलप्रकृतयो बध्यन्ते तावद्विभागा भवन्ति, तत्राऽष्टौ बध्नतोऽष्टौ विभागाः सप्त बध्नतः सप्तभागाः षड्बध्नतश्च षड्भागा भवन्ति, एकप्रकृति बध्नतस्तु सर्वमेव दलिकं तस्या एव भवति। तत्राष्टप्रकृतीर्बध्नत आयुषः सर्वाल्पभागो भवति, ततो नामगोत्रयोर्भागो विशेषाधिकः, स्वस्थाने परस्परं तुल्यश्च, अत्र विशेषोऽसंख्येयभागात्मकः। अत्र भाजकराशिः केचिदावलिकाया असंख्येयभागप्रमाणः, अन्ये तु पल्योपमाऽसंख्येयभागप्रमाण इति प्रतिपादयन्ति एवमुत्तरत्रापि बोध्यः। ततो ज्ञानावरणदर्शनावरणान्तरायाणां विशेषाधिकः, स्वस्थाने परस्परं तुल्यश्च। ततो मोहनीयस्य विशेषाधिकस्ततो वेदनीयस्य विशेषाधिकः। सप्तविधबन्धकस्य सप्तभागा भवन्ति, तत्राप्यल्पबहुत्वमायुर्विहायैवमेव भावनीयम्। षड्विधबन्धकस्य षड्भागा भवन्ति। अल्पबहुत्वं तु मोहनीयायुषी विहायैवमेव तदनुसारेण भावनीयम्।

अत्राष्टविधबन्धकाले सप्तविधबन्धकाले षड्विधबन्धकाले वा ज्ञानावरणीयकर्मणो भागे यावन्ति कर्मदलिकानि समागच्छन्ति, तानि समासतो द्विविधानि, तद्यथा-देशघातिरसोपेतानि सर्वघातिरसोपेतानि च, तत्र सर्वघातिरसोपेतानि स्तोकानि, देशघातिरसोपेतानि त्वनन्तगुणानि, निषेकरचनायामाद्यनिषेकतोऽनन्तानि द्विगुणहानिस्थानानि यावद् देशघातीनि दलिकानि भवन्ति, तदुपरितनानि

तु सर्वघातीनि, तेन प्रभूतरसयुक्तानि दलिकानि स्तोकानि, मन्दरसयुक्तानि तु बहूनि भवन्ति। अत्र ज्ञानावरणस्य पञ्च प्रकृतयः—मतिज्ञानावरणश्रुतज्ञानावरणावधिज्ञानावरणमनःपर्यवज्ञानावरणकेवलज्ञानावरणसंज्ञकाः, तत्र या आद्याश्चतस्रः प्रकृतयः, तासां दलिकानि प्रथमगुणस्थानतो नवमगुणस्थानस्य संख्येयबहुभागं यावद्बन्धे द्विविधरसोपेतानि भवन्ति, तदूर्ध्वं तु केवलं देशघातीन्येव। केवलज्ञानावरणस्य दलिकानि तु बन्धे सर्वत्र सर्वघातीन्येव। अत्रायं विभागः-ज्ञानावरणप्राप्तसर्वघातिरसस्पर्धकयुक्तदलिकानां प्रथमाद्यष्टमान्तगुणस्थानेषु नवमगुणस्थानस्य संख्येयबहुभागं यावच्च पञ्चभागा भवन्ति, देशघातिरसस्पर्धकयुक्तदलिकानां पुनश्चत्वारो भागा विज्ञेयाः। यस्यां प्रकृतौ केवलं सर्वघातीन्येव दलिकानि भवन्ति सा प्रकृतिः सर्वघातिप्रकृतिः, यस्यां प्रकृतौ देशघातिदलिकानि भवन्ति सा देशघातिप्रकृतिः, प्रस्तुते केवलज्ञानावरणप्रकृतिः सर्वघातिनी, शेषचतस्रो देशघातिन्यः, ज्ञानावरणप्राप्तदलिकानामनन्ततमभागप्रमाणानि दलिकानि सर्वघातिप्रकृतौ केवलज्ञानावरणे प्राप्यन्ते, शेषाणां दलिकानामनन्तबहुभागप्रमाणानां चत्वारो भागा मतिज्ञानावरणादीनां चतसृणां भवन्ति। अत्र विभागा न तुल्याः, किन्तु प्रकृतिविशेषेण न्यूनाधिकाः, तद्यथा—केवलज्ञानावरणस्य प्रदेशाः सर्वाल्पाः, सर्वघातिप्रकृतित्वात्, ततो मनःपर्यवज्ञानावरणस्यानन्तगुणाः, प्रकृतेर्देशघातित्वात् , ततोऽवधिज्ञानावरणस्य विशेषाधिकाः, ततःश्रुतज्ञानावरणस्य विशेषाधिकास्ततो मतिज्ञानावरणस्य विशेषाधिकाः, प्रकृतिविशेषात्। अत्र विशेषाधिकत्वमसंख्येयभागेन विज्ञेयम्, एवमग्रेऽपि भावनीयम्।

दर्शनावरणभागलब्धदलिकेभ्योऽनन्तभागप्रमितानि दलिकानि तदीयसर्वघातिप्रकृतीनां षट्के त्रये एकस्यां वा विभागेन प्राप्यन्ते, अनन्तबहुभागप्रमाणानि देशघातिप्रकृतित्रये प्राप्यन्ते। यानि सर्वघातिप्रकृतिषु प्राप्यन्ते, तेषां निद्रापञ्चकस्य बन्धे षड्विभागा भवन्ति, केवलदर्शनावरणस्य निद्रापञ्चकस्य चेति, स्त्यानर्द्धित्रिकबन्धाभावे तु त्रयः केवलदर्शनावरणस्य निद्राद्विकस्य चेति, निद्राद्विकबन्धाभावे तु एकः; केवलदर्शनावरणस्यैव भवति। अत्रायं विशेषः—सर्वघातिप्रकृतीनामेकस्या अपि बन्धोच्छेदे तत्सत्कदलिकेभ्योऽनन्तबहुभागप्रमाणदलिकानां देशघातिष्वेव गमनात् शेषानन्ततमभागप्रमाणानामेव बध्यमान सर्वघातितया प्रकृते त्रय एको वा भागो भवति, अनन्तबहुभागप्रमाणदलिकानां तु त्रयो विभागा भवन्ति चक्षुरचक्षुरवधिदर्शनावरणभेदात्। अनुभागापेक्षया पुनरेवम्—दर्शनावरणस्य दलिकानि द्विविधरसोपेतानि देशसर्वघातिभेदात्; तत्र यानि सर्वघातिदलिकानि तानि नवविधबन्धकस्य नवानामपि प्रकृतीनां भवन्ति, षड्विधबन्धकस्य षण्णामपि, चतुर्विधबन्धकस्याष्टमगुणस्थाने नवमगुणस्थानसंख्यातबहुभागेषु च चतसृणाम्, तदूर्ध्वं तु केवलदर्शनावरणस्यैव भवन्ति। देशघातिरसस्पर्धकयुक्तानि दलिकानि तु त्रिविधबन्धकस्यापि चक्षुरादिदर्शनावरणत्रयस्यैव। देशघातिसर्वघातिरसयुक्तदलि-

कानां समुदितानां प्रकृतिविभागेनाल्पबहुत्वमेदम्-नवविधबन्धकस्य प्रचलायाः प्रदेशाग्रं स्तोकम्, ततो निद्राया विशेषाधिकम्, ततः प्रचलाप्रचलाया विशेषाधिकम्, ततो निद्रानिद्राया विशेषाधिकम्, ततः स्त्यानर्द्धिनिद्राया विशेषाधिकम्, ततः केवलदर्शनावरणस्य विशेषाधिकम्, पञ्चस्वपि पदेषु विशेषाधिकत्वं प्रकृतिविशेषाद्विज्ञेयम् । ततोऽवधिदर्शनावरणस्यानन्तगुणं प्रागुक्तप्रकृतीनां सर्वघातित्वान्निरुक्तप्रकृतेर्देशघातित्वादनन्तगुणाधिकत्वम् । ततोऽचक्षुर्दर्शनावरणस्य विशेषाधिकं ततश्चक्षुर्दर्शनावरणस्य विशेषाधिकम् । षड्विधबन्धकस्य प्रचलायाः प्रदेशाग्रं सर्वस्तोकम्, ततो निद्रायाः प्रदेशाग्रं विशेषाधिकम्, ततः केवलदर्शनावरणस्य विशेषाधिकम्, ततोऽवधिदर्शनावरणस्यानन्तगुणं ततोऽचक्षुर्दर्शनावरणस्य विशेषाधिकं ततश्चक्षुर्दर्शनावरणस्य विशेषाधिकम् । चतुर्विधबन्धकस्य केवलदर्शनावरणस्य प्रदेशाग्रं सर्वस्तोकम्, ततोऽवधिदर्शनावरणस्यानन्तगुणं ततोऽचक्षुर्दर्शनावरणस्य विशेषाधिकं ततश्च चक्षुर्दर्शनावरणस्य विशेषाधिकम् । विशेषाधिकत्वं त्वत्रापि प्रकृतिविशेषेण विज्ञेयम् ।

मोहनीयकर्मलब्धभागस्यानन्ततमभागप्रमाणानि दलिकानि त्रयोदशानां सर्वघातिप्रकृतीनां भवन्ति, तत्र सर्वघातिप्रकृतितया लब्धभागस्य विभागद्वयं भवति, दर्शनमोहनीय-चारित्रमोहनीयभेदात्, अत्र विभागद्वयभावेऽपि न ते परस्परं तुल्ये, न च विशेषाधिके, किन्तु दर्शनमोहनीये मिथ्यात्वसंज्ञके सातिरेकत्रयोदशांशमितानि दलिकानि भवन्ति, देशोनद्वादशभागास्तु चारित्रमोहनीयस्याद्यद्वादशकषायस्य, अत्राऽपि न्यूनाधिकत्वं प्रकृतिविशेषादिना भवति । मोहनीयकर्मणो लब्धभागस्य यान्यनन्तबहुभागप्रमाणानि दलिकानि देशघातिप्रकृतीनां भवन्ति, तेषां देशघातिप्रकृतितया लब्धदलिकानां प्रथमं विभागद्वयं भवति, एकः कषायमोहनीयसत्कः, अपरश्च नोकषायमोहनीयसत्कः, न पुनर्दर्शनमोहनीयसत्कोऽपि, बन्धे तस्य नियमतः सर्वघातिरूपत्वात् । अत्र कषायमोहनीयसत्कविभागतो नोकषायमोहनीयस्य विभागोऽसंख्यांशेन न्यूनो भवति । कषायमोहनीयेषु देशघातिप्रकृतित्वेन लब्धानि कर्मदलिकानि बध्यमानदेशघातिकषायत्वेन परिणमन्ति । देशघातिकषायाः पुनश्चत्वारः, संज्वलनक्रोधमानमायालोभभेदात् । अत एव कषायमोहनीयलब्धदलिकानां चतुःसंज्वलनानां बन्धे सति चत्वारो विभागा भवन्ति । अत्र परस्परं विशेषाधिकत्वं तु प्रकृतिविशेषाद् विज्ञेयम् । नोकषायमोहनीयभागे लब्धदलानि बध्यमाननोकषायमोहनीयत्वेन भवन्ति, बध्यमाननोकषायाः पुनः पञ्च एको वा, तत्र प्रथमाद्यष्टमान्तगुणस्थाने पञ्च, वेदयुगलयोः सप्रतिपक्षत्वेन वेदद्वयस्यान्यतरयुगलस्य चाबध्यमानत्वात् । नवमगुणस्थाने पुरुषवेदस्य बन्धविच्छेदं यावदेकः, तदूर्ध्वं तु नोकषायस्य बन्धाभावान्नोकषायसत्कदलिकानि कषायत्वेन परिणमन्ति । अत्रापि बध्यमाननोकषायपञ्चके परस्परं दलविशेषस्तु प्रकृतिविशेषाद्विज्ञेयः ।

तथा मिथ्यात्वमोहनीयस्य बन्धविच्छेदे तत्सत्कदलिकानि बध्यमानकषायतया नोकषायतया च परिणमन्ति। अनन्तानुबन्धिकषायचतुष्कस्य बन्धविच्छेदे तत्सत्कदलिकानि बध्यमानद्वादशकषायतयैव परिणमन्ति। अप्रत्याख्यानावरणकषायचतुष्कस्य बन्धविच्छेदे तत्सत्ककर्मदलिकानि कषायाष्टकतयैव भवन्ति। प्रत्याख्यानावरणबन्धोच्छेदे तु संज्वलनचतुष्कतयैव तानि प्रत्याख्यानसत्कानि दलानि भवन्ति। अत्र सर्वघातिप्रकृतीनां बन्धविच्छेदे तत्सत्कदलिकानामनन्तबहुभागमितानि दलिकानि बध्यमानदेशघातिप्रकृतौ प्राप्यन्ते, तानि च तत्र पतद्ग्रहप्रकृतौ स्वविभागेन लभ्यमानद्रव्याणामनन्ततमभागप्रमाणानि। विच्छिद्यमानसर्वघातिप्रकृतिसत्कशेषानन्तभागप्रमितदलिकानि शेषबध्यमानसर्वघातिप्रकृतिया परिणमन्ति। प्रकृतिप्राधान्यादेवं दलविभाजनम्। रसप्राधान्यात्पुनरेवम्-मोहनीयकर्मसत्कदलानि सर्वघातिरसोपेतानि देशघातिरसोपेतानि च। तत्र यानि सर्वघातिरसोपेतानि दलिकानि तानि मिथ्यात्वगुणस्थाने बध्यमानसर्वघातित्रयोदशानां संज्वलनचतुष्कस्य नोकषायपञ्चकस्य च भवन्ति। अत्र नवनोकषायेभ्यः पञ्चानामेव युगपद्बन्धात् पञ्चनोकषायानां सर्वघातिदलोपवर्णनम्। क्रमेण तु सर्वघातिदलिकानि नवाना नोकषयाणा बध्यन्त इति। एवं च सर्वघातिदलिकानां द्वाविंशतिर्विभागाः सामान्यतो दर्शिताः। अत्र केषाञ्चिदभिप्रायस्त्वेवम्-मिथ्यादृशामपि विशुद्ध्यवस्थायां त्रयोदशानामपि देशघातिप्रकृतीनां सर्वघातिरसस्पर्धकयुक्तदलिकानां बन्धाभावेन तादृगवस्थागतानां बध्यमानसर्वघातिरसोपेतदलिकानि त्रयोदशसर्वघातिप्रकृतीनामेव भवन्ति। एवमग्रेऽपि यथासंभवं भावनीयम्। देशघातिदलिकानि तु संज्वलनचतुष्कस्य पञ्चनोकषायस्य च भवन्ति। एवं द्वितीयगुणस्थान एकविंशतौ सर्वघातिदलिकानि, नवसु देशघातिदलिकानि बन्धतया प्राप्यन्ते। तृतीयचतुर्थगुणस्थानके सप्तदशप्रकृतिषु सर्वघातिदलिकानिः नवसु च देशघातिदलिकानि बन्धे भवन्ति। पञ्चमगुणस्थानके प्रत्याख्यानचतुष्कस्य सर्वघातिदलिकानि भवन्ति, संज्वलनचतुष्के नोकषायपञ्चके च सर्वघातिदलिकानि बन्धे भवन्ति न वा इति तु स्वयमवधारणीयम्। तथा संज्वलनचतुष्कस्य बध्यमाननोकषायपञ्चकस्य च देशघातिदलिकानि बध्यन्ते। इत आरभ्य संज्वलनचतुष्कस्य सप्तनोकषायस्य केवलं देशघातिरसयुक्तान्येव दलिकानि बन्धे भवन्तीति केषाञ्चिदभिप्रायः। स च आगमानुसारेण विभावनीयः। षष्ठादिगुणस्थाने तु केवलं देशघातिन्य एव पञ्चनोकषायसंज्वलनचतुष्करूपा नवप्रकृतयः, बन्धे तासां दलिकानि केवलं देशघातिरसयुक्तान्येव, न पुनः सर्वघातिरसोपेतान्यपीति भावः।

अथ रसप्राधान्यमविवक्ष्य प्रकृतिषु मोहनीयसत्कबन्धस्थानभेदेन दलिकानामल्पबहुत्वं दर्श्यते, तद्यथा—**प्रथमगुणस्थाने** द्वाविंशतिप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानं तत्र दलविभागस्त्वेवम्—अप्रत्याख्यानावरणमानस्य सर्वस्तोकप्रदेशाग्रम्, ततोऽप्रत्याख्यानावरणक्रोधस्य विशेषाधिकम्, ततोऽप्रत्याख्यानावरणमायाया विशेषाधिकम्, ततोऽप्रत्याख्यानावरणलोभस्य विशेषाधिकम्,

ततः प्रत्याख्यानावरणमानस्य विशेषाधिकम् , ततः प्रत्याख्यानावरणक्रोधस्य विशेषाधिकम् , ततः प्रत्याख्यानावरणमायाया विशेषाधिकम् , ततः प्रत्याख्यानावरण-लोभस्य विशेषाधिकम् , ततोऽनन्तानुबन्धिमानस्य विशेषाधिकम् , ततोऽनन्तानुबन्धिक्रोधस्य विशेषाधिकम् , ततोऽनन्तानुबन्धिमायाया विशेषाधिकम् , ततोऽनन्तानुबन्धिलोभस्य विशेषाधि-कम् , ततो मिथ्यात्वस्य विशेषाधिकम् । अत्र द्वादशपदेषूत्तरोत्तरविशेषाधिकत्वं प्रकृतिविशेषाद्वि-ज्ञेयम् । अत्र केचित्प्रत्याख्यानमाने मिथ्यात्वे च रसाधिक्याद्विशेषाधिकत्वं भवन्तीति कथयन्ति, तन्न सम्यक्, आदितोऽनन्तद्विगुणहानीर्व्यतिक्रम्य तदुपर्येव निरुक्तरसस्य वृद्धिभावेन तत्र चानन्त-भागमात्र एव दलिकनिक्षेपाधिक्यसंभवादनन्तभागमात्रमेव विशेषाधिकत्वं स्यात् , किन्त्वत्र त्वसं-ख्येभागाधिकत्वम् , तच्च प्रकृतिविशेषादेव घटामञ्चति । ततो मिथ्यात्वलब्धप्रदेशतो जुगुप्सायाः प्रदेशाग्रमनन्तगुणं देशघातिप्रकृतित्वात् , ततो भयस्य प्रदेशाग्रं विशेषाधिकम् . ततो हास्यशोकयोः परस्परं तुल्यं विशेषाधिकं च, ततो रत्यरत्योर्विशेषाधिकं परस्परतुल्यं च, ततो वेदत्रयादन्यतम-वेदस्य विशेषाधिकम् , परस्परं तुल्यं च, प्रकृतिविशेषाद्विशेषाधिकत्वमुत्तरोत्तरपदेषु। ततः संज्वल-नमानस्य विशेषाधिकम् , अत्र संख्यातभागेनाधिकत्वं विज्ञेयम् , वेददलस्यैकसमयबद्धदलस्य सप्त-मभागस्य मोहनीयस्य देशोनार्धभागकल्पस्य नोकषायद्रव्यस्य पञ्चमभागरूपत्वात् , कषायस्य तु सप्तमभागसत्कद्विभागस्य चतुर्थांशरूपत्वात् । ततः संज्वलनक्रोधस्य विशेषाधिकम् , ततः संज्व-लनमायाया विशेषाधिकम् । ततः संज्वलनलोभस्य विशेषाधिकं प्रकृतिविशेषाद्विज्ञेयमिति ।

एवं सास्वादनानामेकविंशतिबन्धस्थाने मिथ्यात्वं नपुंसकवेदं च विहाय दलविभाजनं विज्ञेयम् । एवमेव तृतीयचतुर्थगुणस्थाने सप्तदशबन्धस्थाने वर्तमानस्य मिथ्यात्वानन्तानुबन्धि-चतुष्कस्त्रीनपुंसकवेदरूपसप्तप्रकृतीर्विहाय शेषाणामल्पबहुत्वं विज्ञेयम् , केवलमन्यतमवेदस्थाने पुरुष-वेदस्यैवोपादानमिति । पञ्चमगुणस्थानेऽप्येवमेव त्रयोदशबन्धे बन्धप्रायोग्यपञ्चदशानामल्पबहुत्वं वाच्यम् । एवं षष्ठगुणस्थाने नवानां बन्धस्थान एकादशानां, सप्तमाष्टमगुणस्थाने नवानामेवमेवा-ल्पबहुत्वं भवति । नवमगुणस्थाने पञ्चप्रकृत्यात्मकबन्धस्थाने वर्तमानस्य संज्वलनमानस्य सर्वाल्पप्रदेशाग्रम् , ततः संज्वलनक्रोधस्य विशेषाधिकम् , ततः संज्वलनमायाया विशेषाधिकम् , ततः संज्वलनलोभस्य विशेषाधिकम् , अत्र पदत्रये विशेषाधिकत्वमसंख्यातभागेन विज्ञेयम् , ततः पुरुषवेदस्य संख्यातगुणं देशोनचतुर्गुणप्रमाणम् , नोकषायसत्कदलिकानामत्रैव लाभेन मोहनी-यसत्कदलिकानां देशोनार्धं पुरुषवेदस्य भवति, मोहनीयसत्कदलिकानां सातिरेकार्धस्य सातिरेक-चतुर्थांशप्रमाणं संज्वलनलोभस्य प्राप्यते, अतः पुरुषवेदस्य संज्वलनलोभतः संख्यातगुणं दलं भवति । चतुष्प्रकृत्यात्मकबन्धस्थाने वर्तमानस्य संज्वलनमानस्य प्रदेशाग्रं सर्वस्तोकम् , ततः संज्वलनक्रोधस्य विशेषाधिकम् , ततः संज्वलनमायाया विशेषाधिकम् , ततः संज्वलनलोभस्य

विशेषाधिकम् । त्रिप्रकृत्यात्मकबन्धस्थाने वर्तमानस्य संज्वलनमानस्य प्रदेशाग्रं सर्वस्तोकम्, ततः संज्वलनमायाया विशेषाधिकम्, ततः संज्वलनलोभस्य विशेषाधिकम् । द्विप्रकृत्यात्मकबन्धस्थाने स्थितस्य संज्वलनमायायाः सर्वस्तोकं प्रदेशाग्रं ततः संज्वलनलोभस्य विशेषाधिकम् । अत्रेदमवधारणीयम्-प्रथमाद्यष्टमान्तगुणस्थानेषु मोहनीयप्रकृतिबन्धविच्छेदहेतुका प्रकृतिबन्धवृद्धिहेतुका च केवला अनन्तभागमात्रा एव वृद्धिर्हानिश्च प्रस्तुते भवति । प्रकृतिविशेषे त्वसंख्यभागमात्रवृद्धिः, । अतो न प्रथमगुणस्थानतोऽष्टमान्तगुणस्थानगताल्पबहुत्वे क्रमभेदः, केवलं तत्तत्प्रकृतीनां बन्धविच्छेदे तत्तत्स्थानमपसारणीयम् । उक्तमल्पबहुत्वं तत्तद्गुणस्थानवर्तिसर्वजीवानां विज्ञेयम् । न पुनः केवलमुत्कृष्टादिपदगतानामेवेति ।

अन्तरायकर्मलब्धभागसत्कदलिकानि पञ्चधा विभज्यन्ते । अत्र सर्वघातिप्रकृत्यभावान्न सर्वघातिप्रकृतिसत्कोऽनन्तभागः पृथग्दर्श्यते । सर्वघातिरसस्पर्धकयुक्तदलिकानि तु बन्धे पञ्चानामप्यन्तरायाणां प्रथमाद्यष्टमान्तगुणस्थानेषु नवमगुणस्थानस्य च संख्येयबहुभागं यावदस्त्येव, तदूर्ध्वं तु पञ्चानामपि केवलं देशघातिन्येव दलिकानि बन्धे भवन्ति । दलिकविभागस्त्वेवम्-दानान्तरायस्य सर्वस्तोकप्रदेशाग्रम्, ततो लाभान्तरायस्य विशेषाधिकम्, ततो भोगान्तरायस्य विशेषाधिकम्, तत उपभोगान्तरायस्य विशेषाधिकम्, ततो वीर्यान्तरायस्य विशेषाधिकम्, प्रकृतिस्वभावादत्र विशेषाधिकत्वमवसेयम्, विशेषः पुनरत्रासंख्येयभागेन विज्ञेयम् । उत्कृष्टादिसर्वयोगस्थानगतानां सर्वावस्थागतानां चाऽनेनैव क्रमेण दलविभाजनं भवति । एवं सार्धगाथया घातिकर्मचतुष्कस्य दलविभाजनं निरूपितम् ।

गाथार्थः पुनरेवम्–'**जं सव्वघाइपत्तं सगकम्मपएसऽणंतमो भागो**" त्ति ज्ञानावरणीयादितत्तन्मूलप्रकृतिलब्धदलिकानामनन्तभागप्रमाणानि दलिकानि सर्वघातिप्रकृतीनां प्राप्यन्ते, तस्यावान्तरविभागास्तु सर्वघातिप्रकृत्यनुसारेण विज्ञेयाः, तद्यथा--ज्ञानावरणस्य नावान्तरविभागः, एकस्याः सर्वघाति प्रकृतित्वात् । दर्शनावरणस्य षट् ; मोहनीयस्य त्रयोदशेति । शेषदलिकानां सर्वघातिदेशघातिरसयुक्तानां विभाजनं प्रदर्शयन् गाथार्धेन ज्ञानावरण---दर्शनावरणान्तरायप्रकृतिषु दर्शयति–'**आवरणाण चउद्धा तिहा य**" तत्र "**आवरणाण**" त्ति, ज्ञानावरणे दर्शनावरणे च प्राप्तदलिकानां क्रमेण चत्वारस्त्रयश्च विभागा भवन्ति; ज्ञानावरणे चत्वारः, दर्शनावरणे त्रयः; देशघातिप्रकृतिसत्का विज्ञेयाः । अन्तरायस्य पुनः '**पञ्चहा विग्घे**'' त्ति पञ्चविभागा भवन्ति, पञ्चानामप्यन्तरायाणां देशघातित्वात् । द्वितीयगाथार्धेन मोहनीयस्य देशघातिप्रकृतीनां प्राप्तदलिकानां विभाजनं प्रदर्शयति–'**मोहे दुहा चउद्धा य पंचहा वावि बज्झमाणीणं**" ति देशघातिप्रकृतिप्रायोग्यमोहनीयदलिकानां विभागद्वयं भवति, एकः कषायमोहनीयसत्कोऽन्यश्च नोकषाय-

मोहनीयसत्कः, तत्र कषायमोहनीयसत्कः संज्वलनकषायचतुष्कभेदाच्चतुर्धा भवति, नोकषाय-मोहनीयसत्कदलिकानि तु भयजुगुप्सान्यतमवेदान्यतरयुगलरूपबध्यमानपञ्चनोकषायभेदात्पञ्चधा विभज्यन्ते । भावार्थस्तु दर्शित एव ।

वेदनीयप्रकृतौ लब्धभागस्त्वेकस्मिन्समये सातवेदनीयासातवेदनीययोरेकस्यैव बध्य-मानत्वेन बध्यमानस्य सातस्यासातस्य वा सर्वोऽपि प्राप्यते, न पुनर्विभागा भवन्ति । एवं बध्यमानगोत्रस्य गोत्रकर्मसत्कसर्वदलिकानि भवन्ति । आयुर्बन्धस्तु कादाचित्कः, आयुषि बध्यमाने त्वायुर्भागलब्धदलिकानि सर्वाणि एकस्यैव बध्यमानायुषो भवन्ति । एतच्च द्वितीयगाथोत्तरार्धेन दर्शितः, तद्यथा-"वेअणिआउयगोएसु बज्झमाणीण भागो सिं" वेदनीयकर्मायुष्कर्मगोत्रकर्मसु बध्यमानैकैकप्रकृतौ वेदनीयायुर्गोत्रकर्मसत्कभागो भवतीति ।

अथ नामकर्मदलविभाजनं दर्शयति गाथाद्वयेन ग्रन्थकारः "पिंडपगतीसु" इत्यादि, पिण्डप्रकृतिभ्यो यावत्यः पिण्डप्रकृतयो बध्यन्ते तावद्विभागा नामप्रकृति-सत्कलब्धदलिकानां भवन्ति, अत्र पिण्डप्रकृतय इति नामप्रकृतयः । उक्तं च-'पिण्डप्रकृतयोऽजह-त्स्वार्थलक्षणया नामप्रकृतयः । यदाह-चूर्णिकृत्-' पिंडपगईओ नामपगईओ" त्ति । शतकचूर्णौ द्विच-त्वारिंशत्पिण्डप्रकृतयः प्रोक्ताः श्रीमन्मुनिचन्द्रसूरीश्वरैस्तट्टीपन्नके तासां पिण्डत्वं समर्थितं च । तदक्षराणि पुनरेवम्, उक्तं च शतकचूर्णौ-णामकम्मस्स बायालीसं पिंडपगडीओ, त जहा-गइणामं जाइणामं सरीरणामं सरीरसंघायनामं सरीरबंधणनामं सरीरसंठाणनामं सरीरअंगोवंगसरीरसंघयणवन्न-गंधरसफासआणुपुव्विअगुरुलहुगउवघायपरघायउस्सासआयवुज्जोअविहायगइतसथावरबादरसूक्ष्मपज्जत्त-गअपज्जत्तगपत्तेयसाहारणसरीरथिरअथिरसुभअसुभसुभगदुभगसुस्सरदुस्सरआएज्जअणाएज्जजसकित्तिअ-जसकित्तिणिमिणतित्थगरणाम चेति ।

तट्टिपन्नके-"बायालीसं पिंडपगईओ" त्ति, पिंडो बहुप्रकृतिसंदोहः, तद्रूपाः प्रकृतयः पिण्डप्रकृ-तयो गत्यादिवत् । न च त्रसस्थावरादिप्रकृतीनामेकैकत्वेनाऽपिण्डप्रकृतित्वमाशङ्कनीयम्, त्रसत्वादि-सामान्याभेदेऽपि पतङ्ग-भृङ्ग-मातङ्ग-तुरङ्गत्वादीनां तदन्तर्भेदनिबन्धनत्वेन तासामपि पिण्डत्वात् । अन्यथामामेकरूपत्वे तन्निमित्तस्य त्रसत्वादेर्भेदो न स्यादिति ।

पिण्डप्रकृतिक्रमस्त्वेवम्-गतिजातिशरीरसंघातनबन्धनसंस्थानाङ्गोपाङ्गसंघयणवर्णगन्धरस-स्पर्शानुपूर्विनामागुरुलघूपघातपराघातोच्छ्वासातपोद्योतविहायोगतिनामानि त्रसस्थावरे बाद-रसूक्ष्मे पर्याप्ताऽपर्याप्ते प्रत्येकसाधारणे स्थिरास्थिरे शुभाशुभे सुभगदुर्भगे सुस्वरदुःस्वरे आदेया-नादेये यशःकीर्त्ययशःकीर्ती निर्माणनाम तीर्थंकरनाम चेति । अत्र द्विचत्वारिंशत्पिण्ड-प्रकृतिभ्योबध्यमानपिण्डप्रकृतिषूक्तक्रमेण विशेषाधिकरूपो दलविभागो भवति, केवलं त्रसादि-युगलदशके प्रतिपक्षाणां तुल्यप्रदेशबन्धो भवति, न तु विशेषाधिक इति ।

अत्रैकसमयबद्धदलिकानां दलविभाजनं प्रकृतम्, अत एकसमये बन्धप्रायोग्याणां नामप्रकृतिसमुदायानां बन्धस्थानलक्षणानां तद्गतप्रकृतीनां प्रदेशबन्धाल्पबहुत्वदर्शनेन दलविभाजनं निरूप्यते, तद्यथा—त्रयोविंशतिबन्धे वर्तमानस्यैकविंशतिपिण्डप्रकृतयो बध्यन्ते, औदारिकतैजसकार्मणशरीरत्रयस्य शरीरपिण्डप्रकृतिष्वन्तर्भावेन शरीरपिण्डप्रकृतिलब्धभागस्य त्रयो विभागा भवन्ति, तत्रौदारिकस्याल्पप्रदेशाग्रं ततस्तैजसस्य विशेषाधिकं ततः कार्मणस्य विशेषाधिकम्। त्रयोविंशतिप्रकृतीनां बन्धमत्कप्रदेशाल्पबहुत्वं त्वेवम्—औदारिकशरीरस्य सर्वाल्पप्रदेशाग्रं ततस्तैजसस्य विशेषाधिकमसंख्येयभागेन, ततः कार्मणस्य विशेषाधिकमसंख्येयभागेन ततस्तिर्यग्गतेः संख्येयगुणं देशोनत्रिगुणमित्यर्थः। तत एकेन्द्रियजातिनाम्नो विशेषाधिकमसंख्येयभागेन, इत ऊर्ध्वमसंख्येयभागेनैव विशेषाधिकत्वं विज्ञेयम्, ततो हुण्डकसंस्थानस्य विशेषाधिकम्, ततो वर्णनाम्नस्ततो गन्धनाम्नस्ततो रसनाम्नस्ततः स्पर्शनाम्नस्ततस्तिर्यगानुपूर्विनाम्नस्ततोऽगुरुलघुनाम्नस्तत उपघातनाम्नस्ततः स्थावरनाम्नस्ततः सूक्ष्मबादरयोरन्यतरनाम्नस्ततः प्रत्येकसाधारणयोरन्यतरनाम्नस्ततोऽस्थिरनाम्नस्ततोऽशुभनाम्नस्ततो दुर्भगनाम्नस्ततोऽनादेयनाम्नस्ततोऽयशःकीर्तिनाम्नस्ततो निर्माणनाम्नः प्रदेशबन्धः क्रमेण विशेषाधिकः, प्रकृतिविशेषाद् भवति। अत्र विशेषाधिकत्वमसंख्येयभागेन विज्ञेयम्। अत्र बन्धननाम्नः संघातननाम्नश्चाविवक्षणम्, अन्यथा शरीरनामवत्तस्याप्यल्पबहुत्वं दलविभाजनं च भावनीयम्, तत्र पञ्चदशबन्धनविवक्षायां प्रस्तुते सप्तबन्धननामानि बध्यन्ते, तासामल्पबहुत्वं त्वेवम्—औदारिकौदारिकबन्धनस्य सर्वाल्पप्रदेशाग्रम्, तत औदारिकतैजसबन्धनस्य, तत औदारिककार्मणबन्धनस्य, तत औदारिकतैजसकार्मणबन्धनस्य ततस्तैजसतैजसबन्धनस्य ततस्तैजसकार्मणबन्धनस्य ततः कार्मणकार्मणबन्धनस्य क्रमेण विशेषाधिकम्।

वर्णादिचतुर्भेदेषु तदऽवान्तरप्रकृतीनामवश्यं बन्धात्तदल्पबहुत्वं त्वेवम्—कृष्णवर्णस्य सर्वाल्पप्रदेशाग्रं ततो नीलस्य विशेषाधिकं ततो लोहितनाम्नो विशेषाधिकं ततो हारिद्रनाम्नो विशेषाधिकं ततः शुक्लनाम्नो विशेषाधिकम्। सर्वस्तोकं दुरभिगन्धस्य सुरभिगन्धस्य तु विशेषाधिकम्, एतच्च चूर्णिकृदभिप्रायः, वृत्तिकृदभिप्रायस्तु सुरभिगन्धस्याल्पप्रदेशाग्र दुरभिगन्धस्य विशेषाधिकमिति। कटुनाम्नः सर्वाल्पप्रदेशाग्रं ततस्तिक्तरसस्य विशेषाधिकं ततः कषायरसस्य विशेषाधिकं तत आम्लरसस्य विशेषाधिकं ततो मधुररसस्य विशेषाधिकम्। अत्र केचित् तिक्तकटुरसयोर्विपर्यासेनाभिदधति। स्पर्शनाम्नि कर्कशगुरुस्पर्शयोः प्रदेशाग्रं परस्परं तुल्यं सर्वाल्पं च, ततो मृदुलघुस्पर्शनाम्नोर्विशेषाधिकं स्वस्थाने तु मिथो द्वयोरपि तुल्यम्, ततो रुक्षशीतस्पर्शनाम्नोर्विशेषाधिकं स्वस्थाने तु मिथो द्वयोरपि तुल्यम्, ततः स्निग्धोष्णस्पर्शनाम्नोर्विशेषाधिकं स्वस्थाने तु मिथो द्वयोरपि तुल्यम्।

अन्ये तु कर्कशनाम्नः प्रदेशाग्रं सर्वाल्पं ततो मृदुगुरुलघुस्निग्धरूक्षशीतोष्णनाम्नां क्रमेण विशेषाधिकं प्रदेशबन्धविभाजनं प्रतिपादयन्ति । एवमेव वर्णादिचतुर्णामल्पबहुत्वं सर्वत्र विभावनीयम् । एवं यत्र वैक्रियाहारकयोर्बन्धो नास्ति तत्र शरीरत्रयतद्बन्धनसंघातनानां प्रत्येकमत्रोक्तक्रमेणैवाल्पबहुत्वं भावनीयम् । एकेन्द्रियप्रायोग्यपञ्चविंशतिबन्धे तु त्रयोविंशतिपिण्डप्रकृतित्वात् त्रयोविंशतिमूलविभागा भवन्ति, अल्पबहुत्वं त्रयोविंशतिबन्धस्थानवदेव, केवलमुपघातनामानन्तरं पराघातनाम्नो विशेषाधिकम्, तत उच्छ्वासनाम्नो विशेषाधिकं ततःस्थावरनामादीनां विशेषाधिकम्, तथाऽपर्याप्तनाम्नःस्थाने पर्याप्तनाम, अस्थिरनामस्थाने स्थिरास्थिरनाम्नोरन्यतरा, एवं शुभाशुभनाम्नोरन्यतरा, यशःकीर्त्ययशःकीर्तिनाम्नोरन्यतरा प्रकृतिरल्पबहुत्वे उपादेया इति । अल्पबहुत्वं त्वेवम्-औदारिकशरीरस्य सर्वाल्पप्रदेशाग्रं ततस्तैजसस्य विशेषाधिकम्, ततः कार्मणस्य विशेषाधिकं ततस्तिर्यग्गतेः संख्येयगुणं देशोनत्रिगुणरूपम्, तत एकेन्द्रियजातिहुण्डकसंस्थानवर्णगन्धरसस्पर्शतिर्यगानुपूर्विनामागुरुलघूपघातपराघातोच्छ्वासस्थावरबादरसूक्ष्मान्यतरपर्याप्तप्रत्येकसाधारणान्यतरस्थिरास्थिरान्यतरशुभाशुभान्यतरदुर्भगानादेययशःकीर्त्ययशःकीर्त्यन्यतरनिर्माणनाम्नां क्रमेण विशेषाधिकप्रदेशाग्रं भवति । एकेन्द्रियप्रायोग्यषड्विंशतिबन्ध एवमेव दलविभाजनमल्पबहुत्वं च केवलं चतुर्विंशतिमूलविभागा भवन्ति, तथोच्छ्वासनामानन्तरमातपस्योद्योतस्य वा विशेषाधिकं प्रदेशाग्रं निरूप्य ततः स्थावरनाम्नो विशेषाधिकत्वं निरूपणीयं तथा बादरप्रत्येकनाम्नोरेव पठनं न तु सूक्ष्मसाधारणयोरपीति ।

अष्टाविंशतिबन्धस्थाने वर्तमानस्य नाम्नः षड्विंशतिपिण्डप्रकृतयो बन्धे भवन्ति, शरीरपिण्डप्रकृतौ तु त्रयो विभागाः वैक्रियतैजसकार्मणशरीरभेदात् । देवप्रायोग्ये अल्पबहुत्वं त्वेवम्—वैक्रियशरीरस्याल्पप्रदेशाग्रं ततस्तैजसस्य ततः कार्मणस्य विशेषाधिकम्, ततो देवगतेः संख्यातगुणम्, ततः पञ्चेन्द्रियजातेस्ततः समचतुरस्रसंस्थानस्य ततो वैक्रियाङ्गोपाङ्गस्य वर्णस्य गन्धस्य रसस्य स्पर्शस्य देवानुपूर्व्या अगुरुलघुनाम्न उपघातनाम्नः पराघातनाम्न उच्छ्वासनाम्नः शुभविहायोगतिनाम्नः त्रसस्य बादरस्य पर्याप्तस्य प्रत्येकस्य स्थिरास्थिरयोरन्यतरस्य शुभाशुभयोरन्यतरस्य सुभगनाम्नः सुस्वरनाम्न आदेयनाम्नो यशःकीर्त्ययशःकीर्तिनाम्नोरन्यतरस्य निर्माणनाम्नश्च क्रमेण विशेषाधिकं प्रदेशाग्रं बन्धे भवति । एवं नरकप्रायोग्याष्टाविंशतिबन्धेऽल्पबहुत्वं वाच्यम्, केवलं देवगत्यादिस्थाने नरकगत्यादयो विज्ञेयाः तच्चैवम्-नरकद्विकहुण्डककुखगतिनामास्थिरषट्कानि ।

देवप्रायोग्यं जिननामसहितमेकोनत्रिंशतं बध्नतो देवगत्यादिप्रकृतीनामल्पबहुत्वमेवमेव= देवगतिप्रायोग्याष्टाविंशतिबन्धकवदेव द्रष्टव्यम्, केवलं निर्माणनामानन्तरं चरमस्थाने जिननाम्नो बन्धो विशेषाधिको वाच्यः, अत्र च सप्तविंशतिः पिण्डप्रकृतिसत्कविभागा भवन्तीति विशेषः । देवप्रायोग्याहारकद्विकसहितं त्रिंशतं बध्नतः पुनर्दलविभाजनलब्धमल्पबहुत्वमेवम्—

वैक्रियशरीरस्य सर्वाल्पप्रदेशाग्रं तत आहारकशरीरस्य विशेषाधिकं ततस्तैजसशरीरस्य विशेषाधिकं ततः कार्मणशरीरस्य विशेषाधिकं ततो वैक्रियाङ्गोपाङ्गस्य देशोनद्विगुणं तत आहारकाङ्गोपाङ्गस्य विशेषाधिकं ततो देवगते र्देशोनद्विगुणं, ततः पञ्चेन्द्रियजाते-स्ततः समचतुरस्रसंस्थानस्य ततो वर्णस्य ततो गन्धस्य ततो रसस्य ततः स्पर्शस्य ततो देवानुपूर्व्यास्ततोऽगुरुलघुनाम्नस्तत उपघातनाम्नस्ततः पराघातनाम्नस्तत उच्छ्वासनाम्न-स्ततः शुभविहायोगतिनाम्नस्ततः त्रसनाम्नस्ततो बादरनाम्नस्ततः पर्याप्तनाम्नस्ततः प्रत्येक-नाम्नस्ततः स्थिरनाम्नस्ततस्शुभनाम्नस्ततः सुभगनाम्नस्ततः सुस्वरनाम्नस्तत आदेयनाम्न-स्ततो यशःकीर्तिनाम्नस्ततो निर्माणनाम्नो विशेषाधिकं प्रदेशाग्रं बन्धे भवति। अत्र शरीर-चतुष्कस्यैक एव पिण्डप्रकृतिसत्कभागः, एवमङ्गोपाङ्गद्वयस्यापि, ततः षड्विंशतिरेव विभागाः प्रथमं भवन्तीति। देवप्रायोग्यमेकत्रिंशतं बध्नत इदमेव दलविभाजनेऽल्पबहुत्वम्, केवलं निर्माणनामानन्तरं जिननाम्नः प्रदेशाग्रं विशेषाधिकं निरूपणीयम्, अत एव मूलविभागाः सप्तविंशतिर्भवन्तीत्यपि बोध्यम्।

द्वीन्द्रियापर्याप्तप्रायोग्यं पञ्चविंशतिं प्रकृतीर्बध्नतो दलविभाजनाल्पबहुत्वमेवम्—औदारिकशरीरस्य सर्वाल्पप्रदेशाग्रं ततस्तैजसस्य कार्मणस्य क्रमेण विशेषाधिकम्, ततस्तिर्य-ग्गतेर्देशोनत्रिगुणम्, ततो द्वीन्द्रियजातेर्हुण्डकसंस्थानस्यौदारिकाङ्गोपाङ्गस्य सेवार्तसंहनन-नाम्नो वर्णस्य गन्धस्य रसस्य स्पर्शस्य तिर्यगानुपूर्व्या अगुरुलघुनाम्न उपघातनाम्नस्त्रस-नाम्नो बादरनाम्नोऽपर्याप्तनाम्नः प्रत्येकनाम्नोऽस्थिरनाम्नोऽशुभस्य दुर्भगस्यानादेयस्या-यशःकीर्तिनाम्नो निर्माणनाम्नः क्रमेण विशेषाधिकं प्रदेशाग्रं बन्धे भवति। एवमेवाल्पबहु-त्वमपर्याप्तत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियपञ्चेन्द्रियतिर्यक्प्रायोग्यं पञ्चविंशतिं बध्नतो विज्ञेयम्, केवलं द्वीन्द्रियजातिस्थाने स्वस्वजातिर्वाच्या। एवमेवाऽपर्याप्तमनुष्यप्रायोग्यं पञ्चविंशतिं बध्नतोऽल्प-बहुत्वं विज्ञेयम्, केवलं तिर्यग्द्विकस्थाने मनुष्यगतिस्तदानुपूर्वी च वाच्या पञ्चेन्द्रियजातिश्चेति।

पर्याप्तद्वीन्द्रियप्रायोग्यमेकोनत्रिंशतं बध्नतो दलविभाजनलब्धाल्पबहुत्वमेवमवसातव्यम्—औदारिकशरीरस्य प्रदेशाग्रं सर्वाल्पं ततस्तैजसस्य ततः कार्मणस्य क्रमेण विशेषाधिकम्, ततस्तिर्यग्गतेर्देशोनत्रिगुणम्, ततो द्वीन्द्रियजातेस्ततो हुण्डकसंस्थानस्य तत औदारिका-ङ्गोपाङ्गस्य ततः सेवार्तसंहननस्य वर्णस्य गन्धस्य रसस्य स्पर्शस्य तिर्यगानुपूर्व्या अगुरुलघुनाम्न उपघातनाम्नः पराघातस्योच्छ्वासस्याशुभविहायोगतेस्त्रसस्य बादरस्य पर्याप्तस्य प्रत्येकस्य स्थिरास्थिरयोरन्यतरस्य शुभाशुभयोरन्यतरस्य दुर्भगस्य दुःस्वर-स्यानादेयस्य यशःकीर्त्ययशःकीर्त्योरन्यतरस्या निर्माणनाम्नः क्रमेण विशेषाधिकं विशेषाधिकं

प्रदेशाग्रं बन्धे भवति । अत्रैकोनत्रिंशति बन्धे सप्तविंशतिपिण्डप्रकृतिसत्कमूलविभागा भवन्ति । एतदेव द्वीन्द्रियप्रायोग्यमेकोनत्रिंशतं बन्धस्थानमुद्योतयुक्तं त्रिंशतो बन्धस्थानं भवति । तत्राप्यल्पबहुत्वमेवमेव, केवलमुच्छ्वासनामानन्तरमुद्योतनाम्नो विशेषाधिकत्वेन पदन्यासः कार्यस्तथाऽष्टाविंशतिर्नामकर्मसत्कदलिकानां मूलविभागा भवन्ति । एवं त्रीन्द्रियप्रायोग्यस्य चतुरिन्द्रियप्रायोग्यस्य वा बन्धस्थानद्वयस्यैकोनत्रिंशद्त्रिंशद्रूपस्य बन्धे वर्तमानस्य दलविभाजनलब्धाल्पबहुत्वं विज्ञेयम् ।

पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यक्प्रायोग्य एकोनत्रिंशतं बन्धस्थानं बध्नतोऽल्पबहुत्वं त्वेवम्—औदारिकशरीरस्य सर्वाल्पं प्रदेशाग्रं ततस्तैजसस्य कार्मणस्य क्रमेण विशेषाधिकम्, ततस्तिर्यग्गतेर्देशोनत्रिगुणम् ततः पञ्चेन्द्रियजातेः संस्थानषट्केऽन्यतमस्यौदारिकाङ्गोपाङ्गस्य संहननषट्केऽन्यतमसंहननस्य वर्णस्य गन्धस्य रसस्य स्पर्शस्य तिर्यगानुपूर्व्या अगुरुलघुनाम्न उपघातस्य पराघातस्योच्छ्वासस्य शुभाशुभविहायोगत्योरन्यतरस्या त्रसस्य बादरस्य पर्याप्तस्य प्रत्येकस्य स्थिरास्थिरयोरन्यतरस्य शुभाशुभयोरन्यतरस्य सुभगदुर्भगयोरन्यतरस्य सुस्वरदुःस्वरयोरन्यतरस्यादेयानादेययोरन्यतरस्य यशःकीर्त्ययशःकीर्त्योरन्यतरस्या निर्माणनाम्नः क्रमेण विशेषाधिकं विशेषाधिकं प्रदेशाग्रं बन्धे प्राप्यते। उद्योतनामसहितं पर्याप्तपञ्चेन्द्रियप्रायोग्यं त्रिंशतं बध्नतोऽप्यल्पबहुत्वमेवमेव भवति, केवलमुच्छ्वासनामानन्तरं उद्योतनाम्नो विशेषाधिकं प्रदेशबन्धं निरूप्य ततो विहायोगत्यादीनां शेषपदानामल्पबहुत्वं वाच्यमिति । पर्याप्तमनुष्यप्रायोग्यमेकोनत्रिंशतं बन्धस्थानं बध्नतो नामकर्मसत्कलब्धकर्मदलिकानां विभाजनप्राप्ताल्पबहुत्वमित्थमेव भवति । केवलं तिर्यग्गत्यानुपूर्व्योः स्थाने मनुष्यगतिस्तदानुपूर्वीश्च द्रष्टव्ये । मनुष्यप्रायोग्यं जिननामसहितं त्रिंशतं बध्नतो दलविभाजनं त्वेवम्—औदारिकशरीरस्य सर्वाल्पं प्रदेशाग्रं ततस्तैजसस्य ततः कार्मणस्य क्रमेण विशेषाधिकम्, ततो मनुष्यगतेर्देशोनत्रिगुणम् ततः पञ्चेन्द्रियजातेस्ततः समचतुरस्रसंस्थानस्य तत औदारिकाङ्गोपाङ्गस्य ततो वज्रर्षभनाराचसंहननस्य वर्णस्य गन्धस्य रसस्य स्पर्शस्य मनुष्यानुपूर्व्या अगुरुलघुनाम्न उपघातस्य पराघातस्योच्छ्वासस्य शुभविहायोगतेस्त्रसस्य बादरस्य पर्याप्तस्य प्रत्येकस्य स्थिरास्थिरयोरन्यतरस्य शुभाशुभयोरन्यतरस्य सुभगस्य सुस्वरस्यादेयस्य यशःकीर्त्ययशःकीर्त्योरन्यतरस्या निर्माणनाम्नस्तीर्थकरनाम्नश्च क्रमेण विशेषाधिकं विशेषाधिकं प्रदेशाग्रं बन्धे भवति ।

अष्टमगुणस्थानसप्तमभागादौ केवलं यशःकीर्तिनाम बध्नन् सर्वमेव नामकर्मसत्कदलिकं तस्यैव भवतीति ।

एवं सामान्येन बन्धस्थानान्यधिकृत्य नामकर्मणो दलविभाजनमुक्तम् । न चात्र जघन्ययोगस्थानगतं उत्कृष्टयोगस्थानगतं वा केवलमधिकृतम्, तस्याल्पबहुत्वद्वारे वक्ष्यमाणत्वात् । किन्तु तदर्हं कस्मिंश्चिदपि योगस्थानगतं जीवमधिकृत्य बध्यमानदलिकेभ्यो नामकर्मतया प्राप्तदलिकानां तत्तत्काले बध्यमानप्रकृतिषु विभाजनमुक्तं तस्यैव दलविभाजनद्वारविषयत्वात् ॥

अथ नामकर्मसत्कदलविभाजनसम्बन्धिगाथार्थो भाव्यते—"**पिंडपगतीसु**" इत्यादि पिण्डप्रकृतिषु द्विचत्वारिंशद्रूपासु यावत्यः पिण्डप्रकृतयो बध्यन्ते तावन्तो विभागा भवन्ति, तत्रापि वर्णरसगन्धस्पर्शसंज्ञकानां चत्वारः पिण्डप्रकृतीनां या अवान्तरप्रकृतयः पञ्च पञ्च द्वेऽष्टरूपाः सर्वाः सर्वत्र युगपदेव बध्यन्ते, अतस्तत्तत्पिण्डप्रकृतिलब्धभागत उक्तविभागा भवन्ति, तद्यथा—वर्णनामलब्धभागस्य पञ्चविभागा भवन्ति, रसनामसत्कदलिकानां पञ्चविभागा भवन्ति, गन्धनामसत्कदलिकानां विभागद्वयं भवति, स्पर्शनामसत्कदलिकान्यष्टधा विभज्यन्ते । उक्तं च—"जं वण्णभागलद्धं तं पचहा कीरइ पंचण्णं वण्णाणं । एवं गंधरसफासाण जस्स जत्तिता भेदा तस्स तत्तिया भागा कीरंति ॥' **संघाए तणुम्मि य तिगे चउक्के वा**" त्ति । संघातननाम्नः शरीरनाम्नः पञ्च पञ्च भेदा भवन्ति, औदारिकवैक्रियाहारकतैजसकार्मणभेदात् । तत्रौदारिकवैक्रिययोः परस्परं सप्रतिपक्षत्वेन युगपद्बन्धाभावात्, औदारिकबन्धकाले आहारकस्यापि बन्धाभावात् त्रीणि संघातननामानि त्रीणि शरीरनामानि च बध्यन्ते, औदारिकतैजसकार्मणानीति । वैक्रियबन्धकालेऽप्याहारकबन्धाभावे त्रीणि त्रीणि शरीरसंघातननामानि बध्यन्ते वैक्रियतैजसकार्मणसंज्ञकानि, केषाञ्चिदप्रमत्तापूर्वकरणस्थसंयतानां वैक्रियबन्धकाल आहारकस्यापि बन्धभावे चत्वारि चत्वारि संघातननामानि शरीरनामानि च बध्यन्ते, न पुनः कदाचित् कस्यचिदपि पञ्चशरीराणि पञ्चसंघातनानि वा युगपद्बध्यन्ते, अतः शरीरनामलब्धदलिकानां त्रयश्चत्वारो वा विभागा भवन्ति । तत्र त्रय औदारिकतैजसकार्मणरूपा वैक्रियतैजसकार्मणरूपा वा, चत्वारः पुनर्वैक्रियाहारकतैजसकार्मणरूपा एव, न पुनरन्यथेति । अत्र चकारेण अङ्गोपाङ्गनाम्न एको द्वौ वा विभागौ विज्ञेयौ, तत्रौदारिकाङ्गोपाङ्गबन्धकाल एक एव विभागः, वैक्रियाङ्गोपाङ्गबन्धकाले एको विभागो विभागद्वयं वेति । "**सत्तेक्कारविगप्पा बंधणणामाणं**" त्ति, बन्धननामानि पञ्चदश, तेभ्यः सप्त एकादश वा बन्धे भवन्ति, शरीरत्रयबन्धे सप्त, शरीरचतुष्कबन्ध एकादश, पञ्चशरीराणां युगपद्बन्धाभावान्न पञ्चदशबन्धननाम्नां युगपद्बन्धः । अतो बन्धननामलब्धभागस्य सप्तैकादश वा विभागा भवन्ति । तत्रापि प्रकृतिविशेषतो विशेषाधिका भवन्ति । अल्पबहुत्वं पुनरेवम्—औदारिकौदारिकबन्धनस्य सर्वाल्पं प्रदेशाग्रं ततः औदारिकतैजसबन्धनस्य विशेषाधिकं ततः औदारिककार्मणबन्धनस्य ततः औदारिकतैजसकार्मणबन्धनस्य ततस्तैजसतैजसबन्धनस्य ततस्तैजसकार्मणबन्धनस्य ततःकार्मणकार्मणबन्धनस्य क्रमेण विशेषाधिकं विशेषाधिकं प्रदेशाग्रं बन्धे भवति । वैक्रियवैक्रिय-

बन्धनस्य सर्वाल्पं प्रदेशाग्रं ततो वैक्रियतैजसबन्धनस्य विशेषाधिकं ततो वैक्रियकार्मण-बन्धनस्य ततो वैक्रियतैजसकार्मणबन्धनस्य ततस्तैजसतैजसबन्धनस्य ततस्तैजसकार्मण-बन्धनस्य ततः कार्मणकार्मणबन्धनस्य क्रमेण विशेषाधिकं विशेषाधिकं प्रदेशाग्रं बध्नाति। वैक्रियवैक्रियबन्धनस्य सर्वाल्पं प्रदेशाग्रं ततो वैक्रियतैजसबन्धनस्य ततो वैक्रियकार्मणबन्धनस्य ततो वैक्रियतैजसकार्मणबन्धनस्य तत आहारकाहारकबन्धनस्य तत आहारकतैजसबन्धनस्य तत आहारककार्मणबन्धनस्य तत आहारकतैजसकार्मणबन्धनस्य ततस्तैजसतैजसबन्धनस्य ततस्तैजस-कार्मणबन्धनस्य ततः कार्मणकार्मणबन्धनस्य क्रमेण विशेषाधिकं विशेषाधिकं प्रदेशाग्रं बध्नाति। अत्र विशेषाधिकत्वं प्रकृतिविशेषाद् विज्ञेयम्। इदमत्रावधार्यम्—पञ्चदशबन्धननाम्नां पञ्चानां संघातननाम्नां च बन्धे शरीरप्रकृतिष्वेवान्तर्भावेन विवक्षितत्वाद्बन्धनसंघातननाम्नां प्राक्तनाल्प-बहुत्वेषु न निर्देशः, न च तत्र तदभावोऽतस्तत्र तदनिरूपितेऽपि तयोरल्पबहुत्वं तत्रान्तर्गतमिति कृत्वा यथास्थानं कथनीयम्, सुगमं चैतदिति।

"**मूलपगईणं। उत्तरसगपगईण य अप्पबहुत्ता विसेसो सिं**" इत्यादि, इदं गाथाचतुष्कं कर्मप्रकृतिगतं ग्रन्थकृता उद्धृतम्, तत्र सार्धगाथात्रयेण सामान्यतो दलविभाजनमुक्तम्, न चात्र मूलकारेण परस्परं विशेषोऽभिहितः, भवति चात्र प्रकृतिविशेषा-दिना विशेषः, अतस्तमतिदेशेन दर्शयति-"**मूलपगईण**" मित्यादि, मूलप्रकृतीनामल्पबहुत्वेन मूलप्रकृतीनां परस्परं विशेषः प्रदेशबन्धे ज्ञातव्यः, तथोत्तरप्रकृतीनां पुनः परस्परं दलविभाजने यो विशेषः, स बन्धस्थानेषु प्रत्येकं यदल्पबहुत्वं तेनावसातव्यः, एतेन—उक्ताल्पबहुत्वेन कस्मि-श्चिदपि योगस्थाने वर्तमानेन गृहीतप्रदेशानां तत्काले बध्यमानप्रकृतिषु दलविभाजनं सुज्ञातं भवति, तच्च दर्शितमेव। यद्वा "**मूलपगईण**" मित्यादि गाथाया साधिकोत्तरार्धमन्यथा व्याख्ये-यम्, तद्यथा-एतावत्पर्यन्तं दलविभाजनेन एकजीवेन विवक्षितसमये बध्यमानप्रकृतीनां प्राप्तदलिकानां विशेष उक्तः, न च गतिचतुष्कादिकं युगपद्बध्यत अत उत्कृष्टपदेन तत्तद्गत्यादीनामुत्कृष्ट-प्रदेशबन्धकैर्बध्यमानानां नरकगत्यादिसत्कप्रदेशानां यो विशेषः, स उत्कृष्टपदगताल्पबहुत्वतो ज्ञातव्यो भवति। एवं तत्तद्गत्यादीनां जघन्यप्रदेशबन्धकैर्बध्यमानानां नरकगत्यादिसत्कप्रदेशानां परस्परं यो विशेषः, स जघन्यपदगताल्पबहुत्वतो विज्ञेयः। तत्रोत्कृष्टपदगताल्पबहुत्वं जघन्यपदगता-ल्पबहुत्वं च प्रस्तुतोत्तरप्रकृतिप्रदेशबन्धस्य प्रथमाधिकारस्य प्रान्ते सविशेषं दर्शयिष्याम इति।

तदेवं स्वस्थानेन दलविभाजनमुक्तम्, तेन परस्थानेनापि दलविभाजनमवसातव्यम्। सप्तदशबन्धस्थानमादौ कृत्वा यथासम्भवं चतुस्सप्ततिप्रकृत्यात्मकान्तं यानि बन्धस्थानानि तेषां परस्थानदलविभाजनविषयत्वादिति। तदेवं दलविभाजनद्वारं गतम् ॥६-७-८-९॥

॥ इति श्री प्रेमप्रभाटीकासमलङ्कृते बन्धविधाने उत्तरप्रकृतिप्रदेशबन्धे प्रथमाधिकारे प्रथमं दलविभाजनद्वारं समाप्तम् ॥

द्वितीयं स्थानद्वारम्

अथ स्थानद्वारम् । तच्च द्विधा—योगस्थानं प्रदेशबन्धस्थानं च । तत्र प्रथमं प्रदेशबन्धस्य हेतुभूतं योगस्थानमतिदेशेन निरूपयति—

बीए ठाणदुवारे जोगट्ठाणस्स मूलपयडिव्व ।
णेया परूवणा खलु ·································· ॥ ॥

(प्रे०) "बीए" इत्यादि, प्रथमाधिकारगते द्वितीये स्थानद्वारे योगस्थानप्ररूपणा प्रदेशबन्धस्थानप्ररूपणा चेत्यवान्तरद्वारद्वयम् , तत्र योगस्थानस्य प्ररूपणं तु योगस्य एव प्रदेशबन्धे हेतुत्वात् "जोगा पयडिपएसं" इति वचनाद्यथा मूलप्रकृतिप्रदेशबन्धे सविस्तृतं मुनिश्रीराजशेखरविजयैःमूलकारस्य गुरुस्थानस्थितैः संसारपक्षे पितृव्यसिः विवरितं तत्ततोऽवधार्यमिति । प्रदेशबन्धस्थानानि तु सामान्यतो योगस्थानतुल्यान्येव भवन्ति, तथापि प्रकृतीनां वृद्धिहान्यादिना प्रदेशबन्धस्य वृद्धिहानी भावात् प्रकृतीनां वृद्धिहानी आश्रित्य तानि प्रदेशबन्धस्थानानि योगस्थानतोविशेषाधिकानि संख्येयगुणानि वा भवन्ति, अतो न सर्वासां प्रकृतीनां तानि प्रदेशबन्धस्थानानि तुल्यानि अतस्तासु योगस्थानेभ्यः प्रदेशबन्धस्थानानां विशेषं दर्शयन्नाह—

································ पएसठाणे पुणो एवं ॥१०॥
थीणद्धितिगासायाणचउगइत्थीणपुंसमिच्छाणं ।
तह णारगदुगआयवणीआण विसेसअहिआणि ॥११॥
जोगट्ठाणेहिन्तो णेयाणि पएसबंधठाणाणि ।

(प्रे०) 'पएसठाणे' इत्यादि तत्तत्प्रकृतीनां बन्धकाले यानि योगस्थानानि सम्भवन्ति तानि तत्तत्प्रकृतीनां प्रदेशबन्धे हेतुभूतानि, अतो यावन्ति योगस्थानानि भवन्ति तावन्ति तन्निष्पन्नानि प्रदेशबन्धस्थानान्यपि भवन्ति। अधिकानि प्रदेशबन्धस्थानानि पुनरेवम्-स्त्यानर्द्धित्रिकासातवेदनीयानन्तानुबन्धिचतुष्कस्त्रीवेदनपुंसकवेदमिथ्यात्वनरकद्विकातपनामनीचैर्गोत्राणां पञ्चदशानां योगस्थानेभ्यः प्रदेशबन्धस्थानानि विशेषाधिकानि भवन्ति, अत्रासां सप्तविधमूलप्रकृतिबन्धकस्य यावन्ति योगस्थानानि तावन्ति प्रदेशबन्धस्थानानि भवन्ति। तथा सप्तविधमूलप्रकृतिबन्धप्रायोग्याणि यानि योगस्थानानि तेभ्योऽसंख्येयभागप्रमाणानि अपर्याप्तावस्थाभावीनि उत्पादैकान्तवृद्धिसंज्ञकान्यायुर्बन्धाप्रायोग्यानि तानि विहाय शेषाण्यष्टविधबन्धकाले तासां प्रकृतीनां प्रदेशबन्धस्थानानि भवन्ति। अत्र यानि सप्तविधबन्धस्थानेन तत्तत्प्रकृतौ तुल्यप्रदेशलाभेन पुनरुक्तानि तानि वर्जनीयानि । अतो देशोनद्विगुणान्यासां प्रकृतीनां योगस्थानेभ्यः प्रदेशबन्धस्थानानि भवन्ति।१०-११।

अथायुषः प्रदेशबन्धस्थानानि निरूपयन्नाह—

आउणं तुल्लाइं सेसाणं संखियगुणाइं ॥१२॥

(प्रे०) "आऊण" मित्यादि, चतुर्णामायुषां प्रत्येकं बन्धप्रायोग्याणि यावन्ति योगस्थानानि तावन्त्येव प्रदेशबन्धस्थानानि भवन्ति, आयुषां योगवृद्धिहानी विहाय न प्रदेशबन्धवृद्धिहान्योः कारणान्तरमिति, अतः प्रदेशबन्धस्थानानि केवलानि योगस्थानप्रयुक्तान्येव, न पुनः प्रकृतिवृद्धिहानिप्रयुक्तानि। शेषाणामेकोत्तरशतप्रकृतीनां प्राह-"सेसाण"मित्यादि, शेषाणामेकोत्तरशतस्य प्रत्येकं बन्धप्रायोग्याणि यानि योगस्थानानि तेभ्यस्तासां प्रत्येकं प्रदेशबन्धस्थानानि संख्येयगुणानि भवन्ति, कासाञ्चिन्मूलप्रकृतीनां बन्धस्थानत्रये बन्धभावात्कासाञ्चिन्मूलप्रकृतीनां बन्धस्थानद्वये उत्तरप्रकृतिसत्कबन्धस्थानद्वयादिषु बन्धस्य सद्भावाच्च प्रदेशबन्धस्थानानि देशोनत्रिगुणचतुर्गुणादीनि भवन्ति, भावना तु सुगमा मूलप्रकृतिप्रदेशबन्धानुसारेण च कार्या। एवं प्रकृतीनां बन्धप्रायोग्ययोगस्थानेभ्यः प्रदेशबन्धस्थानान्यल्पबहुत्वनिरूपणेन यदधिकानि संख्येयगुणानि वा भवन्ति तन्निरूपितम्। योगस्थानस्य सविस्तृतस्वरूपं प्रदेशबन्धस्थानस्वरूपं च मूलप्रकृतिबन्धेन एवावसेयम्, तत्र विस्तरतो निरूपितत्वादिति ॥१२॥

अथ ज्ञानावरणादीनां स्वस्थानेन प्रदेशबन्धस्थानानामल्पबहुत्वं निरूपयन्नाह—

पणणाणावरण-खगइ-सरदुग-वण्णाइवीस-विग्घाणं ।
तुल्लाइं णेयाइं पएसबंधस्स ठाणाणि ॥१३॥
थीणद्धितिगाहिन्तो अब्भहियाइं पएसठाणाइं ।
णिद्दादुगस्स हुन्ते तो बीआवरणचउगस्स ॥१४॥
अब्भहियाणि असायगथावरथिरचउगअजसणीआओ ।
पडिवक्खाणं हुन्ते सुहमतिगा संखियगुणाणि ॥१५॥
अणमिच्छणपुमथीओ णेयाणि कमा विसेस अहियाणि ।
दसपुमचउतइअकसायंतिमकोहमयमायलोहाणं ॥१६॥ (गीतिः)
णरतिरियाऊणाऽऽउदुगाऽब्भहियाणि सुरणरतिरदुगाणं ।
णिरयदुगाओ कमसो पणिंदियस्स चउजाईओ ॥१७॥
आहाराऽब्भहिआइं कमसो विउवुरलतेअसदुगाणं ।
उरलविउवुवंगाणं अब्भहियाइं कमाऽऽहारा ॥१८॥

पणसंघयणेहितो छेवट्ठस्स उ विसेसअहियाणि ।
पढमस्साऽऽगिइचउगा ताउ दुगुणियाणि चरमस्स॥१९॥
तित्थुज्जोआणं कमाऽऽयवाऽब्भहियगाणि संखियगुणाइं ।
परघाऊसासाणं तोअब्भहियाणि तिधुवाणं ॥२०॥
एवं जोगपएसट्ठाणाणं मग्गणासु विण्णेयं ।
सुगमत्ताऽप्पाबहुगं णाउं बंधगुणठाणाणि ॥२१॥

(प्रे०) "पणणाणावरणे"त्यादि, गाथानवकम् । पञ्चानां ज्ञानावरणानां प्रदेशबन्धस्थानानि परस्परं तुल्यानि भवन्ति युगपदेव तासां बन्धात्, न प्रदेशबन्धस्थानेषु ताभ्यः कस्या न्यूनाधिकत्वम् । एवं पञ्चानां वर्णनाम्नां गन्धद्वयस्य पञ्चरसानामष्टस्पर्शनाम्नां प्रदेशबन्धस्थानानि तुल्यानि भवन्ति । पञ्चानां वर्णनाम्ना प्रदेशबन्धस्थानानि परस्परं तुल्यानि न पुनर्न्यूनाधिकानि; वर्णनामलब्धभागस्यैव पञ्चानां लाभाद् युगपदेव तासां सर्वत्र बध्यमानत्वाच्च । एवं गन्धादिष्वपि भावनीयम् । अन्तरायपञ्चकस्य प्रदेशबन्धस्थानानि परस्परं तुल्यानि, ज्ञानावरणवच्च भावनीयानि । सुखगतिकुखगत्योः प्रदेशबन्धस्थानानि परस्परं तुल्यानि–अष्टविधसप्तविधबन्धकालेऽष्टाविंशत्यादिबन्धस्थानत्रये बन्धभावात्तुल्यान्येव प्रदेशबन्धस्थानानि ।

ननु सुखगतेरेकत्रिंशद्बन्धस्थानेऽपि बन्धभावात् तस्याः प्रदेशबन्धस्थानानि विशेषाधिकानि वाच्यानि, न तु तुल्यानीति, अत्रोत्तरम्-एकत्रिंशद्बन्ध आहारकद्विकस्य बन्धभावात् तस्य च शरीराङ्गोपाङ्गलब्धभागेभ्य एव दललाभान्नैकोनत्रिंशद्बन्धतो प्रदेशबन्धे कश्चिद्विशेष इति । ननु दलविभाजने नामकर्मसु गत्यादिक्रमेण दलविभाजनमुक्तं तत एकस्यैकोनत्रिंशति संहनननाम बध्यते अन्यस्य तु जिननाम, अत्र प्रकृतिक्रम व्युत्क्रमाद् दलविभाजनस्य न्यूनाधिकत्वस्य भावान्न प्रदेशबन्धस्थानेषूक्तप्रकारेण तौल्यं संपद्येत इति, अत्रोच्यते–अत्र बन्धस्थानानां तुल्यत्वमाश्रित्य प्रदेशबन्धस्थानानां तुल्यत्वं प्रकटितं न तु प्रदेशाग्रमाश्रित्येति, तदाश्रित्य तु यो विशेषाधिकः संख्यातगुणो वा विशेषः स्यात्, स तु बहुश्रुतेभ्यः सोपपत्तिको विभावनीयः, अत्र संग्रहणीयश्चेति । सुस्वरदुःस्वरनाम्नोः प्रदेशबन्धस्थानानि परस्परं तुल्यानि । इति प्रथमगाथार्थः ।

स्त्यानर्द्धित्रिकस्य प्रदेशबन्धस्थानानि स्तोकानि, तेभ्यो निद्राद्विकस्य विशेषाधिकानि, नवविधबन्धकस्य सर्वयोगस्थानानि भवन्ति षड्विधबन्धकस्य तु संज्ञिप्रायोग्यान्येव योगस्थानान्यतः स्त्यानर्द्धित्रिकबन्धकेभ्यो निद्राद्विकस्य प्रदेशबन्धस्थानानि देशोनद्विगुणानि भवन्ति नवविधबन्धकानां षड्विधबन्धकानां च संबन्धिनी सर्वाणि प्रदेशबन्धस्थानानि निद्राद्विकबन्धकानां भवन्तीति भावः ।

स्त्यानर्द्धित्रिकस्य प्रदेशबन्धस्थानानि योगस्थानतो देशोनद्विगुणानि, निद्राद्विकस्य तु देशोन-चतुर्गुणानि भवन्ति । ततोऽपि दर्शनावरणचतुष्कस्य विशेषाधिकानि भवन्ति, तानि पूर्वपदतो देशोनसार्धगुणप्रमाणानि ज्ञातव्यानि, निद्राद्विकस्य यावन्ति प्रदेशबन्धस्थानानि तावन्त्यन्यानि च देशोनार्धानि भवन्तीति यावत्, सप्तविधमूलप्रकृतिबन्धकस्य चतुर्विधबन्धकाले यानि योग-स्थानानि भवन्ति तेषामप्यत्र प्रक्षेपात्, तथा षड्विधमूलप्रकृतिबन्धकस्य यानि योगस्थानानि भवन्ति तासामप्यत्राधिकतया प्राप्यमाणत्वात् ।

अयं पुनस्तात्पर्यार्थः—स्त्यानर्द्धित्रिकस्य प्रदेशबन्धस्थानानि योगस्थानतो देशोनद्वि-गुणानि, निद्राद्विकस्य पुनः प्रदेशबन्धस्थानानि योगस्थानतो देशोनचतुर्गुणानि, शेषदर्शना-वरणचतुष्कस्य तु प्रदेशबन्धस्थानानि योगस्थानतो देशोन षड्गुणानि ज्ञातव्यानीति ।

असातवेदनीयस्य स्तोकानि प्रदेशबन्धस्थानानि, योगस्थानेभ्यो देशोनद्विगुणानि, तेभ्यः सातवेदनीयस्य विशेषाधिकानि देशोनानि त्रिगुणानि । स्थावरनाम्नः स्थिरशुभसुभगादेयनाम्ना-मयशःकीर्तिनाम्नो नीचैर्गोत्रस्य च स्तोकानि प्रदेशबन्धस्थानानि, तेभ्यः प्रतिपक्षप्रकृतीनां त्रस-नामादीनां प्रदेशबन्धस्थानानि विशेषाधिकानि, तासां त्रसादिप्रकृतीनां उत्तरप्रकृतिसत्कबन्धस्था-नानां मूलप्रकृतिबन्धस्थानानां वा विशेषाधिकत्वात्, गोत्रस्य तु वेदनीयवद्भावनीयम् । सूक्ष्मत्रिकस्य प्रदेशबन्धस्थानानि सर्वाल्पानि, तेभ्यो बादरत्रिकस्य संख्येयगुणानि, बन्धस्थानानां संख्येय-गुणत्वात्, तद्यथा-सूक्ष्मत्रिकस्य द्वे द्वे बन्धस्थाने, बादरप्रत्येकनाम्नोः षट् पर्याप्तनाम्नः पञ्चेति । अनन्तानुबन्धिचतुष्कनपुंसकवेदमिथ्यात्वस्त्रीवेदानामल्पप्रदेशबन्धस्थानानि परस्परं तुल्यप्रायाणि योगस्थानेभ्यो देशोनद्विगुणानि । ततो हास्यषट्काऽप्रत्याख्यानावरणकषायचतुष्करूपाणां दशानां विशेषाधिकानि योगस्थानेभ्यो देशोनचतुर्गुणानि । ततः पुरुषवेदस्य विशेषाधिकानि, योग-स्थानेभ्यो देशोनपञ्चगुणानि, नवमगुणस्थानगतपञ्चविधबन्धकस्य प्रदेशबन्धस्थानानामाधि-क्यादायुषो बन्धस्यात्रासंभवान्न षड्गुणत्वमिति । ततः प्रत्याख्यानावरणचतुष्कस्य विशेषा-धिकानि योगस्थानेभ्यो देशोनषड्गुणानि भवन्ति । ततः संज्वलनक्रोधस्य विशेषाधिकानि योग-स्थानकेभ्यो देशोननवगुणानि भवन्ति, तद्यथा—प्रथमचतुर्थपञ्चमषष्ठगुणस्थानेषु सप्तविधाष्टविधब-न्धाऽपेक्षया नवमगुणस्थाने मोहनीयस्य चतुर्विधबन्धकापेक्षया चेति योगस्थानापेक्षयाऽस्य प्रदेशबन्धस्थानानि नवगुणानि देशोनानि भवन्ति । अत्र देशोनत्वं तु सूक्ष्मधिया विभावनीयम् । ततः संज्वलनमानस्य प्रदेशबन्धस्थानानि विशेषाधिकानि त्रिविधबन्धका-पेक्षया यानि प्रदेशबन्धस्थानानि प्राप्यन्ते, तेभ्यः पुनरुक्तानि विहाय शेषाणि विशेषाधि-कानि । ततः संज्वलनमायाया विशेषाधिकानि द्विविधबन्धकापेक्षया प्राप्यमाणान्यधिकानि

भवन्ति, ततः संज्वलनलोभस्य विशेषाधिकानि योगस्थानेभ्यो देशोनद्वादशगुणानि भवन्ति । भावना तु सुगमा ।

देवनरकायुषोः प्रदेशबन्धस्थानानि सर्वाल्पानि परस्परं तुल्यानि, करणपर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियाणां यावन्त्यायुर्बन्धप्रायोग्याणि योगस्थानानि भवन्ति तावन्त्येव तयोः प्रदेशबन्धस्थानान्यपि भवन्ति, ततस्तिर्यग्मनुष्यायुषोः प्रदेशबन्धस्थानानि विशेषाधिकानि, परस्परं तुल्यानि च, देवनरकायुर्बन्धप्रायोग्ययोगस्थानेभ्यस्तिर्यग्मनुष्यायुर्बन्धप्रायोग्याणां योगस्थानानां विशेषाधिकत्वेन प्रदेशबन्धस्थानानि विशेषाधिकानि भवन्ति। योगस्थानानां विशेषाधिकत्वं चैकेन्द्रियादिसत्कायुर्बन्धप्रायोग्ययोगस्थानानां लाभात् । तथा स्वबन्धप्रायोग्याणि यावन्ति योगस्थानानि भवन्ति तावन्त्येव प्रदेशबन्धस्थानान्यपि भवन्ति। तिर्यग्मनुष्यायुषोर्बन्धप्रायोग्याणि योगस्थानानि परस्परं तुल्यान्यतस्तेषां प्रदेशबन्धस्थानानामपि तुल्यत्वमिति । नरकद्विकस्य प्रदेशबन्धस्थानान्यल्पानि ततो देवद्विकस्य विशेषाधिकानि, नरकद्विकस्य सप्तविधबन्धकस्याष्टविधबन्धकस्य नाम्नोऽष्टाविंशतिं बन्धस्थाने वर्तमानस्यैव बन्धात् तद्बन्धप्रायोग्ययोगस्थानेभ्यः प्रदेशबन्धस्थानानि द्विगुणानि देशोनानि भवन्ति, देवद्विकस्य पुनः सप्तविधबन्धकोऽष्टविधबन्धको वा नाम्नोऽष्टाविंशतिमेकोनत्रिंशतं वा बध्नाति । अतः स्वबन्धप्रायोग्ययोगस्थानेभ्यो देशोनचतुर्गुणानि प्रदेशबन्धस्थानानि भवन्ति, पूर्वपदेभ्यो देशोनद्विगुणानि । नन्वत्र त्रिंशद्बन्धस्थानस्यैकत्रिंशद्बन्धस्थानस्य च संभवः, तत्कथं तत्सत्कप्रदेशबन्धस्थानानि न संगृहीतानि, अत्रोच्यते—अष्टविंशतिबन्धस्थाने त्रिंशद्बन्धस्थाने च न देवद्विकस्य प्रदेशबन्धे कश्चिद्विशेषः । एवमेकोनत्रिंशदेकत्रिंशद्बन्धस्थानयोरपि भावनीयम् । अतो न तयोरत्र ग्रहणमिति दर्शितं प्राक् । तथाऽत्र नरकद्विकबन्धप्रायोग्ययोगस्थानेभ्यो देवद्विकप्रायोग्याणि योगस्थानान्यपि विशेषाधिकानि, संज्ञ्यपर्याप्तानां देवद्विकस्य बन्धात् । ततो मनुष्यद्विकस्य प्रदेशबन्धस्थानानि विशेषाधिकान्यत्र नाम्नो बन्धस्थानत्रयलाभाद् योग्यस्थानेभ्यो देशोनषड्गुणानि प्रदेशबन्धस्थानानि भवन्ति । ततस्तिर्यग्द्विकस्य प्रदेशबन्धस्थानानि विशेषाधिकानि, नाम्नां पञ्चबन्धस्थानस्य भावेन योगस्थानेभ्यो देशोनदशगुणानि प्रदेशबन्धस्थानानि भवन्ति । एवं बन्धस्थानपरिमाणं ज्ञात्वा शेषाल्पबहुत्वं विभावनीयम् ।

एकेन्द्रियादिजातिचतुष्कस्य प्रदेशबन्धस्थानानि सर्वाल्पानि, अत्र नाम्नो बन्धस्थानत्रयभावात्, ततः पञ्चेन्द्रियस्य विशेषाधिकानि, चतुर्णां बन्धस्थानानां भावात् । आहारकशरीरस्याल्पानि ततो वैक्रियस्य विशेषाधिकान्येकत्र बन्धस्थानद्वयभावादपरत्र बन्धस्थानाधिक्यात्तत औदारिकशरीरस्य विशेषाधिकानि, पञ्चानां बन्धस्थानानां लाभात् । ततस्तैजसकार्मणशरीरयोर्विशेषाधिकानि परस्परं तुल्यानि सप्तबन्धस्थानानां लाभात् । आहारकाङ्गोपाङ्गस्य प्रदेशबन्धस्थानान्यल्पानि तत औदारिकाङ्गोपाङ्गस्य विशेषाधिकानि, एकत्र बन्धस्थानद्वयस्यान्यत्र बन्धस्थानत्रयस्य भावात् .

ततो वैक्रियाङ्गोपाङ्गस्य विशेषाधिकानि चतुर्णां बन्धस्थानानां लाभात् । प्रथमादिसंहननपञ्चकस्य प्रदेशबन्धस्थानानि सर्वाल्पानि नाम्नो बन्धस्थानद्वयलाभात्तुल्यस्थानलाभात् परस्परं तुल्यानि, ततश्चरमसंहननस्य विशेषाधिकानि नाम्नो बन्धस्थानत्रय लाभात् । मध्यमाकृतिचतुष्कस्य सर्वाल्पानि प्रदेशबन्धस्थानानि बन्धस्थानद्वयलाभात्तेभ्यः प्रथमसंस्थानस्य विशेषाधिकानि बन्धस्थानत्रयस्य लाभात्, ततश्चरमसंस्थानस्य द्विगुणानि प्रदेशबन्धस्थानि भवन्ति, अत्र तु बन्धस्थानषट्कस्य लाभात् । आतपनाम्नः प्रदेशबन्धस्थानान्यल्पानि ततो जिननामोद्योतनाम्नोः प्रदेशबन्धस्थानानि विशेषाधिकानि, अत्र नाम्नोर्बन्धस्थानद्वयभावात् । ततः पराघातोच्छ्वासनाम्नोः संख्यातगुणानि नाम्नोः पञ्चबन्धस्थानभावात्ततस्त्रयाणामगुरुलघूपघातनिर्माणनाम्नां प्रदेशबन्धस्थानानि विशेषाधिकानि,षण्णां बन्धस्थानानां भावात् । एवं विंशत्युत्तरशतस्य मूलप्रकृत्यभिन्नोत्तरप्रकृतीनां नामप्रकृतिषु पिण्डप्रकृत्यवान्तरप्रकृतीनां परस्पराल्पबहुत्वं प्रदर्शितम् । अत्र बन्धननाम्ना संघातननाम्नां चाल्पबहुत्वमनुक्तमपि सुगमत्वात् स्वयमवधारणीयम् ।

एवमोघतो योगस्थानानां प्रदेशबन्धस्थानानामल्पबहुत्वं निरूपितम् । मार्गणासु बन्धस्थानानां संभवद्योगस्थानानां च परिमाणादिकं ज्ञात्वा तासु योगस्थानानां प्रदेशबन्धस्थानानां चाल्पबहुत्वं विभावनीयं सुगमत्वान्न पुनस्तासु दर्श्यते, इति प्रदेशबन्धस्थानप्ररूपणा ।

। इति श्री प्रेमप्रभाटीकासमलङ्कृते बन्धविधाने
उत्तरप्रकृतिप्रदेशबन्धे प्रथमाधिकारे
द्वितीयं स्थानद्वारं समाप्तम् ॥



॥ तृतीयं स्वामित्वद्वारम् ॥

अथ प्रदेशबन्धे स्वामित्वद्वारं प्ररूपयन्नादौ तावत् प्रकृतीनां सङ्ग्रहं कुर्वन् गाथादशकेन तमाह–

एत्तो कमसो गेज्झा असाय-साय-पढमावरण-विग्घा ।
उच्च-जस-दरिसणचउग-णिद्दादुग-हस्सछक्काणि ॥२२॥
पुम-संजलण-तिअ-दुइअकसाय-मिच्छा-ऽण-थीणगिद्धितिगं ।
इत्थी णीअं णपुमं णिरयदुगं असुहसरखगई ॥२३॥
सुरविउवदुग-सुहागिइ-खगइ-सुहगतिग-पणिंदि-तसपयडी ।
धुवबंधिणाम-बायर-पत्तेया-ऽथिर-असुह-अजसा ॥२४॥
परघायो ऊसासो पज्ज-थिर-सुह-जस-वइरणामाणि ।
मज्झिमसंघयणागिइचउक्क-दुस्सर-कुखगईओ ॥२५॥
पढमागिइ-सुहगतिग-सुखगई-दुहगतिग-असुहखगईओ ।
अपढमसंघयणा-ऽऽगिइपणगा-ऽऽयव-थावरे-गिंदी ॥२६॥
करिअ जमाइम्मि भणिमु जावइआ ता तहिंपि तिरियाई ।
दुहगाइजुअतिरिदुगं सोलस सत्तरस सुज्जोअं ॥२७॥
तिरियजुगलएगिंदियउरालधुवबंधिणामहुंडाणि ।
णवथावराइबायरपत्तेआ हुन्ति पणवीसा ॥२८॥
ते य सुहमतिगवज्जा परघाइजुआ हवेज्ज अडवीसा ।
अत्थि णराई चउरो णरदुगुरलुवंगवइराणि ॥२९॥
सुरलं पंच दुतीसा ते पंच सुहागिइप्पभिइजुत्ता ।
णव णरदुग चउजाई उरालुवंगं छिवट्ठतसा ॥३०॥

ते चिअ परघाइजुआ चउदस पंचदस वा चउणराई ।
परघूसासपणिंदियतसचउगजुआऽत्थि एगारा ॥३१॥

(प्रे०) 'एत्तो' इत्यादि, अत्र प्रकृतीनां सङ्ग्रहो द्विविधः—एको नामग्राहेण द्वितीयो ग्रन्थस्थानमुद्दिश्य समूहरूपेण, तौ द्वावपि पञ्चभिः पञ्चभिर्गाथाभिर्निर्दिष्टौ । 'एत्तो' इत्यादि, वक्ष्यमाणप्रकृतिभ्यो यां प्रकृतिमादौ कृत्वा यावत्यः संख्याकाः प्रकृतयो भणिष्यन्ते तां प्रकृतिं पुरस्कृत्य तावत्यस्ताः प्रकृतय एताभ्यः क्रमाद् ग्राह्याः, न तु व्युत्क्रमेण पश्चानुपूर्व्या वा । 'असाय'इत्यादि, पादोनगाथापञ्चकम् ,तत्रासातवेदनीयं सातवेदनीयं ज्ञानावरणपञ्चकमन्तरायपञ्चकं तथोच्चैर्गोत्रं यशःकीर्तिनामचक्षुर्दर्शनावरणादिदर्शनावरणचतुष्कं निद्राद्विकं हास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्सालक्षणं हास्यषट्कञ्चेत्येव प्रथमगाथया षड्विंशतेः प्रकृतीनां संग्रहः । पुरुषवेदः संज्वलनचतुष्कं प्रत्याख्यानावरणचतुष्कमप्रत्याख्यानावरणचतुष्कं मिथ्यात्वमनन्तानुबन्धिचतुष्कं स्त्यानगृद्धित्रिकं स्त्रीवेदो नीचैर्गोत्रं नपुंसकवेदो नरकगतिनरकानुपूर्वीरूपं नरकद्विकं दुःस्वरनाम कुखगतिनाम चेत्येतत्क्रमेण द्वितीयगाथायामष्टाविंशतेः । तदनु देवद्विकं वैक्रियद्विकं समचतुरस्रसंस्थाननाम शुभविहायोगतिनाम सुभगसुस्वरादेयरूपं सुभगत्रिकं पञ्चेन्द्रियजातिनाम त्रसनाम तैजसशरीर कार्मणशरीर-वर्णचतुष्का-गुरुलघूपघातनिर्माणरूपा नव नाम्नो ध्रुवबन्धिप्रकृतयो बादरनाम प्रत्येकनामाऽस्थिरनामाऽशुभानामाऽयशःकीर्तिनाम चेत्येतत्क्रमेण तृतीयगाथायां पञ्चविंशतेः । ततः पराघातनामोच्छ्वासनाम पर्याप्तनाम स्थिरनाम सुभनाम यशःकीर्तिनाम वज्रर्षभनाराचसंहनननाम मध्यमसंहननचतुष्कं मध्यमसंस्थानचतुष्कं, आद्यन्त्यद्वयं वर्जयित्वा शेषसंहननचतुष्कं शेषसंस्थानचतुष्कं चेत्यर्थः, दुःस्वरनामाशुभविहायोगतिनाम चेत्येतत्क्रमेण सप्तदशानां प्रकृतीनां चतुर्थगाथायाम् । समचतुरस्रसंस्थाननाम सुभगत्रिकं शुभविहायोगतिनाम दुर्भगत्रिकमशुभविहायोगतिनाम द्वितीयादिपञ्चसंहनननामानि द्वितीयादिपञ्चसंस्थाननामानि आतपनाम स्थावरनामैकेन्द्रियजातिनाम चेति द्वाविंशतेः प्रकृतीनां संग्रहः पञ्चमगाथायां कृत इति ।

अत्र कतिपयप्रकृतीनामसंग्रहः कतिपयप्रकृतीनां च वारद्वयं संग्रहो ग्रन्थकारेण यो विहितः सोऽग्रेतनवक्ष्यमाणग्रन्थलाघवार्थं विज्ञेयः । **'किरिअ'** इत्यादि, **'जावइआ ता'** इत्यन्तम् **'एत्तो कमसो गेज्झा'**इत्याद्यगाथागताद्यपादेन योजनीयम् ,एतत्तु भावितम् ।

अधुना समूहरूपेण प्रकृतीनां संग्रहं दर्शयन्नाह— **तहिं पि'** इत्यादि, यत्र तिर्यग्गत्यादिषोडशप्रकृतयो वक्ष्यन्ते तत्र तिर्यग्द्विकेन सहिताः पञ्चमसंग्रहगाथागतदुर्भगादिचतुर्दशप्रकृतयो विज्ञेयाः, तथाच तिर्यग्द्विक-दुर्भगत्रिककुखगतिद्वितीयादिपञ्चसंहननसंस्थाननामलक्षणाः षोडश स्युः । यत्र तु तिर्यग्गत्यादिसप्तदशप्रकृतयो वक्ष्यन्ते तत्रैताः षोडश उद्योतनामसहिता द्रष्टव्याः, न त्वातपनाम्ना

युक्ताः । यत्र तिर्यग्द्विकादिपञ्चविंशतिप्रकृतयो वक्ष्यन्ते तत्र पुनरेता बोध्याः-तिर्यग्द्विकैकेन्द्रियौदारिकशरीराणि नव नामध्रुवबन्धिन्यो हुण्डकनाम स्थावरादयो नव बादरनाम प्रत्येकनाम चेति । एता एव स्थावरनवकगतसूक्ष्मत्रिकवर्जाश्चतुर्थगाथोदिताः पराघातादिषट्कयुक्ता अष्टाविंशतिः प्रकृतयो भवन्ति, ताश्चाष्टाविंशतिःप्रकृतय एताः-तिर्यग्द्विकैकेन्द्रियजात्यौदारिकशरीराणि, नव नामध्रुवबन्धिन्यो हुण्डकनामस्थावरास्थिराशुभदुर्भगानादेयायशःकीर्तिनामानि बादरनाम प्रत्येकनाम चेति । द्वाविंशतिरत्र '**पराघातादियुक्ता**' इति गाथायां सामान्यनिर्देशेऽपि, शेषद्वाविंशतिप्रकृतयः प्रकृतिषट्केन सहिता एवाष्टाविंशतिर्भवन्ति तेनात्र पराघातादियुक्ता इत्यनेन चतुर्थगाथाभणिताः पराघातोच्छ्वासपर्याप्तस्थिरशुभयशःकीर्तिनामरूपपराघातादिषट्कयुक्ता एव ग्राह्याः, न तु न्यूनाधिकाः । तथा यत्र मनुष्यद्विकादयश्चतस्रः प्रकृतय उच्यन्ते तत्र मनुष्यद्विकौदारिकाङ्गोपाङ्गवज्रर्षभनाराचलक्षणाः प्रकृतयो ग्राह्याः । यत्र पुनर्मनुष्यद्विकादयः पञ्च प्रकृतयो वक्ष्यन्ते तत्रैता एवौदारिकशरीरनाम्ना सहिता बोध्याः । यत्र मनुष्यगत्यादयो द्वात्रिंशत्प्रकृतयः कथयिष्यन्ते तत्र '**सुहागिइप्पभिइ**' इत्यनेन तृतीयसंग्रहगाथास्थाः शुभाकृतिप्रभृतयः सप्तविंशतिप्रकृतयोऽनन्तरोक्ताः पञ्चमनुष्यगत्याद्याश्च ग्राह्यास्ताश्चैताः- मनुष्यद्विकौदारिकद्विकवज्रर्षभनाराचसंहननसमचतुरस्रसंस्थानशुभविहायोगतिसुभगत्रिकपञ्चेन्द्रियजातित्रसनामनामध्रुवबन्धिनवकबादरप्रत्येकाऽस्थिराऽशुभाऽयशःकीर्तिपराघातोच्छ्वासपर्याप्तस्थिरशुभयशःकीर्तिनामलक्षणाः । यत्र मनुष्यगत्यादयो नव कथयिष्यन्ते तत्र ता मनुष्यद्विकद्वीन्द्रियादिजातिचतुष्कौदारिकाङ्गोपाङ्गसेवार्तसंहननत्रसनामलक्षणा ज्ञेयाः । एता एव पराघातादिशुभनामपर्यन्तपञ्चप्रकृतियुक्ताश्चतुर्दशप्रकृतयो बोध्यास्तथा ता एव चतुर्दशप्रकृतयो यशःकीर्तिनामसहिताः पञ्चदश बोध्यास्तथा मनुष्यगतिमनुष्यानुपूर्वीरूपमनुष्यद्विकौदारिकाङ्गोपाङ्गवज्रर्षभनाराचात्मकाश्चतस्रो नरादिप्रकृतयः पराघातोच्छ्वासपञ्चेन्द्रियजातित्रसचतुष्कलक्षणाभिः सप्तभिः प्रकृतिभिर्युता एकादश प्रकृतयो नराद्येकादश इत्युक्त्या ग्राह्या इति ॥२२-३१॥

एवमभिष्टक्रमेण प्रकृतीनां संग्रहं दर्शयित्वा प्रदेशबन्धस्वामिनः सामान्यस्वरूपं दर्शयन्नाह-

सव्वाण वंधगो खलु जेट्ठपएसस्स होइ पज्जत्तो ।
सण्णी उक्कडजोगी बंधंतो अप्पयरपयडी ॥३२॥

(प्रे०) 'सव्वाण' इत्यादि, इहोत्कृष्टप्रदेशबन्धस्वामित्वनिर्णये प्रथमं वस्तुद्वयं ज्ञातव्यम्, तद्यथा-उत्कृष्टयोगोऽल्पतरप्रकृतिबन्धश्च । तत्रौघतः संज्ञिपर्याप्तस्यैवोत्कृष्टयोगस्थानं भवति ततः स एव सर्वप्रकृतीनामुत्कृष्टप्रदेशबन्धार्हो ज्ञेयः । यतो दलिकबाहुल्ये बृहद्योगस्थानस्य हेतुत्वेनोत्कृष्टयोगगतस्यैवोत्कृष्टप्रदेशबन्धो निर्दिष्टः । उक्तं च बन्धशतके श्रीमच्छिवशर्मसूरिभिः-"सन्नी उक्कडजोगी पज्जत्तो पयडिबधमप्पयरो । कुणइ पएसुक्कोस" इति अत्र सत्यप्युत्कृष्टयोगस्थाने या प्रकृतिर्जघन्यतो यावन्-

तीभिर्मूलप्रकृतिभिस्सह बन्द्धुमर्हति ततोऽधिकाभिर्मूलप्रकृतिभिः सह तां बध्नतो न तस्या उत्कृष्टप्रदेशबन्धो जायते । एवं या प्रकृतिर्जघन्यतो यावतीभिर्मूलप्रकृतिभिस्सह बन्धयोग्या तां तावतीभिः प्रकृतिभिस्सह बध्नन्नपि जघन्यतो यावतीभिः स्वमूलप्रकृत्यभिन्नोत्तरप्रकृतिभिस्सह सा बन्धार्हा ततोऽधिकाभिस्स्वमूलप्रकृत्यभिन्नोत्तरप्रकृतिभिः सह तां यदि बध्नाति तदापि न तस्या उत्कृष्टप्रदेशबन्धः, प्रकृतीनामाधिक्येन भागहाराणां बाहुल्यादल्पदलानामेव लाभादिति । अत एव 'अल्पतरप्रकृतीर्बध्नन्' इत्युक्तौ अल्पतरशब्देन यथासंभवं मूलप्रकृतीनामल्पसंख्याकत्वमुत्तरप्रकृतीनामप्यल्पसंख्याकत्वं च ग्राह्यम् । यथा तिर्यग्गतिनाम्न उत्कृष्टप्रदेशबन्धस्वामित्वं संज्ञिपञ्चेन्द्रियपर्याप्तस्योत्कृष्टयोगिनः सप्तमूलप्रकृतीस्त्रयोविंशतिञ्च नाम्न उत्तरप्रकृतीर्बध्नतो विज्ञेयम्, न तु पञ्चविंशतिं बध्नतोऽष्टमूलप्रकृतीर्वा बध्नतः, एवमपर्याप्तस्यासंज्ञिनो वा नोत्कृष्टप्रदेशबन्धार्हत्वमिति 'पज्जत्तो सण्णी' इत्यप्युक्तम् । अत्र 'पर्याप्त' इत्यनेन करणपर्याप्तकस्यैव ग्रहणम्, तस्यैवोत्कृष्टयोगस्थानस्य भावात् । अत्रा-ऽल्पतरप्रकृतीर्बध्नन्नित्यनेन ज्ञानावरणपञ्चकं दर्शनावरणचतुष्कमन्तरायपञ्चकं सातवेदनीयमुच्चैर्गोत्रं यशःकीर्तिनामेति सप्तदशानां यदौघतो मार्गणासु च दशमगुणस्थाने बन्धो भवति तदा षड्मूलप्रकृतीर्बध्नत एव तासां ज्येष्ठप्रदेशबन्धो भवत्यन्यत्र तु सप्तविधमूलप्रकृतीर्बध्नत एवासौ भवति, ओघतो नवनवतेरायुर्वर्जशेषप्रकृतीनां मार्गणासु चायुर्वर्जशेषनवनवतेः प्रकृतिभ्यो बन्धप्रायोग्यप्रकृतीनां ज्येष्ठप्रदेशबन्धः सप्तमूलप्रकृतीर्बध्नतो भवति, आसां मूलषड्प्रकृतिबन्धकस्य बन्धाभावाद्, आयुषा सह तु ज्येष्ठप्रदेशबन्धाभावाच्च । आयुःप्रकृतिचतुष्टयमध्यात्त्वोघतश्चतुर्णामायुषामायुर्बन्धप्रायोग्यमार्गणासु बन्धप्रायोग्यायुषाञ्च ज्येष्ठप्रदेशबन्धोऽष्टविधमूलप्रकृतीर्बध्नत एव भवति, आयुषो बन्धेऽष्टानामेव मूलप्रकृतीनां बध्यमानत्वात् । तथा उत्तरप्रकृतीनां ज्येष्ठप्रदेशबन्धे मूलप्रकृत्यभिन्नोत्तरप्रकृतिष्वल्पतमप्रकृतीनां बन्धस्यान्वेषणं दर्शनावरणमोहनीयनाम्नां बन्धस्थानेषु कर्तव्यम्, कथम्? शेषपञ्चमूलप्रकृतिष्वेकैकस्यैव बन्धस्थानस्य भावेन तत्र न्यूनाधिकत्वस्या-ऽसंभवात् ।

तत्र दर्शनावरणस्य त्रीणि प्रकृतिबन्धस्थानानि भवन्ति, तद्यथा—नव-षट्-चतुष्प्रकृत्यात्मकानि । सर्वप्रकृतिसमुदायो नव, ता एव नव स्त्यानर्द्धित्रिकहीनाः षट् । एताश्च षड् निद्राद्विकहीनाश्चतस्रः । तत्र नवप्रकृत्यात्मकं बन्धस्थानं मिथ्यात्वगुणस्थाने सास्वादने वा वर्तमानैः सर्वैर्जीवैर्बध्यते । षट्प्रकृत्यात्मकं बन्धस्थानं तृतीयचतुर्थपञ्चमषष्ठसप्तमगुणस्थानेष्वष्टमगुणस्थानस्य प्रथमभागे च वर्तमानैः सर्वैर्बध्यते । चतुष्प्रकृत्यामकं बन्धस्थानमपूर्वकरणद्वितीयभागादारभ्य सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानप्रान्तं यावद् बध्यते ।

मोहनीयकर्मणो दश प्रकृतिबन्धस्थानानि, तद्यथा—द्वाविंशत्येकविंशतिसप्तदश-त्रयोदश-नव-पञ्चचतुस्त्रिद्व्येकप्रकृत्यात्मकानि । तत्र द्वाविंशतिप्रकृत्यात्मकं प्रथमगुणस्थानके बध्यते; द्वाविंशति-

प्रकृतयः पुनरिमाः–षोडशकषायाः, भयजुगुप्से मिथ्यात्वं हास्यरतिरूपशोकारतिरूपयुगलयोरन्यतरद्युगल युगलद्वयस्य युगपद्बन्धाभावात् , पुरुषस्त्रीनपुंसकवेदानामन्यतमो वेदः, एककाल एकस्यैव वेदस्य बन्धात् समुदिताश्चैता द्वाविंशतिः। मिथ्यात्वेन हीना एता एवैकविंशतिर्द्वितीयगुणस्थानकवर्तिभिर्बध्यन्ते, अत्र तु नपुंसकवेदस्य बन्धाभावात् स्त्रीपुरुषवेदयोरन्यतरो वेदो बध्यते। अनन्तानुबन्धिकषायचतुष्कं विना चैताः सप्तदश तृतीयचतुर्थगुणस्थानस्थितैर्बध्यन्ते स्त्रीवेदस्याप्यत्र बन्धाभावादत ऊर्ध्वं पञ्चप्रकृत्यात्मकं बन्धस्थानं यावद् वेदमध्यात्पुरुषवेद एव बन्धप्रायोग्यो ज्ञेयः, नान्यः। पञ्चमगुणस्थानेऽप्रत्याख्यानावरणचतुष्कस्य बन्धाभावात् त्रयोदश। प्रमत्तसंयते प्रत्याख्यानावरणचतुष्कस्य बन्धाभावेन नव। प्रमत्तसंयतं यावदेव शोकारत्योर्बन्धभावेनाप्रमत्तापूर्वकरणगुणस्थाभ्यां हास्यरतिरूपयुगलसहिता एव नव बध्यन्ते। अष्टमगुणस्थानकान्ते हास्यचतुष्कस्य बन्धविच्छेदेन नवमगुणस्थानके पुरुषवेदस्य बन्धविच्छेदं यावत् संज्वलनचतुष्कपुरुषवेदरूपाः पञ्च, पुरुषवेदबन्धविच्छेदादूर्ध्वं सज्वलनक्रोधस्य बन्धविच्छेदं यावत् चतस्रः, सज्वलनमानस्य बन्धविच्छेदं यावद् तिस्रः, ततः सज्वलनमायाया बन्धविच्छेद यावत् द्वे, ततः संज्वलनमायाया बन्धविच्छेदादूर्ध्वं सज्वलनलोभस्य बन्धविच्छेदं यावद्, नवमगुणस्थानचरमसमयं यावदित्यर्थः, एकैव प्रकृतिर्बध्यते। तत्र दर्शनमोहनीयस्य बन्धविच्छेदे तत्सत्कदलिकानि बध्यमानकषायेषु नोकषायेषु च प्रविशन्ति, प्रथमाद्यष्टमगुणस्थानं यावात्पञ्च नोकषाया बध्यन्ते, नवमगुणस्थाने तु पुरुषवेदरूपस्य केवलस्यैकस्यैव नोकषायस्य बन्धभावेन तस्यैव नोकषायसत्कसर्वदलिकं लभ्यते। पञ्चानामपि नोकषायाणां बन्धोच्छेदे नोकषायसत्कं सर्वदलं संज्वलनचतुष्कस्य भवति। अनन्तानुबन्धिप्रकृतीनां बन्धविच्छेदे तत्सत्कं दलिकं बध्यमानद्वादशकषायेषु व्रजति, अनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानावरणकषायाष्टकस्य बन्धाभावे तत्सत्कं दलिकं बध्यमाना अष्टकषाया लभन्ते, प्रत्याख्यानावरणकषायाणामपि बन्धविच्छेदे द्वादशकषायसत्कदलिकं बध्यमानसंज्वलनचतुष्कस्यैव भवति, संज्वलनक्रोधादीनां बन्धोपरमे शेषबध्यमानकषायेषु मोहनीयसत्कदलविभागो गच्छति। एवं दलविभाजनस्वरूपं विज्ञाय गुरुप्रदेशबन्धस्य स्वामिनो निरूपणीयाः।

नाम्नः पुनरष्ट बन्धस्थानानि त्रयोविंशति-पञ्चविंशति-षड्विंशत्यष्टाविंशत्येकोनत्रिंशत् त्रिंशदेकत्रिंशदेकप्रकृत्यात्मकानि भवन्ति। तत्रापर्याप्तैकेन्द्रियप्रायोग्यं बध्नता त्रयोविंशतिर्बध्यन्ते; ताश्चेमाः-तिर्यग्द्विकमेकेन्द्रियजात्यौदारिकतैजसकार्मणशरीरहुण्डवर्णचतुष्कागुरुलघूपघातनिर्माणनामानि स्थावरनाम सूक्ष्मबादरनाम्नोरन्यतरदपर्याप्तनाम प्रत्येकसाधारणनाम्नोरन्यतरदस्थिराशुभदुर्भगानादेयायशःकीर्तिनामानि, अत्र सूक्ष्मबादरयोः प्रत्येकसाधारणयोश्च वैकल्पिकबन्धभावेन त्रयोविंशतिबन्धस्थानयोग्याः पञ्चविंशतिः प्रकृतयः। पर्याप्तसूक्ष्मबादरैकेन्द्रियप्रायोग्यं पञ्चविंशतेर्बन्धस्थानम्। तत्र प्रकृतय इमाः–तिर्यग्द्विकमेकेन्द्रियजात्यौदारिकतैजसकार्मणशरीरहुण्डवर्णचतुष्कागुरुलघूपघातनिर्माणनामानि

पराघातोच्छ्वासौ स्थावरनाम सूक्ष्मबादरयोरन्यतरत् पर्याप्तनाम प्रत्येकसाधारणयोरन्यतरत् स्थिरास्थिरयोरन्यतरत् शुभाशुभयोरन्यतरत् दुर्भगमनादेयं यशःकीर्त्ययशःकीर्त्योरन्यतरच्च । अत्र त्रयोविंशतिबन्धस्थानेऽबध्यमानाः षट् प्रकृतयः पराघातोच्छ्वासौ पर्याप्तनाम स्थिरशुभनाम्नी यशःकीर्तिनाम चेति । अपर्याप्तद्वीन्द्रियादिप्रायोग्यं पञ्चविंशतेर्बन्धस्थानम् , तत्र पञ्चविंशतिप्रकृतयस्त्विमाः—तिर्यग्मनुष्यगत्योरन्यतरा गतिस्तिर्यग्मनुष्यानुपूर्व्योरन्यतरानुपूर्वी द्वीन्द्रियादिचतुर्जातिष्वन्यतरा जातिरौदारिकशरीरोपाङ्गद्वय तैजसकार्मणनाम्नी हुण्डकं सेवार्तं वर्णचतुष्कागुरुलघूपघातनिर्माणनामानि त्रसनामबादरनामापर्याप्तनाम प्रत्येकनामास्थिराशुभदुर्भगानादेयायशःकीर्तिनामानि चेति । अत्र त्रयोविंशतिबन्धस्थानेऽबध्यमाना नव प्रकृतयो मनुष्यद्विकं द्वीन्द्रियादिजातिचतुष्कमौदारिकाङ्गोपाङ्गं सेवार्तं त्रसनाम चेति,एवं त्रयोविंशतावबध्यमानाः पञ्चदशप्रकृतयः पञ्चविंशतिबन्धस्थाने बध्यन्ते । पर्याप्तबादरप्रत्येकैकेन्द्रियप्रायोग्यं षड्विंशतेर्बन्धस्थानम् , तच्चैवम् तिर्यग्द्विकमेकेन्द्रियजातिरौदारिकतैजसकार्मणशरीराणि हुण्डकं वर्णचतुष्कागुरुलघूपघातपराघातोच्छ्वासनामान्यातपोद्योतयोरन्यतरन्निर्माणनाम स्थावरनाम बादरपर्याप्तप्रत्येकनामानि स्थिरास्थिरयोः शुभाशुभयोश्चान्यतरद्दुर्भगमनादेयं यशःकीर्त्ययशःकीर्त्योरन्यतरन्नाम चेति । अत्रातपोद्योतौ तु वर्जयित्वा शेपाः पञ्चविंशत्यां त्रयोविंशत्यां वा बध्यन्ते, आतपोद्योतयोस्तु जघन्यतोऽपि षड्विंशतावेव बन्धः तयोस्त्रयोविंशतिपञ्चविंशतिस्थानयोरबन्धात् । देवप्रायोग्य नरकप्रायोग्यं चाष्टविंशतेर्बन्धस्थानम् , तद्यथा देवद्विकपञ्चेन्द्रियजातिवैक्रियद्विकतैजसकार्मणशरीरसमचतुरस्रसंस्थानसुखगतिवर्णचतुष्कागुरुलघुचतुष्कनिर्माणत्रसचतुष्कसुभगत्रिकनामानि स्थिरास्थिरयोरन्यतरत् शुभाशुभयोरन्यतरद् यशःकीर्त्ययशःकीर्त्योरन्यतरच्चेति देवप्रायोग्यमष्टाविंशतेर्बन्धस्थानम् । तत्र देवद्विकवैक्रियद्विकसमचतुरस्रसंस्थानसुखगतिसुभगत्रिकरूपाणां नवानां नाधस्तनत्रयोविंशत्यादिस्थानेषु बन्धः, शेषैकोनविंशतेः प्रकृतीनां तु यथासम्भवं त्रयोविंशतौ पञ्चविंशतौ वा भवति बन्धः । नरकप्रायोग्याष्टाविंशतिः पुनरिमाः—नरकद्विकपञ्चेन्द्रिजातिवैक्रियद्विकतैजसकार्मणशरीरहुण्डककुखगतिवर्णचतुष्कागुरुलघुचतुष्कनिर्माणत्रसचतुष्कास्थिरषट्कनामानि च, तत्र नरकद्विककुखगतिदुःस्वरनाम्नां बन्धो जघन्यतोऽप्याष्टाविंशतावेव न त्रयोविंशत्यादावेवं वैक्रियद्विकस्याप्यष्टाविंशतिं बध्नत एव बन्धो न पुनरधस्तनबन्धस्थानेषु, शेषद्वाविंशतेर्बन्धो यथासम्भवं जघन्यतस्त्रयोविंशत्यादौ प्राप्यते। एवमष्टाविंशतेर्बन्धस्थाने त्रयोदशप्रकृतयोऽधस्तनत्रयोविंशत्यादिबन्धस्थानेऽबन्धप्रायोग्या वर्तन्ते । एकोनत्रिंशद्बन्धस्थानं त्रिधा-देवप्रायोग्यं, पर्याप्तमनुष्यप्रायोग्यं, पर्याप्तद्वीन्द्रियादिपञ्चेन्द्रियावसानानां तिरश्चां प्रायोग्यञ्च । तत्र देवप्रायोग्याः पूर्वोक्ता अष्टाविंशतिर्जिननामसहिता एकोनत्रिंशत् । पर्याप्तमनुष्यप्रायोग्या एकोनत्रिंशदिमाः-मनुष्यद्विकं पञ्चेन्द्रियजातिरौदारिकद्विकतैजसकार्मणशरीराणि संहननषट्केऽन्यतमं संहननं संस्थानषट्केऽन्यतमं सस्थानमन्यतरा विहायोगतिर्वर्णचतुष्कागुरुलघुचतुष्कनिर्माणनामानि त्रसचतुष्क स्थिरादिषड्युगलेष्वन्यतराः षड्-

प्रकृतयः समुदिताश्चैता एकोनत्रिंशत् । तिर्यक्प्रायोग्ययेकोनत्रिंशद्बन्धस्थाने-संज्ञितिरश्च आश्रित्यै-कोनत्रिंशदेवमेव भवति, केवलं मनुष्यद्विकस्थाने तिर्यग्द्विकं वाच्यम्, पर्याप्तद्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियासंज्ञिपञ्चेन्द्रियप्रायोग्ययेकोनत्रिंशद्बन्धस्थाने याः प्रकृतयो भवन्ति ताश्चैताः–तिर्यग्द्विकं द्वीन्द्रियाद्यन्यतमा जातिरौदारिकतैजसकार्मणशरीराणि सेवार्तं हुण्डकं कुखगतिर्वर्णचतुष्कागुरुलघुचतुष्कनिर्माणत्रसचतुष्कदुर्भगत्रिकनामानि स्थिरास्थिरयोः शुभाशुभयोर्यशःकीर्त्ययशःकीर्त्योश्चान्यतरप्रकृतित्रयम् । अत्रैकोनत्रिंशद्बन्धस्थाने बध्यमाने सत्यधस्तनबन्धस्थानेष्वबध्यमानाः प्रकृतयः पुनरिमाः–प्रथमादिपञ्चसंहनननानि द्वितीयादिचतुःसंस्थाननामानि जिननाम चेति दश प्रकृतयः । त्रिंशद्बन्धस्थानं त्रिविधं–देवप्रायोग्यं मनुष्ययोग्यं पर्याप्तद्वीन्द्रियादिपञ्चेन्द्रियपर्यन्ततिर्यग्योग्यश्च । तत्र देवप्रायोग्यस्याऽष्टाविंशतावाहारकद्विकस्य प्रक्षेपे त्रिंशदेतस्य बन्धस्थानस्या-ऽप्रमत्तादिसंयतानामेव-बन्धभावात् स्थिरसुभयशःकीर्तिनाम्नामेव ग्रहणं, न तु तत्प्रतिपक्षाणामपि । मनुष्यप्रायोग्य एकोनत्रिंशति जिननाम्नः प्रक्षेपे त्रिंशत् ,एतद्बन्धस्थानस्याविरतसम्यग्दृष्टिदेवनारकाणामेव भावात् प्रथमसंहननाद्यसंस्थानसुखगतिसुभगत्रिकनाम्नामेव बन्धभावादेतासां प्रतिपक्षाः प्रकृतयो न वाच्याः । पर्याप्तद्वीन्द्रियादितिर्यक्प्रायोग्य एकोनत्रिंशत्युद्योतनाम्नः प्रक्षेपे त्रिंशत्प्रकृत्यात्मकं तिर्यक्प्रायोग्यं बन्धस्थानं बोद्धव्यम् । अत्र त्रिंशद्बन्धस्थाने बध्यमानमधस्तने बन्धस्थानेऽबध्यमानं केवलमाहारकद्विकम् । एकत्रिंशद्बन्धस्थानं देवप्रायोग्यमेव, देवप्रायोग्ये त्रिंशति जिननाम्नः प्रक्षेपात् । नात्राधस्तनस्थानेऽबध्यमानाः काश्चित्प्रकृतयः । अष्टममेकप्रकृत्यात्मकं बन्धस्थानं श्रेणावपूर्वकरणषष्ठभागादूर्ध्वं देवगत्यादीनां त्रिंशत्प्रकृतीनां बन्धविच्छेदात्परतो दशमगुणस्थानं यावत्केवलयशःकीर्तिनाम्नि बध्यमाने प्राप्यते । यत्रैकप्रकृत्यात्मकं बन्धस्थानं प्राप्यते तत्र यशःकीर्तिनाम्नो ज्येष्ठप्रदेशबन्धो लभ्यते, न तथा पञ्चविंशत्यादौ, यासु मार्गणास्वेकप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्यालाभस्तासु यथासम्भवं पञ्चविंशत्यादीनां बन्धस्थानेषु यत्र जघन्यतमबन्धस्थाने यशःकीर्तिनाम्नो बन्धो भवति तत्र तस्योत्कृष्टप्रदेशबन्धार्हत्वं विज्ञेयम् । एवं दर्शनावरणादिमूलप्रकृतित्रयस्यौघतो मार्गणास्थानेषु च बन्धस्थानानि नानानस्याल्पप्रकृतीनां बन्धकस्य विज्ञानाद् ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्वामित्वं सुखेनावगम्यते, इत्यतो बन्धस्थानानि प्ररूपितानि ॥३२॥

अथ विशेषतः स्वामिनं प्ररूपयन्नाह—

सत्तरसायाईणं सुहमो मिच्छाइगाण बोद्धव्वो ।
एगारसण्ह मिच्छो अडणिद्दाईण सम्मत्ती ॥३३॥

(प्रे०) '**सत्तरसायाईण**' मित्यादि, सातवेदनीयादीनां सप्तदशानां सूक्ष्मसंपरायगुणस्थाने वर्तमान उत्कृष्टप्रदेशबन्धको विज्ञेयः,सप्तदशप्रकृतयस्तु सुगमाः, दशमगुणस्थाने तावतीनामेव बध्य-

मानत्वात् । दशमगुणस्थानेऽऽयुर्मोहनीयकर्मणोर्बन्धाभावेन तत्सत्को विभागो बध्यमानप्रकृतिषु समायाति, अतो दशमगुणस्थान एव ज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरणचतुष्कान्तरायपञ्चकसातवेदनीययशः-कीर्तिनामोच्चैर्गोत्ररूपाणां सप्तदशप्रकृतीनामुत्कृष्टप्रदेशबन्धो भवति । ननु सातवेदनीयस्योपशान्तमोहादिगुणस्थानत्रययुत्कृष्टप्रदेशबन्धो वक्तव्यः, तत्र मूलकर्मणोऽप्येकस्यैव बध्यमानत्वात् सर्वभागो तस्यैव भवति इति, किञ्च तत्रोत्कृष्टयोगस्य सम्भवोऽप्यस्ति एव, अत्रोच्यते शतकादिग्रन्थेन ज्ञायते यत्प्रदेशबन्धः सकषायजीवस्वामिक एवाधिकृतस्तथा च सातवेदनीयस्य दशमगुणस्थानादुपरि बध्यमानत्वेऽपि न तेषामुपरितनगुणस्थानवर्तिनां प्रस्तुतस्वामित्वमकषायत्वात्तेषामिति, उक्तं च शतकचूर्णि-टिप्पनके श्रीमन्मुनिचन्द्रसूरिपादैः 'य एष चूर्णौ वेदनीयस्यापि सूक्ष्मसम्परायगुणस्थाने उत्कृष्टयोगिनः प्रदेशबन्ध उत्कृष्टःप्रतिपाद्यते स कषायवद्बन्धकबन्धापेक्षयेति अन्यथोपशान्तमोहवीतरागादयस्त्रय एव उत्कृष्टयोगिनो वेद्योत्कृष्टप्रदेषबन्धवः' इति । तथाऽत्रैव मूलप्रकृतिप्रदेशबन्धस्याद्यायामेव गाथाया-मपि सकषायप्रदेशबन्धस्याधिकृतत्वं दर्शितम् , तथाच तद्ग्रन्थः—वोच्छंमो सकषाय पएसबंध गुरुपसाया ॥ १ ॥ इति । **मिच्छाइगाणे**" त्यादि, "मिच्छाणथीणगिद्धितिगं इत्थी णीअं णपुसं'; इत्यनेन संग्रहगाथांशेन निर्दिष्टानामेकादशप्रकृतीनामुत्कृष्टप्रदेशबन्धं सप्तविधमूलप्रकृतिबन्धक उत्कृष्टयोगस्थाने वर्तमानः संज्ञिपञ्चेन्द्रियमिथ्यादृष्टिः करोति, अत्र मिथ्यात्वं नपुंसकवेदश्च प्रथमगुणस्थान एव बध्येते, अनन्तानुबन्ध्यादीनां नवानां द्वितीयगुणस्थानके बध्यमानत्वेऽपि तृतीयगुणस्थानगतानामिव द्वितीयगुणस्थानगतानामप्युत्कृष्टयोगस्थानस्याभावाद् न सास्वादनिन उत्कृष्टप्रदेशबन्धस्वामिनः किन्तु मिथ्यादृष्टय एवोत्कृष्टप्रदेशबन्धस्वामिनः उक्तंच—'सासणसम्मा-मिच्छेसु उक्कोसो जोगो ण लब्भदि'' त्ति । अत्र केचिद् द्वितीयतृतीयगुणस्थानयोरप्युत्कृष्टयोगस्थानं प्राप्यत इति ब्रुवन्ति तच्च तेषां मतेऽपि विरुद्धमेव, यतस्तन्मते द्वितीयगुणस्थान उत्कृष्टयोगे सति तत्र मिथ्यात्वमोहनीयस्य बन्धाभावेन तत्सत्कदलिकानां लाभाद् द्वितीयगुणस्थाने स्थिता एवानन्तानुबन्धिनां ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्वामिनः स्युः न च तैरपि तथोक्ताः । एव तन्मते तृतीयचतुर्थ-गुणस्थानद्वये वर्तमाना अप्रत्याख्यानावरणानां ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्वामिनो भवेयुः, न च तैरपि तथा निरूप्यते चतुर्थगुणस्थानगतानामेव तज्ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्वामित्वस्य प्रतिपादनादिति । 'अड' इत्यादि, "णिद्दादुगहस्सछक्काणि' इत्यनेन दर्शितानां निद्राद्विकहास्यषट्करूपाऽष्टप्रकृतीनां ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्वामी-सम्यग्दृष्टिर्बोद्धव्यः, स च चतुर्थगुणस्थानकादारभ्य बन्धविच्छेदं यावद्वर्तमानः, अत्र स्त्यानर्द्धि-त्रिकस्य बन्धाभावेन तत्सत्कभागलाभात् निद्राद्विकस्य ज्येष्ठप्रदेशबन्धो लभ्यते । दर्शनमोहनीयस्य बन्धाभावेन तत्सत्कभागलाभाद् हास्यषट्कस्य चतुर्थादिगुणस्थानवर्तिभिर्ज्येष्ठप्रदेशबन्धो लभ्यते, न तु प्रथमगुणस्थानवर्तिभिस्तत्रानन्तभागहीनोत्कृष्टप्रदेशबन्धलाभात् । ननु प्रमत्तादिगुणस्थानेऽ-प्रत्याख्यानावरणप्रत्याख्यानावरणरूपकषायाष्टकस्य बन्धाभावात्प्रमत्तादयो हास्यषट्कस्य ज्येष्ठप्रदेश-

बन्धस्वामिनः स्युः तत्कथं चतुर्थादिगुणस्थानवर्तिन इत्युच्यत इति चेत् ,उच्यते–मोहनीयप्रकृतिषु दर्शनमोहनीयप्रकृतिबन्धविच्छेदे तत्सत्कदलिकानि कषायनोकषायेषु लभ्यन्ते, अनन्तानुबन्ध्यादि-कषायप्रकृतीनां बन्धविच्छेदे तत्सत्कदलिकानि शेषबध्यमानकषायेष्वेव लभ्यन्ते, तत्तन्नोकषायप्रकृतीनां बन्धविच्छेदे यदि काचिन्नोकषायप्रकृतिर्बध्यते तदा बध्यमाननोकषायप्रकृतावेव तत्सत्को भागो लभ्यते, अत एव पुरुषवेदस्य ज्येष्ठप्रदेशबन्धो नवमगुणस्थानके लभ्यते,हास्यरतिभयजुगुप्सानां बन्ध-विच्छेदेन तत्र तत्सत्कदलिकानां पुरुषवेद एव लाभात् । यदि सर्वनोकषायप्रकृतीनां बन्धविच्छेद-स्तर्हि बध्यमानकषायेष्वेव तद्दलिकानि लभ्यन्ते,तदेवमप्रत्याख्यानावरणप्रत्याख्यानावरणबन्धविच्छेदे तत्सत्कदलिकस्य बध्यमानकषायेष्वेव लाभादुत्कृष्टतो यावन्ति दलिकानि हास्यषट्कस्य चतुर्थगुणस्था-नके लभ्यन्ते तावन्त्येव पञ्चमादिगुणस्थानकेष्वपि, ततश्च चतुर्थादिगुणस्थानवर्तिनोऽपि तत्स्वामि-त्वेन प्राप्यन्ते, न केवलाः प्रमत्तादय इति सिद्धमिति।।३३।।

मिच्छो सम्मत्ती व असायस्स भवे असंजयो सम्मो ।
दुइअकसायाण भवे तइअकसायाण देसजई ।।३४।।

(प्रे०) '**मिच्छो**' इत्यादि, असातवेदनीयस्योत्कृष्टप्रदेशबन्धं मिथ्यादृष्टयः सम्यग्दृष्टयश्च चतुर्थपञ्चमषष्ठगुणस्थानवर्तिनः सप्तविधबन्धका उत्कृष्टयोगिनः कुर्वन्ति । '**असंजयो**' इत्यादि, अप्रत्याख्यानावरणचतुष्कस्योत्कृष्टप्रदेशबन्धं चतुर्थगुणस्थानवर्तिनः सप्तविधबन्धका उत्कृष्टयोगिनो विदधति, तत्र अनन्तानुबन्धिचतुष्कमिथ्यात्वयोर्बन्धाभावेन तत्सत्कदलिकस्यापि लाभात् । '**तइअ**' इत्यादि, प्रत्याख्यानावरणचतुष्कस्य ज्येष्ठः प्रदेशबन्धको देशविरतस्तिर्यङ् मनुष्यो वा विज्ञेयः, अप्रत्याख्यानावरणस्य बन्धाभावेन तत्र तत्सत्कदलिकस्यापि लाभात् ।।३४।।

पुमसंजलणाण कमा पणचउतिदुएगबंधिअणियट्टी ।
तिरियाउगस्स मिच्छो णिरयाउस्स उण दुगइट्ठो ।।३५।।

(प्रे०) '**पुमे**'त्यादि, पुरुषवेदस्य संज्वलनक्रोधस्य संज्वलनमानस्य संज्वलनमायायाः संज्वलनलोभस्य च ज्येष्ठप्रदेशबन्धकः को भवति ? इत्यत आह–'**पण**' इत्यादि, अनिवृत्तिकरण-गुणस्थानके वर्तमानः क्रमेण मोहनीयस्य पञ्चचतुस्त्रिद्वयेकप्रकृतिबन्धको भवतीति गाथादलस्या-ऽक्षरार्थः । भावार्थः पुनरयम्—पुरुषवेदस्योत्कृष्टप्रदेशबन्धोऽनिवृत्तिबादरसंपराये संज्वलनचतुष्क-पुरुषवेदरूपस्य मोहनीयस्य पञ्चप्रकृत्यात्मकस्थानकस्य बन्धकस्य विज्ञेयः, अष्टमगुणस्थानक-चरमसमये चतुर्णां नोकषायाणां बन्धविच्छेदेन तत्सत्कदलिकस्य पुरुषवेदे लाभादत्र पुरुषवेदस्य बध्यमानं दलिकं मोहनीयसत्कदलस्य देशोनार्धभागमितं भवतीति, प्रागपूर्वकरणं यावत्तु देशो-नदशमभागप्रमितमासीदतो न तत्रोत्कृष्टप्रदेशबन्धसम्भव इति । संज्वलनक्रोधस्य ज्येष्ठप्रदेश-

बन्धो नवमगुणस्थानके पुरुषवेदबन्धविच्छेदानन्तरं संज्वलनचतुष्करूपचतुष्प्रकृतिबन्धकस्य जायते, नोकषायमोहनीयस्य बन्धविच्छेदेन तत्सत्कदलिकस्य लाभात् , मोहनीयसत्कदलस्य देशोनचतुर्थभागमितं दलं सज्वलनक्रोधस्यात्र भवति, पञ्चविधादिबन्धकाले तु देशोनाष्टमांशप्रमितमतो न तत्र ज्येष्ठप्रदेशबन्धो लभ्यते । संज्वलनमानस्य ज्येष्ठप्रदेशबन्धो नवमगुणस्थानके संज्वलनक्रोधबन्धविच्छेदानन्तरं त्रिविधबन्धकस्य भवति संज्वलनक्रोधसत्कदलिकानामत्र लाभात् ,मोहनीयसत्कबध्यमानदलस्य देशोनतृतीयभागप्रमाणं दलं सज्वलनमानस्यात्र भवति । संज्वलनमायाया ज्येष्ठप्रदेशबन्धो नवमगुणस्थाने सज्वलनक्रोधमानयोर्बन्धविच्छेदानन्तरं द्विविधबन्धकस्य भवति, संज्वलनक्रोधमानसत्कदलिकानामत्र लाभात् । मोहनीयसत्कबध्यमानदलस्य देशोनार्धभागप्रमाणं दलमत्र लभ्यते । संज्वलनलोभस्य ज्येष्ठप्रदेशबन्धो नवमगुणस्थ.नक एकविधबन्धकस्य भवति मोहनीयसत्कबध्यमानसर्वदलस्य लाभात् । '**तिरियाउगस्स**' इत्यादि, तिर्यगायुष उत्कृष्टप्रदेशबन्धो मिथ्यादृष्टेरष्टविधबन्धकस्य चातुर्गतिकस्य भवति,आयुषि बध्यमानेऽष्टविधप्रकृतीनामेव बन्धो लभ्यते,तिर्यगायुष आद्यगुणस्थानद्वय एव बन्धो भवति, तत्र द्वितीयगुणस्थानक उत्कृष्टयोगस्थानाभावाद् मिथ्यादृष्टिरुक्तः '**णिरयाउस्स**' नरकायुषो ज्येष्ठप्रदेशबन्धको मिथ्यादृष्टिरष्टविधबन्धकस्तिर्यङ् मनुष्यो वा भवति, मिथ्यादृष्टितिर्यग्मनुष्याणामेव नरकायुषो बन्ध इति कृत्वा ॥३५॥

मणुसाउगस्स मिच्छो सम्मो व सुराउगस्स उ दुगइओ ।
चउणिरयाईण भवेऽडवीसबंधिदुगइअमिच्छो ॥३६॥

(प्रे०) '**मणुसाउगस्स**' इत्यादि, मनुष्यायुषो ज्येष्ठप्रदेशबन्धको मिथ्यादृष्टिः सम्यग्दृष्टिर्वा भवति, तत्र मिथ्यादृष्टिश्चातुर्गतिको भवति सम्यग्दृष्टिस्तु देवो नारको वा । '**सुराउगस्स**' इत्यादि, देवायुषो ज्येष्ठप्रदेशबन्धकः सम्यग्दृष्टिस्तिर्यङ् मनुष्यो मिथ्यादृष्टिस्तिर्यङ् मनुष्यो वा भवति तेषामेव देवायुर्बन्धस्योत्कृष्टयोगस्य च सद्भावात् । '**चउ**' इत्यादि, नरकद्विककुखगतिदुःस्वरनाम्नां ज्येष्ठप्रदेशबन्धको मूलसप्तविधबन्धको नाम्नोऽष्टाविंशतेः प्रकृतीनां बन्धको मिथ्यादृष्टिस्तिर्यङ् मनुष्यो वा विज्ञेयः । अत्रेदं बोध्यम्—उत्कृष्टप्रदेशबन्धप्ररूपणायां तत्तत्प्रकृतीनामुत्कृष्टप्रदेशबन्धः सम्भवदल्पतरमूलप्रकृतिबन्धे सम्भवदल्पतरोत्तरप्रकृतिबन्धे च सति भवति, अतः प्रस्तुते नरकद्विकादीनां चतसृणामष्टाविंशतिप्रकृतिभ्योऽल्पतरप्रकृतिबन्धे बन्धाभावान्नरकप्रायोग्याष्टाविंशतिं बध्नत एव ज्येष्ठप्रदेशबन्धो भवति ॥३६॥

तेवीसबंधिदुगइअमिच्छो तिरियाइपंचवीसाए ।
पणवीसबंधिमिच्छो दुगइट्ठो णवणराईणं ॥३७॥

(प्रे०) 'तेवीसे' त्यादि, 'तिरियदुगलएगिंदियउरालधुववण्णिणामहुंडाणि। णवथावराइवायरपत्तेआ हुन्ति पणवीसा॥२८॥' इत्यनेन संगृहीतानां तिर्यग्द्विकादीनां पञ्चविंशतेः प्रकृतीनां ज्येष्ठप्रदेशबन्धको मिथ्यादृष्टिस्तिर्यङ् मनुष्यो वा सप्तमूलप्रकृतीर्बध्नन्नाम्नस्त्रयोविंशतिमुत्तरप्रकृतीर्बध्नन् विज्ञेयः । एतासां सर्वासां त्रयोविंशतिबन्धस्थाने बध्यमानेऽल्पतमप्रकृतिभिस्सह बन्धसद्भावात् । त्रयोविंशतिबन्धस्थानं देवनारकैर्न बध्यतेऽतस्तिर्यङ् मनुष्यो वा निर्दिष्टः । त्रयोविंशतिः पञ्चविंशतिः षड्विंशतिश्च बन्धस्थानानि मिथ्यादृष्टिभिरेव बध्यन्ते न तु द्वितीयादिगुणस्थानवर्तिभिरपि, तेषां पर्याप्तपञ्चेन्द्रियप्रायोग्यस्य बन्धकत्वादत उक्तं 'मिच्छो' मिथ्यादृष्टिरिति । 'पणवीसे' त्यादि, 'णव णरदुगचउजाइ उराडुवग छिवट्ठतसा' इत्यनेन निर्दिष्टानां मनुष्यद्विकद्वीन्द्रियादिजातिचतुष्कौदारिकाङ्गोपाङ्गसेवार्तत्रसनाम्नां नवानां ज्येष्ठप्रदेशबन्धको मिथ्यादृष्टिस्तिर्यङ् मनुष्यो वा मूलसप्तप्रकृतीर्बध्नन्नपर्याप्तप्रायोग्याश्च नाम्नः पञ्चविंशतिं बध्नन् विज्ञेयः, त्रयोविंशतिं बध्नत एतासां बन्धाभावात्पञ्चविंशतिं बध्नन्निति, देवनारकाणामपर्याप्तप्रायोग्यस्य बन्धाभावात्तिर्यङ् मनुष्यो वेति ॥३७॥

दुगइअडवीसबंधी मिच्छो सम्मो व णवसुराईणं।
अपमत्ततीसबंधी आहारदुगस्स विण्णेयो ॥३८॥

(प्रे०) 'दुगई' त्यादि, देवद्विकवैक्रियद्विकसमचतुरस्रसुखगतिसुभगत्रिकरूपाणां नवानां प्रकृतीनां ज्येष्ठप्रदेशबन्धकः सप्तमूलप्रकृतीर्बध्नन् देवप्रायोग्याष्टाविंशतिं नाम्न उत्तरप्रकृतीर्बध्नन् मनुष्यस्तिर्यङ् वा भवति, तस्यैवासां प्रकृतीनामुत्कृष्टप्रदेशबन्धार्हत्वात्, स च प्रथमचतुर्थ-पञ्चम-षष्ठ सप्तमगुणस्थानान्यऽष्टमगुणस्थानषष्ठभागं च यावद् वर्तमानो बोद्धव्यः, । वैक्रियद्विकस्य तु प्रथमगुणस्थानके नरकप्रायोग्यं बध्नन्नपि सप्तविधबन्धक उत्कृष्टयोगी प्रकृष्टप्रदेशबन्धं करोति । शेषाणां सप्तप्रकृतीनां तु ज्येष्ठप्रदेशबन्धो देवप्रायोग्यबन्धकस्यैव भवति । अष्टाविंशतितो न्यूनप्रकृतिस्थानं बध्नतामासां बन्धाभावादष्टाविंशतेर्निर्देशः । 'अपमत्ते' त्यादि, अप्रमत्तसंयतो देवप्रायोग्यामष्टात्रिंशतिगाहारकद्विकेन सह बध्नन्नाहारकद्विकस्योत्कृष्टप्रदेशबन्धस्य स्वामी भवति । जिननामसहितैकत्रिंशत् स्थानबन्धकस्योत्कृष्टप्रदेशबन्धो नैव जायते, भागहराणां बाहुल्यादतस्त्रिंशतं बध्नन् कथितः ॥३८॥

पणपरघायाईणं मिच्छो पणवीसबंधितिगइट्ठो।
मिच्छो छवीसबंधी तिगइट्ठो आयवदुगस्स ॥३९॥

(प्रे०) 'पण' इत्यादि, पराघातोच्छ्वासपर्याप्तस्थिरशुभरूपपञ्चप्रकृतीनां ज्येष्ठप्रदेशबन्धं नरकवर्जगतित्रये वर्तमानो मिथ्यादृष्टिः पर्याप्तैकेन्द्रियप्रायोग्यपञ्चविंशतिं बध्नन् करोति । आसां पञ्चानामपि पर्याप्तप्रायोग्यत्वात् त्रयोविंशतिबन्धस्थानेन सह बन्धो न भवति, ततः पञ्चविंशतिं बध्नन्

निर्दिष्टः, एकेन्द्रिय-विकलेन्द्रियप्रायोग्यबन्धस्य तु मिथ्यादृशामेव भावात् 'मिच्छो' इति । नारकाणां जघन्यतोऽप्येकोनत्रिंशद्बन्धस्थानमतस्तद्वर्जत्रिगतिस्थो दर्शितः । 'मिच्छो' त्ति नारकवर्जगतित्रये वर्तमानो मिथ्यादृष्टिर्बादरपर्याप्तप्रत्येकैकेन्द्रियप्रायोग्यं पञ्चविंशतिबन्धस्थानमातपेनोद्योतेन वा सह बध्नन्नातपोत्कृष्टप्रदेशबन्धस्योद्योतोत्कृष्टप्रदेशबन्धस्य च स्वामी भवति, शेष भावना तु पराघातनामवत्कार्या ।।३९ ।

गुणतीसबंधिसम्मो णरो जिणस्स इयराण चउगइओ ।
गुणतीसबंधिमिच्छो दुगइअसम्मो वि वइरस्स ।।४०।।

(प्रे०) '**गुणतीसे**' त्यादि, जिननाम्नो ज्येष्ठप्रदेशबन्धं मनुष्यो देवप्रायोग्याष्टाविंशतिं जिननाम्ना सहैकोनत्रिंशत बध्नन् करोति, अतोऽल्पतरप्रकृतिबन्धे जिननाम्नो बन्धाभावात् , मनुष्यप्रायोग्यत्रिंशतं बध्नतो जिननाम्नो बन्धभावेऽपि वज्रर्षभनाराचसंहननरूपप्रकृतेरधिकत्वेन भागहराधिक्याद् न तत्रोत्कृष्टप्रदेशबन्धस्य सम्भवः । **ननु** पिण्डप्रकृतिलब्धभागः स्वावान्तरप्रकृत्यनुसारेण विभज्यते ततः शरीरपिण्डप्रकृतिलब्धभागस्त्रिधा चतुर्धा वा विभज्यताम् , एवमङ्गोपाङ्गपिण्डप्रकृतिलब्धभागः एकधा द्विधा वा विभज्यतां, तथाऽङ्गीकरण आहारकद्विकस्य बन्धोऽपि स्याद् वक्तव्यः; अत एकोनत्रिंशतमेकत्रिंशतं वा बध्नतो जिननाम्नो ज्येष्ठप्रदेशबन्धः प्राप्येत, भवद्भिस्तु न तथा दर्शित एकोनत्रिंशतेरेव प्रतिपादनादिति चेद् ? । अत्रोच्यते-एकोनत्रिंशदेकत्रिंशद्रूपबन्धस्थानद्वये जिननाम्नो ज्येष्ठबन्धसम्भवेऽप्येकोनत्रिंशद्बन्धे जिननाम्नो ज्येष्ठप्रदेशबन्धकानां बाहुल्यात् तथानिर्देशः, एकत्रिंशद्बन्धस्थानेऽपि जिननाम्नो ज्येष्ठप्रदेशबन्धः प्राप्यते, स च व्याख्यानतो विज्ञेयः, यद्वा ये केचिदेकत्रिंशद्बन्धस्थानं बध्नतो जिननाम्नो ज्येष्ठप्रदेशबन्धं निषेधयन्ति तदाशयं तु वयं न विद्मः । '**इयराणे**' त्यादि, उक्तेतरनामकर्मणां ज्येष्ठप्रदेशबन्धश्चातुर्गतिकानामेकोनत्रिंशद्बन्धस्थानं बध्नतां मिथ्यादृशां भवति, त्रयोविंशतिपञ्चविंशतिषड्विंशत्यष्टाविंशतिबन्धस्थानैः सह तद्बन्धाभावात् चातुर्गतिकानां तद्बन्धस्य सद्भावाच्च । शेषाः प्रकृतयस्त्विमाः-आद्यसंहननपञ्चकं मध्यमसंस्थानचतुष्कं चेति । अत्रैतत्प्रकृतिभ्यो वज्रर्षभनाराचसंहननस्य ज्येष्ठप्रदेशबन्धः सम्यग्दृशां देवनारकाणामेकोनत्रिंशत्प्रकृतीर्बध्नतामपि जायत इत्येतामतिप्रसक्तिं परिहरन्नाह-'**दुगइअ**' इत्यादि, वज्रर्षभनाराचस्य देवनारकरूपगतिद्वये वर्तमानः सम्यग्दृष्टिरपि ज्येष्ठप्रदेशबन्धं करोतीति तु सुगमम् ।।४०।।

उक्ता ओघतो विंशत्युत्तरशतप्रकृतीनां ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्य स्वामिनः, अथ आदेशतो ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्वामिनो विभणिषुः सामान्यतः सर्वत्र सम्भवज्ज्येष्ठप्रदेशबन्धयोग्यतां सूचयन्नाह—

सव्वह उक्कडजोगी जेट्ठपएसस्स बंधगो णेयो ।
आउं अबंधमाणो सप्पाउग्गाउवज्जाणं ।।४१।।

(प्रे०) 'सव्वत्थे'त्यादि, उत्कृष्टप्रदेशबन्धस्वामित्वप्रस्तावे 'सर्वत्र' सर्वमार्गणासु प्रत्येकप्रकृतीनामुत्कृष्टप्रदेशस्य बन्धक उत्कृष्टयोगस्थाने वर्तमान एव विज्ञेयः, उत्कृष्टयोगस्थानञ्च न सर्वत्र तुल्यम्, किन्तु यत्रौघोत्कृष्टयोगस्थानं सम्भवेत् तत्र संज्ञिपञ्चेन्द्रियपर्याप्तप्रायोग्यज्येष्ठयोगस्थानरूपम्, तस्मिन्नेवौघोत्कृष्टयोगस्थाने वर्तमानो विज्ञेयः, यत्र चौघोत्कृष्टयोगस्थानं न सम्भवति तत्र तत्तन्मार्गणाप्रायोग्ययोगस्थानेषु यदधिकतमं योगस्थानं तत्र वर्तमान एव ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्वामी भवति। योगस्थानानुसारेण कर्मपुद्गलानामुपादानादुत्कृष्टयोगस्थानेनैवोत्कृष्टकर्मपुद्गलोपादानं भवति, मार्गणास्वोघोत्कृष्टयोगस्थानाभावे तत्र यत्प्रकृष्टं योगस्थानं तत्तस्यां मार्गणायामुत्कृष्टयोगस्थानत्वेन व्यवह्रियते, तदेवमेकेन्द्रियादितत्तन्मार्गणागतोत्कृष्टसंक्लेशस्थानवद्योगस्थानस्य ज्येष्ठत्वं विज्ञेयम्। तथा सर्वमार्गणास्वायुर्वर्जसप्तमूलकर्मसत्कसर्वोत्तरप्रकृतीनां ज्येष्ठप्रदेशबन्ध आयुष्यबध्यमान एव प्राप्यते, यतः प्रतिसमयं गृह्यमाणाः कर्मपुद्गला बध्यमानमूलकर्मानुसारेणाष्टधा सप्तधा षड्धैकधा वा विभज्यन्ते, ततो यदाऽऽयुषो बन्धो भवेत् तदा गृह्यमाणदलिकानामष्टधा विभजनाद् भाजकराशेरधिकत्वेन भागफलस्याल्पत्वाद् ज्येष्ठप्रदेशबन्धो न लभ्यतेऽत आयुषि अबध्यमाने सति स भवति। यासु पुनरायुषो बन्ध एव न भवति तास्वेतन्नवक्तव्यं यद्वा तत्रापि तत्स्वरूपसूचकं द्रष्टव्यम् ॥४१॥

अथ अन्यामपि सामान्ययोग्यतां सूचयन्नाह—

पज्जत्ताऽपज्जत्ता दुहावि जीवाऽत्थि जत्थ तत्थ भवे।
पज्जत्तो सव्वाहिं पज्जत्तीहिं ति वत्तव्वं ॥४२॥

(प्रे०) 'पज्जत्ते' त्यादि, इह संसारे जीवा द्विविधाः, एके पर्याप्तनामकर्मोदयवन्तः-लब्धिपर्याप्ताः, अन्येऽपर्याप्तनामकर्मोदयवन्तो लब्धितोऽपर्याप्ताः। तत्र पर्याप्तनामकर्मोदयवन्तोऽपि जीवा द्विविधाः-आहारशरीरादिस्वप्रायोग्याभिः पर्याप्तिभिः पर्याप्ताः=निष्पन्नाः करणपर्याप्ता इत्यर्थः। पर्याप्तनामकर्मोदयवत्त्वेऽपि आहारशरीरादिपर्याप्तिभिरनिष्पन्नत्वे सत्यवश्यं स्वप्रायोग्याः पर्याप्तीर्ये निष्पादयिष्यन्ते ते करणाऽपर्याप्ताः। ये तु स्वप्रायोग्यपर्याप्तीरसमाप्यैव म्रियन्ते ते लब्ध्यपर्याप्ताः। अथ प्रस्तुते यासु मार्गणासु पर्याप्तापर्याप्तरूपौ द्विविधजीवभेदौ प्राप्येते तासु मार्गणासु पर्याप्त एवोत्कृष्टप्रदेशबन्धको न त्वपर्याप्तोऽपि, अयम्भावः-लब्धिपर्याप्तापर्याप्तयोर्मध्ये लब्धिपर्याप्तस्यैवोत्कृष्टप्रदेशबन्धकत्वम्, करणपर्याप्तापर्याप्तयोर्मध्ये करणपर्याप्तस्यैवोत्कृष्टप्रदेशबन्धकत्वम्, अत एव सर्वपर्याप्तिभिः पर्याप्त एव ज्येष्ठप्रदेशबन्धकस्तस्यैव ज्येष्ठयोगस्थानस्य लाभात्। ननु कार्मणकाययोगादिमार्गणासु करणपर्याप्तजीवानां प्रवेशाभावात् करणाऽपर्याप्तलब्ध्यपर्याप्तयोर्मध्ये क उत्कृष्टप्रदेशबन्धयोग्यः? इत्यत्रोच्यते लब्ध्यपर्याप्तजीवास्योत्कृष्टयोगस्थानतो लब्धिपर्याप्तरूपकरणाऽपर्याप्तजीवस्योत्कृष्टयोगस्थानमसंख्येयगुणं भवति ततः करणाऽपर्याप्त एव तत्र ज्येष्ठप्रदेशबन्धार्हो भवतीति ॥४२॥

अथ मार्गणास्वायुर्वर्जानामुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्वामित्वं निरूपयन्नरकगत्यादिमार्गणास्वाह—

सव्वणिरयभेएसुं तइआइगअट्ठमंतदेवेसुं ।
तेर-अमायाईणं मिच्छो सम्मो व विण्णेयो ॥४३॥
एगारसपयडीणं मिच्छाईणं हवेज्ज मिच्छत्ती ।
सम्मो पणवीसाए पयडीणं दरिसणाईणं ॥४४॥
गुणतीसवन्धगो खलु सोलसतिरियाइगाण मिच्छत्ती ।
बत्तीसणराईणं मिच्छो सम्मो व विण्णेयो ॥४५॥
तित्थस्स तीसबंधी सम्मो उज्जोअगस्स उण मिच्छो ।
नवरं सत्तमणिरये सम्मो खलु णरदुगुच्चाणं ॥४६॥

(प्रे०) 'सव्वे'त्यादि, नरकौघे प्रथमादिसप्तनरकभेदेषु सनत्कुमारादिसहस्रारपर्यन्तषड्देव-मार्गणाभेदेषु चेति समुदितास्वेतासु चतुर्दशमार्गणास्वसातवेदनीयं सातवेदनीयं ज्ञानावरणपञ्चकमन्तरायपञ्चकमुच्चैर्गोत्रञ्चेति त्रयोदशप्रकृतीनां ज्येष्ठप्रदेशस्य बन्धकः सप्तमूलप्रकृतीर्बध्नन्नुत्कृष्टयोगी सम्यग्दृष्टिर्मिथ्यादृष्टिर्वा भवति, प्रस्तुतमार्गणासु प्रस्तुतप्रकृतीर्बध्नतां चतुर्थगुणस्थानान्तानां जीवानां सद्भावात् स्वमूलप्रकृत्यभिन्नोत्तरप्रकृतीनां न्यूनाधिकत्वाभावाच्च । 'एगारसे' त्यादि, मिथ्यात्वानन्तानुबन्धिचतुष्कस्त्यानर्द्धित्रिकस्त्रीवेदनपुंसकवेदनीचैर्गोत्ररूपाणामेकादशप्रकृतीनां ज्येष्ठप्रदेशबन्धको मिथ्यादृष्टिरेव भवति । कथं मिथ्यादृष्टिरेव ? इति चेत्, आसां तृतीय-चतुर्थगुणस्थानकयोर्बन्धाभावाद् द्वितीगुणस्थाने ज्येष्ठयोगस्याभावाच्च । शेषं सुगमम् । 'सम्मो' इत्याद्युत्तरार्धम्, चतुर्दर्शनावरणादिपञ्चविंशतिप्रकृतीनामुत्कृष्टप्रदेशबन्धमविरतसम्यग्दृष्टिः करोति, दर्शनमोहनीयस्त्यानर्द्धित्रिकादीनां बन्धविच्छेदेन तत्सत्कभागस्यात्र प्राप्यमाणत्वात् । पञ्चविंशतिः प्रकृतयस्त्विमाः- चक्षुरादिदर्शनावरणचतुष्कं निद्राद्विका-ऽऽद्यवर्जद्वादशकषाय-हास्यषट्कपुरुषवेदा इति । 'गुणतीसे' त्यादि, प्रस्तुतचतुर्दशमार्गणासु नाम्नो द्वे बन्धस्थाने एकोनत्रिंशत्प्रकृत्यात्मकं त्रिंशत्प्रकृत्यात्मकञ्च । जिननाम्न उद्योतनाम्नश्च त्रिंशतं बध्नत उत्कृष्टप्रदेशबन्धो भवति । तत्र जिननाम्नः सम्यग्दृष्टिस्तथोद्योतनाम्नो मिथ्यादृष्टिरुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्वामी भवति, ततो न्यूनां बध्नतो जिननामोद्योतनाम्नोर्बन्धाभावात् । प्रस्तुतमार्गणास्वेव शेषबध्यमानानामष्टचत्वारिंशतो नामप्रकृतीनां ज्येष्ठप्रदेशबन्ध एकोनत्रिंशतं बध्नतो जायते । तत्राष्टचत्वारिंशत्प्रकृतिभ्यो द्वात्रिंशत्प्रकृतयः सम्यग्दृष्टेर्मिथ्यादृष्टेश्च बन्धार्हाः, अत एतौ द्वावप्येकोनत्रिंशतं बध्नन्तौ मनुष्यद्विकादिद्वात्रिंशत्प्रकृतीनामुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्वामिनौ भवतः । तिर्यग्द्विकादीनां षोडशप्रकृतीनां तु सम्यग्दृशां बन्धाभावाद् मिथ्यादृष्टिरेवोत्कृष्ट-

प्रदेशबन्धं करोति । द्वात्रिंशत्प्रकृतयः पुनरिमाः-मनुष्यद्विकपञ्चेन्द्रियजात्यौदारिकद्विकतैजसकार्मण-शरीरवज्रर्षभनाराचसमचतुरस्रसुखगतिवर्णचतुष्कागुरुलघूपघातनिर्माणपराघातोच्छ्वासत्रसदशकास्थिरा-शुभायशःकीर्तिनामानि । मिथ्यादृष्टिस्वामिका नाम्नः षोडशप्रकृतयस्त्विमाः–तिर्यग्द्विकाद्यवर्जसंहनन-पञ्चकाऽऽद्यवर्जसंस्थानपञ्चक-कुखगति दुर्भगत्रिकरूपाः । अत्रोक्तसम्यग्दृष्टिमिथ्यादृष्ट्युभयस्वामिका-भ्यो द्वात्रिंशत्प्रकृतीभ्यो मनुष्यद्विकस्य सप्तमनरकमार्गणायां मिथ्यादृष्टीनां बन्धाभावेन केवलं सम्य-ग्दृष्टीनामेव ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्य सम्भवादेवमुच्चैर्गोत्रस्यापि सम्यग्दृशामेव ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्य सम्भवाच्च सप्तमनरकमार्गणायां प्रकृतित्रयविषयमपवादमाह–'णवरं' इत्यादि सुगमम् ॥४३-४६॥

अथ तिर्यगोघे पञ्चेन्द्रियतिर्यक्त्रिके च ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्वामिनमाह––

तिरिये पणिंदियतिरियतिगे य सण्णी हवेज्ज मिच्छत्ती ।
अहवा सम्मादिट्ठी तेर-असायाइपयडीणं ॥४७॥
सम्मत्ती देसजई तेरसपयडीण दरिसणाईणं ।
एगारसपयडीणं मिच्छाईण हवए मिच्छो ॥४८॥
दुइआण कसायाणं सम्मादिट्ठी असंजमी णेयो ।
देसजई विण्णेयो सेसाणं अडकसायाणं ॥४९॥
णिरयाईण चउण्हं सण्णी अडवीसबंधगो मिच्छो ।
तेवीसबंधिमिच्छो सण्णी तिरियाइपंचवीसाए ॥५०॥ (गीतिः)
पण्णरसणराईणं मिच्छो पणवीसबंधगो सण्णी ।
अडवीसबंधिसण्णी मिच्छो सम्मो व णवसुराईणं ॥५१॥ (गीतिः)
आयवदुगस्स सण्णी छवीसबंधी हवेज्ज मिच्छत्ती ।
गुणतीसबंधिसण्णी मिच्छो सेसणवपयडीणं ॥५२॥

(प्रे०) 'तिरिये' इत्यादि, गाथाषट्कम्, तिर्यग्गत्योघमार्गणा, पञ्चेन्द्रियतिर्यक्पर्याप्तपञ्चेन्द्रिय-तिर्यक्-तिरश्चीलक्षणपञ्चेन्द्रियतिर्यग्मार्गणात्रिकं चेति समुदितासु चतसृषु मार्गणासु ज्ञानावरणपञ्चका-ऽन्तरायपञ्चक-साता-ऽसातवेदनीयो च्चैर्गोत्ररूपाणां त्रयोदशप्रकृतीनां ज्येष्ठप्रदेशबन्धकः संज्ञिमिथ्या-दृष्टिः सम्यग्दृष्टिर्वा भवति, तत्र सम्यग्दृष्टिशब्देनाविरतदेशविरतसम्यग्दृशां ग्रहणं कर्तव्यम् । भावना तु नरकौघवत् सुगमा । सर्वत्र सप्तविधबन्धक उत्कृष्टयोगस्थानगतश्च द्रष्टव्यः । अत्र मार्गणा चतुष्के संज्ञिपञ्चेन्द्रियोऽपि यः पर्याप्त स एव ज्येष्ठप्रदेशबन्धको भवति, अपर्याप्तस्योत्कृष्टयोग-

स्थानाभावात् , एवंयथा सम्भवं सर्वत्र वाच्यम् । दर्शनावरणचतुष्कनिद्राद्विकहास्यषट्कपुरुषवेदरूपाणां त्रयोदशप्रकृतीनां चतुर्थपञ्चमगुणस्थानवर्तिनो ज्येष्ठप्रदेशबन्धका भवन्ति, दर्शनमोहनीयस्यानन्तानुबन्धिनां स्त्यानर्द्धित्रिकस्य च बन्धविच्छेदेन तत्सत्कभागस्येह प्राप्यमाणत्वेन यथार्हमधिकदललाभात् । तथा मिथ्यात्वानन्तानुबन्धिचतुष्कस्त्यानर्द्धित्रिकस्त्रीवेदनपुंसकवेदनीचैर्गोत्रलक्षणानामेकादशप्रकृतीनामुत्कृष्टप्रदेशबन्धो मिथ्यादृश एव भवति, सास्वादनिनोऽनन्तानुबन्ध्यादीनां कासाञ्चिद्बन्धभावेऽपि ज्येष्ठयोगस्थानाभावात् , मिश्रदृष्ट्यादीनां त्वासां सर्वासां बन्धाभावाच्च । अप्रत्याख्यानावरणकषायचतुष्कस्य ज्येष्ठप्रदेशबन्धकोऽविरतसम्यग्दृष्टिरेव भवति, तस्य दर्शनमोहनीयानन्तानुबन्धिनां बन्धाभावेन तत्सत्कभागस्याऽधिकतया लाभाद् । भावना त्वोघवत् कर्तव्या । प्रत्याख्यानावरणचतुष्कसंज्वलनचतुष्करूक्षगानामष्टानां देशविरतयो ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्वामिनो भवन्ति, तेषामबध्यमानमिथ्यात्वकषायाष्टकसत्कभागस्याऽपि लाभात् । नरकद्विककुखगतिदुःस्वरनाम्नां ज्येष्ठप्रदेशबन्धकः संज्ञी मिथ्यादृष्टिर्नाम्नो नरकप्रायोग्याष्टाविंशतिं बध्नन्नेव ज्ञातव्यः । भावना त्वोघानुसारेण कर्तव्या । तिर्यग्द्विकैकेन्द्रियजात्यौदारिकतैजसकार्मणशरीरहुण्डवर्णचतुष्कागुरुलघूपघातनिर्माणबादरप्रत्येकदुःस्वरवर्जस्थावरनवकरूपाणां पञ्चविंशतिनामप्रकृतीनां ज्येष्ठप्रदेशबन्धं त्रयोविंशतिबन्धस्थानं बध्नन् मिथ्यादृष्टिः करोति । मनुष्यद्विकद्वीन्द्रियादिजातिचतुष्कौदारिकाङ्गोपाङ्गसेवार्तसंहननत्रसस्थिरशुभयशःकीर्तिपराघातोच्छ्वासपर्याप्तनाम्नां पञ्चदशानां गुरुप्रदेशबन्धकः पञ्चविंशतेर्बन्धस्थानं बध्नन् भवति । तत्राद्या नवप्रकृतयोऽपर्याप्तप्रायोग्यं बध्नता ज्येष्ठप्रदेशाः क्रियन्ते, शेषाः षट् पर्याप्तैकेन्द्रियप्रायोग्यपञ्चविंशतेर्बन्धकैर्ज्येष्ठप्रदेशाः क्रियन्ते । देवद्विकवैक्रियद्विकसमचतुरस्रसुखगतिसुभगत्रिकरूपाणां नवप्रकृतीनां ज्येष्ठप्रदेशबन्धं संज्ञी देवगतिप्रायोग्याष्टाविंशतिस्थानस्य बन्धकः प्रथमचतुर्थपञ्चमगुणस्थानवर्ती करोति, त्रयोविंशत्यादिना सह बन्धाभावात् । आतपोद्योतनाम्नोस्तु संज्ञी बादरपर्याप्तप्रत्येकैकेन्द्रियप्रायोग्यषड्विंशतेर्बन्धको ज्येष्ठप्रदेशबन्धं करोति, भावना त्वोघवत् कार्या । प्रथमादिसंहननपञ्चकं मध्यमसंस्थानचतुष्कञ्चेति नवानां गुरुप्रदेशबन्धं संज्ञिमिथ्यादृष्टिरेवैकोनत्रिंशतं बध्नन् करोति । **ओघतोऽत्रायं विशेषः—** ओघे देवनारकलक्षणस्वाम्यपेक्षया वज्रर्षभनाराचस्य ज्येष्ठं प्रदेशबन्धं सम्यग्दृष्टयोऽपि कुर्वन्ति प्रस्तुते तु सम्यग्दृशां तिरश्चां देवप्रायोग्यस्यैव बन्धकतया वज्रर्षभनाराचस्यापि बन्धाभावात् शेषसंहननवद् वज्रर्षभनाराचस्यापि मिथ्यादृष्टय एव स्वामिनो बोध्या इति ॥४७-५२॥

अथापर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यगादिमार्गणास्वाह—

असमत्तपणिंदितिरियपणिंदियतसेसु बन्धगो णेयो ।
सण्णी गुणवण्णाए पयडीणं नामवज्जाणं ॥५३॥

तेवीसबंधिसण्णी णेयो तिरियाइपंचवीसाए ।
पणवीसबंधिसण्णी पंचदसण्हं नराईणं ॥५४॥
आयवउज्जोआणं सण्णी छव्वीसबंधगो णेयो ।
गुणतीसं बंधंतो सण्णी सेसाण पयडीणं ॥५५॥

(प्रे०) 'असमत्त'त्यादि, असमाप्तशब्दस्यापर्याप्तवाचित्वात् 'पणिंदितिरिय' इत्यादिना प्रत्येकं सम्बन्धाच्चापर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यगपर्याप्तपञ्चेन्द्रियापर्याप्तत्रसकायमार्गणात्रये नामकर्मवर्जशेषज्ञानावरणादिषट्कर्मसत्कैकोनपञ्चाशदुत्तरप्रकृतीनां ज्येष्ठप्रदेशबन्धकः संज्ञी मिथ्यादृष्टिर्भवति एतन्मार्गणात्रयवर्तिनां सर्वेषां लब्ध्यपर्याप्तत्वेन मिथ्यादृष्टितया प्रथमेतरगुणस्थानाभावादासां ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्वामिनां मार्गणात्रये तुल्यनिर्देशः । नामकर्मसत्कोत्तरप्रकृतिभ्यस्तिर्यग्द्विकादिपञ्चविंशतेस्त्रयोविंशतिं बध्नन्, मनुष्यद्विकादिपञ्चदशानां पञ्चविंशतिं बध्नन् तथाऽऽतपोद्योतयोस्तु षड्विंशतिं बध्नन् संज्ञी ज्येष्ठप्रदेशबन्धको भवति । भावना त्वोघवत् कार्या । शेषाणां प्रथमादिसंहननपञ्चकप्रथमादिसंस्थानपञ्चकखगतिद्वयसुभगत्रिकदुःस्वरलक्षणषोडशप्रकृतीनामेकोनत्रिंशतं बध्नन् संज्ञी ज्येष्ठप्रदेशबन्धको भवति, प्रथमसंहननादिनवानामोघवद्भावना कार्या । प्रथमसंस्थानादिसप्तप्रकृतीनां तु ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्यौघेऽष्टाविंशतेर्बन्धकस्य भावेऽपि प्रस्तुते तद्बन्धस्थानस्यैवाभावादेकोनत्रिंशतो बन्धकस्य तज्ज्येष्ठप्रदेशबन्धो भवति । अक्षरार्थस्तु सुगमः ॥५३-५५॥

अथ त्रिमनुष्यमार्गणास्वौदारिककाययोगे च निगदति—

तिमणुसउरालियेसु णिरयाईणं चउण्ह पयडीणं ।
अडवीसं बंधंतो मिच्छादिट्ठी मुणेयव्वो ॥५६॥
तेवीसबंधिमिच्छो णेयो तिरियाइपंचवीसाए ।
पणवीसबंधिमिच्छो चउद्दसण्हं णराईणं ॥५७॥
होइ अडवीसबंधी मिच्छो सम्मो व णवसुराईणं ।
गुणतीसबंधिमिच्छो णववइराईण बोद्धव्वो ॥५८॥
आयवउज्जोआणं मिच्छो छव्वीसबंधगो णेयो ।
ओघव्व जाणियव्वो तेवण्णाअ अवसेसाणं ॥५९॥

"तिमणुसे"त्यादि, मनुष्यौघ–पर्याप्तमनुष्य-मानुषीरूपमनुजमार्गणात्रिक औदारिककाययोगमार्गणायां चेति मार्गणाचतुष्के नरकद्विकादीनां चतुर्णामष्टाविंशतिं बध्नन्, तिर्यग्द्विकादीनां पञ्च-

विंशतेस्त्रयोविंशतिं बध्नन् , मनुष्यद्विकादीनां चतुर्दशानां पञ्चविंशतिं बध्नन् , आतपोद्योतयोः षड्विंशतिं बध्नन् ,वज्रर्षभनाराचादीनां नवानामेकोनत्रिंशतं बध्नन् ,संज्ञी मिथ्यादृष्टिरुत्कृष्टप्रदेशबन्धं करोति । भावना त्वोघानुसारेण विधेया, आद्यसंहननस्य मिथ्यादृष्टिरेव, नत्वोघवत् सम्यग्दृष्टिरपीति विशेषः । देवद्विकादीनां नवानां ज्येष्ठप्रदेशबन्ध देवगतियोग्याष्टाविंशतिं बध्नन् सम्यग्दृष्टिः मिथ्यादृष्टिर्वा करोति । भावना त्वोघवद् विधेया । 'ओघव्व' इत्यादि, शेषत्रिपञ्चाशत्प्रकृतीनां ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्वामिन ओघवद् विज्ञेयाः, कथम् ? इहोत्कृष्टप्रदेशबन्धार्हतया मिथ्यादृष्ट्यादि-सूक्ष्मसम्परायपर्यवसानानां जीवानां, दर्शनावरणमोहनीयनामकर्मसत्कसर्वबन्धस्थानानां च लाभात् । शेषास्त्रिपञ्चाशत्प्रकृतयस्त्विमाः-ज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरणनवकमोहनीयषड्विंशतिवेदनीयद्वयगोत्रद्वयान्तरायपञ्चकजिननामाहारकद्विकयशःकीर्तिनामानीति ।।५५ ५८।।

अथापर्याप्तमनुष्यमार्गणादिष्वाह—

असमत्तणरम्मि सयलएगिंदियविगलपंचकायेसु ।
तेवीसं बंधंतो तिरियाईण पणवीसाए ।।६०।।
पणवीसं बंधंतो पंचदसण्हं भवे णराईणं ।
गुणतीसं बंधंतो सोलसवइराइगाण भवे ।।६१।।
आयवदुगस्स हवए छवीसबंधी पराण अण्णयरो ।
सव्वाण बायरो खलु एगिंदिणिगोअपंचकायेसु ।।६२।।(गीतिः)

(प्रे०) "असमत्तणरम्मी"त्यादि, अपर्याप्तमनुष्यमार्गणायामेकेन्द्रियौघसूक्ष्मैकेन्द्रियौघपर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रिया -ऽपर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रियबादरैकेन्द्रियौघ--पर्याप्तबादरैकेन्द्रिया---ऽपर्याप्तबादरैकेन्द्रियभेदात् सप्तैकेन्द्रियभेदाः,ओघपर्याप्तापर्याप्तभेदात् त्रयो द्वीन्द्रियभेदाः,त्रयस्त्रीन्द्रियभेदाः,त्रयश्चतुरिन्द्रियभेदाः, एते च समुदिता नव विकलेन्द्रियमार्गणाभेदाः,ओघ-सूक्ष्मौघ सूक्ष्मपर्याप्त-सूक्ष्मापर्याप्त-बादरौघ-बादरपर्याप्त-बादरापर्याप्तभेदात् सप्त पृथ्वीकायमार्गणाः, तथैव सप्ताप्कायमार्गणाः, सप्त तेजस्कायमार्गणाः, सप्त वायुकायमार्गणाः सप्त साधारणवनस्पतिकायमार्गणाः,ओघ-पर्याप्तापर्याप्तभेदात् त्रयः प्रत्येकवनस्पतिकायमार्गणा वनस्पतिकायौघमार्गणा चेति पृथ्व्यादिपञ्चकायसत्कैकोनचत्वारिंशन्मार्गणाः, सर्वसंख्यया तु षट्पञ्चाशद्मार्गणाः, एतासु तिर्यग्द्विकादीनां पञ्चविंशतेस्त्रयोविंशतिं बध्नन् , मनुष्यद्विकादीनां पञ्चदशानां पञ्चविंशतिं बध्नन्, वज्रर्षभनाराचादीनां षोडशानामेकोनत्रिंशतं बध्नन् , आतपोद्योतयोस्तु षड्विंशतिं बध्नन्नुत्कृष्टयोगे वर्तमानः सप्तविधमूलबन्धक आसां ज्येष्ठप्रदेशबन्धं विदधाति। ज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरणनवकमोहनीयषड्विंशतिवेदनीयद्वयगोत्रद्वयान्तरायपञ्चकरूपाणामेकोनपञ्चाशत्प्रकृतीनां ज्येष्ठप्रदेशबन्धमुत्कृष्टयोगस्थाने वर्तमानः सप्तविधबन्धको मार्गणावर्तिकोऽपि तत्प्रकृतिं बध्नन् विद-

धाति । अत्रापर्याप्तमार्गणासु स्वायुषो द्वित्रिभागादूर्ध्वं चरमैकत्रिभागे उत्कृष्टयोगस्थानस्य सम्भवात्तत्र विद्यमान एवोत्कृष्टप्रदेशबन्धं करोति, ओघमार्गणासु तु पर्याप्तानां पर्याप्तावस्थायां ज्येष्ठप्रदेशबन्धो वक्तव्यः । एकेन्द्रियौघपृथिव्यादिपञ्चकायौघनिगोदौघरूपासु सप्तमार्गणासु सूक्ष्माणां बादराणां च प्रवेशः, तथाच तत्र सूक्ष्मेभ्यो बादराणां योगस्यासंख्येयगुणत्वाद् बादरजीवानामेवोत्कृष्टप्रदेशबन्धो भवति । तेजस्काय-वायुकायसत्कचतुर्दशकायभेदेषु तु मनुष्यद्विकोच्चैर्गोत्रयोर्बन्धाभावात् पञ्चविंशतिं बध्नन् मनुष्यद्विकं विहाय शेषद्वीन्द्रियजात्यादीनां त्रयोदशप्रकृतीनामुत्कृष्टप्रदेशबन्धं करोति तथोच्चैर्गोत्रं विना ज्ञानावरणाद्यष्टचत्वारिंशत्प्रकृतीनामुत्कृष्टयोगस्थाने वर्तमानः सप्तविधबन्धक उत्कृष्टप्रदेशबन्धं करोति इति मूलगाथाकृदनुक्तोऽयं विशेषः स्वयमभ्यूह्यः,सुगमत्वात् । ननु यथा सूक्ष्मबादराणां ज्येष्ठपदे योगस्य भेदाद् बादरा उत्कृष्टप्रदेशबन्धस्वामिनः, तथा प्रत्येकसाधारणयोर्भेदः कथं नोच्यते ? इति चेत् , उच्यते—एकेन्द्रियाणां यदुत्कृष्टयोगस्थानं तत्प्रत्येकजीवानामिव साधारणजीवानामपि भवति,एकेन्द्रियेषु प्रतियोगस्थानेऽनन्तजीवानां भणितत्वात् , अत एवाग्रेऽपि एकेन्द्रियादिमार्गणासु ज्येष्ठप्रदेशबन्धका अनन्ता दर्शयिष्यन्त इति ।।६०-६२।।

अथ देवौघभवनपत्यादीशानान्तदेवमार्गणावैक्रियतन्मिश्रयोगमार्गणासु ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्वामिनं प्रकटयन्नाह—

सुरईसाणंतविउवदुगेसु णिरयव्व णामवज्जाणं ।
पणवीसबंधिमिच्छो तिरियाईण अडवीसाए ।।६३।।
एगारणराईणं सम्मो मिच्छो व ऊणतीसविहो ।
गुणतीसबंधिमिच्छो छिवट्ठदसमज्झिमाईणं ।।६४।।
आयवउज्जोआणं छवीसबंधी हवेज्ज मिच्छत्ती ।
तित्थस्स तीसबंधी सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ।।६५।।
नवरं वेउव्वदुगे सुरो पणछवीसबंधगो स भवे ।
से काले गहिहिइ तणुपज्जत्तिं विउवमीसे उ ।।६६।।

(प्रे०) 'सुरईसाणंते' त्यादि, देवौघ-भवनपति-व्यन्तर ज्योतिष्क-सौधर्मेशान-वैक्रियकाययोगवैक्रियमिश्रकाययोगरूपास्वष्टमार्गणासु नामायुःकर्मवर्जशेषषट्कर्मसत्कैकोनपञ्चाशत्प्रकृतीनां ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्वामित्वं नरकौघमार्गणावद् विज्ञेयम् , प्रथमचतुर्थगुणस्थानयोरुभयत्र सद्भावात् । नरकौघार्गणायां यथा ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्वामित्व प्राप्यते तथा दर्श्यते—ज्ञानावरणपञ्चकान्तरायपञ्चक सातासातवेदनीयोच्चैर्गोत्ररूपाणां त्रयोदशप्रकृतीनां सम्यग्दृष्टयस्तथा मिथ्यादृष्टयो ज्येष्ठप्रदेशबन्ध-

स्वामिनो भवन्ति। मिथ्यात्वानन्तानुबन्धिचतुष्कस्त्यानर्द्धित्रिकस्त्रीवेदनपुंसकवेदनीचैर्गोत्ररूपाणामेकादशप्रकृतीनां ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्य स्वामिनो मिथ्यादृष्टयो बोद्धव्याः। दर्शनावरणचतुष्कनिद्राद्विकहास्यषट्कपुरुषवेदाद्यवर्जद्वादशकषायरूपपञ्चविंशतेः प्रकृतीनां ज्येष्ठप्रदेशबन्धकाः सम्यग्दृष्टयो भवन्ति। एवमेवासामेकोनपञ्चाशत्प्रकृतीनां ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्वामित्वं प्रस्तुताष्टमार्गणासु विज्ञेयं, विशेषाभावात्। मनुष्यद्विकपञ्चेन्द्रियजात्यौदारिकाङ्गोपाङ्गवज्रर्षभनाराचसंहननसमचतुरस्रसंस्थानसुखगतित्रसनामसुभगत्रिकरूपाणामेकादशप्रकृतीनां ज्येष्ठप्रदेशबन्धं सम्यग्दृष्टयो मिथ्यादृष्टयश्चैकोनत्रिंशतं बध्नन्तः कुर्वन्ति, प्रस्तुताष्टमार्गणास्वष्टाविंशतेरपर्याप्तत्रसप्रायोग्यपञ्चविंशतेश्च बन्धाभावात्। पञ्चविंशतौ षड्विंशतौ चैता न बध्यन्ते। द्वितीयादिपञ्चसंहनन द्वितीयादिसंस्थानचतुष्ककुखगतिदुःस्वरनामलक्षणानामेकादशप्रकृतीनां ज्येष्ठप्रदेशबन्धं मिथ्यादृष्टय एकोनत्रिंशतं बध्नन्तो निर्वर्तयन्ति, भावना तु मनुष्यद्विकवत् कार्या। आतपोद्योतयोस्तु गुरुप्रदेशबन्धको मिथ्यादृष्टिः षड्विंशतिं बध्नन् भवति, भावना त्वोघवत् कार्या। तीर्थकरनाम्नो ज्येष्ठप्रदेशबन्धकः सम्यग्दृष्टिर्मनुष्यगतिप्रायोग्यां नाम्नस्त्रिंशतं बध्नन् भवति, जिननामबन्धस्य त्रिंशद्बन्धस्थान एव प्रस्तुताष्टमार्गणासु लाभात्, भवनपतिव्यन्तरज्योतिष्कमार्गणात्रये जिननाम्नो बन्धस्याभावात्तत्र स न वक्तव्यः। वैक्रियमिश्रकाययोगमार्गणायां प्रतिसमयं योगस्यासंख्यगुणवृद्धेर्भावेन मार्गणाचरमसमय एव ज्येष्ठयोगस्थानस्य लाभात् चरमसमयस्थितस्यैव सर्वासां ज्येष्ठप्रदेशबन्धो भवति। वैक्रियमिश्रकाययोगस्य जघन्योत्कृष्टभेदाद्द्विविधकालः। तत्र ये उत्कृष्टकालं व्यतिक्रामन्ति तेषामेवोत्कृष्टयोगस्थानस्य प्राप्तिर्भवतीत्यपि विज्ञेयम्। अथ वैक्रियवैक्रियमिश्रमार्गणाद्वये पञ्चविंशतिं षड्विंशतिं च देव एव बध्नाति न तु नारकः, अतोऽपवादरूपेण तं दर्शयति—'णवरं' इत्यादिना, सुगमप्रायः। 'स भवे' इत्यादिना केवलवैक्रियमिश्रे विशेषं दर्शयति—योऽनन्तरसमये शरीरपर्याप्तिं समापयिष्यति तस्य शरीरपर्याप्त्यां समाप्तायां वैक्रियकाययोगो भवति ततस्तस्य तत्प्राक्क्षणे शरीरपर्याप्त्याऽपर्याप्तावस्थायाश्चरमसमये, वैक्रियमिश्रमार्गणायाश्चरमसमये इति यावत् ज्येष्ठप्रदेशबन्धो भवति। शेषं सुगमम्। सानत्कुमारादिसहस्रारपर्यन्तासु देवमार्गणासु ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्वामित्वं नरकमार्गणया समं प्ररूपितम् ॥६३-६६॥

अथानतादिनवमग्रैवेयकान्तेषु त्रयोदशमार्गणाभेदेषु ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्वामित्वं निरूपयन्नाह—

विण्णेयो देवेसुं गेविज्जंतेसु आणयाईसुं।
सव्वेसिं पयडीणं सप्पाउग्गाण णिरयव्व ॥६७॥

(प्रे०) 'विण्णेयो' इत्यादि, आनतप्राणतारणाच्युतनवग्रैवेयकरूपासु त्रयोदशमार्गणासु बध्यमानानामायुर्वर्जानां षण्णवतिप्रकृतीनां ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्वामिनो नरकमार्गणावद् विज्ञेयाः, तद्यथा—ज्ञानावरणपञ्चकान्तरायपञ्चकसातासातवेदनीयोच्चैर्गोत्ररूपाणां त्रयोदशप्रकृतीनां ज्येष्ठप्रदेशबन्धकः सम्य-

ग्दृष्टिर्मिथ्यादृष्टिर्वा भवति । मिथ्यात्वानन्तानुबन्धिकषायचतुष्कस्त्यानर्द्धित्रिकस्त्रीवेदनपुंसकवेद-नीचैर्गोत्ररूपाणामेकादशप्रकृतीनां मिथ्यादृष्टिरुत्कृष्टप्रदेशबन्धं करोति । दर्शनावरणचतुष्कनिद्रा-द्विकहास्यपट्कपुरुषवेदाद्यवर्जद्वादशकषायरूपाणां पञ्चविंशतेः प्रकृतीनां सम्यग्दृष्टिरेव ज्येष्ठप्रदेश-बन्धस्य स्वामी भवति । मनुष्यद्विकपञ्चेन्द्रियजात्यौदारिकद्विकतैजसकार्मणवज्रर्षभनाराचसमचतु-रस्रसुखगतिवर्णचतुष्कागुरुलघुचतुष्कनिर्माणत्रसदशकास्थिराशुभायशःकीर्तिरूपाणां द्वात्रिंशत्प्रकृतीनां सम्यग्दृष्टयो मिथ्यादृष्टयश्चैकोनत्रिंशतं बध्नन्तो गुरुप्रदेशबन्ध कुर्वन्ति । द्वितीयादिसंहननपञ्चक-द्वितीयादिसंस्थानपञ्चककुखगतिदुर्भगत्रिकरूपाणां चतुर्दशप्रकृतीनां ज्येष्ठप्रदेशबन्धका एकोन-त्रिंशतं बध्नन्तो मिथ्यादृष्टयो भवन्ति । जिननाम्नस्तु त्रिंशतं बध्नन्तः सम्यग्दृष्टयो ज्येष्ठप्रदेश-बन्धस्वामिनो भवन्ति । भावना तु सर्वत्र नरकमार्गणावत् कार्या ॥६७॥

अथ पञ्चानुत्तरमार्गणासु प्रस्तुतस्वामिनं दर्शयन्नाह—

पणऽणुत्तरेसु तीसइबंधी तित्थस्स सेसणामाणं ।
एगूणतीसबंधी सेसाणं होइ अण्णयरो ॥६८॥

(प्रे०) 'पणे'त्यादि, पञ्चानुत्तरमार्गणासु केवलं सम्यग्दृष्टय एव भवन्ति । तत्र नामप्रकृ-तिषु जिननाम्नस्त्रिंशतं बध्नन् ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्य स्वामी भवति । शेषद्वात्रिंशतो मनुष्यप्रायोग्य-नामप्रकृतीनां ज्येष्ठप्रदेशबन्धं नाम्न एकोनत्रिंशत्प्रकृतीनां बन्धकः करोति । नामकर्मवर्जानां पट्कर्मसत्कशेषाष्टात्रिंशत्प्रकृतीनां गुरुप्रदेशबन्धकः सप्तविधबन्धक उत्कृष्टयोगी मार्गणावर्त्यन्य-तमो जीवो भवति ॥६८॥ तदेवं समाप्तं सप्तचत्वारिंशद्गतिमार्गणाभेदेषु स्वामित्वम् । इन्द्रिय-मार्गणामध्यात् पञ्चेन्द्रियौघ-पर्याप्तपञ्चेन्द्रियभेदद्वयेऽवशिष्टमिति तत्र तत्तुल्यवक्तव्यत्वादन्यमार्गणासु च सममेव ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्वामिनं दर्शयन्नाह—

ओघव्व दुपंचिंदियतसपणमणवयणकायजोगेसुं ।
लोहणयणेयरेसुं भविये सण्णिम्मि आहारे ॥६९॥

(प्रे०) "ओघव्वे" त्यादि, पञ्चेन्द्रियौघ पर्याप्तपञ्चेन्द्रिय-त्रसकायौघ-पर्याप्तत्रसकाय-पञ्चमनो-योग-पञ्चवचनयोग--काययोगौघ-लोभ चक्षुर्दर्शना-ऽचक्षुर्दर्शन- भव्य -सञ्ज्ञा--ऽऽहारकरूपास्वेकविंशतौ मार्गणासु सप्तकर्मसत्कानां षोडशोत्तरशतसंख्याकानां सर्वोत्तरप्रकृतीनां ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्वामिन ओघ-वद् विज्ञेयाः ओघोक्तस्वामिनां सर्वेषामासु मार्गणासु प्रत्येकं लाभात् ॥६९॥

अथेन्द्रियमार्गणासु कायमार्गणासु च प्रस्तुतस्वामिनः प्रदर्श्यावशिष्टयोगमार्गणासु तान् दर्शयन्नौदारिकमिश्रकाययोगे प्राह—

ओरालमीसजोगे जो से काले सरीरपज्जत्तिं ।
गहिहिइ सो खलु णेयो सत्ताउग्गाण सव्वेसिं ॥७०॥
तेरअसायाईणं सण्णी मिच्छो भवे अहव सम्मो ।
सण्णी मिच्छादिट्ठी एगारसमिच्छआईणं ॥७१॥
सम्मो पणवीसाए पयडीणं होइ दरिसणाईणं ।
अडवीसबंधिसम्मो विण्णेयो णवसुराईणं ॥७२॥
गुणतीसबंधिमिच्छो सण्णी एगारवइरआईणं ।
गुणतीसबंधिसम्मो जिणस्स तिरियव्व सेसाणं ॥७३॥

(प्रे०) "ओरालमीसजोगे" इत्यादि, औदारिकमिश्रकाययोगमार्गणायां प्रकृष्टयोगस्थानं संज्ञिनां करणाऽपर्याप्तानां मार्गणाचरमसमये भवति, अत एव शरीरपर्याप्तिं योऽनन्तरसमये समापयिष्यति, स सर्वप्रकृतीनां ज्येष्ठप्रदेशबन्धको विज्ञेयः । तत्र त्रयोदशानामसातवेदनीयादीनां ज्येष्ठप्रदेशबन्धं सञ्ज्ञी मिथ्यादृष्टिः सम्यग्दृष्टिर्वा करोति, मार्गणाचरमसमयवर्तिनां सम्यग्दृष्टि-मिथ्यादृष्टीनां ज्येष्ठयोगस्थानस्य सम्भवात् । एकादशानां मिथ्यात्वमोहनीयादीनां मिथ्यादृष्टिः करणाऽपर्याप्तो मार्गणाचरमसमये वर्तमानो गुरुप्रदेशबन्धं करोति । चक्षुर्दर्शनावरणादीनां पञ्चविंशतेर्ज्येष्ठप्रदेशबन्धं सम्यग्दृष्टिः करोति । नवानां सुरद्विकादीनां ज्येष्ठप्रदेशबन्धकोऽष्टाविंशतिं बध्नन् सम्यग्दृष्टिरेव भवति । प्रस्तुतमार्गणायां मिथ्यादृष्टीनामष्टाविंशतेर्बन्धस्थानस्यैवाभावात् । वज्रर्षभनाराचादीनामेकादशानां गुरुप्रदेशबन्धमेकोनत्रिंशतं बध्नन् मिथ्यादृष्टिः करोति, प्रस्तुते संहननादीनां सम्यग्दृशां बन्धाभावात् । मनुष्यप्रायोग्यमेकोनत्रिंशत्प्रकृतिबन्धस्थानं सम्यग्दृष्टयो न बध्नन्ति, तेषां देवप्रायोग्यस्यैव बन्धभावात् । एकादशप्रकृतयस्त्विमाः—प्रथमादिसंहननपञ्चक-द्वितीयादिसंस्थानचतुष्ककुखगतिदुःस्वरनामानि । जिननाम्नो ज्येष्ठप्रदेशबन्धकः सम्यग्दृ देवप्रायोग्यमेकोनत्रिंशत्स्थानं बध्नन् विज्ञेयः । शेषाणां तिर्यग्द्विकादीनां पञ्चविंशतेस्त्रयोविंश बध्नन्, मनुष्यद्विकादीनां पञ्चदशानां पञ्चविंशतिं बध्नन्, आतपोद्योतयोस्तु षड्विंशतिं ब संज्ञी मिथ्यादृष्टिर्ज्येष्ठप्रदेशबन्धं करोत्येतच्च तिर्यग्मार्गणावद् भवति । भावनाऽपि तिर्यग्मा णावद् विज्ञेया, अतः 'तिरियव्व सेसाण' इत्यनेन तिर्यग्गतिवदतिदिष्टं, तच्च भावितम् ॥७०-७३॥

अथाहारकतन्मिश्रकाययोगमार्गणाद्वये ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्वामिनं दर्शयन्नाह—

जिणवज्जिअणामाणं आहारदुगेऽट्ठवीसबंधी उ ।
होइ गुणतीसबंधी जिणस्स सेसाण अण्णयरो ॥७४॥

(प्रे०) 'जिणे'त्यादि, आहारककाययोगतन्मिश्रकाययोगमार्गणयोर्जिननाम वर्जयित्वा शेषैकत्रिंशद्देवप्रायोग्यप्रकृतीनां ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्य स्वामी नाम्नो देवप्रायोग्याष्टाविंशतिं बध्नन् विज्ञेयः । अत्र मार्गणाद्वये द्वे बन्धस्थाने अष्टाविंशतिरेकोनत्रिंशच्च । तत्रैकोनत्रिंशत्प्रकृतयो जिननामसहिता बध्यन्तेऽतो नात्र शेषनामप्रकृतीनामुत्कृष्टप्रदेशबन्धो लभ्यते, भागहाराणामाधिक्यात् । देवप्रायोग्या एकत्रिंशत्प्रकृतयस्त्विमाः-देवद्विकपञ्चेन्द्रियजातिवैक्रियद्विकतैजसकार्मणसमचतुरस्रसुखगतिवर्णचतुष्कागुरुलघुचतुष्कनिर्माणत्रसदशकास्थिराशुभायशःकीर्तिनामानि । जिननाम्नो ज्येष्ठप्रदेशबन्ध एकोनत्रिंशद्बन्धकेन क्रियते । नामवर्जशेषप्रकृतीनां तु मार्गणावर्त्यन्यतमो जीव उत्कृष्टयोगस्थाने वर्तमान उत्कृष्टप्रदेशबन्धं करोति । अत्राहारकमिश्रकाययोगमार्गणायामुत्कृष्टाद्धां व्यतिक्रामतो मार्गणाचरमसमये वर्तमानस्यैवोत्कृष्टयोगप्राप्तेस्तस्यैव सर्वप्रकृतीनां ज्येष्ठप्रदेशबन्धो भवति, नान्यस्येति ॥७४॥

अथ कार्मणकाययोगाऽनाहारकमार्गणयोर्ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्वामिनं दर्शयन्नाह—

कम्माणाहारेसुं तेर-असायाइगाण पयडीणं ।
सण्णी सम्मादिट्ठी मिच्छादिट्ठी व विण्णेयो ॥७५॥
एगारसपयडीणं मिच्छाईणं हवेज्ज मिच्छत्ती ।
सम्मो पणवीसाए पयडीणं दरिसणाईणं ॥७६॥
अडवीसबंधिसम्मो दुगइट्ठो होइ नवसुराईणं ।
गुणतीसबंधिसण्णी मिच्छो असुहखगइसराणं ॥७७॥
पणवीसबंधिसण्णी मिच्छत्ती तिगइयो जसस्स भवे ।
गुणतीसबंधिसम्मो णरो जिणस्स इयराण ओघव्व ॥७८॥(गीतिः)

(प्रे०) 'कम्मे'त्यादि, कार्मणकाययोगानाहारकमार्गणयोर्ज्ञानावरणपञ्चकान्तरायपञ्चकसाता-ऽसातवेदनीयोच्चैर्गोत्रलक्षणानां त्रयोदशप्रकृतीनां मिथ्यादृष्टिः सम्यग्दृष्टिर्वा ज्येष्ठप्रदेशबन्धको भवति । मिथ्यात्वाऽनन्तानुबन्धिकषायचतुष्कस्त्यानर्द्धित्रिकस्त्रीवेदनपुंसकवेदनीचैर्गोत्ररूपाणामेकादशप्रकृतीनां मिथ्यादृष्टिरेव ज्येष्ठप्रदेशबन्धं करोति । दर्शनावरणचतुष्कनिद्राद्विकहास्यषट्कपुरुषवेदाऽऽद्यवर्जद्वादशकषायरूपाणां पञ्चविंशतेः प्रकृतीनां ज्येष्ठप्रदेशबन्धकः सम्यग्दृष्टिर्भवति, भावना त्वोघवद् विज्ञेया । सुरद्विकादीनां नवानां ज्येष्ठप्रदेशबन्धं सम्यग्दृष्टिस्तिर्यङ् मनुष्यो वाऽष्टाविंशतिं बध्नन् करोति, देवनारकाणां मिथ्यादृष्टितिर्यग्मनुष्याणां चाष्टाविंशतेर्बन्धाऽभावात् सम्यग्दृष्टितिर्यग्मनुष्ययोर्निर्देशः । अशुभखगतिदुःस्वरयोर्ज्येष्ठप्रदेशबन्ध ओघे नरकगतिप्रायोग्याष्टविंशतिं बध्नतो भवति, प्रस्तुतमार्गणाद्वये तु नरकप्रायोग्यस्य बन्धाभावाद् देवप्रायोग्यञ्च बध्नता एते न बध्येतेऽतस्तिर्यग्मनुष्यप्रायोग्य-

मेकोनत्रिंशत्प्रकृत्यात्मकं बन्धस्थानं कुर्वता मिथ्यादृष्टिनैतयोर्ज्येष्ठप्रदेशबन्धः क्रियते । यशःकीर्तिनाम्नस्तु पञ्चविंशतिं बध्नतो नारकवर्जगतित्रये वर्तमानस्य ज्येष्ठप्रदेशबन्धो भवति, एकविधबन्धस्थानस्य प्रस्तुतेऽभावाद् जघन्यतोऽपि पञ्चविंशत्यां यशःकीर्तिनाम्नो बन्धभावाच्च । जिननाम्नो ज्येष्ठप्रदेशबन्धं सम्यग्दृष्टिर्मनुष्यो नाम्न एकोनत्रिंशत्प्रकृत्यात्मकं बन्धस्थानं बध्नन् करोति, जिननामसहितमनुष्यगतिप्रायोग्यत्रिंशतं बध्नतो देवनारकाणां न ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्य सम्भवोऽधिकप्रकृतिबन्धकत्वात्तेषामिति । उक्तेतरनामकर्मशेषप्रकृतीनां ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्वामित्वमोघवद् विज्ञेयम् , ओघोक्तबन्धस्थानानामत्रापि सम्भवात् । ओघवच्चैवम्-तिर्यग्द्विकादीनां पञ्चविंशतेस्त्रयोविंशतिं बध्नतो ज्येष्ठप्रदेशबन्धो भवति । मनुष्यद्विकादीनां चतुर्दशानां पञ्चविंशतिं बध्नतो ज्येष्ठप्रदेशबन्धो भवति । अतपोद्योतयोस्तु गुरुप्रदेशबन्धस्वामी षड्विंशतिं बध्नन् भवति । आद्यपञ्चसंहननद्वितीयादिसंस्थानचतुष्करूपनवप्रकृतीनां ज्येष्ठप्रदेशबन्ध एकोनत्रिंशतं बध्नतो जायते । तत्रापि प्रथमसंहननस्य सम्यग्दृष्टिना मिथ्यादृष्टिना वा ज्येष्ठप्रदेशबन्धः क्रियते । शेषाष्टप्रकृतीनां तु मिथ्यादृष्टिनैवेति । भावनाऽपि यथासम्भवमोघवदेव कार्या । अत्र संज्ञिभ्यश्च्युत्वा संज्ञिषूत्पद्यमानानामेव करणापर्याप्तावस्थायां ज्येष्ठयोगस्थानं भवति, तदपि प्रस्तुतमार्गणाद्वितीयसमये, न तु प्रथमसमये, तस्याऽपर्याप्तत्वेन प्रथमसमयतो द्वितीयसमये योगस्यासंख्येयगुणत्वात् , अतो सर्वप्रकृतीनां ज्येष्ठप्रदेशबन्धो मार्गणयोर्द्वितीयसमये वक्तव्यः, न प्रथमसमय इति ॥७५-७८॥

सम्प्रति वेदत्रये ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्वामिनं दर्शयन्नाह —

इत्थिणपुंसपुमेसुं तेर-असायाइगाण पयडीणं ।
सण्णी मिच्छादिट्ठी सम्मादिट्ठी व विण्णेयो ॥७९॥
सण्णी मिच्छादिट्ठी णेयो एगारमिच्छआईणं ।
सम्मत्ती अट्ठण्हं णिद्दाईणं मुणेयव्वो ॥८०॥
चत्तारो बंधंतो बीआवरणचउगस्स बोद्धव्वो ।
सम्मो असंजमी खलु दुइअकसायाण विण्णेयो ॥८१॥
तइआण कसायाणं चउण्ह देसविरई मुणेयव्वो ।
संजलणाण चउण्हं होइ पमत्तियरजइआई ॥८२॥
पणविहबंधी णेयो पुमस्स अडवीसबंधगो सण्णी ।
मिच्छत्ती दुगइट्ठो चउण्ह णिरयाइगाण भवे ॥८३॥

दुगइट्ठो मिच्छत्ती सण्णी तिरियाइपंचवीसाए ।
तेवीसं बंधंतो पणवीसं णवणराईणं ॥८४॥
अट्ठवीसबंधिसण्णी मिच्छो सम्मो व णवसुराईणं ।
अपमत्ततीसबंधी आहारदुगस्स विण्णेयो ॥८५॥
गुणतीसबंधिसण्णी मिच्छो सम्मो व होइ वइरस्स ।
मिच्छादिट्ठी णेयो संघयणागिइचउक्काणं ॥८६॥
पणपरघायाईणं सण्णी पणवीसबंधगो मिच्छो ।
आयवदुगस्स सण्णी छवीसबंधी भवे मिच्छो ॥८७॥
इगविहबंधिअपुव्वो अणियट्टी वा जसस्स विण्णेयो ।
एगूणतीसबंधी सम्मो मणुयो जिणस्स भवे ॥८८॥
णवरं णपुंसवेए दुगइट्ठो बंधगो मुणेयव्वो ।
आयवजुगलस्स तहा परघायाईण पंचण्हं ॥८९॥

(प्रे०)'इत्थो'त्यादि, स्त्रीवेदपुरुषवेदनपुंसकवेदमार्गणासु ज्ञानावरणपञ्चकान्तरायपञ्चकसातवेदनीयोच्चैर्गोत्राणां द्वादशानां प्रथमचतुर्थपञ्चमषष्ठसप्तमाष्टमगुणस्थानवर्तिनो नवमगुणस्थानके मार्गणाचरमसमयं यावद् वर्तमाना जीवाश्चोत्कृष्टप्रदेशबन्धं कुर्वन्ति, तथाचात्र दशमगुणस्थानकाभावात् सप्तविधबन्धं कुर्वन्नेवोत्कृष्टप्रदेशबन्धस्वामी भवति । असातवेदनीयस्य प्रथमचतुर्थपञ्चमषष्ठगुणस्थानवर्तिनो जीवा गुरुप्रदेशबन्धं कुर्वन्ति । मिथ्यात्वानन्तानुबन्धिकषायचतुष्कस्त्यानर्द्धित्रिकस्त्रीवेदनपुंसकवेदनीचैर्गोत्ररूपाणामेकादशप्रकृतीनां मिथ्यादृष्टयो ज्येष्ठप्रदेशबन्धं कुर्वन्ति । निद्राद्विकस्य ज्येष्ठप्रदेशबन्धं चतुर्थाद्यष्टमगुणस्थानप्रथमभागान्तवर्तिनो जीवाः कुर्वन्ति । हास्यरतिभयजुगुप्सानां चतुर्थाद्यष्टमगुणस्थानान्तवर्तिभिर्जीवैर्ज्येष्ठप्रदेशबन्धः क्रियते । अरतिशोकयोस्तु तुर्यादिगुणस्थानत्रयवर्तिनो गुरुप्रदेशबन्धस्वामिनो भवन्ति, भावना तु सर्वत्रौघवद् विधेया । दर्शनावरणचतुष्कस्य गुरुप्रदेशबन्धो निद्राद्विकबन्धविच्छेदानन्तरमपूर्वकरणद्वितीयभागदारभ्य मार्गणाचरमसमयं यावद् वर्तमानस्य भवति, अत्र तस्य सप्तविधबन्धकत्वेऽपि निद्राद्विकस्य बन्धविच्छेदेन तत्सत्कभागस्य लाभात् । अप्रत्याख्यानावरणकषायचतुष्कस्याविरतसम्यग्दृशो ज्येष्ठप्रदेशबन्धं निर्वर्तयन्ति । प्रत्याख्यानावरणचतुष्कस्य देशविरता गुरुप्रदेशबन्धं विरचयन्ति । ओघवदत्र भावनाऽनुसर्तव्या । संज्वलनचतुष्कस्य ज्येष्ठप्रदेशबन्धः षष्ठसप्तमाष्टमगुणस्थानस्थितैरनिवृत्तिगुणस्थानप्रथमभागस्य

चरमसमयं यावद्वर्तमानैश्च क्रियते । प्रस्तुतमार्गणासु सर्वनोकषायाणां बन्धविच्छेदाभावेनाष्टमगुणस्थानप्रान्ते हास्यरतिभयजुगुप्सानां बन्धविच्छेदेऽपि तत्सत्कदलिकानां पुरुषवेद एव लाभात् सञ्ज्वलन कषायाणां प्रमत्तसंयतादयस्स्वामितयोक्ताः, नत्वोघवद् नवमगुणस्था एव । हास्यरतिभयजुगुप्सानां बन्धविच्छेदादूर्ध्वं तत्सत्कदलिकानां पुरुषवेदे लाभाद् पुरुषवेदस्य ज्येष्ठप्रदेशबन्धो नवमगुणस्थानके मार्गणाचरमसमयं यावद् वर्त्तमानस्य पञ्चविधबन्धकस्य भवितुमर्हति, भावना त्वोघवद् विज्ञेया । नरकद्विककुखगतिदुःस्वररूपाणां चतसृणां प्रकृतीनां ज्येष्ठप्रदेशबन्धकस्तिर्यङ् मनुष्यो वा संज्ञी मिथ्यादृष्टिरष्टाविंशतिं बध्नन् भवति, भावना त्वोघवत् कार्या । तिर्यग्द्विकादीनां पञ्चविंशतेः संज्ञी मिथ्यादृष्टिस्तिर्यङ्मनुष्यो वा त्रयोविंशतिं बध्नन् ज्येष्ठप्रदेशबन्धको विज्ञेयः । मनुष्यद्विकादीनां नवानां पञ्चविंशतिं बध्नतां संज्ञिमिथ्यादृशां तिर्यग्मनुष्याणां ज्येष्ठप्रदेशबन्धो भवति । सुरद्विकादीनां नवप्रकृतीनामष्टाविंशतिं बध्नद्भिस्तिर्यग्मनुष्यैः संज्ञिभिर्मिथ्यादृग्भिस्सम्यग्दृष्टिभिर्वा ज्येष्ठप्रदेशबन्धः क्रियते । आहारकद्विकस्याप्रमत्तसंयतैस्त्रिंशतं बध्नद्भिर्ज्येष्ठप्रदेशबन्धः क्रियते । वज्रर्षभनाराचस्य ज्येष्ठप्रदेशबन्ध एकोनत्रिंशतं बध्नतां संज्ञिमिथ्यादृशां सम्यग्दृशां वा भवति । मध्यमसंहननचतुष्कस्य मध्यमसंस्थानचतुष्कस्य च संज्ञिमिथ्यादृष्टिभिरेकोनत्रिंशतं बध्नद्भिर्ज्येष्ठप्रदेशबन्धः क्रियते । पराघातोच्छ्वासपर्याप्तस्थिरशुभनाम्नां ज्येष्ठप्रदेशबन्धं तिर्यङ् मनुष्यो देवो वा मिथ्यादृष्टिः पञ्चविंशतिं बध्नन् करोति । आतपोद्योतयोस्तु त्रिगतिकः संज्ञी मिथ्यादृष्टिः षड्विंशतिं बध्नन् विरचयति । यशःकीर्तिनाम्नो गुरुप्रदेशबन्धकोऽपूर्वकरणषष्ठभागादूर्ध्वं नवमगुणस्थानकप्रथमभागं यावदेकां प्रकृतिं बध्नन् विज्ञेयस्तत ऊर्ध्वमप्येकस्या एव प्रकृतेर्बन्धे सत्यपि मार्गणाविच्छेदेन न तत्र प्रस्तुतप्ररूपणावसरः । जिननाम्नो ज्येष्ठप्रदेशबन्धं चतुर्थाद्यष्टमगुणस्थानषष्ठभागं यावद्वर्तमानो मनुष्यो नाम्न एकोनत्रिंशत्प्रकृत्यात्मकं बन्धस्थानं बध्नन् करोति, अत्राहारकद्विकबन्धकस्यैकत्रिंशतो बन्धसद्भावेऽपि जिननाम्नो ज्येष्ठप्रदेशबन्धो जायते, शरीरनामाङ्गोपाङ्गनाम्नोर्भागस्य स्वपिण्डप्रकृतिभ्यो लाभाद् नाधिकभागहरत्वापत्तिः । देवनारकाणां तु जिननाम्नो ज्येष्ठप्रदेशबन्धो नैव जायते, संहनननाम्नो बन्धसद्भावेनाल्पभागस्य लाभात् । भावना तु सर्वत्र यथासम्भवमोघतो ज्ञातव्या । अथात्र नपुंसकवेदमार्गणायां देवानां प्रवेशाभावेन पराघातादीनां पञ्चानामातपोद्योतयोश्च ज्येष्ठप्रदेशबन्धकास्तिर्यञ्चो मनुष्या एव विज्ञेयाः, तच्च 'णवरं' इत्यादिनाऽपवादरूपेण दर्शितं, तच्च सुगमम् ॥

अथ कषायमार्गणायां ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्वामिनं दर्शयन्नाह—

कोहाइकसायेसुं तीसुं इत्थिव्व सव्वपयडीणं ।
णेयो णवरं कोहे संजलणाण चउविहबंधी ॥९०॥

माणे चउविहबंधी कोहस्सियराण तिविहबंधी उ ।
मायाअ दुविहबंधी दोण्हं माणव्व सेसाणं ॥९१॥

(प्रे०) 'कोहाई' त्यादि, क्रोधमानमायाकषायमार्गणात्रये सर्वकर्मणां ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्वामित्वं स्त्रीवेदमार्गणावद् भवति; नवमगुणस्थानादूर्ध्वं प्रस्तुतमार्गणानामभावेन मूलषड्विधबन्धकस्यालाभात् । स्त्रीवेदमार्गणायां मोहनीयस्य चतुर्विधादिबन्धका न लभ्यन्ते, प्रस्तुते तु ते सम्भवन्त्यतो मार्गणात्रये संज्वलनचतुष्कस्यापवादं दर्शयन्नाह–'णवर' मित्यादिना क्रोधमार्गणायां चतुर्णां संज्वलनानां ज्येष्ठप्रदेशबन्धो मोहनीयस्य चतुर्विधबन्धकस्य जायते, पुरुषवेदस्यापि बन्धविच्छेदेन नोकषाय-सत्कसर्वदलानां सञ्ज्वलनचतुष्के लाभात् । मानमार्गणायां संज्वलनक्रोधस्य ज्येष्ठप्रदेशबन्धश्चतुर्विध-बन्धकस्य नवमगुणस्थानद्वितीयभागे भवति, संज्वलनत्रिकस्य तु ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्त्रिविधबन्धकस्य नवमगुणस्थानतृतीयभागे जायते । 'मायाअ' इत्यादि मायामार्गणायां 'दोण्हं' ति संज्वलन-मायालोभयोर्द्विविधबन्धको ज्येष्ठप्रदेशबन्धं करोति । तथात्रैव 'माणव्व सेसाणं' शेष संज्व-लनक्रोधमानयोर्ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्वामित्वं मानमार्गणावद्विज्ञेयमिति शब्दार्थः, भावना तु सुगमा । शेषं तु स्त्रीवेदमार्गणावद् यथासम्भवं बोद्धव्यम् ॥९०-९१॥

अथ मतिज्ञानादिमार्गणासूत्तरप्रकृतीनां ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्वामित्वं दर्शयन्नाह—

णाणतिगे ओहिम्मि य सम्मत्ते खाइए उवसमे य ।
सम्मादिट्ठीयाई असायकम्मस्स बोद्धव्वो ॥९२॥
होइ गुणतीसबंधी णिरयो देवो व पणणराईणं ।
तीससुराईण णरो तिरियो वा अत्थि अट्ठवीसविहो *॥९३॥ (गीतिः)
णवरि णरो खइए सिं तीसाएऽत्थि इयराण ओघव्व ॥

(प्रे०) 'णाणे' त्यादि, मतिज्ञानश्रुतज्ञानावधिज्ञानावधिदर्शनसम्यक्त्वौघक्षायिकसम्यक्त्वौपश-मिकसम्यक्त्वरूपासु सप्तसु मार्गणास्वसातवेदनीयस्य ज्येष्ठप्रदेशबन्धकाश्चतुर्थपञ्चमषष्ठगुणस्थानक-वर्तिनः सप्तविधमूलप्रकृतिबन्धका भवन्ति । मनुष्यद्विकौदारिकद्विकवज्रर्षभनाराचरूपाणां पञ्चानां ज्येष्ठप्रदेशबन्धो देवनारकाणामेकोनत्रिंशतं बध्नतां भवति, देवप्रायोग्याष्टाविंशतेर्बन्धकाणामेताः पञ्च प्रकृतयो न बध्यन्तेऽत एकोनत्रिंशतो बन्धकानां प्रस्तुतस्वामितया निर्देशः । देवद्विकादीनां

* अत्र 'अट्ठवीसविहो त्ति पदैकदेशे पदसमुदायस्योपचारादष्टाविंशतिविधबन्धकः, यद्वा "उपसर्गादातो डोऽश्वः" (सिद्धहेम ५-१-५६) इत्यनेन वि पूर्वकस्य धा धातोः कर्तरि डप्रत्यये विध.=कारकः, अष्टाविंशतेर्विधः अष्टाविंशतिविध'=अष्टाविंशतिप्रकृतीनां बन्धकारक इति भावः ।

त्रिंशत्प्रकृतीनां ज्येष्ठप्रदेशबन्धो देवप्रायोग्यामष्टाविंशतिं बध्नतां तिर्यग्मनुष्याणां भवति, तेषामुत्कृष्टयोगस्य प्राप्तेः । देवद्विकादयस्त्रिंशत्प्रकृतयस्त्विमाः– देवद्विकपञ्चेन्द्रियजातिवैक्रियद्विकतैजसकार्मणसमचतुरस्रसुखगतिवर्णचतुष्कागुरुलघुचतुष्कनिर्माणत्रसनवकास्थिराशुभायशःकीर्तिनामानि। 'णवरि' इत्यादिना, युगलधर्मिणामुत्कृष्टयोगस्थानं नास्तीत्यभिप्रायप्राधान्येन क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणायां त्रिंशत्प्रकृतीनां ज्येष्ठप्रदेशबन्धको मनुष्यो भवति,न तु तिर्यङ् ,तिर्यक्षु युगलधर्मितिरश्चामेव क्षायिकसम्यक्त्वस्य भावात् । अभिप्रायान्तरेण तु युगलधर्मिणामुत्कृष्टयोगस्थानं भवति । 'इयराण' इत्यादि, बन्धार्हशेषप्रकृतीनामुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्वामित्वमोघवद्विज्ञेयम् , तद्यथा-ज्ञानावरणपञ्चकान्तरायपञ्चकदर्शनावरणचतुष्कसातवेदनीयोच्चैर्गोत्रयशःकीर्तिनामरूपसप्तदशप्रकृतीनां सूक्ष्मसंपरायसंयतो ज्येष्ठप्रदेशबन्धं करोति । संज्वलनचतुष्कपुरुषवेदयोरनिवृत्तिबादरसंयतो ज्येष्ठप्रदेशबन्धं करोति । हास्यरतिभयजुगुप्सानां चतुर्थाद्यष्टमगुणस्थानवर्तिनो ज्येष्ठप्रदेशबन्धं कुर्वन्ति । अरतिशोकयोस्तु चतुर्थादिगुणस्थानत्रयवर्तिन उत्कृष्टप्रदेशबन्धं कुर्वन्ति । निद्राद्विकस्य चतुर्थाद्यष्टमगुणस्थानाद्यभागेषु वर्तमानो ज्येष्ठप्रदेशबन्धं करोति । प्रत्याख्यानावरणस्य देशविरता ज्येष्ठप्रदेशबन्धं कुर्वन्ति । अप्रत्याख्यानावरणस्याविरतसम्यग्दृष्टिरुत्कृष्टप्रदेशबन्धं करोति । तीर्थकृन्नाम्नो ज्येष्ठप्रदेशबन्धमेकोनत्रिंशत्प्रकृत्यात्मकबन्धस्थानं बध्नन् मनुष्यः करोति । आहारकद्विकस्य ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्त्रिंशतं बध्नतोऽप्रमत्तस्यापूर्वकरणषष्ठभागं यावद्वर्तमानस्य च संयतस्य भवति । भावना तु सर्वत्रौघानुसारेण विभावनीया ॥९२-९३॥

अथ मनःपर्यवज्ञानसंयममार्गणयोः सामायिकच्छेदोपस्थापनसंयममार्गणयोश्च दर्शयन्नाह–

मणणाणसंजमेसुं भवे पमत्तो असायस्स ॥९४॥
सेसाणोहिव्व भवे, समइअछेएसु संजमव्व परं ।
बारससायाईणं अण्णयरो थिव्व पणजसाईणं ॥९५॥(गीतिः)

(प्रे०) 'मणे' त्यादि, मनःपर्यवज्ञानसंयमौघमार्गणयोः, असातवेदनीयस्योत्कृष्टप्रदेशबन्धस्वामी प्रमत्तसंयतो भवति । शेषं त्ववधिज्ञानमार्गणावद् विज्ञेयम् , सामान्यत एवमतिदिष्टेऽपि प्रस्तुतमार्गणाद्वये चतुर्थपञ्चमगुणस्थानयोरभावात्प्रमत्तसंयतादयः स्वामित्वेन बोद्धव्याः, अत एव शोकारत्योः प्रमत्तसंयता एव स्वामिनो विज्ञेयाः, शेषं तु तत एवावधार्यम् । 'समइअ' इत्यादि, सामायिकच्छेदोपस्थापनीयसंयमयोः सर्वासां ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्वामित्वं संयमौघमार्गणावद् विज्ञातव्यम्, प्रमत्तसंयतादिगुणस्थानानामुभयत्र भावात् । यद्यपि संयममार्गणायां सूक्ष्मसंपरायगुणस्थानकस्य भावाद् ज्ञानावरणादीनां सप्तदशानां ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्वामित्वं तस्मिन् वर्तमानस्य संघटते तथापि प्रस्तुतमार्गणयोर्दशमगुणस्थानकस्याऽप्राप्यमाणत्वेन ज्ञानावरणादीनां ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्वामित्वं

संयममार्गणावत् सूक्ष्मसंपरायस्थस्य न संघटतेऽतोऽपवादं दर्शयन्नाह-'पर' मित्यादिना, ज्ञानावरणपञ्चकमन्तरायपञ्चकं सातवेदनीयमुच्चैर्गोत्रञ्चेति द्वादशप्रकृतीनां प्रमत्तसंयतादयोऽनिवृत्तिबादरसंपरायपर्यवसाना ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्वामिनो बोध्याः, निद्राद्विकबन्धविच्छेदादूर्ध्वं मार्गणाचरमसमयं यावद्वर्तमाना दर्शनावरणचतुष्कस्य ज्येष्ठप्रदेशबन्धार्हा भवन्ति । यशःकीर्तिनाम्नोऽपूर्वकरणसप्तमभागादारभ्य मार्गणाचरमसमयं यावद्वर्तमानो ज्येष्ठप्रदेशबन्धं कर्तुमर्हति । अयम्भावः- प्रस्तुते सप्तविधमूलप्रकृतीनां बन्धेऽपि बध्यमानस्वोत्तरप्रकृतीनां न्यूनतमत्वे एव ज्येष्ठप्रदेशबन्धः प्राप्यते, तथाचोत्तरप्रकृतीनामल्पता सर्वत्रेष्टेति कृत्वा निद्राद्विकस्य बन्धविच्छेदादूर्ध्वं दर्शनावरणचतुष्कस्य, एवमष्टमगुणस्थानकषष्ठभागादूर्ध्वं यशःकीर्तिनाम्नो ज्येष्ठप्रदेशबन्धो लभ्यत इति ।।९४-९५।।

अथाऽज्ञानादिमार्गणासु ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्वामित्वं निगदति--

तीसु अण्णाणेसु अभवियमिच्छेसु बंधगो सण्णी ।
अडवीसबंधगो खलु तेरसणिरयाइगाण भवे ।।९६।।
तेवीसबंधिसण्णिदुगइओ तिरियाइपंचवीसाए
पणवीसबंधिसण्णी दुगइट्ठो णवणराईणं ।।९७।।
गुणतीसबंधिसण्णी णववइराईण होइ तिगइट्ठो ।
पणवीसबंधिसण्णी परघायाईण छण्ह भवे ।।९८।।
आयवदुगस्स सण्णी छवीसबंधी हवेज्ज तिगइट्ठो ।
सण्णी अवसेसाणं पयडीणेगूणवण्णाए ।।९९।।

(प्रे०) 'तीसु'मित्यादि, मत्यज्ञान-श्रुताज्ञान-विभङ्गज्ञाना-ऽभव्य-मिथ्यात्वरूपासु पञ्चमार्गणासु सर्वप्रकृतीनां संज्ञी मिथ्यादृष्टिरुत्कृष्टयोगी मूलसप्तविधबन्धक उत्कृष्टप्रदेशबन्धं करोति । तत्र नरकद्विककुखगतिदुःस्वरदेवद्विकवैक्रियद्विकसमचतुरस्रसुखगतिसुभगत्रिकरूपाणां त्रयोदशप्रकृतीनां ज्येष्ठप्रदेशबन्धो नाम्नोऽष्टाविंशतिं बध्नतो भवति, त्रयोविंशत्यादिबन्धे आसां बन्धाभावात् । तिर्यग्द्विकादीनां पञ्चविंशतेस्त्रयोविंशतिं बध्नद्भिस्तिर्यग्मनुष्यैर्ज्येष्ठप्रदेशबन्धः क्रियते । मनुष्यद्विकद्वीन्द्रियादिजातिचतुष्कौदारिकाङ्गोपाङ्गसेवार्तत्रसयामरूपाणां नवानां तिर्यग्मनुष्यैः पञ्चविंशतिं बध्नद्भिरेव ज्येष्ठप्रदेशबन्धः क्रियते । प्रथमादिसंहननपञ्चकद्वितीयादिसंस्थानचतुष्करूपाणां नवप्रकृतीनां ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्य स्वामिनो नाम्न एकोनत्रिंशतं बध्नन्तो विज्ञेयाः, अतो न्यूनप्रकृत्यात्मकबन्धस्थान बध्नता एता न बध्यन्त इति । पराघातोच्छ्वासपर्याप्तस्थिरशुभयशःकीर्तिनाम्नां षण्णां ज्येष्ठप्रदेशं तिर्यग्मनुष्यदेवाः पञ्चविंशतिं बध्नन्तः कुर्वन्ति, पञ्चविंशत्यन्तर्गततयाऽऽसां

बध्यमानत्वात् । आतपोद्योतयोस्तु ज्येष्ठप्रदेशबन्धं षड्विंशतिं बध्नन्तस्तिर्यग्मनुष्यदेवा रचयन्ति । नामकर्मण उक्तत्वात् शेषपट्कर्मसत्कोत्तरप्रकृतीनां ज्येष्ठप्रदेशबन्धं चातुर्गतिका संज्ञिमिथ्यादृष्टय-स्तत्तत्प्रकृतीनां बन्धं कुर्वाणा सप्तविधबन्धका ज्येष्ठयोगस्थानगताश्च विदधति, शेषकर्मणामेकैकस्यैव बन्धस्थानस्य भावात् । शेषा एकोनपञ्चाशत्प्रकृतयस्त्विमाः—ज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरणनवकमोह-नीयषड्विंशतिवेदनीयद्विकगोत्रद्विकान्तरायपञ्चकानीति ।।९६-९९।।

अथ परिहारविशुद्धिमार्गणायां सूक्ष्मसम्परायमार्गणायाञ्च ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्वामित्वं दर्शयन्नाह-

परिहारे बंधंतो तीसं आहारजुगलपयडीणं ।
जिणणामकम्मणो खलु बंधंतो होइ गुणतीसं ।।१००।।
अडवीसं बंधंतो हवए सेसाण णामपयडीणं ।
सेसाणं अण्णयरो सुहमे सव्वाण अण्णयरो ।।१०१।।

(प्रे०) 'परिहारे' इत्यादि, परिहारविशुद्धिकमार्गणायामाहारकद्विकस्य ज्येष्ठप्रदेशबन्ध-स्त्रिंशतं बध्नतो भवति, भावना त्वोघवत्कर्तव्या । जिननामकर्मणो ज्येष्ठप्रदेशबन्धमेकोनत्रिंशतं बध्नन् विदधाति, अत्रापि भावनौघतुल्या । शेषदेवप्रायोग्यैकत्रिंशत्प्रकृतीनां ज्येष्ठप्रदेशबन्धो नाम्नोऽष्टाविंशतिं बध्नतो भवति । अष्टाविंशत्यामेतासां बध्यमानत्वात्, अष्टाविंशतिप्रकृत्यात्मक-बन्धस्थानापेक्षया न्यूनप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानानामत्राबध्यमानत्वाच्च । शेषा नामप्रकृतयस्त्विमाः—देवद्विक पञ्चेन्द्रियजाति वैक्रियद्विक तैजसकार्मण-समचतुरस्रसुखगतिवर्णचतुष्कागुरुलघुचतुष्कनिर्माण-त्रसदशकास्थिराशुभायशःकीर्तिनामानीति। 'सेसाण' मित्यादि,नामकर्मवर्जानां शेषाणां मतिज्ञाना-वरणादीनां त्रिंशतो ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्य प्रमत्ताप्रमत्तयोरन्यतरः स्वामी भवति । केवलमसातवेदनीया-रतिशोकानां प्रमत्तसंयत एवेति । ज्ञानावरणादीनामेकैकस्यैव बन्धस्थानस्य भावात् । त्रिंशत्प्रकृतय-स्त्विमाः—ज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरणपट्कसंज्वलनचतुष्कयुगलद्वयभयजुगुप्सापुरुषवेदवेदनीयद्विकोच्चै-र्गोत्रान्तरायपञ्चकानीति । सप्तविधबन्धक उत्कृष्टयोगी चात्र सर्वत्र वक्तव्यः । सूक्ष्मसम्परायसंयतमार्ग-णायां बध्यमानसप्तदशप्रकृतीनां दशमगुणस्थानवर्ती षड्विधबन्धक उत्कृष्टयोगगत उत्कृष्टप्रदेश-बन्धस्वामी भवति । अत्र शेषप्रकृतीनां बन्धाभावान्न तासां प्ररूपणाया अवसर इति ।।१००-१०१।।

अथ देशविरतिमार्गणायां ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्वामित्वं दर्शयन्नाह—

अडवीसं बंधंतो देसे जिणवज्जणामपयडीणं ।
गुणतीसं बंधंतो जिणस्स सेसाण अण्णयरो ।।१०२।।

(प्रे०) 'अडवीस' मित्यादि, देशविरतिमार्गणायां देवप्रायोग्याणां जिननामवर्जानामेक-त्रिंशतः प्रकृतीनां ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्य स्वाम्यष्टाविंशतेर्बन्धको देशविरतो भवति, अत्र देशविरत-

मार्गणायां नाम्नो द्वे बन्धस्थाने अष्टाविंशतिप्रकृत्यात्मकमेकोनत्रिंशत्प्रकृत्यात्मकञ्च। तत आसामेक-त्रिंशत्प्रकृतीनामष्टाविंशतिं बध्नत एव ज्येष्टप्रदेशबन्धो भवति । जिननाम्नस्त्वेकोनत्रिंशतं बध्नन् ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्य स्वामी भवति । शेषज्ञानावरणादीनां षट्कर्मसत्कोत्तरप्रकृतीनां ज्येष्ठप्रदेश-बन्धं मार्गणावर्त्यन्यतम उत्कृष्टयोगी सप्तविधबन्धकः करोति,शेषाः प्रकृतयस्तु चतुस्त्रिंशत्॥१०२॥

अथासंयममार्गणायां त्र्यशुभलेश्यामार्गणासु च ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्वामित्वं निरूपयन्नाह—

अजयासुहलेसासुं तेर-असायाइगाण पयडीणं ।
सुणी मिच्छादिट्ठी सम्मादिट्ठी व बोद्धव्वो ॥१०३॥
सण्णी मिच्छादिट्ठी णेयो एगार मिच्छआईणं ।
सम्मो पणवीसाए पयडीणं दरिसणाईणं ॥१०४॥
छण्हं परघाईणं मिच्छो पणवीसबंधितिगइट्ठो ।
ओघव्व जाणियव्वो सप्पाउग्गाण सेसाणं ॥१०५॥

(प्रे०) 'अजय' इत्यादि, असंयममार्गणायां कृष्ण-नील-कापोतरूपाशुभलेश्यामार्गणासु चासातसातवेदनीयज्ञानावरणपञ्चकान्तरायपञ्चकोच्चैर्गोत्ररूपाणां त्रयोदशप्रकृतीनां ज्येष्ठप्रदेश-बन्धस्य स्वामी सम्यग्दृष्टिर्मिथ्यादृष्टिर्वा भवति, उभयोरपि मूलसप्तविधबन्धकाले उत्कृष्टयोगे सत्यासामुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्य प्राप्तेः । मिथ्यात्वानन्तानुबन्धिकषायचतुष्कस्त्यानर्द्धित्रिकस्त्रीवेद-नपुंसकवेदनीचैर्गोत्ररूपाणामेकादशप्रकृतीनां मिथ्यादृष्टय एव ज्येष्ठप्रदेशबन्धं कुर्वन्ति, भावना त्वोघवद् विधेया । दर्शनावरणचतुष्कनिद्राद्विकाद्यवर्जद्वादशकषायहास्यषट्कपुरुषवेदरूपाणां पञ्च-विंशतेः प्रकृतीनां ज्येष्ठप्रदेशबन्धकः सम्यग्दृष्टिर्भवति, प्रस्तुतमार्गणासूत्कृष्टपदे चतुर्थगुणस्थानस्यैव भावेनासां पञ्चविंशतेरविरतसम्यग्दृष्टिरेव ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्वामित्वेन विज्ञेयः । पराघातोच्छ्वासपर्याप्त-स्थिरशुभयशःकीर्तिनामरूपाणां षण्णां प्रकृतीनां ज्येष्ठप्रदेशबन्धकः पञ्चविंशतिं बध्नँस्तिर्यङ् मनुष्यो देवो वा भवति । 'ओघव्वे' त्यादि, शेषप्रकृतीनां ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्वामिन ओघवद् विज्ञेयाः-चतुर्थगुणस्थानं यावत्स्थितानामोघोक्तस्वामिनामिहापि प्रवेशात्।तद्यथा-तिर्यग्द्विकादीनां पञ्चविंशते-स्त्रयोविंशतिं बध्नन् मनुष्यद्विकादीनां नवानां पञ्चविंशतिं बध्नँस्तिर्यङ् मनुष्यो वा मिथ्यादृष्टिः स्वामी भवति । नरकद्विकादीनां चतुर्णां मिथ्यादृष्टिरष्टाविंशतिं बध्नन् , वज्रर्षभनाराचस्य चातुर्ग-तिको मिथ्यादृष्टिर्देवो नारको वा सम्यग्दृष्टिरप्येकोनत्रिंशतं बध्नन् , मध्यमसंहननचतुष्कमध्यम-संस्थानचतुष्करूपाणामष्टानां प्रकृतीनां चातुर्गतिको मिथ्यादृष्टिरेकोनत्रिंशतं बध्नन् ज्येष्ठप्रदेश-बन्धस्य स्वामी भवति। जिननाम्नस्तु मनुष्यो देवप्रायोग्यमेकोनत्रिंशत्स्थानं बध्नन् ज्येष्ठप्रदेशबन्धको

भवति। आतपोद्योतयोस्तु गुरुप्रदेशबन्धं पड्विंशतिं बध्नँस्तिर्यङ् मनुष्यो देवो वा करोति। अत्र भावना तु सर्वत्रौघानुसारेण विज्ञेया। महाबन्धकारमतेन देवानामपर्याप्तावस्थायामेवाशुभलेश्यात्रयस्य भावेन तदानीमुत्कृष्टयोगस्यासम्भवेन तत्प्रत्ययस्योत्कृष्टप्रदेशबन्धस्याप्यसंभवात् यासां प्रकृतीनां देवानामुत्कृष्टप्रदेशबन्धः कथितस्तासामुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्वामित्वेन तन्मते देवा निषेधनीयाः, देववर्जा गतिद्वयवर्तिनो गतित्रयवर्तिनो वा वक्तव्या इति ॥१०३-१०४॥

संप्रति तेजोलेश्यामार्गणायां प्रस्तुतस्वामित्वं दर्शयन्नाह—

तेऊए विण्णेयो तेरअसायाइगाण पयडीणं।
मिच्छो सम्मत्ती वा णवमिच्छाईण मिच्छत्ती ॥१०६॥
तेरदरिसणाईणं सम्मादिट्ठी असंजमो सम्मो।
दुइअकसायाण भवे तइअकसायाण देसजई ॥१०७॥
संजलणाण चउण्हं पमत्तअपमत्तसंजमी णेयो।
मिच्छादिट्ठी देवो णपुंसणीआण बोद्धव्वो ॥१०८॥
पणवीसबंधिमिच्छो देवो तिरियाइअट्ठवीसाए।
गुणतीसबंधि देवो मिच्छो सम्मो व चउणराईणं ॥१०९॥(गीतिः)
एगारसुराईणं मिच्छो सम्मो व अट्ठवीस परो।
होइ दुगइओ आयवदुगस्स मिच्छो छवीसबंधिसुरो॥११०॥(गीतिः)
तित्थाहारदुगाणं ओघव्वेगारसेसणामाणं।
गुणतीसबंधिदेवो मिच्छादिट्ठी मुणेयव्वो ॥१११॥

(प्रे०) 'तेउए' इत्यादि, तेजोलेश्यामार्गणा तिर्यग्मनुष्यदेवानां भवति तत्र मनुजा तिरश्चां शुभलेश्यायां देवप्रायोग्यप्रकृतीनां बन्धो भवति, देवानां त्वेकेन्द्रियादिप्रायोग्यबन्धो भवति तदनुसारेण स्वामित्वं विज्ञातव्यम्। तद्यथा असातादित्रयोदशप्रकृतीनां गतित्रये वर्तमानः सम्यग्दृष्टिर्मिथ्यादृष्टिश्च ज्येष्ठप्रदेशबन्धको भवति, एताश्च तास्त्रयोदशप्रकृतयः ज्ञानावरणपञ्चका-न्तरायपञ्चकसातासातवेदनीयोच्चैर्गोत्राणि। मिथ्यात्वानन्तानुबन्धिकषायचतुष्कस्त्यानर्द्धित्रिकस्त्रीवेदरूपाणां नवानां ज्येष्ठप्रदेशबन्धको गतित्रये वर्तमानो मिथ्यादृष्टिर्भवति। दर्शनावरणचतुष्कनिद्राद्विकहास्यषट्कपुरुषवेदरूपाणां त्रयोदशप्रकृतीनां गतित्रये वर्तमाना अविरतसम्यग्दृष्टयः, तिर्यग्मनुष्याश्च देशविरतयः, प्रमत्तसंयतमनुष्यास्तथाऽरतिशोकवर्जानामेकादशानामप्रमत्तसंयताश्च ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्वामिनो

भवन्ति । मिथ्यादृष्टीनां स्त्यानर्द्धित्रिकादीनां बन्धसद्भावाद् न ज्येष्ठप्रदेशबन्धसम्भवः । अप्रत्याख्यानावरणचतुष्कस्य गतित्रये वर्तमानाश्चतुर्थगुणस्थानवर्तिनो ज्येष्ठप्रदेशबन्ध कुर्वन्ति । प्रत्याख्यानावरणचतुष्कस्य देशविरता ज्येष्ठप्रदेशबन्धं कुर्वन्ति । संज्वलनचतुष्कस्य प्रमत्ताप्रमत्तसंयता ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्वामिनो विज्ञेयाः, अपूर्वकरणादीनामत्र प्रवेशाभावात् । नपुंसकवेदनीचैर्गोत्रयोर्ज्येष्ठप्रदेशबन्धं मिथ्यादृष्टयो देवाः कुर्वन्ति, तिर्यग्मनुष्याणां प्रस्तुतमार्गणासु तद्बन्धाभावात् । तिर्यग्द्विकादीनामष्टाविंशतेर्ज्येष्ठप्रदेशबन्धकः पञ्चविंशतिं बध्नन् मिथ्यादृष्टिर्देवो विज्ञेयः । प्रस्तुतमार्गणायां त्रयोविंशतिप्रकृतिबन्धस्थानस्याभावात् पञ्चविंशतिबन्धस्थानस्य मिथ्यादृष्टिदेवस्यैव भावाच्च स एव स्वामितया निर्दिष्टः । अष्टाविंशतिप्रकृतयः पुनरिमाः—तिर्यग्द्विकैकेन्द्रियजात्यौदारिकशरीरतैजसकार्मणहुण्डसंस्थानवर्णचतुष्कागुरुलघुचतुष्कनिर्माणबादरत्रिकस्थावरस्थिरशुभयशःकीर्त्यस्थिराशुभदुर्भगानादेयायशःकीर्तिनामानि । मनुष्यद्विकौदारिकाङ्गोपाङ्गवज्रर्षभनाराचसंहननरूपाणां चतसृणां गुरुप्रदेशबन्धको मिथ्यादृष्टिः सम्यग्दृष्टिर्वा देव एकोनत्रिंशतं बध्नन् भवति, सम्यग्दृष्टिमिथ्यादृष्टयोरुभयोरपि चतसृणां प्रस्तुतप्रकृतीनां बन्धस्यैकोनत्रिंशद्बन्धस्थानस्योत्कृष्टयोगस्य च भावात् । मनुष्यतिरश्चां प्रस्तुतमार्गणायामेतत्प्रकृतीनां बन्धाभावान्न तेषां स्वामित्वम् । सुरद्विकपञ्चेन्द्रियजातिवैक्रियद्विकसमचतुरस्रसुखगतित्रससुभगत्रिकरूपाणामेकादशानां प्रकृतीनां ज्येष्ठप्रदेशबन्धकस्तिर्यङ् मनुष्यो वा सम्यग्दृष्टिर्मिथ्यादृष्टिर्वाऽष्टाविंशतिं बध्नन् विज्ञेयः, आसां प्रकृतीनां बन्धार्हस्थानेष्वष्टाविंशतिप्रकृत्यात्मकस्यैव बन्धस्थानस्य जघन्यत्वात् । आतपोद्योतयोस्तु षड्विंशतिं बध्नन् मिथ्यादृष्टिर्देवो ज्येष्ठप्रदेशबन्धं करोति । भावना तु सुगमा । जिननाम्न एकोनत्रिंशतं बध्नन् मनुष्य आहारकद्विकस्य त्रिंशतं बध्नन् संयतश्च ज्येष्ठप्रदेशबन्ध विदधाति । भावना स्वोपज्ञवत्कर्तव्या । शेषाणां प्रकृतीनां ज्येष्ठप्रदेशबन्धको मिथ्यादृष्टिरेकोनत्रिंशतं बध्नन् देवो भवति, न पुनस्तदन्यः, तिर्यग्मनुष्याणां बन्धाभावाद्, देवानामपि मिथ्यादृशां पञ्चविंशत्यां षड्विंशत्यां च बन्धाभावात् ,सम्यग्दृष्टिदेवानां सर्वथा बन्धाभावाच्च । शेषप्रकृतयस्त्विमाः—द्वितीयादिसंहननपञ्चकद्वितीयादिसंस्थानचतुष्काशुभविहायोगतिदुःस्वरनामलक्षणा एकादशेति ॥१०६-१११॥

अथ पद्मलेश्यामार्गणायां ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्वामित्वं निरूपयन्नाह—

पउमाए होइ सुरो मिच्छत्ती थीणपुंसणीआणं ।
सोलसतिरियाईणं मिच्छो गुणतीसबंधिसुरो ॥११२॥
गुणतीसबंधिदेवो सम्मो मिच्छो व पणणराईणं ।
मिच्छसुरो बंधंतो तीसं उज्जोअणामस्स ॥११३॥

इगतीससुराईणं मिच्छो सम्मो व दुगइओ हवए ।
अडवीसबंधगो खलु तेउव्व हवेज्ज सेसाणं ॥११४॥

(प्रे०) "पउमाए" इत्यादि, पद्मलेश्यामार्गणायां मनुजतिरश्चां सनत्कुमारादिदेवप्रायोग्यस्य बन्धो भवति, देवाः पुनः पञ्चेन्द्रियतिर्यग्मनुष्यप्रायोग्यं बध्नन्ति, अतः स्त्रीवेदनपुंसकवेदनीचैर्गोत्राणां ज्येष्ठप्रदेशबन्धकतया मिथ्यादृष्टिर्देव एव भवति, मनुष्यतिरश्चामासां बन्धाभावात् । तिर्यग्द्विकादीनां षोडशानां ज्येष्ठप्रदेशबन्धं एकोनत्रिंशतं बध्नतः सुरस्य मिथ्यादृष्टेर्भवति । प्रस्तुतमार्गणागतानां मनुजतिरश्चां सम्यग्दृष्टिदेवानां च बन्धाभावात् । पद्मलेश्याकदेवानां द्वे बन्धस्थाने एकोनत्रिंशत्प्रकृत्यात्मकं त्रिंशत्प्रकृतिरूपञ्च, अत्र एकोनत्रिंशतं बध्नत एव ज्येष्ठप्रदेशबन्धो भवति । तिर्यग्द्विकादयः षोडश नामप्रकृतयस्त्विमाः—तिर्यग्द्विक द्वितीयादिपञ्चसंहननानि द्वितीयादिसंस्थानपञ्चकं कुखगतिदुर्भगत्रिकञ्चेति । मनुष्यद्विकौदारिकद्विकवज्रर्षभनाराचसंहननरूपाणां पञ्चानां सम्यग्दृष्टिर्मिथ्यादृष्टिर्वैकोनत्रिंशतं बध्नन् देवो ज्येष्ठप्रदेशबन्धं करोति । उद्योतनाम्नस्तु मिथ्यादृष्टिदेवस्त्रिंशतं बध्नन् ज्येष्ठप्रदेशबन्ध करोति । देवद्विकादीनामेकत्रिंशत्प्रकृतीना ज्येष्ठप्रदेशबन्धकस्तिर्यङ् मनुष्यो वाऽष्टाविंशति बध्नन् सम्यग्दृष्टिर्मिथ्यादृष्टिर्वा भवति । प्रस्तुतमार्गणायामष्टाविंशतेरेव जघन्यबन्धस्थानरूपत्वात्, तस्य च तिर्यग्मनुष्याणामेव भावात् । इमाश्च ता एकत्रिंशत देवप्रायोग्या अष्टाविंशतिरस्थिराशुभायशःकीर्तिनामानि चेति । शेषप्रकृतीनां ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्वामित्वं तेजोलेश्यामार्गणावद् विज्ञेयं, भावना तु तेजोलेश्यामार्गणावद्विधेया । शेषप्रकृतयस्त्विमाः-ज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरणनवकवेदनीयद्वयषोडशकषायहास्यषट्कपुरुषवेदमिथ्यात्वोच्चैर्गोत्रान्तरायपञ्चकाहारकद्विकजिननामलक्षणा एकोनपञ्चाशदिति ॥११२-११४॥

अथ शुक्ललेश्यामार्गणायां ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्वामित्वं प्रदर्शयन्नाह—

सुक्काए णेयो थीणपुंसणीअजसवज्जनामाणं ।
पउमव्वोघव्व भवे सप्पाऊग्गाण सेसाणं ॥११५॥

(प्रे०) "सुक्काए" त्यादि, शुक्ललेश्यामार्गणायां यशःकीर्तिवर्जानां बन्धप्रायोग्याणां नामकर्मणां स्त्रीवेदनपुंसकवेदनीचैर्गोत्राणां चोत्कृष्टप्रदेशबन्धस्वामित्वं पद्मलेश्यामार्गणावद्विज्ञेयमुभयत्र त्रयोविंशत्यादिप्रकृतिबन्धस्थानानामभवात् स्त्रीवेदादीनां देवानामेवोभयत्रोत्कृष्टप्रदेशबन्धस्यस्वामित्वाच्च । शेषबन्धप्रायोग्यप्रकृतीनां ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्वामित्वमोघवद्विज्ञेयम्, ओघवत् प्रथमादिदशमगुणस्थानपर्यन्तवर्तिनामत्रापि लाभात् । एतदेव सुखाववोधाय दर्श्यते, तद्यथा—ज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरणचतुष्कान्तरायपञ्चकसातवेदनीययशःकीर्त्युच्चैर्गोत्ररूपाणां सप्तदशप्रकृतीनां ज्येष्ठप्रदेश-

बन्धः सूक्ष्मसंपरायसंयतस्य भवति । संज्वलनचतुष्कपुरुषवेदरूपाणां पञ्चानां नवमगुणस्थानगतो ज्येष्ठप्रदेशबन्धं करोति । हास्यषट्कस्य निद्राद्विकस्य चाऽविरतसम्यग्दृष्ट्यादयः स्वबन्धविच्छेदं यावद् ज्येष्ठप्रदेशबन्धार्हा भवन्ति । प्रत्याख्यानावरणस्य देशविरता ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्वामिनो भवन्ति । अप्रत्याख्यानावरणस्याऽविरतसम्यग्दृष्टयो ज्येष्ठप्रदेशबन्धका भवन्ति । मिथ्यात्वानन्तानुबन्धिकषायचतुष्कस्त्यानद्धित्रिकरूपाणामष्टप्रकृतीनां मिथ्यादृष्टयो ज्येष्ठप्रदेशबन्धं कुर्वन्ति । स्त्रीवेदनपुंसकवेदयोर्नीचैर्गोत्रस्य च मिथ्यादृष्टयो देवा ज्येष्ठप्रदेशबन्धं कुर्वन्ति । देवद्विकपञ्चेन्द्रियजातिवैक्रियद्विकतैजसकार्मणसमचतुरस्रसुखगतिवर्णचतुष्कागुरुलघुचतुष्कनिर्माणयशःकीर्तिनामवर्जत्रसनवकास्थिराशुभायशःकीर्तिरूपाणां त्रिंशत्प्रकृतीनां ज्येष्ठप्रदेशबन्ध देवप्रायोग्याष्टाविंशतिं बध्नँस्तिर्यङ् मनुष्यो वा करोति । जिननाम्न एकोनत्रिंशतं बध्नन् मनुष्यो ज्येष्ठप्रदेशबन्धं करोति । आहारकद्विकस्य त्रिशतं बध्नन् संयतो गुरुप्रदेशबन्धं निर्वर्तयति । मनुष्यद्विकौदारिकद्विकवज्रर्षभनाराचरूपाणां पञ्चप्रकृतीनां ज्येष्ठप्रदेशबन्धक एकोनत्रिंशतं बध्नन् मिथ्यादृष्टिः सम्यग्दृष्टिर्वा देवो भवति । द्वितीयादिसंहननपञ्चक-द्वितीयादिसंस्थानपञ्चक-कुखगतिदुर्भगत्रिकरूपाणां चतुर्दशप्रकृतीनां ज्येष्ठप्रदेशबन्धमेकोनत्रिंशतं बध्नन् मिथ्यादृष्टिर्देवः करोति । भावना त्वोघवत् पद्मलेश्यावत्त्व यथासम्भवं कार्या ॥११५॥

अथ क्षयोपशमसम्यक्त्वमार्गणायां ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्वामित्वं प्ररूपयन्नाह—

तेउव्व वेअगम्मि कसायाणोहिव्व णामपयडीणं ।
णवरं थिरव्व णेयो जसस्स सेसाण अण्णयरो ॥११६॥

(प्रे०) 'तेउव्व' इत्यादि, वेदकसम्यक्त्वमार्गणाऽविरतसम्यग्दृष्ट्यादीनामप्रमत्तसंयतपर्यन्तामेव भवत्यतोऽत्र बध्यमानद्वादशकषायाणां तेजोलेश्यावदिति स्वामित्वातिदेशः, तद्यथा-अप्रत्याख्यानावरणचतुष्कस्य चतुर्थगुणस्थानवर्तिनश्चातुर्गतिका ज्येष्ठप्रदेशबन्धं कुर्वन्ति,प्रत्याख्यानावरणचतुष्कस्य देशविरता ज्येष्ठप्रदेशबन्धार्हा भवन्ति, सज्वलनचतुष्कस्य प्रमत्ताप्रमत्तसंयता गुरुप्रदेशबन्धका विज्ञेयाः । नामकर्मप्रकृतीनां यशःकीर्तिनामवर्जानां ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्वामित्वमवधिज्ञानमार्गणावद्भवति । अवधिज्ञानवदत्रापि चतुर्थादीनां चतुर्णां गुणस्थानानां भावात् । अथ तत्र सूक्ष्मसम्परायगुणस्थाने सम्भवतो यशःकीर्तिनामज्येष्ठप्रदेशबन्धस्यात्रासम्भवात् पृथगतिदिशति—"थिर"त्यादि, यथा प्रस्तुते स्थिरनाम्नो ज्येष्ठप्रदेशबन्धकोऽष्टाविंशतिं बध्नँस्तिर्यङ् मनुष्यो वा भवति तथा यशःकीर्तिनाम्नोऽपि स वक्तव्योऽष्टाविंशतेरेवाल्पतरप्रकृतिबन्धस्थानात्मकत्वात् । एतदतिदेशानुसारेण नामकर्मणः स्वामिन एवं वाच्याः, तद्यथा देवद्विकपञ्चेन्द्रियजातिवैक्रियद्विकतैजसकार्मणसमचतुरस्रसुखगतिवर्णचतुष्कागुरुलघुचतुष्कनिर्माणत्रसदशकास्थिराशुभायशःकीर्तिनामलक्षणानामेकत्रिंशत्प्रकृतीनां तिर्यग्म-

नुष्याः सम्यग्दृष्टयो नाम्नोऽष्टाविंशतिं बध्नतोज्येष्ठप्रदेशबन्धं कुर्वन्ति । अत्र यथोक्तैकत्रिंशत्प्रकृतिभ्यो वैक्रियद्विक तैजस-कार्मणशरीरा-ऽस्थिरा-ऽशुभा-ऽयशःकीर्तिनामानि विवर्ज्य शेषचतुर्विंशतेर्ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्वामी आहारकद्विकयुक्तत्रिंशत्प्रकृतिस्थानं बध्नन्नपि भवति, न केवलो मूलोक्तोऽतिदेशोलब्धः, कथमयमपि ? इति चेद् ,अस्य आहारकद्विकलक्षणप्रकृतिद्वयबन्धस्यापि भावेन मूलोक्तस्वाम्यपेक्षयाऽधिकप्रकृत्यात्मकबन्धस्थाननिर्वर्तकत्वेऽपि अधिकतया बध्यमानप्रकृतिद्वये शरीराङ्गोपाङ्गलक्षणनामपिण्डप्रकृतिसत्कदलिकभागमध्यादेव दलिकानां लाभाद् देवद्विकादिचतुर्विंशतिप्रकृतितया तु पूर्वतोऽन्यूनदलिकानामेव बन्धभावादिति । इत्थमेवौघे तत्र तत्र मार्गणान्तरेषु च मूलेऽनुक्तेऽप्ययं त्रिंशतं बध्नन् देवद्विकादेरुत्कृष्टस्वामितया विज्ञेयो व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिरितिन्यायेनेति ।

मनुष्यद्विकौदारिकद्विकवज्रर्षभनाराचसंहननरूपाणां पञ्चानां नाम्नामेकोनत्रिंशतं बध्नन्तः सम्यग्दृष्टयो देवा नारकाश्च गुरुप्रदेशबन्धार्हा भवन्ति । जिननाम्न एकोनत्रिंशतं बध्नन् मनुष्योऽविरतसम्यग्दृष्ट्यादिर्ज्येष्ठप्रदेशबन्धको भवति । आहारकद्विकस्य त्रिंशतं बध्नन्नप्रमत्तसंयतो ज्येष्ठप्रदेशबन्ध करोति । शेषप्रकृतीनां चतुर्थादिसप्तमान्तगुणस्थानेष्वन्यतमगुणस्थानवर्तिनो ज्येष्ठप्रदेशबन्धका भवन्ति । शेषप्रकृतयस्त्विमाः-ज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरणषट्कवेदनीयद्वयहास्यषट्कपुरुषवेदोच्चैर्गोत्रान्तरायपञ्चकरूपाः षड्विंशतिरिति ॥११६॥

अथ सम्यग्मिथ्यात्वमार्गणायां ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्य स्वामित्वं प्रतिपादयन्नाह—

मीसे गुणतीसविहो पंचणराईण अट्ठवीसपरो ।
इगतीससुराईणं सेसाणं होइ अण्णयरो ॥११७॥

(प्रे०) "मीसे" इत्यादि, मिश्रसम्यक्त्वमार्गणायां मनुष्यद्विकादीनां पञ्चानां देवो नारको वैकोनत्रिंशतं बध्नन् ज्येष्ठप्रदेशबन्धको भवति, सुरद्विकादीनामेकत्रिंशत्प्रकृतीनां तिर्यङ् मनुष्यो वाऽष्टाविंशतिं बध्नन्नुत्कृष्टप्रदेशबन्धार्हो भवति,भावना तु क्षयोपशमसम्यक्त्ववत् कार्या । नामवर्जानां शेषषट्सप्तत्युत्तरप्रकृतीनां ज्येष्ठप्रदेशबन्धकोऽन्यतमश्चातुर्गतिक उत्कृष्टयोगी भवति, गुणस्थानान्तरासम्भवेन बन्धस्थानान्तराभावात् ॥११७॥

अथ सास्वादनसम्यक्त्वमार्गणायां ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्वामिनं दर्शयन्नाह—

इगतीससुराईणं सासाणे अट्ठवीसबंधत्थो ।
दुगइट्ठो बंधंतो तीसं उज्जोअणामस्स ॥११८॥
एगूणतीसबंधी णेयो सेसाण णामपयडीणं ।
अण्णयरो बोद्धव्वो सेसाणं सत्तचत्ताए ॥११९॥

(प्रे०) "इगतीसे" त्यादि, सास्वादनमार्गणायां देवप्रायोग्याणां देवद्विकादीनामेकत्रिंशत्प्रकृतीनां ज्येष्ठप्रदेशबन्धं देवप्रायोग्यामष्टाविंशतिं बध्नंस्तिर्यङ्मनुष्यो वा करोति, त्रयोविंशत्यादीनां बन्धस्थानानामभावेनाऽष्टाविंशत्यात्मकबन्धस्थानस्यैव सर्वजघन्यत्वात् । भावना तु सुगमा । उद्योतनाम्नस्तु त्रिंशतं बध्नतां चातुर्गतिकानां ज्येष्ठप्रदेशबन्धो भवति, ततो न्यूनं बध्नत उद्योतस्य बन्धाभावात् । शेषनामप्रकृतीनामेकोनत्रिंशतं बध्नतां चातुर्गतिकानां ज्येष्ठप्रदेशबन्धो जायते । शेषनामप्रकृतयस्त्विमाः-तिर्यग्द्विकं मनुष्यद्विकमौदारिकद्विकमाद्यसंहननपञ्चकं द्वितीयादिसंस्थानचतुष्कं कुखगतिनाम दुर्भगत्रिकञ्चेत्येकोनविंशतिः । ज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरणनवककषायषोडशकहास्यषट्कस्त्रीपुरुषवेदवेदनीयद्वयगोत्रद्वयान्तरायपञ्चकरूपाणां सप्तचत्वारिंशत्प्रकृतीनां गुरुप्रदेशबन्धश्चातुर्गतिकानामन्यतमानां सप्तविधबन्धकानामुत्कृष्टयोगगतानां सास्वादनसम्यग्दृशां भवति, सुगमं चैतत् ॥११८-११९॥

अथासंज्ञिमार्गणायां गुरुप्रदेशबन्धस्वामिनं दर्शयति—

अमणे पणिंदियो खलु णेयो पयडीण णामवज्जाणं ।
तेरसणिरयाईणं पणिंदि अडवीसबंधत्थो ॥१२०॥
णेयो पणिंदियो खलु तिरियाईणं तु पंचवीसाए ।
तेवीसं बंधंतो पणवीसं पणरसणराईणं ॥१२१॥ (गीतिः)
वइराईण णवण्हं पणिंदियोऽत्थि गुणतीसबंधत्थो ।
णेयो छवीसबंधी पणिंदियो आयवदुगस्स ॥१२२॥

(प्रे०) "अमणे" त्यादि, असंज्ञिमार्गणायां नामवर्जशेषपट्कर्मसत्कैकोनपञ्चाशदुत्तरप्रकृतीनां ज्येष्ठप्रदेशबन्धकोऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियपर्याप्तो विज्ञेयो, तस्यैवोत्कृष्टयोगस्य भावात् , नामकर्मणोऽपि स एव ज्येष्ठप्रदेशबन्धकोऽसंज्ञितिर्यक्पञ्चेन्द्रियपर्याप्तको भवति, केवलं तत्र नरकद्विककुखगतिदुःस्वरसुरद्विकवैक्रियद्विकसमचतुरस्रसुखगतिसुभगत्रिकरूपाणां त्रयोदशप्रकृतीनां ज्येष्ठप्रदेशबन्धकोऽष्टाविंशतेर्बन्धस्थानं बध्नन् पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यङ् भवति, तदेव दर्शयति "तेरसे" त्यादिना, तत्र चतुर्णां नरकप्रायोग्यं तथा सप्तानां देवप्रायोग्यं वैक्रियद्विकस्य देवनरकोभयप्रायोग्यं च बध्नतो ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्वामित्वं ज्ञेयम् । तिर्यग्द्विकादीनां पञ्चविंशतेर्ज्येष्ठप्रदेशबन्धं त्रयोविंशतिं बध्नन् पञ्चेन्द्रियः करोति, पञ्चदशानां मनुष्यद्विकादीनां पञ्चविंशतिं बध्नता पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिरश्चा ज्येष्ठप्रदेशबन्धः क्रियते । वज्रर्षभनाराचादीनां पञ्चसंहननानां द्वितीयादीनां चतुर्णां संस्थानानाञ्चासंज्ञिपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यङ् एकोनत्रिंशतं बध्नन् प्रकृष्टप्रदेशबन्धस्वामी भवति । आतपोद्योतयोस्तु षड्विंशतिं

बध्नन् स एवोत्कृष्टप्रदेशबन्धको भवतीति । तदेवं समाप्तमायुर्वर्जानां सप्तकर्मसत्कोत्तरप्रकृतीनां ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्वामित्वम् ॥१२०-१२२॥

अथायुःकर्मण उत्कृष्टप्रदेशबन्धस्वामित्वमोघतो दर्शितत्वाद् मार्गणासु दर्शयन्नादौ तावद् सर्वमार्गणागतानामायुषो ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्वामिनां सामान्यवक्तव्यतामाह—

सव्वासु मग्गणासुं जेट्ठपएसस्स अट्ठविहबंधी ।
उक्कडजोगी णेयो सप्पाउग्गाण आऊणं ॥१२३॥
पज्जत्ताऽपज्जत्ता दुहावि जीवाऽत्थि जत्थ तत्थ भवे ।
पज्जत्तो सव्वाहिं पज्जत्तीहिंति वत्तव्वं ॥१२४॥

(प्रे०) 'सव्वासु' इत्यादि, सर्वमार्गणासु संभवदायुर्बन्धार्हासु त्रिषष्ट्युत्तरशतमार्गणासु स्वप्रायोग्यायुषां यासु यासु मार्गणासु यदाऽऽयुःप्रकृतीनां बन्धो भवति तासु तासु मार्गणासु तदाऽऽयुषां गुरुप्रदेशबन्ध उत्कृष्टयोगस्थानगतस्याष्टविधबन्धकस्यैव भवति। ज्येष्ठयोगस्थानमप्राप्तस्यायुषामपि गुरुप्रदेशबन्धो न भवति, आयुषो बन्धोऽष्टविधबन्धकस्यैव भवति, आयुषि बध्यमाने शेषसप्तकर्मणामवश्य बन्धात् , अतः सर्वत्राष्टविधबन्धक उत्कृष्टयोगी चेति विशेषणद्वयम् । यत्र पर्याप्ता अपर्याप्ताश्चेति द्विविधा जीवा भवन्ति तत्र सर्वपर्याप्तिभिः पर्याप्ता एवायुषां ज्येष्ठप्रदेशबन्धकत्वेन वक्तव्याः, अपर्याप्तानामुत्कृष्टयोगस्थानस्याभावान्न तेषामुत्कृष्टप्रदेशबन्धो भवति । स्पष्टार्थं चैतद् निरूपणमन्यथोत्कृष्टयोगीत्यनेन गतार्थत्वात् । एतेनेदमायातम्—सर्वमार्गणासु ज्येष्ठयोगस्थानगतानामष्टविधबन्धकानां यत्र च पर्याप्ताऽपर्याप्तानां सम्भवस्तत्र पर्याप्तानामेव च बध्यमानायुष उत्कृष्टप्रदेशबन्धो वक्तव्यः ॥१२३-१२४॥

एवं सामान्यतो बन्धकस्वरूप निरूप्य विशेषतः प्रतिमार्गणमायुषां ज्येष्ठप्रदेशबन्धकस्वरूपं दर्शयन्नाह—

ओघव्व जाणियव्वो चउआऊण दुपणिंदियतसेसुं ।
पणमणवयजोगेसुं कायित्थीपुमणपुंसेसुं ॥१२५॥
कोहाईसुं चउसुं असंजमे तह अचक्खुचक्खूसुं ।
अपसत्थतिलेसासुं भविये सण्णिम्मि आहारे ॥१२६॥

(प्रे०) 'ओघव्वे' त्यादि, पञ्चेन्द्रियपर्याप्तपञ्चेन्द्रियमार्गणाद्वये त्रसकायपर्याप्तत्रसकायमार्गणाद्वये मनोयोगसामान्य-सत्या-ऽसत्य-सत्यामत्या-ऽसत्यामृषाभेदभिन्नपञ्चमनोयोगेषु एवं पञ्चवचनयोगभेदेषु काययोगमार्गणायां स्त्रीपुरुषनपुंसकवेदमार्गणात्रये क्रोधादिकषायमार्गणाचतुष्केऽसंयम-

मार्गणायां चक्षुरचक्षुमार्गणयोः कृष्णनीलकापोतरूपाप्रशस्तलेश्यात्रये भव्यमार्गणायां संज्ञिमार्गणाया-माहारकमार्गणायाञ्चेत्येकत्रिंशन्मार्गणासु चतुर्णामायुषां ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्वामिन ओघवद् विज्ञेयाः। ते चैवम्-एतासु सर्वासु मार्गणासु चतुर्णामप्यायुषां बन्धो भवति, तत्र नरकायुषः सञ्ज्ञिमिथ्यादृष्टयो ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्वामिनो भवन्ति। तिर्यगायुषस्तु सञ्ज्ञिमिथ्यादृष्टयः ज्येष्ठप्रदेशबन्धकतया बोध्याः। नरायुर्ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्य प्रथमचतुर्थगुणस्थानभाजः स्वामिनो भवन्ति। देवायुषस्तु द्वितीयतृतीयगुण-स्थानगतवर्जा अप्रमत्तान्ताः पञ्चगुणस्थानकवर्तिनो गुरुप्रदेशबन्धका भवन्ति। अत्र गत्यादिभेदेना-युर्बन्धस्य स्वामित्वनिरूपणे त्रिवेदमार्गणासु त्रित्रिगतिकानां जीवाना लाभात्तदनुसारेण स्वामित्वं वक्तव्यमेतदपि सुगमम् ॥१२५-१२६॥

अथ मार्गणान्तरेष्वायुषां ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्वामित्वं प्राह--

णिरयपढमाइछणिरयदेवसहस्सारअंतविउवेसुं।
तिरियाउगस्स मिच्छो भवे णराउस्स सम्मो वि ॥१२७॥
मिच्छादिट्ठी सत्तमणिरये तिरियाउगस्स बोद्धव्वो।
तिरियतिपणिंदियतिरियमणुस्सओरालजोगेसुं ॥१२८॥
सण्णी मिच्छादिट्ठी सम्मत्ती वा सुराउगस्स भवे।
सेसाण तिआऊणं सण्णी मिच्छो मुणेयव्वो ॥१२९॥

(प्रे०) "णिरये" त्यादि, नरकौघे प्रथमादिषड्नरकमार्गणासु देवौघ-भवनपति-व्यन्तर-ज्योतिष्क सौधर्मेशान-सनत्कुमार-माहेन्द्र ब्रह्म-लान्तक-महाशुक्र--महस्रारदेवमार्गणासु वैक्रियकाययोगे चेति समुदितासु विंशतिमार्गणासु तिर्यग्मनुष्यायुषोरेव बन्धो भवति, तत्र तिर्यगायुषो मिथ्यादृष्टि-र्ज्येष्ठप्रदेशबन्धको भवति। मनुष्यायुरस्तु सम्यग्दृष्टिर्मिथ्यादृष्टिर्वा ज्येष्ठप्रदेशबन्धं करोति, सास्वा-दनानामुत्कृष्टयोगाभावाज्ज्येष्ठप्रदेशबन्धाभाव एव। सप्तमनरकमार्गणायां मिथ्यादृष्टीनामेवायुर्बन्ध-भावेन मिथ्यादृष्टय एव तिर्यगायुषो ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्वामिनो बोद्धव्याः, मनुष्यायुषोऽत्र बन्धाभावेन न तन्निर्देशः। तिर्यग्गत्योघे पञ्चेन्द्रियतिर्यक् पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यक्-तिरश्चीलक्षणपञ्चेन्द्रियतिर्यक्त्रिके मनुष्यौघ-पर्याप्तमनुष्य-मानुषीलक्षणमनुष्यमार्गणात्रयं औदारिककाययोगमार्गणायाञ्चेति समुदिता-स्वष्टमार्गणासु देवायुषो गुरुप्रदेशबन्धकः सम्यग्दृष्टिः संज्ञिमिथ्यादृष्टिर्वा भवति। शेषायुस्त्रिकस्य संज्ञिमिथ्यादृष्टिरेव गुरुप्रदेशबन्धस्वामित्वेन विज्ञेयः, प्रस्तुतमार्गणागतानां सम्यग्दृष्टीनां शेषा-युस्त्रयप्रकृतीनामबन्धात् ; सास्वादनिनामुत्कृष्टयोगाभावाच्च ॥१२७-१२९॥

अथाऽपर्याप्ततिर्यक्पञ्चेन्द्रियादिमार्गणास्वायुर्ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्वामित्वं प्रकटयन्नाह—

असमत्तपणिंदितिरियपणिंदियतसेसु तिरिणराऊणं ।
सण्णी उरालमीसे सण्णी मिच्छो मुणेयव्वो ॥१३०॥

(प्रे०) 'असमत्ते" त्यादि, अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग-ऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रियाऽपर्याप्तत्रसकाय-मार्गणात्रये लब्ध्यपर्याप्तानामेव प्रवेशः, ते च मिथ्यादृष्टय एव भवन्ति । प्रस्तुतमार्गणात्रये संज्ञिनामुत्कृष्टयोगस्थानसद्भावात् ते एव तिर्यग्मनुष्यायुषोर्ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्वामिनो भवन्ति । देवनरकायुषोः प्रस्तुतमार्गणात्रये बन्धाभावाद् न तद्विचारणावसरः । औदारिकमिश्रकाययोगमार्गणायां मिथ्यादृष्टयः सास्वादनिनोऽविरतसम्यग्दृष्टयश्च तिर्यग्मनुष्या अपर्याप्तावस्थावर्तिनो भवन्ति, तत्राऽपि सास्वादनिनोऽविरतसम्यग्दृष्टयश्च करणाऽपर्याप्ता एव भवन्ति, न च तेषामायुर्बन्धो भवति, करणापर्याप्तानामायुर्बन्धानर्हत्वात् , तथैव करणापर्याप्तमिथ्यादृशामप्यायुर्बन्धो न भवति, अतो मिथ्यादृशां लब्ध्यपर्याप्तानामेव प्रस्तुतमार्गणायामायुषो बन्धो वक्तव्यः । तत्राऽपि संज्ञिनामेवोत्कृष्टयोगस्थानसद्भावात् संज्ञिनो मिथ्यादृष्टयस्तिर्यग्मनुष्यायुषोर्ज्येष्ठप्रदेशबन्धका विज्ञेयाः ॥१३०॥

अथानतादिदेवमार्गणास्वाह—

विण्णेयो देवेसुं गेविज्जंतेसु आणयाईसुं ।
मिच्छादिट्ठीओ उअ सम्मादिट्ठी णराउस्स ॥१३१॥

(प्रे०) "विण्णेयो" इत्यादि, आनतादिषु नवमग्रैवेयकपर्यन्तासु त्रयोदशमार्गणासु मनुष्यायुष एव बन्धो भवति, तज्ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्य स्वामी सम्यग्दृष्टिर्मिथ्यादृष्टिर्वा भवति ॥१३१॥

अथ ज्ञानत्रिकादिमार्गणासु ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्वामित्वं दर्शयति—

णाणतिगे ओहिम्मि य सम्मखइअवेअगेसु विण्णेयो ।
मणुआउस्स दुगइओ दुगइट्ठो उण सुराउस्स ॥१३२॥

(प्रे०) 'णाणतिगे' इत्यादि, मतिज्ञान-श्रुतज्ञानाऽवधिज्ञानाऽवधिदर्शनसम्यक्त्वौघक्षायिकसम्यक्त्वक्षायोपशमिकसम्यक्त्वमार्गणासु मनुष्यायुषो ज्येष्ठप्रदेशबन्धका देवनारका भवन्ति । तिर्यग्मनुष्याणां प्रस्तुतमार्गणायां देवायुष एव बन्धसद्भावात् । देवायुषो ज्येष्ठप्रदेशबन्धकास्तिर्यग्मनुष्याश्चतुर्थादिगुणस्थानवर्तिनो भवन्ति । अत्रायं विशेषः—क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणायां देवायुर्ज्येष्ठप्रदेशबन्धका युगलधर्मिणामुत्कृष्टयोगस्थानमनङ्गीकुर्वतामभिप्रायेण केवलं मनुष्या एव विज्ञेयाः, क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणायां तिरश्चां युगलिकातिरिक्तत्वाभावादिति ॥१३२॥

अथाऽज्ञानादिमार्गणास्वायुषां ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्वामित्वं दर्शयन्नाह—

तीसु अण्णाणेसु अभवियमिच्छेसु दुगइओ सण्णी ।
णिरयसुराऊण भवे तिरियणराऊण अण्णयरसण्णी ॥१३३॥(गीतिः)

(प्रे०) "तीसु"मित्यादि, मत्यज्ञान-श्रुताज्ञान-विभङ्गज्ञाना-ऽभव्य-मिथ्यात्वरूपासु पञ्चमार्गणासु देवनरकायुषोर्ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्वामिनो मिथ्यादृष्टयः संज्ञिनस्तिर्यग्मनुष्या भवन्ति, संज्ञिनामेवोत्कृष्टयोगस्थानस्य सद्भावात् , तिर्यग्मनुष्याणामेव देवायुषो बन्धसद्भावाच्च । तिर्यग्मनुष्यायुषोर्गुरुप्रदेशबन्धस्य स्वामिनः, संज्ञिनो मिथ्यादृष्टयश्चातुर्गतिकेष्वन्यतमाः प्राप्यन्ते, सर्वत्र ज्येष्ठ योगस्थानसद्भावेनोत्कृष्टप्रदेशबन्धस्य लाभात् ॥१३३॥

एतर्हि तेजःपद्मलेश्याद्वये आयुषो ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्वामित्वं दर्शयन्नाह—

तेउपउमासु देवो मिच्छो तिरियाउगस्स सम्मो वि ।
मणुआउगस्स मिच्छो सम्मो वा दुगइओ सुराउस्स ॥१३४॥(गीतिः)

(प्रे०) "तेउ"इत्यादि, तेजोलेश्या-पद्मलेश्यामार्गणाद्वये तिर्यगायुषो ज्येष्ठप्रदेशबन्धका मिथ्यादृष्टिर्देवा भवन्ति, तिर्यग्मनुष्याणां प्रस्तुतमार्गणयोर्देवायुष एव बन्धात् । मनुष्यायुषो ज्येष्ठप्रदेशबन्धकाः सम्यग्दृष्टयो मिथ्यादृष्टयश्च देवा विज्ञेयाः,उभयोर्मनुष्यायुषो बन्धसद्भावात् । देवायुषो गुरुप्रदेशबन्धस्वामिनस्तिर्यग्मनुष्या मिथ्यादृष्टयोऽविरतसम्यग्दृष्टयाद्यप्रमत्तान्ताश्च भवन्ति, प्रथमचतुर्थादिगुणस्थानेषु ज्येष्ठयोगस्थानस्य प्राप्तेः,आयुर्बन्धस्य चाप्रमत्तसंयतान्तानामपि भावात् ॥१३४॥

संप्रति शुक्ललेश्यामार्गणायामायुषो ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्वामित्वं प्राह—

सुक्काअ सुरो मिच्छो सम्मत्ती वा भवे णराउस्स ।
देवाउस्स मणुस्सो मिच्छो सम्मो व बोद्धव्वो ॥१३५॥

(प्रे०) "सुक्काअ" इत्यादि, शुक्ललेश्यामार्गणायां मनुष्यायुषो ज्येष्ठप्रदेशबन्धकः सम्यग्दृष्टिर्मिथ्यादृष्टिश्च देवो भवति, प्रस्तुतमार्गणागतानां देवानामेव मनुष्यायुर्बन्धसद्भावात् । देवायुषो ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्वामिनो मनुष्या मिथ्यादृष्टयः सम्यग्दृष्टयश्च चतुर्थादिसप्तमगुणस्थानान्ता विज्ञेयाः, न तिरश्चः, तेषां सहस्रारान्तदेवेष्वेवोत्पादेन तत्स्वामित्वासम्भवात् । देवेषु नवमादिकल्पगतानामेव शुक्ललेश्यामङ्गीकुर्वतां कार्मग्रन्थिकानामभिप्रायेण तिरश्चामायुर्बन्धकाले शुक्ललेश्याया अभावेन तेषां प्रस्तुतमार्गणात एव बहिस्त्वादिति भावः । मिथ्यादृशां मनुष्याणामाजीवकमतगतानां द्वादशकल्पं यावद् द्रव्यलिङ्गिनाञ्च नवमग्रैवेयकान्तं यावत्समुत्पादप्रतिपादनाद् मिथ्यादृशामपि शुक्ललेश्यायां देवायुषो बन्धस्य सद्भावेन तज्ज्येष्ठप्रदेशबन्धो प्राप्यते । चतुर्थ-पञ्चमगुणस्थानभाजामुत्कृष्टतोऽच्युतं यावदुत्पादात् तेषामपि ज्येष्ठप्रदेशबन्धलाभ इति ॥१३५॥

अथ सास्वादनमार्गणायामसंज्ञिमार्गणायाञ्चायुषां गुरुप्रदेशबन्धस्वामित्वं प्रकटयन्नाह--

सासाणे अन्नयरो तिरियणराऊण होइ दुगइट्ठो ।
देवाउगस्स असणे पणिंदियोऽत्थि चउआऊणं ॥१३६॥

(प्रे०) "**सासाणे**" त्यादि, सास्वादनमार्गणायां तिर्यग्मनुष्यायुषोर्ज्येष्ठप्रदेशबन्धकश्चातुर्गतिकेष्वन्यतमो भवति, चातुर्गतिकसास्वादनिनां ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्यायुर्बन्धस्य च लाभात् । देवायुषो ज्येष्ठप्रदेशबन्धं संज्ञी तिर्यङ् मनुष्यो वा करोति । अत्र सास्वादनमार्गणायां ज्येष्ठयोगस्थानं मार्गणायोग्यं विज्ञेयं ज्येष्ठप्रदेशबन्धोऽपि मार्गणाप्रायोग्य एव विज्ञेयः, ओघिकोत्कृष्टयोगस्थानस्यात्राभावात् । "असण" त्यादि, असंज्ञिमार्गणायां चतुर्णामप्यायुषां ज्येष्ठप्रदेशबन्धं पर्याप्तपञ्चेन्द्रियोऽसंज्ञितिर्यङ् करोति, प्रस्तुतमार्गणाप्रायोग्यप्रकृष्टयोगस्थानस्य पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिरश्चामेव लाभात्तेषाञ्च चतुर्णामायुषां बन्धार्हत्वात् ॥१३६॥

सम्प्रति शेषमार्गणासु बन्धप्रायोग्यायुषां ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्वामित्वं दर्शयन्नाह--

सेसासु अण्णयरो सप्पाऊग्गाण आउगाण परं ।
बायरकायो णेयो एगिंदिणिगोअपंचकायेसु ॥१३७॥ (गीतिः)

(प्रे०) "**सेसासु**" मित्यादि, शेषमार्गणासु मार्गणावर्त्यन्यतमः 'स्वप्रायोग्यायुषां' तत्तन्मार्गणायां बन्धप्रायोग्यायुषां गुरुप्रदेशबन्धं करोति । शेषमार्गणाः पुनरिमाः-अपर्याप्तमनुष्य-पञ्चानुत्तरसुर-सप्तैकेन्द्रियभेद-नवविकलाक्षभेद-सप्तपृथ्वीकाय -सप्ताप्काय-सप्ततेजःकाय -सप्तवायुकाय -सप्तनिगोद-त्रिप्रत्येकवनस्पतिकाय वनस्पतिकायौघाहारककाययोगतन्मिश्रकाययोगमनःपर्यवज्ञानसंयमौघसामायिकच्छेदोपस्थापनीयपरिहारविशुद्धि-देशविरतिरूपा एकोनसप्ततिमार्गणाः । अत्राऽऽसु मार्गणासु वर्तमानानां येषांज्येष्ठं योगस्थानं भवति तेषां गुरुःप्रदेशबन्धो भवति । यासु मार्गणासु सूक्ष्मबादरद्विविधजीवभेदा भवन्ति तास्वेकेन्द्रियौघ-पृथ्वीकायौघाप्कायौघ तेजःकायौघ वायुकायौघ वनस्पतिकायौघ-निगोदौघरूपासु सप्तसु मार्गणासु बादरजीवा एवोत्कृष्टप्रदेशबन्धस्वामिनो भवन्ति, बादरजीवानामेव मार्गणार्होत्कृष्टयोगस्थानप्राप्तेः । एतच्च "**पर**" मित्यादिना दर्शितम् । सूक्ष्मौघैकेन्द्रियादिषु यासु पर्याप्ताऽपर्याप्तद्विविधजीवाना सद्भावस्तासु पर्याप्ता एवोत्कृष्टप्रदेशबन्धस्वामिनो भवन्ति, पर्याप्तानामेव मार्गणार्हज्येष्ठयोगस्थानसम्भवात् । शेषमार्गणाभ्यः सप्ततेजःकायसप्तवायुकायरूपासु चतुर्दशमार्गणासु तिर्यगायुरेव बन्धार्हम्, अपर्याप्तमनुष्यसप्तपृथ्वीकायसप्ताप्कायसप्तनिगोदभेदत्रिप्रत्येकवनस्पतिकायवनस्पतिकायौघ-सप्तैकेन्द्रियभेदनवविकलाक्षभेदरूपासु द्विचत्वारिंशन्मार्गणासु तिर्यङ्मनुष्यायुषोर्बन्धयोग्यत्वम् , पञ्चानुत्तरमार्गणासु मनुष्यायुरेव बन्धप्रायोग्यं, आहारकतन्मिश्रमनःपर्यवज्ञान संयमौघसामायिकच्छे-

दोपस्थापनीयपरिहारविशुद्धिसंयमदेशविरतिरूपास्वष्टमार्गणासु देवायुषो बन्धप्रायोग्यत्वमतस्तत्तन्मार्गणासु ज्येष्ठयोगस्थाने वर्तमानस्य तत्तदायुषि बध्यमाने ज्येष्ठप्रदेशबन्धो भवत्यतः स्वप्रायोग्यायुषामन्यतरो बन्धक इति मूलकृतो निर्देश इति ॥१३७॥

समाप्तं मार्गणास्वायुषां ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्वामित्वं तत्समाप्तौ च समाप्तमोघादेशतो ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्वामित्वम् ।

सम्प्रति क्रमप्राप्तं जघन्यप्रदेशबन्धस्वामित्वमोघतो दर्शयन्नादौ जघन्यप्रदेशबन्धकस्य सर्वसामान्ययोग्यतां प्रकटयन्नाह--

सव्वेसिं पयडीणं मंदपएसस्स बंधगो णेयो ।
वट्टंतो लहुजोगे बहुयरपयडीउ बंधंतो ॥१३८॥

(प्रे०) '**सव्वेसिं**" मित्यादि, सर्वप्रकृतीनां जघन्यप्रदेशबन्धकः स्वबन्धार्हजघन्ये योगस्थाने वर्तमानो विज्ञेयः,यथा यथा योगस्य हानिस्तथा तथा बध्यमानप्रदेशस्यापि हानिर्भवति, ततो जघन्यप्रदेशबन्धस्य स्वामित्वं तद्बन्धकेषु यद् हीनतमयोगस्थानं तत्र वर्तमानस्य भवति, यथौघतो जघन्यं योगस्थानं सूक्ष्मनिगोदानां लब्ध्यपर्याप्तानां भवप्रथमसमये वर्तमानानां भवति ततस्तैर्बध्यमानानां सप्तोत्तरशतप्रकृतीनां जघन्यप्रदेशबन्धस्तेषामेव भवति, ओघतः शेषप्रकृतीनां सर्वमार्गणासु च बध्यमानप्रकृतीनां लघुप्रदेशबन्धकत्वं तद्बन्धकेषु जघन्यतमयोगस्थानगतस्य विज्ञेयम् । ननु भवत्वेवं यद् योगवृद्ध्या बध्यमानप्रदेशवृद्धिन्यायेन योगहान्या बध्यमानप्रदेशहानिः, न परं तादृशजघन्ययोगवतो जघन्यप्रदेशबन्धस्वामित्वं स्यात् , उत्कृष्टप्रदेशबन्धेऽल्पतरप्रकृतिबन्धकस्येव यस्य तथाविधमन्दतमयोगवतो या विवक्षितप्रकृतिर्नानाप्रकृतिबन्धस्थानान्तर्भूततया बन्धविषया स्यात्तत्राऽबहुतरप्रकृतिबन्धस्थानान्यतमस्थानत्वेन तां बध्नता जघन्यप्रदेशकत्वपरिहारेणाधिकतमप्रकृतिबन्धस्थानत्वेन तां बध्नत एव जघन्यप्रदेशबन्धस्वामित्वसम्भवात् ? इति चेत् , सत्यम् , अत आह "**बहुयरपयडीउ बंधंतो**" इति । तथा च यत्र जघन्ययोगवतो बन्धप्रायोग्यनानाबन्धस्थानमध्ये या विवक्षितप्रकृतिरन्तर्भूता तत्राधिकतमप्रकृतिनिष्पन्नबन्धस्थानं बध्नतस्तस्य जघन्ययोगवतस्तस्या विवक्षितप्रकृतेर्जघन्यप्रदेशबन्धस्वामित्वं, नेतरस्याधिकतमेतरप्रकृतिनिष्पन्नबन्धस्थानं निर्वर्तयितुर्जघन्ययोगवतोऽपि । अत एव ओघतस्तिर्यग्द्विकादीनां जघन्यप्रदेशबन्धस्य स्वामित्वं सूक्ष्मलब्ध्यपर्याप्तनिगोदजीवानां भवप्रथमसमये वर्तमानानां जघन्ययोगस्थानगतानामपि तिर्यक्प्रायोग्योद्योतयुक्तास्त्रिंशतं बध्नतामेव कथयिष्यते,न पुनरेकोनत्रिंशदादीर्बध्नतामिति । एवञ्च सति जघन्यप्रदेशबन्धस्वामित्वस्य निर्धारणे प्रथमं तत्तत्प्रकृतिबन्धकेषु जघन्यतमयोगस्थानगतानामन्वेषणं कार्यम् तदनन्तरञ्च तेषु जघन्ययोगिष्वपि विवक्षितप्रकृत्या सह सम्भवन्मूलोत्तराधिकप्रकृति-

निष्पन्नबन्धस्थानस्य निर्वर्तकस्यान्वेषणं विधेयम्, एतद्द्वयेनैव जघन्यप्रदेशबन्धस्य स्वामित्वं विभाव्यते। तदेवं मूलकृता सामान्ययोग्यतास्वरूपकथनव्याजेन बीजरूपेण स्वामित्वं दर्शितम्॥१३८॥

अथ तदेवं जघन्यप्रदेशबन्धस्य स्वामित्वं विशेषतो दर्शयन्नादावोघत आह—

णिरयसुराऊण भवे घोलणजोगी पणिंदियासण्णी ।
सो णिरयदुगस्स भवे बंधंतो अट्ठवीसाओ ॥१३९॥

(प्रे०) "णिरये"त्यादि, नरकायुषो देवायुषश्च जघन्यप्रदेशबन्धोऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियपर्याप्तकस्य जायते, संज्ञिपर्याप्तानां जघन्ययोगतोऽसंज्ञिपर्याप्तानां जघन्ययोगस्याऽसंख्येयगुणहीनत्वात् पर्याप्तप्रायोग्यजघन्ययोगस्य घोलमानयोगिनामेव भावाच्च । "घोलणयोगो"त्ति परावर्तमानयोगवान् उक्तञ्च शतकचूर्णौ "घोलणयोगि त्ति परिवत्तमाणयोगी त्ति" इति । अयम्भावः—यथा सातवेदनीयादीनां जघन्यरसनिर्वर्तकं जघन्यबन्धाध्यवसायस्थानं परावर्तमानसंक्लेशवतामेव भवति तथैव करणपर्याप्तजीवभेदेषु जघन्यप्रदेशनिर्वर्तकं जघन्ययोगस्थानं परावर्तमानयोगिनामेव भवति । अत्रोत्तरत्र च जघन्यप्रदेशबन्धस्वामित्वप्ररूपणायां यत्र मूलकारः 'घोलणयोगो' इति वक्ष्यते तत्र परावर्तमानयोगस्थानवर्तिन एव जघन्यप्रदेशबन्धार्हत्वम्, न तदितरस्यापरावर्तमानयोगिनः, इत्थमपरावर्तमानयोगस्थानगतानां व्यवच्छेदपरकमेतत्पदम् । परावर्तमानयोगेषु सम्भवज्जघन्ययोगस्थानस्यैव ग्रहणं तु 'वट्टंतो लहुजोगे' इत्यादिना कर्तव्यमिति । तच्च सर्वत्र प्रकृष्टतोऽपि चतुःसामयिकमेवेति ।

इदन्त्ववधेयम्—यथा परावर्तमानजघन्यरसबन्धाध्यवसायस्यैकेन्द्रियादिचतुर्दशजीवभेदेषु तुल्यत्वं भवति न तथा घोलमानजघन्ययोगस्थानस्य तुल्यत्वम्, किन्तु सूक्ष्मबादरैकेन्द्रियद्वीन्द्रियादिजीवभेदेषु यथोत्तरमसंख्येयगुणत्वं ज्ञेयमिति । तच्च योगस्थानाल्पबहुत्वाद् गम्यम्, दर्शितं च तत् मूलप्रकृतिप्रदेशबन्धे उत्पादैकान्तवृद्धिपरिणामयोगस्थानानां चतुर्दशजीवभेदेषु सविस्तरमल्पबहुत्वम् । एवं च सति प्रस्तुते इदमायातम्—यदसंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्यैव जघन्यप्रदेशबन्धार्हत्वं, न तु संज्ञिपञ्चेन्द्रियस्यापीति । परावर्तमानयोगिनो वाक्कायचेष्टाऽल्पा भवत्यपरावर्तमानयोगिनस्तु तीव्रा एव। उक्तञ्च 'वाक्कायचेट्ठा तस्स अच्चंतमप्पा भवति त्ति अपरिवत्तमाणजोगिस्स तिव्वाचेट्ठा भवति' इति।

पर्याप्तासंज्ञिपञ्चेन्द्रियतोऽधस्तनेषु जीवभेदेषु देवनरकायुषोर्बन्धाभावादसंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्य ग्रहणम् । असंज्ञिपञ्चेन्द्रियपर्याप्तकस्य घोलमानजघन्ययोगतः संज्ञिपञ्चेन्द्रियकरणापर्याप्तकस्य योगस्याल्पत्वेऽपि तस्य देवनरकायुषोर्बन्धाभावाद् न तस्य प्रस्तुते ग्रहणम् ।

अथ स एव नरकायुःसहिताष्टविधबन्धं कुर्वन् नरकप्रायोग्याष्टाविंशतिं बध्नन् नरकद्विकस्य जघन्यप्रदेशबन्धं करोति, आयुष्यबध्यमाने तु न जघन्यप्रदेशबन्धलाभ इति ॥१३९॥

सम्प्रति देवद्विकादीनां पञ्चानां जघन्यप्रदेशबन्धस्य स्वामित्वं दर्शयन्नाह—

सम्मभवज्जखणे सुरविउवदुगाण गुणतीसबंधिणरो ।
तित्थस्स तीसबंधी णिरयो देवो व बोद्धव्वो ॥१४०॥

(प्रे०) "**सम्मे**" त्यादि, देवद्विकवैक्रियद्विकयोर्जघन्यप्रदेशबन्धं सम्यग्दृष्टिर्मनुष्यो भवाद्यसमये सम्भवज्जघन्ययोगे वर्तमानो नाम्नो देवप्रायोग्यैकोनत्रिंशतं बध्नन् करोति, असंज्ञिपर्याप्तस्य देवद्विकवैक्रियद्विके बन्धप्रायोग्ये भवतस्तथापि तद्गतजघन्ययोगस्थानतः करणाऽपर्याप्तसंज्ञिनो योगस्यासङ्ख्येयगुणहीनत्वाद् भवाद्यसमयवर्तिनः संज्ञिनो ग्रहणम्, अपर्याप्तावस्थायां सम्यग्दृश एव देवप्रायोग्यबन्धकत्वात् सम्यग्दृष्टेर्ग्रहणम्, अत्र च सम्यग्दृशो भवाद्यसमये वर्तमानस्य कस्यचिज्जिननाम्नो बन्धो भवति तदा तस्य बन्धे प्रकृतेराधिक्येन जघन्यप्रदेशबन्धभावाद् देवप्रायोग्यैकोनत्रिंशतं बध्नतो ग्रहणम्, स च मनुष्य एव भवति, तिरश्चो जिननामबन्धाभावात् । अत्रायुर्बन्धस्यासम्भवाद् न मूलप्रकृतावष्टविधबन्धकत्वं, किन्तु सप्तविधबन्धकत्वमेवेति । जिननाम्नो जघन्यप्रदेशबन्धं सम्यग्दृष्टिर्देवो नारको वा भवाद्यसमये सम्भवज्जघन्ययोगे च वर्तमानो नाम्नस्त्रिंशत्प्रकृत्यात्मकं मनुष्यप्रायोग्यं जिननामसहितं बध्नन् विदधाति, भवाद्यसमयवर्तिनः सम्यग्दृष्टेर्मनुष्यस्य जिननाम्न एकोनत्रिंशतं बध्नतो न जघन्यप्रदेशबन्धः, देवनारकस्य सम्यग्दृष्टेस्तु वज्रर्षभनाराचस्य बन्धभावेन त्रिंशतं बध्नतो जिननाम्नो जघन्यप्रदेशबन्धो लभ्यतेऽतो देवो नारको वा निर्दिष्टः । शेषं सुगमम् ॥१४०॥

अथाऽऽहारकद्विकस्य जघन्यप्रदेशबन्धस्वामित्वं दर्शयति—

परियत्तमाणजोगी बंधंतो एकतीसपयडीओ ।
अपमत्तसंजतो खलु आहारदुगस्स बोद्धव्वो ॥१४१॥

(प्रे०) "**परियत्ते**" त्यादि, परावर्तमानयोगी-परावर्तमानयोगेषु जघन्ययोगस्थाने वर्तमानः । संज्ञिपर्याप्तानां सम्भवज्जघन्ययोगस्थानगत इत्यर्थः । आहारकद्विकस्य जघन्यप्रदेशबन्धमष्टविधमूलप्रकृतिं नाम्नश्चैकत्रिंशतं बध्नन्नप्रमत्तसंयतः करोति । अत्र सप्तमाष्टमगुणस्थानद्वये आहारकद्विकस्य बन्धसम्भवेऽपि सप्तमगुणस्थानगतानामेवाऽऽयुर्बन्धार्हत्वात् "**चउरपयडीउ बंधंतो**" इत्यादिना तस्यैव जघन्यप्रदेशबन्धस्वामितया ग्रहणस्याऽऽवश्यकत्वाच्चाऽप्रमत्तसंयतस्य ग्रहणम् । सोऽपि जिननामबन्धकस्तदितरो वा स्यात्, न तत्र जिननामाऽबन्धकस्य प्रस्तुतस्वामित्वमिति कृत्वा "**बंधंतो एकतीसपयडीओ**" इति भणितम् विज्ञेयमिति ॥१४१॥

अथ यासां प्रकृतीनां जघन्यप्रदेशबन्धस्वामित्वं सूक्ष्मैकेन्द्रियस्य भवति तच्च यथा भवति तथा दर्शयन्नाह—

सुहुमापज्जणिगोओ भवत्तंसपढमखणे दुआऊणं।
सेसाण भवज्जखणे मणुयदुगस्स गुणतीसविहो ॥१४२॥
णेयो छवीसबंधी तिआयवाईण पंचवीसविहो।
सुहुमतिगस्स हवेज्जा तीसयरो सेसणामाणं ॥१४३॥

(प्रे०) "सुहुमे" त्यादि, तिर्यग्मनुष्यायुषोर्जघन्यप्रदेशबन्धं लब्ध्यपर्याप्तः सूक्ष्मनिगोदः सर्व-जघन्यायुष्कः स्वभवचरमतृतीयांशाद्यक्षणे वर्तमानो विदधाति। भवचरमत्रिभागात्प्रागायुर्बन्धाभावाद् भवचरमत्रिभागस्य ग्रहणं, तत्रापि जघन्ययोगस्याद्यक्षण एव लाभाद् भवचरमत्रिभागस्याद्यक्षणे वर्तमानस्य ग्रहणम्, जघन्यायुषश्चरमत्रिभागाद्यसमयेऽल्पयोगस्य लाभाद् जघन्यायुषो ग्रहणम्। लब्ध्यपर्याप्तानामेवापर्याप्तावस्थायामायुषो बन्धभावात् पर्याप्तस्यायुर्बन्धप्रायोग्ययोगस्थानतोऽपर्या-प्तस्याऽसंख्येयगुणहीनयोगवत्त्वाच्चापर्याप्तस्योपादानम्। सूक्ष्मनिगोदजीवानामेव जघन्ययोगस्थान-मित्येके, अन्ये तु सूक्ष्मपृथ्व्यादीनामपि जघन्ययोगस्थानं जघन्यप्रदेशबन्धं च कथयन्ति।

अथ शेषप्रकृतिजघन्यप्रदेशबन्धस्वामित्वमाह-"सेसाणे"त्यादि, शेषाणां सप्तोगतप्रकृतीनां जघन्यप्रदेशबन्धो भवाद्यसमये वर्तमानस्य जघन्ययोगस्थानगतस्य सूक्ष्मनिगोदलब्ध्यपर्याप्तकस्य भवति, सर्वजघन्ययोगस्थानस्यात्रैव लाभात्। भवाद्यक्षणे आयुषोऽबध्यमानत्वान्नामकर्मवर्जशेषषट्-कर्मणामेकैकस्यैव बन्धस्थानस्य भावान्न विशेषनिर्देशो, जघन्ययोगवर्तिनः सर्वासामेकोनपञ्चाश-त्प्रकृतीनां जघन्यप्रदेशबन्धलाभात्, नाम्नस्त्वनेकबन्धस्थानानां भावात् स्वल्पतरप्रकृत्यात्मकं बन्ध-स्थानं बध्नतो जघन्ययोगस्थाने वर्तमानस्यापि न जघन्यप्रदेशबन्धो भवति, अतो नामप्रकृतीनामेव भवप्रथमसमये वर्तमानं निगोदमाश्रित्य विशेष दर्शयति-'मणुये'त्यादि,नाम्न एकोनत्रिंशतं बध्नन् मनुष्यद्विकस्य जघन्यप्रदेशबन्धं करोत्यत्र मनुष्यप्रायोग्ये द्वे बन्धस्थाने पञ्चविंशत्यात्मकमेकोनत्रिंश-दात्मकञ्च,अत एकोनत्रिंशतं बध्नतो निर्देशः। एकेन्द्रियस्थावरातपनाम्नां जघन्यप्रदेशबन्धं नाम्नः षड्विंशतेः स्थानं बध्नन् करोति,एकेन्द्रियप्रायोग्यबन्धस्थानत्रयेऽस्यैव ज्येष्ठत्वात्। सूक्ष्मापर्याप्तसाधा-रणनाम्नां जघन्यप्रदेशबन्धः पञ्चविंशतिं बध्नतो भवति,तत्र सूक्ष्मसाधारणयोः पर्याप्तैकेन्द्रियप्रायोग्य-पञ्चविंशतिं बध्नतः, अपर्याप्तनाम्नस्तु द्वीन्द्रियाद्यपर्याप्तप्रायोग्यपञ्चविंशतिं बध्नत एव जघन्यप्रदेश-बन्धलाभात्। नाम्नः शेषपञ्चाशत्प्रकृतीनां जघन्यप्रदेशबन्धः पर्याप्तद्वीन्द्रियादितिर्यक्प्रायोग्यत्रिंशतं बध्नतो भवति, सूक्ष्मनिगोदानां त्रिंशत्प्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्यैव प्रकृष्टत्वात्। नाम्नः शेषपञ्चा-शत्प्रकृतयस्त्विमाः-तिर्यग्द्विकं द्वीन्द्रियादिजातिचतुष्कमौदारिकद्विकं तैजसकार्मणशरीरनाम्नी संहनन-षट्कं संस्थानषट्कं खगतिद्वयं वर्णचतुष्कमगुरुलघुचतुष्कमुद्योतनिर्माणनाम्नी त्रसदशकमस्थिरषट्कं चेति। गतमोघतो जघन्यप्रदेशबन्धस्वामित्वनिरूपणम् ॥१४२-१४३॥

अथादेशतो तन्निरूपयन्नादौ तावज्जघन्यप्रदेशबन्धकस्य सामान्ययोग्यतां निरूपयन्नाह—

सव्वह जहण्णजोगी सप्पाउग्गाण आउवज्जाणं ।
मंदपएसस्स भवे बहुत्तरप्पगडिबंधत्थो ॥१४४॥

(प्रे०) "सव्वे" त्यादि, सर्वत्र-सर्वमार्गणास्वायुर्वर्जशेषसप्तकर्मसत्कबन्धार्हसर्वोत्तरप्रकृतीनां जघन्यप्रदेशबन्धकस्तत्तत्प्रकृतीनां बन्धकेषु तत्तत्प्रकृतीनां बन्धकाले यानि योगस्थानानि संभवन्ति तेष्वल्पतमयोगस्थाने वर्तमानः, सम्भाव्यमानबन्धासु मूलोत्तरप्रकृतिषु सम्भवदधिकतमप्रकृतीर्बध्नन् विज्ञेयः । तच्च प्राग्भावितम् । यत्र लब्ध्यपर्याप्तानां प्रवेशस्तत्र तेषां बन्धप्रायोग्यप्रकृतीनां त एव भवप्रथमसमये वर्तमाना जघन्यप्रदेशबन्धकाः, लब्ध्यपर्याप्तानामप्रवेशे करणापर्याप्तानां च प्रवेशे त एव जघन्यप्रदेशबन्धकाः, यद्वा यत्र लब्ध्यपर्याप्तानां प्रवेशेऽपि तैर्या प्रकृतयो नैव बध्यन्ते तासां तत्र करणापर्याप्तानां तद्बन्धप्रायोग्यत्वे त एव जघन्यप्रदेशबन्धकाः । करणापर्याप्तानामप्रवेशे यद्वा तेषां प्रवेशेऽपि तेषां बन्धाप्रयोग्यप्रकृतीनां करणपर्याप्ता जघन्यप्रदेशबन्धस्वामिनो भवन्तीति विज्ञेयम् । तथौदारिकवैक्रियाहारककाययोगिनां शरीरपर्याप्तिपर्याप्तत्वस्य प्रथमसमये वर्तमाना जघन्ययोगिनस्तत्र बन्धार्हाणां प्रकृतीनां जघन्यप्रदेशबन्धस्वामितया विज्ञेयाः । स्वप्रायोग्यसर्वपर्याप्तिभिः पर्याप्तानामेव मार्गणार्हत्वे सति बन्धप्रायोग्यप्रकृतीनां पर्याप्तावस्थायामेव बध्यमानत्वे वा तथाऽऽयुर्बन्धयोग्यतायाः सत्वे आयुर्बन्धक एव सम्भवत्सर्वप्रकृतीनां जघन्यप्रदेशबन्धको विज्ञेयः, यथा मनोयोगादिमार्गणासु सर्वप्रकृतीनां जघन्यप्रदेशबन्धकोऽष्टविधमूलप्रकृतीर्बध्नन् विज्ञेयः । एवञ्च सति जघन्यप्रदेशबन्धस्वामित्वान्वेषणे प्रथमं तत्तत्प्रकृतीनां बन्धकेषु सम्भवज्जघन्ययोगस्थानं कस्य भवतीत्यन्वेषणीयम् , तदनु तत्र जघन्ययोगस्थाने वर्तमानस्य सम्भवन्मूलप्रकृतीनां स्वमूलप्रकृत्यभिन्नोत्तरप्रकृतीनाञ्च बन्धाधिक्यं ग्रहणीयम् । न चात्राधिकसङ्ख्याकानां मूलोत्तरप्रकृतीना बन्धस्य मार्गणया एव पर्याप्तं स्यात् , किं जघन्ययोगस्थानस्थितस्यान्वेषणेनेति वाच्यं, प्रकृतीनामाधिक्यमात्रस्यान्वेषणेऽनन्तभागहीनत्वं सङ्ख्येयभागहीनत्वं वा प्रदेशबन्धस्य स्यात् , सम्भवज्जघन्ययोगस्थानस्यान्वेषणे तु तस्याङ्ख्येयगुणहीनत्वं स्यादित्यतः प्रथमं तद्बन्धकेषु जघन्ययोगस्थानस्यान्वेषणं कर्तव्यं, तदनुप्रकृतिबन्धाधिकस्य, जघन्ययोगस्थानेनागत दलिकेभ्यः प्रकृतीनां बन्धाधिक्येऽनन्तभागहीनानां सङ्ख्येयभागहीनानां वा दलिकानां प्राप्यमाणत्वात् । अतो जघन्ययोगीनामेव मूलोत्तरप्रकृतीनामाधिक्यस्यान्वेषणं न्याय्यम् , मूलकृता चैतद् द्वयमपि सर्वमार्गणासु सम्भवदायुर्वर्जसर्वप्रकृतीनां जघन्यप्रदेशबन्धस्य स्वामित्वं करणरूपेण दर्शितम् , एतद्द्वयमनुसृत्यैव सर्वत्र जघन्यप्रदेशबन्धस्य प्राप्तेः ॥१४४॥

अथ पर्याप्तापर्याप्तेषु जघन्ययोगस्यापर्याप्तानामेव लाभात्तं दर्शयन्नाह—

जहि बंधगाऽत्थि दुविहा लद्धिअपज्जत्तगो तहा अण्णो ।
तहि मुणह अपज्जत्तो जोऽत्थि विसेसोऽत्थ वुच्चइ सो ॥१४५॥

(प्रे०) 'जहि' इत्यादि, 'जहि' शब्दो यत्रार्थकः, शेषं गतार्थमेव । 'जोऽत्थि' त्ति मार्गणासु उक्तातिरिक्तवक्तव्यता विशेषरूपेण प्रतिमार्गणं या या भवति, मूलकारस्तां तथैव वक्ष्यत्येतच्च प्रतिज्ञावाक्यमिति ॥१४५॥

तां प्रतिज्ञां निर्वाहयन् विशेषतो मार्गणासु उक्तातिरिक्तवक्तव्यतां दर्शयन् नरकगत्यादिमार्गणास्वाह–

णिरयपढमणिरयेसुं सुरम्मि तित्थयरणामकम्मस्स ।
तीसं बंधेमाणो भवज्जसमये भवे सम्मो ॥१४६॥
सेसाणं भवणदुगे सप्पाउग्गाण सव्वपयडीणं ।
समये भवस्स पढमे असण्णिओ आगओ णेयो ॥१४७॥
मणुमदुगस्स कुणंतो गुणतीसं तीसमियरणामाणं ।
सुरभवणवंतरेसुं छवीसबंधी तिआयवाईणं ॥१४८॥ (गीतिः)

(प्रे०) "णिरये"त्यादि, नरकौघे प्रथमनरकमार्गणायां देवौघमार्गणायाञ्चैवं मार्गणात्रये जिननाम्नो जघन्यप्रदेशबन्धकः सम्यग्दृष्टिर्मनुष्येभ्य उत्पद्यमानो भवप्रथमसमये वर्तमानो मनुष्यगतिप्रायोग्यत्रिंशतं बध्नन् संज्ञिभ्यः सञ्ज्ञिषूत्पद्यमानस्य यत्सम्भवज्जघन्ययोगस्थानं तस्मिन् वर्तमानो भवति । जिननाम्नो बन्धकः प्रस्तुतमार्गणात्रये मनुष्येभ्य आगत एव भवति, तस्य च भवप्रथमसमय एव जघन्ययोगस्य सद्भावः, प्रस्तुते जिननाम प्रकृतिबन्धकोऽपि त्रिंशतं बध्नन् सम्यग्दृष्टिरेवात उक्तविशेषणानां निर्देशः । नरकौघादिमार्गणात्रये शेषाणामायुर्वर्जबध्यमानप्रकृतीनां जघन्यप्रदेशबन्धमसंज्ञिपञ्चेन्द्रियपर्याप्ततिर्यग्भ्य आगतस्तत्प्रायोग्यजघन्ययोगस्थाने वर्तमानो विदधाति, प्रस्तुतमार्गणात्रयेऽसंज्ञिभ्य आगतानामेव भवप्रथमसमये जघन्ययोगवत्त्वाद्, जिननामवर्जानां शेषप्रकृतीनां बध्यमानत्वाच्च । अत्रापि नामवर्जशेषषट्कर्मणामेकैकस्यैव बन्धस्थानस्य भावाद् नोत्तरप्रकृतीनामाधिक्यसम्भवः, नाम्नस्त्वनेकबन्धस्थानानां भावाद् मनुष्यद्विकादीनां स्वामित्वे विशेषं दर्शयति–"**मणुये**"त्यादि, मनुष्यद्विकस्य जघन्यप्रदेशबन्धमसंज्ञिभ्य आगतो भवप्रथमसमये वर्तमानः सम्भवज्जघन्ययोगस्थानस्थितः, मनुष्यप्रायोग्याणामेकोनत्रिंशतं बध्नन् विज्ञेयः, मनुष्यप्रायोग्यत्रिंशत्प्रकृत्यात्मकं बन्धस्थानमसंज्ञिभ्य आगतानां न भवति, सञ्ज्ञिभ्य आगतानां तद्भावेऽपि तद्गतयोगस्यासङ्ख्येयगुणत्वान्न जघन्यप्रदेशबन्धस्य सम्भवः, प्रत्युतासङ्ख्येयगुणाधिकजघन्यस्यैव सम्भवः । शेषाणां नाम्नो बन्धप्रायोग्यप्रकृतीनां जघन्यप्रदेशबन्धमसञ्ज्ञिभ्य आगतो भवप्रथमसमये वर्तमानः सम्भवत्सर्वजघन्य-

योगी नाम्नस्त्रिंशत्प्रकृत्यात्मकं तिर्यक्प्रायोग्यं बन्धस्थानं बध्नन् विदधाति। शेषाः प्रकृतयस्त्विमाः-- तिर्यग्द्विकं पञ्चेन्द्रियजातिरौदारिकद्विकतैजसकार्मणशरीरनामानि संहननषट्कं संस्थानषट्कं विहायोगतिद्विकं वर्णचतुष्कमगुरुलघुचतुष्कं निर्माणनामोद्योतनाम त्रसचतुष्कं स्थिरषट्कमस्थिरषट्कं चेति मार्गणात्रये सप्तचत्वारिंशत् । एकेन्द्रियस्थावरातपनाम्नां नरकौघप्रथमनरकमार्गणाद्वये बन्धाभावेऽपि देवौघमार्गणायां बन्धप्रायोग्यत्वात् तज्जघन्यप्रदेशबन्धोऽसंज्ञिभ्य आगतस्य भवप्रथमसमये सम्भवज्जघन्ययोगस्थाने वर्तमानस्य भवनपतिसुरस्य व्यंतरसुरस्य वा नाम्न एकेन्द्रियप्रायोग्यां षड्विंशतिं बध्नत भवति। "**भवणदुगे**"इत्यादि,यथा देवौघमार्गणायां जघन्यप्रदेशबन्धस्वामित्वं निरूपितं । तथैव भवनपतिव्यन्तरयोः स्वप्रायोग्याणां कर्मणां देवौघमार्गणोक्तानां जिननामवर्जानामेकोत्तरशतप्रकृतीनांजघन्यप्रदेशबन्धस्वामित्वं विज्ञेयम्। असंज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यग्भ्य उत्पद्यमानानामेव प्रस्तुतमार्गणापञ्चके जघन्ययोगस्थानस्य भावात्,असंज्ञिनामुत्कृष्टतो देवनैरयिकेषु पल्योपमासङ्ख्येयभागमात्रायुष्केष्वेवोत्पादेन तेषां ज्योतिष्कादिषूत्पत्तेरभावाद् भवनपतिव्यन्तरमार्गणाद्वये एवातिदेश इति ॥१४६-१४८॥

अथ द्वितीयादिनरकमार्गणासु प्राह-

दुइअतइअणिरयेसु घोलणजोगी व तीसबंधत्थो ।
सम्मो जिणस्स मिच्छो भवपढमखणम्मि सेसाणं ॥१४९॥
एगूणतीसबंधी भवे णरदुगस्स सेसणामाणं ।
तीसइबंधी एवं सेसणिरयजोइसेसु भवे ॥१५०॥
णवरि भवे जोइसिये छवीसबंधी तिआयवाईणं ।
घोलणजोगी सम्मो सत्तमणिरयम्मि णरदुगुच्चाणं ॥१५१॥(गीतिः)

(प्रे०) "दुइअ" इत्यादि, द्वितीयतृतीयनरकमार्गणयोर्जिननाम्नो जघन्यप्रदेशबन्धकः पर्याप्तो मूलाष्टकर्मबन्धको नाम्नो मनुष्यप्रायोग्यां त्रिंशतं बध्नन् सम्यग्दृष्टिर्विज्ञेयः । अयम्भावः--कार्मग्रन्थिकमतेनाकृतकरणः क्षयोपशमसम्यग्दृष्टिर्नरकेषु नैवोत्पद्यते, क्षायिकसम्यग्दृक् कृतकरणो द्वाविंशतिसत्कर्मा क्षयोपशमसम्यग्दृष्टिश्च प्रथमनरक उत्पद्यते, न पुनर्द्वितीयादिषु, मतान्तरेण तृतीयनरकं यावन्न चतुर्थादिषु । प्रस्तुते प्रथमनरकेष्वेव क्षायिकसम्यग्दृशामुत्पत्तिं जीवसमासादिवदङ्गीकरणेन द्वितीयादिनरकेषु सम्यग्दृशामुत्पादाभावाद् द्वितीयतृतीयनिरयनैरयिकाणां जिननाम्नो बन्धभावेऽपि नापर्याप्तावस्थायां तद्बन्धसद्भावः, पर्याप्तावस्थां प्राप्यान्तर्मुहूर्तादूर्ध्वं लब्धसम्यक्त्वानां तद्बन्धभावेऽपि परावर्तमानयोगेषु जघन्ययोगे वर्तमानानां यदाऽऽयुर्बन्धो भवति तदा तद्बन्धे मूल-

प्रकृतीनामाधिक्येनाल्पदलस्य नामप्रकृतौ लाभाज्जघन्यप्रदेशबन्धसद्भाव इति तथैव निर्दिष्टम् । 'वा'कारेण पुनर्मतान्तरं सङ्गृहीतं द्रष्टव्यम् , तन्मते जिननाम्नो जघन्यप्रदेशबन्धस्य स्वामित्वं प्रथमनरकवद्बोध्यम् । शेषाणामायुर्वर्जमसक्रममत्कोत्तरप्रकृतीनामष्टनवतेर्जघन्यप्रदेशबन्धस्य स्वामिनो भवप्रथमसमये वर्तमाना मिथ्यादृष्टयस्तत्प्रायोग्यजघन्ययोगस्थाने स्थिता भवन्ति, अत्र संज्ञिभ्य एवोत्पादात् नासंज्ञिभ्य आगतानां निर्देशः । शेषप्रकृत्यन्तर्गतनामप्रकृतिभ्यो मनुष्यद्विकस्य जघन्यप्रदेशबन्धका एकोनत्रिंशतं बध्नन्तो मिथ्यादृष्टयः, शेषसप्तचत्वारिंशन्नामप्रकृतीनां जघन्यप्रदेशबन्धकास्तिर्यग्गतिप्रायोग्यास्त्रिंशतं बध्नतो मिथ्यादृष्टयो विज्ञेयाः, भावना तु सुगमा, नरकौघानुसारेण च यथासम्भवं विज्ञेया । असंज्ञिनामत्रोत्पादाभावात् संज्ञिमनुष्यतिर्यग्भ्य आगतानां भवप्रथमसमये सम्भवज्जघन्ययोगे वर्तमानानां मिथ्यादृशां जघन्यप्रदेशबन्धस्य स्वामित्वं विज्ञेयम् । अथ चतुर्थादिनरकमार्गणास्वतिदिशति–'**एव सेसणिरयजोइसेसु**' इत्यादि, चतुर्थपञ्चमषष्ठसप्तमनरकमार्गणासु ज्योतिष्कदेवभेदे च जघन्यप्रदेशबन्धस्वामित्वं द्वितीयनरकमार्गणावद् विज्ञेयम् । अत्र जिननाम्नो बन्धाभावादायुर्वर्जशेषबन्धार्हप्रकृतीनां जघन्यप्रदेशबन्धो भवप्रथमसमये वर्तमानस्य मिथ्यादृष्टेर्भवति, भवप्रथमसमयेऽष्टनवतेर्बन्धसम्भवाद् मार्गणाप्रायोग्यजघन्ययोगस्य भावाच्च । अथ कृतातिदेशेऽप्राप्तविषयं विशेषं '**णवरि**' इत्यादिना ज्योतिष्कदेवमार्गणायां पृथगेव दर्शयति–द्वितीयादिनरकमार्गणास्वबध्यमानत्वेऽपि प्रस्तुतमार्गणायां बध्यमानानामेकेन्द्रियस्थावरातपनामप्रकृतीना जघन्यप्रदेशबन्ध नाम्नः षड्विंशतिं बध्नन् भवप्रथमसमये वर्तमानो जघन्ययोगी मिथ्यादृष्टिः करोति, तथा सप्तमनरकमार्गणाया सम्यग्दृष्टेरुत्पादाभावाद् मिथ्यादृष्टेर्बन्धाभावाच्च मनुष्यद्विकोच्चैर्गोत्रयोर्जघन्यप्रदेशबन्धो भवप्रथमसमये न भवति, किन्तु करणपर्याप्तानां सम्यग्दृशां परावर्तमानजघन्ययोगस्थाने वर्तमानानां भवति, अत्र च मूलप्रकृतावुत्तरप्रकृतौ वा संख्यातो बन्धाधिक्यं न वक्तव्यं, सम्यग्दृशां प्रस्तुतसप्तमनरकमार्गणायामायुषो बन्धाभावाद्, नाम्न एकोनत्रिंशद्बन्धस्थानस्यैव सम्यग्दृशां बन्धार्हत्वाच्च ॥१४९-१५१॥

अथ तिर्यगोघमार्गणायां प्रस्तुतस्वामित्वं दर्शयन्नाह—

तिरिये भवपढमखणे सम्मो अडवीसबंधगो णेयो ।
देवविउव्वदुगाणं ओघव्व हवेज्ज सेसाणं ॥१५२॥

(प्रे०) "तिरिये" त्यादि, तिर्यग्गत्योघमार्गणायां देवद्विकवैक्रियद्विकयोर्जघन्यप्रदेशबन्धस्य स्वामी मनुष्येभ्यस्तिर्यक्षूत्पद्यमानः कृतकरणो यद्वा क्षायिकसम्यग्दृष्टिर्युगलिकतिर्यङ् भवप्रथमसमये वर्तमानो देवगतिप्रायोग्यामष्टाविंशतिं बध्नन् विज्ञेयः । युगलधार्मिकतिर्यग्व्यतिरिक्ततिर्यक्षूत्पद्यमानस्य सम्यक्त्वाभावेन भवप्रथमक्षणे न देवद्विकादीनां बन्धः, कृतकरणावस्थायां वर्तमानं द्वात्रिंश-

तिसत्कर्माणं क्षयोपशमसम्यग्दृष्टिं क्षायिकसम्यग्दृष्टिं च मनुष्यं मुक्त्वा न शेषाः ससम्यक्त्वास्तिर्यक्षूत्पद्यन्ते, अतो युगलधार्मिकतिरश्चां निर्देशः । शेषाणां नवोत्तरशतप्रकृतीनां जघन्यप्रदेशबन्धस्वामिन ओघवद्विज्ञेयाः, ओघेऽपि तिरश्चामेव जघन्यप्रदेशबन्धस्वामित्वात् । यथा-ओघे सप्तोत्तरशतप्रकृतीनां सूक्ष्मनिगोदजीवा भवप्रथमसमये वर्तमानाः स्वामिनः,तथाऽत्रापि, यथा च नरकद्विकस्यासंज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यङ्जघन्यप्रदेशबन्धस्वामी भवति तथाऽत्रापि स एव, भावना त्वोघानुसारेण विधेया ॥१५२॥ एतर्हि पञ्चेन्द्रियतिर्यगादिमार्गणासु प्रस्तुतस्वामित्वं प्ररूपयन्नाह—

तिपणिंदियतिरियेसुं बंधंतो अट्ठवीसपयडीओ ।
परियत्तमाणजोगिअसण्णी होइ णिरयदुगस्स ॥१५३॥
अडवीसबंधिसम्मो भवज्जसमयम्मि चउसुराईणं ।
णवरं जोणिमईए ताण चउण्ह णिरयदुगव्व ॥१५४॥
सेसाण भवज्जखणे भवे असण्णी उ णरदुगस्स भवे ।
गुणतीसं बंधंतो पणवीसं उ सुहमतिगस्स ॥१५५॥
छव्वीसं बंधंतो विण्णेयो तिण्ह आयवाईणं ।
तीसइबंधी णेयो सेसाणं णामपयडीणं ॥१५६॥

(प्रे०) "**तिपणिंदियतिरियेसु**" इत्यादि, पञ्चेन्द्रियतिर्यगोघ-पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यक्-तिर्यग्योनिमतीरूपासु पञ्चेन्द्रियतिर्यक्सत्कत्रिमार्गणासु नरकद्विकस्य जघन्यप्रदेशबन्धस्वामित्वमोघवद्भवति, ओघोक्तानां जघन्यप्रदेशबन्धकानां प्रस्तुतमार्गणात्रये प्रवेशात्, तच्चैवम् करणपर्याप्तासंज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यङ् परावर्तमानघोलमानयोगेषु जघन्ययोगस्थानस्थो मूलाष्टप्रकृतीर्बध्नन् नाम्नो नरकप्रायोग्यप्रकृतीनामष्टाविंशतेर्बन्धं कुर्वन्नरकद्विकस्य जघन्यप्रदेशबन्धस्वामी भवति । देवद्विकवैक्रियद्विकयोर्जघन्यप्रदेशबन्धस्तिर्यगोघवद्भवति, स चैवम्-मनुष्येभ्य उत्पद्यमानो युगलिकतिर्यङ् क्षायिकसम्यग्दृक् कृतकरणो वा भवाद्यसमये सम्भवज्जघन्ययोगस्थाने वर्तमानः सन् देवद्विकवैक्रियद्विकयोर्जघन्यप्रदेशबन्धं विदधाति,भावना तु तिर्यगोघवदेव कार्या । सम्यग्दृष्टेर्योनिमतीषूत्पादाभावाद् देवद्विकवैक्रियद्विकयोर्जघन्यप्रदेशबन्धो भवाद्यसमये तिर्यग्योनिमतीमार्गणायां न प्राप्यते, अतस्तत्रापवादं दर्शयन्नाह-"**णवरि**" इत्यादि, तिरश्चीमार्गणायां देवद्विकवैक्रियद्विकयोर्जघन्यप्रदेशबन्धको नरकद्विकजघन्यप्रदेशबन्धकवद्विज्ञेयः, तद्यथा-असंज्ञिपर्याप्तो घोलमानयोगी परावर्तमानयोगेषु जघन्यतमयोगस्थानस्थितोऽष्टविधमूलप्रकृतिं बध्नन् देवद्विकस्य देवप्रायोग्यामष्टाविंशतिं बध्नन्, वैक्रियद्विकस्य देवप्रायोग्यां नरकप्रायोग्यां वाऽष्टाविंशतिं बध्नन् जघन्यप्रदेशबन्धस्य स्वामी भवति ।

शेषाणां सप्तोत्तरशतप्रकृतीनां प्रस्तुतमार्गणायां जघन्यप्रदेशबन्धकोऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यङ् भवाद्य-समये सम्भवज्जघन्ययोगस्थाने वर्तमानः सन् विज्ञेयः, तत्रापि पञ्चेन्द्रियतिर्यगोघमार्गणायां लब्ध्य-पर्याप्तक एव बोध्यस्तस्यैव जघन्ययोगस्थानस्य लाभात् । शेषमार्गणाद्वये तु लब्ध्यपर्याप्तानां प्रवे-शाभावेन लब्धिपर्याप्त एव भवप्रथमसमये वर्तमानो बोद्धव्यः, ज्ञानावरणादीनां नामकर्मरहितानां षट्कर्मसत्कैकोनपञ्चाशत्प्रकृतीनामेकैकबन्धस्थानेन सह बन्धभावाद् जघन्यप्रदेशबन्धे न बन्धस्थान-विशेषस्य निर्देशो, नाम्नस्त्वनेकबन्धस्थानसद्भावाद् विशेष दर्शयति-'णरदुगस्से' त्यादि, मनुष्य-द्विकस्य सूक्ष्मत्रिकस्य तथा एकेन्द्रियस्थावरातपनाम्नां च क्रमशो नाम्न एकोनत्रिंशतं, पञ्चविंशतिं, षड्विंशतिं च बध्नतो जघन्यप्रदेशबन्धो भवति । शेषाणां नामपञ्चाशत्प्रकृतीनां जघन्यप्रदेशस्त्रिंशतं बध्नता बध्यते । भावना त्वोघानुसारेण पञ्चेन्द्रियतिर्यञ्चमधिकृत्य विधेया ॥१५३-१५६॥

साम्प्रतमपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यगादिमार्गणासु जघन्यप्रदेशबन्धस्वामित्वं प्रदर्शयन्नाह—

सप्पाउग्गाणेवं असमत्तपणिंदितिरियपणिंदीसुं ।
एमेव अपज्जतसे णवरं बेइंदियो णेयो ॥१५७॥

(प्रे०) "**सप्पाउग्गाण**" इत्यादि, अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यगपर्याप्तपञ्चेन्द्रियमार्गणयोर्बध्य-मानानामायुर्वर्जसप्तोत्तरशतप्रकृतीनां जघन्यप्रदेशबन्धस्वामी भवप्रथमसमये सम्भवज्जघन्ययोग-स्थाने वर्तमानोऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियो लब्ध्यपर्याप्तको बोध्यस्तत्रापि नाम्न उत्तरप्रकृतिषु मनुष्यद्विकादीनां पञ्चेन्द्रियतिर्यगादिमार्गणासु निर्दिष्टप्रकारेणैकोनत्रिंशदादिकं बन्धस्थानं बध्नन्नेव विज्ञेयः । अतः 'एव' मित्यनेन सर्वं पञ्चेन्द्रियतिर्यग्मार्गणावदतिदिष्टम् , सुगमं चैतत् , पञ्चेन्द्रियतिर्य-गोघमार्गणायां सप्तोत्तरशतस्य ये जघन्यप्रदेशबन्धकास्तेषामेवात्रापि जघन्यप्रदेशबन्धकत्वेन प्राप्यमा-णत्वाद् । अथापर्याप्तत्रसमार्गणायां सापवादमतिदिशति 'एमेव' इत्यादिना, अपर्याप्तत्रसकायमार्गणायां बन्धार्हाणामायुर्वर्जानां सप्तोत्तरशतस्य जघन्यप्रदेशबन्धको भवप्रथमसमये सम्भवज्जघन्यतमयोगस्थाने वर्तमानो द्वीन्द्रियजीवो लब्ध्यपर्याप्तको विज्ञेयः, तत्र च नाम्न उत्तरप्रकृतिषु मनुष्यद्विकादीनां स एव लब्ध्यपर्याप्तकद्वीन्द्रियः पञ्चेन्द्रियतिर्यगादिमार्गणासु दर्शितप्रकारेणैकोनत्रिंशदादिकं बन्ध-स्थानं बध्नन् भवति । उपर्युक्तमार्गणाद्वये जघन्यप्रदेशबन्धकः पञ्चेन्द्रियो भवति, प्रस्तुतमार्ग-णायां त्वपर्याप्तपञ्चेन्द्रियस्य सद्भावेऽपि जघन्ययोगस्थानस्यापर्याप्तद्वीन्द्रियस्यैव भावात् '**णवरं बेइंदियो णेयो**' इत्येवं दर्शितम् । शेषं तु सुगमम् ॥१५७॥

एतर्हि मनुष्यौघादिमार्गणासु जघन्यप्रदेशबन्धस्वामिनं दर्शयन्नाह—

णिरयदुगस्स णरतिगे घोलणजोगी भवऽज्जखणसम्मो ।
सुरविउवदुगजिणाणं आहारदुगस्स ओघव्व ॥१५८॥

सेसाण अपज्जणरे सव्वासिं आगओ असण्णित्तो ।
भवआइमसमये णरदुगस्स गुणतीसविहबंधी ॥१५९॥
णेयो छवीसबंधी तिआयवाईण पंचवीसयरो ।
सुहमतिगस्स हवेज्जा तीसविहो सेसणामाणं ॥१६०॥

(प्रे०) "णरयदुगस्से" त्यादि, मनुष्यौघपर्याप्तमनुष्यमानुषीलक्षणासु त्रिमनुष्यमार्गणासु नरकद्विकस्य जघन्यप्रदेशबन्धको घोलनयोगी परावर्तमानयोगेषु जघन्ययोगस्थाने वर्तमानो मूलाष्टविधकर्मप्रकृतीर्बध्नन् नाम्नो नरकप्रायोग्यप्रकृतीनामष्टाविंशतिं बध्नन् मिथ्यादृष्टिर्भवति, अपर्याप्तावस्थायां बन्धाभावात् प्रस्तुतबन्धकस्य परावर्तमानयोगित्वमष्टविधबन्धकत्वञ्च विज्ञेयम्, शेषं सुगमम् । भवाद्यसमये वर्तमानः सम्यग्दृष्टिर्देवद्विकवैक्रियद्विकजिननामरूपाणां पञ्चप्रकृतीनां जघन्यप्रदेशबन्धं नाम्न एकोनत्रिंशतं बध्नन् विदधाति, भवप्रथमसमये देवद्विकवैक्रियद्विके सम्यग्दृश एव बध्नन्ति । तस्य चाष्टाविंशतिं बध्नतो न जघन्यप्रदेशबन्ध इति जिननामसहिता एकोनत्रिंशतं प्रकृतीर्बध्नत एव जघन्यप्रदेशबन्धोऽर्थतोऽधिगन्तव्यः । अत्र मानुषीमार्गणायामनन्तकाले व्यतिते सति श्रीमल्लीकुमारीवत् कदाचिदेव स्त्रीतीर्थकरत्वेनोत्पद्यते ततस्तादृग्जीवमाश्रित्य देवद्विकवैक्रियद्विकजिननामरूपाणां पञ्चानां भवप्रथमसमये सम्भवज्जघन्ययोगे च वर्तमानो नाम्न एकोनत्रिंशतं देवप्रायोग्यं बध्नन् जघन्यप्रदेशबन्धं विदधाति, तदविवक्षायां पुनः देवद्विकवैक्रियद्विकयोर्देवप्रायोग्याष्टाविंशतिं बध्नतो भवप्रथमसमये वर्तमानस्य जघन्यप्रदेशबन्धो ज्ञेय, एतदपि सप्ततिकाचूर्ण्यादौ औदारिकमिश्रकाययोगे चतुर्थगुणस्थाने स्त्रीवेदोदयस्य प्राचुर्यमधिकृत्यागंभवेऽपि कस्यचित् कर्हिचित् तत्संभवस्य दर्शितत्वात् तदधिकृत्य विज्ञेयम् । प्राचुर्यमधिकृत्य तु निरूप्यमाणे मानुषीमार्गणायां देवद्विकवैक्रियद्विकयो मूलाष्टप्रकृतीर्बध्नन् नाम्नो देवप्रायोग्यामेकोनत्रिंशतं बध्नन् जघन्यप्रदेशबन्धं विदधाति । एवं जिननाम्नोऽपि स एव जघन्यप्रदेशबन्धको भवतीति ज्ञातव्यम् । आहारकद्विकस्य जघन्यप्रदेशबन्धं परावर्तमानयोगेषु जघन्ययोगस्थाने वर्तमानो मूलाष्टप्रकृतीर्बध्नन् नाम्नस्त्रिंशतं बध्नन् सप्तमगुणस्थानवर्ती करोति, तस्य चौघतुल्यत्वादोघवद् निर्देशः । प्रस्तुतमार्गणात्रये सप्तोत्तरशतशेषप्रकृतीनामसंज्ञित आगतो भवप्रथमसमये वर्तमानः सम्भवज्जघन्ययोगी जघन्यप्रदेशबन्धकर्ता, एवमपर्याप्तमनुष्यमार्गणायां सर्वप्रकृतीनां, सप्तोत्तरशतसङ्ख्याकानां जघन्यप्रदेशबन्धं भवप्रथमसमये वर्तमानोऽसंज्ञित आगतो जघन्यप्रदेशबन्धं करोति । अत्र शतकादिवद् मनुष्याणां संज्ञिपर्याप्ताऽपर्याप्तभेदद्वयस्यैवाङ्गीकरणात् असंज्ञित आगतस्य निर्देशः, अन्यथाऽसंज्ञिभवप्रथमसमयस्था एव तत्स्वामित्वेन विज्ञेयाः । अष्टपञ्चाशन्नामप्रकृतीनां मार्गणाचतुष्केऽपि जघन्यप्रदेशबन्धस्वामित्वे पञ्चविंशत्यादिबन्धक ओघवद्विज्ञेयः, स च मूलकृता स्पष्टार्थं

दर्शितः। मनुष्यौघमार्गणायामपर्याप्तमनुष्यवत् स्वामित्वं प्रकारद्वयेन द्रष्टव्यं, तत्र तासां सप्तोत्तरशत-प्रकृतीनां लब्ध्यपर्याप्तमनुष्यस्यैव स्वामित्वात् ॥१५८-१६०॥

साम्प्रतं वैमानिकदेवमार्गणासु जघन्यप्रदेशबन्धस्वामिनं दर्शयन्नादौ तावत्कल्पद्वये तमाह—

तेरससायाईणं मिच्छो सम्मो व होइ कप्पदुगे।
भवपढमखणे मिच्छो सेसाणं णामवज्जाणं ॥१६१॥
सत्तरतिरियाईणं तीसइबंधी भवज्जखणमिच्छो।
तीसइबंधो सम्मो भवज्जसमयम्मि णरदुगजिणाणं ॥१६२॥ (गीतिः)
भवपढमखणे मिच्छो छवीसबंधी तिआयवाईणं।
सेसाण भवज्जखणे मिच्छो सम्मो व तीसबंधत्थो ॥१६३॥ (गीतिः)

(प्रे०) "तेरसे" त्यादि, सौधर्मेशानकल्पद्वये ज्ञानावरणपञ्चकान्तरायपञ्चकसातासातवेद-नीयोच्चैर्गोत्ररूपाणां त्रयोदशप्रकृतीनां जघन्यप्रदेशबन्धको भवप्रथमसये वर्तमानः सम्भवज्जघन्ययोगी सम्यग्दृष्टिर्मिथ्यादृष्टिर्वा भवति, उभयोर्जघन्ययोगस्थानस्य भावात्, तासां प्रकृतीनामेकैकस्यैव बन्ध-स्थानस्य सद्भावाच्च। शेषाणां नामकर्मवर्जानां दर्शनावरणनवक-कषायषोडशक-नवनोकषायमिथ्या-त्व-नीचैर्गोत्ररूपाणा षट्त्रिंशत्प्रकृतीनां जघन्यप्रदेशबन्धको भवप्रथमसमये सम्भवज्जघन्ययोगस्थाने वर्तमानो मिथ्यादृष्टिर्भवति,एताभ्यः षट्त्रिंशत्प्रकृतिभ्यः कासाञ्चित्प्रकृतीनां सम्यग्दृष्टेर्बन्धाभावात्, कासाञ्चित्प्रकृतीनां सम्यग्दृष्टेर्बन्धसद्भावेऽपि स्त्यानर्द्धित्रिकमिथ्यात्वादीनां बन्धाभावेन तत्सत्क-दलिकानां लाभान्न जघन्यप्रदेशबन्धकःसम्यग्दृष्टिः, किन्तुमिथ्यादृष्टिरेवेति। शेषभावना तु सुगमा। नामकर्मण्यस्तिर्यग्द्विकं द्वितीयादिसंहननपञ्चकं द्वितीयादिसंस्थानपञ्चकं कुखगतिनामोद्योतनाम दुर्भ-गत्रिक चेति सप्तदशानांसम्यग्दृष्टेर्बन्धाभावाद् मिथ्यादृष्टिर्भवप्रथमसमये सम्भवज्जघन्ययोगे वर्तमानः, नाम्नस्तिर्यक्प्रायोग्यास्त्रिंशतं प्रकृतीर्बध्नन् जघन्यप्रदेशबन्धं विदधाति। मनुष्यप्रायोग्यत्रिंशत्प्रकृत्या-त्मकबन्धस्थानं बध्नन् मनुष्यद्विकस्य जिननाम्नश्च भवप्रथमसमये वर्तमानः सम्भवज्जघन्ययोगी सम्यग्दृष्टिर्जघन्यप्रदेशबन्धस्य स्वामी भवति, न पुनर्मिथ्यादृष्टिस्तस्य जिननाम्नो बन्धाभावेन मनुष्यप्रायोग्यस्य त्रिंशद्बन्धस्थानस्यैवाभावात्। मिथ्यादृष्टिः षड्विंशतिं बध्नन् भवप्रथमसमये सम्भवज्जघन्ययोगे वर्तमान आतपस्थावरैकेन्द्रियनाम्नां जघन्यप्रदेशबन्धं विदधाति। भवप्रथम-समये वर्तमानः सम्भवज्जघन्ययोगी सम्यग्दृष्टिर्मिथ्यादृष्टिर्वा त्रिंशतं बध्नन् शेषनामप्रकृतीनां जघन्यप्रदेशबन्धं विदधाति, तत्र मिथ्यादृष्टिस्तिर्यक्प्रायोग्या उद्योतसहितास्त्रिंशतं प्रकृतीर्बध्नन् जघन्यप्रदेशबन्धस्वामी भवति, सम्यग्दृष्टिस्तु जिननामसहिता मनुष्यप्रायोग्यास्त्रिंशतं प्रकृती-

बध्नन् जघन्यप्रदेशबन्धं विदधाति, भवप्रथमसमये उभयोर्जघन्ययोगस्थानस्य त्रिंशद्बन्धस्थानस्य च सद्भावाद् यथोक्तनिर्देशः । शेषास्त्रिंशत्प्रकृतयस्त्विमाः-पञ्चेन्द्रियजातिरौदारिकद्विकं-तैजसकार्मण-शरीरनाम्नी वज्रर्षभनाराचसंहननं समचतुरस्रसंस्थानं सुखगतिर्वर्णचतुष्कमगुरुलघुचतुष्कं निर्माण-नाम त्रसदशकास्थिराशुभायशःकीर्तिनामानीति ।।१६१-१६३।।

अथ सानत्कुमारादिदेवभेदेषु जघन्यप्रदेशबन्धस्वामित्वं प्रदर्शयन्नाह—

तइआइसुरेसु भवे सप्पाउग्गाण एवमेव तहा ।
आणतआइसुरेसुं विण्णेयो णामवज्जाणं ।।१६४।।
चउदसदुहगाईण गुणतीसबंधी भवज्जखणमिच्छो ।
भवपढमखणे सम्मो तीसयरो सेसणामाणं ।।१६५।।

(प्रे०) "**तइआइसुरेसु**" इत्यादि, सनत्कुमारादि-सहस्रारपर्यन्तानां पट्कल्पगतानां स्व-प्रायोग्यप्रकृतीनां जघन्यप्रदेशबन्धस्वामित्वम् "**एवमेव**" त्ति अनन्तरदर्शितसौधर्मैशानकल्पप्रकारेण भवति । अत्र मार्गणाषट्के आतपस्थावरैकेन्द्रियप्रकृतित्रयस्य बन्धाभावात् स्वप्रायोग्यप्रकृतीनां ग्रहणं विज्ञेयम् । तच्च स्वामित्वमायुर्वर्जबन्धार्हसर्वप्रकृतीनामनन्तरदर्शितप्रकारेणैव सर्वं भवाद्यसमय-वर्तिनो सम्भवज्जघन्ययोगिनो यथासम्भवं सम्यग्दृशो मिथ्यादृशश्चाधिकृत्य वेदितव्यम् । "**आण-तआइसुरेसु**' मित्यादि आनतप्राणतारणाच्युतनवग्रैवेयकरूपासु त्रयोदशदेवमार्गणासु नामकर्म-वर्जाना जघन्यप्रदेशबन्धस्वामित्वं प्राग्गाथाप्रदर्शितसौधर्मैशानकल्पसदृशं ज्ञातव्यम् , तत्रोत्पद्य-मानानां सम्यग्दृशां मिथ्यादृशां च मार्गणाप्रायोग्यजघन्ययोगस्य सम्भवात् । "**चउदस**" इत्यादि, नामप्रकृतिभ्यो द्वितीयादिपञ्चसंहनन-द्वितीयादिपञ्चसंस्थानकुखगति-दुर्भगत्रिकरूपाणां चतुर्दशप्रकृ-तीनां सम्यग्दृष्टेर्बन्धाभावाद् भवप्रथमसमये वर्तमानः सम्भवज्जघन्ययोगी मनुष्यगतिप्रायोग्या एकोन-त्रिंशत्प्रकृतीर्बध्नन् मिथ्यादृष्टिर्जघन्यप्रदेशबन्धस्वामी विज्ञेयः, अत्र तिर्यक्प्रायोग्याः प्रकृतयो न बध्यन्ते मनुष्यगतिप्रायोग्याणां त्रिंशत्प्रकृतीनां जिननाम्ना सहैव बध्यमानत्वाद् मिथ्यादृष्टेश्च तद-भावेनैकोनत्रिंशतो बन्धकस्य निर्देशः । शेषमनुष्यगत्यादिनाम्नां भवप्रथमसमये वर्तमानः सम्भ-वज्जघन्ययोगी त्रिंशतं बध्नन् सम्यग्दृष्टिर्जघन्यप्रदेशबन्धस्य स्वामी भवति, प्रस्तुतमार्गणासु मिथ्या-दृष्टेस्त्रिंशतो बन्धस्थानस्यालाभात् सम्यग्दृष्टेः शेषाणां नामप्रकृतीनां बध्यमानत्वाच्च । नाम्नः शेषाः प्रकृतयस्त्विमाः–मनुष्यद्विकपञ्चेन्द्रियजात्यौदारिकद्विकतैजसकार्मणशरीरवज्रर्षभनाराचसम-चतुरस्रसुखगतिवर्णचतुष्कागुरुलघुचतुष्कनिर्माणजिननामत्रसदशकास्थिराशुभायशःकीर्तिनामलक्षणा-स्त्रयस्त्रिंशदिति ।।१६४-१६५।।

सम्प्रति पञ्चानुत्तरसुरमार्गणासु प्ररूपयति —

पणऽणुत्तरेसु णेयो भवज्जसमयम्मि सव्वपयडीणं ।
तीसइबंधी हवए सव्वेसिं णामपयडीणं ॥१६६॥

(प्रे०)"पणे" त्यादि, पञ्चानुत्तरदेवगतिमार्गणाभेदे बन्धप्रायोग्यणामायुर्वर्जानामेकसप्ततिप्रकृतीनां भवप्रथमसमये सम्भवज्जघन्ययोगस्थाने च वर्तमानो जघन्यप्रदेशबन्ध करोति, एतासु सम्यग्दृष्टीनामेव भावाद् न गुणस्थानविशेपस्य निर्देशः । आसु वध्यमानानां त्रयस्त्रिंशन्नामप्रकृतीनां जघन्यप्रदेशबन्धं स एव नाम्नस्त्रिंशत्स्वरूपं बन्धस्थानं बध्नन् करोति, सर्वासां त्रिंशद्बन्धस्थाने बध्यमानत्वात् । नाम्नस्त्रयस्त्रिंशत्प्रकृतयस्तु अनन्तरगाथावृत्तौ दर्शिता एव ज्ञेयाः । गतं गतिमार्गणायां जघन्यप्रदेशबन्धस्वामित्वम् ।।१६६।।

सम्प्रत्येकेन्द्रियादिमार्गणासु तद्दर्शयन्नाह--

एगिंदिये तह वणे कायकसायाजयेसु य अणयणे ।
भवियाहारेसु भवे सप्पाउग्गाण ओघव्व ॥१६७॥

(प्रे०) "एगिंदिये" त्यादि, एकेन्द्रियौघे वनस्पतिकायौघे काययोगौघे कपायचतुष्केऽसंयतमार्गणायामचक्षुर्दर्शनमार्गणायां भव्यमार्गणायामाहारकमार्गणायां चेत्येकादशमार्गणासु प्रत्येकं तत्तन्मार्गणायां बन्धप्रायोग्यप्रकृतीनां जघन्यप्रदेशबन्धस्वामित्वमोघवद्विज्ञातव्यमोघोक्तानां जघन्यप्रदेशबन्धस्वामिनां सूक्ष्मनिगोदादीनामत्रापि प्रवेशात्, तद्यथा–एकेन्द्रियौघे वनस्पतिकायौघमार्गणायां चायुर्वर्जानां सप्तोत्तरशतप्रकृतीनां सूक्ष्मनिगोदजीवा भवप्रथमसमये वर्तमाना जघन्यप्रदेशबन्धं कुर्वन्ति । शेषनवमार्गणासु सप्तोत्तरशतप्रकृतीनामेवमेव, शेपप्रकृतिपु देवद्विकवैक्रियद्विकयोर्जघन्यप्रदेशबन्धं भवप्रथमसमये वर्तमानः सम्यग्दृष्टिर्मनुष्यो नाम्न एकोनत्रिंशतं बध्नन् विदधाति । नरकद्विकस्यासंज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यक्पर्याप्त आयुर्बन्धं कुर्वन् जघन्यप्रदेशबन्ध विदधाति । जिननाम्नः सम्यग्दृष्टिर्देवनैरयिको वा भवप्रथमसमये नाम्नस्त्रिंशतं बध्नन् जघन्यप्रदेशबन्धं विदधाति । असंयमवर्जशेपाष्टमार्गणास्वाहारकद्विकस्य बन्धसद्भावात्तासु तस्याप्रमत्तसंयतो मूलाष्टप्रकृतीर्बध्नन् नाम्न एकत्रिंशतं बध्नन् जघन्यप्रदेशबन्धं विदधाति । एतच्च सर्वमोघवदतस्तद्भावनाऽप्योघवद्विज्ञेया ।।१६७।।

अथ क्रमप्राप्तेष्वपि विकलाक्षभेदेपु लाघवार्थं पश्चात् प्ररूपणीयत्वात्तान् विहाय पञ्चेन्द्रियादिमार्गणासु जघन्यप्रदेशबन्धस्वामित्वं दर्शयति—

दुपणिंदियेसु णेयो तित्थाहारदुगविउवछक्काणं ।
ओघव्व जाणियव्वो पणिंदितिरियव्व सेसाणं ॥१६८॥

(प्रे०) 'दुपणिंदिये'त्यादि, पञ्चेन्द्रियौघ-पर्याप्तपञ्चेन्द्रियमार्गणाद्वये जिननामाहारकद्विक-वैक्रियषट्करूपाणां नवप्रकृतीनां जघन्यप्रदेशबन्धस्य स्वामित्वमोघवद्विज्ञेयम् , ओघेऽप्यासां नवानां पञ्चेन्द्रियस्यैव जघन्यप्रदेशबन्धस्वामित्वात् । शेषाणां सप्तोत्तरशतप्रकृतीनां पञ्चेन्द्रियतिर्यग्मार्गणा-वज्जघन्यप्रदेशबन्धस्वामित्वं बोद्धव्यम् , असंज्ञितिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणामुभयत्र स्वामित्वात् । अत्रायं विशेषः-पञ्चेन्द्रियौघमार्गणायां पञ्चेन्द्रियतिर्यगोघमार्गणावद् लब्ध्यपर्याप्तकोऽसंज्ञितिर्यङ् भवप्रथमसमये वर्तमानो जघन्यप्रदेशबन्धस्वामी भवति, पर्याप्तपञ्चेन्द्रियमार्गणायां पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्वद् लब्धिपर्याप्त एव भवप्रथमसमये वर्तमानो जघन्यप्रदेशबन्धस्वामी भवतीति ॥१६८॥

अथ प्रथमतो द्वित्रसमार्गणयोर्जघन्यप्रदेशबन्धस्वामित्वं दर्शयन्नाह—

दुतसेसुं सव्वासिं पणिंदियव्व हवए णवरि णेयो ।
बेइंदियो विउव्वछगतित्थाहारदुगवज्जाणं ॥१६९॥

(प्रे०) "दुतसेसु"मित्यादि, त्रसकायौघ-पर्याप्तत्रसकायमार्गणाद्वये पञ्चेन्द्रियमार्गणावत् सर्वप्रकृतीनां जघन्यप्रदेशबन्धस्वामित्वमवसेयम्,तत्र वैक्रियषट्काहारकद्विकतीर्थकरनामरूपाणां नवानां पञ्चेन्द्रियस्यैव प्रकृतिबन्धार्हत्वेन तस्यैव तत्स्वामित्वेऽपि त्रसकायमार्गणाद्वये द्वीन्द्रियस्य प्रविष्टत्वात्तस्यैव मार्गणाप्रायोग्यजघन्ययोगस्थानस्य लाभाच्च स एव सप्तोत्तरशतप्रकृतीनां जघन्यप्रदेश-बन्धस्य स्वामी भवतीतिकृत्वा पञ्चेन्द्रियस्थाने द्वीन्द्रियो जघन्यप्रदेशबन्धस्वामितया द्रष्टव्यः, एतच्च मूलकारेण "णवरि" इत्यादिना अपवादरूपेण दर्शितम् तच्च सुगमम् । अत्रापि त्रसकायौघमार्ग-णायां लब्ध्यपर्याप्तस्तथा पर्याप्तत्रसकायमार्गणायां लब्धिपर्याप्तत्वे सति करणऽपर्याप्तो भवप्रथमसमये वर्तमानो द्वीन्द्रियो जघन्यप्रदेशबन्धस्य स्वामी भवति । अनन्तरदर्शितपञ्चेन्द्रियमार्गणाद्वये प्रस्तुतत्रसमार्गणाद्वये च नामप्रकृतीनां जघन्यप्रदेशबन्धस्वामितया पञ्चविंशत्यादिकं बध्नन्नि-त्यादिकं सर्वं पञ्चेन्द्रियतिर्यग्वद् विज्ञेयमिति ॥१६९॥

अथ पृथ्व्यादिमार्गणासु जघन्यप्रदेशबन्धस्वामित्वं दर्शयति—

भवपढमखणे सुहमो पुहवाइचउगणिगोअकायेसुं ।
सव्वपयडीण णरगइदुगस्स गुणतीसबंधत्थो ॥१७०॥
णेयो छवीसबंधी तिआयवाईण पणवीसविहो ।
सुहमतिगस्स हवेज्जा तीसयरो सेसणामाणं ॥१७१॥

(प्रे०) "भवपढमखणे" इत्यादि, पृथ्वीकायौघाप्कायौघतेजःकायौघवायुकायौघ-निगोदौघरूपासु पञ्चमार्गणासु सूक्ष्मबादरद्विविधजीवानां प्रवेशेऽपि तन्मध्ये च सूक्ष्मजीवाना योगस्याल्पत्वात् सूक्ष्म-

पृथ्वीकायिकादिर्भवप्रथमसमये वर्तमानो जघन्ययोगी बध्यमानानां सप्तोत्तरशतप्रकृतीनां जघन्यप्रदेश-बन्धं विदधाति, भावना त्वोघवद्विधेया, नवरं स्वस्वमार्गणायां वर्तमान इति विशेषः । एतासु पञ्चस्वपि मार्गणासु बन्धप्रायोग्यनामप्रकृतीनां नानाविधबन्धस्थानानां सम्भवात्सम्भवदधिकतम-प्रकृतिबन्धस्थानं बध्नन् जघन्यप्रदेशबन्धं विदधाति, अतः कस्याः कस्याः प्रकृतेः केन केन बन्धस्थानेन सह बध्नता जघन्यप्रदेशबन्धः क्रियते तद्दर्शयति–'णरदुगे'त्यादिना, मनुष्यद्विक-स्यैकोनत्रिंशता सह, सूक्ष्मापर्याप्तसाधारणरूपसूक्ष्मत्रिकस्य पञ्चविंशत्या सह, आतपस्थावरैकेन्द्रियरूप-प्रकृतित्रयस्य षड्विंशत्या सह, शेषतिर्यग्गत्यादिपञ्चाशत्प्रकृतीनां त्रिंशद्बन्धस्थानेन सह बध्नतो जघन्यप्रदेशबन्धो भवति, भावना त्वोघानुसारेण वक्तव्या, तद्वदिहापि भवप्रथमसमयवर्तिन एकेन्द्रियस्यैव स्वामित्वात् । अत्र व्याख्यानतोऽयं विशेषो बोध्यः-प्रस्तुतपञ्चमार्गणान्तर्गतयोस्ते-जोवायुकायमार्गणयोर्मनुष्यद्विकस्योच्चैर्गोत्रस्य च बन्धाभावात्, तयोर्मार्गणयोर्मनुष्यद्विकस्योच्चै-र्गोत्रस्य च जघन्यप्रदेशबन्धस्वामित्वं नैव निरूपणीयम् ॥१७०-१७१॥

अथ शेषेन्द्रियभेदेषु शेषकायभेदेषु च जघन्यप्रदेशबन्धस्य स्वामित्वं निगदति––

सव्वेसिं सेसेसु' चउइंदियपंचकायभेएसु' ।
भवपढमखणे णरगइदुगस्स गुणतीसबंधत्थो ॥१७२॥
णेयो छव्वीसबंधी तिआयवाईण पंचवीसविहो ।
सुहमतिगस्स हवेज्जा तीसयरो सेसणामाणं ॥१७३॥

(प्रे०) "सव्वेसिं" इत्यादि, एकेन्द्रियादिचतुरिन्द्रियपर्यन्तभेदेभ्योऽनुक्तभेदा इमे-ओघ-पर्याप्तापर्याप्तभेदेन सूक्ष्मैकेन्द्रियभेदत्रयं बादरैकेन्द्रियभेदत्रयं द्वीन्द्रियभेदत्रयं त्रीन्द्रियभेदत्रय चतुरि-न्द्रियभेदत्रयं चेत्येवं समुदिताः पञ्चदशेन्द्रियभेदाः । पञ्चेन्द्रियभेदत्रये एकेन्द्रियौघे च प्राक्पृथगेव दर्शितत्वान्न तेषामत्र सङ्ग्रहः । अथ कायमार्गणासत्कशेषभेदा इमे–ओघपर्याप्तापर्याप्तभेदेन सूक्ष्मपृथ्वी-कायभेदत्रयं बादरपृथ्वीकायभेदत्रयम्, एवमप्कायतेजःकायवायुकायसाधारणवनस्पतिकायसत्कषट् षड् भेदाः, प्रत्येकवनस्पतिकायभेदत्रयं चेति समुदितास्त्रयस्त्रिंशत्कायमार्गणासत्कशेषभेदा भवन्ति, पृथ्वीकायौघादिनवभेदेषु प्राक्पृथगेव दर्शितत्वात् । तदेवमेन्द्रियसत्कपञ्चदशभेदेषु कायमार्गणा-सत्कत्रयस्त्रिंशद्भेदेषु चेति समुदितास्वष्टचत्वारिंशत्मार्गणाभेदेषु बन्धप्रायोग्या आयुर्वर्जाः प्रकृतय-स्तेजस्काय वायुकायसत्कद्वादशभेदेषु मनुष्यद्विकोच्चैर्गोत्रवर्जाश्चतुरोत्तरशतम्, शेषासु षट्त्रिंशत्सु मार्गणासु तु सप्तोत्तरशत तासां जघन्यप्रदेशबन्धस्वामित्वं स्वस्वभवप्रथमसमये वर्तमानस्य सम्भ-वज्जघन्ययोगस्थाने वर्तमानस्य भवति, अत्रापि नाम्नो नानाबन्धस्थानानां सद्भावात् सम्भवज्ज्येष्ठ-बन्धस्थाने वर्तमान एव जघन्यप्रदेशबन्धं विदधाति, एतदेव दर्शयन्नाह–'णरगइदुगस्से'

त्यादि, ओघवदस्या देशोनमार्धगाथाया भावना विधेया, सुगमत्वान्न पुनर्दर्शयामः। मार्गणासत्केष्वोघभेदेषु भवप्रथमसमये वर्तमानो लब्ध्यपर्याप्तो जघन्यप्रदेशबन्धस्वामितया बोद्धव्यः, न तु लब्धिपर्याप्तो, लब्ध्यपर्याप्तजघन्ययोगतो लब्धिपर्याप्तसत्कजघन्ययोगस्यासङ्ख्येयगुणत्वात् ॥१७२-१७३॥ अथ मनोयोगादिमार्गणासु जघन्यप्रदेशबन्धस्वामित्वं दर्शयन्नाह--

घोलणजोगी णेयो पणमणतिवयेसु सव्वपयडीणं।
तेरअसायाईणं मिच्छो सम्मो व विण्णेयो ॥१७४॥
मिच्छादिट्ठी हवए सेसाणं णामवज्जपयडीणं।
णिरयदुगस्स दुगइओ मिच्छो अडवीसबंधत्थो ॥१७५॥
सत्तरतिरियाईणं तीसइबंधी हवेज्ज मिच्छत्ती।
णरदुगजिणाण सम्मो तीसइबंधी दुगइओऽत्थि ॥१७६॥
देवदुगस्स मणुस्सो गुणतीसिगतीसबंधिसम्माई।
तिगइट्ठो मिच्छत्ती छवीसबंधी तिआयवाईणं ॥१७७॥ (गीतिः)
तीसइबंधी मिच्छो दुगइट्ठो होइ विगलजाईणं।
तेज्जसविउवाहारगदुगाण इगतीसबंधिअपमत्तो ॥१७८॥ (गीतिः)
सुहमतिगस्स दुगइयो मिच्छो पणवीसबंधगो णेयो।
तीसइबंधी मिच्छो सम्मो वा सेसणामाणं ॥१७९॥

(प्रे०) ''घोलणजोगी''त्यादि, ओघ-सत्या-ऽसत्य सत्यासत्या-ऽसत्यामृषारूपासु पञ्चमनोयोगमार्गणासु सत्या-ऽसत्य-सत्यासत्यरूपासु तिसृषु वचनयोगमार्गणासु समुदितास्वष्टमार्गणासु सर्वपर्याप्तिभिः पर्याप्तानां संज्ञिजीवानामेव प्रवेशः। तेषां च जघन्ययोगस्य परावर्तमानयोगस्थानेषु सम्भवदल्पतमयोगस्थानरूपत्वात् ,तत्र च आयुर्बन्धस्यापि सम्भवात्प्रस्तुतमार्गणाष्टके सर्वप्रकृतीनां जघन्यप्रदेशबन्धं परावर्तमानयोगेषु जघन्ययोगस्थाने वर्तमाना अष्टमूलप्रकृतीर्बध्नन्तो निर्वर्तयन्ति। अत्रापि कासाञ्चित्प्रकृतीनां सम्यग्दृष्टयः कासाञ्चन च मिथ्यादृष्टयः कासाञ्चिच्च पुनस्ते उभयेऽपि। अथ गतिभेदेन विशेष दर्शयन्नाह-''तेरसे''त्यादि,असातसातवेदनीयज्ञानावरणपञ्चकान्तरायपञ्चकोच्चैर्गोत्ररूपाणां त्रयोदशप्रकृतीनां जघन्यप्रदेशबन्धं सम्यग्दृष्टिर्मिथ्यादृष्टिर्वा करोति। अत्र ''सम्यग्दृष्टय'' इति सामान्यनिर्देशेऽपि चतुर्थादिसप्तमान्तगुणस्थानवर्तिन एव बोध्याः, न त्वष्टमादिगुणस्थानवर्तिनस्तेषामायुर्बन्धाभावेन जघन्यप्रदेशबन्धस्वामित्वं न भवति, तत्राप्यसातवेदनीयस्य जघन्य-

प्रदेशबन्धकाः प्रथमचतुर्थगुणस्थानद्वयवर्तिन एव बोध्याः । चातुर्गतिकानामप्यासां जघन्यबन्धस्वामित्वान्न गतिविशेषस्य निर्देशः । "मिच्छादिट्ठी"त्यादि, नामकर्मवर्जानामुक्तशेषाणां षट्त्रिंशत्प्रकृतीनां जघन्यप्रदेशबन्धस्य स्वामी मिथ्यादृष्टिर्भवति, कासाञ्चित्प्रकृतीनां सम्यग्दृष्टेर्बन्धाभावात्, कासाञ्चित्प्रकृतीनां सम्यग्दृष्टेर्बन्धभावेऽपि तस्याल्पप्रकृतिबन्धकत्वेन जघन्यप्रदेशबन्धानर्हत्वात्, तद्यथा–दर्शनावरणेषु स्त्यानर्द्धित्रिकस्य सम्यग्दृष्टेर्बन्धाभावः, तस्य शेषषट्कस्य बन्धभावेऽपि चतुर्थादिगुणस्थाने स्त्यानर्द्धित्रिकस्याबध्यमानत्वेन तत्सत्कभागस्य लाभान्न जघन्यप्रदेशबन्धार्हत्वं सम्यग्दृष्टेः; मोहनीयकर्मणि मिथ्यात्वानन्तानुबन्धिचतुष्कस्त्रीवेदनपुंसकवेदानां सम्यग्दृष्टेर्बन्धाभावाच्छेषाणामेकोनविंशतिप्रकृतीनां सम्यग्दृष्टेर्बन्धभावेऽपि मिथ्यात्वानन्तानुबन्धिनां बन्धाभावेन तत्सत्कदलिकाना यथासम्भवं सर्वासु बध्यमानार्हास्वेकोनविंशत्यां लाभान्न सम्यग्दृष्टेर्जघन्यप्रदेशबन्धयोग्यत्वमिति । नीचैर्गोत्रस्य च चतुर्थादिगुणस्थाने बन्धाभावाद् मिथ्यादृष्टय एव तत्स्वामिनो विज्ञेयाः । अत्र षट्त्रिंशत्प्रकृतीनां चातुर्गतिकस्य जघन्यप्रदेशबन्धस्वामित्वं विज्ञेयम् ।

अथ नाम्नः प्रकृतीनां विशेषतः स्वामित्व दर्शयति–"णिरयदुगस्से"त्यादि मिथ्यादृष्टितिर्यग्मनुष्याणां नरकप्रायोग्यामष्टाविंशतिं बध्नतामेव नरकद्विकस्य बन्धो भवति ततस्त एव परावर्तमानयोगेषु जघन्ययोगस्थाने वर्तमाना नरकायुषो बन्धं विदधतो नरकद्विकस्य जघन्यप्रदेशबन्धं कुर्वन्ति । तिर्यग्द्विकादीनां सप्तदशानां मिथ्यादृष्टिस्तिर्यक्प्रायोग्याणां त्रिंशतं बध्नन्नायुर्बन्धं च कुर्वन् जघन्यप्रदेशबन्धं निर्वर्तयति सम्यग्दृष्टिरेताः प्रकृतीर्नैव बध्नाति, अतो मिथ्यादृष्टेर्ग्रहण, शेषं सुगमम् । तिर्यग्द्विकादयः सप्तदशप्रकृतयस्त्विमाः–तिर्यग्द्विक द्वितीयादिसंहननपञ्चकं द्वितीयादिसंस्थानपञ्चकं कुखगतिरुद्योतनामदुर्भगत्रिकं चेति । चातुर्गतिकोऽपि आसां तिर्यग्द्विकादीनां सप्तदशानां जघन्यप्रदेशबन्धं निर्वर्तयति, चातुर्गतिकजीवाना तिर्यगायुर्बन्धस्य लाभश्चेति । मनुष्यद्विकस्य जिननाम्नश्च जघन्यप्रदेशबन्धं देवो नारको वा चतुर्थगुणस्थानवर्ती त्रिंशतं मनुष्यप्रायोग्यप्रकृतीर्बध्नन्नायुर्बन्धं च विदधत् करोति । मिथ्यादृष्टेर्जिननाम्नो बन्धाभावेन मनुष्यगतिप्रायोग्यत्रिंशद्बन्धस्थानस्यालाभाद् न मिथ्यादृष्टेर्जघन्यप्रदेशबन्धस्वामित्वम् । सम्यग्दृष्टिस्तिर्यङ् मनुष्यो वा मनुष्यद्विकं नैव बध्नाति, अतो देवनारकस्योपादानम् । ननु संयतस्य देवगतिप्रायोग्याः प्रकृतीरेकत्रिंशतं बध्नतो जिननाम्नो जघन्यप्रदेशबन्धः सम्भवति प्रकृत्याधिक्यात् ततो मनुष्य एव जघन्यप्रदेशबन्धस्वामितया वक्तव्यः, न तु देवो नारको वा, तस्यैकत्रिंशत्प्रकृत्यामकबन्धस्थानस्याभावादिति चेत्, उच्यते-दलविभाजनद्वारे प्ररूपितं यन्नाम्नो लब्धभागश्चतुर्दशपिण्डप्रकृत्यष्टप्रत्येकप्रकृतिविंशतिसप्रतिपक्षत्रसादिप्रकृतय इत्येवं द्विचत्वारिंशद्भेदमध्याद् बध्यमानभेदसंख्यया विभज्येत शरीरादि तत्रापि पिण्डप्रकृतितत्तद्भेदलब्धभागास्तत्तदवान्तरबध्यमानप्रकृतिभिर्विभज्यते लब्धभागस्तु तत्तदवान्तरप्रकृतितया परिणमति। एवं च सति पिण्डप्रकृत्यन्तर्गतप्रकृतीनां वृद्धितः हानितश्च पिण्ड-

प्रकृत्यन्तर्गतसजातीयप्रकृतीनामेव दलिकानां क्रमेण हानिर्वृद्धिश्च भवति, न तु शेषप्रकृतिदलिकानामिति। यथा शरीरत्रयाच्छरीरचतुष्कं बध्नतः शरीरनामकर्मलब्धभागस्य भागत्रयाद्भागचतुष्कं भवति, ततः शरीरनाम्नोऽवान्तरभेदेष्वेव दलिकहानिर्भवति, एवमङ्गोपाङ्गनाम्नोऽपि वैक्रियाङ्गोपाङ्गं बद्ध्वा वैक्रियाहारकाङ्गोपाङ्गद्वयं बध्नाति तदा वैक्रियाङ्गोपाङ्गनाम्नो दलिकहानिर्भवति, न पुनः शेषप्रकृतीनां सा, अत एवैकोनत्रिंशतं एकत्रिंशतं वा बध्नतो वैक्रियद्विकं तैजसं कार्मणं च शरीरं मुक्त्वा शेषपञ्चविंशतौ न हानिर्नापि वृद्धिः, अतो जिननाम्नो न जघन्यप्रदेशबन्धार्हत्वमेकत्रिंशतं बध्नतः, किन्तु मनुष्यगतिप्रायोग्यत्रिंशतं बध्नत एव जिननाम्नो जघन्यप्रदेशबन्धस्वामित्वं भवति, संहनननामकर्मरूपापिण्डप्रकृतिवर्धनात्। एतत् सर्वं विभाव्य ग्रन्थकृता देवनारकाणामेव जघन्यप्रदेशबन्धस्वामित्वं दर्शितं।

"**देवदुगस्से**"त्यादि; देवद्विकस्य जघन्यप्रदेशबन्धस्वामी मनुष्यो जिननाम्ना सह देवप्रायोग्यप्रकृतीनामेकोनत्रिंशतं बध्नन् सम्यग्दृष्टिर्भवति, स च चतुर्थादिसप्तमान्तगुणस्थानकवर्ती विज्ञेयस्तथैकत्रिंशतं बध्नन् सप्तमगुणस्थानकवर्त्यपि देवद्विकस्य जघन्यप्रदेशबन्धं विदधाति। एकोनत्रिंशत एकत्रिंशतो वा बन्धस्थानस्यापूर्वकरणगुणस्थानके सद्भावेऽपि तत्रायुर्बन्धाभावाज्जघन्यप्रदेशबन्धस्वामित्वं न प्राप्यते, मिथ्यादृशां देवप्रायोग्याष्टाविंशतिबन्धस्थानस्यैव सद्भावाद् देवद्विकस्य जघन्यप्रदेशबन्धस्वामित्वं न प्राप्यते। तिरश्चां जिननाम्नो बन्धभावान्न तेषां देवद्विकस्य जघन्यप्रदेशबन्धस्वामित्वम्। "**तिगइट्ठो**" त्ति, एकेन्द्रियस्थावरातपनाम्नां जघन्यप्रदेशबन्धस्य नारकवर्जगतित्रये वर्तमानो मिथ्यादृष्टिर्घोलमानयोगी नाम्नः षड्विंशतिं बध्नन्नायुर्बन्धं च कुर्वन् स्वामी विज्ञेयः, एतत्प्रकृतित्रयस्य त्रिगतिकानां मिथ्यादृशामेव बन्धसद्भावात् षड्विंशतिबन्धस्थानात्परत आसां बन्धाभावाच्च। शेषं सुगमम्। द्वि-त्रि चतुरिन्द्रियरूपस्य विकलेन्द्रियजातित्रयस्य मिथ्यादृष्टिस्त्रिंशतं बध्नंस्तिर्यङ् मनुष्यो वा घोलमानयोग्यायुषो बन्धं कुर्वन् जघन्यप्रदेशबन्धस्वामी भवति। अत्र तिर्यङ्मनुष्यो वा प्रस्तुतप्रकृतित्रयबन्धार्हः स च मिथ्यादृक्, सम्यग्दृष्टयादीनां बन्धाभावात्; त्रिंशतं बध्नत एव भागबाहुल्याज्जघन्यदललाभः, शेषं सुगमम्। "**तेजसे**" त्यादि, द्विकशब्दस्य पदत्रये प्रत्येकं योजनात्तैजसकार्मणशरीररूपं तैजसद्विकं वैक्रियशरीर-वैक्रियाङ्गोपाङ्गरूप वैक्रियद्विकं, आहारकशरीराहारकाङ्गोपाङ्गरूपमाहारकद्विकं समुदिताश्चैताः षट्प्रकृतयः, एतासां जघन्यप्रदेशबन्धस्वामी सप्तमगुणस्थानवर्ती नाम्न एकत्रिंशतं बध्नन्नायुषो बन्धं च कुर्वन् घोलनयोगी विज्ञेयः, अत्राहारकद्विकबन्धलाभाद् वैक्रियद्विकतैजसकार्मणयोरल्पदलस्य लाभाज्जघन्यप्रदेशबन्धः प्राप्यते, त्रिंशद्बन्धस्थाने आहारकद्विकस्य बध्यमानत्वेऽपि न तदा जिननामाहारकद्विकेन सह बध्यते अतस्त्रिंशतं बध्नतो जिननाम्नो बन्धाभावान्नाहारकद्विकस्य वैक्रियद्विकतैजसकार्मणनाम्नां च जघन्यप्रदेशबन्धकत्वमिति।

"**सुहमतिगस्से**" त्यादि, सूक्ष्मापर्याप्तसाधारणरूपप्रकृतित्रयस्य जघन्यप्रदेशबन्धं मिथ्यादृष्टिस्ति-

र्यङ् मनुष्यो वा पञ्चविंशतिं बध्नन्नायुर्बन्धं च कुर्वन् घोलनयोगी विज्ञेयः, देवनारकाणां सूक्ष्मत्रिकस्य बन्धाभावात्, षड्विंशत्यादौ सूक्ष्मत्रिकस्याबन्धाच्च । 'तीसइबधो'त्यादि, शेषाणां नामप्रकृतीनां जघन्यप्रदेशबन्धं सम्यग्दृष्टिर्मिथ्यादृष्टि र्वा नाम्नस्त्रिंशतं बध्नन्नायुषो बन्धं च विदधद् घोलनयोगी विदधाति, तत्र मिथ्यादृष्टिस्तु चातुर्गतिकः,सम्यग्दृष्टिस्तु देवो नारको वा भवति, न तु तिर्यङ्मनुष्यो वा, तयोर्जिननामसहितत्रिंशद्बन्धस्थानस्यैवाभावात्, एताः प्रकृतयः सम्यग्दृष्टिना मिथ्यादृष्टिना च त्रिंशद्बन्धस्थाने बध्यन्त इति । शेषनामप्रकृतयस्त्विमाः पञ्चेन्द्रियजातिरौदारिकद्विकं प्रथमसंहननं प्रथमसंस्थानं सुखगतिर्वर्णचतुष्कमगुरुलघुचतुष्कं निर्माणनाम त्रसदशकमस्थिराशुभायशःकीर्तिनामानि चेति समुदिता अष्टाविंशतिः ।।१७४-१७९।।

अथ वचनयोगद्वये प्रस्तुतस्वामित्वं दर्शयन्नाह—

दुवयेसु विण्णयो तिरिजोणिमइव्व विउवछक्कस्स ।
तित्थस्स तीसबंधी घोलणजोगी उ दुगइओ सम्मो ।।१८०।। (गीतिः)
आहारदुगस्स भवे ओघव्वियराण विंदियो णेयो ।
घोलणजोगी णरगइदुगस्स गुणतीसबंधत्थो ।।१८१।।
णेयो छवीसबंधी तिआयवाईण पंचवीसविहो ।
सुहमतिगस्स हवेज्जा तीसविहो सेसणामाणं ।।१८२।।

(प्रे०) "दुवयेसु" मित्यादि, वचनयोगौघाऽसत्यामृषावचनयोगरूपे वचनयोगद्वये द्वीन्द्रियादीनां करणपर्याप्तानां स्वप्रायोग्याभिः सर्वपर्याप्तिभिः पर्याप्तानां घोलमानयोगिनां परावर्तमानयोगेषु सम्भवज्जघन्यतमयोगे वर्तमानानामायुषो बन्धं प्रकुर्वतां सर्वप्रकृतीनां जघन्यप्रदेशबन्धार्हत्वं भवति, तत्र वैक्रियषट्कस्य देवद्विकनरकद्विकवैक्रियद्विकलक्षणस्यासंज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यक्पर्याप्तोऽष्टमूलप्रकृतिबन्धको घोलनयोगी जघन्यप्रदेशबन्धं विदधाति। स च बन्धः तिर्यग्योनिमतीकृतबन्धतुल्यस्ततस्तद्वदतिदिष्टः, अत्र प्रस्तुतबन्धकस्य देवप्रायोग्यस्य नरकप्रायोग्यस्य वाष्टाविंशतेरेव बन्धस्थानसद्भावान्न विशेषनिर्देशो दर्शितः । जिननाम्नस्तु सम्यग्दृष्टिर्देवो नारको वा घोलमानयोगी नाम्नस्त्रिंशतं बध्नन् जघन्यप्रदेशबन्धं विदधाति, भावना तु मनोयोगमार्गणावद्विधेया, तुल्यस्वामिकत्वात् । आहारकद्विकस्य जघन्यप्रदेशबन्धस्वामित्वमोघवद्विज्ञेयम्, एतदपि मनोयोगमार्गणायां दर्शितप्रकारेण बोध्यम् ।प्रस्तुतमार्गणाद्वये पर्याप्तद्वीन्द्रियस्यैव घोलमानजघन्यतमयोगस्थानस्य भावाद् । कुत एवम् ? उच्यते द्वित्रिचतुरसंज्ञिसंज्ञिजीवानां घोलमानजघन्ययोगस्योत्तरोत्तरमसंख्येयगुणत्वात् । द्वीन्द्रियाणां बन्धप्रायोग्याणां सप्तोत्तरशतप्रकृतीनां जघन्यप्रदेशबन्धस्वामितया पर्याप्तद्वीन्द्रियो घोलमानयोग्यायुषो बन्धं च कुर्वन् बोद्धव्यः । तत्राऽपि नाम्नोऽनेकबन्धस्थानानां सम्भवान्नाम्नः

प्रकृतिषु यो विशेषस्तं दर्शयति-'णरगई'त्यादि, मनुष्यद्विकस्यैकोनत्रिंशतं बध्नन्, एकेन्द्रिय-स्थावरातपनाम्नां षड्विंशतिं बध्नन्, सूक्ष्मत्रिकस्य पञ्चविंशतेर्बन्धं विदधत्, शेषाणां पञ्चाशत्प्रकृतीनां तिर्यक्प्रायोग्यत्रिंशतं बध्नन् जघन्यप्रदेशबन्धं विदधाति । भावना त्वोघानुसारेण विधेया । सुगमत्वान्न दर्श्यते । पञ्चाशत्शेषनामप्रकृतयः पुनरिमाः-तिर्यग्द्विकं द्वीन्द्रियादिजातिचतुष्कमौदारिकद्विकं तैजसकार्मणनाम्नी संहननषट्कं संस्थानषट्कं खगतिद्वयं वर्णचतुष्कमगुरुलघुचतुष्कं निर्माणनामोद्योतनाम त्रसदशकमस्थिरषट्कमिति ॥१८०-१८२॥

अथौदारिककाययोगमार्गणायां जघन्यप्रदेशबन्धस्वामित्वं प्रदर्शयन्नाह—

ओघव्वुरले णिरयाहारदुगाण जिणचउसुराईणं ।
गुणतीसबंधिसम्मो तणुपज्जत्तिपढमखणणरो ॥१८३॥
सुहमणिगोओ णेयो सरीरपज्जत्तिपढमसमयम्मि ।
सेसपयडीण तह णरदुगस्स गुणतीसबंधत्थो ॥१८४॥
णेयो छव्वीसबंधी तिआयवाईण पंचवीसविहो ।
सुहमतिगस्स हवेज्जा तीसयरो सेसणामाणं ॥१८५॥

(प्रे०) "ओघव्वे"त्यादि, औदारिककाययोगमार्गणा लब्धिपर्याप्तानां तिर्यग्मनुष्याणां शरीरपर्याप्तिपर्याप्तकानां प्रथमसमयाद्भवति । लब्ध्यपर्याप्तानामुत्पत्त्यनन्तरं भवचरमसमयं यावल्लब्धिपर्याप्तानां तूत्पत्तिप्रथमसमयाच्छरीरपर्याप्तिनिष्ठां यावच्चौदारिकमिश्रयोगस्यैव भावान्नात्र तत्प्रवेशः, प्रस्तुतमार्गणायां जघन्ययोगः सूक्ष्मनिगोदस्य शरीरपर्याप्तिपर्याप्तकस्य मार्गणाप्रथमसमय एव लभ्यते ततस्तैर्बध्यमानसप्तोत्तरशतप्रकृतीनां त एव स्वामिनो भवन्ति, अतश्चरमगाथाद्वयेन ते तत्स्वामितया दर्शिताः, तैरबध्यमानप्रकृतीनां स्वामिनस्तु प्रथमगाथायां दर्शितास्तद्यथा—नरकद्विकाहारकद्विकयोर्जघन्यप्रदेशबन्धस्वामित्वमोघवद्भवति, तद्यथा-नरकद्विकस्यासंज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यक् पर्याप्तो घोलमानयोगी नरकायुषो बन्धं विदधन्नरकप्रायोग्याष्टाविंशतिं बध्नन् जघन्यप्रदेशबन्धको विज्ञेयः । आहारकद्विकस्य त्वप्रमत्तसंयतो देवायुर्बध्नन् घोलमानयोगी नाम्न एकत्रिंशतं बध्नञ्जघन्यप्रदेशबन्धको भवति । तथा "जिने"त्यादि, जिननाम्नो देवद्विकवैक्रियद्विकयोश्चेति समुदितानां पञ्चानां प्रकृतीनां जघन्यप्रदेशबन्धकः सम्यग्दृष्टिर्मनुष्यः, शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तकस्य प्रथमसमये सम्भवज्जघन्ययोगे वर्तमानोऽत्रायुषो बन्धस्यासम्भवेन तद्बन्धमकुर्वन्नपि नाम्नो देवप्रायोग्यैकोनत्रिंशतो बन्धं विदधञ्जघन्यप्रदेशबन्धं विदधाति । प्रस्तुतबन्धकश्चतुर्थगुणस्थानवर्तिमनुष्य एव, न तु तिर्यङ्, तस्य जिननामयुक्तस्यैकोनत्रिंशद्बन्धस्थानस्याभावात् । इदन्त्ववधेयम्-नरकद्विकाहारकद्विकवर्जशेषप्रकृतीनां

बन्धकस्यायुर्बन्धो नैव वक्तव्यः,यतो लब्धिपर्याप्तः स्वप्रायोग्यपर्याप्तिं निष्ठाप्यैवायुर्बन्धस्य योग्यः स्याद्तः प्रस्तुतमार्गणायां न कस्यापि शरीरपर्याप्तिप्रथमसमय आयुषो बन्धयोग्यत्वम् । ओघानुसारेण चरमगाथाद्वयी स्वयमेव व्याख्येया, विशेषार्थस्योक्तत्वात्, शेषार्थस्य सुगमत्वाच्च ॥ १८३-१८५ ॥

साम्प्रतमौदारिकमिश्रकाययोगमार्गणायां जघन्यप्रदेशबन्धस्वामित्व दर्शयन्नाह—

ओघव्व उरलमीसे सप्पाउग्गाण णवरि भवे ।
तित्थस्स भवज्जखणे सम्मो गुणतीसबंधिणरो ॥१८६॥ (उपगीतिः)

(प्रे०)"ओघव्वे" त्यादि, औदारिकमिश्रकाययोगमार्गणायां स्वप्रायोग्याणामायुर्वर्जानां द्वादशोत्तरशतप्रकृतीनां जघन्यप्रदेशबन्धस्वामित्वमोघवद्भवति । तच्चैवम् सप्तोत्तरशतप्रकृतीनां सूक्ष्मनिगोदजीव ऋजुगत्याऽऽगतो भवप्रथमसमये वर्तमानः सम्भवज्जघन्ययोगी लब्ध्यपर्याप्तो जघन्यप्रदेशबन्धं विदधाति, देवद्विकवैक्रियद्विकयोः सम्यग्दृष्टिर्मनुष्यो नाम्न एकोनत्रिंशतं बध्नन् देवनैरयिकेभ्य ऋजुगत्या आगतो भवप्रथमसमये वर्तमानो जघन्यप्रदेशबन्धं विदधाति । ओघे जिननाम्नो जघन्यप्रदेशबन्धको देवो नैरयिको वा भवप्रथमसमये वर्तमानो दर्शितः, अत्र तयोरप्रवेशाज्जिननाम्नो जघन्यप्रदेशबन्धस्वामित्वमोघवन्न घटतेऽतो जिननाम आश्रित्याऽपवदति "णवरि" इत्यादि, सुगमं चैतत्, प्रस्तुतमार्गणायां देवद्विकस्य जघन्यप्रदेशबन्धस्वामित्वं यथा दर्शितं तथैव जिननाम्नोऽपि तद् बोद्धव्यम्, तुल्यस्वामिकत्वादिति ॥ १८६ ॥

अथ वैक्रियकाययोगमार्गणायां तन्मिश्रयोगे च जघन्यप्रदेशबन्धस्वामित्वं निरूपयन्नाह—

वेउव्वे सव्वेसिं सरीरपज्जत्तिपढमसमयम्मि ।
तेरअसायाईणं मिच्छो सम्मो व बोद्धव्वो ॥१८७॥
मिच्छादिट्ठी णेयो सेसाणं णामवज्जपयडीणं ।
सत्तरतिरियाईणं तीसइबंधी भवे मिच्छो ॥१८८॥
तीसं बंधेमाणो सम्मो मणुसदुगतित्थणामाणं ।
देवो छवीसबंधी मिच्छो तिण्हायवाईणं ॥१८९॥
तीसइबंधी मिच्छो सम्मो वा सेसणामपयडीणं ।
एमेव विउवमीसे णवरं णेयो भवज्जखणे ॥१९०॥

(प्रे०) 'वेउव्वे'' त्यादि,वैक्रियकाययोगो देवनैरयिकाणां शरीरपर्याप्तिसमाप्त्यनन्तरं भवति, देवनारकाणां शरीरपर्याप्तिनिष्ठायाः प्रथमसमये एव वैक्रियकाययोगमार्गणायां जघन्ययोगस्य लाभा-

सत्र वर्तमान एव मार्गणाप्रायोग्यायुर्वर्जसर्वप्रकृतीनां जघन्यप्रदेशबन्धं विदधाति, अत्र शरीरपर्याप्ति-प्रथमसमये विद्यमानजघन्ययोगतो मार्गणार्हघोलमानयोगस्यासङ्ख्येयगुणत्वान्न घोलमानयोगगत इति प्ररूपणम् । तत्रापि यो विशेषस्स तु "नेर" इत्यादिगाथाभिर्दर्श्यते । सौधर्मसुरमार्गणावद् गाथा व्याख्येयाः, नवरमत्रातपादिप्रकृतित्रयवर्जशेषप्रकृतीनां स्वामितया नारका अपि वक्तव्याः। वैक्रियमिश्रकाययोगमार्गणायामतिदिशति-"एमेवे"'त्यादि, वैक्रियमिश्रकाययोगमार्गणायां वैक्रियकाययोगवत् सर्वप्रकृतीनां जघन्यप्रदेशबन्धस्वामित्वं भवति । एवं सामान्यतोऽतिदिष्टे विशेषतोऽपवादेन दर्शयति-"णवरि" त्यादिना, वैक्रियकाययोगमार्गणायां शरीरपर्याप्तिनिष्ठायाः प्रथमसमये सर्वप्रकृतीनां जघन्यप्रदेशबन्धस्वामित्वं भवति, वैक्रियमिश्रकाययोगे तु ऋजुगत्या उत्पद्यमानस्य भवप्रथमसमये तत्प्रायोग्यजघन्ययोगे च वर्तमानस्य सर्वप्रकृतीनां जघन्यप्रदेशबन्धो भवति, शेषविशेषस्तु सर्वो वैक्रियकाययोगवद्भवति । ऋजुगत्या उत्पद्यमानस्यैव जघन्ययोगस्थानलाभान्मार्गणाप्रथमसमय इत्येवमनुक्त्वा भवप्रथमसमय इति दर्शितमिति ॥ १८७-१९० ॥

सम्प्रत्याहारकतन्मिश्रकाययोगमार्गणाद्वये जघन्यप्रदेशबन्धस्वामित्वं दर्शयति—

सव्वाणाहारदुगे वट्टंतो होइ मग्गणज्जखणे ।
णामपयडीण णेयो बंधंतो ऊणतीसाओ ॥१९१॥

(प्रे०) 'सव्वाण'त्यादि, आहारककाययोगे आहारकमिश्रकाययोगे च सर्वप्रकृतीनां मार्गणाप्रथमसमयवर्ती जघन्यप्रदेशबन्धं विदधाति, तच्चैवम्—आहारकमिश्रकाययोगमार्गणायां प्रमत्तसंयत आहारकशरीरं प्रारभमाणः प्रथमसमये सम्भवज्जघन्ययोगे च वर्तमान आयुषो बन्धं च कुर्वन्नसातशोकारत्यस्थिराशुभायशःकीर्तिवर्जानां ज्ञानावरणादीनां षट्पञ्चाशत्प्रकृतीनां जघन्यप्रदेशबन्धं विदधाति । असातादीनां षण्णां तु स एवायुषो बन्धमकुर्वन् जघन्यप्रदेशबन्धं करोति, प्रस्तुते देवायुष एव बन्धप्रायोग्यत्वात् , देवायुषो बन्धकालेऽसातादीनां बन्धाभावाच्च । आहारककाययोगे तु प्रमत्तसंयत आहारकशरीरं कुर्वन्नाहारकशरीरस्य शरीरपर्याप्तिनिष्ठापनप्रथमसमये सम्भवज्जघन्ययोगे वर्तमानो देवायुषो बन्धं कुर्वन्नसातवेदनीयादिषट्प्रकृतीर्मुक्त्वा शेषाणां षट्पञ्चाशत्प्रकृतीनां जघन्यप्रदेशं बध्नाति । असातादीनां षण्णां स एवायुषो बन्धमकुर्वन् ह्रस्वप्रदेशबन्धस्य स्वामी भवति । सुगमं चैतत् । अत्र बन्धप्रायोग्याणां द्वात्रिंशन्नामप्रकृतीनां जघन्यप्रदेशबन्धो देवप्रायोग्याणां जिननामसंयुक्तानामेकोनत्रिंशतं बध्नत एव भवति । जिननामवर्जानामेकत्रिंशत्प्रकृतीनामष्टाविंशतिबन्धस्थाने न जघन्यप्रदेशबन्धः, तत्र जिननाम्नो बन्धाभावेन तत्सत्कदलिकानां लाभात् , अयमेव नाम्नो विशेषो मूलकारेण गाथायां दर्शितः । शब्दार्थस्तु सुगमः ॥ १९१ ॥

अथ कार्मणकाययोगानाहारकमार्गणयोर्जघन्यप्रदेशबन्धस्वामित्वं प्रकटयन्नाह—

कम्मणाहारेसुं सण्णाऊग्गाण सव्वपयडीणं ।
ओघव्व पढमसमये वट्टंतो विग्गहगईए ॥ १९२ ॥

(प्रे०) "कम्मे"त्यादि, कार्मणकाययोगानाहारकमार्गणयोर्द्वादशोत्तरशतप्रकृतीनां जघन्यप्रदेशबन्धस्वामित्वमोघवद्भवति, प्रस्तुतमार्गणयोर्विग्रहगतावेव सद्भावाद्विग्रहगतिप्रथमसमये वर्तमानस्य जघन्ययोगस्थानलाभाच्च तस्यैव जघन्यप्रदेशबन्धो भवति, तत्र सप्तोत्तरशतप्रकृतीनां भवप्रथमसमये विग्रहगतौ च वर्तमानस्य सम्भवज्जघन्ययोगिनो लब्ध्यपर्याप्तसूक्ष्मनिगोदस्य जघन्यप्रदेशबन्धो विज्ञेयः, देवद्विकवैक्रियद्विकयोर्देवनारकेभ्यश्च्युत्वा मनुष्येषूत्पद्यमानो विग्रहगतौ प्रथमसमये वर्तमानो देवप्रायोग्यैको॰त्रिंशतं बध्नञ्जघन्यप्रदेशं बध्नाति । जिननाम्नस्तु मनुष्येभ्य उत्पद्यमानो विग्रहगतौ भवप्रथमसमये वर्तमानो देवो नारको वा मनुष्यप्रायोग्यत्रिंशतं बध्नन् जघन्यप्रदेशबन्धको भवति ॥ १९२ ॥

अथ स्त्रीपुरुषवेदमार्गणयोः प्राह—

पज्जपणिंदिव्वित्थीपुमेसु सव्वाण णवरि मणुसिव्व ।
थीअ जिणस्स पुमे उण भवज्जखणसम्मतीसबंधिसुरो ॥१९३॥ (गीतिः)

(प्रे०) "पज्जपणिंदिव्व" इत्यादि, स्त्रीवेदपुरुषवेदमार्गणयोः सर्वप्रकृतीनां जघन्यप्रदेशबन्धस्वामित्वं पर्याप्तपञ्चेन्द्रियमार्गणावद् भवति, वक्ष्यमाणविशेषौ मुक्त्वेति बोध्यम् । यथा तत्र करणापर्याप्तासंज्ञी भवप्रथमसमये वर्तमानः सप्तोत्तरशतप्रकृतीनां जघन्यप्रदेशबन्धं विदधाति, तथैव प्रस्तुतमार्गणाद्वयेऽपि स एव जघन्यप्रदेशबन्धं निर्वर्तयति । शेषनवप्रकृतिभ्योऽष्टानां तु पुरुषवेदे पर्याप्तपञ्चेन्द्रियमार्गणावदेव भवति, तद्यथा—नरकद्विकस्यासंज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यक्पर्याप्तो घोलनयोगी नरकायुर्बध्नञ्जघन्यप्रदेशबन्धं विदधाति, देवद्विकवैक्रियद्विकयोर्जघन्यप्रदेशबन्धं देवनारकेभ्यश्च्युत्वा मनुष्येषूत्पन्नो भवप्रथमसमये सम्भवज्जघन्ययोगे च वर्तमानो जिननामसहितदेवप्रायोग्यैकोनत्रिंशतं बध्नन् मनुष्यो विदधाति । आहारकद्विकस्याप्रमत्तसंयतो देवायुर्बध्नन् घोलमानयोगी नाम्न एकत्रिंशतं बध्नञ्जघन्यप्रदेशबन्धं विदधाति । जिननाम्नः पञ्चेन्द्रियमार्गणायां सम्यग्दृष्टिर्देवो नारको वा भवप्रथमसमये वर्तमानो मनुष्यप्रायोग्याणां त्रिंशतं बध्नन् जघन्यप्रदेशबन्धस्वामितया निर्दिष्टः, प्रस्तुते पुरुषवेदमार्गणायां नारकाणां प्रवेशाभावादेव एव जघन्यप्रदेशबन्धस्वामितया वक्तव्यः, नपुनर्नारकोऽपि; इति तु 'पुमे उण" इत्यादिना दर्शितम् । अयंभावः—देवस्य पञ्चेन्द्रियवत् स्वामित्वेऽपि नारकस्याऽस्वामित्वात्तद् व्यवच्छेदपर एतन्निर्देशः, शेषं सुगमम् । स्त्रीवेदमार्गणायां सप्तोत्तरशतप्रकृतीनामसंज्ञी भवप्रथमसमये, नरकद्विकस्यासंज्ञी घोलमानयोगी नरकायुर्बन्धकाले, देवद्विकवैक्रियद्विकयोर्जिननामयुतानां देवप्रायोग्याणामेकोनत्रिंशतं बध्नती भवाद्यसमयवर्तिनी

श्रीमल्लिकुमारी भगवतीव मानुषी भवति, आहारकद्विकस्याप्रमत्तसंयती देवायुर्बध्नती पञ्चेन्द्रियमार्गणावत् स्वामिनी भवति । एवं च पञ्चदशोत्तरशतप्रकृतीनां पञ्चेन्द्रियवज्जघन्यप्रदेशबन्धस्वामित्वं भवति । जिननाम्नस्तु पञ्चेन्द्रियमार्गणातो विशेषं दर्शयति-"**णवरि मणुसिव्व थोअ**" इत्यादिना, देवीनां जिननाम्नो बन्धाभावान्न त्रिंशतो मनुष्यप्रायोग्याणां बन्धिका देवी लभ्यतेऽतो मानुष्येव देवप्रायोग्यैकोनत्रिंशतं बध्नती भवप्रथमसमये सम्भवज्जघन्ययोगे च वर्तमाना देवद्विकवज्जिननाम्नो जघन्यप्रदेशबन्धस्वामिनी भवति । शब्दार्थस्तु सुगमः । नन्वसंज्ञिनां पञ्चेन्द्रियमार्गणायां जघन्यप्रदेशबन्धस्वामित्वेऽपि पुरुषस्त्रीवेदमार्गणयोरसंज्ञिजीवानामभावान्नासंज्ञिजीवानां स्वामित्वनिरूपणं सङ्गतम् , अत्रोच्यते सप्ततिकाचूर्ण्यादिग्रन्थेष्वेकेन्द्रियादिचतुरिन्द्रियापर्याप्तानामेकस्य नपुंसकवेदस्य कथनेऽपि पर्याप्तासंज्ञिनां वेदत्रयस्य दर्शितत्वात् , सिद्धान्तग्रन्थे तन्निषेधेऽपि सप्ततिकादिग्रन्थेन तद्विधानस्य प्रतिपादनाद् , मतान्तरोऽभिप्रायान्तरं वावसेयम् । अत्र तु सप्ततिकाचूर्ण्यादिमतस्यैव ग्रहणमिति न कश्चिद्दोषः ॥ १९३ ॥

अथ नपुंसकवेदमार्गणायां लघुप्रदेशबन्धस्वामित्वं कथयति—

णपुमम्मि जाणियव्वो तिरिजोणिमइव्व विउवछक्कस्स ।
सेसाणोघव्व णवरि जिणस्स णिरयो व्व विण्णेयो ॥ १९४ ॥

(प्रे०) "**णपुमम्मि**" इत्यादि, नपुंसकवेदमार्गणायां तिरश्चीमार्गणावद् वैक्रियद्विकदेवद्विकनरकद्विकरूपाणां षट्प्रकृतीनां जघन्यप्रदेशबन्धस्वामित्वं ज्ञातव्यम् । तच्चैवम्—असंज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यक्पर्याप्तो घोलमानयोग्यायुर्बन्धं च कुर्वन्नुक्तषट्प्रकृतीनां जघन्यप्रदेशबन्धं विदधाति । संज्ञितिर्यग्मनुष्येषु सम्यग्दृष्टीनां नपुंसकत्वेनोत्पादाभावान्न देवद्विकवैक्रियद्विकयोरोघवत् स्वामित्वं भवति, नरकद्विकस्यात्राप्योघवदेव, तच्चातिदेशेनापि लब्धम् । अथ शेषप्रकृतीनां दर्शयति-"**सेसाणो**"त्यादि, शेषप्रकृतीनां जघन्यप्रदेशबन्धस्वामित्वमोघवद्भवत्येतच्च वक्ष्यमाणमपवादपदं विहाय विज्ञेयमिति । तच्चैवम्—सप्तोत्तरशतप्रकृतीनां लब्ध्यपर्याप्तसूक्ष्मनिगोदजीवो भवप्रथमसमये वर्तमानो जघन्यप्रदेशबन्धं विदधाति, आहारकद्विकस्याप्रमत्तसंयत आयुर्बन्धं विदधन्नाम्न एकत्रिंशतं बध्नन् जघन्यप्रदेशबन्धं करोति ।

अथ प्रस्तुतमार्गणायामेव जिननामसत्कजघन्यप्रदेशबन्धस्वामित्वे ओघतो यः कश्चिद्विशेषस्तं दर्शयति-"**णवरि**"त्यादिना, ओघे जिननाम्नो जघन्यप्रदेशबन्धं देवो नारको वा करोति, प्रस्तुते तु देवानां प्रवेशाभावान्नारकाणामेव जघन्यप्रदेशबन्धस्वामित्वं भवति, शेषं त्वोघवदेव । शब्दार्थस्तु सुगमः ॥ १९४ ॥

अथापगतवेदमार्गणायां प्रदर्शयति—

गयवेए सव्वेसिं णेयो परियत्तमाणजोगत्थो।
संजलणाण चउण्हं चउविहबंधी मुणेयव्वो ॥ १९५ ॥

(प्रे०) "गयवेए" इत्यादि, अपगतवेदमार्गणायां जघन्यप्रदेशबन्धो तत्र मार्गणायां बन्धप्रायोग्यणामेकविंशतेरपि नवमगुणस्थानके परावर्तमानयोगस्थानेषु जघन्ययोगस्थाने वर्तमानस्य उपशमकस्य क्षपकस्य वा भवति। अत्र ज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरणचतुष्कान्तरायपञ्चकसातवेदनीययशःकीर्त्युच्चैर्गोत्ररूपाणां सप्तदशानां दशमगुणस्थानके बन्धभावेऽपि तत्र षण्णामेव मूलप्रकृतीनां बन्धभावान्न जघन्यप्रदेशबन्धलाभोऽतो वेदोदयस्य विच्छेदादारभ्य नवमगुणस्थानचरमसमयं यावद्वर्त्तमानस्य जघन्यप्रदेशबन्धार्हत्वं विज्ञेयम्। तथा "संजलणाण" त्ति वेदोदयविच्छेदादनु संज्वलनक्रोधस्य बन्धविच्छेदं यावच्चतुर्णां सज्वलनानां बन्धं कुर्वन्नेव परावर्तमानजघन्ययोगे वर्तमान उपशामकः क्षपको वा संज्वलनचतुष्कस्य जघन्यप्रदेशबन्धस्वामी भवति ॥ १९५ ॥

अथ मतिज्ञानादिमार्गणासु जघन्यप्रदेशबन्धस्वामित्वं प्राह—

णाणतिगे ओहिम्मि य सम्मखइअवेअगेसु सम्मत्ती।
पढमे भवस्स समये पयडीणं णामवज्जाणं ॥ १९६ ॥
ओघव्व जाणियव्वो सुरविउवाहारजुगलतित्थाण।
जिणणामव्व हवेज्जा पयडीणं सेसणामाणं॥ १९७ ॥

(प्रे०) "णाणतिगे" इत्यादि, मतिज्ञान श्रुतज्ञानावधिज्ञानावधिदर्शनसम्यक्त्वौघक्षायिकसम्यक्त्वक्षायोपशमिकसम्यक्त्वरूपासु सप्तमार्गणासु नामवर्जानां शेषकर्मणां ज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरणचतुष्कनिद्राद्विकाप्रत्याख्यानावरणादिद्वादशकषायहास्यषट्कपुरुषवेदसातासातवेदनीयोच्चैर्गोत्रान्तरायपञ्चकरूपाणामष्टात्रिंशत्प्रकृतीनां भवप्रथमसमयवर्ती सम्भवज्जघन्ययोगस्थाने वर्तमानश्चतुर्थगुणस्थानवर्ती जघन्यप्रदेशबन्धं करोति। भवप्रथमसमये वर्तमानस्य एव जघन्ययोगवत्त्वादासु च मार्गणासु भवप्रथमसमये चतुर्थगुणस्थानतोऽन्यगुणस्थानस्यासम्भवाच्च। शेषहेतवो यथासम्भवं विवेचनीयाः, सुगमाश्च ते। "ओघव्वे"त्यादि, प्रस्तुतमार्गणासप्तके देवद्विकवैक्रियद्विकाहारकद्विकाना जघन्यप्रदेशबन्धस्वामित्वमोघवद्भवति, ओघोक्ताना जघन्यप्रदेशबन्धस्वामिना भवप्रथमसमयवर्तिसम्यग्दृग्मनुष्यरूपाणामप्रमत्तसंयतरूपाणाञ्चात्रापि लाभात्। एवं जिननाम्नोऽपि जघन्यप्रदेशबन्धस्वामिन ओघवद्भवन्ति, ओघोक्तस्वामिनामत्र लाभात्, तद्यथा-जिननामजघन्यप्रदेशबन्धको भवप्रथमसमये सम्भवज्जघन्ययोगस्थाने वर्तमानो देवो नारको वा मनुष्यप्रायोग्यास्त्रिंशतं बध्नन् विज्ञेयः। जिननामवत्शेषप्रकृतीनां जघन्यप्रदेशबन्धस्वामित्वात्तद्वदतिदिशति-"जिणणामव्वे"त्यादि, शेषप्रकृतिभ्यो मनुष्यपञ्चकं विना सर्वासां मनुष्यैर्बध्यमानत्वेऽपि तेषां प्रस्तुते संहनननामनो बन्धाभावान्न-

तेषां जघन्यप्रदेशबन्धस्वामित्वमपि तु देवनैरयिकाणामेवेति । शेषप्रकृतयस्त्विमाः—मनुष्यद्विकं पञ्चेन्द्रियजातिरौदारिकद्विकं तैजसकार्मणशरीरनाम्नी वज्रर्षभनाराचसंहननसमचतुरस्रसंस्थानसुखगतिवर्णचतुष्कागुरुलघुचतुष्कनिर्माणत्रसदशकास्थिराशुभायशःकीर्तिरूपा द्वात्रिंशत् ॥१९६-१९७॥

अथ मनःपर्यवज्ञानादिमार्गणायां प्राह—

मणणाणसंजमेसुं समइअछेएसु तह य परिहारे ।
सव्वेसिं पयडीणं घोलणजोगी मुणेयव्वो ॥१९८॥
तेअसविउवाहारगदुगाण इगतीसबंधिअपमत्तो ।
अथिरअसुहअजसाणं पमत्तगुणतीसबंधत्थो ॥१९९॥
गुणतीसविहो इगतीसविहो वा सेसणामपयडीणं ।
सुहमे घोलणजोगी सप्पाउग्गाण सव्वेसिं ॥२००॥

(प्रे०) "**मणणाणे**"त्यादि, मनःपर्यवज्ञानसंयमौघसामायिकसंयमच्छेदोपस्थापनसंयम-परिहारविशुद्धिसंयमलक्षणासु पञ्चसु मार्गणास्वायुर्वर्जसर्वप्रकृतीनां जघन्यप्रदेशबन्धको घोलमानयोगी भवति, अत्रापर्याप्तावस्थाया अभावाद् घोलमानयोगिनामेव सर्वासां जघन्यप्रदेशबन्धार्हत्वम् । तत्राप्यायुषो बन्धयोग्यत्वेनास्थिराशुभायशःकीर्त्यसातवेदनीयशोकारतिरूपाः षट्प्रकृतीर्विहाय शेषाष्टपञ्चाशत्प्रकृतीनां जघन्यप्रदेशबन्धक आयुर्बध्नन्नेव भवति । प्रस्तुतपञ्चमार्गणासु देवायुष एव बध्यमानत्वात्तेन सार्धमस्थिरादिषण्णां बन्धस्य प्रकृतिबन्धविरोधेन बन्धाभावात्तद्वर्जनम् । एवञ्च सति ज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरणचतुष्कनिद्राद्विकसंज्वलनचतुष्कहास्यरतिभयजुगुप्सापुरुषवेदसातवेदनीयोच्चैर्गोत्रान्तरायपञ्चकरूपाणां सप्तविंशतिप्रकृतीनां प्रस्तुतमार्गणासु जघन्यप्रदेशबन्धको घोलमानयोगी प्रमत्तोऽप्रमत्तो वा संयतो देवायुर्बध्नन् विज्ञेयः । तथाऽसातशोकारतीनां तु प्रमत्तसंयतो घोलमानयोगी सप्तविधमूलप्रकृतीर्बध्नञ्जघन्यप्रदेशबन्धं विदधाति । अथ नामप्रकृतीनां जघन्यप्रदेशबन्धस्वामित्वं विशेषतो दर्शयति "तेअसे" त्यादि, तैजसकार्मणशरिरवैक्रियद्विकाहारकद्विकरूपाणां षण्णां सप्तमगुणस्थानस्थो देवायुर्बध्नन् घोलनयोगी नाम्न एकत्रिंशतं बध्नन् जघन्यप्रदेशबन्धको भवति । देवप्रायोग्यत्रिंशद्बन्धस्थाने जिननाम्नो बन्धाभावेन तत्सत्कभागस्य बध्यमानप्रकृतिषु लाभान्न जघन्यप्रदेशबन्धः सम्भवति, एकोनत्रिंशतो बन्धकस्य एकोनत्रिंशति बध्यमानायामाहारकद्विकस्य बन्धाभावेन तत्सत्कभागस्य शरीराङ्गोपाङ्गनाम्नोरेव प्रवेशान्न जघन्यप्रदेशबन्धो वैक्रियद्विकस्य तेजसकार्मणयोश्चेत्येकत्रिंशद्बन्धकस्य निर्देशः । शेषं सुगमम् । "**अथिरे**" त्यादि, अस्थिराशुभायशःकीर्तिनामरूपाणां त्रयाणां सप्तमगुणस्थानके बन्धाभावात्, तथा प्रस्तुतप्रकृतित्रिकेण सह देवायुषोऽबध्यमानत्वान्मूलसप्तविधप्रकृतीर्बध्नन् नाम्न

एकोनत्रिंशतं बध्नन्नस्थिराशुभायशःकीर्तिनाम्नां प्रमत्तसंयतो घोलमानयोगी जघन्यप्रदेशबन्धको भवति । "गुणतीसे"त्यादि, शेषाणां नामप्रकृतीनां जघन्यप्रदेशबन्धको घोलनयोगी देवायुर्बध्नन् नाम्न एकोनत्रिंशतमेकत्रिंशतं वा बध्नन् प्रमत्तोऽप्रमत्तो वा संयतो भवति । शेषनामप्रकृतिषु शरीराङ्गोपाङ्गयोभावादेकोनत्रिंशतमेकत्रिंशतं वा बध्नता तासां जघन्यप्रदेशबन्धः क्रियते । शेषाः प्रकृतयस्त्विमाः— देवद्विकपञ्चेन्द्रियजातिसमचतुरस्रसुखगतिवर्णचतुष्कागुरुलघुचतुष्कनिर्माणजिन-नामत्रसदशकरूपाः पञ्चविंशतिः ।

अथ लाघवार्थं गाथार्धेन सूक्ष्मसम्परायमार्गणायां दर्शयति–"सुहुमे"त्यादि, सूक्ष्मसम्पराय संयममार्गणायां बध्यमानानां सप्तदशप्रकृतीनां घोलमानजघन्ययोगे वर्तमानो जघन्यप्रदेशबन्धको भवति ॥१९८-२००॥

अथाऽज्ञानादिमार्गणासु प्रदर्शयन्नाह—

अण्णाणजुगलअभवियमिच्छत्तेसु विउव्वछक्कस्स ।
तिरिजोणिमइव्व भवे ओघव्व हवेज्ज सेसाणं ॥२०१॥

(प्रे०)"अण्णाणे"त्यादि, मत्यज्ञानश्रुताज्ञानाभव्यमिथ्यात्वलक्षणासु चतसृषु मार्गणासु देवद्विकनरकद्विक वैक्रियद्विकलक्षणस्य वैक्रियषट्कस्य स्वामित्वं तिरश्चीमार्गणावद्भवति, कुतः ? इह सम्यग्दृशामभावेन देवद्विकवैक्रियद्विकयोर्जघन्यप्रदेशबन्धस्य पर्याप्तपञ्चेन्द्रियासंज्ञितिर्यक्स्वामिकत्वात् । अयम्भावः-प्रस्तुतमार्गणाचतुष्के सम्यग्दृशामप्रवेशः, यत्र सम्यग्दृष्टीनामप्रवेशो भवप्रथमसमये सम्यग्दृष्टीनां वाऽलाभस्तत्र देवद्विकवैक्रियद्विकयोर्नरकद्विकवदसंज्ञी जघन्यप्रदेशबन्धको भवति । स चैवम्–असंज्ञिपर्याप्ततिर्यक्पञ्चेन्द्रियो घोलमानयोगी देवायुर्बध्नन् देवद्विकस्य, नरकायुर्बध्नन् नरकद्विकस्य, देवायुर्नरकायु र्वा बध्नन् वैक्रियद्विकस्य जघन्यप्रदेशबन्ध करोति, तिरश्चीमार्गणायामप्यसंज्ञिपञ्चेन्द्रियपर्याप्ततिरश्चीनां वैक्रियषट्कजघन्यप्रदेशबन्धस्वामित्वात् तद्वदतिदेशः । एतासु जिननाम्न आहारकस्य च बन्धाभावः । शेषसप्तोत्तरशतप्रकृतीनामोघवत् सूक्ष्मापर्याप्तनिगोदजीवो जघन्यप्रदेशबन्धं करोति, सूक्ष्मापर्याप्तनिगोदजीवस्यात्र लाभात् सप्तोत्तरशतप्रकृतीनामोघेऽपि तस्यैव जघन्यप्रदेशबन्धस्वामित्वादोघवत्स्वामित्वनिर्देशः ॥२०१॥

अथ विभङ्गज्ञानमार्गणायामायुर्वर्जानां बन्धार्हाणां कर्मणां जघन्यप्रदेशबन्धस्य स्वामिनं निरूपयन्नाह—

विक्कियछगविगलसुहुमतिगाण अडवीसतीसपणवीसा ।
बधंतो विब्भंगे मज्झिमपरिणामतिरियणरो ॥२०२॥

णिरयसुरभवज्जखणेऽण्णाणऽण्णे उ परियत्तपरिणामो ।
बिंति खलु तिचउगइयो कमायवाइतिगसेसाणं ॥२०३॥
तत्थवि छवीसबंधी तिआयवाईण ऊणतीसविहो ।
मणुयदुगस्स हवेज्जा तीसविहो सेसणामाणं ॥२०४॥

(प्रे०)"विक्किय" इत्यादि, विभङ्गज्ञानमार्गणायां देवद्विक-नरकद्विक-वैक्रियद्विकाणां तथा सूक्ष्मत्रिकविकलत्रिकयोः समुदितानां द्वादशप्रकृतीनां जघन्यप्रदेशबन्धकः संज्ञिपर्याप्ततिर्यङ् मनुष्यो वा परावर्तमानमध्यमपरिणामी आयुर्बन्धं च विदधद्विज्ञेयः, तत्र देवनरकवैक्रियद्विकाणां नाम्नोऽष्टाविंशते र्बन्धकस्य एवासां बन्धार्हत्वात् , आसां जघन्यप्रदेशबन्धमपि नाम्नोऽष्टाविंशतेर्बन्धक एव करोति । विकलत्रिकस्य जघन्यप्रदेशबन्धो नाम्नः त्रिंशतो बध्नतो भवति, पञ्चविंशतौ एकोनत्रिंशद्बन्धस्थाने च विकलत्रिकस्य बन्धभावेऽपि तत्र भाजकराशेरल्पत्वेन भागफलस्याधिक्यात् न प्राप्यते जघन्यप्रदेशबन्धो-ऽतः त्रिंशद्बन्धस्थानबन्धकस्य ग्रहणम् । सूक्ष्मत्रिकस्य जघन्यप्रदेशबन्धको नाम्नः पञ्चविंशतिं बध्नन् भवति, पञ्चविंशतिबन्धस्थानतोऽधिकं बध्नतः प्रस्तुतप्रकृतित्रयस्य बन्धाभावान्न्यूनतरं त्रयोविंशति-रूप बन्धस्थानं बध्नतस्तस्य बन्धभावेऽपि न जघन्यप्रदेशबन्धार्हत्वम् ,प्रकृतीनामल्पत्वेन भागफलस्या-धिक्यात् । अत्राऽसंज्ञिजीवानामप्रवेशात् संज्ञिनो निर्देशः, देवनैरयिकाणामेतासां द्वादशानां बन्धा-ऽभावात्तिर्यग्मनुष्ययोर्ग्रहणम् , तत्रापि श्रीमद्भगवतीसूत्राष्टमशतकाभिप्रायेण तयोरपर्याप्तावस्थस्य प्रस्तुतमार्गणाया अभावात्पर्याप्तावस्थस्य परावर्तमानजघन्ययोगस्थानवर्तिनश्च ग्रहणं विज्ञेयम् ।

शेषाणां बन्धार्हाणामायुवर्जानामेकोत्तरशतप्रकृतीनां जघन्यप्रदेशबन्धकः संज्ञिभ्यः समुत्पन्नो यथार्हं देवो नारको वा भवप्रथमसमये वर्तमानः संभवज्जघन्ययोगी विज्ञेयः, पर्याप्तयोगतोऽपर्याप्तावस्थायां योगस्याऽसंख्येयगुणहीनत्वात् तत्रापि भवप्रथमसमयेऽत्यल्पतमयोगस्थानस्य भावात्तथा निर्देशः, श्रीमद्भगवतीसूत्राष्टमशतकाभिप्रायेण विभगज्ञानस्य तिर्यग्मनुष्याणामपर्याप्तावस्थायामभावात् ,देवानां यथासम्भवं नारकाणां च तद्बन्धसद्भावात् तिर्यग्मनुष्यान् विहाय देवनारकाणां ग्रहणम् । संज्ञिभ्य उत्पद्यमानस्य जघन्ययोगस्थानापेक्षया असंज्ञिभ्यः समुत्पन्नदेवस्य नारकस्य वा भवप्रथमसमये जघ-न्ययोगस्थानस्याऽल्पतमत्वेऽपि तस्य पर्याप्तावस्थायामेव विभंगज्ञानस्य प्रादुर्भावेन प्रागपर्याप्ताव-स्थायां प्रस्तुतमार्गणाऽभावात्तस्याग्रहणं विज्ञेयम् । अत्रैकेन्द्रियस्थावरातपनाम्नां देव एव स्वामी भवति; शेषाणामष्टनवतेः देवो नारको वा । अन्ये पुनः महाबन्धकारादयो देवनारकाणामप्यपर्याप्तावस्थायां विभं-गज्ञानं नाङ्गीकुर्वन्ति इति तन्मते पर्याप्तावस्थायामायुषो बन्धं कुर्वन् परावर्तमानयोगेषु संभवज्जघ-न्ययोगी जघन्यप्रदेशबन्धं विदधाति, तत्राऽपि नारकस्य स्थावरातपैकेन्द्रियाणां तिसृणां बन्धा-ऽभावात् तद्वर्जत्रिणतिकस्तासां जघन्यप्रदेशबन्धस्वामी शेषाणामष्टनवतेश्चातुर्गतिक इति ।

शेषप्रकृतिमध्ये नामप्रकृतीनां नानाविधबन्धस्थानानां संभवात् किं बन्धस्थानं बध्नन् कासां जघन्यप्रदेशबन्धं करोतीत्येतद् विशेषं दर्शयति तृतीयार्यया "तत्थवि" इत्यादिना, तत्रापि अनन्तरदर्शितेभ्य एकोत्तरशतप्रकृतिभ्य आतपस्थावरैकेन्द्रियरूपाणां तिसृणां षड्विंशतेर्बन्धको जघन्यप्रदेशबन्धं विरचयति ततोऽधिकप्रकृत्यात्मकबन्धस्थाने आसां बन्धाभावात् । मनुष्यद्विकस्यैकोनत्रिंशद्बन्धकस्तथा शेषाणां सप्तचत्वारिंशद्नामप्रकृतीनां तिर्यग्गतिप्रायोग्यत्रिंशतो बन्धको जघन्यप्रदेशबन्धं करोति । सुगमं चेदं, प्रकृतीनामाधिक्येनाऽल्पदलिकानां प्राप्तेरिति ॥२०३-२०४॥

एतर्हि देशविरतौ दर्शयति—

देसे घोलणजोगी सप्पाउग्गाण सव्वपयडीणं ।
एगूणतीसबंधी सव्वेसिं णामपयडीणं ॥२०५॥

(प्रे०) "देसे" इत्यादि, देशविरतिमार्गणायां करणपर्याप्ता एव जीवा भवन्ति, अतः स्वप्रायोग्यसर्वप्रकृतीनां घोलमानयोगी जघन्यप्रदेशबन्धको भवति, तत्रापि असातारतिशोकवर्जानां नामवर्जैकत्रिंशज्ज्ञानावरणादिप्रकृतीनां देवायु र्बध्नन् विज्ञेयः । ताश्चेमा एकत्रिंशत्–ज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरणचतुष्कनिद्राद्विकप्रत्याख्यानावरणचतुष्कसंज्वलनचतुष्कहास्यरतिभयजुगुप्सापुरुषवेदसातवेदनीयोच्चैर्गोत्रान्तरायपञ्चकानि । असातशोकारतीनां देशविरतो घोलमानयोगी देवायुषो बन्धमकुर्वन् विज्ञेयः । अत्रायुर्बध्नतो मूलप्रकृतिसख्याया अधिकत्वेनाऽल्पस्य प्रदेशबन्धस्य सम्भवेऽपि देवायुबन्धेनाऽसातादिबन्धविरोधाद्देवायुर्बन्धमकुर्वन्निति भणितमिति ।

अथ नामप्रकृतीनां स्वामिनमाह–"एगूणतीसे" त्यादि, प्रस्तुते नाम्न उत्तरप्रकृतिभ्यो याद्वात्रिंशत्बन्धार्हास्तासां सर्वासां नाम्न एकोनत्रिंशद्बन्धस्थानं बध्नन् घोलनयोगी जघन्यप्रदेशबन्धको भवति । तत्राऽस्थिराशुभायशःकीर्तिप्रकृतीनां जघन्यप्रदेशबन्धक आयुर्वर्जमूलसप्तप्रकृतीनां बन्धको भवति, देवायुषा सहासां बन्धाभावात् । देवायुषा सह मूलाष्टप्रकृतीनां बन्धकः नाम्न एकोनत्रिंशतं बध्नन् शेषैकोनत्रिंशत्प्रकृतीनां जघन्यप्रदेशबन्धस्वामी विज्ञेयः । शेषप्रकृतयस्त्विमाः–देवद्विकपञ्चेन्द्रियजातिवैक्रियद्विकतैजसकार्मणशरीरसमचतुरस्रसुखगतिवर्णचतुष्कागुरुलघुचतुष्कनिर्माणजिननामत्रसदशकरूपा एकोनत्रिंशदिति ॥२०५॥

अधुना चक्षुर्दर्शनमार्गणायां दर्शयति—

णयणे ओघव्व भवे तित्थाहारदुगविउव्वछक्काणं ।
सेसाण पणिंदिव्व उ णवरं चउइंदियो णेयो ॥२०६॥

(प्रे०) "णयणे" त्यादि, चक्षुर्दर्शनमार्गणा लब्धिपर्याप्तचतुरिन्द्रियपञ्चेन्द्रियेषु भवत्यतो यासां

वैक्रियषट्काहारकद्विकजिननामरूपाणां नवप्रकृतीनां पञ्चेन्द्रिया जघन्यप्रदेशबन्धकास्तासामोघवदतिदेशः, ओघोक्तस्वामिनां प्रस्तुते लाभात् । "सेसाणे"त्यादि, उक्तेतरासां सप्तोत्तरशतप्रकृतीनां पञ्चेन्द्रियमार्गणावद्भवप्रथमसमयस्थस्यैव किन्तु चतुरिन्द्रियस्य जघन्यप्रदेशबन्धस्वामित्वं भवति । अयम्भावः-ओघे आसां सप्तोत्तरशतप्रकृतीनां सूक्ष्मनिगोदजीवो जघन्यप्रदेशं बध्नाति, किन्तु तस्यात्र प्रवेशाभावात् अत्र चतुरिन्द्रियस्यैव जघन्ययोगसम्भवाच्च, स एव भवप्रथमसमये वर्तमानो जघन्यप्रदेशबन्धस्वामी भवति । अत्र केचिद् लब्ध्यपर्याप्तानां चक्षुर्दर्शनमार्गणां नाङ्गीकुर्वन्ति,तेषामभिप्रायेण लब्धिपर्याप्तचतुरिन्द्रियो भवप्रथमसमयस्थः स्वामी भवति । ननु भवप्रथमसमय इन्द्रियपर्याप्त्यभावेन चक्षुर्दर्शनाभावेऽपि चक्षुर्दर्शनमार्गणा कुतोऽङ्गीक्रियते ? इति चेदुच्यते, प्रज्ञापनादिग्रन्थेषु चक्षुर्दर्शनस्य कायस्थितिः सातिरेकसागरोपमसहस्रप्रमाणा, जीवसमासादौ तु द्विसहस्रसागरोपममाना च दर्शिता, न च पर्याप्तजीवस्य कस्यचिदप्येतावती पर्याप्तावस्था भवति,तस्या उत्कृष्टतोऽपि देशोनत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमप्रमाणत्वात् , किञ्चापर्याप्तावस्थायामपि चक्षुर्दर्शनक्षयोपशमस्य भावाच्चक्षुर्दर्शन मार्गणाया सद्भावो विवक्षितो बोद्धव्यः, अन्यत्र षडशीत्यादिषु तु तस्याः क्षयोपशमभावेऽप्युपकरणाभावेनोपयोगाभावाद विवक्षणं न पुनर्विरोध इति ॥२०६॥

सम्प्रति कृष्णादिलेश्यामार्गणायां प्राह—

किण्हाए णीलाअ य मणुयो अडवीसबंधगो सम्मो ।
पढमे भवस्स समये देवविउव्वियदुगाण भवे ॥२०७॥
घोलणजोगी सम्मो णेयो एगूणतीसबंधिणरो ।
तित्थस्सोघव्व भवे सप्पाउग्गाण सेसाणं ॥२०८॥

(प्रे०) "**किण्हाए**" इत्यादि,कृष्णलेश्यामार्गणायां नीललेश्यामार्गणायाञ्च देवद्विकस्य वैक्रियद्विकस्य च जघन्यप्रदेशबन्धो देवप्रायोग्याष्टाविंशतिं बध्नतो भवप्रथमसमये वर्तमानस्य सम्भवज्जघन्ययोगस्थानस्थितस्य मनुजस्य भवति । अयम्भावः-नीललेश्याकदेवनारकेभ्यः सप्तमपृथ्वीवर्जकृष्णलेश्याकनारकेभ्यः कृष्णलेश्याकदेवेभ्यश्च सम्यक्त्वसहितं च्युत्वा मनुजेषूत्पद्यमाना मनुष्यभवप्रथमसमये सम्यक्त्वप्रभावेन देवप्रायोग्यं बध्नन्ति, न च ते जिननाम बध्नन्ति, कापोतलेश्याकनारकेभ्यस्तेजःपद्मशुक्ललेश्याकवैमानिकदेवेभ्यश्चान्यत्र देवनैरयिकेषु तद्बन्धाभावेन ततश्च्युतानां तद्बन्धाभावात् , अत एव देवप्रायोग्याष्टाविंशतिबन्धकस्य निर्देश इति ।

ननु कार्मग्रन्थिकाभिप्रायेण क्षायोपशमिकसम्यक्त्वेन सह नारकेषूत्पादाभावेऽपि कतिभ्यो नरकपृथ्वीभ्यो जीवः ससम्यक्त्वो निर्गच्छतीत्यत्रोच्यते, षट्पृथ्वीभ्यो निर्गतः ससम्यक्त्वो जीवो

मनुष्येषूत्पद्यते, एतच्च कर्मप्रकृतौ संक्रमकरणाधिकारे तच्चूर्णौ वृत्तौ च एकेन्द्रियजात्यादीनां जघन्यप्रदेशसंक्रमे पञ्चाशीतिसागरोपमं कालं यावन्निरन्तरमबन्धं प्रसाधयता निरूपितम् ।

क्षायिकसम्यग्दृष्टितिरश्चां भवप्रथमसमये देवप्रायोग्याष्टाविंशतिं बध्नतां यदि स्याद् मनुष्यवत्तत्तुल्य मम्भवज्जघन्ययोगस्थानमशुभलेश्या च तर्हि तेषामपि स्वामित्वं 'च'कारेण व्याख्येयम् । एतच्च बहुश्रुतगम्यमिति । जिननाम्नः पुनः प्रस्तुतमार्गणाद्वयगतानामपर्याप्तावस्थायां बन्धाभावाद् मनुष्याणामेव बन्धकत्वाच्च घोलमानयोगी पर्याप्तमनुष्यश्चतुर्थगुणस्थानवर्ती देवप्रायोग्यं जिननाम्ना सहैकोनत्रिंशद्बन्धस्थानं बध्नन् जघन्यप्रदेशबन्धं करोति, अत्र सप्तविधबन्धकत्वमष्टविधबन्धकत्वं वा यथासंभवं समयानुसारेण विज्ञेयमिति । चतुर्थगुणस्थानादूर्ध्वं प्रस्तुतलेश्याया अनङ्गीकरणात् चतुर्थगुणस्थानस्य निर्देशः, शेषं सुगमम् । शेषाणां सप्तोत्तरशतप्रकृतीनां जघन्यप्रदेशबन्धका ओघवद्विज्ञेयाः, ओघोक्तस्वामिनां सूक्ष्मापर्याप्तनिगोदजीवानामसंज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यक्पर्याप्तजीवानां च प्रस्तुतमार्गणायामपि सद्भावात् । शेषं सुगमम् ॥२०७-२०८॥

अथ कापोतलेश्यामार्गणायां जघन्यप्रदेशबन्धस्वामित्वं दर्शयति—

काऊअ तीमबंधी सम्मो णिरयो भवे भवज्जखणे ।
तित्थस्सोघव्व भवे सप्पाउग्गाण सेसाणं ॥२०९॥

(प्रे०) "काऊअ" इत्यादि, कापोतलेश्यामार्गणायां जिननाम्नो जघन्यप्रदेशबन्धकः सम्यग्दृष्टिर्नैरयिको भवप्रथमसमये वर्तमानः सम्भवज्जघन्ययोगस्थानस्थितो नाम्नो मनुष्यप्रायोग्यास्त्रिंशतं बध्नन् भवति । एतच्चौघवदेव किन्तु पृथग्निर्देशो देवव्यवच्छेदकपरः, ओघे तेजःपद्मशुक्ललेश्याकवैमानिकदेवस्याऽपि तत्स्वामित्वात् प्रस्तुते तु तदप्रवेशाच्च । "ओघव्वे"त्यादि, शेषाणां त्रयोदशोत्तरशतप्रकृतीनां जघन्यप्रदेशबन्धस्वामित्वमोघवद्भवति, तच्चैवम्—सप्तोत्तरशतस्य सूक्ष्मापर्याप्तनिगोदजीवो भवप्रथमक्षणे, नरकद्विकस्य मूलाष्टप्रकृतिबन्धकोऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यग्घोलमानजघन्ययोगी, देवद्विकवैक्रियद्विकयोः सम्यग्दृष्टिमनुष्यो भवप्रथमसमये, ओघे तु देवनैरयिकेभ्य आगतस्य लाभेऽपि प्रस्तुते नरकत्रयादागतो देवप्रायोग्यैकोनत्रिंशतं बध्नन् जघन्यप्रदेशबन्धको भवति । सुगमप्रायत्वाद्भावनौघानुसारेण विधेयेति ॥२०९॥

अथ शुभलेश्यात्रये स्वामित्वं दर्शयति—

सुहलेसासु मिच्छो सम्मत्ती वा भवे भवज्जखणे ।
तेरअसायाईणं मिच्छसुरो णामवज्जाणं ॥२१०॥
ओघव्व जाणियव्वो सुरविउवाहारजुगलपयडीणं ।
सेससजोग्गाण सुरो आइमतइअनवमसुरव्व ॥२११॥

(प्रे०) "सुहलेसासु"मित्यादि, तेजोलेश्यापद्मलेश्याशुक्ललेश्यारूपत्रिप्रशस्तलेश्यामार्गणासु ज्ञानावरणपञ्चकसातासातवेदनीयोच्चैर्गोत्रान्तरायपञ्चकरूपाणां त्रयोदशप्रकृतीनां भवप्रथमसमये सम्भवज्जघन्ययोगस्थाने वर्तमानो मिथ्यादृष्टिः सम्यग्दृष्टिर्वा जघन्यप्रदेशबन्धं करोति, अत्र जघन्यप्रदेशबन्धकः सम्यग्दृष्टिस्तु मनुष्यो देवो वा भवति, मिथ्यादृष्टिस्तु देवादिर्यथासम्भवं वक्तव्यः। दर्शनावरणनवक मोहनीयषड्विंशतिनीचैर्गोत्ररूपाणां षट्त्रिंशत्प्रकृतीनां जघन्यप्रदेशबन्धको मिथ्यादृष्टिर्देवो भवति। स्त्यानर्धित्रिकमिथ्यात्वमोहनीयादीनां प्रथमगुणस्थानके बन्धभावेन भाजकराशेरधिकत्वेनाल्पदलिकानां लाभात्, नीचैर्गोत्रस्य तु सम्यग्दृष्टीनां बन्धाभावाद् मिथ्यादृष्टयो जघन्यप्रदेशबन्धकाः, सास्वादनानां तु यथासंभवं जघन्यप्रदेशबन्धस्वामित्वं विभावनीयम्, सम्भवति च सास्वादनस्यापि जघन्यप्रदेशबन्धः, प्रस्तुते सम्यग्दृष्टिमिथ्यादृष्टिविभागेन स्वामित्वस्य निर्देशान्न तद्दर्शितमिति। अत्रायं विशेषो बोध्यः—प्रस्तुतलेश्यात्रये देवस्य स्वामित्वदर्शनेऽपि न तिरश्चो मनुष्यस्य वा व्यवच्छेदो बोद्धव्यः किन्तु तत्तन्मतानुसारेण तस्य स्वामित्वं निर्णेतव्यम्, तद्यथा एकेन मतेन देवेभ्यश्च्युत्वैकेन्द्रियेषूत्पन्नानां तेजोलेश्याया भावात् तेषामेव च जघन्ययोगवत्त्वात् तेषामेव स्वामित्वं भवति, तच्च प्रस्तुते नाङ्गीकृतं, शतकचूर्णिवत् संज्ञिपर्याप्तापर्याप्तभेदद्वय एव लेश्यात्रयाङ्गीकरणात्। तत्रापि तेजोलेश्यायां त्रिगतिकानां तत्स्वामित्वसम्भवेऽपि येषां मते मिथ्यादृष्टयो देवेभ्यो नष्टशुभलेश्याका उत्पद्यन्ते तेषामभिप्रायेण देवा एव, अन्याभिप्रायेण गतित्रये वर्तमाना जघन्यप्रदेशबन्धका नामवर्जप्रकृतीनां बोद्धव्याः। सम्यग्दृष्टिस्तु देवो मनुष्यो वा स्वामित्वेन प्राप्यते, देवेभ्यस्तिर्यक्षु ससम्यक्त्वोत्पादाभावान्न तत्र सम्यग्दृष्टयः स्वामिनो भवन्ति। एवं पद्मलेश्यामार्गणायां मतद्वयं वाच्यम्। शुक्ललेश्यायां देवो मनुष्यो वा स्वामी भवति। नवमादिकल्पेभ्यश्च्युतानां मनुष्येषूत्पादाद्, विशेषस्तु तेजोलेश्यामनुसृत्यावसेयः।

"ओघव्वे"त्यादि, देवद्विकवैक्रियद्विकाहारकद्विकरूपाणां षण्णां जघन्यप्रदेशबन्धका ओघवद्भवन्ति, ओघोक्तस्वामिनां प्रस्तुते लाभात्, तद्यथा-आहारकद्विकस्याप्रमत्तसंयतो घोळमानयोगेभ्यः सम्भवज्जघन्ययोगस्थानगतो देवायुर्बध्नन् नाम्नो देवप्रायोग्यैकत्रिंशतं बध्नन् जघन्यप्रदेशबन्धं करोति। देवद्विकवैक्रियद्विकयोर्मनुष्यो देवेभ्य आगतो भवप्रथमसमये सम्भवज्जघन्ययोगे च वर्तमानो जिननामसहिता नाम्न एकोनत्रिंशतं प्रकृतीर्बध्नञ्जघन्यप्रदेशबन्धको भवति। शेषबन्धप्रायोग्यप्रकृतीनां क्रमात् सौधर्म-सनत्कुमाराऽऽनतदेववज्जघन्यप्रदेशबन्धको देवो भवति, नामेतरप्रकृतीनामुक्तत्वात् शेषप्रकृतयो नाम्न एव ज्ञातव्याः, प्रस्तुतमार्गणात्तु देवानामेव यथासम्भवं पञ्चविंशतिषड्विंशत्येकोनत्रिंशत्त्रिंशद्रूपबन्धस्थानलाभात् त्रिंशदादिबध्नता शेषाणां जघन्यप्रदेशबन्धाहत्वात्। शेषप्रकृतयस्त्विमाः-मनुष्यद्विकं तिर्यग्द्विकं पञ्चेन्द्रियजातिरौदारिकद्विकतैजसकार्मणशरीरनामानि संहननषट्कं संस्थानषट्कं विहायोगतिद्विकं वर्णचतुष्कमगुरुलघुचतुष्कं निर्माणनाम

जिननाम त्रसदशकमस्थिरषट्कोद्योतातपस्थावरैकेन्द्रियनामानीति त्रिपञ्चाशत्तेजोलेश्यायाम् , पद्म-लेश्यायामेकेन्द्रियस्थावरातपनामरहिता एताः पञ्चाशत् , तिर्यग्द्विकोद्योतनामरहिता एता सप्तचत्वारिंशत् शुक्ललेश्यायामिति । तत्र तेजोलेश्यायां सौधर्मदेववद्भावना विधेया । पद्मलेश्यायामपि सनत्कुमारदेववदेव स्वप्रायोग्याणां भावना विधेया, शुक्ललेश्यामानतादिदेवलोकवत्स्वामित्वं भवति, शेषं सुगमम् ॥२१०-२११॥

अथोपशमसम्यक्त्वमार्गणायां दर्शयति--

मणजोगव्व उवसमे सुरविउवाहारजुगलपयडीणं ।
सेसाण भवज्जखणे देवो नामाण तीसयरो ॥२१२॥

(प्रे०) "**मणे**" त्यादि, उपशमसम्यक्त्वमार्गणायां द्विविधा जीवा भवन्ति **प्रथमोपशमसम्य-क्त्वभाजो** द्वितीयोपशमसम्यक्त्वभाजश्च । तत्र प्रथमोपशमसम्यग्दृष्टयश्चातुर्गतिका भवन्ति । प्रथमोपशमसम्यक्त्ववतां मरणं न सपद्यते तेन भवप्रथमसमये प्रथमोपशमसम्यक्त्ववतां प्राप्तिरेव न भवति, द्वितीयोपशमसम्यक्त्वं तु मनुष्यस्योपशमश्रेणिं प्रतिपत्तुः पर्याप्तावस्थायामेव भवति,अपर्याप्तावस्थायां तु द्वितीयमुपशमसम्यक्त्व कालकरणान्तरं तस्य देवगतावेवोत्पादाद् देवानामेव भवति, ततो देवैर्बध्यमानप्रस्तुतमार्गणार्हप्रकृतीनां स एव स्वामी भवति, देवद्विकवैक्रियद्विकाहारकद्विकानां तु तद्प्रायोग्यत्वात् पर्याप्तो घोलमानयोगी जघन्यप्रदेशबन्धार्हः, मनोयोगमार्गणायामप्येवमेवमिति तद्वदतिदेशः । ननु मनोयोगमार्गणाया प्रस्तुतषट्प्रकृतीनां जघन्यप्रदेशबन्धक आयुर्बध्नन्नेव भवति, प्रस्तुते आयुषो बन्धाभावात् कथं तद्वदतिदेशो युक्तः स्यात् ? अत्रोच्यते,करणगाथायां दर्शितं यद्"बहुयरपयडिबधो"इत्यनेन यत्राधिकप्रकृतिबन्धः सम्भवति तत्र स वक्तव्यः,प्रस्तुते आयुषो बन्धाभावान्न तद्विषयप्ररूपणा,अतो मनोयोगमार्गणावदतिदिष्टेऽपि व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तेरिति न्यायेन प्रस्तुतमार्गणायामायुर्बन्धाभावात् सप्तविधबन्धक इत्यवधेयम् । अतिदेशानुसारेण स्वामित्वमेवं प्राप्यते देवद्विकवैक्रियद्विकयोर्मनुष्यो घोलमानयोगी द्वितीयोपशमसम्यक्त्वगतो नाम्नो देवप्रायोग्यैकोनत्रिंशतमेकत्रिंशतं वा बध्नञ् जघन्यप्रदेशबन्ध करोति, प्रथमोपशमसम्यक्त्वावस्थायां जिननाम्नो बन्धाभावाद् द्वितीयोपशमसम्यक्त्वनिर्देशः,शेषं सुगमम् । स एव नाम्न एकत्रिंशतं बध्नन्नाहारकद्विकस्य जघन्यप्रदेशबन्धमुपरचयति । शेषाणामेकसप्ततिप्रकृतीनां भवप्रथमसमयवर्ती देवो जघन्यप्रदेशबन्धको भवति, तत्रापि नाम्नः शेषप्रकृतीना तु जिननामसहितास्त्रिंशतं प्रकृतीर्बध्नन्नेव जघन्यप्रदेशबन्धस्वामी भवति । शेषा एकसप्ततिप्रकृतयस्त्विमाः-ज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरणचतुष्कनिद्राद्विकाऽप्रत्याख्यानावरणचतुष्कप्रत्याख्यानावरणचतुष्कसंज्वलनचतुष्कहास्यषट्कपुरुषवेदसातासातवेदनीयोच्चैर्गोत्रान्तरायपञ्चकरूपा अष्टात्रिंशन्नामेतरप्रकृतयः,नामप्रकृतयस्तु त्रयस्त्रिंशत्-मनुष्यद्विकपञ्चेन्द्रियजात्यौ-

दारिकद्विकतैजसकार्मणशरीरवज्रर्षभनाराचसंहननसमचतुरस्रसंस्थानसुखगतिवर्णचतुष्कागुरुलघुचतुष्क-निर्माणजिननामत्रसदशकास्थिराशुभायशःकीर्तिनामरूपाः । देवस्त्वेकेषामभिप्रायेणाहमिन्द्रो ग्रैवयको-ऽनुत्तरो वा सुर उत्तराध्ययनबृहद्वृत्त्यभिप्रायेण तु सौधर्मादयो जघन्यस्वामित्वेन विज्ञेयाः तद्वीजं तु प्रथमाभिप्रायेणोपशमक उपशमश्रेणौ कालं कृत्वाऽहमिन्द्रत्वेनैवोत्पद्यते, द्वितीयाभिप्रायेण तु स सौध-र्मादिदेवत्वेनापीति ॥२१२॥

अथ मिश्रदृष्टिमार्गणायां प्रस्तुतमाह—

मीसे घोलणजोगी सव्वेसिं होइ चउखुराईणं ।
अडवीसबंधगोऽत्थि दुगइओ गुणतीसबंधगोऽण्णेसिं ॥२१३॥ गीतिः)

(प्रे०) "मीसे" इत्यादि, मिश्रदृष्टिमार्गणायाः पर्याप्तावस्थायां भावेन मार्गणार्हाणां सर्वप्रकृ-तीनां जघन्यप्रदेशबन्धको घोलमानयोगी भवति, प्रस्तुतमार्गणायामायुर्बन्धाभावादायुषो बन्धो न वक्त-व्यः, तथाऽत्र नामवर्जशेषाणामेकैकबन्धस्थानस्य भावेन न विशेषनिर्देशः, अत्र नाम्नो द्वे बन्धस्थाने अष्टा-विंशतिरेकोनत्रिंशच्च । तत्र देवद्विकवैक्रियद्विकयोस्तिर्यङ् मनुष्यो वा जघन्यप्रदेशबन्धमष्टाविंशतिं बध्नन् करोति, शेषाणां नाम्नो बन्धप्रायोग्याणां द्वात्रिंशत्प्रकृतीनां देवो नैरयिको वा नाम्नो मनुष्यगति-प्रायोग्यैकोनत्रिंशतं बध्नञ्जघन्यप्रदेशं बध्नाति । ताश्चानन्तरमार्गणासूक्तास्त्रयस्त्रिंशज्जिननामवर्जा द्वात्रिंशदित्यर्थः ॥२१३॥

अथ सास्वादनमार्गणायां दर्शयति—

सासाणे तिगइट्ठो भवज्जसमयम्मि णामवज्जाणं ।
घोलणजोगिदुगइओऽडवीसबंधी उ चउखुराईणं ॥२१४॥(गीतिः)
मणुसदुगस्स तिगइओ भवज्जसमयगुणतीसबंधत्थो ।
सेसाण तीसबंधी भवज्जसमयम्मि तिगइट्ठो ॥२१५॥

(प्रे०) "सासाणे"त्यादि, सास्वादनमार्गणायां जीवसमासादिग्रन्थोक्तिवत् संज्ञिपञ्चेन्द्रिय-पर्याप्तापर्याप्तानां संज्ञिभ्यः संज्ञिषूत्पद्यमानानां जीवानां विवक्षितत्वात् , नरकवर्जगतित्रये भवप्रथम-समये सम्भवज्जघन्ययोगे च वर्तमानो देवद्विकवैक्रियद्विकवर्जमार्गणाप्रायोग्याणां सर्वासां जघन्य-प्रदेशबन्धं करोति, सास्वादनसम्यक्त्वेन सह नैरयिकेषूत्पत्तेरभावात्तद्वर्जनम् । तत्र नामेतरसप्तच-त्वारिंशत एकैकबन्धस्थाने एव प्रस्तुते बध्यमानत्वान्न बन्धस्थानविशेषनिर्देशः, नाम्नस्तु नाना-बन्धस्थानसम्भवेन तत्र विशेषं दर्शयति-"घोलणे"त्यादि, अपर्याप्तावस्थायां सम्यग्दृष्टिं विहाय प्रथमद्वितीयगुणस्थानभाजां देवद्विकवैक्रियद्विकयोर्बन्ध एव न भवति, अतः प्रस्तुते देवद्विक-

वैक्रियद्विकयोर्बन्धस्य पर्याप्तावस्थायामेव सत्त्वाद् घोलनयोगिन एव जघन्यप्रदेशबन्धार्हत्वम् , तिर्यग्मनुष्या एतत्प्रकृतिचतुष्कबन्धार्हा इति तिर्यग्मनुष्यरूपगतिद्वयनिर्देशः । सास्वादनिनो जिननामबन्धाभावाद् देवद्विकेन सह देवप्रायोग्याष्टाविंशतिबन्धस्थानस्यैव बन्धार्हत्वादष्टाविंशतिं बध्नन्निति निर्देशः, एतेन देवद्विकवैक्रियद्विकयोर्जघन्यप्रदेशबन्धस्वामी तिर्यङ् मनुष्यो वा घोलमानजघन्ययोगी नाम्नो देवप्रायोग्याष्टाविंशतिं देवायुश्च बध्नन् भवतीति विज्ञेयम् । मनुष्यद्विकस्य देवो मनुष्यस्तिर्यङ् वा भवप्रथमसमये सम्भवज्जघन्ययोगे च वर्तमानो नाम्न एकोनत्रिंशतं बध्नञ्जघन्यप्रदेशबन्धं विदधाति । भावना तु सुगमा । शेषाणां नाम्नो बन्धप्रायोग्यप्रकृतीनां तिर्यङ् मनुष्यो देवो वा भवप्रथमसमये सम्भवज्जघन्ययोगे च वर्तमान उद्योतसहिततिर्यक्प्रायोग्यत्रिंशतं बध्नञ् जघन्यप्रदेशबन्धस्वामी भवति, तिर्यक्प्रायोग्य एव प्रस्तुते त्रिंशतो बन्धस्तत्र भाजकराशेराधिक्येनाल्पदललाभः, गतित्रयेऽपि भवप्रथमसमये तद्बन्धसद्भावश्चेति तथा दर्शितम् ॥२१४ २१५॥

अथ संज्ञिमार्गणायां जघन्यप्रदेशबन्धस्वामित्वं दर्शयति–

णिरयदुगस्स मणव्व उ सण्णिम्मि भवे जिणस्स ओघव्व ।
सेसाण णरव्व णवरि दुगइट्ठो सगहियसयस्स ॥२१६॥

(प्रे०) "णिरयदुगस्से"त्यादि, संज्ञिमार्गणायां नरकद्विकस्य जघन्यप्रदेशबन्धको घोलमानयोगी नरकायुषो बन्धं विदधन्नरकप्रायोग्याष्टाविंशतिं बध्नन् मिथ्यादृष्टिस्तिर्यङ् मनुष्यो वा भवति, अपर्याप्तावस्थायां नरकद्विकस्य बन्धाभावाद् घोलमानयोगिनो निर्देशः शेषं सुगमम् । जिननामकर्मणो देवो नैरयिको वा मनुष्यप्रायोग्यत्रिंशतं बध्नन् भवप्रथमसमये जघन्यप्रदेशबन्धं करोति, अस्य स्वामित्वमोघवदेव विभावनीयम् । "सेसाणे"त्यादि, तत्र देवद्विकवैक्रियद्विकाहारकद्विकानां जघन्यप्रदेशबन्धस्वामी मनुष्यमार्गणावद्भवति, उभयत्र मनुष्याणामेव तासां प्रकृतीनां स्वामित्वात् । शेषाणां सप्तोत्तरशतप्रकृतीनामसंज्ञितआगतो भवप्रथमसमये वर्तमानस्तिर्यङ् मनुष्यो वा लब्ध्यपर्याप्तो जघन्यप्रदेशबन्धं करोति, तस्यैव मार्गणार्हजघन्ययोगस्थानवत्त्वात् ,अत्र भावना तु मनुष्यौघानुसारेण विधेया, विशेषाभावान्नात्र वितन्यते ॥२१६॥

अथासंज्ञिमार्गणायां तद्दर्शयति––

तिरिजोणिमइव्व भवे अमणे णिरयसुरविउवजुगलाणं ।
ओघव्व जाणियव्वो सप्पाउग्गाण सेसाणं ॥२१७॥

(प्रे०) "तिरिजोणी" त्यादि, असञ्ज्ञिमार्गणायां वैक्रियषट्कस्य जघन्यप्रदेशबन्धस्वामी असंज्ञिपञ्चेन्द्रियपर्याप्ततिर्यङ् भवति । शेषाणां तु सूक्ष्मापर्याप्तनिगोदजीवो भवति । तत्र वैक्रियषट्-

कस्य तस्यापर्याप्तावस्थायां बन्धाभावात् पर्याप्तकस्य घोलमानयोगिनो देवद्विकस्य देवायुर्बध्नतो, नरकद्विकस्य नरकायुर्बध्नतो, वैक्रियद्विकस्य देवायुर्नरकायु र्वा बध्नतोऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियतिरश्चो जघन्यप्रदेशबन्धार्हत्वात् स एव स्वामी भवति,भावना त्वोघे नरकद्विकस्य यथा कृता तथा कर्तव्या। शेषाणां सप्तोत्तरशतप्रकृतीनां जघन्यप्रदेशबन्धस्वामित्वमोघवद्भवति, प्रस्तुतेऽपि सूक्ष्मापर्याप्तनिगोद-रूपाणामोघोक्तस्वामिनां प्रवेशात्। भावनाऽप्योघवदेव विधेयेति। आहारकाणाहारकमार्गणयोर्जघन्य-प्रदेशबन्धस्वामित्वं प्रागेव उक्तम्। समाप्तमोघे मार्गणासु च सप्तकर्मगतकोत्तरप्रकृतीनां जघन्यप्रदेश-बन्धस्वामित्वम् ॥२१७॥

अथ मार्गणासु शेषस्यायुषो जघन्यप्रदेशबन्धस्वामित्वप्ररूपणां दर्शयन्नाह--

सव्वासु मग्गणासुं हस्सपएसस्स अट्ठविहबंधी।
णेयो जहण्णजोगी सप्पाउग्गाण आऊणं ॥२१८॥

(प्रे०) "सव्वासु" इत्यादि, आयुषि बध्यमाने मूलाष्टप्रकृतीनामेव बन्धभावात् सर्वायुर्बन्ध-प्रायोग्यासु मार्गणास्वायुष जघन्यप्रदेशबन्धकोऽष्टमूलप्रकृतिबन्धक एव भवति, न तु सप्तविधादि-बन्धक इति। तथायुर्बन्धकाले सम्भवज्जघन्यतमयोगस्थानगत एव स्वप्रायोग्यायुषां जघन्यप्रदेश-बन्धको भवति ॥२१८॥ अत्रापि पर्याप्तापर्याप्तद्विविधजीवभेदयोरायुर्बन्धस्वामित्वे लब्ध्यपर्याप्त-जीवस्यैव जघन्ययोगसद्भावात्तस्यैव जघन्यप्रदेशबन्धस्वामित्वं भवति, तच्च दर्शयति—

जहि बंधगाऽत्थि दुविहा लद्धिअपज्जत्तगो तहा अण्णो।
तहि मुणह अपज्जत्तो जोऽत्थि विसेसोऽत्थ वुच्चइ सो ॥२१९॥

(प्रे०) "जहि" इत्यादि, यासु मार्गणासु लब्ध्या पर्याप्ता अपर्याप्ताश्चेति द्विविधजीवा भवन्ति तासु लब्ध्यपर्याप्तस्य यदाऽऽयुर्बन्धार्हत्वं तदाऽऽयुषः स एव जघन्यप्रदेशबन्धस्वामी भवति, तस्यैव जघन्यतमयोगस्थानस्य भावात्। लब्ध्यपर्याप्तानामप्रवेशे तेषां वा बन्धाप्रायोग्यत्वे लब्धिपर्याप्तत्वे च सति यः करणपर्याप्तः स एवायुर्बन्धयोग्यो न तु न करणापर्याप्तः, पर्याप्तजीवेषु करणपर्याप्तस्य स्व-प्रायोग्यसर्वपर्याप्तिभिः पर्याप्तस्यैवायुर्बन्धार्हत्वात्, स एवायुषो जघन्यप्रदेशबन्धस्वामी भवति, यथा नरकायुषो देवायुषश्च बन्धार्हासु सर्वमार्गणासु करणपर्याप्त एवेत्यादि बोध्यम्। आयुर्जघन्यप्रदेश-बन्ध एवं स्वामित्ववक्तव्यतां सामान्येन प्रदर्श्य योऽत्र मार्गणास्थानेषु विशेषः, तं वक्तुकामः प्रतिज्ञामाह 'जो अत्थि' इत्यादि। सुगमार्था ॥२१९॥

अथ तामेव निर्वाहयन् यत्र विशेषवक्तव्यता तत्र तां दर्शयति--

णिरयपढमाइछणिरयदेवसहस्सारअंतविउवेसुं।
घोलणजोगी मिच्छो तिरियाउस्स-इयरस्स सम्मोवि ॥२२०॥ (गीतिः)

तिरियाउगस्स मिच्छो घोलणजोगी भवे तमतमाए ।
चउआऊणोघव्व उ तिरिकायणपुंकसायेसु ॥२२१॥
अण्णाणदुगम्मि तहा असंजमाचक्खुअसुहलेसासु ।
भवियेयरमिच्छेसुं तहा असण्णिम्मि आहारे ॥२२२॥

(प्रे०) "णिरये"त्यादि, नरकौघे-प्रथमनरकादिषष्ठनरकावसानेषु षड्मार्गणाभेदेषु देवौघे भवनपति-व्यन्तर-ज्योतिष्क-सौधर्मैशानसानत्कुमारमाहेन्द्रब्रह्मलोकलान्तकशुक्रसहस्साररूपास्वेकादश-मार्गणासु वैक्रियकाययोगे चेति समुदितासु विंशतिमार्गणासु करणपर्याप्तानामेवायुर्बन्धप्रायोग्यत्वाद् घोलमानयोगी तिर्यग्मनुष्यायुषोर्जघन्यप्रदेशबन्धको भवति, तत्र तिर्यगायुषो मिथ्यादृष्टिरुपलक्षणेन सासादनश्च जघन्यप्रदेशबन्धकः; तत्र सास्वादनानां स्वामित्वं यथासम्भवं स्वयं वाच्यम् । मनुष्यायुषो मिथ्यादृष्टिः सम्यग्दृष्टिर्वा जघन्यप्रदेशबन्धको-भवति । सप्तमनरकमार्गणायां घोलमानयोगी मिथ्यादृष्टिस्तिर्यगायुषो जघन्यप्रदेशबन्धं करोति, अत्र सास्वादनानां तिर्यगायुषो बन्धाभावोऽवसेयः । तिर्यगोघे काययोगौघे नपुंसकवेदे क्रोधादिकषायचतुष्के मत्यज्ञानश्रुताज्ञानमार्गणाद्वयेऽसंयममार्गणायामचक्षुर्दर्शनाशुभलेश्यात्रयभव्याभव्यमिथ्यात्वासंज्ञ्याहारकमार्गणासु चेति समुदितास्वेकोनविंशतिमार्गणासु चतुर्णामप्यायुषां जघन्यप्रदेशबन्धस्वाम्योघवद्भवति, ओघोक्तस्वामिनः सूक्ष्मापर्याप्तनिगोदस्य पर्याप्तासंज्ञिपञ्चेन्द्रियतिरश्चश्चात्र लाभात्, भावना त्वोघानुसारेण विधेया, विशेषाभावान्नात्र वितन्यते ॥२२०-२२२॥

एतर्हि मार्गणान्तरयो दर्शयति--

ओघव्व पणिंदितिरियपणिंदियेसु णिरयामराऊणं ।
सेसाऊण असण्णी खुड्डभवतिभागपढमखणे ॥२२३॥

(प्रे०) "ओघव्व" इत्यादि, पञ्चेन्द्रियतिर्यगोघ-पञ्चेन्द्रियौघमार्गणयोर्नरकायुर्देवायुषो र्जघन्यप्रदेशबन्धस्वामित्वमोघवद्भवति, तद्यथा-असंज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यक्पर्याप्तो घोलमानयोग्युक्तायुर्द्वयस्य मार्गणाद्वयेऽपि जघन्यप्रदेशबन्धको भवति । शेषायुर्द्वयस्य जघन्यप्रदेशबन्धकोऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यगपर्याप्तः क्षुल्लकभवायुष्कः स्वायुष्कचरमतृतीयभागप्रथमसमये वर्तमानो भवति ॥२२३॥

अथ पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यगादिमार्गणास्वाह—

पज्जत्तपणिंदितिरिय-पणिंदि-तिरिजोणिणी-पुरिस-थीसुं ।
घोलणजोगिअसण्णी चउण्ह आऊण बोद्धव्वो ॥२२४॥

(प्रे०) "पज्जत्ते" त्यादि, पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यक्-पर्याप्तपञ्चेन्द्रिय-तिरश्चीपुरुषवेदस्त्रीवेदरूपासु पञ्चसु मार्गणासु घोलमानयोग्यसंज्ञी पञ्चेन्द्रियतिर्यक्पर्याप्तश्चतुर्णामप्यायुषां जघन्यप्रदेशबन्धं करोति, प्रस्तुतमार्गणापञ्चके लब्ध्यपर्याप्तजीवानां चतुरिन्द्रियपर्यन्तानां चाभावादसंज्ञिपञ्चेन्द्रिय-पर्याप्ततिरश्चां भावाच्च तथा निर्देशः, शेषं सुगमम् ॥२२४॥

अथाऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यगादिमार्गणासु दर्शयति—

असमत्तपणिंदितिरियमणुसपणिंदितसविगलविगलेसुं।
सुहमेयरएगिंदियभेएसुं सिं अपज्जेसुं ॥२२५॥
पज्जत्तबायरसुहमवज्जपुहविदगणिगोअकायेसुं ।
पत्तेअवणम्मि तहा तदपज्जत्तो मुणेयव्वो ॥२२६॥
तिरियमणुसाउगाणं खुड्डभवतिभागपढमसमयत्थो ।
णवरं सुहमो णेयो पुहविदगणिगोअकायेसुं ॥२२७॥

(प्रे०) "असमत्ते"त्यादि, अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यगपर्याप्तमनुष्यापर्याप्तपञ्चेन्द्रियापर्याप्त-त्रसकायेषु ओघाऽपर्याप्तभेदेन षड्विकलेन्द्रियभेदेषु सूक्ष्मैकेन्द्रियेऽपर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रिये बादरैकेन्द्रिया-पर्याप्तबादरैकेन्द्रिययोः, पृथ्वीकायौघसूक्ष्मपृथ्वीकायापर्याप्तसूक्ष्मपृथ्वीकाय--बादरपृथ्वीकायापर्याप्त-बादरपृथ्वीकायरूपपृथ्वीकायमार्गणापञ्चके, एवमप्कायमार्गणापञ्चके, एवं निगोदभेदपञ्चके प्रत्येक-वनस्पतिकायेऽपर्याप्तप्रत्येकवनस्पतिकाये चेत्येकत्रिंशत्मार्गणासु तिर्यग्मनुष्यायुषोर्जघन्यप्रदेशबन्धं मार्गणावर्ती लब्ध्यपर्याप्तः क्षुल्लकभवायुष्कः स्वभवचरमत्रिभागप्रथमसमये सम्भवज्जघन्ययोगे च वर्त-मानो करोति। तत्र पृथ्वीकायौघाप्कायौघनिगोदौघभेदत्रये सूक्ष्मबादरद्विविधजीवानां प्रवेशात्सूक्ष्म-जीवानामेव जघन्ययोगस्थानसद्भावाच्च सूक्ष्मजीवा एव जघन्यप्रदेशबन्धस्वामिनो भवन्ति, एवम-पर्याप्ततिर्यग्मार्गणायामसंज्ञिपञ्चेन्द्रियाः, अपर्याप्तत्रसकायमार्गणायां द्वीन्द्रिया एव जघन्यप्रदेश-बन्धस्वामिनो विज्ञेयाः। अत्र शब्दार्थस्तु सुगमः, नवरं "विगलविगलेसु"ति अत्र प्रथमेन-विगलशब्देन समासादौ वर्तमानस्य 'असमत्त' इत्यस्य सम्बन्धात्तेनाऽपर्याप्तविकलभेदानां ग्रहणम्, अन्येन तु विकलौघभेदत्रयस्य, तत्राप्यपर्याप्तानां प्रवेशादिति ॥२२५-२२७॥

अथ मनुष्यमार्गणायां दर्शयति—

णिरयाउगस्स मिच्छो घोलणजोगी णरम्मि सम्मो वि ।
देवाउगस्स दोण्हं खुड्डभवतिभागपढमखणे ॥२२८॥

दुणरेसु तिआऊणं घोलणजोगी हवेज्ज मिच्छत्ती ।
घोलणजोगी मिच्छो सम्मत्ती वा सुराउस्स ॥२२९॥

(प्रे०) "णिरयाउगस्से"त्यादि, करणपर्याप्तानामेव देवनैरयिकायुषोः बन्धसम्भवात्तद्बन्धकेषु घोलमानयोगिन एव संभवज्जघन्ययोगस्थानसद्भावाच्च मनुष्यौघमार्गणायामायुर्द्वयस्य जघन्यप्रदेशबन्धस्वामित्वेन घोलमानयोगिनो निर्देशः, तत्र नरकायुषो मिथ्यादृष्टिः, देवायुषस्तु मिथ्यादृष्टिः सम्यग्दृष्टिश्चेति, उभयोर्जघन्यप्रदेशबन्धस्य संभवात् । अत्र "सम्यग्दृष्टिः" इत्यनेन चतुर्थादिसप्तमान्तगुणस्थानवर्त्तिनां ग्रहणमुपलक्षणात्सास्वादनानामपि । "दोण्हं" इत्यादि, तिर्यग्मनुष्यायुषोर्जघन्यप्रदेशबन्धको लब्ध्यपर्याप्तः सर्वजघन्यक्षुल्लकभवमानायुष्कः स्वायुष्कचरमत्रिभागप्रथमसमये सम्भवज्जघन्ययोगस्थाने वर्तमानो विज्ञेयः । अथ पर्याप्तमनुष्यमानुषीमार्गणयोर्दर्शयति–"दुणरेसु"त्ति, पर्याप्तमनुष्यमानुषीमार्गणाद्वये करणापर्याप्तानां सद्भावेऽपि करणपर्याप्तानामेवायुर्बन्धस्य भावात्तेषु च घोलमानयोगिन एव जघन्ययोगस्थानसद्भावात् घोलमानयोग्येव चतुर्णामप्यायुषां जघन्यप्रदेशबन्धं विदधाति, तत्र नरकतिर्यग्मनुष्यायुषां मिथ्यादृष्टिः, सम्यग्दृष्टिमनुष्याणां नारकाद्यायुस्त्रयस्य बन्धाभावात् तिर्यग्मनुष्यायुषोः सास्वादनोऽपि बोध्यः । देवायुषो मिथ्यादृष्टिः सम्यग्दृष्टिर्वा जघन्यप्रदेशबन्धार्हो विज्ञेयः । अत्राऽपि सम्यग्दृष्टिपदेन देशविरत्यादीनामपि तथोपलक्षणात्सास्वादनानामपि ग्रहणं द्रष्टव्यम् ॥२२८-२२९॥

देवौघादिसहस्रारान्तदेवभेदेषु दर्शितत्वात् आनतादिदेवभेदेष्वायुषो जघन्यप्रदेशबन्धस्वामित्वं दर्शयति—

घोलणजोगी मिच्छो सम्मो वा होइ आणयाईसुं ।
मणुसाउगस्स पंचसु अणुत्तरेसु उण अण्णयरो ॥२३०॥

(प्रे०) "घोलणजोगी" इत्यादि, आनतादिनवमग्रैवेयकान्तेषु त्रयोदशदेवभेदेषु मनुष्यायुषो जघन्यप्रदेशबन्धको घोलमानयोगी मिथ्यादृष्टिः सम्यग्दृष्टिर्वा भवति, उभयत्र घोलमानयोगस्थानस्यायुर्बन्धस्य च सद्भावात् । पञ्चानुत्तरसुरमार्गणासु केवलसम्यग्दृष्टिजीवानां प्रवेशाद् मार्गणावर्त्यन्यतमो घोलमानयोगी मनुष्यायुषो जघन्यप्रदेशबन्धको भवति ॥२३०॥

एतर्हि क्रमाप्तेन्द्रियमार्गणाभेदमध्यादेकेन्द्रियौघ तत्साम्याद्वनस्पत्यौघादौ चाऽऽयुर्द्विंके प्रस्तुतं प्रतिपादयन् ग्रन्थगौरवं परिजिहीर्षयाऽवशिष्टाऽऽयुर्द्विंकेन व्युत्क्रमगतमपि त सकलाग्निवायुकायभेदेषु प्रतिपादयति—

ओघव्व दुआऊणं एगिंदियवणउरालमीसेसुं ।
सयलागणिवाऊसुं भूभेअव्व तिरियाउस्स ॥२३१॥

(प्रे०) "ओघव्वे"त्यादि, एकेन्द्रियौघे वनस्पतिकायौघे औदारिकमिश्रकाययोगे चेति मार्गणात्रये तिर्यग्मनुष्यायुषोरेव बन्धसद्भावः, एतन्मार्गणात्रये सूक्ष्मापर्याप्तनिगोदजीवानां प्रवेशादोघोक्तनीत्या त एव जघन्यप्रदेशबन्धस्वामिनोऽत ओघवद् निर्देशः। भावना त्वोघानुसारेण विधेया। तथा सकलतेजस्कायमार्गणासु सकलवायुकायमार्गणासु चेति समुदितासु चतुर्दशमार्गणासु केवलं तिर्यगायुष एव बन्धः, तासु तस्य जघन्यप्रदेशबन्धस्वामित्वं पृथ्वीकायमार्गणावद्विभावनीयम्। तच्चैवम्-ओघ-सूक्ष्मौघ सूक्ष्मापर्याप्तरूपे पृथ्वीकायसत्के मार्गणात्रये यथा सूक्ष्मापर्याप्तपृथ्वीकायः क्षुल्लकभवायुष्कः स्वायुष्कचरमतृतीयभागप्रथमसमये सम्भवज्जघन्ययोगस्थानस्थितस्तिर्यगायुषो जघन्यप्रदेशबन्धं करोति तथा तेजस्कायौघादिमार्गणात्रये तादृक्तेजस्कायो वायुकायौघादिमार्गणात्रये च तादृक् वायुकायो जघन्यप्रदेशबन्धस्वामी भवति, यथा बादरपृथ्वीकायेऽपर्याप्तबादरपृथ्वीकाये च क्षुल्लकभवायुष्कः स्वायुष्कचरमतृतीयभागप्रथमसमये सम्भवज्जघन्ययोगस्थाने च वर्तमानो बादरापर्याप्तपृथ्वीकायिको जघन्यप्रदेशबन्धको भवति तथा प्रस्तुतेऽपि बादरतेजस्कायमार्गणाद्विके बादरवायुकायमार्गणाद्वये च बादरापर्याप्तस्तेजस्कायिकस्तादृग् वायुकायिकश्च, यथा पर्याप्तसूक्ष्मपृथ्वीकाये पर्याप्तबादरपृथ्वीकाये च घोलनयोगी करणपर्याप्त आयुषो जघन्यप्रदेशबन्धकस्तथैव पर्याप्ततेजस्कायमार्गणाद्वये पर्याप्तवायुकायमार्गणाद्वये च जघन्यप्रदेशबन्धस्वामी विज्ञेयः। यद्यपि पर्याप्तसूक्ष्मबादरपृथ्वीकायमार्गणाद्वयेऽद्यावध्यनिरूपणेऽपि तत्साम्यत्वात्, अनन्तरगाथायामेव निरूपयिष्यमाणत्वात् तदतिदेशो ग्रन्थकारेण प्रयुक्तः ॥२३१॥

अथ पर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रियादिमार्गणासु जघन्यप्रदेशबन्धस्वामित्वं दर्शयन्नाह--

पज्जत्तबायरसुहमएगिंदियपुहविदगणिगोएसुं।
पज्जविगलपत्तेए घोलणजोगी दुआऊणं ॥२३२॥

(प्रे०) "पज्जत्ते"त्यादि, पर्याप्तबादरैकेन्द्रिये पर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रिये पर्याप्तसूक्ष्मबादरपृथ्वीकायभेदद्वये एवमप्कायभेदद्वये साधारणवनस्पतिकायभेदद्वये पर्याप्तद्वि-त्रि-चतुरिन्द्रियमार्गणासु पर्याप्तप्रत्येकवनस्पतिकायमार्गणायां चेति समुदितासु द्वादशमार्गणासु तिर्यग्मनुष्यायुषोरेव बन्धसद्भावात्तयोर्जघन्यप्रदेशबन्धको घोलनयोगी भवति, सर्वत्र पर्याप्तमार्गणासु पर्याप्तावस्थायामेवायुर्बन्धभावात्तत्र सम्भवज्जघन्ययोगस्थानस्य घोलमानयोगस्थानरूपत्वात्तथानिर्देशः। शेषं सुगमम् ॥२३२॥

अथ त्रसकायौघमार्गणायां प्राह--

णिरयसुराऊण तसे ओघव्व हवेज्ज तिरिणराऊणं।
बेइंदियो हवेज्जा खुड्डभवतिभागपढमखणे ॥२३३॥

(प्रे०) "णिरये"त्यादि, त्रसकायौघमार्गणायां नरकायुषो देवायुषश्च जघन्यप्रदेशबन्धस्वाम्योघवद्भवति, ओघोक्तस्वामिनां पर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियतिरश्चामत्रापि प्रवेशात् , भावनाप्योघवद्विधेया । तिर्यग्मनुष्यायुषोरपर्याप्तद्वीन्द्रियः क्षुल्लकभवायुष्कः स्वायुष्कचरमतृतीयभागप्रथमसमये वर्तमानो जघन्यप्रदेशबन्धको भवति, प्रस्तुते एकेन्द्रियस्याभावाद् द्वीन्द्रियस्य ग्रहणं, शेषभावनौघानुसारेण विधेया ॥२३३॥

अथ पर्याप्तत्रसकायादिमार्गणासु निरूपयति—

पज्जतसदुवयणेसुं णिरयसुराऊण होइ ओघव्व ।
बिंदियघोलणजोगी विण्णेयो तिरिणराऊणं ॥२३४॥

(प्रे०) "पज्जतसे"त्यादि, पर्याप्तत्रसकाय-वचनौघ-व्यवहारवचनयोगरूपासु त्रिमार्गणासु देवनरकायुषोर्जघन्यप्रदेशबन्धस्वामित्वमोघवद्भवति, ओघोक्तानां पर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यग्रूपस्वामिनां प्रस्तुतेऽपि लाभात् । तिर्यग्मनुष्यायुषोर्जघन्यप्रदेशबन्धको द्वीन्द्रियः करणपर्याप्तो घोलमानयोगी भवति । पर्याप्तत्रसकायमार्गणायां करणाऽपर्याप्तकस्य प्रवेशेऽप्यायुर्बन्धस्य करणपर्याप्तानामेव भावात्, वचनयोगद्वये तु करणपर्याप्तानामेव भावान्मार्गणात्रयेऽपि करणपर्याप्तकस्यैवाऽऽयुर्बन्धकत्वाद् घोलमानयोगी स्वामित्वेन निर्दिष्टः ॥२३४॥

एतर्हि मनोयोगादिमार्गणासु जघन्यप्रदेशबन्धस्वामित्वं दर्शयति—

घोलणजोगी पणमणतिवयेसु भवे चउण्ह आऊणं ।
णिरयाउस्स दुगइओ मिच्छो तिरियाउगस्स मिच्छत्ती ॥२३५॥(गीतिः)
मणुसाउगस्स मिच्छो चउगइओ अहव दुगइओ सम्मो ।
देवाउस्स दुगइओ मिच्छो सम्मो व विण्णेयो ॥२३६॥

(प्रे०) "घोलण" इत्यादि, मनोयोगसामान्य सत्यमनोयोगासत्यमनोयोगसत्यासत्यमनोयोगासत्यामृषामनोयोगरूपमनोयोगपञ्चके सत्यवचनयोगासत्यवचनयोगसत्यासत्यवचनयोगरूपेषु त्रिषु वचनयोगेषु चेति समुदितास्वष्टमार्गणासु केवलं करणपर्याप्तकानां संज्ञिनामेव भावाच्चतुर्णामप्यायुषां जघन्यप्रदेशबन्धको घोलमानयोगी भवति, तत्र नरकायुषस्तिर्यङ् मनुष्यो वा मिथ्यादृष्टिः, तिर्यगायुषश्चातुर्गतिको मिथ्यादृष्टिर्जघन्यप्रदेशबन्धको भवति, मनुष्यायुषस्तु तिर्यग्मनुष्या मिथ्यादृष्टयः, देवनैरयिकास्तु सम्यग्दृष्टयो मिथ्यादृष्टयश्च । देवायुषः पुनस्तिर्यग्मनुष्याः सम्यग्दृष्टयो मिथ्यादृष्टयश्च जघन्यप्रदेशबन्धस्वामिनो भवन्ति ॥२३५ २३६॥

अथौदारिककाययोगमार्गणायां दर्शयति—

ओरालियम्मि णेयो णारगदेवाउगाण ओघव्व ।
सुहमणिगोओ घोलणजोगी दोण्ह इयराऊणं ॥२३७॥

(प्रे०) "ओरालियम्मि" इत्यादि, औदारिककाययोगमार्गणायां देवनारकायुषोर्जघन्यप्रदेशबन्धस्वामित्वमोघवद्भवति, असंज्ञिपञ्चेन्द्रियपर्याप्ततिरश्चां यथौघे जघन्यप्रदेशबन्धस्वामित्वं तथा प्रस्तुतमार्गणायामपीति कृत्वौघवदतिदेशः । तिर्यग्मनुष्यायुषोर्जघन्यप्रदेशबन्धकः सूक्ष्मपर्याप्तनिगोदजीवः करणपर्याप्तो घोलमानयोगी विज्ञेयः । प्रस्तुतमार्गणा पर्याप्तजीवस्यैव भवति, तत आयुर्बन्धकतया घोलनयोगी दर्शितः, घोलनयोगिषु सूक्ष्मनिगोदजीवस्यैव जघन्ययोगस्थानस्य लाभात् स एव जघन्यप्रदेशबन्धस्वामितया निर्दिष्टः ॥२३७॥

अथाहारककाययोगमार्गणाया तन्मिश्रकाययोगमार्गणायां च जघन्यप्रदेशबन्धस्वामित्व दर्शयति—

आहारदुगे णेयो सरीरपज्जत्तिपढमसमयम्मि ।
वट्टंतो अण्णयरो जहन्नजोगी सुराउस्स ॥२३८॥

(प्रे०) "आहार" इत्यादि, आहारककाययोगे तन्मिश्रकाययोगे च केवलं देवायुष एव बन्धो भवति । तत्राहारकशरीरमारभमाणस्य प्रथमसमये आहारकमिश्रकाययोगिनो जघन्ययोगस्थानसद्भावात्तत्र प्रारम्भप्रथमसमये वर्तमानः, तथा शरीरपर्याप्तिसमाप्तिप्रथमसमयत आहारककाययोगस्य भावात्तत्प्रथमसमय एव सम्भवज्जघन्ययोगस्थानस्य लाभाच्चाहारककाययोगमार्गणायां शरीरपर्याप्तिप्रथमसमये वर्तमानो देवायुषो जघन्यप्रदेशबन्धको भवति, भावना तु प्रस्तुतमार्गणासत्कज्ञानावरणादिजघन्यप्रदेशबन्धस्वामित्वानुसारेण विधेया ॥२३८॥

अथ मतिज्ञानादिमार्गणासु प्रस्तुतं प्ररूपयति—

णाणतिगे ओहिम्मि य सम्मखइअवेअगेसु दुदुगइओ ।
परियत्तमाणजोगी विण्णेयो णरसुराऊणं ॥२३९॥

(प्रे०) "णाणतिगे" इत्यादि, मतिज्ञानश्रुतज्ञानावधिज्ञानावधिदर्शनसम्यक्त्वौघक्षायिकक्षायोपशमिकसम्यक्त्वलक्षणासु सप्तमार्गणासु मनुष्यायुषो देवायुषश्च बन्धो भवति, स च करणपर्याप्तानामेव, तत्र देवनारका मनुष्यायुषो बन्धकाः, तिर्यग्मनुष्यास्तु देवायुषो बन्धका भवन्त्यतो द्विगतिकस्य निर्देशः, पर्याप्तस्यैवायुर्बन्धकत्वात्तस्य च परावर्तमानयोगेषु सम्भवज्जघन्ययोगस्थानसद्भावात्परावर्तमानयोगीतिपदस्य ग्रहणम् । एतेन स्वामित्वमेवं वाच्यम्—देवो नैरयिको वा परावर्तमानयोगी मनुष्यायुषो जघन्यप्रदेशबन्धको भवति, तिर्यङ् मनुष्यो वा परावर्तमानयोगी देवायुषो जघन्यप्रदेशबन्धको भवति ॥२३९॥

अथ मनःपर्यवज्ञानादिमार्गणासु प्रकृतं प्ररूपयति—

मणणाणसंजमेसुं समइअछेअपरिहारदेसेसुं ।
विण्णेयो अण्णयरो घोलणजोगी सुराउस्स ॥२४०॥

(प्रे०) "मणणाणे" त्यादि, मनःपर्यवज्ञान-संयमौघ सामायिकसंयम-च्छेदोपस्थापनसंयम-परिहारविशुद्धिसंयम-देशविरतिरूपासु पट्सु मार्गणासु प्रत्येकं केवलं देवायुष एव बन्धप्रायोग्यत्वात् तथा मनःपर्यवज्ञानादिपञ्चमार्गणासु पर्याप्तमनुष्याणामेव भावाद् देशविरतिमार्गणायां तु पर्याप्त-तिर्यग्मनुष्याणामेव भावाच्च मार्गणाषट्कवर्ती घोलमानयोगी सम्भवज्जघन्ययोगे वर्तमानश्चाऽऽयु-र्बन्धं कुर्वन् देवायुषो जघन्यप्रदेशबन्धको विज्ञेयः । शब्दार्थस्तु सुगमः । ननु प्रस्तुतमनः पर्यवज्ञानादिमार्गणास्वाहारकशरीरं प्रारिप्सोरेतदारम्भप्रथमसमये तच्छरीरापेक्षयाऽपर्याप्तत्वेन घोल-मानयोगतोऽल्पयोगसंभवात्तस्य प्रस्तुतस्वामित्वं वक्तव्यमिति चेन्न, तस्य घोलमानजघन्ययोगतो-ऽल्पयोगस्यासिद्धेः प्रत्युत तस्यासंख्येयगुणयोगस्य संभवात् । कथम् ? इति, चेदुच्यते, आहारक-मिश्रयोगवतो विशिष्टप्रयोजनमुद्दिश्य प्रवृत्तत्वेन प्रयत्नविशेषसद्भावात् तत्प्रथमसमयेऽपि योगस्य घोलमानजघन्ययोगतोऽसंख्येयगुणत्वम् ,यतो हि प्रयत्नविशेषवतां मन्दयोगस्यासम्भवः । अथ वा-ऽऽहारकमिश्रजघन्ययोगत आहारकजघन्यकाययोगोऽसंख्यगुणोऽतः प्रस्तुते आहारकतन्मिश्रयोगवतो विहाय घोलमानयोगिन एव जघन्यप्रदेशबन्धस्वामित्वमुक्तमिति ॥२४०॥

अथ विभङ्गज्ञानमार्गणायां दर्शयति—

विब्भंगे विण्णेयो घोलणजोगी चउण्ह आऊणं ।
णारगदेवाऊणं दुगइट्ठो दोण्ह अण्णयरो ॥२४१॥

(प्रे०) 'विब्भंगे' इत्यादि, विभङ्गज्ञानमार्गणा लब्धिपर्याप्तकस्य संज्ञिनश्चातुर्गतिकस्य भवति, तस्य पर्याप्तावस्थायामेवायुर्बन्धभावात् , तत्रापि घोलमानयोगिन एव जघन्यप्रदेशबन्धार्हत्वा च्च चतुर्णामप्यायुषां जघन्यप्रदेशबन्धस्वामित्वनिर्देशे "घोलनजोगी" इति पदस्य ग्रहणं विज्ञे-यम् । नरकायुर्देवायुश्च तिर्यङ् मनुष्यो वा बध्नाति, ततस्तज्जघन्यप्रदेशस्वामितया स एव विज्ञेयः, तिर्यग्मनुष्यायुषोः पुनश्चातुर्गतिकः संज्ञिपर्याप्तो घोलमानयोगी जघन्यप्रदेशबन्धको भवति, मार्गणा-गतचातुर्गतिकानामायुर्बन्धप्रायोग्यजघन्ययोगस्थानस्य तुल्यत्वात् ॥२४१॥

सम्प्रति चक्षुर्दर्शनमार्गणायां जघन्यप्रदेशबन्धस्वामित्व दर्शयति—

घोलणजोगिअसण्णी णयणे णिरयामराउगाण भवे ।
परियत्तमाणजोगी हवए चउरिंदियोऽण्णेसिं ॥२४२॥

(प्रे०) "घोलणे"त्यादि, चक्षुर्दर्शनमार्गणायां लब्धिपर्याप्तचतुरिन्द्रियादयो जीवा भवन्ति, तत्र नरकायुषो देवायुषश्च जघन्यप्रदेशबन्धकोऽसंज्ञिपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यङ् घोलमानयोगी भवति, एतच्चौघवद्भावनीयम्। तिर्यग्मनुष्यायुषोर्जघन्यप्रदेशबन्धकः परावर्तमानयोगी पर्याप्तचतुरिन्द्रियो विज्ञेयः। पर्याप्तचतुरिन्द्रियस्य घोलमानजघन्ययोगस्थानतोऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियादीनां घोलमानजघन्ययोगस्यासंख्येयगुणत्वाच्चतुरिन्द्रिय एव स्वामी भवतीति प्रस्तुतग्रन्थेऽस्यां मार्गणायां लब्ध्यपर्याप्तानामनधिकृतत्वाद् लब्धिपर्याप्तचतुरिन्द्रियस्य निर्देशः ॥२४२॥

अथ तेजःपद्मलेश्यामार्गणयोर्जघन्यप्रदेशबन्धस्वामित्वं दर्शयति—

तेउपउमासु घोलणजोगी तिरियाउगस्स मिच्छसुरो।
सम्मो वि णराउस्स सुराउस्स य मिच्छसम्मदुगइट्ठो ॥२४३॥ (गीतिः)

(प्रे०) "तेउपउमासु" इत्यादि, तेजोलेश्यामार्गणायां पद्मलेश्यामार्गणायां च संज्ञी पञ्चेन्द्रियस्तिर्यङ्मनुष्यो देवो वा करणपर्याप्तावस्थायां वर्तमान आयुर्बन्धार्हः, प्रस्तुतमार्गणायां नारकाणामसंज्ञिनाञ्चाप्रवेशात्। तेजोलेश्यायां श्रीप्रज्ञापनासूत्राद्यभिप्रायेणैकेन्द्रियाणां प्रवेशेऽपि तेजोलेश्यायां तेषामायुर्बन्धानर्हत्वात्, संज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यगादीनामायुर्बन्धसद्भावोऽतस्त एव तत्स्वामिनो भवन्ति। तत्र तेजःपद्मलेश्ययोस्तिर्यङ् मनुष्यो वा देवायुष एव बन्धार्हस्ततस्तिर्यगायुषो मिथ्यादृष्टिर्देवो घोलमानयोगी जघन्यप्रदेशं बध्नाति, मनुष्यायुष्कस्य तु सम्यग्दृष्टिर्मिथ्यादृष्टिर्वा देव एव घोलमानयोगी जघन्यप्रदेशबन्धको भवति। देवायुषो जघन्यप्रदेशबन्धको मनुष्यस्तिर्यङ् वा सम्यग्दृष्टिर्मिथ्यादृष्टिर्वा घोलमानयोगी भवति ॥२४३॥ अथ शुक्ललेश्यामार्गणायामाह—

घोलणजोगी मिच्छो सम्मो वा होइ सुक्कलेसाए।
मणुमाउगस्स देवो देवाउस्स मणुसो णेयो ॥२४४॥

(प्रे०) "घोलणे"त्यादि, शुक्ललेश्यामार्गणायां देवायुषो मनुष्यायुषश्च बन्धो भवति। तत्र मनुष्यायुषो जघन्यप्रदेशबन्धको घोलमानयोगी देवो मिथ्यादृष्टिः सम्यग्दृष्टिर्वा भवति। देवायुषो घोलमानयोगी मिथ्यादृष्टिः सम्यग्दृष्टिर्वा मनुष्यो जघन्यप्रदेशबन्धको विज्ञेयः। कार्मग्रन्थिकमतेनानतादिदेवानां शुक्ललेश्यत्वेन तेषां च तिर्यक्षूत्पादाभावात्, न प्रस्तुतमार्गणायां तिर्यगायुर्बन्धसम्भव इति। विवेचितं चैतत् सहेतुकमत्रैव बन्धविधानग्रन्थे प्रकृतिबन्धादिष्वतो न पुनर्विविच्यते ॥२४४॥

अथ सास्वादनमार्गणासु प्रकटयति—

तिरियणराऊण भवे सासाणे घोलमाणजोगत्थो।
परियत्तमाणजोगी होइ दुगइओ सुराउस्स ॥२४५॥

(प्रे०) "निरियणराऊणे"त्यादि, सास्वादनमार्गणायां नरकायुष्कस्य बन्धो नैव भवति, शेषायुस्त्रयस्य करणपर्याप्तः संज्ञ्येव बन्धार्हः, अतः परावर्तमानयोगी घोलमानजघन्ययोगीत्यर्थः, आयुस्त्रयस्य जघन्यप्रदेशबन्धस्वामी विज्ञेयः तत्रापि तिर्यग्मनुष्यायुषोश्चातुर्गतिको; देवायुषः पुनस्तिर्यङ् मनुष्यो वा विज्ञेयः, तेषामेव तत्प्रकृतिबन्धस्वामित्वात् । शेषं सुगमम् ॥२४५॥

एतर्हि संज्ञिमार्गणायां जघन्यप्रदेशबन्धस्वामित्वं दर्शयति—

सण्णिम्मि जाणियव्वो मणजोगव्व णिरयामराऊणं ।
सेसाऊण दुगइओ खुड्डभवतिभागपढमखणे ॥२४६॥

(प्रे०) "सण्णिम्मि" इत्यादि, संज्ञिमार्गणायां देवनारकायुषोर्जघन्यप्रदेशबन्धस्वामित्वं मनोयोगमार्गणावद्भवति, उभयत्र संज्ञिपर्याप्ततिर्यग्मनुष्याणां जघन्यप्रदेशबन्धस्वामित्वात् । शेषयोस्तिर्यग्मनुष्यायुषोर्जघन्यप्रदेशबन्धको लब्ध्यपर्याप्तस्तिर्यङ् मनुष्यो वा क्षुल्लकभवायुष्कः स्वायुष्कस्य चरमतृतीयभागाद्यसमये वर्तमानः सम्भवज्जघन्ययोगस्थाने च वर्तमानो विज्ञेय इति, सुगमं चैतत् स्वामित्वम् , प्रागनेकशो भावितत्वात् ॥२४६॥

तदेवं गतं मार्गणास्वायुषो जघन्यप्रदेशबन्धस्वामित्वं । तस्मिन् च समाप्ते गतं जघन्यप्रदेशबन्धस्वामित्वं, गते च तस्मिन्नवसितम् उत्तरप्रकृतिप्रदेशबन्धे स्वामित्वद्वारम् ।

॥ इति श्रीप्रेमप्रभाटीकासमलंकृते बन्धविधाने उत्तरप्रकृतिप्रदेशबन्धे प्रथमाधिकारे तृतीयं स्वामित्वद्वारं समाप्तम् ॥



॥ चतुर्थं साद्यादिद्वारम् ॥

अथ उत्तरप्रकृतिप्रदेशबन्धे क्रमप्राप्तसाद्यादिद्वारस्य निरूपणावसरः। तत्र प्रदेशबन्धश्चतुर्धा-उत्कृष्टाऽनुत्कृष्टजघन्याऽजघन्यप्रदेशबन्धभेदात्। प्रत्येकमुत्कृष्टादिप्रदेशबन्धे साद्यनादिध्रुवाऽध्रुवबन्ध-प्रकारेभ्यः कतिविधा बन्धप्रकाराः संभवन्तीत्यस्मिन् द्वारे प्ररूपणीयम्। तत्राऽऽदौ तावदोघतो विंशत्युत्तरशतप्रकृतीनां तन्निरूपयन्नाह—

अगुरू पएसबंधो चउव्विहोऽत्थि धुवबंधिनीमाए।
तिविहोऽण्णो दुविगप्पो अत्थि चउविहो वि सेसाणं ॥२४७॥

(प्रे०) "अगुरू" इत्यादि. इह तावत् द्विविधाः प्रकृतयो भवन्ति, ध्रुवबन्धिन्योऽध्रुवबन्धि-न्यश्च तत्र त्रिसप्तत्यध्रुवबन्धिप्रकृतीनामुत्कृष्टादिचतुर्विधप्रदेशबन्धस्य सादिसान्तावेव बन्धप्रकारौ भवतः, अध्रुवबन्धित्वादेव, सप्तचत्वारिंशतोऽपि ध्रुवबन्धिनीनामुत्कृष्टप्रदेशबन्धः सादिःसान्तश्च, उत्कृष्ट-योगावस्थानकालस्योत्कृष्टतोऽपि समयद्वयमितत्वेनोत्कृष्टप्रदेशबन्धस्याऽपि द्विसमयं यावदेव लाभात्। ध्रुवबन्धिनीनामनुत्कृष्टप्रदेशबन्धचिन्तायां यासां ध्रुवबन्धिनीनां ज्येष्ठप्रदेशबन्धकाश्चतुर्थादिगुणस्थान-वर्तिन एव, न तु प्रथमगुणस्थानगतास्तासामनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्य चत्वारोऽपि विकल्पाः प्राप्यन्ते, तथाहि— प्राप्तसम्यक्त्वादिगुणानां निरुक्तानां सम्यक्त्वादिगुणस्थानगतज्येष्ठप्रदेशबन्धस्वामिकानां प्रकृतीनां ज्येष्ठप्रदेशबन्धं कृत्वाऽनुत्कृष्टप्रदेशबन्धप्रारम्भकस्य यद्वा उपशमश्रेणिमारुह्य निरुक्तप्रकृतीनां बन्ध-विच्छेदं विधाय पुनस्ततोऽवरोहतां तत्तत्प्रकृतीनां बन्धप्रारम्भकाणामनुत्कृष्टप्रदेशबन्धविधातृणामनुत्कृष्ट-प्रदेशबन्धस्याऽऽदिः, उत्कृष्टप्रदेशबन्धमप्राप्तानां बन्धविच्छेदं वाऽकृतानामनादिः, अभव्यानां ध्रुवः कर्हिचिदप्युत्कृष्टप्रदेशबन्धस्याऽबन्धस्य वाऽप्राप्यमाणत्वात्, भव्यानामध्रुवः आयत्यामवश्यं बन्ध-विच्छेदस्य ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्य वा प्राप्यमाणत्वात्। सम्यक्त्वादिगुणस्थाने ज्येष्ठप्रदेशबन्धाः प्रकृ-तयः पुनरिमाः—ज्ञानावरणपञ्चकम्, दर्शनावरणचतुष्कम्, निद्राद्विकम्, अप्रत्याख्यानावरण-प्रत्या-ख्यानावरण संज्वलनकषायद्वादशकं भयजुगुप्साऽन्तरायपञ्चकञ्चेति। विशेषभावना तु बन्धशतका-दिग्रन्थतो विज्ञेया। शेषाणां स्त्यानर्द्धित्रिका-ऽनन्तानुबन्धिचतुष्कमिथ्यात्वतैजस-कार्मण-वर्णचतु-ष्का-ऽगुरुलघूपघात-निर्माणनाम्नां सप्तदशानां ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्य प्रथमगुणस्थाने संज्ञिन एव भावात् तस्य च जघन्यतः समयान्तरेण, उत्कृष्टत आवलिकाऽसंख्येयभागगतसमयप्रमितपुद्गलपरावर्तकाला-तिक्रान्तेनाऽवश्य बन्धाद् भवति हि तासां सप्तदशानामनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्य सादिसान्तत्वमिति। सप्तचत्वारिंशद्ध्रुवबन्धिनीनां जघन्यप्रदेशबन्धोऽजघन्यप्रदेशबन्धश्च सादिसान्तः, तद्यथा—तासां ध्रुव-बन्धिनीनां सूक्ष्मनिगोदलब्ध्यपर्याप्तस्य भवप्रथमसमय एव जघन्यप्रदेशबन्धस्य प्राप्यमाणत्वेन उत्कृ-ष्टतोऽपि समयं यावदेव प्रवर्तनाज्जघन्यप्रदेशबन्धस्य सादिसान्तत्वम्, तासां ध्रुवबन्धिनीनामजघन्य-

प्रदेशबन्धस्तु जघन्यतः समयोनक्षुल्लकभवं यावत्प्रवृत्य पुनरपि जघन्यप्रदेशबन्धस्य लाभात्, उत्कृष्टतः पुनरसंख्यकालचक्रे व्यतीतेऽवश्यं जघन्यप्रदेशबन्धस्य लाभाच्चाजघन्यप्रदेशबन्धस्य सादिसान्तत्वं विज्ञेयम् । एवञ्च त्रिंशत्प्रकृतीनां प्रत्येकं दश दश भङ्गा भवन्ति, शेषाणां नवतिप्रकृतीनां तु प्रत्येकमष्टौ अष्टौ भङ्गा इति । भावनादयस्तु बन्धशतकतः कर्तव्याः सुगमप्रायाश्चेति ॥२४७॥

एवमोघतो ज्येष्ठादिचतुर्विधप्रदेशबन्धस्य साद्यादिचतुष्प्रकारेण प्ररूपणां विधाय तदनु तां मार्गणासु निरूपयितुकाम आह—

एवमणयणे एवं भविए वि परं धुवो णत्थि ।
अजयम्मि चउविगप्पो अगुरू धुवबंधिवीसाए ॥२४८॥ (उपगीतिः)
सेसो तिविहो णेयो दुविगप्पो चउविहो वि सेसाणं ।
सेसासु सव्वेसिं चउव्विहो अत्थि दुविगप्पो ॥२४९॥

(प्रे०)"**एवमणयणे**"इत्यादि, सप्ततिशतमार्गणाभ्यो मत्यज्ञानश्रुताज्ञानाचक्षुर्दर्शनभव्याभव्यमिथ्यात्वाऽसंयमरूपाः सप्तमार्गणा अनाद्यादिभङ्गे पतिताः, प्रस्तुतेऽधिकृताः शेषाः पुनः सादिसान्ता एव ततश्च निरुक्तसप्तमार्गणा विहाय शेषासु त्रिषष्ट्युत्तरशतमार्गणासु बन्धार्हाणां सर्वासां प्रकृतीनां चतुर्णामपि ज्येष्ठादिबन्धानां सादिसान्त एव भङ्गो विज्ञेयः । तथा सप्तमार्गणान्तर्गता या मत्यज्ञानश्रुताज्ञानाऽभव्यमिथ्यात्वरूपाश्चतस्रो मार्गणास्तास्वपि सम्यक्त्वादिगुणस्थानाभावेन प्रथमगुणस्थान एव सर्वासां ज्येष्ठप्रदेशबन्धः प्राप्यते, ततो यथा ओघे मिथ्यात्वादीनामनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्य सादिसान्तत्वं तथा प्रस्तुतमार्गणानामनादिकालीनत्वेऽपि सप्तचत्वारिंशद्ध्रुवबन्धिनीनामनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्य सादिसान्तत्वं विभावनीयम्, शेषोत्कृष्टादित्रयस्य सादिसान्तत्वं तु सुगमम् । एवञ्च सप्तषष्ट्युत्तरशतमार्गणासु बन्धार्हाणां सर्वासां प्रकृतीनामुत्कृष्टाद्याश्चत्वारोऽपि प्रदेशबन्धाः सादिसान्ता एव, एतच्च "**सेसासु सव्वेसिं चउव्विहो अत्थि दुविगप्पो**"इत्यनेन प्ररूपितम् । अचक्षुर्दर्शनभव्यमार्गणयोस्तु सादिसान्तत्वं नास्ति, अचक्षुर्दर्शनमार्गणा भव्यमाश्रित्यानादिसान्ता, अभव्यमाश्रित्यानाद्यनन्तकालीना ततस्तास्वोघवत्प्रस्तुतप्ररूपणा ज्ञातव्या, भव्यमार्गणास्वपि तथैव केवलं ये त्रिंशत्प्रकृतीनामोघेऽनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्य चत्वारो विकल्पा दर्शितास्ताभ्यो ध्रुव इति विकल्पस्याऽत्राऽघटमानत्वात् तं विहाय शेषा त्रयो विकल्पास्तासां त्रिंशत्प्रकृतीनामनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्य विज्ञेयाः, शेषं त्वोघवदेवेति । असंयममार्गणायां पुनः प्रथमादीनि चत्वारि गुणस्थानानि भवन्ति, ततस्तस्यां दर्शनावरणषट्कमाद्यवर्जद्वादशकषायभयजुगुप्सारूपा विंशतिध्रुवबन्धिप्रकृतयः चतुर्थगुणस्थाने ज्येष्ठप्रदेशबन्धार्हाः, ज्ञानावरणपञ्चकऽन्तरायपञ्चकरूपा दश तु प्रथमे चतुर्थे वा गुणस्थाने ज्येष्ठप्रदेशबन्धार्हाः, शेषाः सप्तदश तु प्रथमगुणस्थाने एव ज्येष्ठप्रदेशबन्धार्हा भवन्ति, ततो दर्शनावरणषट्कादिविंशतेरनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्य

चत्वारो विकल्पा भवन्ति, शेषाणां सप्तविंशतेस्तु अनुत्कृष्टप्रदेशबन्धः सादिसान्तः, सप्तचत्वारिंशद्-ध्रुवबन्धिप्रकृतीनां शेषोत्कृष्टादिबन्धत्रयस्य सादिसान्तौ एव विकल्पौ, अत्राहारकद्विकस्य बन्धाभावा-देकसप्तत्यध्रुवबन्धिप्रकृतीनामुत्कृष्टादिचतुर्विधबन्धस्य सादिसान्तरूपौ द्वौ एव विकल्पौ भवतः, भावना त्वोघानुसारेण यथार्हं विधेयेति, विशेषभावना तु स्वामित्वादिकमनुसृत्य विभावनीया स्वधिया, सुगमप्राया इति । तदेवं गतं साद्यादिद्वारम् ॥२४८ २४९॥

॥ इति श्री प्रेमप्रभाटीकासमलंकृते बन्धविधाने उत्तरप्रकृतिप्रदेशबन्धे प्रथमाधिकारे चतुर्थं साद्यादिद्वारं समाप्तम् ॥

॥ पञ्चमं कालद्वारम् ॥

गतं साद्यादिद्वारम्, अधुनैकजीवमाश्रित्य कालद्वारस्य निरूपणाऽवसरः; अत्र विंशत्युत्तरशत-प्रकृतीनामुत्कृष्टा-ऽनुत्कृष्टजघन्याजघन्यप्रदेशबन्धानां जघन्योत्कृष्टतः कालो निरूपणीयः, तत्र प्रथमं तावद्ग्रन्थलाघवार्थं सङ्ग्रहेन प्रकृतीनां निरूपणार्थं प्रकृतीनां संग्राहिका गाथा दर्शयति—

मिच्छं थीणद्धितिगमणअपच्चक्खाणतदियरकसाया ।
तिरियदुगं णीअं तह णरदुगवइराणि उरलं च ॥२५०॥
उरलोवंगपणिंदिय-तसपरघूसासबायरतिगाणि ।
पुमसुखगइपढमागिइसुहगतिगुच्चसुरविउवजुगलजिणा ॥२५१॥ (गीतिः)
सायजसहस्सथिरदुगअसायअरइदुगअथिरदुगअजसा ।
आहारदुगमिमाओ इह जा वुच्चन्ति ता कमा गेज्झा ॥२५२॥ (गीतिः)

(प्रे०) 'मिच्छ'मित्यादि, मिथ्यात्वं, स्त्यानर्द्धित्रिका नन्तानुबन्धिचतुष्का-ऽप्रत्याख्या-नवरणचतुष्कप्रत्याख्यानावरणचतुष्कतिर्यग्द्विक--नीचैर्गोत्र -मनुष्यद्विक -वज्रर्षभनाराचसंहननौदारिक शरीरनामानि चेति त्रयोविंशतिप्रकृतीना संग्रहः प्रथमगाथायाम् । औदारिकाङ्गोपाङ्ग पञ्चेन्द्रिय-त्रस-पराघातो-च्छ्वास-बादरत्रिक पुंवेद-सुखगति-समचतुरस्रसंस्थान--सुभगत्रिको च्चैर्गोत्र--देवद्विकवैक्रिय-द्विक-जिननामरूपाणां विंशतिप्रकृतीनां संग्रहो द्वितीयगाथायाम् । सातवेदनीय-यशःकीर्ति-हास्यरति-स्थिर-शुभ--ऽसातवेदनीया-रति--शोका- ऽस्थिरा -शुभायशःकीर्तिनामा--ऽऽहारकद्विकरूपाश्चतुर्दशप्रकृ-तयः तृतीयगाथायाम् । एताभ्यः सार्धगाथाद्वयसंगृहीताभ्यो यत्र यावत्यः प्रकृतयो यां प्रकृतिमादौ कृत्वा वक्ष्यन्ते तामादौ कृत्वा दर्शितक्रम मध्यात् तावत्यः प्रकृतयः क्रमाद् ग्राह्याः ॥२५०-२५२॥

अथ ओघत उत्कृष्टप्रदेशबन्धकानां जघन्योत्कृष्टभेदेनानुत्कृष्टप्रदेशबन्धकानां जघन्यतश्च कालं निरूपयन्नाह—

सव्वाण लहू समयो जेट्ठपएसस्स दुसमया परमो ।
कालो हस्सो समयो अगुरुपएसस्स विण्णेयो ॥२५३॥

(प्रे०) "सव्वाण" इत्यादि, सर्वप्रकृतीनां विंशत्युत्तरशतप्रकृतीनामुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्य जघन्यकाल एकः समयो विज्ञेयः, सर्वयोगस्थानानां जघन्यतः समयमात्राऽवस्थानेनोत्कृष्टयोगस्थानस्याऽपि समयमात्रं जघन्यतोऽवस्थानात् । तथा सर्वासां विंशत्युत्तरशतप्रकृतीनां ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्योत्कृष्ट कालः समयद्वयं भवति, संज्ञिपञ्चेन्द्रियपर्याप्तानामेवविंशत्युत्तरशतप्रकृतीनां ज्येष्ठप्रदेशबन्धो भवति, तेषां चोत्कृष्टयोगस्थानस्य समयद्वयमात्राऽवस्थानादुत्कृष्टप्रदेशबन्धकाल उत्कृष्टतो द्वौ समयौ विज्ञेयः,एवं पूर्वार्धेन सर्वप्रकृतीनामुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्य जघन्योत्कृष्टभेदभिन्नद्विविधकालमोघतो निरूप्योत्तरार्धेन सर्वासामनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्य जघन्यकालं निरूपयति—"कालो" इत्यादि; विंशत्युत्तरशतप्रकृतीनामनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्य जघन्यकालः समयप्रमाणो भवति, उत्कृष्टयोगतः समयमात्रमनुत्कृष्टयोगस्थानं प्राप्य पुनरुत्कृष्टयोगस्थानस्याऽपि लाभात् ; यद्वा कासाञ्चित्प्रकृतीनामुत्कृष्टप्रदेशबन्धादवतीर्य समयमात्रमनुत्कृष्टप्रदेशबन्धं विधाय तत्प्रकृतीनां बन्धस्य विच्छेदादपि समयप्रमाणोऽनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्य जघन्यकालः प्राप्यते, अध्रुवबन्धिनीनां पुनः प्रकृतिबन्धकालेनाऽपि समयप्रमाणोऽनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्य जघन्यकालः प्राप्यते, एकजीवाश्रित इति गम्यते, एवमेव पूर्वमुत्तरत्र च तथा गम्यम् , एकजीवाश्रयकालस्य प्रस्तुतत्वादिति ॥२५३॥

अथाऽनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टकालमोघतो व्याहरति—

अडमिच्छाईण तहा उरालधुवबंधिणामपयडीणं ।
उक्कोसो बोद्धव्वो असंखिया पोग्गलपरट्टा ॥२५४॥
सेसधुवबंधिणीणमणाइअणंतो अणाइसंतो य ।
साइअधुवो य जेट्ठो देसूणो अद्धपरिअट्टो ॥२५५॥
बत्तीससागरसयं सत्तपुमाईण तितिरियाईणं ।
लोगाऽसंखा णरदुगवइराणं जलहितत्तीसा ॥२५६॥
णेयो सुराइगाणं चउण्ह तिण्णि पलिओवमाऽब्भहिया ।
पणसीइसागरसयं पणिंदियाईण सत्तण्हं ॥२५७॥

उरलोवंगजिणाणं तेत्तीसा सागरोवमाऽब्भहिया ।
णेयो भिन्नमुहुत्तं छायालीसाअ सेसाणं ॥२५८॥

(प्रे०) "अडमिच्छाईण" इत्यादि, मिथ्यात्वा-ऽनन्तानुबन्धिचतुष्क-स्त्यानर्द्धित्रिकरूपाणामष्टानामौदारिकशरीरनामागुरुलघूपघातनिर्माण-वर्णचतुष्क-तैजसकार्मणनाम्नाश्चाऽसंख्येयपुद्गलपरावर्तप्रमाणोऽनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टकालो भवति, एतासामष्टादशानामनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्य संज्ञिमिथ्यादृष्टीनां भावेनैकेन्द्रियादीनामेतावत्कालं यावन्निरंतरमनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्य जायमानत्वात्, अत्रौदारिकशरीरनाम्नः प्रकृतिबन्धकालवदनुत्कृष्टप्रदेशबन्धकालो विज्ञेयः, शेषसप्तदशप्रकृतीनां ध्रुवबन्धित्वात्प्रकृतिबन्धकालो यद्यपि भङ्गत्रयेण प्राप्यते तथाप्यनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्य ज्येष्ठकालस्त्वसंख्येयपुद्गलपरावर्तप्रमाणतोऽधिको नैव प्राप्यते, अत्र भावना त्वनुत्कृष्टस्थितिबन्धस्योत्कृष्टकालवद्विधेया। "शेषे"त्यादि, ज्ञानावरणपञ्चक दर्शनावरणषट्का-ऽऽद्यवर्जद्वादशकषाय--भय-जुगुप्साऽन्तरायपञ्चकरूपाणा त्रिंशत्प्रकृतीनामनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टकालो भङ्गत्रयात्मको बोध्यः, अनाद्यनन्तोऽभव्यमाश्रित्य, अनादिसान्तो भव्यमाश्रित्य येनाऽबन्धो ज्येष्ठप्रदेशबन्धो वा न लब्धः, एतौ द्वौ विकल्पौ क्रमश आद्यन्तरहितत्वादादिरहितत्वाच्च न जघन्योत्कृष्टकालभेदेन वक्तुं पार्येते, तृतीयभङ्गस्तु सादिसान्तः, तस्य चाऽऽदेरन्तस्य च संभवेन जघन्यत उत्कृष्टतः प्ररूपयितुं शक्यते, तत्र सर्वासामनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्य जघन्यकालो निरूपितः, उत्कृष्टतः पुनस्तृतीयविकल्पस्य कालमाह–"जेट्ठो" इत्यादि, उक्तत्रिंशत्प्रकृतीनामुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्य सम्यग्दृष्ट्यादीनामेव भावेन, तेषां संसारपर्यटनस्य देशोनार्द्धपुद्गलपरावर्तप्रमाणतोऽधिकस्याऽसंभवात् सम्यक्त्वादिगुणानामुत्कृष्टाऽन्तरस्य देशोनार्द्धपुद्गलपरावर्तप्रमाणत्वाच्चोक्तस्त्रिंशत्प्रकृतीनामनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टकालो देशोनार्धपुद्गलपरावर्तप्रमाणमेव प्राप्यते। अत्र क्षेत्रपुद्गलपरावर्तनं ग्राह्यम्। "बत्तीसे" त्यादि, गाथात्रयम्, पुरुषवेदादीनां सप्तानां पुरुषवेद समचतुरस्र-सुखगति सुभगत्रिको -च्चैर्गोत्ररूपाणामनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्य ज्येष्ठकालः साधिकद्वात्रिंशदधिकशतसागरोपमप्रमाणो भवति, मुख्यवृत्त्या मिथ्यात्वान्तरकालप्रमाणत्वात्। तिर्यग्द्विक -नीचैर्गोत्रयोरनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टकालोऽसंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमितसमयप्रमाणो बोध्यः, तेजोवायुकायिकेषु तत्प्रकृतित्रयस्य नैरन्तर्येण बध्यमानत्वात्तेषां कायस्थितेश्चाऽसंख्येयलोकमितत्वात्। मनुष्यद्विक-वज्रर्षभनाराचसंहननरूपप्रकृतित्रयस्य त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाण्यनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्य ज्येष्ठकालः प्राप्यते। अनुत्तरदेवस्याऽऽभवं तस्य बध्यमानत्वात्। तथा देवद्विक-वैक्रियद्विकयोरनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टकालो देशोनपूर्वकोटीतृतीयभागेनाऽधिकः पल्योपमत्रयप्रमितो विज्ञेयः, यः पूर्वकोटीवर्षायुष्कः स्वभवचरमतृतीयभागाद्यान्तर्मुहूर्ते युग्मिप्रायोग्यं पल्योपमत्रयप्रमितमायुर्बद्ध्वा ततः शीघ्रतरं सम्यक्त्वमासाद्य क्रमेण क्षायिकसम्यक्त्वं समुत्पाद्य स्वशेषायुरनुभूय युगलधार्मिकेषु समुत्पद्य तत्र पल्योपमत्रयं जीवित्वा देवलोकेषु समुत्पद्यते, तस्य सम्यक्त्वप्राप्तितः

प्रागन्तर्मुहूर्तादारभ्य युगलिकभवचरमसमयं यावद्देवद्विकवैक्रियद्विकयोर्निरन्तरं बन्धो भवति, अतोऽनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टकालो यथोक्तमानो भवति। तथा पञ्चेन्द्रियजाति पराघातो-च्छ्वास-त्रसचतुष्करूपाणां सप्तानामनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टकालः पञ्चाशीत्यधिक सागरोपमशतं भवति; भवप्रत्ययेन गुणप्रत्ययेन वैतावन्तं कालं यावदासां प्रतिपक्षप्रकृतीनां बन्धाऽभावेन तावन्कालं यावदासां निरंतरं बध्यमानत्वात्। औदारिकाङ्गोपाङ्गनाम्नोऽनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टकालः साधिकत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमप्रमितः, सप्तमपृथ्वीनारकाणामाभवपर्यन्तं, तत उद्वृत्तानां तिर्यग्भवाद्यन्तर्मुहूर्तं यावन्निरन्तरं अस्य बन्धभावात्। तथा जिननाम्नोऽनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टकालोऽपि साधिकत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमप्रमाणोऽनुत्तरदेवभवे त्रयस्त्रिंशत्सागरोपम यावत् तत्प्राग्भवे उत्तरभवे च देशोनपूर्वकोटीं यावन्निरन्तरं बन्धभावाद्देशोनपूर्वकोटीद्वयाऽभ्यधिकत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमप्रमितो ज्येष्ठकालः प्राप्यते। उक्ताऽतिरिक्तानां षट्चत्वारिंशत्प्रकृतीनामनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टकालोऽन्तर्मुहूर्तप्रमितः, तत्प्रकृतिबन्धकालस्याप्युत्कृष्टत एतावन्मात्रत्वात्, षट्चत्वारिंशत्प्रकृतयस्त्विमाः-साताऽसातवेदनीयस्त्रीवेदनपुंसकवेदहास्यरतिशोकाऽरतिनरकद्विकजातिचतुष्काऽऽहारकद्विकाद्यवर्जसंहननपञ्चकाद्यवर्जसंस्थानपञ्चककुखगत्यातपोद्योतस्थावरचतुष्कदुर्भगत्रिकस्थिरा-ऽस्थिर शुभा ऽशुभ यशःकीर्त्ययशःकीर्तिनामायुःचतुष्कञ्चेति, यद्यपि सयोगिकेवल्यपेक्षया देशोनपूर्वकोटीप्रमितः सातवेदनीयस्य प्रकृतीबन्धकालः प्राप्यते तथाऽपि शतकग्रन्थादिवत्प्रस्तुते सकषायप्रदेशबन्धस्याऽधिकृतत्वेन सकषायसातवेदनीयबन्धस्याऽन्तर्मुहूर्तमात्रत्वादनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टकालोऽन्तर्मुहूर्तं प्राप्यते न ततोऽधिक इति। अत्राऽनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टकालस्य "अडमिच्छाईण तहा उरालधुवबंधिणामपयडीण" इत्यनेन दर्शिता औदारिकशरीरवर्जिता मिथ्यात्वादिसप्तदशप्रकृतीर्विहाय शेषाणां प्रकृतीनां प्रकृतिबन्धोत्कृष्टकालप्रमाणवच्चद्विशेषभावना तद्वद्विज्ञेया सुगमत्वान्न पुनर्विभाव्यते। ॥२५४-२५८॥

अथ मार्गणास्तूत्कृष्टा-ऽनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्य कालं निरूपयितुकामो लाघवार्थमादौ तावदायुष उत्कृष्टाऽनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्य द्विविधं बन्धकाल दर्शयति—

सव्वासु मग्गणासुं सप्पाउग्गाण आउगाण भवे ।
ओघव्व जहण्णयरो उक्कोसयरपएसाणं ॥२५९॥
णवरं जाणयव्वो कालो देवाउगस्स समयो उ ।
आहारमीसजोगे जेट्ठपएसस्स उक्कोसो ॥२६०॥

(प्रे०) "**सव्वासु**" त्ति, आयुषो बन्धार्हासु त्रिषष्ट्युत्तरशतमार्गणासु "**सप्पाउग्गाण**" त्ति यासु मार्गणासु यावन्त्यायूंषि बन्धार्हाणि तासु मार्गणासु तावतामायुषामुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्याऽ-

नुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्य च जघन्योत्कृष्टभेदेन द्विविधोऽपि काल ओघवद्विज्ञेयः, तद्यथा–उत्कृष्टप्रदेशबन्धस्य जघन्यः कालः समय उत्कृष्टः पुनः समयद्वयम्, सर्वत्राऽऽयुर्बन्धकालभावियोगस्थानेषूत्कृष्टयोगस्थानस्य जघन्यतः समयमुत्कृष्टतः समयद्वयमवस्थानात्, अनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्य लघुकालः समयः, उत्कृष्टयोगस्थानद्वयान्तराले समयमात्रानुत्कृष्टयोगस्थानस्य संभवात्, आयुर्बन्धाऽद्धाया द्विचरमसमयेऽप्युत्कृष्टयोगस्थानसद्भावाच्च, तस्यैवोत्कृष्टकालोऽन्तर्मुहूर्तप्रमितः, आयुर्बन्धकालस्योत्कृष्टतोऽन्तर्मुहूर्तमात्राऽवस्थानादिति। भावना त्वोघानुसारेण विधेया। अत्रा-ऽऽहारकमिश्रकाययोगिन उत्कृष्टयोगस्थानस्य मार्गणाचरमसमय एव भावेन समयमात्रमेवोत्कृष्टयोगस्थानभावात्, तत्र बध्यमानदेवायुष उत्कृष्टप्रदेशबन्धस्य ज्येष्ठकालः समयद्वयं न संभवतीत्यतोऽपवदति-"णवरं" मित्यादिना, गतार्थम्, आहारकमिश्रेऽनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्य समयप्रमाणोजघन्यकाल एवं विभावनीयः–मार्गणाप्रथमसमय आयुर्बन्धाद्धायाश्चरमसमयरूपे समयमात्रमायुर्बद्ध्वा द्वितीयसमये तद्बन्धविरमणात्, यद्वा मार्गणाचरमसमयेऽनुत्कृष्टयोगिन आयुर्बन्धप्रारम्भाद् यद्वा मार्गणाद्विचरमसमय आयुर्बन्धं प्रारभ्य समयमेकमायुर्बन्धप्रथमसमयेऽनुत्कृष्टप्रदेशबन्धं कृत्वा द्वितीयसमये मार्गणाचरमसमयरूपे उत्कृष्टप्रदेशबन्धकरणाद् वाऽनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्य समयप्रमाणो जघन्यकालः प्राप्यते। कासु मार्गणासु कियन्त्यायूंषि बन्धार्हाणि तच्च प्रागनेकशो दर्शितत्वात्सुगमत्वाच्च न दर्श्यते। नन्वौदारिकमिश्रकाययोगमार्गणायां प्रतिसमयं योगस्याऽसंख्येयगुणवर्धनादायुर्बन्धचरमसमय एव उत्कृष्टप्रदेशबन्धस्य भावान्न घटते ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टकालः समयद्वयम्, एवमनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्य जघन्यकालोऽपि समयप्रमाणो न घटते, आयुषो बन्धाद्धायाः प्रथमसमयादारभ्य द्विचरमसमयं यावदनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्यैव भावात्? अत्रोच्यते-औदारिकमिश्रकाययोगमार्गणायां लब्ध्यपर्याप्तानामेवाऽऽयुर्बन्धस्य सम्भवस्तस्य च लब्ध्यपर्याप्तकस्य स्वायुष्कस्य चरमत्रिभागे योगस्य चतुर्विधाया अपि वृद्धेर्हानेश्च संभवादायुर्बन्धाद्धाया मध्येऽपि संभवदुत्कृष्टयोगस्थानस्य भावादुत्कृष्टयोगस्थानस्य समयद्वयावस्थानेनोत्कृष्टप्रदेशबन्धस्य द्विसमयकालमानं सुसंगतम्, एवमुत्कृष्टप्रदेशबन्धद्वयान्तराले समयमात्रमनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्य लाभात्तस्य जघन्यकालस्य समयमात्रत्वं सुघटमेवेति ॥२५९-२६०॥

एवं मार्गणास्वायुषामुत्कृष्टाऽनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्य कालमानं प्रदर्श्य संप्रति मार्गणास्वेव शेषकर्मणां तद्दर्शयन्नादावुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्य तद्दर्शयति—

सव्वासु मग्गणासुं सप्पाउग्गाण आउवज्जाणं।
जेट्ठपएसस्स लहू समयो परमो दुवे समया ॥२६१॥
णवरं गुरू वि समयो जेट्ठपएसस्स सव्वपयडीणं।
मिस्सतिजोगेसु तहा कम्मणजोगे अणाहारे ॥२६२॥

(प्रे०) "सव्वासु मग्गणासु" मित्यादि, सर्वासु, सप्तत्युत्तरशतसंख्याकासु तासु तासु मार्गणासु बन्धप्रायोग्याऽऽयुर्वर्जसर्वप्रकृतीनामुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्य जघन्यकालः समयप्रमाणः, उत्कृष्टकालस्तु द्विसमयप्रमितः, वक्ष्यमाणमपवादपदं विहाय सर्वत्रोत्कृष्टयोगस्थानस्य जघन्यतः समयमात्रमुत्कृष्टतः समयद्वयश्चावस्थानात्, अल्पतमप्रकृतिबन्धे सत्युत्कृष्टयोगस्थानाधीन एवोत्कृष्ट-प्रदेशबन्धस्तेनोत्कृष्टयोगस्थानाऽवस्थानकालतुल्य एवोत्कृष्टप्रदेशबन्धकालः प्राप्यते, अत एवौदारिक-मिश्रकाययोगादिमार्गणापञ्चकं विहाय शेषासु पञ्चषष्ट्यधिकशतमार्गणासूत्कृष्टयोगस्थानस्य जघन्यतः समयमुत्कृष्टतः समयद्वयमवस्थानात्सर्वप्रकृतीनामुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्य कालोऽपि तथा दर्शितः । औदारिकमिश्र-वैक्रियमिश्राऽऽहारकमिश्र-कार्मण ऽनाहारकलक्षणे मार्गणापञ्चके तु मार्गणाचरमसमये समयमात्रमेवोत्कृष्टयोगस्थानस्य भावेनाऽऽयुर्वर्जबन्धप्रायोग्यसर्वप्रकृतीनामुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्योत्कृष्ट-कालः समयमात्रलाभात् "णवर" मित्यादिनाऽपवादरूपेण स दर्शितः । इदमत्र बोध्यम्-यासु मार्गणासु येषु जीवभेदेषु चाऽपर्याप्ताऽवस्थाभाविनां नियमतोऽसंख्येयगुणवृद्धियोग्यानामेकान्तवर्धमान-योगस्थानानां भवप्रथमसमयभाविनामुत्पादयोगस्थानानां च जघन्यत उत्कृष्टतश्च समयमात्राऽवस्थान-स्य भावात् तानि विहाय यानि हानिवृद्ध्यवस्थानप्रायोग्याणि योगस्थानानि तेभ्यस्तासु मार्गणासु तेषु जीवभेदेषु च यज्ज्येष्ठतमं योगस्थानं तदुत्कृष्टतः समयद्वयावस्थानार्हम् ; यत्कनिष्ठं तदुत्कृष्टतःसमय-चतुष्कावस्थानार्हम् ,अत एव प्रस्तुतं मार्गणापञ्चकं विहाय शेषासु मार्गणासु यज्ज्येष्ठतमं योगस्थानं तस्य समयद्वयमवस्थानाज्ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टकालोऽपि समयद्वयं निर्दिष्टः।औदारिकमिश्रादिमार्ग-णापञ्चकमध्याद् वैक्रियमिश्रा ऽऽहारकमिश्र-कार्मणा ऽनाहारकमार्गणाचतुष्के योगस्थानस्य हानेरवस्था-नस्याऽसंख्यगुणवृद्धिं विहाय शेषवृद्धित्रयस्य चाऽभावाद्मार्गणाचरमसमय एवोत्कृष्टयोगस्थानलाभाज् ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टकालः समयप्रमाणः प्राप्यते,औदारिकमिश्रकाययोगमार्गणायां योगस्थानानां चातुर्विधवृद्धिहान्यवस्थानानां लाभेऽपि मार्गणाप्रायोग्यज्येष्ठयोगस्थानस्य करणाऽपर्याप्तानां मार्गणा-चरमसमय एव भावात्तत्र तस्य बन्धार्हाणां प्रकृतीनामुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टकालोऽपि समयप्रमाण एव प्राप्यत इति ॥२६१ २६२॥

अथ मार्गणास्वायुर्वर्जानां शेषकर्मणामनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्य जघन्यकालं दर्शयति—

सव्वासु मग्गणासुं सप्पाउग्गाण आउवज्जाणं ।
अगुरुपएसस्स लहू कालो समयो मुणयव्वो ॥२६३॥
णवरं भिन्नमुहुत्तं णेयो ओरालमीसजोगम्मि ।
धुवबंधीण तहा सुरविउवदुगोरालतित्थाणं ॥२६४॥

वेउव्वमीसजोगे धुवुरलपंचपरघाइतित्थाणं ।
आहारगमीसे जिणवारहसायाइवज्जाणं ॥२६५॥

(प्रे०) "सव्वासु" इत्यादि, सर्वमार्गणासु सामान्यतो बध्यमानाऽऽयुर्वर्जस्वप्रायोग्यसर्वप्रकृतीनामनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्य जघन्यकालः समयप्रमाणः, औदारिकमिश्र--वैक्रियमिश्रा ऽऽहारकमिश्र--कार्मणा--ऽनाहारकरूपं मार्गणापञ्चकं विहाय शेषासु पञ्चषष्ट्युत्तरशतमार्गणासु यथोत्कृष्टप्रदेशबन्धः समयद्वयं यावद्भवति तथोत्कृष्टप्रदेशद्वयाऽन्तराले समयमात्रमनुत्कृष्टप्रदेशबन्धोऽपि भवति, यद्वा यथासम्भवमुत्कृष्टप्रदेशबन्धादवतीर्य समयमात्रमनुत्कृष्टप्रदेशबन्धं कृत्वा मार्गणाऽन्तरं व्रजति तदपेक्षयाऽनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्य जघन्यकालः समयप्रमाणः प्राप्यते, यद्वा कस्याश्चिन्मार्गणाया जघन्यकायस्थितेः समयप्रमाणत्वेनाऽनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्य जघन्यकालः समयप्रमाणो बोध्यः, यद्वाऽध्रुवबन्धिप्रकृतीनां प्रकृतिबन्धकालेनाऽपि समयप्रमाणोऽनुत्कृष्टदेशबन्धस्य जघन्यकालः प्राप्यते, एवमनया दिशा प्रकाराऽन्तरेणाऽपि समयप्रमाणो जघन्यबन्धकालो बोध्यः । कार्मणा-ऽनाहारकमार्गणाद्वये मार्गणाजघन्यस्थितेः समयप्रमाणत्वेनाऽनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्य समयप्रमाणो जघन्यकालो बोध्यः, एवं च सप्तषष्ट्युत्तरशतमार्गणासु बध्यमानसर्वप्रकृतीनामनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्य जघन्यकालः समयप्रमाणो लभ्यते ।

अथौदारिकमिश्रादिमार्गणात्रये यासां प्रकृतीनामनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्य जघन्यकालः समयो न भवति, किन्त्वन्तर्मुहूर्तं तासामपवादतस्त "णवर" मित्यादिना दर्शयति, औदारिकमिश्रकाययोगमार्गणायां सप्तचत्वारिंशद्ध्रुवबन्धिनीनामौदारिकशरीर-देवद्विक वैक्रियद्विक-जिननामरूपाणां त्रिपञ्चाशत्प्रकृतीनामनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्य जघन्यकालोऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणो विज्ञेयः, तद्बन्धकजीवाऽपेक्षया मार्गणाया जघन्यकायस्थितेरन्तर्मुहूर्तमात्रत्वात्तासाञ्च ध्रुवबन्धित्वाद्ध्रुवबन्धिकल्पत्वाद्वा । अयं भावः–प्रस्तुतमार्गणायां मिथ्यादृष्टयः सप्तचत्वारिंशद्ध्रुवबन्धिनीरौदारिकशरीनाम च मार्गणाप्रथमसमयतश्चरमसमयं यावद्ध्रुवं बध्नाति, तत्र च जघन्यकायस्थितिं व्यतिक्रामतो ज्येष्ठयोगस्थानस्याऽलाभेन चरमसमयेऽप्युत्कृष्टयोगस्थानस्याऽप्राप्तेस्तदर्हमार्गणाजघन्यकायस्थितिं यावत्सोऽनुत्कृष्टप्रदेशबन्धमेव निर्वर्तयति, तस्याश्च जघन्यकायस्थितिस्समयत्रयन्यूनक्षुल्लकभवप्रमाणाऽवसेया, सम्यग्दृष्टिः पुनर्मार्गणायामस्यां वर्तमानो देवद्विक-वैक्रियद्विकं नियमाद्बध्नाति, कश्चित्सम्यग्दृष्टिमनुष्यो जिननामाऽपि, तस्य तदर्हमार्गणाजघन्यकालं यावदासां पञ्चानामनुत्कृष्टो प्रदेशबन्धो लभ्यते, सोऽप्यन्तर्मुहूर्तमात्र एव । एवं च त्रिपञ्चाशत्प्रकृतीनामनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्य जघन्यकालोऽन्तर्मुहूर्तप्रमाण एव, शेषाणां बन्धार्हाणां नवपञ्चाशत्प्रकृतीनामध्रुवबन्धित्वादनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्य जघन्यकालः समयप्रमाणो लभ्यते । एवं वैक्रियमिश्रकाययोगमार्गणायां सप्तचत्वारिंशद्ध्रुवबन्धिनीनामौ-

दारिकशरीरपराघातो-च्छ्वास-बादरत्रिक-जिननामरूपाणां चतुःपञ्चाशत्प्रकृतीनामनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्य-जघन्यकालोऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणो भवति, मार्गणाया जघन्यकायस्थितेरन्तर्मुहूर्तमात्रत्वात् , आसाञ्च ध्रुवबन्धित्वाद् ध्रुवबन्धिकल्पत्वाद्वा, भावना त्वौदारिकमिश्रकाययोगमार्गणामवलम्ब्य यथासम्भवं कर्तव्या सुगमप्रायेति । शेषाष्टचत्वारिंशदध्रुवबन्धिप्रकृतीनामनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्य जघन्यकालः समयप्रमाणो बोध्यः। आहारकर्मिश्रकाययोगमार्गणायां साता-ऽसातवेदनीयस्थिरा-ऽस्थिर-शुभा ऽशुभ-यशःकीर्त्य-यशःकीर्तिजिननाम-हास्य-रति-शोका-ऽरतिरूपाणां त्रयोदशानां प्रकृतीनामनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्य जघन्यकालः समयप्रमाणः, द्वादशानां परावर्तमान बन्धत्वाज्जिननाम्नो मार्गणाचरमसमयेऽपि बन्धप्रारम्भसम्भवाच्च समयप्रमाणः कालो लभ्यते, शेषाणां मार्गणाप्रायोग्याणां ज्ञानावरणपञ्चक-दर्शनावरणषट्क-सज्वलनचतुष्कभय-जुगुप्सा-पुरुषवेद-देवद्विक-पञ्चेन्द्रियजाति वैक्रियद्विक-तैजस-कार्मण- समचतुरस्र सुखगतिवर्णचतुष्का-ऽगुरुलघू-पघात-निर्माण पराघातो-च्छ्वास-त्रसचतुष्क- सुभगत्रिको-च्चैर्गोत्रा-ऽन्तराय-पञ्चकरूपाणामेकोनपञ्चाशत्प्रकृतीनामनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्य जघन्यकालोऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणः, मार्गणाजघन्यकायस्थितेरन्तर्मुहूर्तप्रमाणत्वे सति मार्गणाचरमसमयव्यतिरिक्तसमयेषूत्कृष्टप्रदेशबन्धस्याऽलाभात् , मार्गणायामस्यामेतासां निरंतरं बध्यमानत्वाच्च । तदेवं गाथात्रयेण सर्वमार्गणासु बध्यमानस्वप्रायोग्याऽऽयुर्वर्जसर्वप्रकृतीनामनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्य जघन्यकालः प्रदर्शितः ।।१६३-१६५।।

सम्प्रति मार्गणास्वायुर्वर्जबन्धप्रायोग्यसर्वप्रकृतीनामनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्य ज्येष्ठः कालो निरूपणीयः, तत्र प्रथमं सर्वमार्गणासु ध्रुवबन्धिनीनामनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टकालमानं निरूपयितुकामो बहुषु मार्गणासु तस्य कायस्थितिप्रमाणत्वात् तत्र च 'सेसासु' इत्यादिनाऽनन्तरं वक्ष्यमाणत्वात्ताः मार्गणा विहाय यासु कतिपयमार्गणासु न कस्या अपि प्रकृतेः कायस्थितिः-किन्त्वन्यथैव कालः, तासु तं दर्शयन्नाह—

जेट्ठो असंखलोगा एगिंदिणिगोअपंचकायेसु ।
धुवबंधीणं सेढीअसंखभागो छसुहमेसु ।।२६६।।
दुअणाणअजयअभवियमिच्छेसु भवे असंखपरिअट्टा ।
णवरं ओघव्व भवे अजए वीमधुवबंधीणं ।।२६७।।
ओघव्व गुरू णेयो अचक्खुभवियेसुखलु परं भविये ।
णत्थि अणाइअणंतो ·································।।

(प्रे०) "जेट्ठो" इत्यादि, एकेन्द्रियौघ-निगोदौघ-पृथ्वीकायौघा-प्कायौघ तेजस्कायौघ-वायुकायौघ-वनस्पतिकायौघ रूपासु सप्तमार्गणासु ध्रुवबन्धिप्रकृतीनामनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टकालोऽसंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमितसमयप्रमाणोऽसंख्येयोत्सर्पिण्यवसर्पिणीरूपो भवति, एतासु सप्तमार्गणासु बादरैकेन्द्रियस्यैवोत्कृष्टप्रदेशबन्धस्वामित्वादासां च ध्रुवबन्धित्वेन सूक्ष्माणामुत्कृष्टकायस्थितिं यावदनुत्कृष्ट-

प्रदेशबन्धस्यैव नैरन्तर्येण भावात् तत्पूर्वे उत्तरत्र च कियन्तं कालं यावदनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्य भावाच्च। भावना त्वत्र प्रस्तुतमार्गणागताऽनुत्कृष्टस्थितिबन्धस्योत्कृष्टकालवत्, अनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टकालवद्वा विज्ञेया। "सेढोअ" इत्यादि, सूक्ष्मैकेन्द्रिय-सूक्ष्मपृथ्वीकायसूक्ष्माप्काय सूक्ष्मतेजस्काय सूक्ष्मवायुकाय सूक्ष्मसाधारणवनस्पतिकायरूपासु षट्सु सूक्ष्मौघभेदेषु ध्रुवबन्धिप्रकृतीनामनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टकालो घनीकृतलोकस्य प्रतरसम्बन्धिनी या सूचिश्रेणिस्तस्या असंख्येयतमो भागस्तस्मिन्यावन्त आकाशप्रदेशास्तावत्समयप्रमाणो विज्ञेयः, या मार्गणाश्रेणेरसंख्येयभागप्रमाणा तदधिककायस्थितिका वा, तत्र च यद्युत्कृष्टप्रदेशबन्धस्य प्रतिबन्धकीभूतानां दीर्घस्थितिकानां जात्यादीनां नाऽन्तर्भावः, तर्हि तासु मार्गणासूत्कृष्टतश्श्रेणेरसंख्येयभागप्रमाणे कालेऽप्यतीते वध्यमानप्रकृतीनामुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्यावश्यं लाभात्तास्वनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टकालश्श्रेणेरसंख्येयभागप्रमाणः प्राप्यते, अतः प्रस्तुतेऽपि श्रेणेरसंख्येयभागगतनभःप्रदेशमितसमयप्रमाणोऽनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टकालोदर्शित। तथा यस्या मार्गणायाः कायस्थितिः श्रेणेरसंख्येयभागतोऽधिका तत्र च यद्युत्कृष्टप्रदेशबन्धप्रतिबन्धकीभूतानां दीर्घकायस्थितिकानां सूक्ष्मादीनामेकेन्द्रियजातिमतां वा प्रवेशः, तत्रोत्कृष्टप्रदेशबन्धप्रतिबन्धकीभूतानां सूक्ष्मादीनामेकेन्द्रियादिजातिमतां वा यावाञ्ज्येष्ठः कायस्थितिकालस्ततस्समधिककालस्तस्यां मार्गणायां ध्रुवबन्धिप्रकृतीनामनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्य ज्येष्ठकालः प्राप्यते, यथाऽज्ञानद्विकाऽसंयमाऽभव्य-मिथ्यात्वरूपासु पञ्चसु मार्गणासु सर्वासामुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्य स्वामिनां संज्ञिमिथ्यादृष्टीनां सत्त्वेनाऽसंख्येयपुद्गलपरावर्तप्रमाणकालं यावदेकेन्द्रियेष्ववस्थानभाजां तावत्कालं ध्रुवबन्धिप्रकृतीनामनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्यैव लाभात् "दुअणाणे" त्यादिना, मार्गणापञ्चकेऽसंख्येयपुद्गलपरावर्तप्रमाणः कालो दर्शितः। अत्र दर्शितमार्गणापञ्चकेभ्योऽसंयतमार्गणायां दर्शनावरणषट्कस्य तथा द्वादशकषायाणामप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानसंज्वलनचतुष्करूपाणां भयजुगुप्सयोश्चोत्कृष्टप्रदेशबन्धस्य सम्यग्दृष्टीनामेव स्वामिकत्वेन मार्गणावर्तिनामनादिमिथ्यादृष्टीनामनादिकालत एतासां द्वादशप्रकृतीनामनुत्कृष्टप्रदेशस्यैव भावादसंख्येयपुद्गलपरावर्तप्रमाणकालनिर्देशो न घटते, अतोऽपवादं दर्शयति "णवर"मित्यादि, असंयतमार्गणायां दर्शनावरणषट्कादिविंशतिध्रुवबन्धिनीनामनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टकाल ओघवत्, त्रिविकल्पगतो भवति तद्यथा–प्रथमोऽनाद्यनन्तोऽभव्यजीवमधिकृत्य, द्वितीयोऽनादिसान्तोऽनादिमिथ्यादृष्टिभव्यजीवमाश्रित्य, तृतीयस्सादिसान्तो ज्येष्ठप्रदेशबन्धं प्राप्य सम्यक्त्वपतितजीवमाश्रित्योत्कृष्टतो देशोनार्द्धपुद्गलपरावर्तप्रमाणः। शब्दार्थस्तु सुगमः। "ओघव्व" इत्यादि, अचक्षुर्दर्शनमार्गणायां भव्यमार्गणायां चाऽऽयुर्वर्जसर्वप्रकृतीनामनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टकाल ओघवद्भवति, ओघोक्तस्वामिनामत्र मार्गणाद्वये प्रवेशात्, मार्गणयोरनादिकालीनत्वाच्च। केवलं भव्यमार्गयाः सान्तत्वेनात्राऽनादिध्रुवभङ्गस्याघटमानत्वाद् "परं" इत्यादिना तन्निषेध उक्तः॥२६६-२६७॥

एतर्हि ध्रुवबन्धिप्रकृतीनामनुत्कृष्टप्रदेशस्योत्कृष्टकालमेव शेषमार्गणायां दर्शयति—

…………सेसासु सगुरुकायठिई ॥२६८॥

(प्रे०) "सेसासु" इत्यादि, शेषमार्गणासु ध्रुवबन्धिप्रकृतिभ्यो बध्यमानस्वप्रायोग्यप्रकृतीनामनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टकालः स्वकायस्थितिप्रमाणो विज्ञेयः, तत्तन्मार्गणाया यावती ज्येष्ठकायस्थितिस्तत्र तावत्कालं यावदनुत्कृष्टप्रदेशबन्धोऽपि भवतीत्यर्थः।

अत्रेदं बोध्यम्—या मार्गणाश्श्रेणेरसख्येयभागतो हीनकायस्थितिकास्तासु सर्वासु श्रेणेरसंख्येयभागप्रमाणयोगस्थानानां सद्भावेन ज्येष्ठकायस्थितिं यावत्स्वमार्गणाप्रायोग्यचरमयोगस्थानरूपस्योत्कृष्टयोगस्थानस्याऽप्राप्तेरपि संभवात्प्राप्यतेऽनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्य ज्येष्ठकालतत्तन्मार्गणाया ज्येष्ठकायस्थितिप्रमाणः। या मार्गणा पुनः श्रेणेरसंख्यभागतोऽधिकस्थितिका तत्र च यद्युत्कृष्टप्रदेशबन्धाऽप्रायोग्याणामेकेन्द्रियादिजात्यादीनामन्तर्भावः, तदा तस्यां मार्गणायामपि स्वज्येष्ठकायस्थितित उत्कृष्टप्रदेशबन्धाप्रायोग्याणामेकेन्द्रियादीनां कायस्थितेर्देशोनत्वेन तत्पूर्वोत्तरकालयोश्च श्रेणेरसंख्येयभागतोऽत्यल्पत्वेन परिपूर्णां मार्गणाकायस्थितिं यावदनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्य लाभाद् घटत एव तिर्यग्गत्यादिषु दीर्घतमकायस्थितिकास्वपि ध्रुवबन्धिनीनामनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टकालस्स्वज्येष्ठकायस्थितिमानः। शेषमार्गणा नामतः पुनरिमाः—नरकौघः, प्रथमादिसप्तनरकभेदाः, तिर्यग्गत्योघश्चत्वारः पञ्चेन्द्रियतिर्यग्भेदाश्चत्वारो मनुष्यगतिभेदाः, त्रिंशद्देवगतिभेदाश्चेति सप्तचत्वारिंशद्गतिभेदाः, सूक्ष्मपर्याप्तैकेन्द्रिय-सूक्ष्माऽपर्याप्तैकेन्द्रिय बादरैकेन्द्रियौघ बादरपर्याप्तैकेन्द्रिय-बादराऽपर्याप्तैकेन्द्रियरूपाः पञ्चैकेन्द्रियभेदाः, नव विकलाक्षभेदाः, त्रयः पञ्चेन्द्रियभेदाः सूक्ष्मपर्याप्ताऽपर्याप्तबादरौघतत्पर्याप्ताऽपर्याप्तरूपाः पञ्च पृथ्वीकायभेदाः, पञ्चाऽप्कायभेदाः, पञ्च तेजस्कायभेदाः, पञ्च वायुकायभेदाः, पञ्च साधारणवनस्पतिकायभेदाः, त्रयो प्रत्येकवनस्पतिकायभेदाः, त्रयस्त्रसकायभेदाः, अष्टादश योगभेदाः, त्रयो वेदभेदाः, गतवेदः, चत्वारः कषायभेदाः, चत्वारो ज्ञानमार्गणाभेदाः, विभङ्गज्ञानञ्च, संयमौघ सामायिक-छेदोपस्थापनीय-परिहारविशुद्ध-देशविरति-सूक्ष्मसंपरायरूपाः षट्संयमभेदाः, चक्षुरवधिदर्शनमार्गणाभेदौ, षट् लेश्यामार्गणाः, सम्यक्त्वौघो पशम-क्षयोपशम क्षायिक सम्यग्मिथ्यात्व सास्वादनरूपाः षट् सम्यक्त्वभेदाः, संज्ञिमार्गणा, असंज्ञिमार्गणा, आहारका ऽनाहारकमार्गणाभेदौ चेति पञ्चाशदुत्तरशतमार्गणाभेदाः। अत्र तिर्यग्गत्यौघ नपुंसकवेद-काययोगौघाऽसंज्ञिरूपांश्चतुरो मार्गणाभेदान् संत्यज्य शेषषट्चत्वारिंशदुत्तरशतमार्गणासु ज्येष्ठकायस्थितिः श्रेण्यसंख्येयभागतोऽत्यल्पप्रमाणास्ततस्तासु ध्रुवबन्धिनीनामनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टकालो मार्गणाकायस्थितिं यावत्प्राप्यते, अत्र सम्यक्त्वौघादिमार्गणासु बन्धकजीवाऽपेक्षया कायस्थितिर्विज्ञेया। तिर्यग्गत्यौघादिमार्गणाचतुष्के उत्कृष्टप्रदेशबन्धार्हाः पञ्चेन्द्रिया एव, मार्गणाचतुष्केऽपि ज्येष्ठकायस्थितिनिर्वाहकास्त्वेकेन्द्रिया एव, एकेन्द्रियजीवस्थानं विहाय शेषजीवस्थानैर्मार्गणानां कायस्थितेरनन्ततमभाग

एव पूर्यते । मार्गणाचतुष्केऽपि शेषजीवस्थानैः पूर्यमाणकालस्य स्वल्पतमत्वेन ज्येष्ठयोगस्थानस्य प्राप्तेरनियमादेकेन्द्रियत्वे गुरुनमयोगस्थानस्याऽसंभवाच्च मार्गणाज्येष्ठकायस्थितिं यावदनुत्कृष्टप्रदेश-बन्ध एव लभ्यते ततस्तथैव दर्शितः । स हि प्रकृतिबन्धकालेनाऽनुत्कृष्टस्थितिबन्धकालेना-ऽनुत्कृष्ट-रसबन्धकालेन वा तुल्य इति विशेषभावना ततो विभावनीया ।।२६८।। अत्र शेषमार्गणाऽन्तर्गतासु-देवशुक्ललेश्यादिमार्गणासु प्राप्ता याऽतिप्रसक्तिस्तामपवादरूपेण वारयंस्तत्र च संभवत्प्रमाणं दर्शयन्नाह—

णवरं सुरसुक्कासु अडमिच्छाईण एगतीसुदही ।
णाणतिगे ओहिम्मि य सम्मत्ते वेअगे य भवे ।।२६९।।
मज्झट्ठकसायाणं तेत्तीसा सागरोवमाऽब्भहिया ।
अहवाऽत्थि साहियुदही तइअकसायाण बायाला ।।२७०।।

(प्रे०) "**णवर**" मित्यादि; देवौघमार्गणायां शुक्ललेश्यामार्गणायाञ्च मिथ्यात्वाऽनन्तानु-बन्धिचतुष्क-स्त्यानर्द्धित्रिकरूपाणामष्टानामनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टकाल एकत्रिंशत्सागरोपमप्रमाणो भवति, न पुनरुत्कृष्टकायस्थितिरूपत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमप्रमाणः, उत्कृष्टकायस्थित्याक्षेपकानुत्तरदेवानां नियमतः सम्यग्दृष्टित्वेन मिथ्यात्वादिप्रकृत्यष्टकबन्धाऽभावात् । अथ द्वितीयमपवादं दर्शयति- "**णाणतिगे**" इत्यादि, मतिज्ञान श्रुतज्ञाना-ऽवधिज्ञाना-ऽवधिदर्शन-सम्यक्त्वौघ-क्षयोपशमिकसम्य-क्त्वरूपासु षट्सु मार्गणासु कायस्थितेस्साधिकषट्षष्टिसागरोपमप्रमाणत्वेऽपि चतुर्थगुणस्थानकालस्य साधिकत्रयस्त्रिंशत्सागरोपममानत्वादप्रत्याख्यानावरणचतुष्कप्रत्याख्यानावरणचतुष्करूपकषायाऽष्टक-स्याऽनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्य ज्येष्ठकालः प्रकृतिबन्धकालवत्साधिकत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमप्रमाणः प्राप्यते, केषाञ्चिन्मते पुनश्चतुर्थगुणस्थानकालस्याऽपि षट्षष्टिसागरोपमप्रमाणत्वात्प्रस्तुतप्रकृत्यष्टकस्याऽ-नुत्कृष्टप्रदेशबन्धकालः कायस्थितिप्रमाणः प्राप्यते । '**अहवा**' अथवाशब्दस्य मतान्तरद्योतनपर-त्वात्, महाबन्धकारमतेन मतिज्ञानादिमार्गणायां साधिकद्वाचत्वारिंशत्सागरोपमप्रमाणं यावच्चतुर्थपञ्च-मगुणस्थानद्वयेन कालस्य निर्वहणात्प्रत्याख्यानचतुष्कस्य नियमतस्तत्र बध्यमानत्वाच्च तन्मते प्रत्याख्या-नावरणचतुष्कस्याऽनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्य ज्येष्ठः कालः साधिकद्वाचत्वारिंशत्सागरोपमप्रमाणो विज्ञेयः । ।।२६९ १७०।। एवं ध्रुवबन्धिप्रकृतीनामनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टकालं मार्गणासु निरूप्य संप्रति मार्गणासु बन्धप्रायोग्याणामध्रुवबन्धिप्रकृतीनामनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टकालं दर्शयति—

सव्वासु मुहुत्तंतो अवक्खमाणाण अधुवबंधीणं ।
सप्पाउग्गाण गुरू अगुरुपएसस्स विण्णेयो ।।२७१।।

(प्रे०) "**सव्वासु**" इत्यादि, सर्वमार्गणासु बन्धप्रायोग्याभ्योऽध्रुवबन्धिप्रकृतिभ्यो यासां प्रकृतीनां बन्धकालो न दर्शयिष्यते तासां प्रकृतीनामनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टकालोऽन्तर्मु-

हूर्तप्रमाणो भवति, अयं भावः—या मार्गणा अन्तर्मुहूर्तप्रमितज्येष्ठकायस्थितिकास्तासु बध्यमानसर्व-प्रकृतीनां बन्धकालस्याऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणत्वात्तासां सर्वासामनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्य ज्येष्ठकालोऽन्तर्मुहूर्तप्रमाण एव भवति, अतस्ता मार्गणा न दर्शयिष्यति ग्रन्थकारः, एवं शेषनरकौघादिष्वपि यत्र यासां प्रकृतीनां भवप्रत्ययाद्गुणप्रत्ययाद्वा प्रतिपक्षप्रकृतीनां बन्धविच्छेदादिनाऽन्तर्मुहूर्तादधिकतरो बन्धकालः प्राप्यते ताः प्रकृतीः विहाय तासु मार्गणासु शेषप्रकृतीनां परावर्तमानत्वादन्तर्मुहूर्तप्रमाणतोऽधिको बन्धकालो न प्राप्यते, अतस्तासु मार्गणासु ताः प्रकृतयो न वक्ष्यन्ते। तासां चाऽनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्य ज्येष्ठः कालः प्रकृतिबन्धकालवदन्तर्मुहूर्तप्रमाणो विज्ञेयः, तथाऽऽयुर्बन्धार्हासु त्रिषष्टयुत्तरशतमार्गणासु बन्धप्रायोग्यतत्तदायुषामनुत्कृष्टप्रदेशबन्धोत्कृष्टबन्धकालोऽन्तर्मुहूर्तं भवति ॥२७१॥

सम्प्रति नरकगत्यादिमार्गणासु यासामन्तर्मुहूर्ततोऽधिकोऽनुत्कृष्टप्रदेशबन्धकालस्तासां तं दर्शयन्नाह—

णिरये गुरुकायठिई होइ तितिरियाइणवुरलाईणं।
सा देसूणा णेयो सत्तपुमाइतिणराईणं ॥२७२॥
अब्भहियं अयरतिगं जिणस्स एमेव तित्थवज्जाणं।
चरमणिरयकिण्हासुं सेसणिरयणीलकाऊसुं ॥२७३॥
उरलाईण णवण्हं सगगुरुकायट्ठिई मुणेयव्वो।
सा देसूणा णेयो सत्तपुमाइतिणराईणं ॥२७४॥
तित्थस्स पढमणिरये देसूणुदही तिसागरा ऊणा।
दुइअणिरयम्मि अहिया तइअणिरय काउलेसासुं ॥२७५॥
णवरि सगुरुकायठिई देसूणा तिरिउरालियदुगाणं।
किण्हाए ओरालियदुगस्स खलु णीलकाऊसुं ॥२७६॥

(प्रे०) "णिरये" इत्यादि, नरकगत्योघमार्गणायां तिर्यग्द्विक नीचैर्गोत्रौ-दारिकद्विक पञ्चेन्द्रिय-जाति- त्रसचतुष्क -पराघातो--च्छ्वासरूपाणां द्वादशाना त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमप्रमाणोऽनुत्कृष्टप्रदेश-बन्धस्य ज्येष्ठकालो विज्ञेयः, मिथ्यादृष्टीनां सप्तमनारकाणामासां द्वादशानामाभवपर्यन्तं बध्यमानत्वात्, तत्रौदारिकादीनां नवानां नरकमार्गणायां ध्रुवबन्धिकल्पत्वात्, तिर्यग्द्विक-नीचैर्गोत्ररूपप्रकृति-त्रयस्य मिथ्यादृष्टिसप्तमपृथ्वीनारकस्यैतत्प्रतिपक्षप्रकृतीनां बन्धाभावेन प्रस्तुतप्रकृतित्रयस्यैव बन्धप्रवर्तनात्। तथा पुरुषवेदो-च्चैर्गोत्र-समचतुरस्र सुखगतिसुभगत्रिकरूपाणां सप्तानां मनुष्यद्विक-वज्रर्षभनाराचसंहननरूपप्रकृतित्रयस्य च देशोनकायस्थितिप्रमाणो देशोनत्रयस्त्रिंशत्सागरोपम-

प्रमाणोऽनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्य ज्येष्ठो बन्धकालो भवति, आसां प्रकृतिबन्धकालस्याऽपि तावन्मात्रत्वात्सप्तमनारकस्य देशोनत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमं यावत्सम्यक्त्वस्याऽवस्थानं भवति, सम्यक्त्वाऽवस्थायां चैताः प्रकृतयो तेन नियमतो बध्यमानाः, ततो यथोक्तकालः सुघटते । तथा साधिकत्रिसागरोपमस्थितितोऽधिकस्थितिकानां नारकाणां जिननाम्नो बन्धाऽभावात् , जिननाम्नो ज्येष्ठबन्धकालस्तृतीयनरकनारकाऽपेक्षया साधिकत्रिसागरोपमप्रमाणो विज्ञेयः, एवं नरकौघमार्गणायां त्रयोविंशत्यध्रुवबन्धिप्रकृतीनां दर्शितत्वाद् , नरकद्विक-देवद्विकवैक्रियद्विक जातिचतुष्का-ऽऽहारकद्विकस्थावरचतुष्का-ऽऽतप-रूपाणां सप्तदशानां बन्धाऽभावादसातवेदनीया--ऽसातवेदनीयहास्य रति शोकरति-स्त्रीन-पुंसकवेद द्वितीयादिपञ्चसंहनन--द्वितीयादिपञ्चसंस्थान --कुखगतिनामो- द्योत-स्थिर -शुभ-यशःकीर्त्य--स्थिरषट्करूपाणामेकोनत्रिंशत्प्रकृतीनामुत्कृष्टनः प्रकृतिबन्धकालोऽन्तमुहूर्तप्रमाणोऽतस्तासामनुत्कृष्टप्रदेशबन्धकालोऽपि तावन्मात्रो भवति। ''एमेव'' इत्यादि, चरमनरकमार्गणायां कृष्णलेश्यामार्गणायां च वक्ष्यमाणमपवादपदं विहाय जिननामकर्मवर्जानां नरकौघवद्विज्ञेयस्तद्यथा--तिर्यग्द्विकादीनां त्रयाणामौदारिकशरीरनामादीनां नवानां च सप्तमनरकमार्गणायां कायस्थितिप्रमाणः कृष्णलेश्यामार्गणायां तिर्यग्द्विकौदारिकद्विकयोर्देशोनकायस्थितिप्रमाणः, नीचैर्गोत्र---पञ्चेन्द्रियजात्यादिसप्तप्रकृतीनां तु साधिकत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमप्रमाणः बन्धकालो भवति। पुरुषवेदादीनां सप्तनां मनुष्यद्विकादितिसृणां च मार्गणाद्वयेऽपि देशोनकायस्थितितुल्यो देशोनत्रयस्त्रिंशत्सागरोपममितः, सप्तमनरकमार्गणायां शेषाणामेकोनत्रिंशत्प्रकृतीनां, कृष्णलेश्यामार्गणायां जातिचतुष्क--स्थावरचतुष्क वैक्रियद्विक-नरकद्विक देवद्विका ऽऽतपनाम -जिननामरूपाणां बन्धभावात् तैस्समेतानां पञ्चचत्वारिंशतः प्रकृतीनां ज्येष्ठो बन्धकालोऽन्तमुहूर्तप्रमाणो भवति । अथ प्रथमादिषट्निरयभेदेषु नीलकापोतलेश्ययोश्च दर्शयति--''**सेसणिरयणीलकाऊसु**'' प्रथमादिनरकषट्के औदारिकद्विकादिनवप्रकृतीनां ज्येष्ठकायस्थितिप्रमाणो बन्धकालो भवति, नीलकपोतलेश्ययोस्त्वौदारिकद्विकस्य देशोनकायस्थितिप्रमाणः पञ्चेन्द्रियजात्यादीनां सप्तानां कायस्थितिप्रमाणो देशोनकायस्थितिप्रमाणो वा यथासंभवं बन्धकालो भवति; मार्गणाऽष्टकेऽपि पुरुषवेदादीनां सप्तानां मनुष्यद्विकादित्रयस्य च ज्येष्ठबन्धकालो देशोनकायस्थितिप्रमाणो भवति, एतासु मार्गणासु सम्यक्त्वकालस्य तावन्मात्रत्वात्तथा जिननाम्नः प्रथमनरके देशोनसागरोपमप्रमाणो द्वितीयनरके देशोनत्रिसागरोपमप्रमाणस्तृतीयनरके कापोतलेश्यायां च सातिरेकत्रिसागरोपमप्रमाणोऽनु-कृष्टप्रदेशबन्धकालो विज्ञेयः, नरकौघमार्गणायामुक्तानां शेषैकोनत्रिंशत्प्रकृतीनां तिर्यग्द्विक-नीचैर्गोत्रयोश्चेति द्वात्रिंशत्प्रकृतीनां प्रथमादिषड्नरकमार्गणास्वनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टकालोऽन्तमुहूर्तप्रमाणो बोद्धव्यः, नीललेश्याया कृष्णलेश्यामार्गणोक्तानां पञ्चचत्वारिंशत्प्रकृतीनां तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्रयोश्चेत्याष्टचत्वारिंशत्प्रकृतीनामनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टकालोऽन्तमुहूर्तप्रमाणो भवति, कापोतलेश्यायां जिननामवर्जानां नीललेश्यामार्गणोक्तानामेव सप्तचत्वारिंशदध्रुवबन्धिप्रकृती-

नामनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टकालोऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणो विज्ञेयः । "णवरि" इत्यादि, अपवादनिरूपणं सुगमं, नरकाऽभिमुखानां तिर्यग्द्विकौ--दारिकद्विकयोर्बन्धाऽभावादप्रशस्तत्रिलेश्यामार्गणास्वपवाद-निरूपणमिति । एतद्गाथापञ्चकं प्रकृतिबन्धादावनेकशो गतार्थमतो विशेषभावना तत एवाऽवधार्या । ।।२७२-२७६।।

अथ तिर्यग्गतिमार्गणास्वध्रुवबन्धिप्रकृतीनामनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टकालं दर्शयन्नाह—

तिरियम्मि तिण्णि पलिया पुमाइएगादसण्ह तेऽब्भहिया ।
सत्तपणिंदियआईणोघव्व उरालतितिरियाईणं ।।२७७।। (गीतिः)

(प्रे०) "तिरियम्मि" इत्यादि, तिर्यग्गत्योघमार्गणायां पुरुषवेद-समचतुरस्र-सुखगति-सुभगत्रिको च्चैर्गोत्र-देवद्विक वैक्रियद्विकरूपाणामेकादशानामनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टकालः क्षायिक-सम्यग्दृष्टितिर्यगपेक्षयैव प्राप्यते, स च परिपूर्णत्रिपल्योपमप्रमाणो भवति । पञ्चेन्द्रियजाति-त्रस-चतुष्क-पराघातो-च्छ्वासरूपाणा सप्तप्रकृतीनामनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टकालोऽन्तर्मुहूर्तेनाऽभ्यधिक-पल्योपमत्रयप्रमाणो भवति, युगलिकतिरश्चामासां प्रतिपक्षप्रकृतीनां बन्धाऽभावेनाऽऽसां सप्तानां नैरन्तर्येण बन्धप्रवर्तनात् , प्राग्भवचरमाऽन्तर्मुहूर्ते च युगलिकतिर्यक्षूत्पद्यमानानां संज्ञिनां संख्येय-वर्षायुष्कतिरश्चामासां सप्तानामेव नियमतो बध्यमानत्वात् च । औदारिकशरीरनाम्नोऽसंख्येयपुद्गल-परावर्तप्रमाणस्तिर्यग्द्विक-नीचैर्गोत्रयोस्त्वसंख्येयलोकाकाशप्रदेशसमयप्रमितः, एतच्चौघवदेकेन्द्रिया-ऽपेक्षया तेजोवायुकायाऽपेक्षया च क्रमश एतासां निरन्तरमनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्यैव प्रवर्तनात् , भावना तु प्रकृतिबन्धकालवद्विज्ञेया । अत्र द्वाविंशतेरुक्तत्वाज्जिननामाऽऽहारकद्विकयोर्बन्धाऽभावाच्च, शेषाणां चतुश्चत्वारिंशत्प्रकृतीनामनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टकालोऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणो भवति, तत्प्रकृतिबन्धकाल-स्याऽपि तथात्वात् , भावना तु प्रकृतिबन्धवत्कार्या सुगमप्राया चेति न पुनः क्रियते । शेषप्रकृतयो नामत इमाः—सातवेदनीयाऽसातवेदनीय -हास्य-रति शोका-ऽरति-स्त्री नपुंसकवेद- नरकद्विक मनुष्य-द्विक--जातिचतुष्कौ -दारिकाङ्गोपाङ्गनाम--संहननषट्क--प्रथमवर्जसंस्थानपञ्चक-कुखगतिनामाऽऽतपो-द्योत-स्थिर-शुभ-यशःकीर्तिनामस्थावरदशकानीति । एतर्हि त्रिपञ्चेन्द्रियतिर्यग्मार्गणास्वाह—

तिपणिंदियतिरियेसुं पुमाइएगारसण्ह पल्लतिगं ।
णवरं जोणिमईए सिं देसूणं मुणेयव्वो ।।२७८।।
तीसुं पि तिण्णि पलिया अब्भहिया सगपणिंदियाईणं ।

(प्रे०) "तिपणिंदि" इत्यादि, पञ्चेन्द्रियतिर्यगोघ-पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यक्-तिरश्चीरूपासु तिसृषु पञ्चेन्द्रियतिर्यग्मार्गणासु तिर्यग्गत्योघोक्तानां पुरुषवेदाद्येकादशानां पल्योपमत्रयं परिपूर्णम-नुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टकालो भवति, स च तिर्यगोघमार्गणावद्बोध्यः, अत्र मार्गणाद्वये परिपूर्ण-पल्योपमत्रयस्य संगतत्वेऽपि तिरश्चीमार्गणायामपर्याप्ताऽवस्थायां सम्यक्त्वगुणाऽभावाद्देवद्विक-वैक्रि-

यद्विकयोर्बन्धाऽभावात्तथा पुरुषवेदादीनां वध्यमानत्वेऽपि तत्प्रतिपक्षप्रकृतीनां बन्धस्य लाभात्, पुरुषवेदाद्येकादशानां देशोनपल्योपमत्रयं यावत्प्रकृतिबन्धकालस्य लाभाच्च तत्राऽनुत्कृष्टप्रदेशबन्धकालोऽपि तावानेव प्राप्यतेऽत "णवर" मित्यादिनाऽपवादो दर्शितः । तथा प्रस्तुतमार्गणात्रयेऽपि पञ्चेन्द्रियजात्यादिसप्तप्रकृतीनामनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टकालः साधिकाऽन्तर्मुहूर्तेनाऽभ्यधिकः पल्योपमत्रयप्रमितो विज्ञेयः, तिर्यग्गत्योघवदेवाऽत्राऽपि तस्य प्राप्यमाणत्वात् तद्वद्भावना विधेया । शेषाणां तिर्यग्गत्योघमार्गणोक्तानां चतुश्चत्वारिंशत्प्रकृतीनां तिर्यग्द्विक-नीचैर्गोत्रौदारिकशरीररूपाणां चेत्यष्टचत्वारिंशत्प्रकृतीनां प्रस्तुतमार्गणात्रये प्रकृतिबन्धकालस्याऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणत्वादनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्य ज्येष्ठकालोऽपि तावन्मात्र एव प्राप्यत इति, भावना तु प्राग्वत्कार्या ॥२७८॥

साम्प्रतं मनुष्यमार्गणात्रये दर्शयति--

तिणरेसु जिणस्स भवे कोडी पुव्वाण देसूणा ॥२७९॥
अब्भहियं पल्लतिगं होज्जाट्ठारहपणिंदियाईणं ।
णवरं जोणिमईए पुमाइएगारसण्ह देसूणं ॥२८०॥ (गीतिः)

(प्रे०) "तिणरेसु" इत्यादि, मनुष्यौघ-पर्याप्तमनुष्यमानुषीरूपासु त्रिमनुष्यमार्गणासु जिननाम्नोऽनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्य ज्येष्ठकालो देशोनपूर्वकोटीवर्षप्रमितः=साधिकाऽष्टवर्षोनपूर्वकोटिप्रमाणो भवति, तत्प्रकृतिबन्धकालस्याऽपि तथात्वात् । तथा पुरुषवेदाद्यष्टादशप्रकृतीनामनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टकालो मनुष्यौघमार्गणायां पर्याप्तमनुष्यमार्गणायां चाऽन्तर्मुहूर्तोनपूर्वकोटितृतीयभागेनाऽभ्यधिकपल्योपमत्रयप्रमितो विज्ञेयः, मानुषीमार्गणायां पुनः पुरुषवेदाद्येकादशप्रकृतीनामनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टकालोऽन्तर्मुहूर्तोनपल्योपमत्रयप्रमाणः, पञ्चेन्द्रियजात्यादिसप्तप्रकृतीनां पुनरन्तर्मुहूर्ताऽभ्यधिकपल्योपमत्रयमितो विज्ञातव्यः । मार्गणाद्वये पूर्वकोटिवर्षायुष्कः यः कश्चित् स्वायुष्कचरमतृतीयभागाद्यान्तर्मुहूर्ते पल्योपमत्रयप्रमितं युगलिकमनुजसत्कमायुर्बद्ध्वाऽन्तर्मुहूर्तेन सम्यक्त्वमासाद्य क्रमेण क्षायिकसम्यक्त्वं प्राप्य तत्रोत्पद्यते तादृशजीवाऽपेक्षया पुरुषवेदाद्यष्टादशानामन्तर्मुहूर्तोनपूर्वकोटितृतीयभागेनाऽभ्यधिकपल्योपमत्रयप्रमाणो बन्धकालो प्राप्यते, मानुषीमार्गणायां पुनस्तिरश्चीवद् भावना विधेया, तिरश्चीवद्युगलधर्मिमानुषीणामप्यपर्याप्ताऽवस्थायां सम्यक्त्वस्य विरहात् । मार्गणात्रयेऽपि शेषाणां पञ्चाशदध्रुवबन्धिप्रकृतीनामनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टकालोऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणो भवति, शेषप्रकृतयस्तु पञ्चेन्द्रियतिर्यग्मार्गणोक्ताश्शेषा अष्टचत्वारिंशदाहारकद्विकसहिता विज्ञेयाः ॥२७९-२८०॥

देवगत्यादिमार्गणास्वध्रुवबन्धिनीनामनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टकालं दर्शयन्नाह—

देवे सोहम्माइगसव्वत्थंतेसु तिसुहलेसासु ।
जेट्ठा सगकायठिई गुणवीसणराइतित्थाणं ॥२८१॥

(प्रे०) "देवे" इत्यादि, देवौघे सौधर्मादिसर्वार्थसिद्धपर्यन्तासु षड्विंशतिमार्गणासु तेजःपद्म-शुक्ललेश्यारूपमार्गणात्रये चेति त्रिंशन्मार्गणासु मनुष्यद्विक-वज्रर्षभनाराचसंहननौ-दारिकद्विक-पञ्चे-न्द्रियजाति-त्रसचतुष्क-पराघातो-च्छ्वास पुंवेद--सुखगति -समचतुरस्र -सुभगत्रिकोच्चैर्गोत्ररूपाणामेको-नविंशतेर्जिननाम्नश्चाऽनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्य ज्येष्ठः कालस्तत्तन्मार्गणाया ज्येष्ठकायस्थितिप्रमाणो भवति, उत्कृष्टस्थितिकतत्तद्देवलोकवासिसम्यग्दृष्टिदेवानामासां निरन्तरं बध्यमानत्वात् । अत्र प्रशस्त-लेश्यात्रये मनुष्यद्विकौ-दारिकद्विक-वज्रर्षभनाराचसंहननरूपप्रकृतिपञ्चकस्याऽनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्योत्कृ-ष्टकालो देशोनमार्गणाया उत्कृष्टकायस्थितिप्रमाणो विज्ञेयः, देवभवतः प्राग्भवचरमाऽन्तर्मुहूर्तं नियमेन देवभवोत्तरभवप्रथमान्मुहूर्ते च यथासंभवं मनुष्यपञ्चकस्याऽबध्यमानत्वात्, भावना तु प्रकृति-बन्धकालवद्विधेया, प्रकृतिबन्धकालस्याऽपि निरुक्तप्रमाणत्वात् । देवौघ सौधर्मेशानदेवरूपमार्गणा-त्रये साता-ऽसातवेदनीय-हास्य-रति-शोकाऽरति-स्त्री- नपुंसकवेद-तिर्यग्द्विकै-केन्द्रियजातिद्वितीयादि-संहननपञ्चकद्वितीयादिसंस्थानपञ्चक -कुखगतिनामाऽऽतपो- द्योत--स्थिर शुभ-यशःकीर्त्यस्थिरषट्क--स्थावरनामनीचैर्गोत्ररूपाणां पञ्चत्रिंशत्प्रकृतीनामनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टकालोऽन्तर्मुहूर्तमितः, तत्प्रकृतिबन्धकालस्याऽपि तावन्मात्रत्वात् । सानत्कुमारादिमार्गणाषट्के एतासामेकेन्द्रिय-स्थावरा-ऽऽतपनामवर्जानां द्वात्रिंशतोऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणकालो विज्ञेयः । आनतादिनवमग्रैवेयकाऽन्तेषु त्रयोदश-मार्गणाभेदेषु तिर्यग्द्विकोद्योतनामवर्जानामेकोनत्रिंशच्छेषप्रकृतीनामन्तर्मुहूर्तप्रमाणकालो बोद्धव्यः । अनुत्तरपञ्चके पुनः सातादिद्वादशपरावर्तमानप्रकृतीनामनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टकालोऽन्तर्मुहूर्त-प्रमाणो विज्ञेयः । तेजोलेश्यामार्गणायां देवौघमार्गणायामुक्तानां पञ्चत्रिंशतो देवद्विक वैक्रियद्विकाऽऽ-हारकद्विकरूपाणां चेत्येकचत्वारिंशत्प्रकृतीनामनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टकालोऽन्तर्मुहूर्तप्रमितो भवति । तथा पद्मलेश्यामार्गणायामनन्तरोक्तानामेकेन्द्रिय-स्थावरा-ऽऽतपनामवर्जानामष्टात्रिंशतः, शुक्ल-लेश्यायां तिर्यग्द्विकोद्योतवर्जानां तासामेव पञ्चत्रिंशत्प्रकृतीनामनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्य गुरुकालोऽन्त-र्मुहूर्तप्रमाणः प्राप्यते, हेतुस्तु सर्वत्र प्रकृतिबन्धकालस्य तावन्मात्रत्वादिति बोध्यः ॥२८१॥

अधुना भवनपति-व्यंतर-ज्योतिष्कमार्गणासु तं दर्शयति—

भवणतिगे सगुरुठिई पणपरघाइउरलाण सा हीणा ।
तिणराइसगपुमाइगपणिंदितसउरलुवंगाणं ॥२८२॥

(प्रे०) "भवणतिगे" इत्यादि, भवनपति-व्यन्तर-ज्योतिष्कदेवलक्षणे मार्गणात्रये पराघातो-च्छ्वास बादरत्रिकौ-दारिकशरीररूपषट्प्रकृतीनामनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्य ज्येष्ठकालो मार्गणाया ज्येष्ठका-यस्थितिप्रमाणो भवति, निरुक्तमार्गणात्रये एतासां षण्णा ध्रुवबन्धिकल्पत्वात्तत्प्रकृतिबन्धकालस्याऽपि तावन्मात्रत्वाच्च । मनुष्यद्विक-वज्रर्षभनाराचसंहनन-पुरुषवेद-समचतुरस्र-सुखगति--सुभगत्रिकोच्चैर्गोत्र-

पञ्चेन्द्रियजाति त्रसनामौ-दारिकाङ्गोपाङ्गनामानि चेति समुदितानां त्रयोदशप्रकृतीनामनुत्कृष्टप्रदेश-बन्धस्य ज्येष्ठकालोऽन्तमुहूर्तोनस्वस्वकायस्थितिप्रमाणो भवति, कार्मग्रन्थिकाऽभिप्रायेण भवनपत्यादि मार्गणात्रिके सम्यग्दृष्टीनामुत्पादाऽभावेन भवाद्याऽन्तमुहूर्ते मिथ्यात्वगुणस्थानसद्भावान्निरुक्तप्रकृतीनां प्रतिपक्षप्रकृतयोऽपि बध्यन्त अत आसां निरन्तरबन्धो न प्राप्यते, पर्याप्ताऽवस्थायामन्तमुहूर्तादूर्ध्वं तु तस्य सम्यक्त्वलाभेन प्रतिपक्षप्रकृतीनां बन्धाऽभावान्निरन्तरमेता एव प्रकृतयो बन्धमायान्ति मार्गणाचरमसमयं यावत् , एवं चाऽन्तमुहूर्तोनमार्गणाज्येष्ठकायस्थितिप्रमाणः प्रकृतिबन्धकालवदनुत्कृष्टप्रदेशबन्धकालोऽपि निरुक्तानां प्राप्यते । सिद्धान्तग्रन्थाऽभिप्रायेण सम्यक्त्वभाजामपि तत्रोत्पादात्परिपूर्णाकायस्थितिं यावत्तासामनुत्कृष्टप्रदेशबन्धो लभ्यते । निरुक्तमार्गणात्रये शेषाणां बन्धप्रायोग्याणां सौधर्मदेवमार्गणोक्तानां पञ्चत्रिंशत्प्रकृतीनामनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्य गुरुकालोऽन्तमुहूर्तमितो विज्ञेयस्तत्प्रकृतिबन्धकालस्याऽपि तथात्वात् ॥२८२॥

अथैकेन्द्रियोघ तेजःकायौघ-वायुकायौघमार्गणात्रयेऽनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्य ज्येष्ठबन्धकालं दर्शयति—

लोगा असंखिया खलु एगिंदियतेउवाउकायेसु ।
तिण्हं तिरियाईणं तह ओरालस्स विण्णेयो ॥२८३॥

(प्रे०) "लोगा" इत्यादि, एकेन्द्रियौघमार्गणायां तेजःकायौघ-वायुकायौघमार्गणयोश्चेति मार्गणात्रये तिर्यग्द्विक नीचैर्गोत्रौ दारिकशरीरनामरूपाणां चतसृणां प्रकृतीनामनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टकालोऽसंख्येयलोकाकाशप्रदेशतुल्यसमयप्रमाणः, प्रस्तुतमार्गणात्रये आसामुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्य बादरजीवैर्बध्यमानत्वेन सूक्ष्मतेजोवायुकायिकानां तिर्यग्द्विक नीचैर्गोत्रयोः स्वकायस्थितिं यावन्निरन्तरमनुत्कृष्टप्रदेशस्यैव जायमानत्वात् ,तत्तन्मार्गणावर्तिनां सूक्ष्माणामौदारीकशरीरस्यानुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्यैव लाभात् मार्गणागतानां सूक्ष्मजीवानां कायस्थितेरसंख्येयलोकप्रमाणत्वाच्च । एकेन्द्रियौघमार्गणायां शेषाणां षट्पञ्चाशद्ध्रुवबन्धिप्रकृतीनां तेजोवायुकायौघमार्गणयोः पुनर्मनुष्यद्विकोच्चैर्गोत्रयोर्बन्धाऽभावात् त्रिपञ्चाशच्छेषप्रकृतीनामनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टकालोऽन्तमुहूर्तप्रमाणो भवति, तत्प्रकृतिबन्धकालस्याऽन्तमुहूर्तप्रमाणत्वात् ॥२८३॥

एतर्हि सूक्ष्मैकेन्द्रियौघ-सूक्ष्मतेजःकायौघ सूक्ष्मवायुकायौघलक्षणे मार्गणात्रिकेऽध्रुवबन्धिप्रकृतीनामनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टकालं निरूपयन्नाह—

विण्णेयो सुहमेसु एगिंदियतेउवाउकायेसु ।
सेढीअसंखभागो तिरियदुगोरालणीआणं ॥२८४॥

(प्रे०) "विण्णेयो" इत्यादि, सूक्ष्मैकेन्द्रियादिमार्गणात्रये तिर्यग्द्विक-नीचैर्गोत्रयोरौदारिकशरीरनाम्नश्चाऽनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टकालः श्रेणेरसंख्येयभागगतनभःप्रदेशमितसमयप्रमितो

भवति । प्रस्तुतमार्गणात्रयस्य ज्येष्ठकायस्थितेः कथितप्रकृतीनां प्रकृतिबन्धकालस्य च श्रेणेरसंख्येयभागतोऽधिकत्वेऽपि श्रेणेरसंख्येयभागप्रमाणे काले व्यतीते मार्गणार्हज्येष्ठयोगस्थानस्यावश्यं प्राप्तिसंभवेन तदधीनोत्कृष्टप्रदेशबन्धस्याऽवश्यं प्राप्तेरनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्याऽवसानादुक्तप्रकृतिचतुष्कस्यानुत्कृष्टप्रदेशबन्धकालस्य श्रेणेरसंख्येयभागतोऽधिकस्याऽलाभात्तथानिर्देशः। सूक्ष्मैकेन्द्रियौघमार्गणायां शेषाणां षट्पञ्चाशत्प्रकृतीनां सूक्ष्मतेजोवायुकायौघमार्गणाद्वये त्रिपञ्चाशत्प्रकृतीनामनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टबन्धकालोऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणो विज्ञेयः ॥२८४॥

अथ बादरैकेन्द्रियमार्गणायां तं दर्शयति—

गुरुकायठिई णेयो बायरएगिंदियम्मि उरलस्स ।
तिण्हं तिरियाईणं कम्मठिई वा मुणेयव्वो ॥२८५॥

(प्रे०) "गुरु" इत्यादि, बादरैकेन्द्रियमार्गणायामौदारिकशरीरनाम्नोऽनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टकालो मार्गणाया ज्येष्ठकायस्थितिप्रमाणो विज्ञेयः, प्रस्तुतमार्गणायामस्याः प्रकृतेर्ध्रुवबन्धिकल्पत्वात् , अङ्गुलाऽसंख्येयभागगतनभःप्रदेशराशिप्रमितसमयप्रमाणत्वेनाऽस्याः कायस्थितेश्श्रेणेरसंख्येयभागतो हीनत्वादुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्य नैयत्याऽभावाच्च । प्रस्तुते तिर्यग्द्विक-नीचैर्गोत्ररूपप्रकृतित्रयस्य पुनर्मार्गणागतानां तेजोवायुकायिकान् विहाय शेषकायिकानामन्तर्मुहूर्ततोऽधिककालं प्रस्तुतप्रकृतित्रयस्य बन्धाऽभावाद् बादरतेजोवायुकायमध्ये यावान्कालो निर्गमयितुं शक्यते तावान्कालस्तिर्यग्द्विक-नीचैर्गोत्ररूपप्रकृतित्रयस्याऽनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टतया प्राप्यते, बादरतेजोवायुकायमध्ये निर्वाह्यमानकाल एकेन मतेन मोहनीयकर्मणो यावती स्थितिस्तावान् सप्ततिकोटीकोटीसागरोपमाणीत्यर्थः, द्वितीयमतेन पुनरङ्गुलाऽसख्येयभागगतनभःप्रदेशराशितुल्यसमयप्रमाणो, मूलोक्त"वा" कारो मतान्तरार्थकः । तथा प्रस्तुतमार्गणायां बध्यमानानामुक्तशेषाणां षट्पञ्चाशदध्रुवबन्धिनीनामनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टकालोऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणो ज्ञातव्यः ॥२८५॥

संप्रति पर्याप्तबादरैकेन्द्रियमार्गणायां निरूपयन्नाह—

जाणेयव्वो बायरपज्जत्तेगिंदियम्मि संखेज्जा ।
वाससहस्सा तिरिदुगओरालियणीअगोआणं ॥२८६॥

(प्रे०) "जाणेयव्वो" इत्यादि, पर्याप्तबादरैकेन्द्रियमार्गणायां तिर्यग्द्विक-नीचैर्गोत्रौ-दारिकशरीरनाम्नामनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्य गुरुकालः सख्यातसहस्रवर्षप्रमितो भवति, तत्र तिर्यग्द्विक नीचैर्गोत्ररूपप्रकृतित्रयस्य बादरपर्याप्ततेजोवायुकायमध्ये यावान्कालो निर्गमयितुं शक्यते तावान् संख्येयसहस्रवर्षप्रमितो बन्धकालो बोद्धव्यः, औदारिकशरीरनाम्नः पुनर्मार्गणाज्येष्ठकायस्थितिप्रमाणो-

ऽनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्य गुरुकालो द्रष्टव्यः । तथा शेषाणां षट्पञ्चाशत्प्रकृतीनामन्तर्मुहूर्तप्रमाणोऽनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्य ज्येष्ठकालः प्राप्यते, तत्प्रकृतिबन्धकालस्याऽपि तथात्वात् ॥२८६॥

अथ बादरतेजस्कायादिमार्गणासु प्ररूपयति—

बायरतेउअणिलतप्पज्जत्तेसु ससजेट्ठकायठिई ।
तिण्हं तिरियाईणं तह ओरालस्स विण्णेयो ॥२८७॥

(प्रे०) "बायरे" त्यादि; बादरतेजस्काय-पर्याप्तबादरतेजःकाय-बादरवायुकाय-पर्याप्तबादरवायुकायरूपासु चतसृषु मार्गणासु तिर्यग्द्विक-नीचैर्गोत्रौ-दारिकशरीररूपाणां चतसृणां प्रकृतीनामनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टकालो यावान् स्वीय-स्वीयज्येष्ठकायस्थितिकालस्तावान् विज्ञेयः, कायस्थितिः पुनर्बादरतेजस्काय-बादरवायुकायौघमार्गणाद्वये सप्ततिकोटीकोटीसागरोपमप्रमाणा, पर्याप्तबादरतेजःकायमार्गणायां संख्येयानि दिनानि संख्येयवर्षसहस्राणि वा, बादरपर्याप्तवायुकायमार्गणायां संख्येयवर्षसहस्राणि । उक्तमार्गणाचतुष्के आसां प्रकृतीनां ध्रुवबन्धिकल्पत्वात् ,उत्कृष्टप्रदेशबन्धस्य मार्गणाज्येष्ठकायस्थितिं यावदनियतत्वाच्च । प्रस्तुतमार्गणाचतुष्के शेषाणां त्रिपञ्चाशदध्रुवबन्धिप्रकृतीनामनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टकालोऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणः, तत्प्रकृतिबन्धकालस्याऽपि तथात्वात् ॥२८७॥

सम्प्रतिविकलेन्द्रियादिमार्गणास्वनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टकालं निरूपयति—

तिविगलबायरपुढवीदगपत्तेएसु सिं समत्तेसुं ।
बायरणिगोअकाये उरलस्स सजेट्ठकायठिई ॥२८८॥

(प्रे०) "तिविगले" त्यादि, द्वीन्द्रियौघ-त्रीन्द्रियौघ-चतुरिन्द्रियौघ-बादरपृथ्वीकायौघ-बादराऽप्कायौघ प्रत्येकवनस्पतिकायौघरूपाष्षडोघभेदाः, तेषामेव षट्पर्याप्तभेदाःपर्याप्तद्वीन्द्रिय-पर्याप्तत्रीन्द्रिय पर्याप्तचतुरिन्द्रिय-पर्याप्तबादरपृथ्वीकाय पर्याप्तबादराऽप्काय-पर्याप्तप्रत्येकवनस्पतिकाय बादरनिगोदौघभेदश्चेति त्रयोदशमार्गणास्वौदारिकशरीरनाम्नोऽनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टकालो मार्गणाया ज्येष्ठकायस्थितिप्रमाणो विज्ञेयः आसु मार्गणास्वौदारिकशरीरनाम्नो ध्रुवबन्धिकल्पत्वात् , आसां मार्गणानां कायस्थितेऽश्रेणेरसंख्येयभागतो हीनत्वाच्च । त्रयोदशस्वपि मार्गणासु शेषबध्यमानैकोनषष्टिप्रकृतीनामनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टकालोऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणो ज्ञातव्यः । भावना सुगमाः प्रकृतिबन्धकालवच्च कार्या ॥२८८॥ सम्प्रति पृथ्वीकायौघादिमार्गणासु दर्शयति—

ओरालस्स असंखियलोगा पुढविदगवणणिगोएसुं ।
सेढिअसंखियभागोऽत्थि सुहमभूदगणिगोएसुं ॥२८९॥

(प्रे०) "ओरालस्से" त्यादि, पृथ्वीकायौघा ऽप्कायौघ-वनस्पतिकायौघ साधारणवनस्पतिकायौघरूपमार्गणाचतुष्के औदारिकशरीरनाम्नोऽनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टकालोऽसंख्येयलोकाकाशप्रदेश-

प्रमाणः, सूक्ष्माणामुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्याऽभावात् तेषाञ्च कायस्थितेरसंख्येयलोकप्रमाणत्वाच्च । सूक्ष्म-पृथ्व्यब्निगोदरूपमार्गणात्रये औदारिकशरीरनाम्नः श्रेणेरसंख्येयभागः, भावना तु सूक्ष्मैकेन्द्रिय-वत्कार्या । मार्गणासप्तक उक्तशेषाणामेकोनपष्टेरध्रुवबन्धिप्रकृतीनामनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टकालो-ऽन्तर्मुहूर्तं, तद्बन्धस्य परावर्तमानत्वेन प्रकृतिबन्धकालस्याऽपि तथात्वात् ॥२८९॥

अथ पञ्चेन्द्रियौघादिमार्गणासु दर्शयति–

ओघव्व दुपंचिंदियतसचक्खुअचक्खुभवियसण्णीसु ।
णेयो तिरियाईणं पयडीणं सत्तवीसाए ॥२९०॥
णवरं जाणेयव्वो दुपणिंदितसेसु चक्खुसण्णीसुं ।
साहियतेत्तीसुदही तिरियदुगोराल णीआणं ॥२९१॥

(प्रे०) "ओघव्वे"त्यादि, पञ्चेन्द्रियौघ पर्याप्तपञ्चेन्द्रिय-त्रसकायौघ-पर्याप्तत्रसकाय-चक्षुर्दर्शना-ऽचक्षुर्दर्शन-भव्य-संज्ञिरूपास्वष्टमार्गणासु सप्तविंशतेरध्रुवबन्धिप्रकृतीनामनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टकाल ओघवद्भवति, तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्रौ-दारिकशरीरनामानि विहाय शेषाणां पञ्चपष्टेरोघेऽपि संज्ञिपर्याप्तपञ्चेन्द्रियाऽपेक्षयैव गुरुकालस्य लाभाद् मार्गणाष्टके तस्य प्रवेशादोघवदतिदेशः । तिर्यग्द्विकादिप्रकृतिचतुष्कस्यौघे एकेन्द्रियाऽपेक्षया गुरुबन्धकालस्य लाभात्, अचक्षुर्दर्शनमार्गणायां भव्यमार्गणायां तस्यौघवद्बन्धकालस्य प्राप्यमाणत्वेऽपि शेषमार्गणाषट्के एकेन्द्रियजीवानामप्रवेशात्तत्र तिर्यग्द्विकादिप्रकृतिचतुष्कस्यौघवद्बन्धकालो न प्राप्यतेऽतः मार्गणाषट्के "णवर" मित्यादिना विशेषं दर्शयति–यथा ओघे औदारिकाङ्गोपाङ्गनाम्नोऽनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टकालः सप्तमनारकमाश्रित्य त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि तत उद्वृत्तस्य तिर्यग्भवाद्याऽन्तर्मुहूर्तं च प्राप्यते, तेनैव प्रकारेण प्रस्तुतमार्गणाषट्के तिर्यग्द्विकादिप्रकृतिचतुष्कस्य साधिकत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमकालं यावदनुत्कृष्टप्रदेशबन्धः प्राप्यत इति ॥२९०-२९१॥ अथ काययोगासंज्ञिमार्गणयोस्तं दर्शयति—

कायासण्णीसु भवे उरलस्स असंखपोग्गलपरट्टा ।
तिण्हं तिरियाईणं असंखलोगा मुणेयव्वो ॥२९२॥

(प्रे०) "कायासण्णीसु" इत्यादि, काययोगौघमार्गणायामसंज्ञिमार्गणायां चौदारिकशरीरनाम्नोऽनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टकालोऽसंख्येयपुद्गलपरावर्ताः । तिर्यग्द्विक नीचैर्गोत्रयोरनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टकालोऽसंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमितसमयाः, भावना त्वौघवद्विधेया, एतावत्कालस्य निर्वाहकानामोघवदत्राऽप्येकेन्द्रियतेजोवायुकायिकानां लाभात् । काययोगौघमार्गणायां शेषाणां पञ्चपष्टेः, असंज्ञिमार्गणाया शेषाणा द्वापष्टेरनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टकालोऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणो प्राप्यते,

तद्यथा-असंज्ञिमार्गणायां शेषाणां द्वाषष्टेः प्रकृतीनां बन्धस्य परावर्तमानत्वात्, काययोगमार्गणायामेकेन्द्रियाणां प्रकृतिबन्धस्य संज्ञिनां तु योगस्य च परावर्तमानत्वेनान्तर्मुहूर्तकालादधिककालस्याऽलाभात् भावना तु प्रकृतिबन्धकालवत्कर्तव्या ॥२९२॥

अथौदारिककाययोगमार्गणायां प्राह—

उरले सगकायठिई जेट्ठा ओरालियस्स विण्णेयो ।
देसूणा तिसहस्सा वासा तिण्ह तिरियाईणं ॥२९३॥

(प्रे०) "उरले" इत्यादि, औदारिककाययोगमार्गणायामौदारिकशरीरनाम्नोऽनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टकालः स्वकायस्थितिप्रमाणोऽन्तर्मुहूर्तोनद्वाविंशतिवर्षसहस्राणि भवति, बादरपर्याप्तपृथ्वीकायस्य निरन्तरमस्य बध्यमानत्वात्तस्यैव मार्गणाज्येष्ठकायस्थितेर्लाभाच्च । तथा तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्ररूपप्रकृतित्रयस्याऽनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्य ज्येष्ठकालो देशोनः=अन्तर्मुहूर्तोनो वर्षसहस्रत्रयप्रमाणो भवति पर्याप्तबादरवायुकायिकस्य ज्येष्ठस्थितेस्त्रिसहस्रवर्षमितत्वात्, तस्य भवाद्यन्तर्मुहूर्तं विहाय प्रस्तुतमार्गणाया लाभाच्च । विशेषभावना प्रकृतिबन्धग्रन्थाऽनुसारेण विधेया । उक्तशेषाणां पञ्चषष्टेरध्रुवबन्धिप्रकृतीनामनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टकालोऽन्तर्मुहूर्तमात्रो विज्ञेयः, प्रकृतीनां बन्धस्य परावर्तमानत्वात्, कासाञ्चित्प्रकृतीनां दीर्घबन्धकालस्य योग्यानां संज्ञीनां सत्वेऽपि तेषां मार्गणायाः परावर्तमानत्वेनाऽन्तर्मुहूर्ततोऽधिककालस्याऽनवस्थानात् ॥२९३॥ सम्प्रति कार्मणा-ऽनाहारकमार्गणयोर्निरूपयति—

कम्माणाहारेसुं सुराइपंचण्ह होइ दो समया ।
सेसाणं सट्ठीए सगगुरुकायट्ठिई णेयो ॥२९४॥
थावरपाउग्गाणं बत्तीसाए हवेज्ज समयतिगं ।
दुखणा तेत्तीसाए तसपाउग्गाण बिंति परे ॥२९५॥
थावरपाउग्गाओ पयडी बत्तीसअधुवबंधीओ ।
सायेयरहस्सरई सोगारइणपुमतिरियदुगं ॥२९६॥
एगिंदियहुंडउरलपरघाऊसासआयवदुगाणि ।
णवथावराइबायरतिगथिरजुगलजसणीआणि ॥२९७॥

(प्रे०) "कम्माणाहारेसु" इत्यादि, कार्मणकाययोगा-ऽनाहारकमार्गणयोर्देवद्विक वैक्रियद्विकजिननामरूपाणां पञ्चानामनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्य ज्येष्ठकालस्समयद्वयं भवति, प्रस्तुतमार्गणाद्वये निरुक्तपञ्चप्रकृतीरविरतसम्यग्दृष्टय एव बध्नन्ति, तेषाञ्च मार्गणाद्वय उत्कृष्टतस्समयद्वयमवस्थानादिति । मार्गणा-

प्रायोग्याणामध्रुवबन्धिषष्टिप्रकृतीनामनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्य ज्येष्ठकालस्समयत्रयं भवति, एकेन्द्रियाणां प्रस्तुतमार्गणायां समयत्रयमवस्थानस्य लाभात्, तत्र च तेषां शेषषष्टिप्रकृतीनां बन्धकत्वात्, अत्र च सप्ततिकाद्यभिप्रायेणैकेन्द्रियाणां विग्रहगतौ त्रसनामादीनां त्रसप्रायोग्यप्रकृतीनां बन्धस्य प्रतिपादनात् समयत्रयं बन्धकालः संगच्छते। अन्येषां केषाञ्चिन्मतेन पुनस्स्थावरेभ्यः स्थावरकायिकेषूत्पद्यमानानां स्थावरप्रायोग्यप्रकृतीनामेव बन्धो भवति, अतस्तेषां मतेन त्रसप्रायोग्यत्रयस्त्रिंशत्प्रकृतीनां बन्धकालो समयद्वयं लभ्यते तथा स्थावरप्रायोग्याणां द्वात्रिंशत्प्रकृतीनां बन्धकालः पुनः समयत्रयं प्राप्यते, एताश्च स्थावरप्रायोग्याः प्रकृतयः-साता ऽसातवेदनीय-हास्य-रति-शोका ऽरति-नपुंसकवेद-तिर्यग्द्विकै-केन्द्रियजात्यौ-दारिकशरीर हुंडकसंस्थान पराघातो च्छ्वासा ऽऽतपो द्योत--स्थावरचतुष्का-ऽस्थिरा--ऽशुभ--दुर्भगा--ऽनादेया-ऽयशःकीर्ति-बादर-पर्याप्त-प्रत्येक-स्थिर-शुभ-यशःकीर्तिनाम नीचैर्गोत्राणि। त्रसप्रायोग्यास्त्रयस्त्रिंशत्प्रकृतय एताः--पुरुषवेद स्त्रीवेद-मनुष्यद्विक-देवद्विक द्वीन्द्रियादिजातिचतुष्कौ-दारिकाङ्गोपाङ्ग-वैक्रियद्विक संहननषट्क प्रथमादिपञ्चसंस्थान विहायोगतिद्विक जिननाम-त्रसनाम सुभगा-ऽऽदेय स्वरद्विकोच्चैर्गोत्राणि। यासां प्रकृतीनां त्रसेषु वेदनयोग्यत्वे यद्वा वेदनायोग्यत्वेऽपि स्थावरेषु वेदनयोग्यत्वं ताः प्रकृतयः स्थावरप्रायोग्या विज्ञेयाः, या पुनस्त्रसेष्वेव वेद्यन्ते तास्त्रसप्रायोग्या,- ज्ञातव्या इति ॥२९४-२९७॥

संप्रति स्त्रीवेदमार्गणायामनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टकालं निरूपयति—

थीअ पणवण्णपलिया सत्तपुमाइतिणराइगाण तहा।
उरलोवंगाईणं तिण्हं होएइ देसूणा ॥२९८॥
अहियपणवण्णपलिया पणपरघाइउरलाण तित्थस्स।
देसूणपुव्वकोडी ऊणतिपल्लाऽत्थि चउसुराईणं ॥२९९॥ (गीतिः)

(प्रे०) "थीअ" इत्यादि, स्त्रीवेदमार्गणायां पुरुषवेद-समचतुरस्र सुखगति सुभगत्रिकोच्चैर्गोत्र-मनुष्यद्विक-वज्रर्षभनाराचसंहननौ-दारिकाङ्गोपाङ्ग पञ्चेन्द्रियजाति-त्रसनामरूपाणां त्रयोदशप्रकृतीनामनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टकालोऽन्तर्मुहूर्तेनोनानि पञ्चपञ्चाशत्पल्योपमानि प्राप्यते, सम्यग्दृष्टीनां स्त्रीवेदादिषूत्पादाऽभावेन पञ्चपञ्चाशत्पल्योपमाऽऽयुष्कदेवीनां भवाऽद्याऽन्तर्मुहूर्तं मुक्त्वा शेषकाले सम्यक्त्वस्य संभवेन तदानीं चासां प्रतिपक्षप्रकृतीना बन्धाऽभावेन चैतासां निरतरं बध्यमानत्वात्तावत्कालमनुत्कृष्टयोगस्य सभवेनानुत्कृष्टप्रदेशबन्धसम्भवाच्च। पराघातो-च्छ्वास-बादर-पर्याप्त-प्रत्येकनामौदारिकशरीररूपाणां षण्णां साधिकपञ्चपञ्चाशत्पल्योपमप्रमितोऽनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्य ज्येष्ठकालो विज्ञेयः। भावना तु प्रकृतिबन्धकालवद्विज्ञेया। अथ जिननाम्नोऽनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्य गुरुकालो देशोनपूर्वकोटिप्रमाणः। मोक्षगमनकालतः प्राक्तृतीयभवे वर्तमाना पूर्वकोट्यायुष्का मानुषी स्वायुष्कस्य

वर्षप्रमाणकाले व्यतीते जिननाम्नो बन्धमारभते, स च स्वभवचरमसमयपर्यन्तं निरन्तरं तद्बध्नाति, तत ऊर्ध्वं तस्य वैमानिकदेवेषु पुरुषत्वेनैवोत्पादान्मार्गणाया विच्छेदात्साधिकवर्षाष्टकन्यूनपूर्वकोटिवर्षप्रमाणो बन्धकालः प्राप्यते । तथा देवद्विक-वैक्रियद्विकयोरनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टकालोऽन्तर्मुहूर्तोनपल्योपमत्रयप्रमाणो विज्ञेयः, युगलिकस्त्रीत्वेनोत्पद्यमानानां भवाद्याऽन्तर्मुहूर्ते सम्यक्त्वाऽभावेनोक्तप्रकृतिचतुष्कस्य बन्धाभावाद्देशोनत्वं प्राप्यते, शेषभावना तु मानुषीवद्विधेया । अत्र स्त्रीवेदमार्गणायां भवाद्यान्तर्मुहूर्ते सम्यक्त्वाभावे सामान्यत इदं कारणं—यत् सम्यक्त्वसहिता जीवा अपवादपदं विहाय स्त्रीवेदित्वेन कुत्रचिदपि नोत्पद्यन्ते इति । उक्तशेषाणामध्रुवबन्धिप्रकृतीनामनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टकालोऽन्तर्मुहूर्तमात्रो विज्ञेयः, तत्प्रकृतिबन्धकालस्य तावन्मात्रत्वात् शेषप्रकृतयो नामतः पुनरिमाः-साता-ऽसातवेदनीय हास्यरति-शोका ऽरति-स्त्रीवेद- नपुंसकवेद नरकद्विक -तिर्यग्द्विकैकेन्द्रियादिजातिचतुष्काऽऽहारकद्विक- द्वितीयादिसंहननपञ्चक--द्वितीयादिसंस्थानपञ्चक -कुखगतिनामा ऽऽतपो द्योत-स्थावरदशकस्थिर-शुभ यशःकीर्तिनामनीचैर्गोत्ररूपाः पञ्चचत्वारिंशत् ॥२९८-२९९॥

एतर्हि पुरुषवेदमार्गणायां दर्शयति—

पुरिसे ओघव्व भवे बारपुमाईण पणणराईण ।
तेत्तीसा अयरा सगपणिंदियाईण उण तिवट्ठिसयं ॥३००॥ (गीतिः)

(प्रे०) "पुरिसे"त्यादि, पुरुषवेदमार्गणायां पुरुषवेदसमचतुरस्रसुखगति-सुभगत्रिकोच्चैर्गोत्ररूपाणां सप्तानामनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टकालः साधिकद्वात्रिंशदधिकसागरोपमशतप्रमाणो भवति, एतावत्कालं यावत्प्रस्तुतमार्गणायां मनुष्यदेवतया तृतीयचतुर्थादिगुणस्थानकालस्य निर्वहणान्निरन्तरमेताः प्रकृतयो बध्यन्ते । देवद्विक वैक्रियद्विकयोः पुनरन्तर्मुहूर्तोनपूर्वकोटितृतीयभागाऽभ्यधिकपल्योपमत्रयप्रमाणः । तथा जिननाम्नः साधिकत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमप्रमितोऽनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टकालः प्राप्यते । एतासां द्वादशप्रकृतीनां बन्धकालस्यौघतुल्यत्वादोघवदतिदेशः । मनुष्यद्विकौदारिकद्विकवज्रर्षभनाराचरूपप्रकृतित्रयस्य प्रकृष्टबन्धकालः परिपूर्णत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमप्रमाणो विज्ञेयः, अनुत्तरदेवानां नियमत आसां बध्यमानत्वात् । पञ्चेन्द्रियजाति-पराघातो-च्छ्वास-त्रसचतुष्करूपाणां सप्तानामनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टकालस्त्रिषष्ट्यधिकसागरोपमशतप्रमाणो भवति, प्रस्तुते नारकाणामप्रवेशाद्यावानासां सप्तानामोघप्ररूपणायां कालो दर्शितस्तस्मात् षष्ठनरकसत्कद्वाविंशतिसागरोपमाणि संत्यज्य शेषकाल ओघवद्भवति, अत्र त्रिषष्ट्युत्तरशतं सागरोपमाणां सामान्यनिर्देशेऽपि तत्सातिरेकं ज्ञातव्यं भावना तु प्रकृतिबन्धवत्कार्या । उक्तशेषाणामपि स्त्रीवेदमार्गणोक्तानां पञ्चचत्वारिंशत्प्रकृतीनामनुत्कृष्टप्रदेशस्य ज्येष्ठो बन्धकालोऽन्तर्मुहूर्तम् ,तत्प्रकृतिबन्धकालस्य तावन्मात्रत्वात् ॥३००॥

अथ नपुंसकवेदमार्गणायां दर्शयति—

णपुमे तेत्तीसुदही सत्तपुमाइतिणराइगाण भवे ।
देसूणाऽब्भहिया उण उरलोवंगाइअट्ठण्हं ॥२०१॥
तिरियाइतिगुरलाणं ओघव्व हवेज्ज चउसुराईणं ।
देसूणपुव्वकोडी तित्थस्स तिसागराऽब्भहिया ॥२०२॥

(प्रे०) "णपुमे" इत्यादि, नपुंसकवेदमार्गणायां पुरुषवेद-समचतुरस्र सुखगति-सुभगत्रिको-च्चैर्गोत्ररूपाणां सप्तानां मनुष्यद्विक वज्रर्षभनाराचसंहननरूपाणां तिसृणां चेति दशप्रकृतीना-मनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टकालोऽन्तर्मुहूर्तोनत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमप्रमाणः प्राप्यते, सप्तमनारकस्य सम्यक्त्वाऽवस्थानकालस्य तावन्मात्रत्वात्तदानीं च तेन सम्यक्त्वप्रभावत आसां निरन्तरं बध्यमान-त्वात् । तथौदारिकाङ्गोपाङ्ग-पञ्चेन्द्रियजाति-पराघातो च्छ्वास-त्रसचतुष्करूपाणामष्टानां प्रकृतीना-मन्तर्मुहूर्ताऽधिकत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमप्रमाणः, सप्तमनारकस्याऽऽभवं तासां बन्धस्य लाभात्तत्प्राग्भवे तदुत्तरभवे च यथार्हं तस्य बध्यमानत्वाच्च । तथा तिर्यग्द्विक-नीचैर्गोत्रयोरसंख्येयलोकाः, औदारिक-शरीरनाम्नोऽसंख्येयपुद्गलपरावर्ताः,एतच्चोघवद्भावनाऽप्योघवद्विधेयेति । देवद्विक-वैक्रियद्विकयोर्बन्ध-कालो देशोनपूर्वकोटिवर्षप्रमाणः, युगलधार्मिकेषु प्रस्तुतमार्गणाया अभावेन पूर्वकोट्यायुष्कस्योत्पत्त्य-नन्तरं यावताऽदूरेण सम्यक्त्वं प्राप्यते तावत्कालेन न्यूनपूर्वकोटीवर्षप्रमितकालं यावत्सम्यक्त्वस्या-ऽवस्थानात् तदानीं नियमत आसां बध्यमानत्वाच्च । जिननाम्नोऽनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्य ज्येष्ठकालः पल्योपमाऽसंख्येयभागाऽधिकसागरोपमत्रयम् । एष हि तुल्योक्त्या प्रतिपादितप्रस्तुतकालो मतद्वयेन यथासंभवं सविशेषो ज्ञातव्यः, तद्यथा—एकेन मतेन तृतीयनरके क्षायिकसम्यग्दृशामुत्पादाभावात् । तत्रोत्पन्नानां भवाद्यन्तर्मुहूर्तं नियमतो मिथ्यादृष्टित्वेन तदानीं जिननाम्नोऽबन्धकत्वात् जिनसत्क-र्मणां तृतीयनरके प्रकृष्टतो यावदायुष्युत्पादो भवति ततोऽन्तर्मुहूर्तेन न्यूनो तावान्कालो प्रस्तुत-नपुंसकवेदमार्गणायां जिननाम्नोऽनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्य ज्येष्ठकालतया प्राप्यते, अन्यमतेन तु क्षायिकसम्यग्दृष्टीनां तृतीयनरकावनिं यावदुत्पादात् तन्मते प्रस्तुतबन्धकानां तृतीयनरके प्रकृष्टतो यावदा-ष्युत्पादो भवति तावान्कालोऽन्तर्मुहूर्तन्यूनपूर्वकोटित्रिभागेनाधिको जिननाम्नोऽनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्य ज्येष्ठकालतया प्राप्यत इति । एव नपुंसकवेदमार्गणायां शेषाणां स्त्रीवेदमार्गणोक्तानां तिर्यग्द्विक-नीचैर्गोत्रवर्जाना द्विचत्वारिंशच्छेषप्रकृतीनां बन्धकालोऽन्तर्मुहूर्तं, परावर्तमानभावेन तासां बध्यमा-नत्वात् ॥२०१-२०२॥

अधुनानुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टकालं ज्ञानादिमार्गणाभेदेषु दर्शयति—

णाणतिगे ओहिम्मि य सम्मखइअवेअगेसु विण्णेयो ।
जेट्ठा सगकायठिई चउदसपणिंदियाईणं ॥२०३॥

पंचणराईण भवे तेत्तीसुदही जिणस्स ते-ऽब्भहिया ।
अहियतिपल्लाऽत्थि सुराइचउण्हं वेअगे उ देसूणा ॥३०४॥ (गीतिः)

(प्रे०) "णाणतिगे" इत्यादि, मतिज्ञान-श्रुतज्ञाना-ऽवधिज्ञाना-ऽवधिदर्शन-सम्यक्त्वौघ-क्षायिकसम्यक्त्व क्षयोपशमसम्यक्त्वरूपासु सप्तमार्गणासु पञ्चेन्द्रियजाति-पराघातो-च्छ्वास-त्रसचतुष्क-पुरुषवेद-समचतुरस्र-सुखगति- सुभगत्रिको -च्चैर्गोत्ररूपाणां चतुर्दशप्रकृतीनां तत्तन्मार्गणाप्रायोग्योत्कृष्टकायस्थितिप्रमाणोऽनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टकालो ज्ञातव्यः, आसां प्रतिपक्षप्रकृतीनां प्रस्तुतसर्वमार्गणासु बन्धाभावेन पञ्चेन्द्रियजात्यादीनां नैरन्तर्येण बन्धोपलम्भात्, अत्र क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणायाः कायस्थितिर्भवस्थाऽपेक्षया ग्राह्या साऽपि देशोना विज्ञेया । मनुष्यद्विक-वज्रर्षभनाराचरूपाणां पञ्चप्रकृतीनामनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टकालः परिपूर्णानि त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि, अनुत्तरदेवाऽपेक्षयाऽऽसां बन्धस्यैतावत्कालं यावत् प्राप्यमाणत्वात् । जिननाम्नोऽनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टकालः साधिकत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि, अत्र साधिकत्वं देशोनपूर्वकोटीद्वयेन, तत्प्रकृतिबन्धकालस्य तावन्मात्रत्वात् । देवद्विक वैक्रियद्विकयोस्साधिकं पल्योपमत्रयं, साधिकत्वं पुनर्देशोनपूर्वकोटीतृतीयभागेन ज्ञातव्यम्, तत्प्रकृतिबन्धकालस्याऽपि तथात्वात्, एतच्च क्षायिकसम्यग्दृष्टिमाश्रित्य ज्ञेयम्, क्षयोपशमसम्यक्त्ववतामक्षीणमिथ्यात्वमोहानां तिर्यग्मनुष्याणां वैमानिकदेवेष्वेवोत्पादाभावेनप्रस्तुतप्रकृतीनामबन्धकत्वात्, तेषां च सम्यक्त्वसहितेन युगलिकेषूत्पादाभावेन युगलधर्मिणां भवाद्यकालं मुक्त्वा शेषं पल्योपमत्रय वेदकसम्यक्त्वलाभात् क्षयोपशमसम्यक्त्वमार्गणायां देवद्विकादीनां चतसृणां बन्धकालो देशोनपल्योपमत्रयप्रमाणो विज्ञेयः, देशोनत्वं चाऽत्र यथासमयं विज्ञेयम् ॥३०३-३०४॥

अत्राऽवधिज्ञानदर्शनमार्गणयोर्यद्देवद्विकादिप्रकृतिचतुष्कस्य पल्योपमत्रयप्रमाणकालो निरूपितस्तन्मतान्तराऽपेक्षया ज्ञातव्यः, अन्यथा युगलधर्मिणां तदनङ्गीकरणे तु देवद्विकादिप्रकृतिचतुष्कस्याऽवधिज्ञानमार्गणायामवधिदर्शनमार्गणायां च पूर्वकोटीवर्षप्रमाणो बन्धकालः प्राप्यत इत्येतदेव दर्शयन्नाह—

जइ जुगलधम्मिआणं ण भवे ओहिजुगलं तया णेयो ।
देवविउव्वदुगाणं ओहिदुगे पुव्वकोडी उ ॥ ३०५ ॥

(प्रे०) सुगमा गतार्था च विशेषस्तु प्रकृतिबन्धाऽनुसारेणऽवसेयः । उक्तमार्गणासप्तके सातवेदनीयादिद्वादशानामाहारकद्विकस्य च प्रस्तुतबन्धकालोऽन्तर्मुहूर्तप्रमितो भवति ॥३०५॥

अथ मनःपर्यवज्ञानादिमार्गणास्वाह—

मणणाणसंजमेसुं समइअछेअपरिहारदेसेसुं ।
जेट्ठा सगकायठिई गुणवीसपणिंदियाईणं ॥ ३०६ ॥

(प्रे०) "मणणाणे" त्यादि, मनःपर्यवज्ञान-संयमौघ-सामायिकसंयम-च्छेदोपस्थापनीयसंयम-परिहारविशुद्धिसंयम देशविरतिरूपासु पट्सु मार्गणासु पञ्चेन्द्रिय-पराघातो-च्छ्वास-त्रसचतुष्क पुरुषवेद-समचतुरस्रसंस्थान सुखगति-सुभगत्रिकोच्चैर्गोत्र-देवद्विक-वैक्रियद्विक--जिननामरूपाणामेकोनविंशतेर-नुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टकालस्तत्तन्मार्गणाया यावज्ज्येष्ठकायस्थितिकालस्तावान विज्ञेयः, स चात्र मार्गणापट्केऽपि देशोनपूर्वकोटीवर्षप्रमाणः, आसु मार्गणास्वेतासां प्रतिपक्षप्रकृतीनां बन्धाऽभावेन पञ्चे-न्द्रियजात्याद्यष्टादशप्रकृतीनां मार्गणायाः प्रारम्भात्तत्पर्यवसानं यावन्निरन्तरं बन्धस्य भावात् । जिननाम्नोऽपि मार्गणाप्रारम्भे तत्प्रारम्भासन्नकाले वा बन्धसम्भवात् कायस्थितिप्रमाणः कालः प्राप्यते, स तु त्रिचरमभवे वर्तमानजीवमाश्रित्य विज्ञेयो, न तु चरमभवस्थाऽपेक्षया तत्र अन्तर्मुहूर्ता-धिकायां कैवल्यावस्थायां जिननाम्नोऽबन्धात् । तथा मनःपर्यवज्ञानादिमार्गणापट्के साताऽसातवेद-नीयहास्य-रति-शोकाऽरति-स्थिरा ऽस्थिराशुभा-ऽशुभ-यशःकीर्त्य ऽयशःकीर्तिरूपा द्वादशाऽऽहारकद्वि-कञ्चेति चतुर्दशशेषाऽध्रुवबन्धिप्रकृतीनामन्तर्मुहूर्तप्रमाणो बन्धकालः प्राप्यते, तत्प्रकृतिबन्धकालस्या-ऽपि तथात्वात्, केवलं देशविरतमार्गणायामाहारकद्विकस्य बन्धाभावात् शेषसातवेदनीयादिद्वादशप्रकृ-तीनां प्रस्तुतबन्धकालोऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणो भवति सुगमश्चैषः ॥२०६॥

सम्प्रति मत्यज्ञान-श्रुताज्ञानादिमार्गणास्वाह—

तिरियाइतिगुरलाणं अण्णाणदुगे अभवियमिच्छेसु ।
ओघव्व एगतीसा अयरा णेयो णरदुगस्स ॥२०७॥
देसूणं पल्लतिगं सुखगइआइछसुराइगचउण्हं ।
साहियतेत्तीसुदही उरलोवंगाइअट्ठण्हं ॥२०८॥

(प्रे०) "तिरियाइ" इत्यादि, मत्यज्ञानश्रुताज्ञानाऽभव्य-मिथ्यात्वरूपासु चतसृषु मार्गणासु-तिर्यग्द्विक-नीचैर्गोत्रौ-दारिकशरीरनाम्नामनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टकाल ओघवद्भवति, तद्यथा—तिर्यग्द्विक नीचैर्गोत्रयोरसंख्येयलोकाकाशप्रदेशराशिप्रमिताः समयाः, औदारिकशरीरनाम्नोऽसंख्येय-पुद्गलपरावर्ताः । मनुष्यद्विकस्य बन्धकाल एकत्रिंशदतराः, प्रस्तुतमार्गणाचतुष्केऽनुत्तरदेवस्याऽप्र-वेशान्नवमग्रैवेयकज्येष्ठस्थितिसुराऽपेक्षया प्रस्तुतबन्धकालस्य प्राप्यमाणत्वात्, सोप्यन्तर्मुहूर्ताऽधिको द्रष्टव्यः,नवमग्रैवेयकदेवस्य च्यवनाऽनन्तरं मनुष्येष्वेवोत्पद्यमानस्यान्तर्मुहूर्तं यावत्तस्य बन्धोपलम्भात्। तथा देवद्विक-वैक्रियद्विक समचतुरस्रसंस्थान-सुखगति सुभगत्रिको-च्चैर्गोत्ररूपाणां दशप्रकृतीनां देशोनं पल्योपमत्रयम्, युगलधार्मिकाणामपर्याप्तावस्थां विहाय देवगतिप्रायोग्यस्यैव बध्यमानत्वेन देशो-नपल्योपमत्रयं यावदासां निरन्तरबन्धोपलम्भात् । तथौदारिकाङ्गोपाङ्ग-पञ्चेन्द्रिजाति-पराघातो-च्छ्वासत्रसचतुष्कलक्षणानामष्टाना साधिकत्रयस्त्रिंशदुदधयोऽनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टकालो भवति,

सप्तमनारकाणामासां बन्धस्य ध्रुवकल्पत्वात् तत्प्राग्भवचरमाऽन्तर्मुहूर्ते तदुत्तरभवप्रथमाऽन्तर्मुहूर्ते च पञ्चेन्द्रियजात्यादीनां बन्धस्य भावाच्च । केवलमौदारिकाङ्गोपाङ्गस्य नारकोत्तरभवसत्काद्याऽन्तर्मुहूर्ते बन्धसम्भवात्तेनैवाभ्यधिकोबन्धकालो ज्ञेयः, न पुनः पूर्वभवसत्कचरमाऽन्तर्मुहूर्तेनापि, तत्र नरकप्रायोग्यवैक्रियद्विकादीनां बन्धप्रवर्तनान्न भवत्यौदारिकाङ्गोपाङ्गस्य बन्धः । उक्तशेषाणां द्विचत्वारिंशत्प्रकृतीनामनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टकालोऽन्तर्मुहूर्तं भवति, तासां परावर्तमानबन्धत्वेन तत्प्रकृतिबन्धकालस्याऽपि तथात्वात् । उक्तशेषाः प्रकृतयस्त्विमाः—साताऽसातवेदनीय हास्यरति-शोका-ऽरति-वेदत्रय-नरकद्विक-जातिचतुष्क-संहननपट्का-ऽऽद्यवर्जसंस्थानपञ्चक कुखगतिनामा ऽऽतपो-द्योत स्थिर-शुभ-यशःकीर्ति-स्थावरदशकनामानि ॥३०७-३०८॥

अधुना विभङ्गज्ञानमार्गणायां निरूपयति—

विब्भंगे कायठिई गुरू तितिरियाइ णवुरलाईणं ।
जलहीण एगतीसा जाणेयव्वो णरदुगस्स ॥३०९॥

(प्रे०) "**विब्भंगे**" इत्यादि, विभङ्गज्ञानमार्गणायां तिर्यग्द्विक नीचैर्गोत्रयोरनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टकालः कायस्थितिप्रमाणो भवति, देशोनत्वाद्यविशेषितोऽयं निर्देशो मतद्वयस्य संग्रहार्थं, तत्रैकेषां मतेन त्रयस्त्रिंशदुदधयः, अन्तर्मुहूर्तोनास्त्रयस्त्रिंशदुदधयोऽन्येषां मतेन तैरपर्याप्ताऽवस्थायां विभङ्गज्ञानस्याऽनङ्गीकरणात्, स्वमते पुनर्देशोनाकायस्थितिर्भवति नरकभवतः प्राग्भवे देशोनपूर्वकोटीं यावद्विभङ्गज्ञानस्य भावेऽपि तत्र चतस्रो गतयो बन्धप्रायोग्या अतः परावर्तमानभावेन् तासां बध्यमानत्वाद्भवचरमाऽन्तर्मुहूर्ते तु तस्य नरकप्रायोग्यस्यैव बध्यमानत्वाच्च नरकभवसत्का एव त्रयस्त्रिंशदुदधयो बोध्याः । एवमौदारिकद्विक-पञ्चेन्द्रियजातिपराघातो-च्छ्वास-त्रसचतुष्करूपाणां नवप्रकृतीनामनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टकालः कायस्थितिप्रमाणो मतद्वयाऽपेक्षया भावनीयः । तथा मनुष्यद्विकस्यैकत्रिंशत्सागरोपमप्रमाणोज्येष्ठबन्धकालः,नवमग्रैवेयकसुरस्य ज्येष्ठस्थितेरेतावत्प्रमाणत्वात् । उक्तशेषाणां द्विपञ्चाशत्प्रकृतीनामनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टकालोऽन्तर्मुहूर्तम्, प्रकृतिबन्धस्य परावर्तत्वेन तासां बन्धकालस्य तथात्वात्, शेषप्रकृतयः पुनरज्ञानमार्गणोक्ता द्विचत्वारिंशदेवद्विक वैक्रियद्विक-समचतुरस्र सुखगति सुभगत्रिकोच्चैर्गोत्रसहिता विज्ञेया इति ॥३०९॥

एतर्ह्यसंयममार्गणायां तं निरूपयति—

उरलोवंगाईणं पंचदसण्हमजए-ऽहिया जलही ।
तेत्तीसोधव्व भवे तिरियाइगसगसुराइपणगाणं ॥३१०॥ (गीतिः)

(प्रे०) "उरलोवंगे" त्यादि, असंयतमार्गणायामौदारिकाङ्गोपाङ्ग-पञ्चेन्द्रियजाति-पराघातो च्छ्वास-त्रसचतुष्क-पुरुषवेद-समचतुरस्र सुखगति-सुभगत्रिको-च्चैर्गोत्ररूपाणां पञ्चदशानां प्रकृ-

तीनामनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्य ज्येष्ठकालः साधिकत्रयस्त्रिंशदुदधयः, तत्रौदारिकाङ्गोपाङ्गनाम्नोऽन्तर्मुहूर्ताऽधिकत्रयस्त्रिंशदुदधयः, सप्तमनारकाऽपेक्षया त्रयस्त्रिंशदुदधयस्तत उद्वृत्तस्य तिर्यग्भवाद्याऽन्तमुहूर्तेऽपि तस्य बध्यमानत्वादभ्यधिकता। अनुत्तरदेवाऽपेक्षया अस्या त्रयस्त्रिंशदुदधय एव बन्धकालो न पुनरन्तर्मुहूर्ताऽधिकः, तस्य देवभवाच्च्युतस्य सम्यक्त्वसहितत्वान्मनुष्यभवाऽऽद्यन्तर्मुहूर्ते देवद्विकस्यैव बन्धसद्भावात्। शेषचतुर्दशानां पञ्चेन्द्रियजात्यादीनां पुनरनुत्तरदेवभवसत्कास्त्रयस्त्रिंशदुदधयस्तदुत्तरमनुष्यभवसत्कदेशोनपूर्वकोटिश्चेति देशोनपूर्वकोट्यधिकत्रयस्त्रिंशदुदधयः। तथा तिर्यग्द्विक-नीचैर्गोत्रयोरसंख्येयलोकाकाशप्रदेशराशितुल्यसमयाः, औदारिकशरीरनाम्नोऽसंख्येयपुद्गलपरावर्ताः, मनुष्यद्विक वज्रर्षभनाराचसंहननरूपप्रकृतित्रयस्य त्रयस्त्रिंशदुदधयः, देवद्विक वैक्रियद्विकयोर्देशोनपूर्वकोटीतृतीयभागाऽधिकं पल्योपमत्रयम्, जिननाम्नः साधिकत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि, एतच्च तिर्यग्द्विकादिसप्तप्रकृतीनां देवद्विकादिपञ्चप्रकृतीनां चाऽनुत्कृष्टप्रदेशबन्धकाल ओघवद्भवति, अत ओघवदतिदिष्टः, भावनाऽप्यासामोघवत्प्रकृतिबन्धकालाऽनुसारेण च विज्ञातव्या। अत्राऽयं विशेषः—ओघे जिननाम्न उत्कृष्टबन्धकालो देशोनपूर्वकोटीद्वयाऽधिकत्रयस्त्रिंशदुदधयः, असंयममार्गणायां पुनस्तस्य देशोनैकपूर्वकोट्यभ्यधिकत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाः, न त्रिचरमभवसत्का पूर्वकोट्यपि, संयमिन एवाऽनुत्तरदेवेषूत्पादात्। अत्राऽऽहारकद्विकस्य बन्धाऽभावादुक्तशेषाणां चत्वारिंशत्प्रकृतीनामनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टकालोऽन्तर्मुहूर्तं तत्प्रकृतिबन्धकालस्याऽपि तथात्वात्। साताऽसातवेदनीय-हास्य रति-शोका-ऽरति-स्त्रीवेद-नपुंसकवेद-नरकद्विक-जातिचतुष्का-ऽऽद्यवर्जसंहननपञ्चका--ऽऽद्यवर्जसंस्थानपञ्चक-कुखगतिनामा-ऽऽतपो-द्योत-स्थिर--शुभ--यशःकीतिस्थावरदशकरूपाश्शेषाश्चत्वारिंशत्प्रकृतय इति ॥३१०॥

सम्प्रति सास्वादनमार्गणायां प्राह—

सासायणम्मि होइ तितिरियाइणरदुगणवुरलाईणं ।
तह सुखगइआईणं दसण्ह सगजेट्ठकायठिई ॥३११॥

(प्रे०) "**सासायणम्मि**" इत्यादि, सास्वादनमार्गणायां तिर्यग्द्विक-नीचैर्गोत्ररूपाणां तिसृणां सप्तमनरकाऽपेक्षया स्वकायस्थितिष्षडावलिकाप्रमाणोऽनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टकालः प्राप्यते। एवं मनुष्यद्विकस्य नवमग्रैवेयकसुराऽपेक्षया, औदारिकद्विकस्य देवनारकाऽपेक्षया, पञ्चेन्द्रियजाति-पराघातो--च्छ्वास-त्रसचतुष्करूपाणां सप्तानां चातुर्गतिकजीवापेक्षया, देवद्विक वैक्रियद्विक -समचतुरस्रसंस्थान सुखगति-सुभगत्रिको-च्चैर्गोत्ररुपाणां दशानां युगलिकतिर्यग्मनुष्यानधिकृत्य ज्येष्ठकायस्थितिप्रमाणष्षडावलिकामितो बन्धकालः प्राप्यते। शेषाणां बन्धप्रायोग्याऽध्रुवबन्धिप्रकृतीनामनुत्कृष्टप्रदेशस्य ज्येष्ठो बन्धकालोऽन्तर्मुहूर्तं, प्रकृतिबन्धस्य परावर्तमानत्वात्। शेषाः प्रकृतयः पुनरिमाः-

साताऽसातवेदनीय-हास्यरति शोका-ऽरति-पुरुषवेद-स्त्रीवेद-प्रथमादिपञ्चसंहनन-मध्यमसंस्थानचतुष्क-कुखगतिनामो-द्योत-स्थिर-शुभ-यशःकीर्तिनामाऽस्थिरषट्करूपा अष्टाविंशतिः ॥४११॥

अधुनाऽऽहारकमार्गणायां प्राह—

आहारे तिणराइगउरलोवंगाइवीसपयडीणं ।
ओघव्व सकायठिई गुरू तितिरियाइउरलाणं ॥३१२॥

(प्रे०) "आहारे" इत्यादि, आहारकमार्गणायां मनुष्यद्विक-वज्रर्षभनाराचसंहनननाम्नोरनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टकालस्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि, औदारिकाङ्गोपाङ्गजिननाम्नोः साधिकत्रयस्त्रिंशदुदधयः, पञ्चेन्द्रियजाति-पराघातो-च्छ्वास त्रसचतुष्करूपाणां सप्तानां साधिकपञ्चाशीत्यधिकसागरोपमशतम् , पुरुषवेद-समचतुरस्र सुखगति सुभगत्रिको-च्चैर्गोत्ररूपाणां सप्तानां द्वात्रिंशदधिकसागरोपमशतं साधिकम् , देवद्विक-वैक्रियद्विकयोर्देशोनपूर्वकोटीतृतीयभागेनाऽधिकं पल्योपमत्रयम् । आसां त्रयोविंशतेरपि प्रकृतिबन्धकालस्य तावन्मात्रत्वादेतच्चौघवदितिकृत्वौघवदतिदेशो कृतो । तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्रौदारिकशरीररूपप्रकृतिचतुष्कस्याऽनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टकालो मार्गणाकायस्थितिप्रमाणो भवति, सा च कायस्थितिः क्षेत्रतोऽङ्गुलाऽसंख्येयभागगताकाशप्रदेशराशितुल्यसमयाः, कालतोऽसंख्येयोत्सर्पिण्यवसर्पिण्यः, ओघोक्तबन्धकालाद्मार्गणाकायस्थितेरल्पत्वात्प्रकृतिचतुष्कबन्धकालस्य तथानिर्देशः । भावना तु प्रकृतिबन्धकालाऽनुसारेण विधेया ।

एवं च यासु मार्गणासु यासामध्रुवबन्धिप्रकृतीनामनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टकालोऽन्तर्मुहूर्तादधिकस्तासु तासां स निरूपितः, प्रसङ्गतस्तासु आयुर्वर्जानां यासामध्रुवबन्धिप्रकृतीनामन्तर्मुहूर्तकालः सोऽपि दर्शितः । यासु मार्गणासु बध्यमानसर्वप्रकृतीनां बन्धकालोऽन्तर्मुहूर्तं ता मार्गणा नामत इमाः—अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यगपर्याप्तमनुष्य सूक्ष्मपर्याप्तैकेन्द्रिय-सूक्ष्माऽपर्याप्तैकेन्द्रिय--बादराऽपर्याप्तैकेन्द्रिया ऽपर्याप्त-द्वि त्रि-चतुः-पञ्चेन्द्रिय-सूक्ष्मपर्याप्तपृथ्वीकाया ऽप्काय-तेजस्काय-वायुकाय साधारणवनस्पतिकाय-सूक्ष्माऽपर्याप्तपृथ्वीकाया-ऽप्काय-तेजःकाय - वायुकाय - साधारणवनस्पतिकाय- बादराऽपर्याप्तपृथ्वीकाया-ऽप्काय-तेजःकाय-वायुकाय--प्रत्येकवनस्पतिकाय-साधारणवनस्पतिकाय--पर्याप्तबादरसाधारणवनस्पतिकाया-ऽपर्याप्तत्रसकाय पञ्चमनोयोग-पञ्चवचनयोगौ दारिकमिश्र-वैक्रियद्विका-ऽऽहारकद्विकाऽपगतवेद-कषायचतुष्क सूक्ष्मसंपरायो-पशम-मिश्ररूपाः पञ्चाशदिति ॥३१२॥

तदेवमुक्तोत्कृष्टाऽनुत्कृष्टप्रदेशबन्धयोर्जघन्योत्कृष्टभेदेन द्विविधकालप्ररूपणौघत आदेशतश्च । साम्प्रतं जघन्याऽजघन्यप्रदेशबन्धयोर्जघन्योत्कृष्टभेदेन द्विविधकालं प्रदर्शयन्नादौ तावज्जघन्यप्रदेशबन्धस्य द्विविधबन्धकालमोघतो दर्शयति—

सव्वाण लहू समयो हस्सपएसस्स होइ जेट्ठो वि ।
णवरि सुराउणिरयतिगआहारदुगाण चउसमया ॥३१३॥

(प्रे०) "सव्वाणे" त्यादि, सर्वप्रकृतीनां जघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्यकालः समयप्रमाणः, सर्वयोगस्थानानां जघन्यतस्समयमात्राऽवस्थायित्वेन जघन्ययोगस्थानाधीनस्य जघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्यतस्तावन्मात्रस्य संभवात् । अयं भावः—जघन्यप्रदेशबन्धो जघन्ययोगस्थाने वर्तमानस्य संभवन् मूलोत्तरप्रकृतीनामधिकृतमबन्धकस्य प्राप्यते । जघन्यादियोगस्थानस्य समयमात्रस्थितेर्भावाज्जघन्यकालः समयप्रमाणो लभ्यते ।

अथ जघन्यप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टकालं सापवादमतिदिशति—"जेट्ठो वि" इत्यादि, सर्वासां प्रकृतीनां जघन्यप्रदेशबन्धस्य ज्येष्ठकालोऽपि समयमात्रः, न केवलं जघन्यकाल इत्यपि शब्दार्थः । अथाऽतिप्रसक्तिं निवारयितुकाम आह—"णवरि" इत्यादि, यासां प्रकृतीनां जघन्यप्रदेशबन्धः परावर्तमानमध्यमपरिणामेन भवति तासामुत्कृष्टबन्धकालश्चत्वारः समयाः, परावर्तमानजघन्ययोगस्थानानामुत्कृष्टतोऽवस्थानस्य चतुःसमयमात्रत्वात् । अतो नरकत्रिक-देवायुराहारकद्विकरूपषट्प्रकृतीनां जघन्यप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टकालश्चत्वारः समयाः, नरकत्रिकस्य देवायुषश्च पर्याप्ताऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्य परावर्तमानयोगस्य संभवज्जघन्ययोगस्थाने वर्तमानस्य जघन्यप्रदेशबन्धस्वामित्वात्, आहारकद्विकस्य पुनरप्रमत्तसंयतस्य संभवज्जघन्ययोगस्थाने वर्तमानस्य जघन्यप्रदेशबन्धलाभात् । शेषप्रकृतीनां जघन्यप्रदेशबन्धस्य ज्येष्ठकालस्समयप्रमितः, तत्र सप्तोत्तरशतप्रकृतीनां जघन्यप्रदेशबन्धस्य भवप्रथमसमयवर्तिनामेव लब्ध्यपर्याप्तसूक्ष्मनिगोदजीवानां स्वामित्वाद् भवद्वितीयादिसमयगतयोगस्थानानां प्रतिसमयमसंख्येयगुणवृद्धत्वेन जघन्यप्रदेशबन्धाऽनर्हत्वात् । तिर्यग्मनुष्यायुषोस्त एव क्षुल्लकभवाऽऽयुष्कास्स्वायुषश्चरमतृतीयभागाद्यसमये वर्तमाना एव जघन्यप्रदेशबन्धार्हास्तद्वितीयसमयेऽपि योगस्याऽसंख्येयगुणवृद्धत्वात् । तथा देवद्विक-वैक्रियद्विक-जिननामरूपपञ्चप्रकृतीनां जघन्यप्रदेशबन्धस्य करणाऽपर्याप्तासंज्ञिनां भवाद्यसमयवर्तिनां सम्यग्दृशां स्वामित्वात्तेषां चाऽपर्याप्तत्वेन द्वितीयसमये तद्योगस्याऽसंख्येयगुणवृद्धत्वात्, एवं च चतुर्दशोत्तरशतप्रकृतीनां जघन्यप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टकालस्समयप्रमाणः, शेषषट्प्रकृतीनां पुनश्चत्वारस्समयाः । अत्रेदं बोध्यम्—ओघतो मार्गणासु च यासां प्रकृतीनां जघन्यप्रदेशबन्धस्य स्वामिनो भवाद्यसमयवर्तिनः प्राप्यन्ते तासां जघन्यप्रदेशबन्धस्य कालो जघन्यत उत्कृष्टतश्च समयमात्रः, यासां पुनः परावर्तमानयोगस्थानेषु संभवज्जघन्ययोगस्थानगतघोलमानयोगी स्वामी तासां जघन्यप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टकालश्चत्वारः समयाः । आयुषां यत्र लब्ध्यपर्याप्ता जघन्यप्रदेशबन्धस्वामिनस्तत्र जघन्यप्रदेशबन्धस्य ज्येष्ठकालस्समयः, यत्र पुनः करणपर्याप्तास्तत्र चत्वारः समयाः परावर्तमान-

योगिनामेव तत्र जघन्यप्रदेशबन्धस्वामित्वात् । अत्राऽऽहारकद्विकादिमार्गणासु यो विशेषस्तदग्रे यथास्थानं दर्शयिष्यति ॥३१३॥

अथौघतोऽजघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्योत्कृष्टभेदेन कालं निरूपयति—

भिन्नमुहुत्तं हस्सो अलहुपएसस्स तिरिणराऊणं ।
समयूणो खुड्डभवो धुवबंधीण समयोऽत्थि सेसाणं ॥३१४॥(गीतिः)
णेयो धुवबंधीणं तिरियदुगोरालणीअगोआणं ।
जेट्ठो असंखलोगा उअ सेढीए असंखंसो ॥३१५॥
बत्तीससागरसय पुमाइगाणं हवेज्ज सत्तण्हं ।
तिण्हं णराइगाणं तेत्तीसा सागरा णेया ॥३१६॥
णेयो सुराइगाणं चउण्ह तिण्णि पलिओवमाऽब्भहिया ।
पणसीइसागरसयं पणिंदियाईण सत्तण्हं ॥३१७॥
उरलोवंगजिणाणं तेत्तीसा सागरोवमाऽब्भहिया ।
णेयो भिन्नमुहुत्तं छायालीसाअ सेसाणं ॥३१८॥

(प्रे०) "भिन्नमुहुत्त"मित्यादि, तिर्यग्मनुष्यायुषोरजघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्यकालोऽन्तर्मुहूर्तम्, आयुर्बन्धकालस्य जघन्यतोऽप्यन्तर्मुहूर्तप्रमाणत्वादायुषो जघन्यप्रदेशबन्धस्य क्षुल्लकभवायुष्कनिगोदजीवस्य तृतीयभागस्य प्रथमसमय एव लाभेन आयुर्बन्धजघन्याद्धाया असंक्षेप्याद्धायामेव लाभेन तत्र च जघन्यप्रदेशबन्धस्यासंभवात्, न प्राप्यते जघन्यप्रदेशबन्धद्वयान्तरालप्रयुक्तः समयमात्रोऽजघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्यकालः। तथा ध्रुवबन्धिसप्तचत्वारिंशत्प्रकृतीनां समयोनक्षुल्लकभवप्रमाणोऽजघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्यकालः प्राप्यते, तद्यथा—यः क्षुल्लकभवायुष्कलब्ध्यपर्याप्तसूक्ष्मनिगोदजीवो भवप्रथमसमये जघन्यप्रदेशबन्धं कृत्वा द्वितीयसमयप्रभृति भवचरमसमयं यावन्निरन्तरमजघन्यप्रदेशबन्धमेव करोति, द्वितीयभवप्रथमसमये पुनर्जघन्यप्रदेशबन्धं च विदधाति, तदपेक्षया ध्रुवबन्धिप्रकृतीनामजघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्यकालः प्राप्यते। न च श्रेणिद्वयजघन्याऽन्तरालकालस्याऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणत्वेन ज्ञानावरणादीनामजघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्यकालस्तदपेक्षया प्राप्यत इति वाच्यम्, श्रेणिद्वयजघन्याऽन्तरालकालस्य क्षुल्लकभवाद्धातः संख्येयगुणत्वात्। प्राग्दर्शिताऽऽयुर्बन्धजघन्यकालस्तु क्षुल्लकभवाद्धायाः संख्येयभागमात्रोऽत आयुषोरजघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्यकालोऽन्तर्मुहूर्तमिति निरूपितम्, असंख्येयभेदभिन्नत्वादन्तर्मुहूर्तस्य इति। शेषाणामेक-

सप्ततेः प्रकृतीनामजघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्यकालः समयः; तत्र देवायुर्नरकायुषोर्जघन्यप्रदेशबन्धद्वयान्तराले समयमात्रमजघन्यप्रदेशबन्धस्य करणात् , असंज्ञिपर्याप्तस्य घोलमानयोगिनो जघन्यप्रदेशबन्धस्वामित्वेन समयान्तराले पुनरपि तस्य संभवाच्च । अयं भावः–यासां प्रकृतीनामोघत आदेशतश्च यत्र जघन्यप्रदेशबन्धस्वामी घोलमानयोगी भवति तत्र तासां प्रकृतीनां जघन्यप्रदेशबन्धद्वयान्तराले समयप्रमाणोऽजघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्यकालः प्राप्यते, यथा प्रस्तुते आयुर्द्विकस्य । जिननाम्नोऽजघन्यप्रदेशस्य समयप्रमाणजघन्यबन्धकाल एवम्–जिननामसत्कर्मा य उपशमश्रेणेरवरोहकोऽपूर्वकरणे तद्बन्धं प्रारभ्य कालकरणेन देवेषूत्पद्य देवभवप्रथमसमये जघन्ययोगेन जिननाम्नो जघन्यप्रदेशबन्धं विदधाति, स मनुष्यभवचरमसमये समयमात्र जिननाम्नोऽजघन्यप्रदेशबन्धको भवति । शेषाणामष्टपष्टयध्रुवबन्धिप्रकृतीनां प्रकृतिबन्धकालस्यैव समयप्रमाणत्वादजघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्यकालः समयप्रमाणः प्राप्यते । नरकद्विकाऽऽहारकद्विकरूपचतु प्रकृतीनां जघन्यप्रदेशबन्धद्वयाऽन्तरालेनाऽपि समयमात्राऽजघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्यकालः प्राप्यते; शेषचतुःषष्टिप्रकृतीनां तु प्रकृतिबन्धकालाऽपेक्षयैवाऽजघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्यकालः समयप्रमाणः प्राप्यते, न तु जघन्यप्रदेशबन्धद्वयाऽन्तरालेऽपि, तज्जघन्यप्रदेशबन्धस्य भवप्रथमसमये एव भावात् ।

अथाऽजघन्यप्रदेशबन्धस्य ज्येष्ठकालं निरूपयति–"**णेयो**" इत्यादि, सप्तचत्वारिंशद्ध्रुवबन्धिप्रकृतीनामौदारिकशरीरनाम्नश्च जघन्यप्रदेशबन्धस्य सूक्ष्मलब्ध्यपर्याप्तनिगोदस्वामित्वेन सूक्ष्मपृथ्व्यादिषु निवसत आसां निरन्तरं बध्यमानत्वेऽपि जघन्यप्रदेशबन्धस्याऽलाभात्सूक्ष्मपृथ्व्यादीनां लब्ध्यपर्याप्तसूक्ष्मनिगोदवर्जानां समुदितानां कायस्थितेरप्यसंख्येयलोकमितत्वादजघन्यप्रदेशबन्धस्य ज्येष्ठकालोऽसंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणः प्राप्यते । अत्र केचित्पुनर्लब्ध्यपर्याप्तसूक्ष्मनिगोदजीवानामिव लब्ध्यपर्याप्तसूक्ष्मपृथ्व्यादीनामपि जघन्यप्रदेशबन्धस्वामित्वं स्वीकुर्वन्ति तन्मते पुनरजघन्यप्रदेशबन्धस्य ज्येष्ठकालः सूचिश्रेणेरसंख्येयभागप्रमितो भवति, योगस्थानानां सूचिश्रेणेरसंख्येयभागप्रमाणत्वेन जघन्यप्रदेशबन्धज्येष्ठान्तरस्य तावत्प्रमाणत्वात् । अयं भावः–एतन्मते सूक्ष्मपृथ्व्यादिष्वसंख्येयलोकप्रमितकालं निर्गमयतश्श्रेणेरसंख्येयभागप्रमाणकाले व्यतीतेऽवश्यमासां जघन्यप्रदेशबन्धो भवति, अतोऽजघन्यप्रदेशबन्धस्तावत्कालं यावन्निरन्तरं प्राप्यते । तिर्यग्द्विक-नीचैर्गोत्रयोरजघन्यप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टकालोऽसंख्येयलोकश्श्रेणेरसंख्येयभागो वा, सूक्ष्मनिगोदस्य जघन्यप्रदेशबन्धस्वामित्वेन तेजस्कायवायुकायमध्ये वसतो निरुक्तप्रकृतित्रयस्य निरन्तरमजघन्यप्रदेशबन्धस्यैव भावात् , तेजस्काय-वायुकायिकानां कायस्थितेरसंख्येयलोकप्रमाणत्वाच्च, अन्यमतेन पुनः सूक्ष्मतेजो-वायुकायिकानामपि जघन्यप्रदेशबन्धस्वामित्वाच्छ्रेणेरसंख्येयभागप्रमितकाले व्यतीतेऽवश्यं जघन्यप्रदेशबन्धलाभेन श्रेणेरसंख्येयभागप्रमितकालत आधिक्य न भवति । "**बत्तीसे**" त्यादि, पुरुषवेद-समचतुरस्र सुखगति सुभगत्रिको च्चैर्गोत्ररूपाणां सप्तानामजघन्यप्रदेशबन्धस्य ज्येष्ठ-

कालो द्वात्रिंशदधिकं सागरोपमशतं साधिकम् ,तत्प्रकृतिबन्धकालस्य तथात्वात् । मनुष्यद्विक वज्रर्षभनाराचरूपप्रकृतित्रयस्याऽजघन्यप्रदेशबन्धस्य ज्येष्ठकालस्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि तत्प्रकृतिबन्धकालस्य तथात्वात् , देवद्विक वैक्रियद्विकयोरजघन्यप्रदेशस्य ज्येष्ठबन्धकालो देशोनपूर्वकोटितृतीयभागेनाऽधिकानि त्रीणि पल्योपमानि, पञ्चेन्द्रियजाति पराघातो-च्छ्वासत्रसचतुष्करूपाणां सप्तप्रकृतीनामजघन्यप्रदेशबन्धस्य गुरुकालः पञ्चाशीत्यधिकं सागरोपमशतम्, औदारिकाङ्गोपाङ्गस्याऽन्तर्मुहूर्ताधिकानि त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि, जिननाम्नो देशोनपूर्वकोटीद्वयाऽभ्यधिकानि त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि, साताऽसातवेदनीय-हास्य-रति-शोका ऽरति स्त्रीवेद नपुंसकवेद नरकद्विक-जातिचतुष्काऽऽहारकद्विकद्वितीयादिपञ्चसंहननपञ्चसंस्थान-कुखगतिनामा ऽऽतपो द्योत स्थिर शुभयशःकीर्तिनामस्थावरदशकाऽऽयुश्चतुष्करूपाणां षट्चत्वारिंशत्प्रकृतीनामजघन्यप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टकालोऽन्तर्मुहूर्तं, तत्प्रकृतिबन्धकालस्य तथात्वात् । अत्र पुरुषवेदाद्येकोनसप्ततेरध्रुवबन्धिप्रकृतीनां यावान् प्रकृतिबन्धस्य ज्येष्ठकालो यावांश्चानुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्य ज्येष्ठकालस्तावानेवाऽजघन्यप्रदेशबन्धस्य ज्येष्ठकालो भवतीत्यतो भावना तद्वत्कार्या । यासां प्रकृतीनां श्रेणेरसंख्येयभागतोऽधिको बन्धकालस्ता विहाय शेषाणां प्रकृतिबन्धकालवदजघन्यप्रदेशबन्धस्य ज्येष्ठकालः प्राप्यत इति तथैव दर्शितः केवलं सातवेदनीयस्यान्तर्मुहूर्तप्रमाणकालः काषायिकबन्धापेक्षया विज्ञेयः ॥३१४–३१८॥

अथ मार्गणास्वायुष्कर्मणो जघन्यप्रदेशबन्धस्याऽजघन्यप्रदेशबन्धस्य च जघन्योत्कृष्टभेदेन कालद्वयं वक्ति—

सव्वासु जहण्णियरो हस्सपएसस्स होअए समयो ।
सप्पाउग्गाणं इयरस्स भवे मुहुत्तंतो ॥३१९॥
णवरि जहि जाण घोलणजोगी तहि ताण होइ चउसमया ।
हस्सपएसस्स गुरू इयरस्स लहू भवे समयो ॥३२०॥
अलहुपएसस्स लहू सप्पाउग्गाण सव्वआऊणं ।
आहारदुगे काये कसायचउगे भवे समयो ॥३२१॥

(प्रे०) ' सव्वासु" इत्यादि; सर्वमार्गणासु बन्धप्रायोग्याणामायुषां जघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्योत्कृष्टकालः समयः, अजघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्योत्कृष्टकालोऽन्तर्मुहूर्तं, किन्तु यासु मार्गणासु यासामायुःप्रकृतीनां घोलमानयोगी-जघन्यप्रदेशबन्धस्वामी भवति तासु तेषामायुषां जघन्यप्रदेशबन्धस्य ज्येष्ठकालश्चत्वारस्समयास्तास्वेव तेषामजघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्यकालः समयो भवति, तथाऽऽहारकद्विककाययोगौघ कषायचतुष्केषु बध्यमानाऽऽयुषामजघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्यकालः समयो भवति इति गाथात्रयस्य शब्दार्थः । भावार्थः पुनरयम्—यासु मार्गणासु लब्ध्यपर्याप्तजीवा मार्गणाप्रायोग्यसर्वजघन्याऽऽयुष्मन्तः स्वायुषश्चरमत्रिभागाद्यसमये संभवज्जघन्ययोगस्थितास्तिर्यग्मनु-

ष्याऽऽयुषो वध्यमानाऽऽयुषो जघन्यप्रदेशबन्धं विदधति तासु तदायुषो जघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्यकाल उत्कृष्टकालश्च समयप्रमाणो भवति, सामान्यतस्तास्वेव मार्गणासु तस्याऽऽयुषोऽजघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्यकाल उत्कृष्टकालश्चाऽन्तर्मुहूर्तं भवति, अष्टाकर्षैरायुषो वध्यमानेऽष्टमाकर्षे जघन्याऽऽयुर्बन्धाद्धाया लाभाज्जघन्यप्रदेशबन्धस्य च स्वभवतृतीयभागाद्यसमये भावेनाऽत्र तत्प्रयुक्तव्यवधानस्याऽसंभवादायुषो जघन्यबन्धकालप्रमाणोऽजघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्यकालः प्राप्यते । अजघन्यप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टकालस्त्वेकेनैवाकर्षेणाऽऽयुषि वध्यमाने ज्येष्ठायुर्बन्धाद्धाया लाभात् प्रस्तुतकालोऽपि तथैव प्राप्यत इति । यासु पुनः करणपर्याप्तजीवा यस्या-ऽऽयुषो जघन्यप्रदेशबन्धकास्तास्वाहारकतन्मिश्रमार्गणे विहाय सर्वासु तस्याऽऽयुषो जघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्यकालः समयः, ज्येष्ठकालश्चत्वारस्समयाः, घोलमानयोगिनः—परावर्तमानयोगस्थानेषु जघन्ययोगस्थानस्थितानां जघन्यप्रदेशबन्धस्वामित्वात् ,घोलमानजघन्ययोगस्थानस्योत्कृष्टतश्चतुःसमयाऽवस्थानात् , अत्र पुनरजघन्यप्रदेशबन्धस्य कालो जघन्यतः समय उत्कृष्टतस्त्वन्तर्मुहूर्तप्रमाणोऽवसातव्यः । एतदेव प्रतिमार्गणं भाव्यते तद्यथा—चरमवर्जसप्तनरकभेद-देवौघ भवनपत्यादिसहस्राराऽन्तदेवभेद-वैक्रियकाययोग-पर्याप्तसूक्ष्मबादरपृथ्वीकायभेदद्वया ऽप्कायभेदद्वय-साधारणवनस्पतिकायभेदद्वय- पर्याप्तप्रत्येकवनस्पतिकाय सूक्ष्मबादरपर्याप्तैकेन्द्रिय पर्याप्तद्वित्रि-चतुरिन्द्रियरूपासु द्वात्रिंशन्मार्गणासु बन्धप्रायोग्यतिर्यग्मनुष्यायुषो जघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्यकालः समयः, ज्येष्ठकालश्चत्वारस्समयाः, अजघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्यकालः समयः, उत्कृष्टोऽन्तर्मुहूर्तम् । सप्तमनरकपर्याप्तसूक्ष्मबादरतेजोवायुकायमार्गणापञ्चके तिर्यगायुषो जघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्यो बन्धकालः समयो ज्येष्ठश्चत्वारस्समयाः, अजघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्यकालः समयः, ज्येष्ठोऽन्तर्मुहूर्तम् । आनताद्यष्टादशदेवभेदेषु मनुष्यायुषो जघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्यकालः समयो गुरुकालश्चत्वारस्समयाः, अजघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्यकालः समय उत्कृष्टकालोऽन्तर्मुहूर्तम् । पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यङ् तिरश्ची-पर्याप्तमनुष्य-मानुषी-पर्याप्तपञ्चेन्द्रिय--पर्याप्तत्रसकाय-पञ्चमनोयोग पञ्चवचनयोगौ दारिककाययोग पुरुषवेद-स्त्रीवेद-विभङ्गज्ञान-चक्षुर्दर्शनरूपा स्वेकविंशतिमार्गणासु चतुर्णामप्यायुषां जघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्यकालस्समयः, उत्कृष्टकालश्चत्वारस्समयाः, अजघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्यकालस्समयो ज्येष्ठकालोऽन्तर्मुहूर्तम् । तिर्यगोघ-पञ्चेन्द्रियतिर्यगोघमनुष्यौघ-पञ्चेन्द्रियौघ-त्रसकायौघ नपुंसकवेद मत्यज्ञान श्रुताऽज्ञाना ऽसंयमा ऽचक्षुर्दर्शन-कृष्ण-नीलकापोतलेश्या-भव्या ऽभव्य-मिथ्यात्व संज्ञ्य-सञ्ज्या-हारकमार्गणासु देवनारकायुषोर्जघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्यकालः समय उत्कृष्टकालश्चत्वारस्समया , अजघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्यकालस्समयो ज्येष्ठोऽन्तर्मुहूर्तम्, तिर्यग्मनुष्यायुषोः पुनरेतासु जघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्यत उत्कृष्टतश्च बन्धकालः समयोऽजघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्यकाल उत्कृष्टकालश्चाऽन्तर्मुहूर्तम् । अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यगपर्याप्तमनुष्यैकेन्द्रियौघसूक्ष्मैकेन्द्रियौघ बादरैकेन्द्रियौघा-ऽपर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रिया-पर्याप्तबादरैकेन्द्रियरूपपञ्चैकेन्द्रियभेद-नव-

पृथ्वीकायभेद पञ्चाप्कायभेद-पञ्चनिगोदभेद-वनस्पतिकायौघ-प्रत्येकवनस्पतिकायौघा-ऽपर्याप्तप्रत्येकवनस्पतिकायाऽपर्याप्तत्रसकाय-द्वीन्द्रियौघा-ऽपर्याप्तद्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रियौघा-ऽपर्याप्तत्रीन्द्रिय--चतुरिन्द्रियौघाऽपर्याप्तचतुरिन्द्रिया ऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रियौ दारिकमिश्रकाययोगमार्गणासु बन्धार्हतिर्यग्मनुष्यायुषोर्जघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्यकाल उत्कृष्टकालश्च समयः, अजघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्यकाल उत्कृष्टकालश्चाऽन्तर्मुहूर्तम् । मतिज्ञानादिज्ञानत्रयाऽवधिदर्शन-सम्यक्त्वौघ क्षायिकसम्यक्त्व-क्षयोपशमिकसम्यक्त्व-शुक्ललेश्यारूपास्वष्टमार्गणासु बन्धयोग्यदेवमनुष्यायुषोर्जघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्यकालः समय उत्कृष्टकालश्चत्वारस्समयाः, अजघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्यकालस्समय उत्कृष्टकालोऽन्तर्मुहूर्तम् । मनःपर्यवज्ञान-संयमौघ -सामायिकसंयम—च्छेदोपस्थापनीयसंयम—परिहारविशुद्धिकसंयम-देशविरतिरूपासु षण्मार्गणासु बन्धप्रायोग्यदेवायुषो जघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्यकालस्समय उत्कृष्टकालश्चत्वारस्समयाः, अजघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्यकालस्समय उत्कृष्टकालोऽन्तर्मुहूर्तम् । तेजस्कायौघ सूक्ष्मबादरौघ तेजस्कायाऽपर्याप्तसूक्ष्मतेजस्कायाऽपर्याप्तबादरतेजस्कायरूपपञ्चतेजस्कायमार्गणास्वेवं पञ्चवायुकायमार्गणासु च बन्धप्रायोग्यतिर्यगायुषो जघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्यकाल उत्कृष्टकालश्च समयः, अजघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्यत उत्कृष्टतश्च बन्धकालोऽन्तर्मुहूर्तम् , सास्वादनसम्यक्त्व-तेजोलेश्या पद्मलेश्यामार्गणात्रये बन्धप्रायोग्यतिर्यग्मनुष्यदेवायुषां जघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्यकालस्समय उत्कृष्टकालश्चत्वारस्समयाः, अजघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्यकालस्समयो ज्येष्ठकालोऽन्तर्मुहूर्तम् । आहारककाययोगतन्मिश्रकाययोगमार्गणाद्वये जघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्यकाल उत्कृष्टकालश्च समयः, अजघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्यकालस्समय उत्कृष्टकालोऽन्तर्मुहूर्तम् । काययोगौघश्चत्वारः कषायाश्चेति मार्गणापञ्चके देवनरकायुषोर्जघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्यकालस्समय उत्कृष्टकालश्चत्वारस्समयाः, अजघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्यकालस्समय उत्कृष्टकालोऽन्तर्मुहूर्तम् , तिर्यग्मनुष्यायुषो र्जघन्यप्रदेशबन्धस्य लघुकालो गुरुकालश्च समयः, अजघन्यप्रदेशबन्धस्य ह्रस्वकालः समयो ज्येष्ठकालोऽन्तर्मुहूर्तम् । ॥३१९-३२१॥

अथाऽऽयुर्वर्जप्रकृतीनां जघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्योत्कृष्टभेदेन कालं दर्शयन्नाह—

सव्वासु मग्गणासु सप्पाउग्गाण आउवज्जाणं ।
हस्सपएसस्स भवे समयो कालो जहण्णियरो ॥३२२॥
णवरं घोलणजोगी सामी जेसिं हवेज्ज पयडीणं ।
तासु तेसिं कालो समया चत्तारि उक्कोसो ॥३२३॥

(प्रे०) "**सव्वासु**" इत्यादि, सर्वमार्गणासु बन्धप्रायोग्याणामायुर्वर्जानां प्रकृतीनां जघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्यकालः समयः, सर्वयोगस्थानानां जघन्यतः समयमात्राऽवस्थानात् । जघन्य-

प्रदेशबन्धस्य ज्येष्ठकालो यासु मार्गणासु यासां प्रकृतीनां घोलमानयोगी परावर्तमानयोगेषु जघन्य-योगवर्ती स्वामी भवति तासु तासां चत्वारः समयाः सर्वत्र घोलमानजघन्ययोगस्थानस्योत्कर्षतश्च-तुस्समयाऽवस्थानात् । यासु पुनर्यासां भवप्रथमसमयवर्ती स्वामी, घोलमानयोगी न भवतीत्यर्थः, तासु तासां जघन्यप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टकालोऽपि समयः, भवाद्यसमयभावियोगस्थानस्योत्कृष्टतस्सम-यमात्राऽवस्थानात् । अत्र सर्वमार्गणासु बन्धप्रायोग्यसर्वप्रकृतीनां जघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्य-कालः समयः, कासुचिन्मार्गणासु बन्धार्हाणां सर्वासामुत्कृष्टकालः समयः, कासुचिन्मार्गणासु बन्धार्हाणां सर्वासामुत्कृष्टकालश्चत्वारः समयाः, कासुचिद्मार्गणासु बन्धप्रायोग्यप्रकृतिभ्यः कासा-ञ्चित्प्रकृतीनां जघन्यप्रदेशबन्धस्य गुरुकालस्समयः कासाञ्चित्पुनश्चत्वारः समयाः, एतदेव स्पष्ट-बोधार्थं मार्गणासु बन्धप्रायोग्याऽऽयुर्वर्जानां प्रकृतीनां जघन्यप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टकालः प्रदर्श्यते हेतवस्तु सुगमत्वात्स्वयमूह्याः, न पुनस्तान् प्रदर्शयामः । तद्यथा—सर्वनरक सर्वदेवाऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रिय-तिर्यगपर्याप्तमनुष्य-- सकलैकेन्द्रिय –विकलेन्द्रिय-पृथ्व्यादिपञ्चकायसत्कसर्वभेदा–ऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रिय-ऽपर्याप्तत्रसकायौ-दारिकमिश्र वैक्रियमिश्र कार्मणा-ऽनाहारिरूपास्वेकाऽधिकशतमार्गणासु बन्धप्रायोग्या-णामायुर्वर्जानां सर्वासां जघन्यप्रदेशबन्धस्य ज्येष्ठकालोऽप्येक एव समयः । नवरं द्वितीयनरक-तृतीयनरकमार्गणयोर्जिननाम्नो जघन्यप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टकालश्चत्वारः समयाः मतान्तरे पुनः समयः, तथा सप्तमनरकमार्गणायां मनुष्यद्विको च्चैर्गोत्रयोर्जघन्यप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टकालश्चत्वारः समयाः । तिर्यगोघ पञ्चेन्द्रियतिर्यग् पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यगऽसयम-कापोतलेश्यारूपासु पञ्चमार्गणासु नरक-द्विकस्य जघन्यप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टकालश्चत्वारस्समयाः, बन्धप्रायोग्यशेषप्रकृतीनां समयः । तिरश्ची-मार्गणायां वैक्रियषट्कस्य जघन्यप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टकालश्चत्वारः समयाः, बन्धप्रायोग्यशेषप्रकृतीनां जघन्यप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टकालस्समयः । मनुष्यौघ-पर्याप्तमनुष्यद्विपञ्चेन्द्रिय द्वित्रसकाय-काययोगौघ-पुरुषवेद--चतुष्कषाय-मत्यादिज्ञानत्रय चक्षुरादिदर्शनत्रय-शुभलेश्यात्रय-सम्यक्त्वौघ-क्षायिक क्षायोपश-मिक-भव्य संज्ञ्याहारकरूपासु सप्तविंशतिमार्गणासु बन्धप्रायोग्यप्रकृतिभ्यो यथासम्भवं नरकद्विका-ऽऽहारकद्विकयोर्जघन्यप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टकालश्चत्वारः समयाः, शेषाणां बन्धप्रायोग्याणां जघन्यप्रदेश-बन्धस्योत्कृष्टकाल एक एव समयः । तथा मानुषीमार्गणायां स्त्रीवेदमार्गणायां च नरकद्विका ऽ-ऽहारकद्विकयोश्चत्वारः समयाः, शेषाणां समयः, कादाचित्कसम्भविनां स्त्रीवेदिषु सम्यग्दृष्टिना-मुत्पादस्याऽविवक्षायां देवद्विक वैक्रियद्विका-ऽऽहारकद्विक-नरकद्विक-जिननामरूपाणां नवानां जघन्य-प्रदेशबन्धस्योत्कृष्टकालश्चत्वारः समयाः, शेषाणां समयः । पञ्चमनोयोगपञ्चवचोयोग-संयमौघ-सामा-यिकसंयम-च्छेदोपस्थापनीयसंयम परिहारविशुद्धिसयम सूक्ष्मसंपराय-देशविरत-मनःपर्यवज्ञाना-ऽपगत-वेद मिश्रसम्यक्त्वरूपास्वेकोनविंशतिमार्गणासु बन्धप्रायोग्याणामायुर्वर्जानां सर्वासां जघन्यप्रदेशबन्ध-स्योत्कृष्टकालश्चत्वारः समयाः।औदारिककाययोगमार्गणाया नरकद्विका-ऽऽहारकद्विकयोश्चत्वारः समयाः

शेषाणां बन्धप्रायोग्याणां जघन्यप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टकालः समयो मतान्तरेण पुनश्चत्वारस्समयाः तन्मते शरीरपर्याप्तिनिष्ठापनप्रथमसमयाच्चतुरः समयानन्यावद्योगस्थानावस्थानस्य संभवाज्जघन्यप्रदेश-बन्धस्योत्कृष्टकालश्चत्वारस्समयाः प्राप्यते । वैक्रियकाययोगा-ऽऽहारककाययोगमार्गणयोर्बन्धप्रायो-ग्याणां सर्वासां शरीरपर्याप्तिनिष्ठापनप्रथमसमये समयमात्रो जघन्यप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टकालः समयः, मतान्तरेण चत्वारस्समयाः। आहारकमिश्रकाययोगमार्गणायां मार्गणाप्रथमसमये समयमात्रो बध्यमा-नानां सर्वासां जघन्यप्रदेशबन्धस्य ज्येष्ठकालः प्राप्यते । नपुंसकवेदमार्गणायां नरकद्विक देवद्विक-वैक्रियद्विकाऽऽहारकद्विकरूपाणामष्टानां चत्वारस्समयाः शेषाणां समयः। अज्ञानद्वयाऽभव्य-मिथ्यात्वा-ऽसंज्ञिरूपासु पञ्चसु मार्गणासु वैक्रियषट्कस्य चत्वारस्समयाः शेषाणां समयो जघन्यप्रदेश-बन्धस्योत्कृष्टकालः प्राप्यते । विभङ्गज्ञानमार्गणायां वैक्रियषट्क-विकलत्रिक सूक्ष्मत्रिकाणां चत्वा-रस्समयाः बन्धार्हाणां शेषाणां समयः, मतान्तरेण पुनः सर्वासां चत्वारः समयाः, तैर-पर्याप्ताऽवस्थायां विभङ्गज्ञानस्याऽनङ्गीकरणात् । कृष्णलेश्या-नीललेश्ययोर्नरकद्विकजिननाम्नोश्च-त्वारः समया बन्धप्रायोग्याणां शेषाणां जघन्यप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टकालः समयः। उपशममार्गणायां सास्वादनमार्गणायां च देवद्विक वैक्रियद्विकयोरुपशममार्गणायामाहारकद्विकस्य च जघन्यप्रदेशबन्ध-स्योत्कृष्टकालश्चत्वारस्समयाश्शेषाणां बन्धप्रायोग्याणां जघन्यप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टकालस्समयः । ॥३२२-३२३॥

एवं मार्गणासु बन्धयोग्यप्रकृतीनां जघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्योत्कृष्टभेदेन द्विविधकालं निरूप्य सम्प्रति तासु बन्धर्हाणामजघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्यकालं निरूपयन्नाह—

सव्वासु लहू समयो सप्पाउग्गाण आउवज्जाणं।
अलहुपएसस्स भवे जोऽत्थि विसेसोऽत्थ वुच्चइ सो ॥३२४॥

(प्रे०) "**सव्वासु**" इत्यादि, सर्वमार्गणासु स्वप्रायोग्याणामायुर्वर्जानां सर्वप्रकृतीनामजघन्य-प्रदेशबन्धस्य जघन्यकालस्समयः। यासु मार्गणासु यासां प्रकृतीनां ततोऽधिककालः स विशेषरूपेण वक्ष्यमाणः, अतस्ता विहाय शेषाणां समयप्रमाणो बन्धकालो बोद्धव्यः । अजघन्यप्रदेशबन्धस्य समयप्रमाणो जघन्यकालः समयप्रमाणप्रकृतिबन्धकालेन, जघन्यप्रदेशबन्धद्वयाऽन्तराले समयप्रमाणा-ऽजघन्यप्रदेशबन्धकालेन, समयप्रमाणमार्गणाजघन्यकायस्थितिकालेन, इत्याद्यनेकप्रकारैः प्राप्यते । ॥३२४॥ उक्तकालतो यासु मार्गणासु यासां प्रकृतीनां भिन्नकालः तासु तं विशेषरूपेण दर्शयन् नरकादिमार्गणासु दर्शयति—

णिरयपढमाइछणिरयतइआइगअट्ठमंतदेवेसुं ।
मिच्छाइअट्ठवज्जिअधुवाण तह णवुरलाईणं ॥३२५॥

समयूणससलहुठिई मिच्छत्तस्स हवए मुहुत्तंतो ।
चुलसीइसहस्सद्दा जिणस्स णिरय-ऽज्जणिरयेसु ॥३२६॥
दुइअणिरयम्मि अयरं अब्भहियं होइ तइयणिरयम्मि ।
होइ तिअयराऽब्भहिया सुरेसु तज्जोग्गअलहुकायठिई ॥३२७॥ (गीतिः)

(प्रे०) "णिरये" त्यादि, नरकौघ-प्रथमादिषष्ठान्तनरक-तृतीयाद्यष्टमान्तदेवलक्षणासु त्रयोदशमार्गणासु ज्ञानावरणीयाद्येकोनचत्वारिंशद्ध्रुवबन्धिप्रकृतीनां तथौदारिकद्विक-पञ्चेन्द्रियजाति-पराघातो-च्छ्वास-त्रसचतुष्करूपाणां नवाना च समयोनतत्तन्मार्गणाया जघन्यकायस्थितिप्रमाणोऽजघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्यकालो भवति, प्रस्तुतमार्गणास्वासां ध्रुवबन्धित्वेन बन्धविच्छेदाऽभावात् मार्गणाया आद्यसमय एव तज्जघन्यप्रदेशबन्धसद्भावाच्च । ततः किम् ? निरुक्तमार्गणासु भवाद्यसमयं विहाय शेषस्वस्वकायस्थितिकालं यावन्निरन्तरमेतासामजघन्यप्रदेशबन्ध एव प्रवर्तते इत्यतस्तथा निर्देशः । मिथ्यात्वस्याऽजघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्यकालोऽन्तर्मुहूर्तम् , सम्यक्त्वद्वयाऽन्तरालस्य जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणत्वात्सम्यक्त्वादिभ्यो मिथ्यात्वं गतस्याऽन्तर्मुहूर्तादूर्ध्वमेव कालकरणात् तज्जघन्यप्रदेशबन्धस्य भवप्रथमसमये एव भावाच्च । अयं भावः—प्रस्तुतमार्गणास्वेकजीवाश्रितो मिथ्यात्वगुणस्थानकस्य जघन्यकालोऽन्तर्मुहूर्तं भवति तत्र च मिथ्यात्वस्याऽजघन्यप्रदेशबन्ध एव प्रवर्तत इतिकृत्वाऽन्तर्मुहूर्तं निर्दिष्टः । नरकौघे प्रथमनरकमार्गणायां च जिननाम्नोऽजघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्यकालश्चतुरशीतिवर्षसहस्राणि, द्वितीयनरके साधिकः सागरोपमस्तृतीयनरकमार्गणायां साधिकसागरोपमत्रयम् , देवलोकमार्गणाषट्के तत्तन्मार्गणाया अजघन्यकायस्थित्या तुल्यजिननाम्नोऽजघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्यकालः प्राप्यते । अयं भावार्थः जिननामसत्कर्माणो नैरयिकेषूत्पद्यमानाः प्रथमनैरयिके जघन्यतोऽपि चतुरशीति वर्षायुष्केषु, द्वितीयनैरयिके साधिकसागरोपमाऽऽयुष्केषु तृतीयनैरयिके साधिकसागरोपमत्रयमिताऽऽयुष्केषूत्पद्यन्ते न पुनस्ततोऽपि न्यूनस्थितिकनैरयिकेषु तेषामुत्पादः; तत्र च क्षायिकसम्यग्दृष्ट्यपेक्षया समयोननिरुक्तः कालः प्राप्यते । कृतकरणं विहाय क्षयोपशमिकसम्यग्दृष्टयो नैरयिकेषु नोत्पद्यन्त अतो यो नरकायुर्बद्ध्वा लब्धक्षयोपशमसम्यक्त्वः सम्यक्त्वप्रभावेण निकाचितजिननामकर्माऽपि स्वायुःप्रान्ते नरकं प्रति प्रस्थातुकामोऽन्तर्मुहूर्तं मिथ्यादृष्टिर्भूत्वा नैरयिकेषूत्पद्यतेऽन्तर्मुहूर्तेन च पर्याप्तिं समाप्याऽन्तर्मुहूर्तकालं च व्यतिक्रम्य सम्यक्त्व समासाद्य पुनर्जिननाम्नो बन्धं प्रारभते स च ततः प्रभृति नरकभवचरमसमयपर्यन्तं निरन्तरं त बध्नाति, एतादृशं जीवमपेक्ष्य प्रथमनरके जघन्यतो यावत्स्थितिकनैरयिकेषूत्पादस्ततोऽन्तर्मुहूर्तन्यूनो जघन्यबन्धकालो लभ्यते, स चान्तर्मुहूर्तन्यूनचतुरशीतिवर्षसहस्राणि, साधिकचतुरशीतिवर्षसहस्राणि वेति यथासमयं ज्ञातव्यः यथा

प्रथमनरके जिननामसत्कर्मणो जघन्यस्थितिकेषूत्पादो न भवति तथा द्वितीय-तृतीयनैरयिकेषु जघन्यस्थितिमत्सूत्पादाऽभावात्साधिकः सागरोपमो द्वितीयनरके, साधिकसागरोपमत्रयम् तृतीयनरके जिननाम्नोऽजघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्यकालो दर्शितः। तथा तृतीयाद्यष्टमान्तदेवलोकभेदेषु जिननामबन्धकालः स्वस्वाजघन्यकायस्थितिः-तत्तन्मार्गणायां जघन्यतो यावत्स्थितिषु जिननामसत्कर्मण उत्पादो भवति तावान् जिननाम्नोऽजघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्यकालो भवति, स च एकेन मतेन ज्येष्ठकायस्थितिरूपः, अन्येन मतेन साधिकजघन्यकायस्थितिलक्षणः जघन्याऽऽयुषि जिननामबन्धकस्योत्पादाऽभावात्। अत्रापि भवप्रथमसमये जघन्यप्रदेशबन्धस्य लाभात् जघन्यतो यावत् स्थितिषूत्पादस्ततःसमयोनोऽजघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्यकालो ज्ञातव्यः। एवमग्रेऽपि सौधर्मादिदेवमार्गणास्वपि विज्ञेयम्। उक्तशेषाणां प्रकृतीनामजघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्यकालः समयः, स्त्यानर्द्धित्रिकाऽनन्तानुबन्धिचतुष्करूपाणां सप्तानां चतुर्थगुणस्थानतः प्रपततः सास्वादनगुणस्थाने समयमेकमवस्थाय कालकरणेन मार्गणाया विनाशात्सास्वादनगुणस्थानाऽपेक्षया समयप्रमाणबन्धकालः प्राप्यते। साता-ऽसातवेदनीयोच्चैर्गोत्र-नीचैर्गोत्र तिर्यग्द्विक मनुष्यद्विक-संहननषट्क-संस्थानषट्क-खगतिद्वयोद्योतनाम-स्थिरषट्का ऽस्थिरषट्क हास्य-रति शोका-ऽरति स्त्रीवेद-पुरुषवेद-नपुंसकवेद-रूपाणां द्विचत्वारिंशत्प्रकृतीनामध्रुवबन्धित्वात्प्रकृतिबन्धकालस्य समयप्रमाणत्वादजघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्यकालः समयप्रमाणो भवति ॥३२५-३२७॥

अथ सप्तमनरकमार्गणायां प्राह—

अडमिच्छाइतितिरियाईणं चरमणिरये मुहुत्तंतो।
समयूणाऽत्थि लहुठिई सेसधुवुरलाइगणवण्हं ॥३२८॥

(प्रे०) "अडमिच्छाइ" इत्यादि, मिथ्यात्वाऽनन्तानुबन्धिचतुष्क-स्त्यानर्द्धित्रिक-तिर्यग्द्विक-नीचैर्गोत्ररूपाणामेव।दशप्रकृतीनामजघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्यकालोऽन्तर्मुहूर्तं भवति, एतासां प्रकृतिबन्धजघन्यकालस्याऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणत्वाद्भवप्रथमसमय एव जघन्यप्रदेशबन्धभावाच्च। अयं भावः-सप्तमपृथ्वीनारका द्वितीय-चतुर्थगुणस्थाने न म्रियन्ते प्रथमगुणस्थाने एव तेषां च्यवनार्हत्वात्तत्र च जघन्यतोऽप्यन्तर्मुहूर्तमवस्थाय कालं कुर्वन्ति, तत्र चैताः प्रकृतयो नियमतो बध्यन्त इति तथा निर्देशः। शेषाणामेकोनचत्वारिंशद्ध्रुवबन्धिप्रकृतीनामौदारिकद्विक-पञ्चेन्द्रियजाति पराघातोच्छ्वास त्रसचतुष्करूपाणां नवानां च समयोना मार्गणाया जघन्यकायस्थितिः, समयोनद्वाविंशतिः सागरोपमाण्यजघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्यकालः प्राप्यते। भावना तु नरकौघमार्गणावत्कर्तव्या। नरकौघमार्गणोक्तानां स्त्यानर्द्धित्रिका ऽनन्तानुबन्धिचतुष्क तिर्यग्द्विक नीचैर्गोत्रवर्जानामेकोनचत्वारिंशत्प्रकृतीनामजघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्यकालः समयः, अत्र मनुष्यद्विको च्चैर्गोत्रयोर्जघन्यप्रदेशबन्ध-

द्वयाऽन्तराले समयप्रमाणाऽजघन्यप्रदेशबन्धस्य भावात् ; यद्वा बन्धप्रारम्भसमयेऽजघन्यप्रदेशबन्धं कृत्वा द्वितीयसमये जघन्यप्रदेशबन्धस्याऽपि संभवात्, यद्वा बन्धविरमणद्विचरमसमये जघन्यप्रदेशबन्धं कृत्वा चरमसमयेऽजघन्यप्रदेशबन्धं विरच्य तद्बन्धस्य विरमणादजघन्यप्रदेशबन्धस्य समयप्रमाणो जघन्यकालः प्राप्यते, न तु प्रकृतिबन्धजघन्यकालाऽपेक्षया, तेषां प्रकृतिबन्धकालस्य जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणत्वात्। शेषषट्त्रिंशतोऽजघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्यकालः प्रकृतिबन्धकालाऽपेक्षया-समयप्रमाणः प्राप्यते ॥३२८॥

एतर्हि तिर्यग्गत्योघादिमार्गणास्वाह—

तिरिये पणिंदितिरिये णेयो खुड्डगभवो समयहीणो ।
धुवबंधीणेगारहथीणद्धितिगाइवज्जाणं ॥३२९॥
पज्जत्तपणिंदितिरियजोणिमईसुं भवे मुहुत्तंतो ।
धुवबंधीणेगारहथीणद्धितिगाइवज्जाणं ॥३३०॥

(प्रे०) "**तिरिये**" इत्यादि, तिर्यग्गत्योघे पञ्चेन्द्रियतिर्यगोघमार्गणायां च ज्ञानावरणपञ्चक दर्शनावरणषट्क-संज्वलनचतुष्क-प्रत्याख्यानावरणचतुष्क-भयजुगुप्सा-मिथ्यात्व-नामनवध्रुवबन्धिन्यन्तरायपञ्चकरूपाणां षट्त्रिंशद्ध्रुवबन्धिप्रकृतीनामजघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्यकालः समयोनक्षुल्लकभवप्रमाणः, मिथ्यात्ववर्जानां पञ्चत्रिंशतः प्रकृतीनां बन्धविच्छेदाऽभावाद्भवप्रथमसमये जघन्यप्रदेशबन्धसद्भावात्समयोनमार्गणाजघन्यकायस्थितिप्रमाणोऽजघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्यकालः प्राप्यते, मिथ्यात्वस्य पुनर्बन्धविच्छेदस्य लाभेन यश्चतुर्थादिगुणेभ्योऽवतीर्य प्रथमगुणस्थानके जघन्यतो यावत्कालं स्थित्वा मार्गणाऽन्तरं गुणाऽन्तरं वा व्रजति तस्य तावत्कालं मिथ्यात्वस्याऽजघन्यप्रदेशबन्धस्य भावेऽपि तत्कालस्य क्षुल्लकभवाऽपेक्षया दीर्घतरत्वात् क्षुल्लकभवाऽऽयुष्कं भवप्रथमसमये जघन्यप्रदेशबन्धकर्तारमपेक्ष्यैवाऽजघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्यकालः प्राप्यत इति। शेषाणामजघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्यकालः समयस्तत्राऽनन्तानुबन्धिचतुष्का-ऽप्रत्याख्यानावरणचतुष्क-स्त्यानर्द्धित्रिकरूपाणामेकादशप्रकृतीनामजघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्यकालः समयप्रमाणः, यथासम्भवं चतुर्थपञ्चमगुणस्थानकतः सास्वादनं प्राप्य समयाऽन्तरे कालं कृत्वा मार्गणाऽन्तरं व्रजत एव प्राप्यते, अन्याऽपेक्षयैतावत्कालस्याऽलाभात्। शेषाणां षट्षष्टेरध्रुवबन्धिनीनामध्रुवबन्धितयैव प्रकृतिबन्धकालस्य समयमात्रत्वादजघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्यकालोऽपि समयप्रमाणः प्राप्यते। पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग् तिर्यग्योनिमतीमार्गणयोर्जघन्यकायस्थितेः क्षुल्लकभवतः सङ्ख्येयगुणबृहत्तराऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणत्वेन ज्ञानावरणादिषट्त्रिंशतोऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणो बन्धकालो भवति, भावना तु यथासंभवं तिर्यग्गत्योघवद्विधेया। तत्र पञ्चत्रिंशतो ज्ञानावरणादीनां समयोनजघन्यकायस्थितिप्रमाणः, मिथ्यात्वस्य पुनः सम्यक्त्वद्वयाऽन्त-

राले मिथ्यात्वगुणस्थानजघन्यकालप्रमाणः, सम्यक्त्वात्परिभ्रष्टोजघन्यतया यावत्कालं स्थित्वा मार्गणान्तरं व्रजति तावत्कालप्रमाणः, समयोनमार्गणाजघन्यकायस्थितिप्रमाणो वैतद्विकल्पत्रये योऽल्पकालस्तस्य ग्रहणं विधेयमिति, शेषाणां स्त्यानर्द्धित्रिकादीनामेकादशानां षट्षष्टेर्ध्रुवबन्धिनीनां चाऽजघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्यकालः समयप्रमाणः, भावना तु तिर्यग्गत्योघमार्गणावत्समर्तव्या ॥ ३२९-३३०॥ अधुनाऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यगादिमार्गणास्वाह—

असमत्तपणिंदितिरियमणुसपणिंदियतसेसु सव्वेसुं ।
एगिंदियविगलेसुं कायपणगसव्वभेएसुं ॥३३१॥
धुवबंधि उरालाणं ससलहुकायट्ठिई समयहीणा ।
तिण्हं तिरियाईण वि सयलागणिवाउभेएसुं ॥३३२॥

(प्रे०) "असमत्ते" इत्यादि, अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्-अपर्याप्तमनुष्या-ऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रिया-ऽपर्याप्तत्रसकाय-सप्तैकेन्द्रियभेद -नवविकलेन्द्रियभेद--पृथ्व्यादिपञ्चकायसत्कैकोनचत्वारिंशद्भेदेष्विति नवपञ्चाशन्मार्गणासु सप्तचत्वारिंशद्ध्रुवबन्धिप्रकृतीनामौदारिकशरीरनाम्नश्च, तथा सप्ततेजस्कायभेदेषु सप्तवायुकायभेदेषु तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्रयोरप्यजघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्यकालस्समयहीन स्तत्तन्मार्गणाया जघन्यकायस्थितिप्रमाणो ज्ञातव्यस्तत्तन्मार्गणासूक्तप्रकृतीनां ध्रुवत्वाद्मार्गणाप्रथमसमये जघन्यप्रदेशबन्धार्हत्वाच्च । निरुक्तमार्गणासूक्तशेषाणामजघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्यकालसमयप्रमाणः शेषप्रकृतीनामध्रुवबन्धित्वेन प्रकृतिबन्धकालस्य तथात्वात् । शेषप्रकृतयः सप्ततेजस्कायसप्तवायुकायमार्गणासु त्रिपञ्चाशत् , शेषासु पञ्चचत्वारिंशन्मार्गणासु नवपञ्चाशदिति॥३३१-३३२॥

अथ मनुष्यौघादिमार्गणास्वजघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्यकालविषये विशेषं दर्शयति—

समयूणो खुड्डभवो मिच्छस्स णरणपुमेसु विण्णेयो ।
पज्जणरमणुसिथीसुं भिन्नमुहुत्तं मुणेयव्वो ॥३३३॥

(प्रे०) "समयूणो" इत्यादि, मनुष्यौघमार्गणायां नपुंसकवेदमार्गणायां च मिथ्यात्वस्याऽजघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्यकालः समयोनक्षुल्लकभवप्रमाणः क्षुल्लकभवायुष्कजीविताऽपेक्षयाऽस्य प्राप्यमाणत्वात् , सम्यक्त्वादितोऽवतीर्य मिथ्यात्वगुणस्थानेऽन्तर्मुहूर्तं स्थित्वा पुनर्गुणाऽन्तरं मार्गणान्तरं वा व्रजतो मिथ्यात्वकालस्य दीर्घतरत्वादन्तर्मुहूर्तमनुक्त्वा समयोनक्षुल्लकभवप्रमाणकालस्य निर्देशो ज्ञातव्यः । शेषाणां प्रकृतीनामजघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्यकालः समयो ध्रुवबन्धिनीनां षट्चत्वारिंशतो यथासम्भवं सम्यक्त्वतः प्रपततश्श्रेणिमवरोहतो वा तत्तत्प्रकृतीनां बन्धं प्रारभ्य कालकरणेन देवगत्यादावुत्पादेन मार्गणाऽन्तरं व्रजनात् , शेषाणां षट्षष्टेरध्रुव-

बन्धित्वेन प्रकृतिबन्धकालस्य तथात्वात्, जिननाम्नश्श्रेणिमवरोहँस्तद्बन्धं प्रारभ्य कालकरणेन मार्गणाऽन्तरं व्रजनात्, एवमाहारकद्विकस्य यथासम्भवं भावना कार्या। पर्याप्तमनुष्यमानुषीस्त्रीवेद-मार्गणासु मिथ्यात्वस्याऽन्तर्मुहूर्तम्, भावना तु पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्वत्कार्या, शेषाणां पञ्चदशोत्तर-शतप्रकृतीनामजघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्यकालः समयो भावना मनुष्यौघवद्भावनीया ॥३३३॥

अथ देवौघादिमार्गणासु तं दर्शयति--

मिच्छाइअट्ठवज्जिअधुवबंधिपणपरघाइउरलाणं ।
देवीसाणंतेसु खणूणससहस्सकायठिई ॥३३४॥
मिच्छत्तस्स हवेज्जा भिन्नमुहुत्तं जिणस्स विण्णेयो ।
देवे तह कप्पदुगे अज्जे अजहण्णकायठिई ॥३३५॥

(प्रे०) "मिच्छे" त्यादि, देवौघ भवनपति-व्यंतर-ज्योतिष्क सौधर्मे शानरूपासु षड्मार्ग-णासु मिथ्यात्वाद्यष्टप्रकृतिवर्जानामेकोनचत्वारिंशद्ध्रुवबन्धिप्रकृतीनां पराघातो च्छ्वास-बादरत्रिक-रूपाणां पञ्चानामौदारिकशरीरनाम्नश्च प्रस्तुतमार्गणासु बन्धविच्छेदाऽभावाद्मार्गणाप्रथमसमय एव जघन्यप्रदेशबन्धार्हत्वाच्चाऽजघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्यकालः समयोनमार्गणाजघन्यकायस्थिति-प्रमाणो बोद्धव्यः । जघन्यस्थितिर्देवौघ-भवनपति-व्यन्तरमार्गणात्रये दशवर्षसहस्राणि, ज्योतिष्के पल्योपमाष्टमभागः, सौधर्मदेवस्य पल्योपमम्, ईशानदेवस्य साधिकं पल्योपमम् । मिथ्यात्वस्य मार्गणाषट्केऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणोऽजघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्यकालो भवति, भावना नरकौघवत्कर्तव्या, जिननाम्नः पुनर्मार्गणात्रय एव बन्धप्रायोग्यत्वाद् भवनत्रिके तस्य बन्धाऽभावात्, देवौघसौधर्मे-शानमार्गणात्रयेऽजघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्यकालः तत्तन्मार्गणाया अजघन्यकायस्थितिः, सा चैकेन मतेन पल्योपमपृथक्त्वं ततो न्यूनस्थितिषु जिननामसत्कर्मण उत्पादाऽभावात् । मतान्तरे पुनः सौधर्मादिषु ज्येष्ठस्थितिमत्स्वेव जिननामसत्कर्मण उत्पादाद् देवौघे प्रथमदेवलोके सागरोपमद्वयं द्वितीयदेवलोके सातिरेकसागरोपमद्वयं च बन्धकालः प्राप्यते । अत्राजघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्यकालः समयोनो विज्ञेयः भवप्रथमसमये जघन्यप्रदेशबन्धार्हत्वात् । उक्तशेषाणां पञ्चपञ्चाशत्प्रकृतीनामजघन्य-प्रदेशबन्धस्य जघन्यकालः समयः, प्रस्तुतमार्गणासु स्त्यानर्द्धित्रिका-ऽनन्तानुबन्धिचतुष्कवर्जानां निरुक्त-प्रकृतीनामध्रुवबन्धित्वेन प्रकृतिबन्धकालस्य समयप्रमाणत्वात् । शेषप्रकृतयस्त्विमाः--साताऽसात-वेदनीय-हास्य रति शोका-ऽरति-वेदत्रय गोत्रद्वय-मनुष्यद्विक-तिर्यग्द्विकै केन्द्रियजाति पञ्चेन्द्रियजाति-नामौ-दारिकाङ्गोपाङ्ग-संहननषट्क--संस्थानषट्क खगतिद्वयनामा-ऽऽतपो-द्योत-त्रसनाम स्थावरनाम-स्थिरषट्का-ऽस्थिरषट्क स्त्यानर्द्धित्रिका-ऽनन्तानुबन्धिचतुष्करूपाः पञ्चपञ्चाशत् । स्त्यानर्द्धित्रिकाऽ-नन्तानुबन्धिचतुष्करूपसप्तानामुपशमसम्यक्त्वतः प्रपततः सास्वादनगुणस्थाने समयमेकं स्थित्वा कालं

कृत्वा मार्गणाऽन्तरं व्रजतो जीवस्यापेक्षया जघन्यकालस्य लाभाद् , भावाना तु नरकौघवद्विधेया । ।।२३४ २३५।। सम्प्रत्यानतादिमार्गणास्वाह—

तेरससु आणयाइगदेवेसु खणूणसलहुकायठिई ।
मिच्छाइअट्ठवज्जिअधुवणरदुगणवुरलाईणं ॥२३६॥
मिच्छस्स मुहुत्तंतो जिणस्स तदरिहखणूणअलहुठिई ।
सायाइबारवज्जाणऽणुत्तरेसुं खणूणसलहुठिई ॥२३७॥ (गीतिः)

(प्रे०) "तेरसे" त्यादि, आनतादिषु नवमग्रैवेयकपर्यन्तेषु त्रयोदशदेवभेदेषु मिथ्यात्व-स्त्यानर्द्धित्रिका-ऽनन्तानुबन्धिचतुष्कवर्जानामेकोनचत्वारिंशद्ध्रुवबन्धिप्रकृतीनां मनुष्यद्विक पञ्चे-न्द्रियजातिनामौदारिकद्विक-परघातो-च्छ्वास-त्रसचतुष्करूपाणां समुदितानां च पञ्चाशत्प्रकृतीनाम-जघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्यकालः समयोनस्वस्वजघन्यकायस्थितिः, निरुक्तमार्गणासूक्तप्रकृतीनां बन्धविच्छेदाऽभावेन निरन्तरं बध्यमानत्वात् , भवप्रथमसमय एव तज्जघन्यप्रदेशबन्धाऽर्हत्वाच्च । मिथ्यात्वस्याऽजघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्यकालोऽन्तर्मुहूर्तम् , प्रस्तुतमार्गणासु मिथ्यात्वगुणस्थान-जघन्यकालस्याऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणत्वाद्भवप्रथमसमय एव जघन्यप्रदेशबन्धाऽर्हत्वाच्च । जिननाम्नोऽजघ-न्यप्रदेशबन्धस्य जघन्यकालस्तत्तन्मार्गणासु जघन्यतो यावत्स्थितिषु जिननामसत्कर्मणो जीवा उत्प-द्यन्ते समयोनस्तावत्प्रमाणो, मतान्तरे पुनः समयोनस्वोत्कृष्टभवस्थितिप्रमाणो विज्ञेयः । उक्तशेषाणां सातादिचतुश्चत्वारिंशत्प्रकृतीनामजघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्यकालः समयस्तत्र स्त्यानर्द्धित्रिका-ऽनन्ता-नुबन्धिचतुष्करूपाणां सप्तानां समयप्रमाणः कालो देवौघवज्ज्ञेयः, शेषाणामध्रुवबन्धित्वात्प्रकृतिबन्ध-कालस्य तथात्वात्तथा ज्ञेयः । शेषसातवेदनीयाद्याः प्रकृतयस्त्विमाः-साता-ऽसातवेदनीय-हास्य-रति शोका-ऽरति वेदत्रय-गोत्रद्वय-संहननषट्क-संस्थानषट्क खगतिद्वय-स्थिरषट्का-ऽस्थिरषट्क स्त्यानर्द्धित्रिका-ऽनन्तानुबन्धिचतुष्करूपाश्चतुश्चत्वारिंशत् । अनुत्तरदेवमार्गणापञ्चके सातवेदनीयादिद्वादशकस्य परावर्तमानबन्धस्याऽजघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्यकालः समयः, अध्रुवबन्धित्वेन प्रकृतिबन्धकालस्य तथात्वात् । शेषज्ञानावरणाद्येकोनषष्टिप्रकृतीनामजघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्यकालः समयोनस्वलघु-कायस्थितिप्रमाणो भवति, प्रस्तुते आसां निरन्तरं बध्यमानत्वाद्भवप्रथमसमय एव जघन्यप्रदेश-बन्धार्हत्वाच्च । ताः प्रकृतयः पुनरिमाः—ज्ञानावरणपञ्चक दर्शनावरणषट्का ऽनन्तानुबन्धिवर्जद्वादश-कषाय-भय-जुगुप्सा-पुरुषवेद-मनुष्यद्विक-पञ्चेन्द्रियजातिनामौ-दारिकद्विक-तैजसकार्मणशरीर वज्रर्षभ-नाराचसंहनन-समचतुरस्रसंस्थान-–सुखगति –वर्णचतुष्कागुरुलघू-- पघातनिर्माणपराघातो–च्छ्वास-जिननाम त्रसचतुष्क-सुभगत्रिको-च्चैर्गोत्रा ऽन्तरायपञ्चकरूपा नवपञ्चाशत् , जिननाम्नि विशेषः पूर्ववज्ज्ञातव्यः ।।२३६-२३७।।

अथ पञ्चेन्द्रियादिमार्गणास्वाह–

थीणद्धितिगाणाणं दुपणिंदितसेसु चक्खुसण्णीसु ।
तावइओ विण्णेयो जावइआए लहुठिईए ॥३३८॥
सासायणस्स ठाउं उप्पाओ मग्गणंतरे होज्ज ।
सेसधुवबंधिणीणं लहुकायठिई समयहीणा ॥३३९॥

(प्रे०) "थीणद्धि" इत्यादि, पञ्चेन्द्रियौघ-पर्याप्तपञ्चेन्द्रिय त्रसकायौघ पर्याप्तत्रसकाय-चक्षुर्दर्शन संज्ञिरूपासु षट्सु मार्गणासूपशमसम्यग्दृष्टिश्चतुर्थगुणस्थानतः पतित्वा सास्वादनगुणस्थानकं प्राप्य जघन्यतो यावत्कालं तत्र स्थित्वैकेन्द्रियादिमार्गणाऽन्तरेषूत्पद्यते तावत्कालं स्त्यानर्द्धित्रिकाऽनन्तानुबन्धिचतुष्कस्याऽजघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्यकालः प्राप्यते, तदनन्तरं मार्गणाऽन्तरे उत्पत्त्या प्रस्तुतमार्गणाया विच्छेदात् । एष कालस्त्वन्यैरावलिकाया असंख्येयभागप्रमाणः प्रतिपाद्यते । शेषचत्वारिंशद्ध्रुवबन्धिप्रकृतीनां पुनः समयोनमार्गणाया जघन्यकायस्थितिप्रमाणोऽजघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्यकालः प्राप्यते, अबन्धतोऽवतीर्य बन्धप्रारम्भाऽनन्तरं मार्गणान्तरगमनकालस्य यद्वा पुनर्बन्धविच्छेदगमनकालस्य कायस्थितितोऽधिकत्वान्न तदपेक्षया जघन्यकालः प्राप्यते । अत्र पर्याप्तपञ्चेन्द्रिय-पर्याप्तत्रसकाय-चक्षुर्दर्शनमार्गणात्रये ज्ञानावरणाद्येकत्रिंशत्प्रकृतीनामजघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्यकालोस्तत्तन्मार्गणायाः समयन्यूनजघन्यकायस्थितिप्रमाणो यद्वा यः कश्चिदुपशमश्रेणेरवरोहकस्तत्तत्प्रकृतीनां बन्धस्थानं प्राप्य बन्धं विधाय प्रमत्तगुणस्थानकं यावदवरोहति, तत्रान्तर्मुहूर्तं स्थित्वा यथाशीघ्रं क्षपकश्रेणिमारोहति तत्र च तत्तत्प्रकृतीनां यथास्थानं बन्धविच्छेदं करोति, इत्थं तं जीवमाश्रित्यान्तर्मुहूर्तप्रमाणः प्रकृतबन्धकालः प्राप्यते, एतद्विकल्पद्वये यो जघन्यकालः स प्रस्तुते ग्राह्यः । प्रत्याख्यानावरणाप्रत्याख्यानावरणचतुष्कयोर्जघन्यबन्धकालः संयमादिगुणस्थानतः सास्वादनं प्राप्य तत्र च यावताजघन्यकालेन मार्गणान्तरं गन्तु पार्यते तावत्कालं एतत्प्रकृत्यष्टकं बध्नतोऽपेक्षया संभाव्यते । एषः कालः समयादधिकः, षडावलिकातो न्यूनः, मार्गणाजघन्यकायस्थितितः संख्येयगुणहीनोऽन्तर्मुहूर्तशब्देन वक्तुं शक्यते अतोऽन्तर्मुहूर्तप्रमाण उक्तः मिथ्यात्वस्य जघन्यबन्धकालः पर्याप्ततिर्यक्पञ्चेन्द्रियमार्गणावज्ज्ञातव्यः । निरुक्तमार्गणाषट्के एकोनसप्ततेरध्रुवबन्धिप्रकृतीनामजघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्यकालस्समयो भवति, भावना त्वोघवत्कार्या ॥३३८-३३९॥

अथौदारिकमिश्रकाययोगमार्गणायां प्राह—

धुवबंधिउरालाणं उरालमीसे जहण्णकायठिई ।
सुरविउवदुगजिणाणं भिन्नमुहुत्तं मुणेयव्वो ॥३४०॥

(प्रे०) "धुवे" त्यादि, औदारिकमिश्रे सप्तचत्वारिंशद्ध्रुवबन्धिप्रकृतीनामौदारिकशरीरनाम्नश्चाऽजघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्यकालो मार्गणाया च्छद्मस्थजीवमाश्रित्य यावान् जघन्यकायस्थितिकालस्तावान् प्राप्यते, स च समयत्रयोनक्षुल्लकभवप्रमाणो विज्ञेयः। ननु नरकगत्योघादिवद् मार्गणाप्रथमसमये जघन्यप्रदेशबन्धार्हत्वादजघन्यप्रदेशबन्धसत्कजघन्यकालस्य प्रस्तुते समयोनकायस्थितिप्रमाणस्य सम्भवेऽपि तत्र तथा दर्शितः, प्रस्तुते किमर्थं समयोनता न दर्शितेति चेत् , उच्यते प्रस्तुतमार्गणायां जघन्यप्रदेशबन्धस्य ऋजुगत्या समुत्पद्यमानस्यैव भवप्रथमसमये प्राप्यमाणत्वेन तदपेक्षयाऽजघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्यकालः समयोनक्षुल्लकभवप्रमाणः प्राप्यते, स पुन जघन्यकायस्थितितः समयद्वयेनाधिकोऽतो जघन्यप्रदेशबन्धकमनादृत्य चतुःसामयिकविग्रहेणोत्पद्यमानस्य भवाद्यसमयत्रयमनाहारकत्वेन व्यतिक्रम्योत्पन्नस्याजघन्यप्रदेशबन्धस्यैव कर्तुः त्रिसमयोनक्षुल्लकभवप्रमाणकालं प्रस्तुतमार्गणायां वर्तमानस्य मार्गणाजघन्यकायस्थितिप्रमाणो ध्रुवबन्धिसप्तचत्वारिंशत्प्रकृतीनामौदारिकशरीरनाम्नश्चाऽजघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्यकालः प्राप्यते, न पुनः समयोनजघन्यकायस्थितिप्रमाण इति। सुरद्विक-वैक्रियद्विक जिननामरूपाणां पञ्चानामन्तर्मुहूर्तप्रमाणोऽजघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्यकालः प्राप्यते, प्रस्तुते एतत्प्रकृतिपञ्चकस्य बन्धका अविरतसम्यग्दृष्टय एव, ते च करणाऽपर्याप्ताऽवस्थायां वर्तमानास्तेषां च कालस्याऽन्तर्मुहूर्तमात्रत्वेऽपि क्षुल्लकभवतोऽतिदीर्घतरत्वात्तथानिर्देशः। उक्तशेषाणामेकोनपञ्चाशतोऽध्रुवबन्धिप्रकृतीनामजघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्यकालः समयस्तत्प्रकृतिबन्धकालस्य तथात्वात् ॥३४०॥

अथ वैक्रियमिश्रकाययोगा-ऽऽहारकमिश्रकाययोगमार्गणयोराह—

विउवाइदुमीसेसुं धुवपणपरघाइउरलतित्थाणं ।
तेरहजिणाइवज्जाण कमा णेयो मुहुत्तंतो ॥३४१॥

(प्रे०) "विउवाई"त्यादि, वैक्रियमिश्रकाययोगमार्गणायां सप्तचत्वारिंशद्ध्रुवबन्धिप्रकृतीनां बादरत्रिक पराघातो च्छ्वासनामौ-दारिकशरीरनाम जिननामरूपाणां सप्तप्रकृतीनाञ्चेति चतुःपञ्चाशत्प्रकृतीनामजघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्यकालोऽन्तर्मुहूर्तम् , एतद्बन्धकानां प्रस्तुतमार्गणायां बन्धविच्छेदाऽभावाद्मार्गणाया जघन्यकायस्थितेरन्तर्मुहूर्तप्रमाणत्वात् जघन्यप्रदेशबन्धस्य मार्गणाप्रथमसमय एव भावाच्च। सास्वादनेन सह देवलोकेषूत्पद्य समयोनषडावलिकाकालं सास्वादनगुणेन व्यतिक्रम्य मिथ्यात्वं प्राप्तजीवाऽपेक्षया मिथ्यात्वस्य समयोनषडावलिकाभिन्यूनमार्गणाजघन्यकायस्थितिप्रमाणो ह्रस्वकालः प्राप्यते, शेषाणां च समयोनाया मार्गणाया ह्रस्वकायस्थित्या तुल्यः। उक्तशेषाणामष्टचत्वारिंशत्प्रकृतीनामजघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्यकालः समयः, आसामध्रुवबन्धित्वेन प्रकृतिबन्धकालस्य तथात्वात्। शेषप्रकृतयः पुनरिमाः—साता-ऽसातवेदनीय-हास्य-रति-शोका-ऽरति वेदत्रय तिर्यग्द्विक मनुष्यद्विकै-केन्द्रिय-पञ्चेन्द्रियजातिनामौ-दारिकाङ्गोपाङ्ग-संहनन-

षट्क-संस्थानषट्क-खगतिद्वया-ऽऽतपो-द्योत-त्रस-स्थावर स्थिरषट्काऽस्थिरषट्कगोत्रद्वयरूपाः । आहारकमिश्रकाययोगमार्गणायां साता-ऽसातवेदनीय-हास्य रति-शोका ऽरति स्थिर-ऽस्थिर शुभा-ऽशुभ-यशःकीर्त्ययशःकीर्ति-जिननामरूपाणां त्रयोदशानामजघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्यकालः समयस्तत्र सातवेदनीयादिद्वादशानामध्रुवबन्धित्वेन प्रकृतिबन्धकालस्य तथात्वात्, जिननाम्नः पुनर्मार्गणा चरमसमयवर्तिनोऽपूर्वतद्बन्धस्य आरम्भकाऽपेक्षया जघन्यकालस्य लाभात् प्रकृतिबन्धजघन्य-कालस्याऽप्युक्तरीत्यैव घटनात् । शेषाणां ज्ञानावरणादीनामेकोनपञ्चाशत्प्रकृतीनामजघन्यप्रदेशबन्ध-स्य जघन्यकालोऽन्तर्मुहूर्तम् ; मार्गणाया जघन्यकायस्थितेरन्तर्मुहूर्तप्रमाणत्वात्, आसां बन्ध-विच्छेदस्याऽप्राप्यमाणत्वात्, जघन्यप्रदेशबन्धस्य मार्गणाप्रथमसमय एव सम्भवाच्च ।।३४१।।

अथ पुरुषवेदमार्गणायां प्राह—

समयो भिन्नमुहुत्तं वा थीणद्धितिगअणचउक्काणं ।
पुरिसे भिन्नमुहुत्तं हवेज्ज सेसधुवबंधीणं ।।३४२।।

(प्रे०) "**समयो**" इत्यादि, पुरुषवेदमार्गणायां स्त्यानर्द्धित्रिका ऽनन्तानुबन्धिचतुष्करूपाणां सप्त-प्रकृतीनामजघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्यकालः समयः, अन्तर्मुहूर्तं वा, चतुर्थगुणस्थानतोऽवरोहतस्सास्वा-दनगुणस्थाने समयमात्रमन्तर्मुहूर्तमात्रं वावस्थाय देवलोके देवीतया समुत्पन्नस्य मार्गणाविच्छेदात्, शेषध्रुवबन्धिप्रकृतीनामजघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्यकालोऽन्तर्मुहूर्तं, चतुर्थादिगुणस्थाने कालकरणे तु देवेषु पुंवेदितयैवोत्पादात् न तदपेक्षया जघन्यकालः प्राप्यते । अत्र कषायाष्टकस्य यदि संयमा-च्च्युत्वा सास्वादने समयादिकालमवस्थाय देवीतया उत्पद्येत तदा तस्य कालोजघन्यतया समयादि-मात्रो भवेदिति । उक्तशेषाणां नवषष्टेरध्रुवबन्धित्वादजघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्यकालस्समयः; भावना त्वोघवद्विधेया ।।३४२।। अथ क्रोधादिकषायमार्गणासु निरूपयति—

कोहाइकसायतिगे भिन्नमुहुत्तमहवा मुणेयव्वो ।
समयो धुवबंधीणं सोलसमिच्छाइवज्जाणं ।।३४३।।

(प्रे०) "**कोहे**" त्यादि, क्रोध मान-मायारूपासु तिसृषु कषायमार्गणासु ज्ञानावरणाद्येकत्रिं-शद्ध्रुवबन्धिप्रकृतीनामजघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्यकालोऽन्तर्मुहूर्तं मताऽन्तरे पुनः समयः, प्रस्तुत-मार्गणायाः कायस्थितेस्तथात्वेनाऽऽसां प्रकृतिबन्धकालस्य तथात्वात्, शेषाणां षोडशध्रुवबन्धि-प्रकृतीनां जघन्यकालस्समयः, प्रमत्तगुणस्थानकात्प्रपततस्तत्तद्बन्धप्रारम्भद्वितीयसमये मार्गणायाः परावर्तनस्य भावात्, शेषाणामेकोनसप्ततेरध्रुवबन्धिप्रकृतीनामजघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्यकालस-मयः, आसामध्रुवबन्धित्वेन प्रकृतिबन्धकालस्य तथात्वात् । अत्र जिननाम्नोऽपूर्वबन्धप्रारम्भद्वितीय-समये मार्गणापरावर्तनादिना समयप्रमाणो बन्धकालः प्राप्यते, भावना तु यथासम्भवं विधेया ।

लोभमार्गणायां मतद्वयेनाऽपि सर्वासां समयः "अवक्खमाणाणे" त्यादिना गम्यमानत्वान्न प्रस्तुतमार्गणया सह निर्देश इति ॥३४३॥

सम्प्रति मतिज्ञानादिमार्गणास्वाह–

भिन्नमुहुत्तं णेयो तिणाणवहिसम्मखइउवसमेसु ।
मज्झऽट्ठकसायाणं तहा णराईण पंचण्हं ॥३४४॥
णवरं खइए तत्तिअलहुकालो होइ पणणराईणं ।
जावइअलहुठिईए णिरये खइअस्स उप्पाओ ॥३४५॥

(प्रे०) "भिन्नमुहुत्त"मित्यादि, मतिज्ञान-श्रुतज्ञाना-ऽवधिज्ञाना-ऽवधिदर्शन-सम्यक्त्वौघ-क्षायिकसम्यक्त्वो-पशमसम्यक्त्वरूपासु सप्तमार्गणासु प्रत्याख्यानावरणचतुष्का-ऽप्रत्याख्यानावरणचतुष्करूपाणामष्टकषायाणामजघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्यकालोऽन्तर्मुहूर्तम्, प्रस्तुतमार्गणासप्तके चतुर्थपञ्चमगुणस्थानजघन्यकालस्याऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणत्वात्, न च भवप्रथमसमये जघन्यप्रदेशबन्धं विधाय द्वितीयसमयेऽजघन्यप्रदेशं बद्ध्वा तृतीयसमये मार्गणाया अपगमात्समयप्रमाणबन्धकालः प्राप्यत इति वाच्यम्, अपर्याप्ताऽवस्थायां प्रस्तुतमार्गणानामपगमाभावान्नाजघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्यकालः समयप्रमाण प्राप्यते ।

उपशमसम्यक्त्वमार्गणायामपि श्रेणितः प्रपततः कालं कृत्वा दिवि समुत्पन्नस्याऽन्तर्मुहूर्तात्प्राक्समयाद्यवस्थायां मार्गणाया अनपगमान्नोक्तरीत्याऽजघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्यकालस्समयः प्राप्यते, किन्त्वन्तर्मुहूर्तमेव । अत्राऽवधिज्ञानाऽवधिदर्शनमार्गणाद्वये समयप्रमाणजघन्यकायस्थितिमतेन तु कषायाऽष्टकस्य समयप्रमाणो जघन्यबन्धकालो बोद्धव्यः । क्षायिकसम्यक्त्वं विहाय शेषमार्गणाषट्केमनुष्यपञ्चकस्याऽजघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्यकालोऽन्तर्मुहूर्तम्, प्रस्तुतमार्गणागतानां देवनारकाणामेवाऽस्य नैरन्तर्येण बन्धकत्वात्तेषां च निरूक्तमार्गणायां जघन्यतोऽप्यन्तर्मुहूर्तमात्राऽवस्थानात्, भवप्रथमसमय एव जघन्यप्रदेशबन्धार्हत्वाच्च । अवधिज्ञान-दर्शनमार्गणयोर्मतद्वयेनाऽप्यन्तर्मुहूर्तप्रमाणो बन्धकालः प्राप्यते, देवनैरयिकाणां चतुर्थगुणस्थानजघन्यकालस्यान्तर्मुहूर्तप्रमाणत्वात्तानधिकृत्याऽवधिद्विकमार्गणाजघन्यकालस्य तथात्वात् । क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणायां "णवर"मित्यादिना विशेषं दर्शयति–सम्यग्दृशां तिर्यग्मनुष्याणां कार्मग्रन्थिकमतेन देवलोके तु वैमानिकदेवेष्वेवोत्पादात्तत्र च सौधर्मदेवस्याऽपि जघन्यस्थितेः पल्योपमप्रमाणत्वाज्जघन्यकालस्य च प्रस्तुतत्वेन न प्राप्यते देवमाश्रित्य नृगत्यादिपञ्चप्रकृतीनां जघन्यकालोऽतो देवं विहाय नारकमाश्रित्य कथितः । तद्यथा–क्षायिकसम्यग्दृष्टिर्जघन्यतो यावत्यां स्थितौ नैरयिकेषूत्पद्यते समयोनतावत्कालं यावदजघन्यप्रदेशबन्धः प्राप्यते, स चासन्नचतुरशीतिवर्षसहस्राणि भवतीति संभाव्यते,

विशेषनिर्णयाऽभावान्मूले तु मुकुलितरूपेणाऽभिधानं बोद्धव्यम् । मार्गणासप्तकेऽप्युक्तशेषाणां चतुः-षष्टीनामजघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्यकालस्समयः, कासाञ्चिदध्रुवबन्धित्वात्कासाञ्चित्तु श्रेणितोऽवरोहतस्तद्बन्धं प्रारभ्य कालकरणे देवेषूत्पद्यमानस्य जघन्यप्रदेशबन्धलाभादजघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्यकालस्य समयप्रमाणत्वं घटते ॥३४४ ३४५॥ अथाऽज्ञानद्विकादिमार्गणास्वाह—

दुअणाणअजयअणयणभवियरमिच्छामणेसु समयूणो ।
खुड्डभवोऽत्थि धुवाणं जिणस्स अजए मुहुत्तंतो ॥३४६॥

(प्रे०) "दुअणाणे" त्यादि, मत्यज्ञान-श्रुताज्ञाना-ऽसंयमा ऽचक्षुर्दर्शन-भव्या ऽभव्य-मिथ्यात्वा-ऽसंज्ञिरूपास्वष्टमार्गणासु सप्तचत्वारिंशद्ध्रुवबन्धिप्रकृतीनामजघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्यकालस्समयोनक्षुल्लकभवप्रमाणः, क्षुल्लकभवाऽऽयुष्कः सूक्ष्मलब्ध्यपर्याप्तो यो भवप्रथमसमये आसां जघन्य-प्रदेशबन्धं कृत्वा समयोनक्षुल्लकभव यावदजघन्यप्रदेशबन्धं च विधाय पुनर्द्वितीयभवप्रथमसमये जघन्यप्रदेशबन्धं विदधाति तं जीवमधिकृत्य जघन्यकालस्य लाभात् । तथाऽसंयमाऽचक्षुर्दर्शनभव्य मार्गणासु जिननाम्नो बन्धः संभवति, तत्र चाऽचक्षुर्दर्शनभव्यमार्गणयोर्जिननाम्नोऽजघन्यप्रदेश-बन्धस्यौघवज्जघन्यकालः समयमात्रः, असंयममार्गणायां च तस्याऽन्तर्मुहूर्तं भवति प्रस्तुतकालः । जिननामबन्धं प्रारभ्य समयान्तरे गुणान्तरस्य मार्गणान्तरस्यासंभवात् , उक्तशेषप्रकृतीनाममजघ-न्यप्रदेशबन्धस्य जघन्यकालस्समयः, अचक्षुर्दर्शनभव्यमार्गणयोरष्टषष्टिः शेषप्रकृतयः, शेषषण्मार्ग-णासु ताः षट्षष्टिप्रकृतयो बोद्धव्याः ॥१४६॥

अथ त्र्यशुभलेश्यामार्गणास्वजघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्यकालं दर्शयति--

थीणद्धितिगाणरहिअ धुवबंधीणं तिअसुहलेसासुं ।
भिन्नमुहुत्तं णेयो काऊअ जिणस्स वि हवेज्जा ॥३४७॥

(प्रे०) "थीणद्धि" इत्यादि, कृष्ण-नील-कापोतलेश्यात्रयमार्गणासु स्त्यानर्द्धित्रिका ऽनन्तानु-बन्धिचतुष्कवर्जानां चत्वारिंशद्ध्रुवबन्धिप्रकृतीनामजघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्यकालोऽन्तर्मुहूर्तं मार्गणा-जघन्यकायस्थितेरन्तर्मुहूर्तत्वात् ,स्त्यानर्द्धित्रिका ऽनन्तानुबन्धिचतुष्कस्य सास्वादनगुणस्थानमागतस्य समयान्तरे लेश्याऽन्तरगमनेन मार्गणापरावर्तनात्समयप्रमाणजघन्यबन्धकालस्य लाभात्प्रकृतिसप्तकस्य वर्जनम्। जिननाम्नोऽपि कापोतलेश्यामार्गणायामजघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्यकालोऽन्तर्मुहूर्तम् , मार्गणायां जिननाम्नो जघन्यबन्धकालो मनुष्याऽपेक्षया प्राप्यते, नारकाऽपेक्षया तस्याऽतिबृहत्प्रमाणत्वात् , जघन्य-प्रदेशबन्धस्य नारकस्य भवप्रथमसमय एव लाभात् । कृष्णनीललेश्यामार्गणयोस्तु जिननाम्नः परावर्त-मानजघन्ययोगस्थानस्थितस्य जघन्यप्रदेशबन्धस्वामित्वेन जघन्यप्रदेशबन्धद्वयाऽन्तराले समयमात्र-मजघन्यप्रदेशबन्धस्य लाभात्तस्य पृथग्निर्देशः । प्रकृतिबन्धजघन्यकालस्य तु मार्गणात्रयेऽप्यन्तर्मुहूर्तत्वे-

ऽपि कापोतलेश्यायां प्रकृतिबन्धजघन्यकालतुल्योऽजघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्यकालः प्राप्यते, न पुनर्नीलकृष्णलेश्ययोरपि । उक्तशेषाणामजघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्यकालः समयः, षट्पञ्चाशदध्रुवबन्धिप्रकृतीनां प्रकृतिबन्धकालस्य समयप्रमाणत्वात्समयप्रमाणो बन्धकालो भवति, स्त्यानर्द्धित्रिका-ऽनन्तानुबन्धिचतुष्कयोः सास्वादनमागतस्य समयाऽन्तरे लेश्यायाः परावर्तनात्समयमानः प्राप्यते, नील कृष्णलेश्याद्वये जिननाम्नश्चाऽपि समयप्रमाणकालः, भावना तु दर्शितेति ॥३४७॥

एतर्हि तेजोलेश्यामार्गणायामजघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्यकालो यासां समयतोऽधिकस्तासां तं दर्शयति—

तेऊअ मुहुत्तंतो पणपरघाइगसुराइपणगाणं ।
पणरहथीणद्धितिगाइवज्जधुवबंधिणीण भवे ॥३४८॥
उरलस्स दससहस्सा वासा.... ....

(प्रे०) "तेऊअ" इत्यादि, तेजोलेश्यामार्गणायां पराघातो-च्छ्वास-बादरत्रिकरूपाणां पञ्चानां तथा देवद्विक-वैक्रियद्विक-जिननामलक्षणानां पञ्चानां स्त्यानर्द्धित्रिकादिपञ्चदशवर्जानां द्वात्रिंशद्ध्रुवबन्धिप्रकृतीनां चाऽजघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्यकालोऽन्तर्मुहूर्तम्, तद्यथा—प्रस्तुतमार्गणाया जघन्यकायस्थितिस्तिर्यग्मनुष्याऽपेक्षयाऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणा, पराघातादिपञ्चकस्य प्रस्तुतमार्गणायां ध्रुवबन्धिकल्पत्वाद्देवगत्यादिपञ्चप्रकृतीनां ये बन्धकास्तैस्तासां निरंतरं बध्यमानत्वाद्ध्रुवबन्धिनीनां तु ध्रुवतया बध्यमानत्वाच्च मार्गणाजघन्यकायस्थितिप्रमाणोऽजघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्यकालो भवति, स चाऽन्तर्मुहूर्तं, लेश्याषट्कस्य जघन्यकायस्थितेरन्तर्मुहूर्तप्रमाणत्वात् । स्त्यानर्द्धित्रिका-ऽनन्तानुबन्धिचतुष्का-ऽप्रत्याख्यानावरणचतुष्क प्रत्याख्यानावरणचतुष्करूपाणां पञ्चदशानामजघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्यकालः समयप्रमाणो भवत्यतस्तद्वर्जनम्, यस्तेजोलेश्याको मनुष्यः संयमगुणस्थानकतः प्रपतन् सास्वादनगुणस्थाने समयमेकं प्रस्तुतलेश्यायामवस्थाय लेश्याऽन्तरं प्राप्नोति तस्य प्रस्तुतपञ्चदशप्रकृतीनां तेजोलेश्यामार्गणायां समयमितबन्धकालः प्राप्यत इति । औदारिकशरीरनाम्नो दशवर्षसहस्राणि, तेजोलेश्याकदेवस्य जघन्यभवस्थितेरेतावत्प्रमाणत्वात्प्रकृतिबन्धकालस्य तथात्वात् । अत्र सामान्यनिर्देशेऽपि व्याख्यानतः समयोनदशवर्षसहस्राणि । त्रिचत्वारिंशत उक्तत्वात्तद्वर्जानां शेषाणां पञ्चषष्टेः प्रकृतीनामजघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्यकालस्समयः, स्त्यानर्द्धित्रिकादिपञ्चदशानां सास्वादनाऽपेक्षया समयमात्रकालस्य लाभाच्छेषाणामध्रुवबन्धित्वात्समयोऽजघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्यकालः प्राप्यते । इमाः पुनः शेषप्रकृतयः—वेदनीयद्वय गोत्रद्वय-वेदत्रय हास्यादियुगलद्वय तिर्यग्द्विक-मनुष्यद्विकै-केन्द्रिय-पञ्चेन्द्रियजात्यौ-दारिकाङ्गोपाङ्गा-ऽऽहारकद्विक संहननषट्क- संस्थानषट्क खगतिद्वया-ऽऽतपो द्योत-त्रस-स्थावर-स्थिरषट्काऽस्थिरषट्करूपाः पञ्चाशदध्रुवबन्धिप्रकृतयः, स्त्यानर्द्धित्रिकादयः पञ्चदश ध्रुवबन्धिप्रकृतयश्च ॥३४८॥

अथ पद्मलेश्यामार्गणायां शुक्ललेश्यामार्गणायां च प्राह—

....................पम्हाअ खलु मुहुत्तंतो ।
धुवबंधिदुतीसपणिंदिआइसगपणसुराईणं ॥३४९॥
उरलदुगस्स दुजलही अहिया सुक्काअ होइ मिच्छस्स ।
भिन्नमुहुत्तं णरुरलदुगाण होइ अयराऽट्ठार ॥३५०॥

(प्रे०) "पम्हाअ" इत्यादि, पद्मलेश्यामार्गणायां स्त्यानर्द्धित्रिका-ऽनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानावरण-प्रत्याख्यानावरणकषायरूपाः पञ्चदशप्रकृतीर्वर्जयित्वा शेषाणां द्वात्रिंशद्ध्रुवबन्धिप्रकृतीनां पञ्चेन्द्रियजाति-पराघातो- च्छ्वास-त्रसचतुष्करूपाणां सप्तानां देवद्विक-वैक्रियद्विकजिननाम्नां चाऽजघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्यकालोऽन्तर्मुहूर्तम्, तिर्यग्मनुष्याऽपेक्षया मार्गणाजघन्यकायस्थितेरन्तर्मुहूर्तप्रमाणत्वेन प्रकृतिबन्धजघन्यकालस्य तथात्वाद्भावना तु तेजोलेश्यावद्विधेया, पञ्चेन्द्रियत्रसनाम्नोरत्र ध्रुवबन्धिकल्पत्वेनाऽन्तर्मुहूर्तकालोऽवाप्यते, न तु तेजोलेश्यावत्समयः । तथौदारिकद्विकस्याऽजघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्यकालस्साधिकसागरोपमद्वयं प्रस्तुतमार्गणागतानां मनुष्यतिरश्चामस्य बन्धाऽभावात्पद्मलेश्याकदेवानां जघन्यकायस्थितेः पल्योपमाऽसंख्येयभागाऽधिकसागरोपमद्वयप्रमाणत्वात् । एवं षट्चत्वारिंशतः काल उक्तः, शेषाणां बन्धप्रायोग्याणामेकोनषष्टेः प्रकृतीनामजघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्यकालस्समयः, हेत्वादयस्तु तेजोलेश्यामार्गणावद्विधेयाः । शुक्ललेश्यामार्गणायां प्राह–"सुक्काअ" इत्यादि, शुक्ललेश्यामार्गणायां मिथ्यात्वस्याऽजघन्यप्रदेशबन्धस्यजघन्यकालोऽन्तर्मुहूर्तम्, उपरितनगुणस्थानकेभ्य आगतानामन्तर्मुहूर्तमनवस्थाय लेश्याऽन्तरपरावर्तनाऽभावात्तथैवाऽन्तर्मुहूर्तमनवस्थाय मरणाऽभावेन जघन्यप्रदेशबन्धाऽभावाच्च । तथा मनुष्यद्विकौदारिकद्विकयोरजघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्यकालः समयोनाष्टादशसागरोपमाणि, प्रस्तुतमार्गणायां निरुक्तचतुःप्रकृतीनां देवानामेव बन्धकत्वात्तेषां च जघन्यस्थितेः कार्मग्रन्थिकमतेनाऽष्टादशसागरोपमप्रमाणत्वात्, प्रस्तुतमार्गणागतदेवानां निरुक्तानां ध्रुवबन्धिकल्पत्वाद्भवप्रथमसमय एव जघन्यप्रदेशबन्धार्हत्वाच्च । उक्तशेषाणां सप्तनवतिप्रकृतीनामजघन्यप्रदेशबन्धस्य प्रस्तुतकालः समयः, तत्रैकत्रिंशद्ध्रुवबन्धिप्रकृतीनां पञ्चेन्द्रियजाति-पराघातो-च्छ्वास-त्रसचतुष्करूपाणां सप्तानां जिननाम्नश्चोपशमश्रेणितोऽवरोहतस्तत्तत्प्रकृतीनां समयमेकमजघन्यप्रदेशबन्धं निर्वर्त्य कालं कृत्वा दिवि समुत्पन्नस्य भवप्रथमसमये मार्गणाप्रायोग्य जघन्ययोगस्थानं प्राप्य जघन्यप्रदेशबन्धं विदधतः प्रस्तुतकालः समयप्रमाणः प्राप्यते, नाऽन्यरीत्या । स्त्यानर्द्धित्रिकादिपञ्चदशकस्य संयमतः प्रपततः सास्वादने समयाऽनन्तरं लेश्यायाः परावर्तनात्समयप्रमाणो बन्धकालो बोद्धव्यः । देवद्विक वैक्रियद्विकयोरुपशमश्रेणिमऽवरोहतस्समयमात्रं बद्ध्वा कालकरणेन देवलोके समुत्पन्नस्य प्रकृतिबन्धस्यैव विच्छे-

दात्समयप्रमाणो बन्धकालः प्राप्यते । शेषाणामेकोनचत्वारिंशत्प्रकृतीनामजघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्यकालः समयप्रमाणोऽध्रुवबन्धित्वादवसेयः ।

शेषैकोनचत्वारिंशत्प्रकृतयः पुनरिमाः–वेदनीयद्वय-वेदत्रय-हास्यादियुगलद्वय-गोत्रद्वया--ऽऽहारकद्विकसंहननषट्क–संस्थानषट्कखगतिद्वय---स्थिरषट्का--ऽस्थिरषट्करूपाः ॥३४९-३५०॥

सम्प्रति क्षयोपशममार्गणायामजघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्यकालमाह—

देवविउव्वदुगाणं विण्णेयो वेअगे मुहुत्तंतो ।
मिच्छत्तस्साहारे हवेज्ज सजहण्णकायठिई ॥३५१॥

(प्रे०) 'देवे'त्यादि, क्षयोपशमसम्यक्त्वमार्गणायां देवद्विक-वैक्रियद्विकरूपाणां चतुर्णां प्रकृतीनामजघन्यप्रदेशबन्धस्य प्रस्तुतबन्धकालोऽन्तर्मुहूर्तम्, आसां जघन्यप्रदेशबन्धस्य भवस्य प्रथमसमये देवनैरयिकेभ्यश्च्युतस्य तद्बन्धप्रथमसमये एव देवप्रायोग्यैकोनत्रिंशतं बध्नतो मनुष्यस्य भावात्, न प्राप्यते जघन्यप्रदेशबन्धद्वयान्तराले समयमात्रोऽजघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्यकालः, अतः क्षयोपशमसम्यक्त्वजघन्यकायस्थितिप्रमाणो देवद्विकादीनामजघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्यकालोऽन्तर्मुहूर्तम्। उक्तशेषाणां त्रिसप्ततिप्रकृतीना प्रस्तुतकालः समयप्रमाणः, कृतकरणो द्विसमयमात्रवेद्यसम्यक्त्वमोहनीयेऽवशिष्टे कालं कृत्वा देवेषूत्पन्न आहारकद्विकं विहाय शेषाणामेकसप्ततेर्जघन्यप्रदेशबन्धं कृत्वा द्वितीयसमयेऽजघन्यप्रदेशबन्धं करोति तदनन्तरं तृतीयसमये क्षायिकसम्यक्त्वस्य लाभान्मार्गणाया विच्छेदात्, आहारकद्विकस्य जघन्यप्रदेशबन्धद्वयाऽन्तराले समयमात्रमजघन्यप्रदेशबन्धस्य लाभात् । सातादिद्वादशकस्य परावर्तमानबन्धतयाऽजघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्यकालस्समयः । अथाऽऽहारकमार्गणायां प्राह-"**मिच्छत्ते**"त्यादि, मिथ्यात्वस्य जघन्यकालो जघन्यकायस्थितिः–त्रिसमयोनक्षुल्लक भवः, चतुःसामयिकविग्रहेणोत्पन्नस्य क्षुल्लकभवाऽऽयुष्कस्य तत उद्वृत्य विग्रहेणोत्पद्यमानस्य निरुक्तकालस्य लाभात्। सम्यक्त्वगुणेभ्योऽवतीर्य मिथ्यात्वगुणस्थानके स्वल्पकालं स्थित्वा कालं प्राप्य विग्रहेणोत्पद्यमानस्य, यद्वा पुनः सम्यक्त्वं विन्दतः प्रस्तुतमार्गणागतमिथ्यात्वगुणस्थानककालस्य निरुक्तकालतोऽधिकत्वान्न तद्ग्रहणम् । उक्तशेषाणां पञ्चदशोत्तरशतप्रकृतीनामजघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्यकालः समयः, ध्रुवबन्ध्यादीनां श्रेण्यादितोऽवरोहतः समयमात्रं तत्तद्बन्धं विधाय कालं कृत्वा विग्रहगत्या देवलोकेषूत्पद्यमानस्य प्रस्तुतमार्गणाया विच्छेदादध्रुवबन्धिनीनामध्रुवबन्धित्वात्समयप्रमाणो बन्धकालो बोद्धव्यः । एवं ग्रन्थकृता नरकौघादिषु यासु यासां समयतोऽधिकोऽजघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्यकालस्तासु स दर्शितः, वृत्तौ च तासु शेषप्रकृतीनां समयप्रमाणः बन्धकालः 'अवक्कखमाणाणे 'त्याद्यतिदेशवशतो निरूपितः । यासु पुनस्सर्वासां समयप्रमाणोऽजघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्यकालस्तासु तत् "अवक्कखमाणाणे" त्याद्यतिदेशत एव बोद्धव्यः, यासु सर्वासामजघन्य-

प्रदेशबन्धस्य जघन्यकालस्समयः प्राप्यते, ता मार्गणाः पुनरिमाः—पञ्चमनोयोग-पञ्चवचनयोग-काययोगौघौदारिक-वैक्रिया-ऽऽहारक-कार्मणकाययोगाऽपगतवेद-लोभ-मनःपर्यवज्ञान-विभङ्गज्ञान-संयमौघ-सामायिक-च्छेदोपस्थापनीय-परिहारविशुद्धि-सूक्ष्मसंपराय-देशविरति-मिश्र-सास्वादना-ऽनाहारकरूपा अष्टाविंशतिर्मार्गणाः। अत्र कासांचिन्मार्गणानां जघन्यकायस्थितेस्समयमात्रत्वात्, कासुचिद्बन्धादवतीर्य बन्धद्वितीयसमये कालकरणादन्यथा वा मार्गणायाः परावर्तनात्, कासुचित्परावर्तमानजघन्ययोगस्थानस्थितस्य जघन्यप्रदेशबन्धस्य स्वामित्वेन जघन्यप्रदेशबन्धद्वयाऽन्तराले समयमात्रमजघन्यप्रदेशबन्धस्य लाभात्। विभङ्गज्ञानमार्गणायां तु मनुष्यतिरश्चां विभङ्गज्ञानोत्पत्त्यनन्तरं समयाऽन्तरे तदपगमस्याऽभ्युपगमे मिथ्यात्वस्य समयप्रमाणबन्धकालः प्राप्यते, एतच्च स्वमते विज्ञेयम्। अन्यमते तु मिथ्यात्वगुणस्थानक उत्पन्नविभङ्गज्ञानस्याऽन्तर्मुहूर्तात्प्राक् तदनपगमेऽपि तन्मतेऽपर्याप्ताऽवस्थायां प्रस्तुतमार्गणाया अभावेन जघन्यप्रदेशबन्धद्वयाऽन्तराले समयमात्राऽजघन्यप्रदेशबन्धस्य लाभात्। षट्चत्वारिंशद्ध्रुवबन्धिप्रकृतीनां देवनारकाणां समयप्रमाणो बन्धकालः सम्यक्त्वतः प्रपततः सास्वादने समयमात्रमवस्थाय कालकरणेन मार्गणाया विच्छेदात्समयप्रमाणो बन्धकालो मतद्वयेन प्राप्यते। अध्रुवबन्धिप्रकृतीनां त्वध्रुवबन्धित्वादेव समयो बन्धकालो भवति ॥३५१॥ एतर्हि मार्गणास्वायुर्वर्जानामजघन्यप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टकालं दर्शयन्नाह—

सव्वासु मग्गणासुं सप्पाउग्गाण आउवज्जाणं।
अलहुपएसस्स गुरू अगुरुपएसव्व विण्णेयो ॥३५२॥
णवरं धुवबंधीणं तिरियदुगोरालणीअगोआणं।
णेयो असंखलोगा उअ सेढीए असंखंसो ॥३५३॥
तिरिये एगिंदियतस्सुहमेसुं कायजोगणपुमेसुं।
दुअणाणाजयअणयणभवियेयरमिच्छअमणेसुं ॥३५४॥
सेढिअसंखंसो पणकायणिगोएसु धुवुरलाण तहा।
तिरियजुगलणीआण वि विण्णेयो अग्गिवाऊसुं ॥३५५॥

(प्रे) "सव्वासु" इत्यादि, सामान्यतस्सर्वासु मार्गणास्वजघन्यप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टकालो वक्ष्यमाणाऽपवादस्थानं विहायाऽनुत्कृष्टप्रदेशबन्धोत्कृष्टकालवद्भवति।

अयं भावः—या मार्गणाः श्रेणेरसंख्येयभागतो हीनकायस्थितिकालप्रमाणास्तासु प्रकृतिबन्धज्येष्ठकालस्याऽनुत्कृष्टस्थितिबन्धज्येष्ठकालस्याऽजघन्यप्रदेशबन्धज्येष्ठकालस्य च समानत्वात्तथानिर्देशः, सर्वासु श्रेण्यसंख्येयभागप्रमाणयोगस्थानानां भावाज्ज्येष्ठयोगस्थानप्राप्तिवज्जघन्ययोगस्थानप्राप्तेरपि श्रेण्यसंख्येयभागतोऽर्वागनियतत्वात्। श्रेणेरसंख्येयभागतो हीनकायस्थितिका मार्गणाः पुनरिमाः—

अष्टनरकमार्गणाः, चतस्रः पञ्चेन्द्रियतिर्यग्मार्गणाः, चत्वारो मनुष्यभेदाः, त्रिंशद्देवभेदाः, सूक्ष्म-पर्याप्ताऽपर्याप्त बादरौघ तत्पर्याप्ताऽपर्याप्तभेदेन पञ्चैकेन्द्रियभेद-नवविकलाक्षभेद-त्रिपञ्चेन्द्रियभेदाः, एकेन्द्रियभेदवत्पञ्चपृथ्वीकायभेदाः, पञ्चाप्कायमार्गणाः, पञ्चतेजस्कायमार्गणाः, पञ्चवायुकायमार्गणाः, पञ्चसाधारणवनस्पतिकायमार्गणाः, तिस्रः प्रत्येकवनस्पतिकायमार्गणाः, तिस्रः त्रसकायमार्गणाः, काययोगवर्जमष्टदशयोगमार्गणाः, नपुंसकवेदवर्जत्रयो वेदमार्गणाः, चत्वारः कषायाः, चत्वारि ज्ञानानि, विभंगज्ञानम्, संयमौघ-सामायिक-च्छेदोपस्थानसंयम–परिहारविशुद्धिसंयम सूक्ष्मसंपराय-देशविरतिरूपाः पट्संयममार्गणाः, चक्षुर्-अवधिदर्शनभेदौ, पट्लेश्याः, मिथ्यात्ववर्जषड्सम्यक्त्वमार्गणाः संज्ञ्या-हारका-ऽनाहारकमार्गणाश्चेति समुदिताः पट्चत्वारिंशदुत्तरशतमार्गणाः । तथा सूक्ष्मपृथ्व्यो-घादिमार्गणापञ्चके श्रेण्यसंख्येयभागतो मार्गणायाः कायस्थितेर्दीर्घत्वेऽपि यथाऽनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्य श्रेण्यसंख्येयभागप्रमितः कालस्तथाऽजघन्यस्याऽपि, इति न तत्राऽपवादविषयता, अतश्शेषैकोन-विंशतिमार्गणास्वपवादपदानि दर्शयति–"णवर" मित्यादि, तिर्यग्गत्यौघै केन्द्रियौघ-सूक्ष्मैकेन्द्रियौघ-काययोगौघ-नपुंसकवेद-मत्यज्ञान-श्रुताऽज्ञाना-ऽसंयमा ऽचक्षुर्दर्शन भव्या ऽभव्य मिथ्यात्वासंज्ञिरूप-त्रयोदशमार्गणासु सप्तचत्वारिंशद्ध्रुवबन्धिप्रकृतीनां तिर्यग्द्विकौ-दारिकशरीर-नीचैर्गोत्ररूपाणाञ्चाऽजघन्य-प्रदेशबन्धस्योत्कृष्टकालोऽसंख्येयलोकाकाशप्रदेशराशिप्रमितसमयाः, मतान्तरे पुनश्श्रेणेरसंख्येय-भागगताऽऽकाशप्रदेशप्रमितसमयाः, येषां मते सूक्ष्मलब्ध्यपर्याप्तनिगोदजीवानामेव जघन्यप्रदेशबन्ध-स्वामित्व तेषां मतेऽसंख्येयलोकप्रमाणोऽजघन्यप्रदेशस्योत्कृष्टकालो विज्ञेयः, पृथ्व्यादीनामसंख्येय-लोकप्रमाणकायस्थितिमत्वात्तेषां च तन्मते जघन्यप्रदेशबन्धस्याऽभावात्, ये पुनः सूक्ष्मनिगोदव-त्सूक्ष्मपृथ्व्यादीनां जघन्यप्रदेशबन्धं स्वीकुर्वन्ति तेषामभिप्रायेण तु श्रेण्यसंख्येयभागकाले व्यतीते नियमतो जघन्यप्रदेशबन्धलाभात्प्रकृतिबन्धकालस्याऽनुत्कृष्टप्रदेशबन्धकालस्य चाऽसंख्येयलोकादि-मितत्वेऽप्यजघन्यप्रदेशबन्धस्य न श्रेण्यसंख्येयभागतोऽधिककालस्य संभवः, अतोऽपवादस्य दर्शनम् त्रयोदशस्वपि मार्गणासूक्तशेषप्रकृतीनां त्वनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्य ज्येष्ठकालवदजघन्यप्रदेशबन्धस्य ज्येष्ठ-कालो भवति । तथा पृथ्वीकायौघा-ऽप्कायौघ- तेजःकायौघ वायुकायौघ वनस्पतिकायौघ-निगोदौघ-रूपासु पट्सु मार्गणासु सप्तचत्वारिंशद् ध्रुवबन्धिप्रकृतीनामौदारिकशरीरनाम्नश्च तथा तेजःकायौघ वायुकायौघमार्गणाद्वये तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्रयोरप्यजघन्यप्रदेशबन्धस्य ज्येष्ठबन्धकालः श्रेण्यसंख्येयभाग-प्रमाणो भवति, अत्र सूक्ष्मनिगोदस्य सूक्ष्मपृथ्व्यादीनां चैकत्राऽप्रवेशान्न मतद्वयं किन्तु श्रेण्यसंख्ये-यभाग एव, पृथ्वीकायौघादिषण्मार्गणासु बादरजीवानां प्रवेशेऽपि तेषां कालस्याऽल्पत्वेन सूक्ष्म-पृथ्व्यादिष्वागमनादुत्कृष्टतश्श्रेण्यसंख्येयभागप्रमाणकाले व्यतीतेऽवश्य जघन्यप्रदेशबन्धः प्राप्यते । उक्तषण्मार्गणासु दर्शितभिन्नप्रकृतीनामजघन्यप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टकालोऽनुत्कृष्टप्रदेशबन्धोत्कृष्टकालवद् बोद्धव्यस्स चाऽन्तर्मुहूर्तम् । गतं मार्गणास्वपि जघन्याऽजघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्योत्कृष्टभेदेन द्विविध-कालप्ररूपणं, समाप्ते च तस्मिन् गतमेकजीवाश्रयं कालद्वारम् ॥३५२ ३५५॥

॥ इति श्री बन्धविधाने उत्तरप्रकृतिप्रदेशबन्धे एकजीवाश्रित पञ्चम कालद्वारं समाप्तम् ॥

॥ षष्ठमन्तरद्वारम् ॥

साम्प्रतमेकजीवाश्रयमन्तरद्वारं विवरिषुः प्रथममोघतः प्राह—

सव्वाण लहुं समयो जेट्ठपएसस्स अंतरं णेयं ।
तित्थस्स भवे जेट्ठं तेत्तीसा सागराऽब्भहिया ॥३५६॥

(प्रे०) "सव्वाणे"त्यादि, ओघप्ररूपणायां विंशत्युत्तरशतप्रकृतीनां ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्य जघन्यमन्तरं समयः, कथम् ? उत्कृष्टप्रदेशबन्धद्वयान्तराले समयमेकमऽनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्य लाभात्, अयं भावः-ओघतस्तथा यासु मार्गणासु यासां प्रकृतीनामुत्कृष्टप्रदेशबन्धकालः प्रकृष्टतः समयद्वयं प्राप्यते, तत्र तासां प्रकृतीनामुत्कृष्टप्रदेशबन्धद्वयान्तराले समयमेकमनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्य लाभेन ज्येष्ठप्रदेशबन्धान्तरं जघन्यत समयप्रमाणं प्राप्यत इति नियमः । प्रस्तुते सर्वासां प्रकृतीनामौघिकोत्कृष्टप्रदेशबन्धः संज्ञिपञ्चेन्द्रियपर्याप्तकस्य भवति, तस्य च प्रकृष्टयोगस्थानस्य प्रकृष्टतः समयद्वयमवस्थानादुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्य जघन्याऽन्तरं समयप्रमाणं भवति । अथोत्कृष्टप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टाऽन्तरं दर्शयति— "तित्थस्से" त्यादि, जिननाम्न उत्कृष्टप्रदेशबन्धस्य ज्येष्ठान्तरं साधिकत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि, एतत्प्रकृतिबन्धकस्य संसारकालस्यैवोत्कृष्टतः साधिकत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमप्रमाणत्वेन ततोऽधिककालस्याऽसंभवादस्य बन्धप्रारम्भे प्रान्ते च उत्कृष्टप्रदेशबन्धकाऽपेक्षया समयद्वयोनप्रकृतिबन्धोत्कृष्टकालप्रमितमुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टाऽन्तरं प्राप्यते, तच्च देशोनपूर्वकोटिद्वयाऽभ्यधिकानि त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि ॥३५६॥ अथोक्तेतरासामुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टाऽन्तर दर्शयति—

सेसाण जाण सामी सम्माइविसेसलद्धिसंजुत्तो ।
तेसिं चालीसाए देसूणो अद्धपरिअट्टो ॥३५७॥
होइ असंखपरट्टा एगूणासीइसेसपयडीणं ।

(प्रे०) "सेस.णे"त्यादि; यासां प्रकृतीनां सम्यग्दृष्ट्यादयो-ऽविरतसम्यक्त्वादिगुणभाजो ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्य स्वामिनो निरूपितास्तासां प्रकृतीनामुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टाऽन्तरं देशोनार्धपुद्गलपरावर्तप्रमाणं भवति, सकृत्प्राप्तसम्यक्त्वस्य जीवस्य चातुर्गतिकसंसरणकालस्योत्कृष्टतो देशोनार्धपुद्गलपरावर्तप्रमाणत्वेन सम्यक्त्वादिगुणाऽन्तरस्य तदधिकत्वाऽसंभवात् । ताः पुनश्चतुर्थादिदशमान्तगुणस्थानेषु ज्येष्ठप्रदेशबन्धप्रायोग्याः प्रकृतयः पुनरेताः—ज्ञानावरणपञ्चकं दर्शनावरणषट्कम्, सातवेदनीयम्; अप्रत्याख्यानावरण-प्रत्याख्यानावरण संज्वलनचतुष्करूपा द्वादशकषायाः, हास्यषट्कम्, पुरुषवेदा-ऽऽहारकद्विक-यशःकीर्तिनामोच्चैर्गोत्राऽन्तरायपञ्चकरूपाश्चत्वारिंशत् । शेषाणां प्रकृतीनामुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्य ज्येष्ठान्तरमावलिकाऽसंख्येयभागगतसमयप्रमाणाः पुद्गलपरावर्ताः,

तासां ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्य संज्ञिजीवानां स्वामित्वात्, संज्ञित्वस्य ज्येष्ठाऽन्तरमसंज्ञिज्येष्ठकायस्थित्या-तुल्यम् तच्चोक्तमानमिति । अत्राऽसातवेदनीयादीनां कासाञ्चित्प्रकृतीनां सम्यग्दृष्टीनां ज्येष्ठ-प्रदेशबन्धस्वामित्वेऽपि मिथ्यादृष्टीनामपि तत्स्वामित्वात् मिथ्यादृष्ट्यपेक्षयोक्ताऽन्तरस्य घटमान-त्वान्न काचिदसङ्गतिः । ताः पुनरेकोनाशीतिप्रकृतय इमाः—स्त्यानर्द्धित्रिकाऽसातवेदनीया-ऽनन्ता-नुबन्धिचतुष्क-स्त्रीवेद-नपुंसकवेद-मिथ्यात्वा- ऽऽयुश्चतुष्क नीचैर्गोत्र गतिचतुष्क-जातिपञ्चकौ-दारिक-द्विक-वैक्रियद्विक-तैजसकार्मणशरीर-संहननषट्क-संस्थानषट्क-खगतिद्वय-वर्णचतुष्कचतुरानुपूर्व्य-गुरुलघूपघात-पराघातो-च्छ्वास-निर्माणा-ऽऽतपो-द्योतनाम-त्रसनवक-स्थावरदशकरूपा एकोनाशीति-प्रकृतयः। ।३५७।।

अथाऽनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्य जघन्योत्कृष्टभेदेन द्विविधमन्तरं दर्शयति—

सव्वाण लहुं समयो अगुरुपएसस्स विण्णेयं ॥३५८॥
बत्तीससागरसयं जेट्ठं मिच्छाइपंचवीसाए ।
मज्झट्ठकसायाणं कोडी पुव्वाण देसूणा ॥३५९॥
होइ असंखपरट्टा णिरयणरसुराउछणिरयाईणं ।
तिरियाउस्स पुहुत्तं जलहिसयाणं मुणेयव्वं ॥३६०॥
तेवट्ठिसागरसयं तिरियाइतिगस्स णरदुगुच्चाणं ।
लोगाऽसंखा अहियं पल्लतिगं तिवइराईणं ॥३६१॥
पणसीइसागरसयं णवायवाईण अद्धपरिअट्टो ।
आहारदुगस्सूणो सगवण्णाए मुहुत्तंतो ॥३६२॥

(प्रे०) "सव्वाणे"त्यादि, विंशत्युत्तरशतप्रकृतीनामनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्य जघन्याऽन्तरं समयः प्राप्यतेऽनुत्कृष्टप्रदेशबन्धद्वयाऽन्तराले समयमात्रमुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्य भावात्, अध्रुवबन्धि-न्यादीनां प्रकृतिबन्धजघन्याऽन्तरस्य समयप्रमाणत्वात्, तदपेक्षयाऽपि तासामध्रुवबन्धिन्यादीनां समयमात्रमनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्य जघन्याऽन्तरं बोद्धव्यम् । अधुना ज्येष्ठान्तरं दर्शयति-"बत्तीसे" त्यादि, मिथ्यात्वादिपञ्चविंशतिप्रकृतीनामनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टाऽन्तरं द्वात्रिंशदभ्यधिकं साग-रोपमशतं, मिथ्यात्वगुणस्थानाऽन्तरस्य तावन्मात्रत्वात्, यावत्प्रकृतिबन्धाऽन्तरं तावत्समयचतु-ष्केन समधिकं वाऽनुत्कृष्टप्रदेशबन्धान्तरं प्राप्यते । मिथ्यात्वादयः पञ्चविंशतिप्रकृतयः पुनरिमाः—मिथ्यात्व-स्त्यानर्द्धित्रिकाऽनन्तानुबन्धिचतुष्क-स्त्रीवेद-नपुंसकवेदाऽऽद्यवर्जसंहननपञ्चका--ऽऽद्यवर्ज-संस्थानपञ्चक-कुखगति दुर्भगत्रिक नीचैर्गोत्ररूपाः । अत्र मिथ्यात्वस्त्यानर्द्धित्रिका-ऽनन्तानुबन्धि-चतुष्क स्त्रीवेदव..नां षोडशप्रकृतीनां पल्योपमत्रयाऽभ्यधिकं बोध्यम्, प्रथमयुगलिकभवेऽन्तर्मुहूर्ता-

दूर्ध्वमासां बन्धाऽभावात्, मिथ्यात्वादीनां नवानां बन्धार्हत्वात्। मिथ्यात्वाद्यष्टप्रकृतीनां नव्यशतकाद्यभिप्रायेण पूर्वकोटीपृथक्त्वाऽभ्यधिकम् द्वात्रिंशत्सागरोपमशतम्, जीवसमासाऽवचूर्याद्यादेशेन तु मिथ्यात्वगुणस्थानाऽन्तरस्य देशोनद्वात्रिंशत्सागरोपमशतप्रमाणत्वात्, तन्मते निरुक्तानामष्टानामपि देशोनता बोध्या। तथा "मज्झे" त्यादि, अनन्तानुबन्धि-संज्वलनकषाययोर्मध्यवर्तित्वात्प्रत्याख्यानावरणाऽप्रत्याख्यानावरणरूपाणामष्टानां मध्यमकषायाणां देशोनपूर्वकोटीप्रमाणं प्रस्तुताऽन्तरं भवति, संयमकालस्य तावन्मात्रत्वेन प्रकृतिबन्धाऽन्तरस्य तथात्वात्। तथा "होइ असंखपरट्टा" इत्यादि, नरकद्विक-देवद्विक वैक्रियद्विकरूपाणां षण्णां नरकायुर्देवायुर्मनुष्यायुःप्रकृतीनां चाऽनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्य ज्येष्ठाऽन्तरमावलिकाया असंख्येयभागगतसमयप्रमाणा असंख्येयाः पुद्गलपरावर्ताः, एकेन्द्रियमध्ये स्वज्येष्ठकायस्थितिं यावन्निवसतां निरुक्तप्रकृतीनां बन्धाऽभावेन प्रकृतिबन्धाऽन्तरस्य तावन्मात्रत्वात्, अत्रापि प्रकृतिबन्धाऽन्तरकालतोऽनुत्कृष्टप्रदेशबन्धाऽन्तरकाले-प्रकृतिबन्धान्तरप्रारम्भात्प्राक्तत्पर्यवसानोत्तरं चेति प्रतिपक्षज्येष्ठप्रदेशबन्धप्रयुक्तं समयचतुष्केणाऽधिक्यं यथासम्भवं विज्ञातव्यम्। तथा "तिरियाउस्से" त्यादि, तिर्यगायुषः सागरोपमशतपृथक्त्वं प्रस्तुतबन्धस्य ज्येष्ठाऽन्तरं भवति, भवभ्रमणकाले प्रतिजीवं तिर्यग्गतेर्ज्येष्ठाऽन्तरस्य श्रीजीवाजीवाभिगमसूत्रे तावत्प्रमाणस्य प्रतिपादनात्, अयं भावः–तिर्यग्गतित उद्वृत्तः शेषगतित्रये परिभ्रमणेन सागरोपमशतपृथक्त्वमेव कालं निर्वाहयति, तदूर्ध्वं निश्रेयसाऽनवाप्तौ तिर्यगेव भवति, न तत्तिर्यगायुर्बन्धमन्तरेण संभवति, तिर्यगायुर्बन्धे सति नियमतस्तदीयानुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्याऽपि बन्धभावात्, तथाच यावत्तिर्यग्गतेरन्तरं ततः किञ्चित्समधिकं तिर्यगायुषो बन्धाऽन्तरं भवति, तदेव चतुःसमयाऽधिकं प्रस्तुतबन्धाऽन्तरं भवति। "तेवट्ठि" इत्यादि, तिर्यग्द्विको-द्योतनामप्रकृतित्रयस्य त्रिषष्ट्यधिकं सागरोपमशतं प्रस्तुतबन्धस्य ज्येष्ठाऽन्तरं भवति, आसां तिसृणां प्रकृतिबन्धाऽन्तरस्याऽपि तथात्वात्, अन्तर्मुहूर्तप्रमितमिश्रगुणस्थानाऽन्तरितषट्षष्टिसागरोपमद्वयप्रमाणसम्यक्त्वकाले नवमग्रैवेयकसुरसत्कैकत्रिंशत्सागरोपमकालस्य प्रवेशात्त्रिषष्ट्यधिकसागरोपमशतं भवति। तथा "नरे" त्यादि, मनुष्यद्विको च्चैर्गोत्ररूपप्रकृतित्रयस्याऽनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्य ज्येष्ठाऽन्तरमसंख्येयलोकाकाशप्रमितक्षेत्रेषु यावन्त आकाशप्रदेशास्तावन्तः समयाः, तेजःकायवायुकायमध्ये निवसतां निरुक्तप्रकृतीनां बन्धाऽभावात् प्रकृतिबन्धाऽन्तरस्याऽपि तथात्वात्। "अहिय" मित्यादि, वज्रर्षभनाराचसहननौदारिकद्विकरूपप्रकृतित्रयस्य साधिकपल्योपमत्रयं=अन्तर्मुहूर्तोनपूर्वकोटेस्तृतीयभागेनाऽभ्यधिकं पल्योपमत्रयमनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टाऽन्तरं भवति तावत्कालं सुरद्विकवैक्रियद्विकयोर्बन्धस्य निरन्तरं सद्भावेन प्रकृतिबन्धाऽन्तरस्य तथात्वात्, प्रकृतिबन्धाऽन्तरतः प्रस्तुतबन्धाऽन्तरं साधिकमवसातव्यम्। "पणसीई" त्यादि, जातिचतुष्क स्थावरचतुष्का-ऽऽतपनामरूपाणां नवानामनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्य ज्येष्ठं बन्धाऽन्तरं पञ्चाशीत्यभ्यधिकं सागरोपमशतं सातिरेकं भवति, तत्प्रकृतिबन्धाऽन्तरस्य तथा-

त्वात्, षष्ठनरकसत्कस्य प्रथमभवस्य त्रिषष्ट्यधिकसागरोपमकालात्प्राक्प्रगणनात् निरुक्तकालो भवति, एतच्च पूज्यैः श्रीमद्देवेन्द्रसूरिभिर्नव्यशतकनामकपञ्चमकर्मग्रन्थवृत्तौ भावितं। न च तत्र 'पणिंदिसु अबंधठिइ परमा' इत्यनेन पञ्चेन्द्रियाऽवस्थागतानामेवाऽबन्धस्थितिर्दर्शिता प्रस्तुते त्वोघप्ररूपणाया भावादेकेन्द्रियादिजीवानां प्रवेशात्ततोऽधिकोऽबन्धकालः प्रकृतिबन्धाऽन्तरं च संभवति तत्कथमेतावदेव दर्शितमिति वाच्यम्, सास्वादनाऽवस्थां मुक्त्वैकेन्द्रियेषु विकलाक्षेषूत्पद्यमानानां प्राग्भवचरमाऽन्तर्मुहूर्ते नियमतो यथार्हमेकेन्द्रियजात्यादिप्रकृतीनां बन्धभावान्निरुक्ताऽन्तरतोऽपि न्यूनत्वं स्यात्, अपरञ्चैकेन्द्रियादिषूक्तप्रकृतीनां बन्धाऽन्तरमुत्कृष्टतोऽप्यन्तर्मुहूर्तम्, तदपि संज्ञिषु परावर्तमानभावेन बध्यमानानामासां यावज्ज्येष्ठान्तरं भवति ततोऽपि संख्येयगुणहीनमिति कृत्वा न तदधिकृतम्। "अद्धपरिअट्टो" इत्यादि, आहारकद्विकस्याऽनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्य ज्येष्ठमन्तरं देशोनार्धपुद्गलपरावर्तप्रमाणं, संयमिनस्तत्स्वामित्वेन तस्य संसारे प्रकृष्टसंसरणकालस्य तावन्मात्रत्वेन च प्रकृतिबन्धाऽन्तरस्याऽपि तथात्वात्। उक्तशेषाणां प्रकृतीनामनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्य ज्येष्ठाऽन्तरमन्तर्मुहूर्तं तत्प्रकृतिबन्धाऽन्तरस्याऽपि तथात्वात्, एतच्चाऽन्तरं श्रेणावबन्धकालरूपं प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धकालरूपं वा यथासमयं बोद्धव्यम्। शेषप्रकृतयः पुनरिमाः—ज्ञानावरणपञ्चक-दर्शनावरणचतुष्क-निद्राद्विक-वेदनीयद्वय-संज्वलनचतुष्क-हास्यषट्क-पुरुषवेद-पञ्चेन्द्रियजाति तैजसकार्मणशरीर-प्रथमसंस्थान सुखगति-वर्णचतुष्का-गुरुलघू-पघात निर्माण-पराघातो-च्छ्वास जिननाम-त्रसदशका-ऽस्थिरा-ऽशुभा-ऽयशःकीर्त्य-ऽन्तरायपञ्चकरूपाः सप्तपञ्चाशत्प्रकृतयः। अत्र कासाञ्चित्प्रस्तुतान्तरं प्रकृतिबन्धाऽन्तरेण तुल्यम् कासाञ्चित्पुनश्चतुःसमयाधिकं विज्ञेयम्, बन्धाऽन्तरप्रारम्भात्प्राक् समयद्वयमुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्य करणात्, अन्तरनिवृत्तावपि बन्धप्रारम्भ आद्यसमयद्वये ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्यापि भावाच्चत्वारः समयाः प्रकृतिबन्धगुर्वन्तरतोऽनुत्कृष्टप्रदेशबन्धाऽन्तरेऽधिका विज्ञेया इति ॥३५८-३६२॥ तदेवमोघत उत्कृष्टाऽनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्य जघन्योत्कृष्टभेदेन द्विविधमन्तरं निरूपितम्।

अथ मार्गणास्वन्तरद्वारस्यावसरः तत्रादौ तावल्लाघवार्थमोघाऽऽदेशोपयोगिनीः प्रकृतिसंग्रहगाथाः प्राह—

अत्थाइम्मि किरिअ जं जाओ वुच्चन्ति ता कमा गेज्झा।
एत्तो आहारदुगं निद्ददुगं च तइअकसाया ॥३६३॥
दुइअकसाया मिच्छं थीणद्धितिगमणचउगथीणपुमा।
संघयणागिइपणगं दुहगतिगं कुखगई णीअं ॥३६४॥
तिरियदुगुज्जोआयवथावरएगिंदिसुहमतिगविगला।
णिरयसुरविउव्वदुगं उच्चणरदुगवइरुरलुवंगाणि ॥३६५॥ (गीतिः)

उरलं परघूसासा बायरतिगजिणपणिंदितससाया ।
हस्सरइथिरसुहजसा,असायअरइदुगअथिरदुगअजसा ॥३६६॥(गीतिः)

(प्रे०) "अत्थे" इत्यादि, सुगमार्था प्रागनेकशो व्याख्यातत्वात् ॥३६३ ३६६॥

अथाऽऽदेशतः प्रथममायुर्वर्जानां बन्धप्रायोग्याणामुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्य जघन्याऽन्तरं निरूपयति–

मिस्सतिजोगे कम्मेऽणाहारे णत्थि गुरुपएसस्स ।
सप्पाउग्गाणाउगवज्जाणऽण्णह लहु समयो ॥३६७॥

(प्रे०) "मिस्सतिजोगे"त्यादि, औदारिकमिश्र वैक्रियमिश्रा-ऽऽहारकमिश्ररूपासु तिसृषु मार्गणासु तथा कार्मणकाययोगा ऽनाहारकमार्गणयोर्बन्धार्हाणामायुर्वर्जानां सर्वप्रकृतीनामुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्य मार्गणाचरमसमये सकृदेव संभवात्तदनन्तरं च मार्गणाया विच्छेदान्न प्राप्यते मार्गणापञ्चके कस्या अपि प्रकृतेरुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्याऽन्तरम् । मार्गणापञ्चकं विवर्ज्य शेषासु पञ्चषष्ट्युत्तरशतमार्गणासु बन्धार्हाणां सर्वासामुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्याऽनेकशः संभवो भवत्यत एवैतासु तासामुत्कृष्टप्रदेशबन्धद्वयाऽन्तराले समयमात्रमनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्य लाभादुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्य जघन्याऽन्तरं समयः प्राप्यते, शेषमार्गणासु उत्कृष्टप्रदेशबन्धकारणीभूतोत्कृष्टयोगस्थानस्य जघन्याऽन्तरस्य समयमात्रत्वेन ज्येष्ठप्रदेशबन्धसत्कजघन्यान्तरस्य तथात्वादिति ॥३६७॥

अथ मार्गणास्वायुर्वर्जानां ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टाऽन्तरं दर्शयन् प्राह—

देसूणपूव्वकोडी तिणरेसु गुरुं जिणस्स सेसाणं ।
पुव्वाकोडिपुहुत्तं अण्णमए ऊणजेट्ठठिई ॥३६८॥
पणनिद्दअसायपढमअट्ठकसायित्थिहस्सछक्काणं ।
मिच्छसुरविउवदुगसुहआगिइखगइसुहगतिगाणं ॥३६९॥
तिपणिंदियतिरियेसुं सप्पाउग्गाण एवमण्णमए ।
विग्घावरणणवगपुमसायुच्चाणूणजेट्ठठिई ॥३७०॥

(प्रे०) "देसूणे"त्यादि, मनुष्यौघ पर्याप्तमनुष्य मानुषीरूपासु तिसृषु मार्गणासु जिननाम्नो ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्य गुर्वन्तरं देशोनपूर्वकोटीप्रमाणं भवति, तद्यथा–कश्चिन्मनुष्यः पूर्वकोट्यायुष्कः सातिरेकवर्षाष्टके व्यतिक्रान्तेऽर्हदादिविंशतिस्थानकेभ्य एकमनेकानि सर्वस्थानानि वा सर्वस्थाम्नाऽऽराधयञ्जिननाम बध्नाति, तस्य च प्रथमसमय उत्कृष्टप्रदेशबन्धोऽपि संभवति । स ज्येष्ठप्रदेशबन्धं कृत्वा तदनन्तरसमयाद्व्द्विचरमसमयं यावदनुत्कृष्टप्रदेशबन्धं विरच्य चरमसमये

गुरुप्रदेशं बध्नाति तदनन्तरं च देवलोके एवोत्पादेन मार्गणाया विच्छेदाद्देशोनपूर्वकोटीप्रमाणमुत्कृष्टाऽन्तरं दर्शितजीवमाश्रित्य प्राप्यते । शेषाणां पञ्चदशोत्तरशतप्रकृतीनां ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्य गुर्वन्तरं पूर्वकोटीपृथक्त्वं भवति, युगलधर्मिणामुत्कृष्टयोगस्थानस्याऽनभ्युपगमेन तेषां ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्याऽनर्हत्वात्, तद्वर्जानां यावती कायस्थितिर्भवति सा देशोना प्रस्तुताऽऽन्तरत्वेन प्राप्यते तच्चान्तरं देशोनसप्तपूर्वकोटिप्रमाणमष्टपूर्वकोटिप्रमाणं वा भवति, देशोनत्वं यथासम्भवमन्तर्मुहूर्तादि-वर्षपृथक्त्वान्तं ज्ञातव्यम् । अत्र केषाञ्चिदभिप्रायेण युगलिकतिर्यग्मनुष्याणामपि ज्येष्ठयोगस्थानस्य सद्भावः; तन्मतेऽपि यासां प्रकृतीनां युग्मिनां भवप्रान्ते ज्येष्ठप्रदेशबन्धसद्भावस्तासां देशोन-गुरुकायस्थितिप्रमाणमन्तरं भवति, यासां पुनर्युग्मिनां भवप्रान्ते बध्यमानत्वेऽपि न तत्र तासां ज्येष्ठप्रदेशबन्धार्हत्वं देशविरत्यादिगुणगतानां त्रयोविंशत्यादिबन्धस्थानैः सहगतानां वा ज्येष्ठ-प्रदेशबन्धस्य भवनात्तासां प्रस्तुतमतेऽपि पूर्वकोटीपृथक्त्वं देशोनमेव गुर्वन्तरं भवति, न पुनर्देशोन-कायस्थितिप्रमाणम्, अतो यासामन्यमतेन गुरुप्रदेशबन्धस्य देशोनकायस्थितिप्रमाणं प्रस्तुताऽन्तरं भवति तासां तद्दर्शयति—"**अण्णमए**" इत्यादि, निद्रापञ्चका-ऽसातवेदनीया-ऽनन्तानुबन्ध्य-प्रत्याख्यानावरणकषाय- स्त्रीवेद--हास्यषट्क-मिथ्यात्व -देवद्विक -वैक्रियद्विक--समचतुरस्रसंस्थानसुखगति सुभगत्रिकरूपाणामेकत्रिंशत्प्रकृतीनामुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्य गुर्वन्तरमन्येषां मतेन देशोनज्येष्ठकाय-स्थितिप्रमाणं भवति,युग्मिनां भवप्रान्तेऽप्यासां ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्य भावात्। पञ्चदशोत्तरशतप्रकृतिभ्य एकत्रिंशतं विहाय शेषाणां चतुरशीतिप्रकृतीनां त्वत्राऽपि पूर्वकोटीपृथक्त्वं देशोनमेव प्राप्यते, कासाञ्चित्प्रकृतीनां तत्र बन्धाऽभावात्, कासाञ्चित्तत्र बन्धभावेऽपि ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्य त्रयोविंश-त्यादिबन्धस्थानगतानां देशविरत्यादिगुणस्थानगतानां वा ज्येष्ठप्रदेशबन्धार्हत्वेन युग्मिनां ज्येष्ठ-प्रदेशबन्धस्याऽनर्हत्वात् । तद्यथा—ज्ञानावरणपञ्चक--दर्शनावरणचतुष्क--सातवेदनीयो च्चैर्गोत्र-यशःकीर्तिनामाऽन्तरायपञ्चकरूपाणां सप्तदशानां दशमगुणस्थानभाजां ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्वामित्वात्, संज्वलन-चतुष्कपुरुषवेदरूपपञ्चकस्यानिवृत्तिबादरसंपरायस्योत्कृष्टप्रदेशबन्धकत्वात्, प्रत्याख्यानावरणचतुष्कस्य देशविरतस्य, तिर्यग्द्विक-नरकद्विका ऽऽहारकद्विक-जातिचतुष्क स्थावरचतुष्का-ऽऽतपो द्योतनामरूपाणां षोडशानां युग्मिनां मूलत एव बन्धाऽभावात्, मनुष्यद्विकौ-दारिकद्विक-संहननषट्का ऽऽद्यवर्ज-संस्थानपञ्चक-कुखगति दुर्भगत्रिक नपुंसकवेद-नीचैर्गोत्ररूपैकविंशतिप्रकृतीनामपर्याप्तावस्थायां युग्मिनां बन्धभावेऽपि पर्याप्ताऽवस्थायां तासां बन्धाऽभावात्, पञ्चेन्द्रियजाति-नवनामध्रुवबन्धिनीत्रसचतुष्क-स्थिरा-ऽस्थिर-शुभा-ऽशुभा-ऽयशःकीर्तिनाम पराघातो-च्छ्वासनामरूपाणामेकविंशतिप्रकृतीनां युग्मिनां भवपर्यन्तं यावद्बन्धस्य संभवेऽप्यासां ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्य त्रयोविंशत्या पञ्चविंशत्या बन्धस्थानेन सह भावेन देवप्रायोग्य बध्नतां ज्येष्ठप्रदेशबन्धाऽभावान्न युग्मिसत्कस्थितेरन्तरकालत्वेन ग्रहणं कृत-मिति ।

अथ पञ्चेन्द्रियतिर्यग्मार्गणात्रये सातिदेशमपवदति–"तिपणिंदियतिरियेसु"पञ्चेन्द्रिय-तिर्यगोघ-पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यक्-तिरश्चीरूपासु तिसृषु मार्गणास्वायुर्वर्जानां बन्धप्रायोग्याणां त्रयोदशोत्तरशतप्रकृतीनामुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टाऽन्तरमेक.मतेन तु पूर्वकोटीपृथक्त्वं देशोनं, मार्गणायाः प्रारम्भे प्रथमभवे यथासंभवं शीघ्रतरं ज्येष्ठप्रदेशबन्धं विधाय पूर्वकोटीपृथक्त्वप्रान्ते कर्मभूमिजस्तत्कचरमभवे द्विचरमसमयं यावदनुत्कृष्टप्रदेशबन्धं विधाय पुनश्चरमसमये ज्येष्ठप्रदेशबन्धं करोति तदा प्रकृताऽन्तरं प्राप्यते भावना तु मनुष्यौघवद्विधेया। अत्राऽन्यमते युगलिकतिरश्चां ज्येष्ठयोगस्थानं स्वीकुर्वतामपेक्षया प्राग्वन्निद्रापञ्चकाद्येकत्रिंशतस्तथा ज्ञानावरणपञ्चक-दर्शनावरणचतुष्का ऽन्तरायपञ्चक पुरुषवेद-सातवेदनीयो-च्चैर्गोत्ररूपाणां सप्तदशानां च ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टाऽन्तरं देशोनकायस्थितिप्रमाणम्, तच्च पूर्वकोटीपृथक्त्वाऽभ्यधिकं पल्योपमत्रयम्, यथार्हं मार्गणाप्रारम्भे प्रान्ते च ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्य विरचनात्। उक्ताऽष्टचत्वारिंशत्प्रकृतीर्विहाय शेषपञ्चषष्टेर्ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्य पूर्वकोटीपृथक्त्वम्, युगलिकान्विहाय शेषकायस्थितेर्यथासम्भवं प्रारम्भे प्रान्ते च ज्येष्ठप्रदेशबन्धं कुर्वन्तं जीवमपेक्ष्य निरुक्तान्तरस्य लाभात्, ताः पञ्चषष्टिः प्रकृतयः पुनरिमाः–प्रत्याख्यानावरणचतुष्क संज्वलनचतुष्क-नपुंसकवेद-नीचैर्गोत्र-नरकतिर्यग्मनुष्यगतित्रय-जातिपञ्चकौ दारिकद्विक-तैजस कार्मण-संहननषट्का-ऽऽद्यवर्जसंस्थानपञ्चक-कुखगति नरकतिर्यग्नरानुपूर्वीत्रय- वर्णचतुष्का गुरुलघूपघात–निर्माण--पराघातो--च्छ्वासा--ऽऽतपो--द्योत-त्रसचतुष्क-स्थिर--शुभ-यशःकीर्तिनामस्थावरदशकनामानीति ॥३६८-३७०॥ अथ देवगत्योघे ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्य ज्येष्ठान्तरं दर्शयति—

एगिंदियजोग्गाणं हवेज्ज तीसाअ णामपयडीणं।
देवे अहियदुअयरा सेसाण भवे दुवीसुदही ॥३७१॥

(प्रे०) "एगिंदिये"त्यादि, देवगत्योघमार्गणायामेकेन्द्रियजात्या सह बध्यमानानां नाम्नस्त्रिंशत्प्रकृतीनां ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टाऽन्तरं साधिकसागरोपमद्वयं, तत्राऽष्टाविंशतेः पञ्चविंशति–बन्धस्थानेन समम्, आतपोद्योतनाम्नोस्तु षड्विंशतिबन्धस्थानेन सह बध्नतो ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्य प्राप्यमाणत्वेन सनत्कुमारादिदेवानामेकेन्द्रियप्रायोग्यमबध्नतां निरुक्तबन्धस्थानयोर्बन्धाऽभावादीशानदेवलोकगतदेवाऽपेक्षयैव ज्येष्ठाऽन्तरं प्राप्यते। ईशानदेवस्य पुनर्ज्येष्ठभवस्थितिः पल्योपमाऽसङ्ख्येयभागाऽधिकसागरोपमद्वयप्रमाणा, सा देशोना प्रस्तुताऽन्तरत्वेन प्राप्यते. एकेन्द्रियजात्या सह बन्धप्रायोग्या नाम्नः प्रकृतयः पुनरेताः--तिर्यग्द्विकै-केन्द्रियजात्यौदारिकतैजसकार्मणशरीर-हुंडसंस्थान-वर्णचतुष्कागुरुलघूपघात-निर्माण-पराघातो-च्छ्वासाऽऽतपोद्योत-स्थावर-बादर-पर्याप्त-प्रत्येक-स्थिरा-ऽस्थिर-शुभा-ऽशुभ-यशःकीर्त्य-यशःकीर्तिनाम दुर्भगा-ऽनादेयरूपास्त्रिंशत्। शेषाणां बन्धप्रायोग्याणामायुर्वर्जानां द्विसप्ततिप्रकृतीनां ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्य प्रकृष्टाऽन्तरं देशोनानि द्वाविंशतिः सागरोपमाणि, देवस्य भवस्थितेस्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमप्रमाणत्वेऽपि ग्रैवेयकाऽनुत्तरदेवानां ज्येष्ठयोग-

स्थानाऽभावाद्द्वादशाऽच्युतकल्पवासिदेवाऽपेक्षया प्रस्तुताऽन्तरस्य लाभात्, अच्युतदेवस्य च प्रकृष्ट-भवस्थितेर्द्वाविंशतिसागरोपमप्रमाणत्वाद् भवप्रथमान्तर्मुहूर्ते ज्येष्ठप्रदेशबन्धाभावादन्तर्मुहूर्तोनानि द्वाविंशति सागरोपमाणि प्रकृष्टाऽन्तरं भवति द्वासप्ततिप्रकृतयः पुनरिमाः-ज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरणनवक-वेदनीयद्विकमोहनीयषड्विंशतिक-गोत्रद्वय-मनुष्यद्विक-पञ्चेन्द्रियजात्यौदारिकाङ्गोपाङ्गसंहननषट्का-ऽन्त्यवर्जसंस्थानपञ्चक खगतिद्वय -जिननाम त्रसनाम-स्वरद्वय -सुभगा देया--ऽन्तरायपञ्चकलक्षणाः ॥३७१॥ अथाऽत्रैव मतान्तरं दर्शयन्नाह—

अहवा इगतीसुदही दुहगाणादेयहुंडवज्जाणं।
मिच्छाइदुवीसाए वण्णाए ऊणजलहितेत्तीसा ॥३७२॥ (गीतिः)

(प्रे०) "अहवा" इत्यादि, अथवाशब्दो मतान्तरद्योतको ये ग्रैवेयकाऽनुत्तरदेवेष्वौघिकं ज्येष्ठयोगस्थानं मन्वते तेषां मतेन मिथ्यात्वादिद्वाविंशतिप्रकृतीनां ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्य गुर्वन्तरमेक-त्रिंशत्सागरोपमाणि देशोनानि-अन्तर्मुहूर्तोनानि, अत्र देशोनत्वं व्याख्यानतोऽवसेयम्, अनुत्तरदेवा-नामेतासां बन्धाऽभावादेकत्रिंशत्सागरोपमस्थितिकनवमग्रैवेयकसुराऽपेक्षया निरुक्ताऽन्तरस्य लाभात्। मिथ्यात्वाद्याः पुनरिमाः—मिथ्यात्व-स्त्यानर्द्धित्रिका-ऽनन्तानुबन्धिचतुष्क-स्त्रीवेद नपुंसकवेद-नीचै-र्गोत्रद्वितीयादिपञ्चसंहनन-द्वितीयादिचतुःसंस्थानकुखगतिदुःस्वररूपा द्वाविंशतिः। शेषाणां पञ्चा-शत्प्रकृतीनामन्तर्मुहूर्तोनानि त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि,अस्मिन्मतेऽनुत्तरदेवानां ज्येष्ठप्रदेशबन्धार्हत्वेन य उत्पत्त्यासन्नं मुहूर्तान्तो ज्येष्ठप्रदेशबन्धं विधाय भवचरमसमये पुनर्ज्येष्ठप्रदेशबन्धं करोति तस्य ज्येष्ठाऽन्तरं प्राप्यते। शेषाः पञ्चाशत्प्रकृतयः पुनरेताः—ज्ञानावरणपञ्चक-दर्शनावरणषट्क-वेदनीय-द्वयाऽऽद्यवर्जद्वादशकषाय-हास्यषट्क-पुरुषवेदो-च्चैर्गोत्र—मनुष्यद्विक--पञ्चेन्द्रियजात्यौदारिकाङ्गोपाङ्ग--प्रथमसंहनन-समचतुरस्रसंस्थान-सुखगति-जिननाम त्रसनाम-सुभगत्रिका-ऽन्तरायपञ्चकलक्षणाः। अत्राऽनुत्तरदेवानामौदारिकशरीरादिप्रकृतीनां बन्धस्य भावेऽपि तासां ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्य पञ्च-विंशतिबन्धस्थाने बध्यमान एव भावादनुत्तरदेवानां च तस्याऽभावाद्वौघमार्गणायां नौदारिकशरीर-नामादिप्रकृतीनां ज्येष्ठप्रदेशबन्धाऽन्तरमनुत्तरदेवाऽपेक्षया प्राप्यतेऽतः पञ्चाशत एव ग्रहणमिति। ॥३७२॥ अथैकेन्द्रियौघादिमार्गणासु ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टाऽन्तरं दर्शयति—

णेयं असंखलोगा एगिंदिणिगोअपंचकायेसुं।
सेढिअसंखंसोऽत्थि छ सुहमेसुं णवरि सुहुमएगक्खे ॥३७३॥(गीति)
लोगाऽसंखा णरदुगउच्चाण.............।

(प्रे०) "णेय"मित्यादि, एकेन्द्रियौघ-पृथ्वीकायौघा-ऽप्कायौघ तेजःकायौघ वायुकायौघ-वनस्पतिकायौघ-निगोदौघभेदरूपासु सप्तसु मार्गणासु बन्धार्हाणामायुर्वर्जसप्तोत्तरशतप्रकृतीनां ज्येष्ठ-

प्रदेशबन्धस्योत्कृष्टाऽन्तरमसंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमितसमयाः, एतासु सप्तसु मार्गणासु बादरपर्याप्तानामेव ज्येष्ठप्रदेशबन्धार्हत्वात् सूक्ष्माणां कायस्थितेरसंख्येयलोकमितत्वेन तावत्कालं गुरुप्रदेशबन्धस्यालाभात् । अत्रैकेन्द्रियस्य कायस्थितेरसंख्येयपुद्गलपरावर्तप्रमाणत्वेऽप्यसंख्येयलोककालेऽव्यतीते ऽवश्यमेव ज्येष्ठप्रदेशबन्धलाभः, एवं निगोदौघस्य सार्धद्वयपुद्गलपरावर्तप्रमितकायस्थितिमत्त्वेऽपि विज्ञेयम् , अत एव निरुक्तमार्गणासप्तके ध्रुवबन्धिप्रकृतीनामनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टकालोऽसंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमितसमयप्रमाण एव प्रतिपादितः, तत ऊर्ध्वं नियमतो ज्येष्ठप्रदेशबन्धलाभात् । पृथ्व्यादिमार्गणाचतुष्के तु यद्गुरुप्रदेशबन्धस्याऽन्तरमसंख्येयलोकप्रमाणं तत्स्वज्येष्ठकायस्थितितः किञ्चिदूनं यद्वा ध्रुवबन्धिनीनामनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्य ज्येष्ठकालप्रमाणं ज्ञातव्यम् । निरुक्तमार्गणासप्तकेऽध्रुवबन्धिप्रकृतीनामुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टान्तरं ज्येष्ठस्थितिबन्धान्तरवज्ज्ञातव्यम् । अथोत्तरार्धेन सूक्ष्मैकेन्द्रियादिमार्गणासु दर्शयति "सेढि" इत्यादि, सूक्ष्मैकेन्द्रियौघ-सूक्ष्मपृथ्वीकायौघ-सूक्ष्माप्कायौघ-सूक्ष्मतेजःकायौघ-सूक्ष्मवायुकायौघ--सूक्ष्मनिगोदौघरूपासु षण्मार्गणासु बन्धार्हाणामायुर्वर्जानां सप्तोत्तरशतप्रकृतीनां ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टाऽन्तरं श्रेणेरसंख्येयभागप्रमितं भवति, यतो हि मार्गणावर्तिपर्याप्तजीवानामुत्कृष्टप्रदेशबन्धयोग्यत्वेन श्रेण्यसंख्यभागप्रदेशप्रमितकाले व्यतिते प्रकृष्टयोगस्थानस्यावश्यं लाभात्ततोऽधिकान्तरं नैव प्राप्यते । अत एवैतासु मार्गणासु ध्रुवबन्धिप्रकृतीनामनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टकालोऽपि श्रेण्यसंख्येयभागप्रमित एव दर्शितः । स्वज्येष्ठकायस्थितेर्निर्वाहकाणां सूक्ष्माणां नियमतोऽसंख्येयकृत्वो ज्येष्ठप्रदेशबन्धो भवतीति भावः, नवरं सूक्ष्मैकेन्द्रियौघमार्गणायां मनुष्यद्विकोच्चैर्गोत्रयोः प्रकृतिबन्धान्तरस्यासंख्यलोकाकाशप्रदेशप्रमाणत्वेन तयोर्ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्य ज्येष्ठान्तरं ततः सातिरेकं ज्ञातव्यमिति ॥३७३॥

अथ काययोगादिमार्गणासु तद्दर्शयति—

............................ऽखिलाण कायउरलेसु ।

भिन्नमुहुत्तमसंखपरट्टा दुअणाणअभविमिच्छेसु ॥३७४॥ (गीतिः)

(प्रे०) "ऽखिलाणे"त्यादि, काययोगौदारिककाययोगमार्गणाद्वये बन्धार्हाणां षोडशोत्तरशतप्रकृतीनां ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टाऽन्तरमन्तर्मुहूर्तं भवति, उत्कृष्टप्रदेशबन्धार्हाणां संज्ञिनां प्रस्तुतमार्गणयोरुत्कृष्टतोऽन्तर्मुहूर्तमात्राऽवस्थानान्नाऽन्तर्मुहूर्तादधिकमन्तरं प्राप्यते । अयं भावः—संज्ञिनामेव प्रस्तुतमार्गणाद्वये ज्येष्ठप्रदेशबन्धो भवति, तासां च योगस्य प्रत्यन्तर्मुहूर्तं परावर्तनात्सकृद्गुरुप्रदेशबन्धं विधाय स्वकायस्थितिप्रमाणान्तर्मुहूर्तस्य पश्चाद् यदि पुनर्ज्येष्ठप्रदेशबन्धं कुर्यात्तर्हि मार्गणायाः परावर्तनादन्तरमेव न प्राप्येताऽतोऽन्तर्मुहूर्तमेव ज्येष्ठाऽन्तरं भवति । तथा मत्यज्ञानश्रुताज्ञानाऽभव्य-मिथ्यात्वलक्षणासु चतसृषु मार्गणासु बन्धप्रायोग्याणामायुर्वर्जानां त्रयोदशोत्तर-

शतप्रकृतीनां ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्य गुर्वन्तरमावलिकाया असंख्येयभागगतसमयप्रमाणा असंख्येयपुद्गलपरावर्ताः, प्रस्तुतमार्गणाचतुष्कस्य कायस्थितेर्यथासम्भवमनाद्यनन्तादिरूपत्वेऽपि संज्ञिमिथ्यादृष्टीनां ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्वामित्वेन संज्ञित्वस्य गुर्वन्तरस्याऽसंख्येयपुद्गलपरावर्तप्रमाणत्वेन च निरुक्ताऽन्तरस्य लाभात् । अथ भावः-अभव्यमार्गणाऽनाद्यनन्तकायस्थितिकालप्रमाणा मत्यज्ञान-श्रुताऽज्ञानमिथ्यात्वलक्षणास्तिस्रो मार्गणा अनाद्यनन्ताऽनादिसान्तसादिसान्तरूपास्त्रिविकल्पा भवन्ति, उत्कृष्टप्रदेशबन्धस्वामिनः संज्ञिजीवा भवन्ति, संज्ञिभ्योऽसंज्ञिषूत्पन्नानामावलिकाऽसंख्येयभागगतसमयप्रमितपुद्गलपरावर्तकालं यावदेकेन्द्रियेष्ववस्थानान्न तत्र ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्य सम्भवः, तदनन्तरं यथासंभवं दीर्घकालेन संज्ञिषूत्पद्य ज्येष्ठप्रदेशं बध्नात्येव; अतो न निरुक्तकालतोऽतिरिक्तोऽन्तरकालो भवति । नन्वसंज्ञिकायस्थितिं समाप्य संज्ञिषूत्पद्याऽल्पकालेन ज्येष्ठप्रदेशबन्धमकृत्वा पुनरसंज्ञित्वेनोत्पद्य तत्र च स्वज्येष्ठकायस्थितिं निर्वाहयत्येवमनेकशः सचरणे प्रस्तुताऽन्तरकालोऽतिबृहत्प्रमाणो भवेत्तत्कथमेतावानेव दर्शितः ? उच्यते-ज्येष्ठकायस्थितिकालमसंज्ञिषूषित्वा संज्ञिषूत्पन्नस्याऽल्पकालमध्ये संज्ञिमिथ्यादृष्टिप्रायोग्याणां नानाऽवस्थानानामवश्यं लाभादत एवाऽऽगमे नवमग्रैवेयकसुरस्याऽप्यावलिकाया असंख्येयभागगतसमयप्रमिता असंख्येयाः पुद्गलपरावर्ता अन्तरत्वेन दर्शिता । यद्वा आवलिकाऽसंख्येयभागस्यासंख्येयभेदभिन्नत्वात् कायस्थितेरनेकशो व्यतिक्रमणेऽपि नावलिकासंख्येयभागतोऽधिकोन्तरं प्राप्यते इति ॥३७४॥

अथ मार्गणाऽन्तरे ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टाऽन्तरं दर्शयति—

अजए सम्मो सामी जेसिं सिं ऊणअद्धपरिअट्टो ।
बावीससागराइं अहियाइं होइ तित्थस्स ॥३७५॥
सेसाण असंखपरट्टोघव्व भवे अचक्खुभवियेसु ।

(प्रे०) "अजए" इत्यादि, असंयममार्गणायां यासां प्रकृतीनां ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्य चतुर्थगुणस्थानवर्ती स्वामी भवति तासां जिननामकर्मवर्जानां ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्य गुर्वन्तरं देशोनार्धपुद्गलपरावर्तप्रमितं भवति, सम्यक्त्वाऽन्तरकालस्याऽप्युत्कृष्टत एतावन्मात्रत्वात् । सम्यग्दृशामेव ज्येष्ठप्रदेशबन्धप्रायोग्याः प्रकृतयः पुनरिमाः-दर्शनावरणचतुष्क-निद्राद्विकाऽनन्तानुबन्धिवर्जद्वादशकषायहास्यषट्कपुरुषवेदलक्षणाः पञ्चविंशतिः । जिननामकर्मणो ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्य गुर्वन्तरं साधिका द्वाविंशतिः सागरोपमाः, जिननामबन्धकानां ग्रैवेयकाऽनुत्तरदेवेषूत्पित्सूनां संयमस्याऽवश्यंभावाद् मार्गणाबाह्यत्वं, तत्र चोत्पन्नानां मार्गणायाः प्रारम्भेऽपि प्रकृष्टप्रदेशबन्धस्यासंभवः, अष्टाविंशतिं देवप्रायोग्यां बध्नत एव तज्ज्येष्ठप्रदेशबन्धसम्भवात् । अतो भावनैवं कार्या-यः कश्चिन्मनुष्यः पूर्वकोट्यायुष्कः सातिरेकाऽष्टवर्षाऽतिक्रमेऽसंयतसम्यग्दृष्टिरेव सम्यक्त्वप्रभावतो जिननाम निकाचयति तत्र च

बन्धप्रथमसमये ज्येष्ठप्रदेशबन्धं करोति ततस्सातिरेकाष्टवर्षोनपूर्वकोट्यायुश्चतुर्थगुणस्थानेऽतिवाह्य सम्यक्त्वप्रभावत एव द्वादशकल्पे ज्येष्ठस्थितिकसुरेषूत्पद्यतेऽविरतसम्यग्दृष्टेरुत्कृष्टतोऽच्युतकल्पे एवोत्पादात्तत्र च निजायुः परिपाल्य च्युत्वा चतुरशीतिलक्षपूर्वायुष्केषु पूर्वकोट्यायुष्केषु वा जिनत्वेनोत्पद्य यथासभवं दीर्घतमं कालं गृहस्थत्वेन निर्गमयंस्तत्प्रान्ते चतुर्थगुणस्थानकस्य चरमसमये जिननाम्न उत्कृष्टप्रदेशबन्धं कृत्वा संयमं तदनन्तरं श्रेणिं च प्राप्नोति तस्य देशोनपूर्वकोटीद्वयाऽभ्यधिकद्वाविंशतिसागरोपमप्रमाणं प्रकृष्टाऽन्तरं प्राप्यते। उक्तशेषाणामायुर्वर्जानामष्टाशीतिप्रकृतीनां ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टाऽन्तरमसंख्येयपुद्गलपरावर्ताः, मिथ्यादृशां तज्ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्वामित्वात्, अत्र कासाञ्चिज्ज्ञानावरणादीनां ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्य स्वामिनः सम्यग्दृष्टयोऽपि भवन्ति किन्तु ज्येष्ठाऽन्तरस्य मिथ्यादृशां लभ्यमानत्वात्तथानिर्देशः। "ओघव्वे" इत्यादि, अचक्षुर्दर्शनमार्गणायां भव्यमार्गणायां च षोडशोत्तरशतप्रकृतीनां ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्य गुर्वन्तरमोघवद् भवति, मार्गणाया अनादिकालीनत्वादोघोक्तज्येष्ठप्रदेशबन्धस्य स्वामिनामत्र प्रवेशाच्च भावनौघवद्विधेया ॥३७५॥

एवं सार्धाऽष्टगाथाभिरेकोनत्रिंशत्मार्गणासु बन्धार्हाणामायुर्वर्जसर्वासां ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टाऽन्तरं देशोनकायस्थितितो विलक्षणत्वात्तत्प्रदर्श्य मिश्रयोगादिपञ्चमार्गणासु जघन्याऽन्तरप्रस्ताव एव तन्निषिध्य च शेषासु षट्त्रिंशदुत्तरशतमार्गणासु सापवादं देशोनकायस्थितिप्रमाणं ज्येष्ठाऽन्तरं प्ररूपयन्नाह—

सव्वेसिं सेसासुं देसूणा जेट्ठकायठिई ॥३७६॥

(प्रे०) "सव्वेसि"मित्यादि, शेषासु षट्त्रिंशदुत्तरशतमार्गणासु वक्ष्यमाणाऽपवादरूपाः प्रकृतीस्सत्यज्य शेषसर्वप्रकृतीनामुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टाऽन्तरं देशोनकायस्थितिप्रमाणं भवति, बाहुल्यतो मार्गणायाः कायस्थितेः श्रेण्यसंख्येयभागतो हीनत्वाद्यथासंभवं मार्गणायाः प्रारम्भे प्रान्ते च ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्य लाभाच्च। या मार्गणाः पुनः श्रेण्यसंख्येयभागतोऽधिककायस्थितिमत्यस्तासु तिर्यग्गत्योघादिमार्गणास्वसंज्ञ्यादिभावानां ज्येष्ठप्रदेशबन्धप्रतिबन्धकत्वात्प्रतिबन्धकीभूतानामसंज्ञ्यादीनां यावती कायस्थितिस्ततस्समधिकं तास्वेव तिर्यग्गत्योघादिमार्गणासु प्रस्तुतबन्धस्य प्रकृष्टाऽन्तरं प्राप्यते तच्च देशोनकायस्थितिरूपमिति ॥३७६॥ एवं सामान्यतश्शेषमार्गणासु देशोनकायस्थितिप्रमाणे ज्येष्ठाऽन्तरे प्ररूपिते यासु मार्गणासु यासां प्रकृतीनां तन्न सभवति तासु मार्गणासु तासां तदपवदन्नाह—

णवरि जिणस्स तिअयरा अब्भहिया णिरयतइअणिरयेसुं।
देसूणद्धपरट्टो तिरिये सिं जाण सम्मदेसजई ॥३७७॥ (गीतिः)

(प्रे०) "णवरि" इत्यादि, नरकौघमार्गणायां तृतीयनरकमार्गणायां च जिननाम्न उत्कृष्टप्रदेशबन्धस्य ज्येष्ठाऽन्तरं पल्योपमाऽसंख्येयभागाऽधिकं सागरोपमत्रयं भवति, जिननामबन्धकानां

नैरयिकेषूत्कृष्टतः पल्याऽसंख्येयभागाऽधिकसागरोपमत्रयप्रमितस्थितिकेष्वेवोत्पादात् । नरकौघ-मार्गणायां शेषाणामष्टनवतेरुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्य ज्येष्ठाऽन्तरं देशोनकायस्थितिप्रमितम्–देशोनत्रय-स्त्रिंशत्सागरोपमप्रमाणम् । तृतीयनरकमार्गणायां शेषाऽष्टनवतेर्देशोनसप्तसागरोपमप्रमितं प्रस्तुत-बन्धस्य ज्येष्ठाऽन्तरं भवति । शेषपञ्चनरकमार्गणासु बन्धाऽर्हाणामायुर्वर्जानां सर्वासां ज्येष्ठप्रदेश-बन्धस्य गुर्वन्तरं देशोनकायस्थितिः । तद्यथा–प्रथमनरके नवनवतेर्देशोनसागरोपमं द्वितीयनरके नवनवतेरेव देशोनसागरोपमत्रयं चतुर्थादिषु चतसृषु नरकमार्गणासु जिननाम्नो बन्धाऽभावादष्टनवते-ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्य गुर्वन्तरं देशोनकायस्थितिप्रमाण ज्ञेयम्, अत्र देशोनत्वमन्तर्मुहूर्तेन भवति । तिर्यग्गत्योघेऽविरतसम्यग्दृष्टि-देशविरता एव यासां प्रकृतीनां ज्येष्ठप्रदेशबन्धकास्तासां प्रकृतीनां ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टाऽन्तरं देशोनाऽर्धपुद्गलपरावर्तप्रमाणं भवति, मार्गणायाः कायस्थिते-र्दीर्घतमत्वेऽपि प्राप्तसम्यक्त्वस्य संसारसंसृतेर्देशोनाऽर्धपुद्गलपरावर्तप्रमाणत आधिक्याऽभावान्न ततो-ऽधिकाऽन्तरस्य संभवः । ताः प्रकृतयः पुनरिमाः–दर्शनावरणचतुष्क-निद्राद्विका ऽऽद्यवर्जद्वादश-कषाय हास्यषट्क पुरुषवेदरूपाः पञ्चविंशतिः । शेषाणां बन्धप्रायोग्याणामायुर्वर्जानामष्टाशीतिप्रकृतीनां ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टाऽन्तरं देशोनकायस्थितिप्रमाणम्, तच्चाऽवलिकाऽसंख्येयभागगतपुद्गल-परावर्तप्रमाणं विज्ञेयम् । पञ्चेन्द्रियतिर्यक्त्रिके त्रिमनुष्यमार्गणासु च ग्रन्थकृता स्वयं प्रदर्शितम् । अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यगऽपर्याप्तमनुष्यभेदद्वये बन्धाऽर्हाणां सप्तोत्तरशतप्रकृतीनां देशोनकायस्थिति-प्रमाणं ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्य गुर्वन्तरं विज्ञेयम् । देवगत्योघे पृथग्दर्शित ग्रन्थकृता प्रस्तुताऽन्तरम् । शेषैकोनत्रिंशद्देवगतिमार्गणासु बन्धार्हाणां प्रकृतीनां ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्य गुर्वन्तरं देशोनकायस्थिति-प्रमाणं यथासंभवं मार्गणायाः प्रारम्भे प्रान्ते च ज्येष्ठप्रदेशबन्धसंभवात् । नन्वनुत्तरदेवानामुत्कृष्ट-योगस्थानाऽभावात्कथमनुत्तरमार्गणापञ्चके देशोनकायस्थितिप्रमाणमुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्य ज्येष्ठाऽन्तरं प्रदर्श्यत इति चेत्, सत्यम्, अनुत्तरदेवानामौघिकज्येष्ठयोगस्थानस्याऽनङ्गीकतु मतेऽपि मार्गणा-प्रायोग्यज्येष्ठयोगस्थानस्य भावाद् मार्गणाप्रायोग्यबन्धेषु ज्येष्ठप्रदेशबन्धोऽङ्गीकर्तव्यस्तदपेक्षयैव देशोनकायस्थितिप्रमाणमन्तरं प्राप्यते । एवमेकेन्द्रियादिमार्गणासु मार्गणाप्रायोग्यं ज्येष्ठप्रदेशबन्ध-माश्रित्य स्वामित्वादिप्ररूपणं ज्ञातव्यम् । देवगत्युत्तरभेदसत्का कायस्थितिः तत्र बन्धार्हा प्रकृतयश्च प्राग्ग्रन्थतोऽवसेयाः, पूर्वमनेकशोऽस्मिन्नेव बन्धविधानग्रन्थे विवृतत्वात् । एवं गतिमार्गणासु प्रस्तुतबन्धस्य ज्येष्ठाऽन्तरं प्ररूपितम् ॥३७७॥ अथेन्द्रियकायादिमार्गणास्त्वपवादपदं निगदति—

तित्थस्सोघव्व भवे दुपणिंदियदुतसपुमतिणाणेसुं ।
णयणावहिसम्मेसुं वेअगसण्णीसु आहारे ॥३७८॥

(प्रे०) "तित्थस्से"त्यादि, पञ्चेन्द्रियौघ पर्याप्तपञ्चेन्द्रिय त्रसकायौघ-पर्याप्तत्रसकाय-पुरुषवेद-मतिज्ञान-श्रुतज्ञाना- ऽवधिज्ञान -चक्षुदर्शना--ऽवधिदर्शन- सम्यक्त्वौघ-क्षयोपशमसम्यक्त्व--संज्ञ्याहारकरूपासु चतुर्दशमार्गणासु जिननाम्न उत्कृष्टप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टाऽन्तरमोघवद् भवति, तच्च देशोनपूर्वकोटीद्वयाऽभ्यधिकानि त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि । भावनौघवत्कार्या नवरं क्षयोपशमसम्यक्त्वमार्गणायां जिननाम्नः प्रस्तुतान्तरमोघोक्तान्तरापेक्षयाऽन्तर्मुहूर्तेन न्यूनं द्रष्टव्यम्, चरमभवे क्षपकश्रेणौ जिननाम्नो बन्धविच्छेदादन्तर्मुहूर्तात्प्राग्मार्गणाया विच्छेदादिति । एतासु चतुर्दशमार्गणासु शेषाणां बन्धार्हाणामायुर्वर्जानां ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टाऽन्तरं देशोनकायस्थितिप्रमाणं भवति, मार्गणाकायस्थितेः श्रेण्यसङ्ख्येयभागगतप्रदेशप्रमितसमयतो हीनत्वे सति यथासंभवं मार्गणायाः प्रारम्भे प्रान्ते च ज्येष्ठप्रदेशबन्धार्हत्वात् । तत्र पर्याप्तपञ्चेन्द्रिय पुरुषवेद-संज्ञिमार्गणात्रये बन्धप्रायोग्यशेषप्रकृतयः पञ्चदशोत्तरशतम्, गुरुकायस्थितिर्मार्गणात्रयेऽपि सातिरेकसागरोपमशतपृथक्त्वप्रमाणा पञ्चेन्द्रियौघमार्गणायां बन्धप्रायोग्यप्रकृतयः पञ्चदशोत्तरशतम्, कायस्थितिस्सागरोपमसहस्रं सातिरेकम्, पर्याप्तत्रसमार्गणायां चक्षुदर्शनमार्गणायां च पञ्चदशोत्तरशतप्रकृतयो बन्धप्रायोग्याः, कायस्थितिः पुनः क्रमेण सातिरेकसागरोपमशतपृथक्त्वं सातिरेकसागरोपमसहस्रं मतान्तरेण पुनः सागरोपमसहस्रद्वयम्, त्रसकायौघमार्गणायां बन्धप्रायोग्यशेषप्रकृतयः पञ्चदशोत्तरशतम्, कायस्थितिः सागरोपमसहस्रद्वयं सातिरेकम् । ज्ञानत्रिका-ऽवधिदर्शन-सम्यक्त्वौघ-क्षयोपशमसम्यक्त्वरूपासु षण्मार्गणासु बन्धप्रायोग्यशेषप्रकृतयः षट्सप्ततिः, कायस्थितिः साधिकानि षट्षष्टिसागरोपमाणि । आहारिमार्गणायां पञ्चदशोत्तरशतशेषप्रकृतयः, कायस्थितिरङ्गुलाऽसंख्येयभागगताकाशप्रदेशतुल्यसमयाः । तथैकेन्द्रियौघ सूक्ष्मैकेन्द्रियमार्गणयोः प्रागुक्तत्वात्सूक्ष्मपर्याप्ताऽपर्याप्तैकेन्द्रियबादरैकेन्द्रियौघतत्पर्याप्ताऽपर्याप्तैकेन्द्रियनवविकलाक्षाऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रियरूपासु पञ्चदशमार्गणासु बन्धप्रायोग्याणामायुर्वर्जानां सप्तोत्तरशतप्रकृतीनामुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्य ज्येष्ठाऽन्तरं देशोनकायस्थितिः तथैकेन्द्रियमार्गणावत्पञ्चपृथ्वीकायमार्गणापञ्चाप्कायमार्गणापञ्चतेजःकायमार्गणापञ्चवायुकायमार्गणापञ्चसाधारणवनस्पतिकायमार्गणात्रिप्रत्येकवनस्पतिकायमार्गणाऽपर्याप्तत्रसकायमार्गणारूपास्वेकोनत्रिंशत्कायमार्गणासु बन्धार्हसर्वप्रकृतीनां ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टान्तरं देशोनज्येष्ठकायस्थितिः, शेषत्रयोदशकायमार्गणासु तु तत्प्रदर्शितम् । पञ्चमनोयोगपञ्चवचनयोगवैक्रियकाययोगाऽऽहारककाययोगरूपासु द्वादशमार्गणासु बन्धार्हसर्वप्रकृतीनामुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टान्तरं देशोनकायस्थितिः अन्तर्मुहूर्तमित्यर्थः, शेषषड्योगमार्गणास्थानेषु सर्वप्रकृतीनां पृथग् दर्शितम्, वेदमार्गणास्थानेभ्यः पुरुषवेदे पञ्चेन्द्रियादिमार्गणाभिः सार्धं सापवादं दर्शितम् ॥३७८॥

अथ स्त्रीवेदनपुंसकवेदमार्गणयोरपवादं दर्शयति—

देसूणपुव्वकोडी जिणस्स इत्थिणपुमेसु णपुमेसिं ।

देसूणद्धपरट्टो सम्मो जाण अडवीसाए ॥३७९॥

(प्रे०) 'देसूणे''त्यादि, स्त्रीवेदमार्गणायां नपुंसकवेदमार्गणायां च जिननाम्नो ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टान्तरं देशोनपूर्वकोटिस्त्रिचरमभवापेक्षयैतावदन्तरस्य प्राप्यमाणत्वाद् द्विचरमभवे नारकत्वे नपुंसकवेदस्य भावेऽपि तत्र तस्याधिकप्रकृतिबन्धकत्वेन जिननाम्नो ज्येष्ठप्रदेशबन्धाभावात्तत उद्वृत्तस्य चरमभवे तु नियमतो नंपुसकवेदित्वाभावाद् न भवति चरमभवगतोत्कृष्टप्रदेशबन्धापेक्षयाऽपि ज्येष्ठान्तरं तदा प्रस्तुतमार्गणाया बाह्यत्वात्तस्य। स्त्रीवेदस्याऽपि केवलं त्रिचरमभवापेक्षयैव प्रस्तुतान्तरं प्राप्यते, निकाचितजिननाम्नां देवीत्वेनोत्पादाभावेन द्विचरमभवे स्त्रीवेदित्वमेव न प्राप्यते, केवलचरमभवापेक्षयाऽपि प्रस्तुतान्तरं न प्राप्यते बाहुल्यतो बद्धतीर्थंकरनाम्नो मानुषीषूत्पादाभावादाश्चर्यरूपेणाऽनन्तकाले कदाचित्तासूत्पादेऽपि केवलिविहरणकालेन भवाद्यकालेन च न्यूनत्वान्न ज्येष्ठान्तरस्य लाभो, मध्यमान्तररूपत्वात्तस्येति त्रिचरमभवापेक्षयैव देशोनपूर्वकोटिजिननाम्नो ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्य गुर्वन्तरं स्त्रीनपुंसकवेदमार्गणाद्वये प्राप्यते। स्त्रीवेदमार्गणायां बन्धार्हाणां पञ्चदशोत्तरशतप्रकृतीनां ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्य गुर्वन्तरं देशोना कायस्थितिः। नपुंसकवेदमार्गणायां जिननामवर्जानां यासां प्रकृतीनां सम्यग्दृष्टय एव ज्येष्ठप्रदेशबन्धकास्तासां तद्बन्धस्य गुर्वन्तरं देशोनार्धपुद्गलपरावर्तः, सकृत्प्राप्तसम्यक्त्वस्योत्कृष्टतोऽपि संसारे संसृतिकालस्य देशोनार्धपुद्गलपरावर्तप्रमाणत्वात्। ताः प्रकृतयः पुनरेताः-दर्शनावरणचतुष्कनिद्राद्विकाद्यवर्जद्वादशकषायहास्यषट्कपुरुषवेदयशःकीर्तिनामाहारकद्विकरूपा अष्टाविंशतिः। उक्तशेषाणां सप्ताशीतिप्रकृतीनां ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्य संज्ञिमिथ्यादृष्टिस्वामित्वाद्देशोनकायस्थितिप्रमाणं ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टान्तरं प्राप्यते, तच्चासंख्येयपुद्गलपरावर्तप्रमितं विज्ञेयम्। अपगतवेदमार्गणायां बन्धार्हाणामेकविंशतेर्ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टान्तरं या कायस्थितिः छद्मस्थजीवापेक्षा स्थितिबन्धादिग्रन्थे निरूपिता सा देशोना-ऽस्ति,एतच्चान्तरमन्तर्मुहूर्तप्रमाणं विज्ञेयमिति भावः। चतुर्णां कषायमार्गणानां ज्येष्ठकायस्थितेरन्तर्मुहूर्ततोऽधिकत्वासम्भवाद् बन्धार्हाणामायुर्वर्जानां षोडशोत्तरशतप्रकृतीनां ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टान्तरमन्तर्मुहूर्तप्रमाणं विज्ञेयम्, एतस्यापि देशोनकायस्थितिरूपत्वेनातिदेशविषयत्वान्न पृथग्निर्देशो ग्रन्थकारस्येति। अथ ज्ञानमार्गणायां ज्ञानत्रये पञ्चेन्द्रियादिमार्गणाभिः सार्द्धं दर्शितम्, अज्ञानद्वये 'कायउरले' त्यादिगाथया निरूपितं, मनःपर्यवज्ञानमार्गणायां सर्वासां बन्धार्हाणामायुर्वर्जचतुःषष्टिप्रकृतीनां ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टान्तरं देशोनकायस्थितिर्देशोन--पूर्वकोटिप्रमाणम् ॥३७९॥

परिशेषविभङ्गज्ञानमार्गणायामपवादं दर्शयति—

परघाऊसासायवथिरदुगजसपज्जगाण विब्भंगे ।

अहियदुअयराऽऽगिइचउपणसंघयणूणसेसणामाणं ॥३८०॥ (गीति)
देसूणपुव्वकोडी भिन्नमुहुत्तं व ... ...।

(प्रे०) "परघा" इत्यादि, विभङ्गज्ञानमार्गणायां पराघातोच्छ्वासातपोद्योतस्थिरशुभयशः-कीर्तिपर्याप्तनामरूपाणामष्टानां ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्य गुर्वन्तरं साधिकं सागरोपमद्वयम्, एतास्य आतपोद्योतनाम्नोर्ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्य षड्विंशत्या, शेषाणां च षण्णां पञ्चविंशत्या सह ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्य भावेन नैरयिकाणां सनत्कुमारादिदेवानां च ज्येष्ठप्रदेशबन्धानर्हत्वान्नानाविकान्तरस्य लाभः, भावना पुनरेवं कार्या-कश्चित्पूर्वकोटयायुष्को मनुष्यो यथार्हं शीघ्रतरं विभङ्गज्ञानं लब्ध्वाऽन्तर्मुहूर्तमध्ये एतासामष्टानां क्रमेण ज्येष्ठप्रदेशबन्धं रचयति ततो मनुष्यभवसत्ककालं व्यतिक्रम्येशानदेवलोके ज्येष्ठायुः पुसुरत्वेनोत्पन्नः सन् स्वभवचरमसमये ज्येष्ठप्रदेशं बध्नन् प्रकृष्टान्तरं प्राप्नोति, एतच्च पल्योपमासङ्ख्येयभागाभ्यधिकं सागरोपमद्वयप्रमितं बोद्धव्यम् । महाबन्धकारादीनां मतेऽन्तर्मुहूर्तन्यूनेशानदेवोत्कृष्टकायस्थितिप्रमाणमवसातव्यम्, तेषां मते भवद्वयसंबन्धिविभङ्गज्ञानस्यासंभवात् । अष्टानामुक्तत्वादाहारकद्विकजिननामकर्मणां बन्धानर्हत्वात्प्रथमादिपञ्चसंहननद्वितीयादिचतुःसंस्थानरूपाणां नवानां देशोनकायस्थितिप्रमाणस्य ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्य गुर्वन्तरस्य भावात्, तद्वर्जानां शेषाणां सप्तचत्वारिंशन्नामप्रकृतीनां ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टान्तरं देशोनपूर्वकोटिरास्तां ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्य त्रयोविंशतिबन्धस्थानेन सह, अपर्याप्तप्रायोग्यपञ्चविंशतिबन्धस्थानेन सह, अष्टाविंशतिबन्धस्थानेन सहैव बन्धभावेन देवनैरयिकाणां ज्येष्ठप्रदेशबन्धकत्वाभावाद्देवनैरयिकत उद्वृत्तानां विभङ्गज्ञानाभावाच्च, श्रीभगवतीसूत्राभिप्रायेण विभङ्गज्ञानपतिता एव तिर्यग्मनुष्येषूत्पद्यन्ते इति कृत्वा, एवं तिर्यग्मनुष्यास्तिर्यग्मनुष्येषु पतितविभंगज्ञाना एवोत्पद्यन्तेऽतो नानाभवप्रयुक्तमन्तरं न प्राप्यते, किन्त्वेकस्मिन्नेव पूर्वकोटयायुष्के भवे निरुक्तमन्तरं लभ्यते । अत्र देशोनत्वं यथासमयमन्तर्मुहूर्तेन वर्षपृथक्त्वेन वा परिभावनीयम् । सप्तचत्वारिंशत्प्रकृतयः पुनरिमाः—तिर्यग्द्विकैकेन्द्रियजात्यौदारिकतैजसकार्मणशरीरहुंडसंस्थानवर्णचतुष्कागुरुलघूपघातनिर्माणबादरप्रत्येकस्थावरचतुष्कास्थिराशुभदुर्भगानादेयायशःकीर्तिरूपपञ्चविंशतिप्रकृतयस्त्रयोविंशत्या सह ज्येष्ठप्रदेशबन्धप्रायोग्याः, तथा मनुष्यद्विकद्वीन्द्रियादिजातिचतुष्कौदारिकाङ्गोपाङ्गसेवार्तत्रसनामलक्षणा नवप्रकृतयोऽपर्याप्तप्रायोग्यपञ्चविंशत्या सह ज्येष्ठप्रदेशबन्धप्रायोग्याः, देवद्विकनरकद्विकवैक्रियद्विकसमचतुरस्रसंस्थानखगतिद्वयसुभगादेयस्वरद्वयरूपा नाम्नस्त्रयोदशाष्टाविंशत्या सह ज्येष्ठप्रदेशबन्धप्रायोग्याः । अत्र सप्तचत्वारिंशन्नामप्रकृतीनां ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टान्तरं महाबन्धकाराभिप्रायेणान्तर्मुहूर्तं तन्मते तिर्यग्मनुष्याणां प्रस्तुतमार्गणायामन्तर्मुहूर्तमात्रावस्थानात् । उक्तशेषाणां बन्धप्रायोग्याणां ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टान्तरं मार्गणाया देशोनकायस्थितिः, मार्गणायाः प्रारम्भे तिर्यग्मनुष्येण तत्प्रान्ते सप्तमनैरयिकेण स

ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्य करणात् प्रस्तुतान्तरं देशोनपूर्वकोटयभ्यधिकानि त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि भवति। शेषप्रकृतयः पुनरिमाः—ज्ञानावरणपञ्चक-दर्शनावरणनवक-मोहनीयषड्विंशति गोत्रद्वय-वेदनीयद्वयान्तरायपञ्चकाऽऽयुपञ्चसंहननद्वितीयादिसंस्थानचतुष्करूपा अष्टपञ्चाशत् ,अन्यमते त्वासां ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टान्तरं देशोनत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि; एतन्मते निरुक्तमार्गणायाः कायस्थितेस्तथात्वात् ।

अथ संयममार्गणाभेदेषु संयमौघपरिहारविशुद्धिसंयमसूक्ष्मसम्परायसंयमदेशविरतमार्गणाचतुष्के बन्धार्हसर्वप्रकृतीनां ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टान्तरं देशोनकायस्थितिः। सामायिकच्छेदोपस्थापनीयमार्गणयोरपि तथैव, तथापि कासाञ्चित्प्रकृतीनामन्तरघटना विलक्षणा अतः सा दर्श्यते। तद्यथा—दर्शनावरणचतुष्कसंज्वलनचतुष्कपुरुषवेदयशःकीर्तिनाम्नां ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टान्तरं देशोनकायस्थितिप्रमाणं मार्गणाप्रारम्भे श्रेणिमवरोहन्नवमगुणस्थाने आसां ज्येष्ठप्रदेशबन्धं कृत्वा षष्ठसप्तमगुणस्थानद्वयेन देशोनपूर्वकोटिप्रमितं कालं व्यतिक्रम्य प्रान्ते पुनः श्रेणिमारुह्य नवमगुणस्थाने- ज्येष्ठप्रदेशबन्ध विदधतो जीवस्यापेक्षया प्रस्तुतान्तरं प्राप्यते, शेषप्रकृतीनामपि ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्य प्रकृष्टान्तरं देशोनकायस्थितिर्भावना तु सुगमा। असंयममार्गणायां प्राग् 'अजए' इत्यादिना निरूपितम्। दर्शनमार्गणातश्चक्षुर्दर्शनमार्गणायामवधिदर्शनमार्गणायां च पञ्चेन्द्रियमार्गणया समं दर्शितम्, अचक्षुर्दर्शनमार्गणायां 'ओघव्व भवे अचक्खुभवियेसु' इत्यादिना निरूपितम् ॥३८०॥

अथाप्रशस्तलेश्यामार्गणायां यासां देशोनकायस्थितिर्न भवति तासां तद्दर्शयन्नाह—

असुहलेसासु ।
परघाऊसासायवथिरदुगजसपज्जणामाणं ॥३८१॥
पल्लासंखियभागो भिन्नमुहुत्तं व सेसणामाणं ।
पणसंघयणागिइचउगूणाण भवे मुहुत्तंतो ॥३८२॥

(प्रे०) "असुहलेसासु" मित्यादि, अशुभलेश्यात्रये पराघातोच्छ्वासातपोद्योतस्थिरशुभयशःकीर्तिपर्याप्तनामरूपाणामष्टानां ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टान्तरं पल्योपमासंख्येयभागप्रमितं भवति, तिर्यग्मनुष्यदेवानामासां ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्वामित्वाद् , तत्र प्रस्तुतान्तरस्य देवापेक्षयैव लाभादशुभलेश्याकदेवानां ज्येष्ठस्थितेः पल्यासंख्येयभागप्रमाणत्वाच्चान्तर्मुहूर्तोना प्रस्तुतमार्गणागतदेवानां यावती ज्येष्ठभवस्थितिस्तावत्प्रमाणं निरुक्तानामष्टानां ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्य गुर्वन्तरं भवति। मतान्तरे देवाना पर्याप्तावस्थायां प्रस्तुतमार्गणानामभावेन ज्येष्ठप्रदेशबन्धानर्हत्वात्तिर्यग्मनुष्यानाश्रित्य उक्त प्रकृतीनां बन्धान्तरमन्तर्मुहूर्तमात्रम् , तच्च 'भिन्न' इत्यादिना दर्शितं मूले। एवं प्रकारद्वयेनाऽष्टानां दर्शितत्वात् ,आहारकद्विकस्य प्रस्तुतमार्गणात्रये बन्धाभावात् प्रथमादिसंहननपञ्चकद्वितीया-

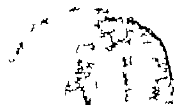
दिसंस्थानचतुष्करूपाणां नवानां ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्य गुर्वन्तरस्य देशोनकायस्थितिप्रमाणत्वान्निरुक्तै-कोनविंशतिनामप्रकृतीर्विहाय शेषाणामष्टचत्वारिंशन्नामप्रकृतीनां ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टान्तरमन्तर्मुहूर्तमत्र जिननाम्नो देवप्रायोग्यैकोनत्रिंशद्बन्धकानां मनुष्याणां तथा शेषसप्तचत्वारिंशतो नाम्नस्त्रयोविंशत्यपर्याप्तप्रायोग्यपञ्चविंशत्यष्टाविंशतिबन्धकानां तिर्यग्मनुष्याणां तज्ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्वामित्वात्तेषां च प्रस्तुतमार्गणायामन्तर्मुहूर्ततोऽधिकमनवस्थानात् । न च देवद्विकादीनां मनुष्यभवचरमान्तर्मुहूर्ते ज्येष्ठप्रदेशबन्धं कृत्वा तल्लेश्यावत्सु व्यन्तरदेवेषूत्पद्य ततः सम्यक्त्वरहितश्च्युत्वा पुनर्मनुष्यत्वेनोत्पन्नः सन् ज्येष्ठप्रदेशं बध्नातीत्येवं पल्यासंख्येयभागप्रमाणमन्तरं संपद्येत इति वाच्यम्, यतः स देवेभ्यश्च्युतः पर्याप्तावस्थायाः प्रागेव प्रस्तुतमार्गणां विजहाति, ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्तु पर्याप्तावस्थासंपन्नस्यैव भवति, अतो न देवभवसत्काबन्धकालः प्रस्तुतज्येष्ठप्रदेशबन्धान्तरत्वेन प्राप्यते । शेषप्रकृतयः पुनरिमाः—गतिचतुष्कजातिपञ्चकौदारिकद्विकवैक्रियद्विकनवनामध्रुवबन्धिप्रकृतिसेवार्तसंहननसमचतुरस्रहुण्डसंस्थानखगतिद्वयाऽऽनुपूर्वीचतुष्कजिननामत्रसबादरप्रत्येकसुभगत्रिकस्थावरदशकरूपा अष्टचत्वारिंशत् । तथा प्रथमादिसंहननपञ्चकद्वितीयादिसंस्थानचतुष्करूपाणां नवानां तथा नामायुर्वर्जानामेकोनपञ्चाशतो ज्ञानावरणादिषट्कर्मोत्तरभेदानां ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्य गुर्वन्तरं तत्तन्मार्गणाया देशोनकायस्थितिर्यथासम्भवं मार्गणायाः प्रारम्भे प्रान्ते च ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्य करणात् । नारकानेवाधिकृत्य तत्तन्मार्गणाया ज्येष्ठकायस्थितेर्लाभात् प्रस्तुतमार्गणात्रय एतासामष्टपञ्चाशतो ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्य स्वामित्वेन नैरयिकाणामपि भावाद्घटते प्रस्तुतान्तरं देशोनकायस्थितिप्रमितं । विशेषभावना तु सुगमप्राया: स्वयमागमानुसारेण कार्या ॥३८१-३८२॥

अथ शुभलेश्यात्रये यासां देशोनकायस्थितितो न्यूनतरं ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्य गुर्वन्तरं भवति तासां तद्दर्शयति—

तेउपउमसुक्कासु बावीसदुचत्तऊणसट्ठीणं ।
सिं होइ मुहुत्तंतो जेसिं ण भवे सुरो सामी ॥३८२॥
सुक्काअ एगतीसा अयरा मिच्छाइपंचवीसाए ।
अहव दुवीसुदही सिं पणवीसाअ तह सेसाणं ॥३८३॥

(प्रे०) "तेउ" इत्यादि, तेजःलेश्या-पद्मलेश्याशुक्ललेश्यारूपासु तिसृषु प्रशस्तलेश्यामार्गणासु यासां प्रकृतीनां ज्येष्ठप्रदेशबन्धका देवा न भवन्ति किन्तु तिर्यग्मनुष्या एव, तासां प्रकृतीनां ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टान्तरमन्तर्मुहूर्तमात्रं भवति, तिर्यग्मनुष्याणां लेश्यायाः परावर्तमानत्वेनान्तर्मुहूर्तमात्रैवावस्थानात्तेजोलेश्यायां तादृश्यः प्रकृतयो द्वाविंशतिः, ताश्चेमाः-प्रत्याख्यानावरणचतुष्कसंज्वलनचतुष्कदेवद्विकपञ्चेन्द्रियजातिवैक्रियद्विका-ऽऽहारकद्विकसमचतुरस्रसुखगतिजिननामत्रसनामसुभगत्रि-

लक्षणाः, पद्मलेश्यामार्गणायां नामनवध्रुवबन्धिपराघातोच्छ्वासबादरत्रिकस्थिरास्थिरशुभाऽशुभयशःकीर्त्ययशःकीर्तिरूपा विंशतिस्तेजोलेश्यामार्गणोक्तद्वाविंशतिप्रकृतिसहिता द्विचत्वारिंशत्प्रकृतयः,शुक्ललेश्यायां ज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरणचतुष्कपुरुषवेदसातवेदनीयोच्चैर्गोत्रान्तरायपञ्चकरूपाः सप्तदश पद्मलेश्यामार्गणोक्ता द्विचत्वारिंशत्प्रकृतयश्चेत्येकोनषष्टिः । निरुक्तमार्गणात्रय उक्तानां प्रकृतीनां ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्य स्वामित्वे देवानां वर्जनं तु कासाञ्चित्प्रत्याख्यानावरणादीनां देशविरत्यादिजीवानां स्वामित्वात् , कासाञ्चिदष्टाविंशतिबन्धस्थाने ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्य भावादाहारकद्विकस्य संयमिस्वामिकत्वात् शुक्ललेश्यायां ज्ञानावरणादीनां श्रेणिगतस्वामिकत्वाच्चेति । तेजोलेश्यायामुक्तशेषाणां षडशीतिप्रकृतीनां ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टान्तरं देशोनकायस्थितिर्भवति, तत्र ज्ञानावरणादीनां मनुष्यस्यापि ज्येष्ठप्रदेशबन्धकत्वान्मार्गणाप्रारम्भप्रथमसमये ज्येष्ठप्रदेशबन्धं कृत्वा देवभवोत्पन्नो देवभवचरमसमये ज्येष्ठप्रदेशबन्धं करोति, कासाञ्चित्पुनर्देवेष्वेव ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्य सम्भवात्तदपेक्षया भावना कार्या । तेजोलेश्यायां शेषप्रकृतयः पुनरिमाः—ज्ञानावरणपञ्चक-दर्शनावरणनवकवेदनीयद्वयानन्तानुबन्धिचतुष्काप्रत्याख्यानावरणचतुष्कहास्यषट्कवेदत्रयमिथ्यात्वगोत्रद्वयमनुष्यद्विकतिर्यग्द्विकैकेन्द्रियजात्यौदारिकद्विकतैजसकार्मणशरीरसंहननषट्कद्वितीयादिसंस्थानपञ्चककुखगतिवर्णचतुष्कागुरुलघूपघात निर्माणपराघातोच्छ्वासातपोद्योतबादरत्रिकस्थिरशुभयशःकीर्तिनामस्थावरास्थिरषट्कान्तरायपञ्चकरूपाः षडशीतिः । पद्मलेश्यामार्गणायां—ज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरणनवकवेदनीयद्विकानन्तानुबन्धिकषायचतुष्काप्रत्याख्यानावरणचतुष्कनवनोकषायमिथ्यात्वगोत्रद्वयतिर्यग्द्विकमनुष्यद्विकौदारिकद्विकसंहननषट्काद्यवर्जसंस्थानपञ्चककुखगतिनामोद्योतदुर्भगत्रिकान्तरायपञ्चकरूपास्त्रिषष्टिः शेषप्रकृतयः । शुक्ललेश्यामार्गणायां शेषा निद्रापञ्चकासातवेदनीयानन्तानुबन्धिकषायचतुष्काप्रत्याख्यानावरणकषायचतुष्कहास्यषट्कस्त्रीवेदनपुंसकवेदमिथ्यात्वनीचैर्गोत्रमनुष्यद्विकौदारिकद्विकषट्संहननाद्यवर्जसंस्थानपञ्चककुखगतिदुर्भगत्रिकरूपास्त्रिचत्वारिंशत्प्रकृतयः । ताभ्योऽनुत्तरदेवानां संग्रहगाथोक्तानां मिथ्यात्वादिपञ्चविंशतिप्रकृतीनामबन्धकत्वात् नवमग्रैवेयकज्येष्ठस्थितिकसुरापेक्षया देशोनैकत्रिंशत्सागरोपमाणि ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टान्तरं प्राप्यते, शेषाणामष्टादशप्रकृतीनां तु देशोनकायस्थितिः, एतच्चान्तरं ग्रैवेयकानुत्तरदेवेष्वपि ज्येष्ठयोगस्थानसद्भाव इति मतेन ज्ञातव्यम् । येषां मतेऽच्युतसुरपर्यन्तानामेव ज्येष्ठयोगस्थानलाभो न पुनर्ग्रैवेयकादिसुरस्य तेषां मते शेषाणां सर्वासामपि त्रिचत्वारिंशत्प्रकृतीनां ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टान्तरं द्वात्रिंशतिसागरोपमाणि, । अत्र कासाञ्चित्प्रकृतीनां ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्य मनुष्यभवेऽपि सम्भवात् सातिरेकत्वम् , तदसंभवे तु देशोनत्वं समयानुसारेण स्वयं परिभावनीयं सुगमत्वान्न प्रदर्श्यते । गतं लेश्यामार्गणायामन्तरम् , भव्यमार्गणाया नचक्षुर्दर्शनमार्गणया साकं,अभव्यमार्गणायामज्ञानद्वयादिमार्गणाभिः समं निरूपितमन्तरम् , सम्यक्त्वौघक्षायोप-



शमिकमार्गणाद्वये पञ्चेन्द्रियादिमार्गणाभिः समं, मिथ्यात्वमार्गणायामज्ञानद्वयादिमार्गणाभिः सह निरूपितम्, उपशमसम्यक्त्व-सम्यग्मिथ्यात्व सास्वादनमार्गणात्रयस्याऽन्तर्मुहूर्तमात्रस्थितिकत्वात्तत्र बन्धार्हप्रकृतीनां ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टान्तरमन्तर्मुहूर्तम्, एतच्च 'सेसासु देसूणा जेट्ठकायठिई' इत्यनेन निरूपितम् ॥३८२-३८३॥

अथ क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणायां यासां प्रकृतान्तरं बन्धकजीवाश्रया देशोनकायस्थितिस्साधिकत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमप्रमाणं न भवति तासां तद्दर्शयति--

खइअम्मि उ देसूणा बावीसा सागरोवमा णेयं ।
णरुरलदुगवइराणं अहवा देसूणतेत्तीसा ॥३८४॥

(प्रे०) "खइअम्मि" इत्यादि, क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणायां देवानामेव मनुष्यद्विकौदारिकद्विकवज्रर्षभनाराचसंहननरूपाणां पञ्चानां बन्धकत्वात्तत्राच्युतदेवापेक्षया देशोनद्वाविंशतिः सागरोपमाणि ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टान्तरं प्राप्यते, मतान्तरेणानुत्तरदेवेष्वपि ज्येष्ठप्रदेशबन्धसम्भवाद् देशोनत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि, भावना तु सुगमा । उक्तशेषाणां बन्धार्हाणामायुर्वर्जानां द्वासप्ततिप्रकृतीनामुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्य ज्येष्ठान्तरं साधिकत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि, साधिकत्वं च यथासम्भवं बोद्धव्यम् । बन्धकजीवानधिकृत्य कायस्थितेः साधिकत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमप्रमाणत्वात्, 'सेसासु देसूणा जेट्ठकायठिई' इत्यनेन देशोनकायस्थितिप्रमाणमन्तरं बोद्धव्यम् । संज्ञिमार्गणायामाहारिमार्गणायां च पञ्चेन्द्रियमार्गणया सह निरूपितम् । असंज्ञिनि बन्धार्हाणां त्रयोदशोत्तरशतप्रकृतीनामुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्य ज्येष्ठान्तरं देशोनकायस्थितिः, पञ्चेन्द्रियस्य ज्येष्ठप्रदेशबन्धभावेनासंख्येयपुद्गलपरावर्तकालं यावदेकेन्द्रियेषु तिष्ठतां तावत्कालमुत्कृष्टप्रदेशबन्धाभावान्निरुक्तान्तरं प्राप्यते । अनाहारकमार्गणायां बन्धार्हसर्वप्रकृतीनां ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्यान्तरमेव न भवतीति प्रागेव निरूपितम् । एवमादेशत आयुर्वर्जानां ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्य जघन्योत्कृष्टभेदेन द्विविधमन्तरं निरूपितम् ॥३८४॥

अथ मार्गणास्वनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्यान्तरं दर्शयन्नाह—

णत्थि उरलमीसे खलु धुवबंधिजिणुरलचउसुराईणं ।
सेसाण लहु समयो परमं णेयं मुहुत्तंतो ॥३८५॥
णत्थि खलु विउवमीसे धुवबंधीण तह सगुरलाईणं ।
सेसाण भवे समयो हस्सं जेट्ठं मुहुत्तंतो ॥३८६॥
आहारगमीसे णो बारहसायाइवज्जपयडीणं ।
सेसाण लहुं हवए समयो जेट्ठं मुहुत्तंतो ॥३८७॥

(प्रे०) "णत्थि" इत्यादि, औदारिकमिश्रकाययोगमार्गणायां ध्रुवबन्धिप्रकृतीनां सप्तचत्वारिंशतो जिननामौदारिकशरीरदेवद्विकवैक्रियद्विकरूपाणां च समुदितानां त्रिपञ्चाशतोऽनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्यान्तरमेव न भवत्यासां प्रकृतिबन्धान्तराभावाज्ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्य मार्गणाचरमसमये एव भावाच्च। शेषाणां बन्धार्हाणामायुर्वर्जानामेकोनषष्टेः प्रकृतीनामध्रुवबन्धित्वात्प्रकृतिबन्धान्तरस्य समयप्रमाणत्वेनानुत्कृष्टप्रदेशबन्धान्तरस्यापि तथात्वात् जघन्यमन्तरं समयमात्रं प्रतिपादितम्, उत्कृष्टमन्तरं पुनरन्तर्मुहूर्तम्, ततोऽधिकं मार्गणाया एवानवस्थानात्। एवं वैक्रियमिश्रकाययोगमार्गणायां सप्तचत्वारिंशद्ध्रुवबन्धिप्रकृतीनां तथौदारिकशरीरपराघातोच्छ्वासबादरत्रिकजिननामरूपाणां सप्तानां चानुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्यान्तरं न भवति, मार्गणायामेतासां बन्धस्य निरन्तरप्रवर्तनेन बन्धविच्छेदाभावात्, मार्गणाचरमसमये एव ज्येष्ठप्रदेशबन्धार्हत्वाच्च। उक्तशेषाणामष्टचत्वारिंशत्प्रकृतीनामनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्य जघन्यान्तरं समयः, आसां बन्धस्य परावर्तमानत्वेन समयान्तरे पुनस्तत्प्रवर्तनात्, उत्कृष्टतश्चान्तर्मुहूर्तम्, मार्गणाकालस्य ततोऽनधिकत्वात्। शेषाष्टचत्वारिंशत्प्रकृतयः पुनरिमाः—वेदनीयद्वयवेदत्रयहास्यरतिशोकारतितिर्यग्द्विकमनुष्यद्विकैकेन्द्रियपञ्चेन्द्रियजातिनामौदारिकाङ्गोपाङ्गनामसंहननषट्कसंस्थानषट्कखगतिद्वयातपोद्योतत्रसनामस्थिरषट्कस्थावरनामास्थिरषट्कगोत्रद्वयरूपाः। आहारकमिश्रकाययोगमार्गणायां सातासातवेदनीयस्थिराऽस्थिरशुभाशुभयशःकीर्तिनामायशःकीर्तिनामहास्यरतिशोकारतिरूपाणां द्वादशानामनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्य जघन्यान्तरं समयः, प्रस्तुतमार्गणायामेतासां बन्धस्य परावर्तमानत्वेन समयान्तरे पुनस्तद्बन्धस्य लाभादुत्कृष्टतश्चान्तर्मुहूर्तम्, तदूर्ध्वं मार्गणाया अपगमात्। उक्तशेषाणां मार्गणायां बन्धार्हाणां पञ्चाशत्प्रकृतीनामनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्यान्तरं न भवति शेषप्रकृतीनां बन्धविच्छेदाभावेन प्रकृतिबन्धान्तरस्याभावाद्, मार्गणायाश्चरमसमये एव ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्य भावान्न तत्प्रयुक्तमप्यन्तरं प्राप्यते ॥३८५-३८७॥

अथ कार्मणानाहारकयोरनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्य जघन्योत्कृष्टरूपं द्विविधमन्तरं शेषमार्गणासु चानुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्य जघन्यान्तरं प्रदर्शयन्नाह—

कम्माणाहारेसुं गुरुकालो उरलवज्जअधुवाणं।
समयतिगं सिं समयो अगुरुपएसस्स अंतरं दुविहं ॥३८८॥ (गीतिः)
सेसाण णत्थि, अण्णह समयो लहुमाउवज्जपयडीणं।

(प्रे०) "कम्माणाहारेसु" मित्यादि, कार्मणानाहारकमार्गणाद्वये बन्धकजीवानामुत्कृष्टतो समयत्रयमवस्थानं भवति तच्चैकेन्द्रियजीवापेक्षया, त्रसजीवानां तु समयद्वयं, तत्रापि संज्ञिपञ्चेन्द्रियेभ्यः संज्ञिपञ्चेन्द्रियतयोत्पद्यमानानां मार्गणाचरमसमये द्वितीयसमयरूपे एव ज्येष्ठप्रदेशबन्धोभवितुम-

ष्टेति, अत एतन्मार्गणाद्वये ध्रुवबन्धिप्रकृतीनामनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्यान्तरं नैव भवति प्रकृतिबन्धप्रयुक्तान्तराभावे सति ज्येष्ठप्रदेशबन्धप्रयुक्तान्तराभावात्। अध्रुवबन्धिनीषु यासां बन्धकालः समयत्रयम्, ताभ्य औदारिकशरीरनाम विहाय शेषाणां प्रकृतिबन्धान्तरस्य जघन्यत उत्कृष्टतश्च समयमात्रत्वात्प्रस्तुतेऽनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्य द्विविधमन्तरं समयप्रमाणं भवति, प्रथमतृतीयसमये तद्बन्धस्य प्रवर्तनाद् द्वितीयसमये परावर्तमानत्वेन तद्बन्धविरमणाच्च। समयत्रय बन्धप्रायोग्या अध्रुवबन्धिप्रकृतय एकमतेनैकोनषष्टिः, अन्यमतेन नपुंसकवेदनीचैर्गोत्रादीनां प्रतिपक्षप्रकृतीनां बन्धाभावेन समयत्रयं यावन्निरंतरं बध्यमानत्वादन्तरं न प्राप्यते सातवेदनीयादीनां तु तदन्तरं समयप्रमाणं प्राप्यते इति। औदारिकशरीरनाम्न एकेन्द्रियाणां समयत्रयं यावद्बध्यमानत्वेऽपि तेषां तस्य ध्रुवबन्धिकल्पत्वेन प्रकृतिबन्धान्तरप्रयुक्तमन्तरं न प्राप्यते, उत्कृष्टप्रदेशबन्धप्रयुक्तान्तरं तु कस्या अपि प्रकृतेः प्रस्तुते न लभ्यतेऽतो यथा ध्रुवबन्धिप्रकृतीनामन्तरनिषेधस्तथैवौदारिकशरीरस्यापि तन्निषेधो विज्ञातव्यः। देवद्विकवैक्रियद्विकजिननामरूपाणां पञ्चानां तु प्रस्तुतमार्गणाद्वये बन्धकालस्यैव समयद्वयप्रमाणत्वादन्तरं न प्राप्यतेऽन्तरस्य बन्धद्वयसापेक्षत्वेन जघन्यतोऽपि समयत्रयसापेक्षत्वात्। निरुक्तमार्गणापञ्चकं विहाय शेषासु पञ्चषष्ट्युत्तरशतमार्गणास्वायुष उत्तरत्र वक्ष्यमाणत्वेन तद्वर्जानां बन्धार्हाणां सर्वासां प्रकृतीनामनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्य जघन्यान्तरं समयः प्राप्यते, एतासु मार्गणास्वनुत्कृष्टप्रदेशबन्धद्वयान्तराले समयमात्रमुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्य भावादेव पञ्चषष्ट्युत्तरशतमार्गणासु सर्वासां ज्येष्ठप्रदेशबन्धप्रयुक्तं समयप्रमाणं जघन्यान्तरं प्राप्यते, प्रकृतिबन्धान्तरेणापि कासाञ्चित्प्रकृतीनां प्रस्तुतान्तरं प्राप्यत इति, भावना तु सुगमा ॥३८८॥

अथ शेषपञ्चषष्ट्युत्तरशतमार्गणास्वेवाऽनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टान्तरं सापवादं प्रकृतिबन्धोत्कृष्टान्तरवदतिदिशन्नाह—

पयडीबंधव्व गुरुं णवरि ण जेसिं दुसमया सिं ॥३८९॥

(प्रे०) 'पयडी' इत्यादि, अनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्य, जघन्यान्तरस्य निरूपितत्वेन गुरुं ज्येष्ठान्तरं प्रकृतिबन्धवत् प्रकृतिबन्धे यासु यासु मार्गणासु यासां यासां प्रकृतीनां यावदन्तरं निरूपितं तावदन्तरं प्रस्तुतेऽपि बोद्धव्यं, प्रकृतिबन्धान्तरमविकृत्यैव प्रस्तुतान्तरस्य लाभात् यासु पुनर्यासां प्रकृतीनां प्रकृतिबन्धस्यान्तरं न भवति तासु तासां ज्येष्ठप्रदेशबन्धप्रयुक्त समयद्वयमन्तरं प्राप्यते। एतदेव प्रतिमार्गणं दर्शयामः, तद्यथा—नरकगत्योघे मिथ्यात्वस्त्यानर्द्धित्रिकानन्तानुबन्धिचतुष्कस्त्रीवेदनपुंसकवेदतिर्यग्द्विकद्वितीयादिसंहननपञ्चकद्वितीयादिसंस्थानपञ्चककुखगतिनामोद्योतदुर्भगत्रिकनीचैर्गोत्ररूपाणामष्टाविंशतेर्देशोनत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि प्रकृतानुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्य ज्येष्ठान्तरं ज्ञातव्यम्, सम्यक्त्वगुणस्थाने एतासां बन्धाभावात्। ज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरणचतुष्कनिद्राद्विकायवर्जद्वादशकषायभयजुगुप्सानवनामध्रुवबन्धिन्यन्तरायपञ्चकरूपाणामेकोनचत्वारिंशतो ध्रुवबन्धिनीनां पञ्चेन्द्रियजात्यौदारिकद्वि-

कपराघातोच्छ्वासत्रसचतुष्करूपाणां नवानां ध्रुवबन्धिकल्पानां च समयद्वयं प्रकृतान्तरम् , प्रकृतीनां बन्धविच्छेदाभावेन निरन्तरं बध्यमानत्वे सति विरुद्धबन्धरूपज्येष्ठप्रदेशबन्धकालस्य तथात्वात् । वेदनीयद्वयहास्यादियुगलद्वयपुरुषवेदवज्रर्षभनाराचसंहननसमचतुरस्रसंस्थानसुखगतिस्थिरषट्कास्थिराशुभाऽयशःकीर्तिरूपाणामेकोनविंशतेः प्रकृतिबन्धान्तरस्योत्कृष्टतोऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणत्वेन प्रस्तुतान्तरस्यापि तथात्वाद् ! मनुष्यद्विकोच्चैर्गोत्रलक्षणप्रकृतित्रयस्य प्रस्तुतान्तरं देशोनत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि,सप्तमनारकाणां मिथ्यात्वगुणस्थाने बन्धाभावात्सम्यक्त्वगुणस्थानान्तरस्य तावत्प्रमाणत्वाच्च। जिननाम्नः प्रस्तुतबन्धस्यान्तरं नरकगतौ प्रकृतिबन्धविच्छेदाभावाज्ज्ञानावरणवत्समयद्वयम् । आद्यनरकत्रिके मिथ्यात्वाद्यष्टाविंशतेर्देशोनस्वज्येष्ठकायस्थितिः, मनुष्यद्विकोच्चैर्गोत्रयोरन्तर्मुहूर्तं तत्प्रकृतिबन्धान्तरस्य तादृशत्वाच्छेषाणामष्टषष्टेर्नरकगत्योघवत् । चतुर्थादिनरकत्रिके -मिथ्यात्वाद्यष्टाविंशतेर्देशोनस्वज्येष्ठकायस्थितिर्मनुष्यद्विकोच्चैर्गोत्रयोरन्तर्मुहूर्तं, तत्प्रकृतिबन्धान्तरस्य तथात्वात् । जिननाम्नोऽत्र बन्धाभावाच्छेषाणां सप्तषष्टेर्नरकगत्योघवत्प्रस्तुतान्तरं विज्ञेयम् । सप्तमनरके जिननामवर्जानामष्टनवतेर्नरकगत्योघवद्विज्ञेयम् ।

तिर्यग्गत्योघमार्गणायां मिथ्यात्वस्त्यानर्द्धित्रिकानन्तानुबन्धिचतुष्कस्त्रीवेदरूपाणां नवानां देशोनपल्योपमत्रयम् युग्मितिरश्चां भवस्याद्यकाले प्रान्ते च तद्बन्धविधायिनां तयोर्मध्ये सम्यक्त्वप्रभावेनासां बन्धाभावात् । नपुंसकवेदाप्रत्याख्यानावरणचतुष्कतिर्यग्द्विकजातिचतुष्कौदारिकद्विकसहननषट्काद्यवर्जसंस्थानपञ्चककुखगतिनामातपोद्योतस्थावरचतुष्कदुर्भगत्रिकनीचैर्गोत्ररूपाणां पञ्चत्रिंशत्प्रकृतीनामनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्य गुर्वन्तरं देशोनपूर्वकोटिः, पूर्वकोट्यायुष्कस्य भवस्याद्ये प्रान्ते च यथायोग्यकाले तद्बन्धभावाद् मध्ये तु देशोनपूर्वकोटिं यावत् सम्यक्त्वदेशविरत्योर्भावेन तद्बन्धानर्हत्वाच्च । युगलिकापेक्षयैतासामन्तरं न प्राप्यते, अप्रत्याख्यानावरणचतुष्कस्यात्राबन्धाभावात् , कासाञ्चित्तत्र बन्धाभावात्कासाञ्चित्तत्र भवाद्यकाले बन्धभावेऽपि भवप्रान्ते बन्धानर्हत्वाच्चदूर्ध्वं मार्गणाया विच्छेदाच्च । देवद्विकनरकद्विकवैक्रियद्विकानामावलिकाऽसंख्येयभागगतसमयप्रमाणा असंख्येयपुद्गलपरावर्ताः, मनुष्यद्विकोच्चैर्गोत्रयोरसंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमितसमया अन्तरत्वेन प्राप्यन्ते । ज्ञानावरणादीनां पञ्चत्रिंशद्ध्रुवबन्धिप्रकृतीनां पञ्चमगुणस्थाने बन्धार्हाणां प्रकृतिबन्धस्यान्तराभावाज्ज्येष्ठप्रदेशबन्धप्रयुक्तमन्तरं समयद्वयं प्राप्यते । वेदनीयद्वयहास्यादियुगलद्वयपुरुषवेदपञ्चेन्द्रियजातिसमचतुरस्रसंस्थानसुखगतिपराघातोच्छ्वासत्रसदशकास्थिराशुभायशःकीर्तिनामलक्षणानां पञ्चविंशतेः प्रकृतीनां प्रस्तुतान्तरं प्रकृतिबन्धान्तरवदन्तर्मुहूर्तम् । भावना तु सुगमा । पञ्चेन्द्रियतिर्यक्त्रिके सर्वं तिर्यगोघवदवसातव्यम् , केवलं देवद्विकवैक्रियद्विकोच्चैर्गोत्रलक्षणानां पञ्चानामन्तर्मुहूर्तम् , दीर्घबन्धान्तरप्रयोजकीभूतस्य गुणप्रत्ययभवप्रत्ययरूपस्य बन्धप्रतिबन्धकस्याभावेनान्तर्मुहूर्तप्रमाणस्यैव प्रकृतिबन्धान्तरस्य लाभात्। नरकद्विकमनुष्यद्विकयोर्देशोनपूर्वकोटिप्रमितं प्रस्तुतान्तरं

प्राप्यते, प्रस्तुतमार्गणागतानां कर्मभूमिजानामेवापेक्षया प्रस्तुतान्तरस्य लाभादिति। युगलिकतिरश्चोऽपेक्ष्य नरकद्विकस्य बन्धाभावान्मनुष्यद्विकस्य भवाद्यकाले बन्धार्हत्वेऽपि भवप्रान्ते तद्बन्धानर्हत्वात् पूर्वकोट्यायुष्कवतां कर्मभूमिजानां ग्रहणं विज्ञेयम् ।

अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यगपर्याप्तमनुष्या-ऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रियापर्याप्तत्रसकायमार्गणाचतुष्के नवविकलाक्षमार्गणासु पञ्चविंशतौ पृथ्वीकायाप्कायवनस्पतिकायसत्कसर्वभेदेषु चेत्येवं सर्वसंख्ययैतेष्वष्टात्रिंशद्मार्गणाभेदेषु सप्तचत्वारिंशद्ध्रुवबन्धिप्रकृतीनामौदारिकशरीरनाम्नश्चानुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टान्तरं प्रकृतिबन्धान्तराभावादनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टान्तरं ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टकालरूपं समयद्वयम् तत्प्रयुक्तान्तरस्यैव लाभात् । शेषाणां बन्धार्हाणामायुर्वर्जानां नवपञ्चाशदध्रुवबन्धिप्रकृतीनां निरुक्तसर्वमार्गणाभेदेषु प्रकृतिबन्धान्तरस्यान्तर्मुहूर्तप्रमाणत्वात् प्रस्तुतान्तरमप्यन्तर्मुहूर्तप्रमाणं विज्ञेयम् ।

त्रिमनुष्यमार्गणासु मिथ्यात्व-स्त्यानर्द्धित्रिकानन्तानुबन्धिचतुष्कस्त्रीवेदरूपाणां नवानां प्रस्तुतान्तरं देशोनपल्योपमत्रयम् । तिर्यग्गत्योघमार्गणोक्तानां नपुंसकवेदादिपञ्चत्रिंशत्प्रकृतीनां प्रत्याख्यानावरणकषायचतुष्कनरकद्विकमनुष्यद्विकरूपाणामष्टानां च देशोनपूर्वकोटिः। आहारकद्विकस्य पूर्वकोटिपृथक्त्वम् , शेषाणां षष्ठगुणस्थाने बन्धार्हाणां ज्ञानावरणादीनामेकत्रिंशद्ध्रुवबन्धिनीनां वेदनीयद्वयहास्यादियुगलद्वयपुरुषवेददेवद्विकपञ्चेन्द्रियजातिवैक्रियद्विकसमचतुरस्रसंस्थानसुखगतिपराघातोच्छ्वासजिननामत्रसदशकास्थिराशुभायशःकीर्तिनामोच्चैर्गोत्ररूपाणामेकत्रिंशदध्रुवबन्धिप्रकृतीनामनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टान्तरमन्तर्मुहूर्तं तत्प्रकृतिबन्धान्तरस्य तथात्वात् ।

देवौघमार्गणायां मिथ्यात्वस्त्यानर्द्धित्रिकानन्तानुबन्धिचतुष्कस्त्रीवेदनपुंसकवेदाद्यवर्जसंहननपञ्चकाद्यवर्जसंस्थानपञ्चककुखगतिनामदुर्भगत्रिकनीचैर्गोत्ररूपाणां पञ्चविंशतेः प्रस्तुतान्तरं देशोनैकत्रिंशत्सागरोपमाणि, अनुत्तरदेवाना बन्धाभावान्नवमग्रैवेयकदेवापेक्षयैतावदन्तरस्य प्राप्यमाणत्वात्तत्र मिथ्यात्वगुणस्थानान्तरस्य तथात्वाद् । मतान्तरेण पुनर्देशोनद्वाविंशतिसागरोपमाणि प्रस्तुतान्तरं बोद्धव्यं, ग्रैवेयकादीनां ज्येष्ठयोगस्थानाभावात् । तिर्यग्द्विकोद्योतनाम्नोर्देशोनान्यष्टादशसागरोपमाणि प्रस्तुतान्तरत्वेन प्राप्यन्ते, अष्टमकल्पगतदेवापेक्षया तल्लाभात् , आनतादिदेवानां तयोर्बन्धाभावात् । एकेन्द्रियस्थावरातपनामरूपप्रकृतित्रयस्येशानदेवलोकपर्यन्तवर्तिनामेव बन्धार्हत्वात् , तेषां च ज्येष्ठस्थितेः साधिकसागरोपमद्वयप्रमाणत्वाद् देशोनतावत्स्थितिप्रमाणं प्रस्तुतान्तरं प्राप्यते । ज्ञानावरणाद्येकोनचत्वारिंशद्ध्रुवबन्धिप्रकृतीनामौदारिकशरीरपराघातोच्छ्वासबादरत्रिकरूपाणां षण्णां जिननाम्नश्चेति-षट्चत्वारिंशत्प्रकृतिना प्रकृतिबन्धान्तराभावाज्ज्येष्ठप्रदेशबन्धप्रयुक्तं समयद्वयं प्रस्तुतान्तरं प्राप्यते । वेदनीयद्वयहास्यादियुगलद्वयपुरुषवेदमनुष्यद्विकपञ्चेन्द्रियजात्यौदारिकाङ्गोपाङ्गवज्रर्षभनाराचसंहननसमचतुरस्रसंस्थानसुखगतित्रसनामस्थिरषट्कास्थिराशुभायशःकीर्तिनामोच्चैर्गोत्रलक्षणानां पञ्चविंशतेः प्रकृतिबन्धान्तरस्यान्तर्मुहूर्तप्रमाणत्वात्प्रस्तुतान्तरं तथा विज्ञेयम् । भवनपतिव्यन्तरज्योतिष्कदेवमार्ग-

णात्रये मिथ्यात्वादिपञ्चविंशतेस्तिर्यग्द्विकोद्योतनामैकेन्द्रियस्थावरातपलक्षणानां च समुदितानामेकत्रिंशत्प्रकृतीनां प्रस्तुतान्तरं देशोनज्येष्ठकायस्थितिप्रमाणम्, आसु तिसृषु मार्गणासु मिथ्यात्वगुणस्थानज्येष्ठान्तरस्य तथात्वेन तत्प्रकृतिबन्धान्तरस्य तथात्वात्, अत्र जिननाम्नो बन्धभावेन शेषसप्ततिप्रकृतीनामनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टान्तरं देवौघवद्विज्ञेयम् । सौधर्मेशानदेवलोकद्वये एकोत्तरशतप्रकृतीनां प्रस्तुतान्तरं भवनपतिवत्तथाऽत्र जिननाम्नो बन्धार्हत्वात्तस्य प्रस्तुतान्तरं देवौघवत् समयद्वयं भवति । सनत्कुमारादिसहस्रारावसानासु षड्मार्गणासु प्रथमनरकवद्विज्ञेयम् । आनतादिनवमग्रैवेयकपर्यवसानासु त्रयोदशदेवमार्गणासु मिथ्यात्वादिपञ्चविंशतेः प्रस्तुतान्तरं देशोनस्वज्येष्ठकायस्थितिः, ज्ञानावरणाद्येकोनचत्वारिंशद्ध्रुवबन्धिप्रकृतीनां मनुष्यद्विकपञ्चेन्द्रियजात्यौदारिकद्विकपराघातोच्छ्वासत्रसचतुष्करूपाणां च समुदितानां पञ्चाशत्प्रकृतीना जिननाम्नश्च प्रकृतिबन्धस्यान्तराभावात् प्रस्तुतान्तरं ज्येष्ठप्रदेशबन्धज्येष्ठकालप्रयुक्तं समयद्वयम्, सातासातवेदनीयहास्यादियुगलद्वयपुरुषवेदवज्रर्षभनाराचसंहननसमचतुरस्रसंस्थानसुखगतिस्थिरषट्कास्थिराशुभायशःकीर्तिनामोच्चैर्गोत्ररूपाणां विंशतेः प्रकृतीनां प्रस्तुतान्तरमन्तर्मुहूर्तम्, तासां प्रकृतिबन्धान्तरस्यापि तथात्वात् । अनुत्तरसुरमार्गणापञ्चके वेदनीयद्वयहास्यादियुगलद्वयस्थिरास्थिरशुभाशुभयशःकीर्त्ययशःकीर्तिनामरूपाणां द्वादशानां प्रस्तुतान्तरमन्तर्मुहूर्तं प्रकृतिबन्धान्तरस्याप्यन्तर्मुहूर्तप्रमाणत्वात्, शेषाणां मार्गणासु बन्धार्हाणां मतिज्ञानावरणाद्येकोनषष्टेः प्रकृतिबन्धान्तरस्याभावाज्ज्येष्ठप्रदेशबन्धप्रयुक्तं समयद्वयमन्तरं विज्ञेयम् । एवं गतिमार्गणा समाप्ता ।

इन्द्रियमार्गणायामेकेन्द्रियसत्कसप्तमार्गणासु सप्तचत्वारिंशद्ध्रुवबन्धिप्रकृतीनामौदारिकशरीरनाम्नश्चानुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टान्तरं समयद्वयम्, प्रकृतिबन्धान्तराभावेन ज्येष्ठप्रदेशबन्धप्रयुक्तनिरुक्तान्तरस्य संभवात् । मनुष्यद्विकोच्चैर्गोत्रयोरेकेन्द्रियौघेऽसंख्येयलोकाः, एवं सूक्ष्मैकेन्द्रियौघेऽपि, बादरैकेन्द्रियौघे तु कर्मस्थितिः सप्ततिकोटिकोटिसागरोपमाणीत्यर्थः, अङ्गुलासंख्येयभागगताकाशप्रदेशप्रमितसमयप्रमाणं वा, पर्याप्तबादरैकेन्द्रियमार्गणायां संख्येयवर्षसहस्राणि, सूक्ष्मैकेन्द्रियपर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रियाऽपर्याप्त-बादरैकेन्द्रियाऽपर्याप्तमार्गणात्रये निरुक्तप्रकृतित्रयस्य प्रकृतान्तरमन्तर्मुहूर्तम्, उक्तमार्गणासप्तके बन्धार्हाणां शेषषट्पञ्चाशत्प्रकृतीनामनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्य ज्येष्ठान्तर प्रकृतिबन्धान्तरवदन्तर्मुहूर्तम् । नवविकलाक्षापर्याप्तपञ्चेन्द्रियमार्गणासु प्रागपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्मार्गणया समं निरूपितम् । पञ्चेन्द्रियौघपर्याप्तपञ्चेन्द्रियमार्गणाद्वये त्रसकायौघ-पर्याप्तत्रसकायमार्गणाद्वये संज्ञिमार्गणाया चेति मार्गणापञ्चके देवद्विकवैक्रियद्विकनरकद्विकाहारकद्विकमनुष्यद्विकोच्चैर्गोत्रवर्जानां पञ्चोत्तरशतप्रकृतीनां प्रस्तुतान्तरमोघवद्भवत्योघेऽपि पञ्चोत्तरशतप्रकृतीनामनुत्कृष्टप्रदेशबन्धज्येष्ठान्तरस्य निर्वाहकतया पञ्चेन्द्रियाणामेव लाभात् । तद्यथा—जातिचतुष्कस्थावरचतुष्कातपलक्षणानां नवानामन्तरं पञ्चाशीत्यभ्यधिकसागरोपमशतं सातिरेकम्, एवं प्रस्तुतपञ्चमार्गणासु नरकद्विक-

स्यापि प्रस्तुतान्तरमेतावद्भवति । तिर्यग्द्विकोद्योतरूपप्रकृतित्रयस्यानुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टान्तरं त्रिपष्ट्यभ्यधिकं सागरोपमशतं सातिरेकम् , मिथ्यात्व स्त्यानर्द्धित्रिकानन्तानुबन्धिचतुष्कस्त्रीवेदनपुंसकवेदाद्यवर्जसंहननपञ्चकाद्यवर्जसंस्थानपञ्चककुखगतिदुर्भगत्रिकनीचैर्गोत्ररूपाणां पञ्चविंशतेर्द्वात्रिंशदभ्यधिकं सागरोपमशतं साधिकम् , अन्ये तु देशोनमाचक्षते । अप्रत्याख्यानावरण-प्रत्याख्यानावरणचतुष्कयोर्देशोनपूर्वकोटिः । मनुष्यद्विकोच्चैर्गोत्रयोः सातिरेकत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि मिथ्यादृग्सप्तमनारकस्याभवपर्यन्तं तद्प्राग्भवचरमान्तर्मुहूर्ते उत्तरभवे प्रथमान्तर्मुहूर्ते चाबध्यमानत्वात् । देवद्विकवैक्रियद्विकयोरपि प्रस्तुतान्तरं सातिरेकत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमप्रमाणम् , एतदपि सप्तमनारकमधिकृत्य विभावनीयम् । औदारिकद्विकवज्रर्षभनाराचयोरन्तर्मुहूर्तोनपूर्वकोटितृतीयभागाभ्यधिकं पल्योपमत्रयं, क्षायिकसम्यग्दृष्टिमनुष्यापेक्षयैतावत्प्रमाणस्य निरुक्तान्तरस्य प्राप्यमाणत्वाद्भावना तु प्रकृतिबन्धान्तरवत् कार्या । आहारकद्विकस्य देशोनकायस्थितिप्रमितं प्रस्तुतान्तरं प्राप्यते । ज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरणचतुष्कनिद्राद्विकसातासातवेदनीयद्वयसञ्ज्वलनचतुष्कभयजुगुप्सापुरुषवेदहास्यादियुगलद्वयपञ्चेन्द्रियजातिनामध्रुवबन्धिनवकसमचतुरस्रसंस्थानसुखगतिपराघातोच्छ्वासजिननामत्रसदशकास्थिरशुभायशःकीर्तिनामान्तरायपञ्चकलक्षणसप्तपञ्चाशत्प्रकृतीना प्रस्तुतान्तरमन्तर्मुहूर्तं भवति, तत्प्रकृतिबन्धान्तरस्य तथात्वात् ।

कायमार्गणासत्कासु सप्ततेज कायमार्गणासु सप्तवायुकायमार्गणासु सप्तचत्वारिंशद्ध्रुवबन्धिप्रकृतीनां तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्रौदारिकशरीरनाम्नां च ध्रुवबन्धिकल्पत्वेन प्रकृतिबन्धान्तराभावान्मार्गणार्हज्येष्ठप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टकालप्रयुक्तं समयद्वयं प्रस्तुतान्तरं प्राप्यते । शेषाणां बन्धार्हाणां त्रिपञ्चाशदनायुःप्रकृतीनामनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टान्तरमन्तर्मुहूर्तं तत्प्रकृतिबन्धान्तरस्यापि तथात्वात् । शेषास्त्वष्टाविंशतिकायमार्गणास्त्वपर्याप्ततिर्यक्पञ्चेन्द्रियादिभिः समं तत्तन्मार्गणाप्ररूपणायाः साम्येन निरूपितम् ।

योगमार्गणात. पञ्चमनोयोगेषु पञ्चवचोयोगेष्वौदारिककाययोगमार्गणायां च सप्तचत्वारिंशद्ध्रुवबन्धिप्रकृतीनां जिननामा-ऽऽहारकद्विकयोश्च प्रकृतिबन्धान्तराभावाज्ज्येष्ठबन्धप्रयुक्तं प्रस्तुतान्तरं समयद्वयम् , शेषाणां षट्षष्ट्यध्रुवबन्धिप्रकृतीनां प्रस्तुतान्तरमन्तर्मुहूर्तं मार्गणाकायस्थितेरन्तर्मुहूर्तप्रमाणत्वात्प्रकृतिबन्धान्तरस्य तथात्वाच्चौदारिककाययोगमार्गणाया एकेन्द्रियजीवापेक्षया दीर्घकायस्थितिकत्वेऽपि न प्रस्तुतान्तरस्याधिक्यम् । काययोगसामान्यमार्गणायां मिथ्यात्वस्त्यानर्द्धित्रिकानन्तानुबन्धिचतुष्काप्रत्याख्यानावरणचतुष्कप्रत्याख्यानावरणचतुष्करूपाणां षोडशध्रुवबन्धिप्रकृतीनामनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टान्तरं समयद्वयम् , अधस्तनगुणस्थानेभ्य उपरितनगुणस्थानमागता जघन्यतो यावत्कालेन प्रत्यावर्तन्ते ततोऽप्यल्पकालं प्रस्तुतमार्गणायां तासामवस्थानात्प्रकृतिबन्धान्तरं न प्राप्यते, अतस्तत्प्रयुक्तान्तराभावाज्ज्येष्ठप्रदेशबन्धप्रयुक्तं प्रस्तुतान्तरं प्राप्यते । एवमाहारकद्विकस्यापि विज्ञेयम् । तथा ज्ञानावरणाद्येकत्रिंशद्ध्रुवबन्धिप्रकृतीनां जिननाम्नश्च प्रस्तुतान्तरमन्तर्मुहूर्तं मार्गणाप्रथम-

समये तत्तत्प्रकृतीनां बन्धं कृत्वा द्वितीयसमये च श्रेणावबन्धं विधायौदारिककाययोगेऽन्तर्मुहूर्तमवस्थाय कालं कृत्वा दिवि समुत्पादे पुनस्तद्बन्धप्रारम्भादन्तर्मुहूर्तप्रमाणं प्रस्तुतान्तरं प्राप्यते, प्रकृतिबन्धान्तरस्यापि तथात्वात् । बन्धार्हाणां शेषाणां षट्षष्टेरध्रुवबन्धिप्रकृतीनामनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टान्तरमन्तर्मुहूर्तं तत्प्रकृतिबन्धान्तरस्यापि तथात्वात्तच्च क्वचिन्मार्गणायाः परावर्तमानत्वात् क्वचिच्च तत्तत्प्रकृतीनां बन्धस्य परावर्तमानत्वाद्वा । प्रस्तुते संज्ञिजीवापेक्षया गुर्वन्तरं प्राप्यते, परावर्तमानप्रकृतीनामेकेन्द्रियसत्कबन्धकालापेक्षया द्वीन्द्रियादिजीवानामुत्तरोत्तरक्रमेण बन्धकालस्याधिक्यात् । वैक्रियकाययोगमार्गणायां सप्तचत्वारिंशद्ध्रुवबन्धिप्रकृतीनामौदारिकशरीरपराघातोच्छ्वासबादरत्रिकजिननामरूपाणां चतुःपञ्चाशत्प्रकृतीनामनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टान्तरं समयद्वयं ज्येष्ठप्रदेशबन्धकालस्य तावत्प्रमाणत्वात्प्रकृतिबन्धान्तरस्याभावाच्च । शेषाणां बन्धार्हाणामष्टचत्वारिंशत्प्रकृतीनां प्रस्तुतान्तरमन्तर्मुहूर्तं प्रकृतिबन्धान्तरस्यैतावत्प्रमाणत्वात् । आहारककाययोगमार्गणाया सातवेदनीयादिद्वादशानामन्तर्मुहूर्तं शेषाणां बन्धार्हाणां पञ्चाशत्प्रकृतीनां समयद्वयम् , प्रकृतिबन्धान्तरस्याभावाज्ज्येष्ठप्रदेशबन्धप्रयुक्तं प्रस्तुतान्तरं विज्ञेयम् । औदारिकमिश्रवैक्रियमिश्राऽऽहारकमिश्रकार्मणयोगमार्गणासु प्राक्पृथक्प्ररूपणा कृता ।

वेदमार्गणान्तर्गतस्त्रीवेदमार्गणाया ज्ञानावरणाद्येकत्रिंशत्प्रकृतीनां जिननाम्नश्च प्रकृतिबन्धान्तराभावाज्ज्येष्ठप्रदेशबन्धप्रयुक्तं प्रस्तुतान्तरं समयद्वयं प्राप्यते । प्रत्याख्यानावरणचतुष्काप्रत्याख्यानावरणचतुष्करूपमध्यमकषायाष्टकस्य देशोनपूर्वकोटिः । मिथ्यात्वस्त्यानर्द्धित्रिकानन्तानुबन्धिचतुष्कस्त्रीवेदनपुंसकवेदतिर्यग्द्विकैकेन्द्रियजातिनामाद्यवर्जसंहननपञ्चकाद्यवर्जसंस्थानपञ्चककुखगतिनामातपोद्योतस्थावरनामदुर्भगत्रिकनीचैर्गोत्ररूपाणामेकत्रिंशत्प्रकृतीनामनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टान्तरं देशोनानि पञ्चपञ्चाशत्पल्योपमानि । विकलत्रिकसूक्ष्मत्रिकनरकद्विकदेवद्विकवैक्रियद्विकरूपाणां द्वादशप्रकृतीनां प्रस्तुतान्तरं साधिकानि पञ्चपञ्चाशत्पल्योपमानि, देवभवे आसामबध्यमानत्वात् देवभवतः प्राग्भवे चरमान्तर्मुहूर्ते उत्तरभवप्रथमान्तर्मुहूर्ते च यथार्हं तासामबध्यमानत्वाच्च । मनुष्यद्विकौदारिकद्विकवज्रर्षभनाराचसंहननरूपाणां पञ्चानां प्रस्तुतान्तरं देशोनपल्योपमत्रयं युग्मिनीनामपर्याप्तावस्थाया ऊर्ध्वमासां बन्धाभावात् । आहारकद्विकस्य देशोनस्वज्येष्ठकायस्थितिः पल्योपमशतपृथक्त्वमित्यर्थः । वेदनीयद्विकहास्यादियुगलद्वयपुरुषवेदपञ्चेन्द्रियजातिसमचतुरस्रसुखगतिपराघातोच्छ्वासत्रसदशकास्थिराशुभायशःकीर्तिनामोच्चैर्गोत्ररूपाणां षड्विंशतेरनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टान्तरमन्तर्मुहूर्तम् , तत्प्रकृतिबन्धान्तरस्य तथात्वात् ।

पुरुषवेदमार्गणाया ज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरणचतुष्कसंज्वलनचतुष्कान्तरायपञ्चकलक्षणानामष्टादशप्रकृतीनां प्रस्तुतान्तरं समयद्वयम् , आसां ध्रुवबन्धित्वेन मार्गणाचरमसमयं यावन्निरन्तरं बध्यमानत्वेन प्रकृतिबन्धान्तराभावाज्ज्येष्ठप्रदेशबन्धोत्कृष्टकालप्रयुक्तमेतावत्कालमानमन्तरं भवति ।

मध्यमकषायाष्टकस्य प्रस्तुतान्तरं देशोनपूर्वकोटिः, मिथ्यात्वस्त्यानर्द्धित्रिकानन्तानुबन्धिचतुष्कस्त्रीवेद-नपुंसकवेदाद्यवर्जसंहननपञ्चकाद्यवर्जसंस्थानपञ्चककुखगतिदुर्भगत्रिकनीचैर्गोत्ररूपाणां पञ्चविंशते-र्द्वात्रिंशदभ्यधिकं सागरोपमशतम्, प्रस्तुतमार्गणायां मिथ्यात्वान्तरकालस्यैतावन्मात्रत्वात्। तिर्यग्द्वि-कोद्योतजातिचतुष्कस्थावरचतुष्कातपनामनरकद्विकरूपाणां चतुर्दशानां साधिकं त्रिपष्ट्यभ्यधिकं साग-रोपमशतम्, भावना त्वोघवद्विधेया, नवरं षष्ठनरकसत्कद्वाविंशतिसागरोपमाणि वर्जनीयानि, नैरयिकस्य नपुंसकवेदस्यैव भावात्। मनुष्यद्विकौदारिकद्विकवज्रर्षभनाराचसंहननरूपाणां पञ्चानां प्रस्तुतान्तरं देशोनपूर्वकोटितृतीयभागाभ्यधिकं पल्योपमत्रयम्, पूर्वकोटिचरमतृतीयभागप्रारंभे युग्मिनरसत्कं त्रिप-ल्योपमस्थितिकमायुर्बद्ध्वा क्रमेण शीघ्रतरं क्षयोपशमसम्यक्त्वं प्राप्य क्षायिकसम्यक्त्वमासादयति ततश्च शेषीभूते तद्भवे युग्मिभवे च प्रस्तुतप्रकृतीनां बन्धाभावादुक्तमानं प्रकृतिबन्धान्तरं प्राप्यतेऽतः प्रस्तुतान्तरमपि तथैवेति। देवद्विकवैक्रियद्विकयोरन्तर्मुहूर्तेनाभ्यधिकानि त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि अनु-त्तरदेवभवसत्कत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि तत्प्राग्मनुष्यभवे चरमान्तर्मुहूर्ते उपशमश्रेणावासां बन्धविच्छेदं विधायारोहत एव मार्गणाचरमसमये निधनं प्राप्य देवेषूत्पद्यमानस्य मनुष्यभवचरमान्तर्मुहूर्ते आसां चतसृणां बन्धाभावादन्तर्मुहूर्तमभ्यधिकं प्रस्तुतान्तरं ज्ञातव्यम्, प्रकृतिबन्धान्तरस्यापि तावत्प्रमा-णत्वात्। आहारकद्विकस्य देशोनकायस्थितिः प्रस्तुतबन्धस्य प्रकृष्टान्तरं प्राप्यते देशोनत्वं वर्षाष्टकेन सातिरेकं ज्ञातव्यम्, तत्प्रकृतिबन्धान्तरस्यापि तथात्वात्। शेषाणां निद्राद्विकवेदनीयद्विकहास्यादियुग-लद्वयपुरुषवेदभयजुगुप्सानवनामध्रुवबन्धिप्रकृतिपञ्चेन्द्रियजातिसमचतुरस्रसंस्थानसुखगतिपराघातो-च्छ्वासजिननामत्रसदशकास्थिराशुभायशःकीर्तिनामोच्चैर्गोत्ररूपाणां चत्वारिंशत्प्रकृतीनामनुत्कृष्ट-प्रदेशबन्धस्योत्कृष्टान्तरमन्तर्मुहूर्तम्।

नपुंसकवेदमार्गणायामनन्तरोक्तानां मिथ्यात्वादिपञ्चविंशतेस्तिर्यग्द्विकोद्योतनाम्नोश्च प्रस्तुत-बन्धस्य गुर्वन्तरं देशोनानि त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि, सप्तमनारकस्य सम्यक्त्वकालस्य मिथ्यात्वान्तर-कालस्य च तावन्मात्रत्वात्। जातिचतुष्कस्थावरचतुष्कातपरूपाणां नवानां पूर्वोत्तरभवसत्कचरमाद्य-न्तर्मुहूर्तसहितानि सप्तमनारकसत्कत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि, तत्प्रकृतिबन्धान्तरस्यापि निरुक्तकाल-प्रमितत्वात्। प्रत्याख्यानावरणाप्रत्याख्यानावरणचतुष्करूपाणामष्टानामौदारिकद्विकवज्रर्षभनाराचसंह-नननाम्नोश्चेत्येकादशप्रकृतीनामनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टान्तरं देशोनपूर्वकोटिः, कषायाष्टकस्यैताव-दन्तरं देशसर्वसंयमकालस्य देशोनपूर्वकोटिप्रमाणत्वात्तत्प्रयुक्तं प्राप्यते, औदारिकद्विकवज्रर्षभनारा-चयोः सम्यग्दृष्टितिर्यग्मनुष्याणां बन्धाभावात्, युग्मितिर्यग्मनुष्याणां प्रस्तुतमार्गणाया अभावेन पूर्वकोट्यायुष्कानाश्रित्य प्रस्तुतान्तरं देशोनपूर्वकोटिप्रमाणं प्राप्यते। आहारकद्विकस्य प्रस्तुतान्तरं देशोनार्धपुद्गलपरावर्तः सकृल्लब्धसम्यक्त्वस्य संसारकालस्योत्कृष्टतोऽपि देशोनार्धपुद्गलपरावर्त-प्रमाणत्वात्। ज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरणचतुष्कान्तरायपञ्चकसंज्वलनचतुष्कभयजुगुप्सानवनामध्रुव-

बन्धिप्रकृतिनिद्राद्विकरूपाणामेकत्रिंशत्प्रकृतीनां प्रस्तुतबन्धस्य गुर्वन्तरं समयद्वयं, प्रकृतिबन्धान्तराभावेन ज्येष्ठप्रदेशबन्धप्रयुक्तान्तरस्य लाभात् । वेदनीयद्वयहास्यादियुगलद्वयपुरुषवेदपञ्चेन्द्रियजातिनामसमचतुरस्रसंस्थानसुखगतिपराघातोच्छ्वासजिननामत्रसदशकास्थिराशुभायशःकीर्तिनामरूपाणां षड्विंशतेरनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टान्तरमन्तर्मुहूर्तम् , तत्प्रकृतिबन्धान्तरस्य तथात्वात् । नरकद्विकदेवद्विकवैक्रियद्विकानामसंख्येयपुद्गलपरावर्ताः, मनुष्यद्विकोच्चैर्गोत्ररूपप्रकृतित्रयस्यासंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमितसमयप्रमाणमनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टान्तरं प्राप्यते । अपगतवेदमार्गणायां बन्धार्हाणां सर्वासां ज्ञानावरणाद्येकविंशतेरनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टान्तरमन्तर्मुहूर्तम् , छद्मस्थजीवापेक्षया मार्गणाकायस्थितेरन्तर्मुहूर्तप्रमाणत्वेन प्रकृतिबन्धान्तरस्यापि तथात्वात् ।

क्रोधमार्गणाया ज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरणचतुष्कसंज्वलनचतुष्कान्तरायपञ्चकरूपाणामष्टादशप्रकृतीनां तथा मिथ्यात्वस्त्यानर्द्धित्रिकानन्तानुबन्धिचतुष्काप्रत्याख्यानावरणचतुष्कप्रत्याख्यानावरणचतुष्करूपाणां षोडशानामाहारकद्विकस्य च प्रकृतिबन्धान्तराभावाज्ज्येष्ठप्रदेशबन्धोत्कृष्टकालप्रयुक्तं प्रस्तुतान्तरं समयद्वयं प्राप्यते , अत्राष्टादशानां बन्धविच्छेद एव न भवति, षोडशानामाहारकद्विकस्य च बन्धविच्छेदभावेऽपि पुनर्बन्धात्प्राग् मार्गणाया विच्छेदात् । आहारकद्विकवर्जानां सप्तषष्टेरध्रुवबन्धिप्रकृतीनां निद्राद्विकभयजुगुप्सानामनवध्रुवबन्धिलक्षणानां त्रयोदशध्रुवबन्धिप्रकृतीनां चान्तर्मुहूर्तप्रमाणमनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टान्तरं प्राप्यते, तत्प्रकृतिबन्धान्तरस्यापि तथात्वात् । मानमार्गणायां संज्वलनक्रोधस्य प्रस्तुतबन्धस्योत्कृष्टान्तरमन्तर्मुहूर्तम् ,प्रकृतिबन्धान्तरस्य तथात्वात् । शेषं सर्वं क्रोधमार्गणावद्विज्ञेयम् । मायामार्गणायां संज्वलनक्रोधमानयोः प्रस्तुतान्तरमन्तर्मुहूर्तम् , शेषाणां क्रोधमार्गणावद्विज्ञेयम् । लोभमार्गणाया संज्वलनचतुष्कस्य प्रस्तुतान्तरमन्तर्मुहूर्तम् शेषप्रकृतीनां प्रस्तुतान्तरं क्रोधमार्गणावद्विज्ञेयम् ।

ज्ञानमार्गणायां मतिश्रुतावधिज्ञानमार्गणासु अवधिदर्शनसम्यक्त्वौघमार्गणयोश्च प्रत्याख्यानावरणाप्रत्याख्यानावरणचतुष्करूपाणामष्टानां देशोनपूर्वकोटिः । देवद्विकवैक्रियद्विकयोः साधिकानि त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि, साधिकत्वं चान्तर्मुहूर्तकालेन,तत्प्रकृतिबन्धान्तरस्य तथात्वात् । मनुष्यद्विकौदारिकद्विकवज्रर्षभनाराचसंहननरूपाणां पञ्चानां प्रस्तुतान्तरं समयद्वयाभ्यधिकपूर्वकोटिः, यो देवभवचरमसमयद्वये ज्येष्ठप्रदेशबन्धं विधाय पूर्वकोट्यायुष्कमनुष्येषु सम्यक्त्वसहितमुत्पद्य तत्र च देवप्रायोग्यमेव बध्नाति यावन्मनुष्यभवचरमसमयस्ततः पुनर्देवेषूत्पन्नः सन् मनुष्यद्विकादिपञ्चप्रकृतीर्बध्नातीत्येवं मार्गणापञ्चके निरुक्तप्रकृतीनां प्रकृतिबन्धान्तरस्य पूर्वकोटिमात्रत्वेऽपि तादृग्जीवापेक्षयाऽनुत्कृष्टप्रदेशबन्धान्तरं समयद्वयेनाधिका पूर्वकोटिः । एवं प्रकृतिबन्धान्तरकालापेक्षया यत्र प्रागुत्तरत्र च ज्येष्ठप्रदेशबन्धसम्भवस्तत्र यथायोग्य समयद्वयं समयचतुष्कं चाधिकं प्राप्यते, एतच्च स्वधिया मार्गणासु स्वयं परिभावनीयमिति । आहारकद्विकस्य प्रस्तुतबन्धस्य ज्येष्ठान्तरं त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि देशोनकायस्थिति-

र्वा तत्प्रकृतिबन्धान्तरस्यापि मतद्वयोपेतत्वात्, उक्तशेषाणामष्टपञ्चाशत्प्रकृतीनां प्रस्तुतान्तरमन्तर्मुहूर्तं साताद्विद्वादशानां परावर्तमानत्वाच्छेषाणां च श्रेणाववन्धं प्राप्य पुनरद्धाक्षयेण प्रपततस्तद्बन्धप्रारम्भात्, अत्र सातवेदनीयादीनां श्रेण्यपेक्षया बृहदन्तरस्य लाभो विज्ञेयः, शेषाणां षट्चत्वारिंशतः पुनः श्रेणावेव प्रकृतिबन्धान्तरं प्राप्यते तदपेक्षयैव प्रस्तुतान्तरमपि तथैव विज्ञेयमिति । शेषाष्टपञ्चाशत्प्रकृतयोऽन्तर्मुहूर्तान्तराला इमाः-ज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरणचतुष्कनिद्राद्विकवेदनीयद्विकसंज्वलनचतुष्कभयजुगुप्सापुरुषवेदहास्यादियुगलद्वयपञ्चेन्द्रियजातिनवनामध्रुवबन्धिसमचतुरस्रसंस्थानसुखगतिपराघातोच्छ्वासजिननामत्रसदशकास्थिराशुभायशःकीर्तिनामोच्चैर्गोत्रान्तरायपञ्चकरूपाः ।

मनःपर्यवज्ञानमार्गणायां सयमौघमार्गणायां च बन्धार्हाणां चतुःषष्टिप्रकृतीनामनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टान्तरमन्तर्मुहूर्तं, श्रेण्याद्यपेक्षया तत्प्रकृतिबन्धान्तरस्यापि तथात्वात् । अत्र प्रकृतिबन्धोत्कृष्टान्तरापेक्षाऽनुत्कृष्टप्रदेशबन्धोत्कृष्टान्तरं समयचतुष्केनाभ्यधिकं द्रष्टव्यम् ।

मत्यज्ञान-श्रुताज्ञाना-ऽभव्यमिथ्यात्वमार्गणाचतुष्के देवद्विकनरकद्विकवैक्रियद्विकानामावलिकाऽसंख्येयभागगतसमयप्रमाणपुद्गलपरावर्ताः प्रस्तुतबन्धस्य ज्येष्ठान्तरं विज्ञेयम् । मनुष्यद्विकोच्चैर्गोत्रयोरसंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमितसमयाः । जातिचतुष्कस्थावरचतुष्कातपरूपाणां नवानां साधिकानि त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि, साधिकत्वं तु सप्तमनरकभवापेक्षया प्राग्भवचरमान्तर्मुहूर्तेनोत्तरभवाद्यन्तर्मुहूर्तेन च विज्ञेयम्, प्रकृतिबन्धान्तरस्यापि तावन्मितत्वात् । औदारिकद्विकनपुंसकवेदसंहननषट्काद्यवर्जपञ्चसंस्थानकुखगतिदुर्भगत्रिकनीचैर्गोत्ररूपाणामेकोनविंशतेर्देशोनपल्योपमत्रयं प्रस्तुतबन्धस्य ज्येष्ठान्तरं प्राप्यते, अत्राभव्यकुलकादिग्रन्थेऽभव्यानां युग्मितया उत्पादस्य निषेधात्तन्मतापेक्षया प्रस्तुतान्तरमन्तर्मुहूर्तप्रमाणमेवाभव्यमार्गणायां विज्ञेयम् । तिर्यग्द्विकोद्योतरूपप्रकृतित्रयस्य साधिकान्येकत्रिंशत्सागरोपमाणि, साधिकत्वं चान्तर्मुहूर्तद्वयेन विज्ञेयम् । वेदनीयद्विकस्त्रीपुरुषवेदद्वयहास्यादियुगलद्वयपञ्चेन्द्रियजातिनामसमचतुरस्रसंस्थानसुखगतिपराघातोच्छ्वासत्रसदशकास्थिराशुभायशःकीर्तिनामरूपाः षड्विंशतिप्रकृतयस्तासामनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टान्तरमन्तर्मुहूर्तम्, गुणप्रत्ययेन भवप्रत्ययेन वा आसामबन्धस्याभावेन परावर्तमानत्वेन चान्तर्मुहूर्तादूर्ध्वमवश्य तद्बन्धसंभवात्, प्रकृतिबन्धान्तरस्यापि तथात्वाच्च । सप्तचत्वारिंशद्ध्रुवबन्धिप्रकृतीनां प्रकृतिबन्धान्तराभावाज्ज्येष्ठप्रदेशबन्धकालप्रयुक्तं प्रस्तुतान्तरं समयद्वयं विज्ञेयम् ।

विभङ्गज्ञानमार्गणायां ज्ञानावरणादिसप्तचत्वारिंशद्ध्रुवबन्धिप्रकृतीनामनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टान्तरं समयद्वयम्, प्रकृतिबन्धान्तराभावेन ज्येष्ठप्रदेशबन्धकालप्रयुक्तस्यैवान्तरस्य लाभात् । शेषाणां षट्षष्टयध्रुवबन्धिनीनां प्रस्तुतान्तरमन्तर्मुहूर्तम्, परावर्तमानभावेन बध्यमानप्रतिपक्षप्रकृतीनां बन्धकालप्रयुक्तान्तरस्यैतावत्प्रमाणत्वात् । न च मनुष्यतिरश्चां परावर्तमानेन बध्यमानत्वेऽप्यासां देवगत्यादौ बादरत्रिकादिप्रकृतीनां नियमतो बन्धभावेन सूक्ष्मत्रिकादीनां प्रस्तुतबन्धस्यान्तरमधिकं स्यात्तत्क-

स्मान्नोच्यत इति वाच्यम्, यतः श्रीमद्भगवतीसूत्राष्टमशतकाभिप्रायेण देवनैरयिकतो विभङ्गज्ञानयुक्तस्याच्यवनाद्बादरत्रिकादिप्रकृतीनां देवनिरयभवप्रयुक्तबन्धकालस्य दीर्घतमत्वेऽपि स न सूक्ष्मादिनाम्नामन्तरकालस्य प्रयोजकोऽत एव निरुक्तषट्षष्टिप्रकृतीनामन्तर्मुहूर्तमेव प्रकृतिबन्धस्यापि ज्येष्ठान्तरं प्राप्यते तथैव प्रस्तुतेऽपि, नवरं प्रकृतिबन्धान्तरमानतश्चतुःसमयाधिकमिदम्, तदन्तरकालात्प्रागुत्तरत्र च समयद्वयं ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्य विरचनादेवं यत्र यत्र प्रकृतिबन्धान्तरतो द्विसमयाधिकत्वं चतुःसमयाधिकत्वं वा प्रस्तुतबन्धस्य ज्येष्ठान्तरं प्राप्यते तत्र तद्वक्तव्यमिति ।

संयमौघमार्गणायां मनःपर्यवज्ञानमार्गणया समं निरूपितम् । सामायिकसंयमच्छेदोपस्थापनीयसंयमयोः सातादिद्वादशानामाहारकद्विकस्य च प्रस्तुतबन्धस्य ज्येष्ठान्तरमन्तर्मुहूर्तम्, प्रकृतिबन्धान्तरस्यापि तथात्वात् । शेषाणां मार्गणाप्रयोग्याणां बन्धार्हाणां ज्ञानावरणादिपञ्चाशत्प्रकृतीनामनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्य प्रस्तुतान्तरं समयद्वयम्, कासाञ्चित्प्रकृतीनां बन्धविच्छेदस्याभावेन कासाञ्चित्प्रकृतीनां तद्भावेऽपि पुनः बन्धात्प्रागेव मार्गणाया विच्छेदेन च प्रकृतिबन्धान्तराभावे सत्यन्तरप्रयोजकीभूतज्येष्ठप्रदेशबन्धकालस्य तथात्वात् । ताः पञ्चाशत्प्रकृतयः पुनरिमाः— ज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरणचतुष्कनिद्राद्विकसंज्वलनचतुष्कभयजुगुप्सापुरुषवेददेवद्विकपञ्चेन्द्रियजातिनामवैक्रियद्विकतैजसकार्मणशरीरसमचतुरस्रसंस्थानसुखगतिवर्णचतुष्कागुरुलघूपघातपराघातोच्छ्वासनिर्माणजिननामत्रसचतुष्कसुभगत्रिकोच्चैर्गोत्रान्तरायपञ्चकलक्षणाः । परिहारविशुद्धिमार्गणायामपि सातादिद्वादशानामाहारकद्विकस्य च प्रस्तुतबन्धस्य ज्येष्ठान्तरमन्तर्मुहूर्तम्, तत्प्रकृतिबन्धान्तरस्य तथात्वात् । शेषाणां पञ्चाशत्प्रकृतीनां समयद्वयं तु प्रकृतिबन्धस्य विच्छेदाभावेन तत्प्रयुक्ताऽन्तराभावात्, ज्येष्ठप्रदेशबन्धकालप्रयुक्तान्तरस्य तु तथात्वात् । सूक्ष्मसंपरायसंयममार्गणायां ज्ञानावरणादिसप्तदशानां ज्येष्ठप्रदेशबन्धकालप्रयुक्तं समयद्वयं प्रस्तुतबन्धस्य ज्येष्ठान्तरं भवति । देशविरतिमार्गणायां सातवेदनीयादिद्वादशानामन्तर्मुहूर्तम्, शेषाणां चतुःपञ्चाशत्प्रकृतीनामनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्य ज्येष्ठान्तरं समयद्वयं विज्ञेयम्, प्रकृतिबन्धान्तराभावादन्तरप्रयोजकीभूतज्येष्ठप्रदेशबन्धकालस्य तथात्वाच्च ।

असंयममार्गणायां मिथ्यात्वस्त्यानर्द्धित्रिकानन्तानुबन्धिचतुष्कस्त्रीवेदनपुंसकवेदतिर्यग्द्विकाद्यवर्जसंहननपञ्चकाद्यवर्जसंस्थानपञ्चककुखगतिनामोद्योतनामदुर्भगत्रिकनीचैर्गोत्ररूपाणामष्टाविंशतेरनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्य गुर्वन्तरं देशोनानि त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि, सप्तमनारकस्य सम्यक्त्वकालस्यैतावन्मात्रत्वेन तत्प्रयुक्तान्तरस्य लाभात् । न च प्रस्तुतमार्गणायां सम्यक्त्वकालस्य देशोनपूर्वकोट्यभ्यधिकत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमप्रमाणत्वात् प्रस्तुतान्तरं तदपेक्षया तावद्वक्तव्यमिति वाच्यम्, तस्यानुत्तरदेवभवतदुत्तरभवापेक्षया प्राप्यमाणत्वेनानुत्तरसुरेषु सर्वविरतभाजामेवोत्पद्यमानत्वेन च मार्गणाप्रारम्भप्रथमसमयतः सम्यग्दृष्टितया मिथ्यात्वादिप्रकृतीनां मार्गणाप्रारम्भे बन्धासम्भवात् तदपेक्षया प्रकृतिबन्धान्तरमेव न प्राप्यतेऽतः सप्तमनारकापेक्षया दर्शितम् । मतान्तरेण पुनर्द्वात्रिंशदधिकं सागरोपम-

शतं प्रस्तुतान्तरं प्राप्यते तृतीयचतुर्थगुणस्थानकद्वयेनैतावत्कालस्यास्मिन्मते निर्वहणात् । जातिचतुष्क-स्थावरचतुष्कातपरूपाणां नवानामन्तर्मुहूर्ताधिकत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि, सप्तमनैरयिकस्य तत्प्राग्भव-चरमान्तर्मुहूर्ते तदुत्तरभवप्रथमान्तर्मुहूर्ते चासां बन्धाभावेन प्रकृतिबन्धान्तरस्य तथात्वात्प्रस्तुतबन्धा-न्तरमपि तथा प्राप्यते । देवद्विकवैक्रियद्विकनरकद्विकानामनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टान्तरमसंख्येयपु-द्गलपरावर्ताः, मनुष्यद्विकोच्चैर्गोत्रयोरसंख्येयलोकाः, वज्रर्षभनाराचसंहननौदारिकद्विकयोः पूर्वकोटी-देशोनतृतीयभागाधिकं पल्योपमत्रयम् , देवद्विकादिद्वादशप्रकृतीनामन्तरस्य भावना त्वोघवद् विधेया। ज्ञानावरणाद्येकोनचत्वारिंशद्ध्रुवबन्धिप्रकृतीनामनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्य ज्येष्ठान्तरं समयद्वयं, प्रकृति-बन्धान्तराभावे सति ज्येष्ठप्रदेशबन्धकालप्रयुक्तस्या-ऽन्तरस्य प्राप्यमानत्वात् । शेषाणां वेदनीयद्विक-हास्यादियुगलद्वयपुरुषवेदपञ्चेन्द्रियजातिसमचतुरस्रसंस्थानसुखगतिपराघातोच्छ्वासजिननामत्रस-दशकास्थिराशुभाऽयशःकीर्तिनामलक्षणानां षड्विंशतेरन्तर्मुहूर्तम् , प्रकृतिबन्धान्तरस्याप्यन्तर्मुहूर्त-तोऽधिकस्याऽसंभवात् ।

चक्षुर्दर्शनमार्गणायां पञ्चेन्द्रियमार्गणावद्विज्ञेयम् , अचक्षुर्दर्शनमार्गणायामनुत्कृष्टप्रदेशबन्ध-स्योत्कृष्टान्तरमोघवद्विज्ञेयम् , अवधिदर्शनमार्गणायां मतिज्ञानादिमार्गणाभिः सह निरूपितम् ।

कृष्णलेश्यामार्गणाया मिथ्यात्वस्त्यानर्द्धित्रिकानन्तानुबन्धिचतुष्कस्त्रीवेदनपुंसकवेदतिर्यग्द्वि-काद्यवर्जसंहननपञ्चकाद्यवर्जसंस्थानपञ्चककुखगतिनामोद्योतनामदुर्भगत्रिकनीचैर्गोत्ररूपाणामष्टाविंशते-र्मनुष्यद्विकोच्चैर्गोत्रयोश्चेत्येकत्रिंशतो देशोनकायस्थितिः—देशोनानि त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणीति-यावत् । भावना तु सप्तमनारकमधिकृत्य विधेया । वैक्रियद्विकस्य द्वाविंशतिसागरोपमाणि, षष्ठनारकस्य तद्बन्धाभावात्तत्प्राग्भवचरमान्तर्मुहूर्ते नरकद्विकेन सह तद्बन्धभावात् , नारकसत्कभवोत्तरकाले तु नरकतः सम्यक्त्वेन सह च्यवने मनुष्यभवप्रथमसमयतो देवद्विकादिना सह तद्बन्धप्रवर्तनाच्च , प्रकृतिबन्धान्तरं परिपूर्णद्वाविंशतिसागरोपमाण्यनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्य ज्येष्ठान्तरं पुनः समयद्वयाधिका-नि द्वाविंशतिसागरोपमाणि विज्ञेयम् , नरके समुत्पित्सोर्नरकद्विकेन सह वैक्रियद्विकं बध्नतो भव-चरमसमयद्वये ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्यापि विरचनार्हत्वात् । देवद्विकातपस्थावरैकेन्द्रियरूपाणां पञ्चानां प्रस्तुतबन्धस्य ज्येष्ठान्तरं पल्योपमासंख्येयभागरूपं भवति, प्रस्तुतलेश्यावतां देवानामेतावत्प्रमाणा एव ज्येष्ठा स्थितिः, तत्र देवद्विकस्य प्रस्तुतमार्गणागतानां देवानां यावतीर्ज्येष्ठस्थितिस्तावत्प्रकृ-तिबन्धान्तरं प्राप्यते , अनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्य ज्येष्ठान्तरं तु प्राग्वत्समयद्वयाभ्यधिकं विज्ञेयम् । एकेन्द्रियस्थावरातपनाम्नां तु प्रस्तुतमार्गणागतज्येष्ठस्थितिकदेवस्य मिथ्यात्वान्तरकालस्य पल्यासं-ख्येयभागप्रमाणत्वात्प्रस्तुतान्तरकालस्यापि तथात्वमिति । महाबन्धकाराणामभिप्रायेण पुनः पर्याप्ता-वस्थायां देवानामशुभलेश्यानङ्गीकारात्प्रकृतिबन्धान्तरवदुक्तप्रकृतीनामनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्य गुर्वन्तर-मन्तर्मुहूर्तमात्रं भवति । ज्ञानावरणाद्येकोनचत्वारिंशद्ध्रुवबन्धिप्रकृतीनां जिननाम्नश्च प्रकृतिबन्धा-

न्तराभावाज्ज्येष्ठप्रदेशबन्धोत्कृष्टकालप्रयुक्तं समयद्वयमनुत्कृष्टप्रदेशबन्धोत्कृष्टोत्कृष्टान्तरं प्राप्यते । शेषाणां वेदनीयद्विकहास्यादियुगलद्वयपुरुषवेदनरकद्विकद्वीन्द्रियादिजातिचतुष्कौदारिकद्विकवज्रर्षभनाराचसंहननसमचतुरस्रसंस्थानसुखगतिपराघातोच्छ्वासनामत्रसदशकसूक्ष्मत्रिकास्थिराशुभायशःकीर्तिनामरूपाणां षट्त्रिंशत्प्रकृतीनां प्रस्तुतान्तरमन्तमुहूर्तं प्रकृतिबन्धान्तरस्यापि तथात्वात् ।

नीललेश्यामार्गणाया कापोतलेश्यामार्गणायाञ्च मिथ्यात्वाद्यष्टाविंशतेर्देशोनकायस्थितिः प्रस्तुतबन्धस्य ज्येष्ठान्तरं प्राप्यते मिथ्यात्वगुणस्थानान्तरस्यैतावत्प्रमाणत्वेन प्रकृतिबन्धान्तरस्य तावन्मात्रत्वात् । वैक्रियद्विकस्यापि प्रस्तुतान्तरं देशोनज्येष्ठकायस्थितिः, प्रस्तुतमार्गणागतानां ज्येष्ठस्थितिकनैरयिकाणां सम्यक्त्वेन सह मनुष्येषूत्पादाद्मनुष्यभवप्रथमसमयतो वैक्रियद्विकस्य बन्धप्रवर्तनात् । देवद्विकातपस्थावरैकेन्द्रियरूपाणां पञ्चानां कृष्णलेश्यावत्पल्योपमासंख्येयभागप्रमाणं प्रस्तुतान्तर प्राप्यते भावनापि तद्वद्विधेया, नवरं कापोतलेश्यामार्गणायामुत्कृष्टतो यावत्स्थितिकेषु नारकेषु क्षायिकसम्यक्त्वभाजामुत्पादस्तावत्कालो देवद्विकस्य प्रस्तुतान्तरत्वेन प्राप्यते, नारकभवतः प्राग्भवस्य चरमसमयं यावत्तदुत्तरभवप्रथमसमयतश्च देवद्विकस्य बन्धोपलम्भात् । ज्ञानावरणाद्येकोनचत्वारिंशद्ध्रुवबन्धिप्रकृतीनां जिननाम्नश्च प्रकृतिबन्धान्तराभावाज्ज्येष्ठप्रदेशबन्धगुरुकालप्रयुक्तं समयद्वयं प्रस्तुतान्तरं प्राप्यते । शेषाणां सातवेदनीयादिषट्त्रिंशतः कृष्णलेश्यामार्गणोक्तानां मनुष्यद्विकोच्चैर्गोत्ररूपयोश्चेति नवत्रिंशत्प्रकृतीनामनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्य ज्येष्ठान्तरमन्तमुहूर्तम्, प्रकृतिबन्धान्तरस्य तथात्वात् ।

तेजोलेश्यामार्गणाया मिथ्यात्वस्त्यानर्द्धित्रिकानन्तानुबन्धिचतुष्कस्त्रीवेदनपुंसकवेदाद्यवर्जसंहननपञ्चकाद्यवर्जसंस्थानपञ्चककुखगतिदुर्भगत्रिकनीचैर्गोत्रतिर्यग्द्विकोद्योतनामैकेन्द्रियस्थावरातपरूपाणामेकत्रिंशतो देशोनकायस्थितिः-पल्यासंख्येयभागाधिकं सागरोपमद्वयं प्रस्तुतान्तरं विज्ञेयम्, प्रस्तुतमार्गणागतानां देवानां मिथ्यात्वगुणस्थानान्तरस्य तावन्मात्रत्वात् । तथा देवद्विकवैक्रियद्विकयोरनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टान्तरं देशोनज्येष्ठकायस्थितिः, प्रस्तुतमार्गणागतानां देवानां यावती ज्येष्ठभवस्थितिस्तावत्कालं निरुक्तप्रकृतीनां बन्धाभावाद्देवभवात्प्राग्भवचरमसमयद्वये ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्य भावात्प्रस्तुतान्तरं प्रकृतिबन्धान्तरतः समयद्वयेनाभ्यधिकं द्रष्टव्यम् । प्रत्याख्यानावरणचतुष्काप्रत्याख्यानावरणचतुष्करूपाणां मध्यमाष्टकषायाणामौदारिकशरीरनाम्न आहारकद्विकस्य च बन्धविच्छेदानन्तरं पुनर्बन्धात्प्राग्मार्गणाया विच्छेदेन प्रकृतिबन्धान्तराभावात्प्रस्तुतान्तरं ज्येष्ठप्रदेशबन्धज्येष्ठकालप्रयुक्तं समयद्वयं प्राप्यते । शेषाणामेकत्रिंशद्ध्रुवबन्धिप्रकृतीनां बादरत्रिकपराघातोच्छ्वासरूपाणां पञ्चानां जिननाम्नश्चेति सप्तत्रिंशद्प्रकृतीनां बन्धविच्छेदाभावेन प्रकृतिबन्धान्तरासम्भवाज्ज्येष्ठप्रदेशबन्धकालप्रयुक्तं प्रस्तुतान्तर समयद्वयं प्राप्यते । सातासातवेदनीयहास्यादियुगलद्वयपुरुषवेदमनुष्यद्विकपञ्चेन्द्रियजात्यौदारिकाङ्गोपाङ्गवज्रर्षभनाराचसहननसमचतुरस्रसंस्थानसुखगति–त्रसनामस्थिरषट्कास्थिराशुभायशःकीर्तिनामोच्चैर्गोत्ररूपाणां पञ्चविंशतेः प्रस्तुतबन्धस्य ज्येष्ठान्तरमन्तर्मुहूर्तं तत्प्रकृतिबन्धान्तरस्य तथात्वात् ।

पद्मलेश्यामार्गणायां तेजोश्यामार्गणोक्तानामेकेन्द्रियस्थावरातपनामवर्जानामष्टाविंशतेः प्रस्तुतबन्धस्य गुर्वन्तरं देशोनस्वज्येष्ठकायस्थितिः–अन्तमुहूर्तोनान्यष्टादशसागरोपमाणि, प्रस्तुते मिथ्यात्वगुणस्थानान्तरकालस्य तथात्वात् । देवद्विकवैक्रियद्विकयोः प्रस्तुतान्तरं समयद्वयाधिकान्यष्टादश सागरोपमाणि, तत्र समयद्वयं देवभवतः प्रागमनुष्यभवे तिर्यग्भवे वा प्रान्ते समयद्वये ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्यकरणादष्टादशसागरोपमाणि तु प्रस्तुतमार्गणागतज्येष्ठस्थितिकसहस्रारदेवभवसत्कानि विज्ञेयानि । मध्यमकषायाष्टकौदारिकद्विकाहारकद्विकानां तथा शेषाणामेकत्रिंशद्ध्रुवबन्धिप्रकृतीनां त्रसचतुष्कपञ्चेन्द्रियजातिपराघातोच्छ्वासनाम्नां जिननाम्नश्चानुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्य ज्येष्ठान्तरं समयद्वयं प्रकृतिबन्धान्तराभावाज्ज्येष्ठप्रदेशबन्धोत्कृष्टकालेन प्राप्यते । सातासातवेदनीयहास्यादियुगलद्वयपुरुषवेदमनुष्यद्विकवज्रर्षभनाराचसंहननसमचतुरस्रसंस्थानसुखगतिस्थिरषट्कास्थिराशुभायशःकीर्तिनामोच्चैर्गोत्ररूपाणां द्वात्रिंशतेः प्रस्तुतान्तरमन्तमुहूर्तम् , निरुक्तमार्गणायां प्रकृतिबन्धान्तरस्य तथात्वात् ।

शुक्ललेश्यामार्गणायां तिर्यग्द्विकोद्योतवर्जानां मिथ्यात्वादिपञ्चविंशतेः प्रस्तुतबन्धस्योत्कृष्टान्तरं देशोनान्येकत्रिंशत्सागरोपमाणि, अनुत्तरदेवानां नियमतः सम्यग्दृष्टित्वेनासां बन्धाभावान्नवमग्रैवेयकसुरापेक्षया मिथ्यात्वगुणस्थानकस्योत्कृष्टान्तरस्यैतावत्प्रमाणत्वाच्च । देवद्विकवैक्रियद्विकयोरन्तमुहूर्ताभ्यधिकत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमप्रमाणं प्रस्तुतान्तरं प्राप्यते, त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाण्यनुत्तरभवसत्कानि, अन्तमुहूर्तं तु तत्प्राग्भवचरमान्तमुहूर्ते उपशमश्रेणौ बन्धविच्छेदादनन्तरमबन्धसत्कं प्राप्यते । मध्यमकषायाष्टकौदारिकद्विकमनुष्यद्विकरूपाणां द्वादशप्रकृतीनां तु द्विर्बन्धाभावेन प्रकृतिबन्धान्तराभावाज्ज्येष्ठप्रदेशबन्धकालप्रयुक्तं समयद्वयं प्रस्तुतबन्धस्य गुर्वन्तरं प्राप्यते । शेषाणां बन्धप्रायोग्याणामायुर्वर्जानामनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टान्तरमन्तमुहूर्तं प्रकृतिबन्धान्तरकालस्य तथात्वात् । शेषप्रकृतयः पुनरिमाः–एकत्रिंशद्ध्रुवबन्धिप्रकृतिवेदनीयद्वयहास्यादियुगलद्वयपुरुषवेदपञ्चेन्द्रियजात्याऽऽहारकद्विकवज्रर्षभनाराचसंहननसमचतुरस्रसंस्थानसुखगतिपराघातोच्छ्वासनामजिननामत्रसदशकास्थिराशुभायशःकीर्त्युच्चैर्गोत्रलक्षणा एकषष्टिः ।

भव्यमार्गणायां सर्वप्रकृतीनां प्रस्तुतान्तरमोघवद्भवति, अभव्यमार्गणायां तु मत्यज्ञानादिमार्गणाभिः समं निरूपितम् । सम्यक्त्वमार्गणामूलोत्तरभेदेभ्यः सम्यक्त्वौघे मतिज्ञानादिमार्गणाभिः समं निरूपितम् , उपशमसम्यक्त्वमार्गणायां मनुष्यद्विकौदारिकद्विकवज्रर्षभनाराचसंहननरूपाणां पञ्चानां प्रकृतिबन्धान्तराभावाज्ज्येष्ठप्रदेशबन्धकालप्रयुक्तं प्रस्तुतबन्धस्य ज्येष्ठान्तरं समयद्वयं भवति । शेषाणां बन्धार्हाणां द्वासप्ततिप्रकृतीनां प्रस्तुतान्तरमन्तमुहूर्तमुपशमश्रेण्याद्यपेक्षया तत्प्रकृतिबन्धान्तरस्यापि तथात्वात् । क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणायां मध्यमकषायाष्टकस्यानुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टान्तरं देशोनपूर्वकोटिः सर्वविरतिगुणप्रयुक्तकालस्यान्तरत्वेन लाभात् , तत्कालस्यैतावत्प्रमाणत्वाच्च चतुर्थगुणस्थानान्तरस्य प्रस्तुते तथात्वादिति भावः । देवद्विकवैक्रियद्विकयोरन्तमुहूर्ता-

भ्यधिकानि त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि प्रस्तुतान्तरं विज्ञेयम् , प्रकृतिबन्धान्तरस्य तथात्वात् । मनुष्यद्विकौदारिकद्विकवज्रर्षभनाराचसंहननरूपाणां पञ्चानां प्रकृतिबन्धान्तराभावाज्ज्येष्ठप्रदेशबन्धकालप्रयुक्तं प्रस्तुतबन्धस्य ज्येष्ठान्तरं समयद्वयं प्राप्यते । आहारकद्विकस्य प्रस्तुतान्तरं देशोनपूर्वकोट्यभ्यधिकानि त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि तदीयप्रकृतिबन्धान्तरस्य तथात्वात् । शेषाणां बन्धार्हाणामायुर्वर्जानां प्रकृतीनामनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टान्तरमन्तर्मुहूर्तम् , परावर्तमानत्वादुपशमश्रेण्यपेक्षया वाऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणाऽबन्धकालस्य प्राप्यमाणत्वात्प्रकृतिबन्धान्तरस्य तथात्वाच्च । शेषप्रकृतयः पुनरिमाः—ज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरणषट्कसातासातवेदनीयसंज्वलनचतुष्कभयजुगुप्सापुरुषवेदहास्यरतिशोकारतिपञ्चेन्द्रियजातिनामतैजसकार्मणशरीरसमचतुरस्रसंस्थानसुखगतिनामवर्णचतुष्कागुरुलघूपघातनिर्माणपराघातोच्छ्वासजिननामत्रसदशकास्थिराशुभायशःकीर्तिनामोच्चैर्गोत्राऽन्तरायपञ्चकरूपा अष्टपञ्चाशत् ।

क्षयोपशमसम्यक्त्वमार्गणायां देवद्विकवैक्रियद्विकयोः प्रस्तुतबन्धस्य ज्येष्ठान्तरं समयद्वयाभ्यधिकानि त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि, एतच्चान्तरं प्रकृतिबन्धान्तरतः समयद्वयेनाधिकम् , मनुष्यद्विकौदारिकद्विकवज्रर्षभनाराचरूपाणां पञ्चानां प्रस्तुतान्तरं समयद्वयाधिकपूर्वकोटिः, देवेभ्यः पूर्वकोट्यायुष्कमनुष्येषूत्पद्य पुनर्देवेषूत्पद्यमानानां देवभवसत्कचरमसमयद्वये ज्येष्ठप्रदेशं बध्नतामेतावदन्तरस्य लाभात् । आहारकद्विकस्य सातिरेकत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि मतान्तरे देशोनकायस्थितिस्तत्प्रकृतिबन्धान्तरस्य तथात्वात् । मध्यमकषायाष्टकस्य देशोनपूर्वकोटिः, देशसंयमसर्वसंयमकालप्रयुक्तान्तरस्य लाभात् । सातासातवेदनीयहास्यरतिशोकारतिस्थिरास्थिरशुभाशुभयशःकीर्तिनामायशःकीर्तिनामरूपाणां द्वादशानामनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टान्तरमन्तर्मुहूर्तम् प्रकृतिबन्धान्तरस्य तथात्वात् । ज्ञानावरणाद्येकत्रिंशद्ध्रुवबन्धिप्रकृतीनां तथा पुरुषवेदपञ्चेन्द्रियजातिसमचतुरस्रसंस्थानसुखगतिपराघातोच्छ्वासजिननामत्रसचतुष्कसुभगत्रिकोच्चैर्गोत्ररूपाणां पञ्चदशानां सामान्यतोऽध्रुवबन्धित्वेऽपि मार्गणाप्रायोग्यध्रुवबन्धिकल्पतया प्रकृतिबन्धान्तराभावादनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टान्तरं ज्येष्ठप्रदेशबन्धज्येष्ठकालप्रयुक्तं समयद्वयं विज्ञेयम् ।

सम्यग्मिथ्यात्वमार्गणायां सातवेदनीयादिद्वादशप्रकृतीनां बन्धस्य परावर्तमानत्वात्प्रस्तुतान्तरमन्तर्मुहूर्तम् , प्रकृतिबन्धान्तरस्य तथात्वात् । शेषाणां बन्धार्हाणां द्वाषष्टिप्रकृतीनामनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टान्तरं समयद्वयम् , प्रकृतिबन्धान्तराभावेन ज्येष्ठप्रदेशबन्धगुरुकालप्रयुक्तान्तरस्य लाभात् । सास्वादनमार्गणायां षट्चत्वारिंशद्ध्रुवबन्धिनीनां तथा पञ्चेन्द्रियजातिपराघातोच्छ्वासत्रसचतुष्करूपाणां सप्तानां मार्गणार्हध्रुवबन्धिनीनां प्रकृतिबन्धान्तराभावाज्ज्येष्ठप्रदेशबन्धज्येष्ठकालप्रयुक्तं समयद्वयमनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टान्तरं विज्ञेयम् । मार्गणायां बन्धार्हाणां शेषाणां सातवेदनीयाद्यध्रुवबन्धिनीनां प्रस्तुतान्तरमन्तर्मुहूर्तम् , प्रकृतिबन्धान्तरस्यापि तथात्वात् । शेषप्रकृतयः पुनरिमाः—

वेदनीयद्वयहास्यादियुगलद्वयस्त्रीपुरुषवेदतिर्यग्मनुष्यदेवद्विकौदारिकवैक्रियद्विकाद्यपञ्चसंहननाद्यपञ्च-संस्थानखगतिद्वयोद्योतस्थिरषट्कास्थिरषट्कगोत्रद्वयरूपाः पञ्चचत्वारिंशत् । मिथ्यात्वमार्गणायां मत्यज्ञानादिमार्गणाभिः समं निरूपितम् ।

सञ्ज्ञिमार्गणायां पञ्चेन्द्रियादिमार्गणाभिः समं तुल्यवक्तव्यत्वेन तत्रैव दर्शितम् । असंज्ञि-मार्गणायां सप्तचत्वारिंशद्ध्रुवबन्धिनीनां प्रकृतिबन्धान्तराभावात्प्रस्तुतान्तरं समयद्वयम् , नरकद्वि-कदेवद्विकवैक्रियद्विकानामसङ्ख्येयपुद्गलपरावर्ताः, मनुष्यद्विकोच्चैर्गोत्रयोरसंख्येयलोकाः, शेषाणां बन्धप्रायोग्याणां सप्तपञ्चाशदध्रुवबन्धिनीनां प्रकृतिबन्धान्तरस्यैवोत्कृष्टतोऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणत्वात्प्र-स्तुतान्तरमन्तर्मुहूर्तप्रमाणं विज्ञेयम् ।

आहारकमार्गणायां नरकद्विकदेवद्विकवैक्रियद्विकमनुष्यद्विकोच्चैर्गोत्राहारकद्विकरूपाणामेका-दशानां प्रस्तुतान्तरं देशोनकायस्थितिरङ्गुलासंख्येयभागगतप्रदेशप्रमितसमयाः, एतासां प्रकृति-बन्धान्तरस्य तथात्वात् । शेषप्रकृतीनामनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टान्तरमोघवद् , मार्गणाया उत्कृष्ट-कायस्थितितो ज्येष्ठान्तरस्यात्यल्पत्वात् । अनाहारकमार्गणायां मूलकृतैव स्पष्टं दर्शितम् , तत्र वृत्तौ च व्याख्यातम् । गतमायुर्वर्जकर्मणां मार्गणास्वनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्य जघन्योत्कृष्टभेदाभ्यां द्विविधमन्त-रम् , समाप्ते च तस्मिन्नायुर्वर्जानां कर्मणामुत्कृष्टानुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्यैकजीवाश्रयो जघन्योत्कृष्टभेदेन द्विविधान्तरप्ररूपणा निष्ठिता ।।३८९।।

अथायुष उत्कृष्टप्रदेशबन्धस्य जघन्यान्तरं मार्गणासु निरूपयन्नाह—

आहारमीसजोगे जेट्ठपएसस्स अंतरं णत्थि ।
देवाउस्स जहण्णं समयो सेसासु आऊणं ।।३९०।।

(प्रे०) 'आहारे'त्यादि, आहारकमिश्रकाययोगमार्गणायां देवायुषो ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्या-न्तरं नास्ति, मार्गणाचरमसमये सकृदेव ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्य भावात्तदनन्तरं मार्गणाया विच्छेदा-च्च । शेषायुस्त्रयस्यात्र बन्धाभावान्न तन्निर्देशः । शेषास्वायुर्बन्धार्हासु द्वाषष्ट्युत्तरशतमार्गणासु बन्धप्रायोग्याणां तत्तदायुषां ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्य जघन्यान्तरं समयः, उत्कृष्टप्रदेशबन्धद्वयान्तराले समयमात्रमनुत्कृष्टप्रदेशबन्धभावात्तत्प्रयुक्तान्तरस्य लाभात् । अयं भावः-यासु मार्गणासु यद्यदायुषां ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टकालो द्विसमयस्तासु तत्तदायुषां ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्य जघन्यान्तरं समयः प्राप्यते, अत एव द्विषष्ट्युत्तरशतमार्गणासु बन्धार्हाणां सर्वासामायुषां ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्य जघन्या-न्तरं समयप्रमाण निरूपितम् , अत्राप्यपर्याप्तमार्गणास्वौदारिकमिश्रकाययोगमार्गणायां च लब्ध्यप-र्याप्तानां स्वायुषो द्वित्रिभागातिक्रमे चरमतृतीयभागे यथा योगस्थानस्य चतुर्विधवृद्धिहान्यव-स्थानानि भवन्ति यथा च मार्गणाप्रायोग्यज्येष्ठयोगस्थाने समयद्वयमवस्थानं भवति, तथोत्कृष्ट-

योगस्थानतः समयमात्रमनुत्कृष्टयोगस्थानं प्राप्य पुनरपि ज्येष्ठयोगस्थानस्य लाभोऽपि भवति, तस्माद् घटते निरुक्तान्तरं समयमात्रमिति ॥३९०॥

अथाऽऽहारकमिश्रयोगमार्गणायामुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्यान्तराभावात्तद्वर्जासु द्वापष्टयुत्तरशतमार्गणासु ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्य गुर्वन्तरं प्रदर्शयन्नाह—

सव्वणिरयदेवेसुं सप्पाउग्गाण तिरिणराऊणं ।
देसूणा छम्मासा उक्कोसं अंतरं णेयं ॥३९१॥

(प्रे०) "सव्वे"त्यादि, सर्वे निरयभेदास्ते चाष्टौ, सर्वे देवभेदास्ते च त्रिंशदेतास्वष्टात्रिंशन्मार्गणासु ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्य गुर्वन्तरं देशोनषण्मासा भवन्ति, एतास्वायुर्बन्धान्तरस्य देशोनषण्मासमितत्वात्, अत्र प्रकृतिबन्धान्तरकालतो द्विसमयोनायुर्बन्धाद्धाद्वयप्रमितकालोऽन्तरत्वेनाधिको भवति, प्रथमायुर्बन्धाद्धायाः प्रथमसमये द्वितीयायुर्बन्धाद्धायाश्चरमसमये च ज्येष्ठप्रदेशबन्धकरणात् । देवनैरयिकाणां षण्मासतोऽधिकायुःमावशेष आयुर्बन्धानर्हत्वात् नाधिकान्तरावकाशो भवति, भवान्तेऽन्तमुहूर्तप्रमाणविश्रामणाद्धाया भावात्, समयद्वयाधिकजघन्यविश्रामणाद्धया न्यूनाः षण्मासाः प्रस्तुतान्तरं विज्ञेयम् । अत्राकर्षाणां सुमहदन्तरस्यानभ्युपगमे तु निरुक्तमार्गणास्वन्तर्मुहूर्तप्रमाणमेवान्तरं प्राप्येत एवमग्रेऽपि यथासंभवं विज्ञेयमिति ॥३९१॥

अथ तिर्यगोघासंज्ञिमार्गणयोः प्रस्तुतं कथयति—

तिरियासण्णीसु भवे तिरियाउस्सूणसगुरुकायठिई ।
सेसाऊण तिभागो देसूणो पुव्वकोडीए ॥३९२॥

(प्रे०) "तिरिये"त्यादि, तिर्यग्गत्योघमार्गणायामसंज्ञिमार्गणायां च तिर्यगायुषो ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टान्तरं देशोनकायस्थितिः; उत्कृष्टप्रदेशबन्धस्य तिर्यग्गत्योघे संज्ञिनाम्, असंज्ञिनि पर्याप्तपञ्चेन्द्रियासंज्ञितिरश्चामेव भावाद्, देशोनकायस्थितिमसंख्येयपुद्गलपरावर्तान् यावदेकेन्द्रियेष्ववस्थानात्तत्र च ज्येष्ठप्रदेशबन्धासम्भवान्मार्गणाप्रारम्भे मार्गणान्ते च तिर्यगायुषो ज्येष्ठप्रदेशबन्धकर्तुर्निरुक्तान्तरं प्राप्यते । शेषाणां त्रयाणामायुषां बन्धानन्तरं कालकरणेन प्रस्तुतमार्गणाद्वयस्य परावर्तनान्न नानाभवैस्तासां प्रकृतिबन्धाद्यन्तरं प्राप्यते, एकस्मिन्भवे तु देशोनपूर्वकोटितृतीयभागतोऽधिकान्तरस्यालाभः, अतो देशोनपूर्वकोटितृतीयभागप्रमाणं नरकमनुष्यदेवायुषां ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टान्तरं प्राप्यते ॥३९२॥

अथ पञ्चेन्द्रियतिर्यग्मार्गणात्रये मनुष्यमार्गणात्रये च प्राह—

पुव्वाकोडिपुहुत्तं साउस्स पणिंदितिरिणरतिगेसुं ।
सेसाऊण तिभागो देसूणो पुव्वकोडीए ॥३९३॥

(प्रे०) "पुव्वा" इत्यादि, पञ्चेन्द्रियतिर्यगोघपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यक्-तिरश्चीलक्षणासु तिसृषु मार्गणासु तिर्यगायुषस्तथा मनुष्यौघपर्याप्तमनुष्यमानुषीलक्षणासु तिसृषु मार्गणासु मनुष्यायुषो ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टान्तरं पूर्वकोटिपृथक्त्वम्, अत्र कायस्थितिपूरकस्य पल्योपमत्रयप्रमितायुष्कस्य युगलिकभवस्य स्थितेरन्तरत्वेनाग्रहणं तु तत्र नियमतो देवायुषो बन्धकत्वेन प्रस्तुतस्य तिर्यगायुषो मनुस्यायुषो वाऽबन्धकत्वात्, शेषायुस्त्रयस्य ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टान्तरं पूर्वकोट्या देशोनतृतीयभागः, शेषाणां त्रयाणामायुषां बन्धानन्तरं कालकरणेन प्रस्तुतमार्गणानां परावर्तनान्न नानाभवैस्तदन्तरं प्राप्यते, एकस्मिन् भवे तु निरुक्तप्रमाणमेव प्रस्तुतान्तरं विज्ञेयमिति ॥३९३॥

अथापर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यगादिमार्गणासु बन्धार्हाणामायुषां ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टान्तरं प्राह–

होइ अपज्जत्तेसुं पणिंदियतिरिक्खमणुसेसुं ।
सव्वेसुं एगिंदियविगलिंदियपंचकायेसुं ॥३९४॥ (उपगीतिः)
साउस्स होइ जेट्ठा सगसगकायट्ठिई उ देसूणा ।
इयराउस्स तिभागो देसूणो गुरुभवठिईए ॥३९५॥

(प्रे०) "होइ" इत्यादि, अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यगपर्याप्तमनुष्यौ, सर्वे एकेन्द्रियभेदास्ते च सप्त, सर्वे विकलाक्षभेदास्ते च नव सर्वे पृथ्व्यादिपञ्चकायभेदास्ते चैकोनचत्वारिंशत् तदेवं समुदितासु सप्तपञ्चाशन्मार्गणासु स्वायुषः–तत्तन्मार्गणायामुदयप्रायोग्यायुषो ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टान्तरं देशोनकायस्थितिः, यथासंभवं मार्गणायाः प्रारम्भे प्रान्ते च तज्ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्य करणात्। शेषायुषो नामाऽपर्याप्तमनुष्यमार्गणायां तिर्यगायुषः, तथा तेजस्कायवायुकायसत्कभेदेषु केवलं तिर्यगायुष एव बन्धार्हत्वात्तस्य च स्वायुष इति पदेन ग्रहणात्ता मार्गणाः संत्यज्य शेषासु द्विचत्वारिंशन्मार्गणासु मनुष्यायुषः । तस्य किम्? ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टान्तरं स्वज्येष्ठभवस्थितेस्तृतीयभागो देशोनः, निरुक्तायुष उदयस्य तत्तन्मार्गणाऽप्रायोग्यत्वेन बन्धानन्तरभवे मार्गणाया विनाशादेकभवापेक्षया प्रस्तुतान्तरं प्राप्यते, शेषभावना तु सुगमा ॥३९४ ३९५॥

अथ मनोयोगादिमार्गणासु प्राह—

सव्वाण मुहुत्तंतो पणमणवयकायुरालियदुगेसुं ।
वेउव्वाहारेसुं कसायचउगम्मि सासाणे ॥३९६॥

(प्रे०) "सव्वाणे"त्यादि, मनोयोगसामान्यः सत्याद्याश्चत्वारस्तदुत्तरभेदाः एवं पञ्च मनोयोगाः पञ्च वचनयोगाः काययोगौघौदारिककाययोगतन्मिश्रकाययोगवैक्रियाहारकयोगाश्चत्वारः कषायाः सास्वादनमार्गणा चेति विंशतिमार्गणासु बन्धार्हाणां सर्वासामायुषां

गुरुप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टान्तरमन्तर्मुहूर्तम् ,अत्रौदारिकतन्मिश्रमार्गणाद्वयं काययोगौघं च विहाय शेषासु सप्तदशमार्गणासु द्विरायुर्बन्धाभावेनैकस्यामायुर्बन्धाद्धायां तदन्तरस्य लाभात् । काययोगौदारिककाययोगद्वये आयुषां ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्वामिनां संज्ञित्वेन तेषां च योगानां परावर्तमानत्वेन चान्तर्मुहूर्ततोऽधिकमनवस्थानान्मनोयोगादिवद् द्विरायुर्बन्धाभावेनैकस्यामेवायुर्बन्धाद्धायां तल्लाभात् । औदारिकमिश्रमार्गणायां तु नानाभवैस्तदन्तरं पूरणीयं शेषभावना तु सुगमप्राया ॥३९६॥

अथ स्त्रीवेदादिषु बन्धार्हाणामायुषां ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टान्तरमाह—

थीपुरिसेसु तिभागो देसूणो होइ पुव्वकोडीए ।
णिरयाउस्सियराणं देसूणा सगुरुकायठिई ॥३९७॥
देवाउस्स णपुंसे ऊणतिभागोऽत्थि पुव्वकोडीए ।
सेसाण तिआऊणं देसूणा सगुरुकायठिई ॥३९८॥

(प्रे०) "थीपुरिसेसु"इत्यादि, स्त्रीवेदमार्गणायां पुरुषवेदमार्गणायां च नरकायुषो ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टान्तरं पूर्वकोटयास्तृतीयभागोऽन्तर्मुहूर्तलक्षणेनैकदेशेन न्यूनः, एकभवापेक्षया तदन्तरस्य लाभात् ,तदूर्ध्वं तु नारकतयोत्पद्यमानस्य नियमतो नपुंसकवेदित्वेन भवनेन मार्गणाया एव विनाशात् । इतरेषां त्रयाणामायुषां ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्य ज्येष्ठान्तरं देशोनस्वज्येष्ठकायस्थितिः,मार्गणायाः प्रथमभवे चरमभवे च ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्य करणात् । ज्येष्ठा कायस्थितिः पुनः स्त्रीवेदस्य पल्योपमशतपृथक्त्वम् , पुरुषवेदस्य सागरोपमशतपृथक्त्वं सातिरेकम् । नपुंसकवेदमार्गणायां देवायुषो ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टान्तरं पूर्वकोटयास्तृतीयभागोऽन्तर्मुहूर्तेनोनः, देवानां नियमेन स्त्रीवेदितया पुंवेदितया वा लाभेन न नपुंसकवेदितया तेषां सम्भव इत्यत एकस्मिन् भवे आकर्षद्वयापेक्षया ज्येष्ठान्तरं प्राप्यते । शेषाणां त्रयाणामायुषां प्रस्तुतान्तरं देशोनस्वज्येष्ठकायस्थितिः, संज्ञिनामेव ज्येष्ठप्रदेशबन्धार्हत्वेन देशोनकायस्थितिं यावदेकेन्द्रियादिष्ववस्थाय यो मार्गणायाः प्रारम्भे प्रान्ते च संज्ञित्वेन निरुक्तानां ज्येष्ठप्रदेशं बध्नाति तदपेक्षयैतावदन्तरं प्राप्यते तदूर्ध्वं त्वल्पकालेन मार्गणाया विनाशान्नातोऽधिकान्तरस्य सम्भवः ॥३९७ ३९८॥

अथाज्ञानद्विकादिमार्गणासु प्रस्तुतं प्रदर्शयन्नाह—

अण्णाणदुगे अजए अचक्खुभवियेयरेसु मिच्छत्ते ।
आऊण चउण्हं अवि असंखिया पोग्गलपरट्टा ॥३९९॥

(प्रे०) "अण्णाणे"त्यादि, मत्यज्ञानश्रुताज्ञानासंयमाचक्षुर्दर्शनभव्याभव्यमिथ्यात्वरूपासु सप्तसु मार्गणासु चतुर्णामप्यायुषां ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टान्तरमसंख्येयाः पुद्गलपरावर्ताः, अत्रासंख्येयत्वमावलिकाऽसंख्येयभागप्रमाणं भवति, मार्गणानां ज्येष्ठकायस्थितिरनाद्यनन्तरूपा अनादिसान्त-

रूपा च भवति, ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्तु सप्तस्वपि मार्गणासु संज्ञिन एव, संज्ञित्वस्य च ज्येष्ठान्तरमसंख्येयपुद्गलपरावर्ता एव श्रीमज्जीवाजीवाभिगमसूत्रे दर्शितम्, तथैव सामान्यतो मिथ्यादृष्टिलब्धभावानां ज्येष्ठान्तरमसंख्येयपुद्गलपरावर्ता भवत्येवं प्रस्तुतेऽपि तद्वद्विज्ञेयम् । शेषभावना तु सुगमा ॥३९९॥

अथ मनःपर्यवज्ञानादिमार्गणासु प्राह—

मणणाणसंजमेसुं समइअछेअपरिहारदेसेसुं ।
देवाउस्स तिभागो देसूणो पुव्वकोडीए ॥४००॥

(प्रे०) "मणणाणे"त्यादि, मनःपर्यवज्ञान-संयमौघ सामायिकसंयम-च्छेदोपस्थापनसंयम-परिहारविशुद्धिसंयम देशविरतिसंयमरूपासु षट्सु मार्गणासु देवायुष एव बन्धार्हत्वात्तस्य देवायुषो ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्य ज्येष्ठान्तरं पूर्वकोट्या देशोनोऽन्तमुहूर्तोनस्तृतीयो भागः, प्रस्तुतमार्गणाभिः सह भवान्तरगमनाभावादेकभवसंबन्धिन्य एवैता मार्गणाः,अतो मार्गणावतिपूर्वकोटिरूपज्येष्ठस्थितिकजीवापेक्षयैतदन्तरस्य लाभः भावना तु सुगमा । तद्यथा—पूर्वकोटितृतीयभागाद्यसमये ज्येष्ठप्रदेशबन्धं विधाय द्वितीयादिसमयेष्वनुत्कृष्टप्रदेशं बध्नन्नायुर्बन्धस्य प्रथमाकर्षं समाप्य पुनः स्वजीवितस्य द्विचरमान्तर्मुहूर्ते आयुर्बन्धं द्वितीयाकर्षेण कुर्वंस्तद्बन्धचरमसमये ज्येष्ठप्रदेशं बद्ध्वा चरमान्तर्मुहूर्तरूपां जघन्यविश्रामणाद्धां व्यतीत्य मार्गणान्तरं यो व्रजति तज्जीवापेक्षया समयद्वयाधिकजघन्यविश्रामणाद्धया न्यूनं पूर्वकोटितृतीयभागप्रमाणं ज्येष्ठान्तरं प्राप्यत इति ॥४००॥

अथ लेश्याषट्के विभङ्गज्ञानमार्गणायां चायुषां ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टान्तरं प्रदर्शयन्नाह—

सव्वासुं लेसासुं सप्पाउग्गाण तिरिणराऊणं ।
देसूणा छम्मासा सेसाऊणं मुहुत्तंतो ॥४०१॥
देसूणपुव्वकोडितिभागो आउचउगस्स विब्भंगे ।
णेयं अहव चउण्ह वि आऊणं किण्हलेसव्व ॥४०२॥

(प्रे०) "सव्वासु"मित्यादि, षट्सु लेश्यामार्गणासु तिर्यग्मनुष्यायुषोरुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्य ज्येष्ठान्तरं देशोनषण्मासप्रमाणं भवति, तिर्यग्मनुष्याणां लेश्यायाः परावर्तमानत्वेनोत्कृष्टतोऽन्तर्मुहूर्तस्थायित्वेन तदपेक्षयाऽशुभलेश्यात्रये आयुष एकबन्धाद्धायामेव उत्कृष्टप्रदेशबन्धस्य प्रस्तुतान्तरं मनोयोगादिमार्गणावदेकाकर्षापेक्षया प्राप्यते, अतो नाशुभलेश्यात्रये तिर्यग्मनुष्याणामपेक्षया तिर्यग्मनुष्यायुषो ज्येष्ठान्तरस्य संभवः । शुभलेश्यात्रये तु तिर्यग्मनुष्यायुषोर्देवानामेव बन्धार्हत्वेन तिर्यग्मनुष्याणां तदनर्हत्वं विभावनीयम् । अत एवाशुभलेश्यात्रये देवनारकाणामपेक्षया महाबन्धकाराभिप्रायेण केवलनारकजीवानधिकृत्य शुभलेश्यात्रये च देवानाश्रित्य तिर्यग्मनु-

ष्यायुषोः प्रकृतिबन्धस्य ज्येष्ठान्तरं देशोनषण्मासप्रमाणं प्राप्यते ततः प्रकृतिबन्धान्तरतः समयद्वयोनमायुर्बन्धाद्धाद्वयेनाधिकं प्रस्तुतान्तरं प्राप्यते, देवनैरयिकाणामवस्थितलेश्याकत्वेन द्विरायुर्बन्धसंभवादायुर्बन्धद्वयस्य प्रकृष्टान्तरमेतावत्प्रमाणमिति । भावना तु सुगमा। शेषायुषोर्देवायुर्नरकायूरूपयोः प्रस्तुतान्तरमन्तर्मुहूर्तम् , देवनैरयिकाणां तयोर्बन्धाभावेन तिर्यग्मनुष्याणामेव तत्स्वामित्वात्तेषां च लेश्यायाः परावर्तमानत्वात् । अत्र शुभलेश्यात्रये नारकायुषो बन्धाभावाद् देवायुष एवान्तर्मुहूर्तप्रमाणं प्रस्तुतान्तरं विज्ञेयम् । अथ द्वितीयगाथया विभङ्गज्ञानमार्गणायां दर्शयति–'देसूणे'त्यादि, विभङ्गज्ञानमार्गणायां चतुर्णामप्यायुषां ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टान्तरं पूर्वकोटयास्तृतीयो भागो देशोनः, तिर्यग्मनुष्यानाश्रित्य निरुक्तान्तरस्य लाभादेतच्च सविशेषं प्रकृतिबन्धान्तरवदभ्यूह्यम् । अत्र मतान्तरेण महाबन्धाभिप्रायेण विभङ्गज्ञानस्य तिर्यग्मनुष्याणामन्तर्मुहूर्तमात्रावस्थायित्वान्न तदपेक्षया तिर्यग्मनुष्यायुषोः कृष्णलेश्यावदन्तर्मुहूर्तादधिकमन्तरं प्राप्यते, अतो देवनैरयिकानधिकृत्य तिर्यग्मनुष्यायुषोर्देशोनषण्मासप्रमाणं प्रस्तुतबन्धस्य ज्येष्ठान्तरं प्राप्यते । एतच्च कृष्णलेश्यया सममिति कृत्वा तथैवातिदिष्टम् । देवायुषो नरकायुषश्चानन्तरदर्शितकृष्णलेश्यावदन्तर्मुहूर्तं प्रस्तुतान्तरं भवति तदपि कृष्णलेश्यया तुल्यत्वात्तद्वदतिदिष्टमिति ।।४०१-४०२।।

अथ क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणायां देवमनुष्यायुषोर्ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टान्तरं दर्शयन्नाह–

देसूणा छम्मासा खइए मणुसाउगस्स बोद्धव्वं ।
देवाउस्स तिभागो देसूणो पुव्वकोडीए ।।४०३।।

(प्रे०) "देसूणे"त्यादि, क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणायां मनुष्यायुषो देशोनषण्मासा ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टान्तरं भवति, देवनैरयिकाणां तद्बन्धकत्वात्तेषामायुर्बन्धान्तरस्य तथात्वादत्र त्रिभविकं चतुर्भविकं वा क्षायिकसम्यग्दृष्टिमधिकृत्यैतद्दर्शितम् , पञ्चसंग्रहवृत्तौ श्रीमद्न्यायाचार्यवर्यदर्शितपञ्चभवापेक्षया तु समयानुसारेण यथासंभवं तस्य प्रस्तुतान्तरं वक्तव्यम् । तथा देवायुषः प्रस्तुतबन्धस्य ज्येष्ठान्तरं पूर्वकोटयास्तृतीयभागो देशोनो विज्ञेयम् , अत्र पूर्वकोटयायुष्को यो मनुष्यश्चरमतृतीयभागात्प्राग् जिननाम निकाचितं कृत्वा क्षायिकसम्यक्त्वमवाप्नोति तस्य च जिननाम्नः प्राग् निकाचितत्वेन तद्भवे मोक्षगमनानर्हत्वेनायुषो बन्धस्याजातेऽपि क्षायिकसम्यक्त्वप्राप्त्यनन्तरं क्षपकश्रेणेरसंभवेन नियमत आयुर्बन्धसम्भवात् तद्भवचरमतृतीयभागप्रथमसमयतो देवायुर्बन्धं करोति, तत्र यः प्रथमसमये ज्येष्ठप्रदेशं बध्नाति तदनु चानुत्कृष्टं यावदायुर्बन्धाद्धायाः परिसमाप्तिः पुनस्तत्रैव भवे द्विचरमान्तर्मुहूर्ते द्वितीयाकर्षेणायुर्बन्धं कुर्वंस्तद्बन्धाद्धायाश्चरमसमये ज्येष्ठप्रदेशबन्धं करोतीत्येवं जघन्यविश्रामणाद्धारूपं चरमान्तर्मुहूर्तं ज्येष्ठप्रदेशबन्धकालरूपं समयद्वयं ताभ्यां न्यूनः पूर्वकोटयास्तृतीयभागः प्रस्तुतान्तरत्वेन प्राप्यते, प्रकारान्तरेणापि यथासम्भवं भावना विधेया ।।४०३।।

अथ शेषासु मार्गणासु सर्वेसां बन्धार्हाणामायुषां ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टान्तरं देशोन-कायस्थितिप्रमाणमिति दर्शयन्नाह—

सेसासु मग्गणासुं सप्पाउग्गाण आऊणं ।
देसूणा उक्कोसा सगसगकायट्ठिई णेयं ॥४०४॥ (उपगीतिः)

(प्रे०) "सेसासु"इत्यादि, आहारकमिश्रमार्गणायां ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्यान्तरमेव निषिद्धं तथा नरकगत्यादिसप्तचत्वारिंशदुत्तरशतमार्गणासु बन्धार्हाणामायुषां ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टान्तरं दर्शितम्, शेषासु त्रिपञ्चेन्द्रियत्रित्रसकायमतिश्रुतावधिज्ञानचक्षुरवधिदर्शनसम्यक्त्वौघक्षायोपशमिकसम्यक्त्वसंज्ञ्याहारकरूपासु पञ्चदशमार्गणासु बन्धार्हाणामायुषां ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टान्तरं देशोनकायस्थितिः, मार्गणायाः प्रारम्भे प्रान्ते च तदुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्य सम्भवात् । तत्रापर्याप्तपञ्चेन्द्रियापर्याप्तत्रसकायमार्गणाद्वये तिर्यग्मनुष्यायुषी बन्धप्रायोग्ये, ज्ञानत्रयावधिदर्शनसम्यक्त्वौघक्षायोपशमिकसम्यक्त्वरूपासु षण्मार्गणासु देवमनुष्यायुषी बन्धार्हे, ओघ पर्याप्तभेदभिन्नद्विपञ्चेन्द्रिय-द्वित्रसकाय मार्गणासु चक्षुर्दर्शनसंज्ञ्याहारकेसु चेति सप्तसु मार्गणासु चतुर्णामप्यायुषां बन्धार्हत्वं विज्ञेयम् । अन्तरघटना तु सुगमप्राया ॥४०४॥

अथ मार्गणास्वायुषामनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्य जघन्योत्कृष्टान्तरमवशिष्टं तत्प्रदर्शयन्नाह—

आहारमीसजोगे अगुरुपएसस्स अंतरं णत्थि ।
देवाउस्स जहण्णं समयो सेसासु आऊणं ॥४०५॥

(प्रे०) "आहारमीसे"त्यादि, आहारकमिश्रकाययोगे देवायुष एव बन्धार्हत्वात्तस्याऽनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्यान्तरं नास्ति, द्विरायुर्बन्धासंभवेन प्रकृतिबन्धान्तराभावान्मार्गणाचरमसमये ज्येष्ठप्रदेशबन्धसम्भवेन तत्प्रयुक्तान्तराभावाच्च । शेषद्वाषष्टयुत्तरशतमार्गणामध्यात् तत्तन्मार्गणासु बन्धार्हाणामायुषामनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्य जघन्यान्तरं समयः, अनुत्कृष्टप्रदेशबन्धद्वयान्तराले समयमात्रमुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्य सम्भवात् । न तु समयमात्रं प्रस्तुतान्तरं प्रकृतिबन्धान्तरेणापि प्राप्यते कासुचिन्मार्गणासु प्रकृतिबन्धान्तरस्याभावाद् यासु तत्सम्भवस्तासु तज्जघन्यतोऽप्यन्तर्मुहूर्तमात्रमेवेति ॥४०५॥

अथ मार्गणासु बन्धार्हायुषामनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्य ज्येष्ठान्तरं सापवादातिदेशेन प्रदर्शयन्नाह—

विण्णेयं उक्कोसं पयडीबंधव्व अंतरं णवरं ।
जहि जाण अंतरं णो हवेज्ज तहि ताण दो समया ॥४०६॥

(प्रे०) "विण्णेय"मित्यादि, मार्गणासु बन्धार्हाणामायुषामनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टान्तरं

प्रकृतिबन्धान्तरवद् विज्ञेयम्, तत्तन्मार्गणासु यावदायुःप्रकृतिबन्धस्यासंभवस्तावदायुषोऽनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्यासम्भवात्, आयुषः प्रकृतिबन्धप्राप्तौ तु नियमेन तद्बन्धभावाच्च, अत्र प्रकृतिबन्धस्य ज्येष्ठान्तरतोऽनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टान्तरं चतुःसमयाधिकं विज्ञेयम्, अन्तरप्रारम्भात्प्रागायुर्बन्धाद्धायाश्चरमसमयद्वयेऽन्तरोत्तरकाले चायुर्बन्धप्रारम्भे प्रथमसमयद्वये ज्येष्ठप्रदेशबन्धार्हत्वात्। यासु मार्गणासु सकृदेवायुर्बन्धार्हत्वेन यद्यायुषः प्रकृतिबन्धान्तरं न भवति मनोयोगादिवत्, तासु मार्गणासु तत्तदायुषःप्रस्तुतान्तरं तु समयद्वयं विज्ञेयम्, ज्येष्ठप्रदेशबन्धसत्कोत्कृष्टकालस्य समयद्वयप्रमाणत्वेन तत्प्रयुक्तान्तरस्य तथात्वात्।

एतच्च विनेयमतिव्युत्पादनार्थं प्रतिमार्गणं बन्धार्हाणामायुषामनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टान्तरं प्रदर्शयामः,तद्यथा—नरकौघाद्यषड्नरकदेवौघभवनपत्यादिसहस्रारपर्यवसानदेवमार्गणासु तिर्यग्मनुष्यायुषोः, सप्तमनरके तिर्यगायुषः, अष्टादशानतादिदेवमार्गणासु केवलं मनुष्यायुषोऽनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्य ज्येष्ठान्तरं देशोनषण्मासप्रमाणम्। तिर्यगोघपञ्चेन्द्रियतिर्यङ्मार्गणात्रयेऽसंज्ञिमार्गणायां च तिर्यगायुषः प्रस्तुतान्तरं पूर्वकोटया देशोनतृतीयभागेनाभ्यधिका पूर्वकोटिः, शेषाणां त्रयाणामायुषां देशोनपूर्वकोटितृतीयभागप्रमितम्। अपर्याप्ततिर्यगपर्याप्तमनुष्यापर्याप्तपञ्चेन्द्रियापर्याप्तत्रसकायौदारिकमिश्रकाययोगमार्गणारूपासु पञ्चमार्गणासु तिर्यग्मनुष्यायुषोः प्रस्तुतान्तरमन्तर्मुहूर्तं भवति, तत्रापि पञ्चेन्द्रियतिर्यगपर्याप्तमार्गणायां तिर्यगायुषो देशोनतृतीयभागाभ्यधिकस्वज्येष्ठभवस्थितिप्रमाणम्, मनुष्यायुषः पुनः स्वज्येष्ठभवस्थितिदेशोनतृतीयभागप्रमितं प्रस्तुतान्तरं विज्ञेयम्, द्वयोरप्यन्तरस्यान्तर्मुहूर्तकालतो नाधिकत्वम्। एवं यथार्हमपर्याप्तमनुष्यमार्गणायां विज्ञेयम्। शेषमार्गणात्रये तु द्वयोरप्यायुषोर्भवद्वयेन प्रस्तुतान्तरं साधनीयमिति। मनुष्यत्रिके मनुष्यायुषः प्रस्तुतान्तरं देशोनपूर्वकोटितृतीयभागाधिकपूर्वकोटिकालप्रमाणम्, देवनरकतिर्यगायुषां देशोनपूर्वकोटितृतीयभागप्रमितम्। सर्वैकेन्द्रियविकलेन्द्रियपृथ्व्यादिपञ्चकायसत्कोत्तरभेदेषु समुदितास्वेतासु पञ्चपञ्चाशन्मार्गणासु तिर्यगायुषः प्रस्तुतान्तरं देशोनतृतीयभागाभ्यधिकस्वज्येष्ठभवस्थितिप्रमाणम्। तेजःकायवायुकायसत्काश्चतुर्दशमार्गणा विहायैकचत्वारिंशन्मार्गणासु मनुष्यायुषः प्रस्तुतान्तरं स्वज्येष्ठभवस्थितिदेशोनतृतीयभागप्रमाणम्। पञ्चेन्द्रियमार्गणाद्वये त्रसकायमार्गणाद्वये चक्षुर्दर्शनमार्गणायां संज्ञिमार्गणायां च मनुष्यायुषः प्रस्तुतान्तरं देशोनकायस्थितिप्रमाणम्, शेषाणां त्रयाणामायुषां सागरोपमशतपृथक्त्वं सातिरेकंप्रस्तुत बन्धस्य ज्येष्ठान्तरं भवति। पञ्चमनोयोगपञ्चवचनयोगवैक्रियाहारकयोगकषायचतुष्कसास्वादनमार्गणासु समुदितासु सप्तदशसु बन्धार्हाणामायुषां प्रकृतिबन्धान्तराभावाज्ज्येष्ठप्रदेशबन्धप्रयुक्तं प्रस्तुतान्तरं समयद्वयं प्राप्यते। अत्राहारककाययोगे देवायुषः, वैक्रियकाययोगे तिर्यग्नरायुषोः, सास्वादनसम्यक्त्वमार्गणायां देवनरतिर्यगायुषां, शेषचतुर्दशमार्गणासु चतुर्णामप्यायुषां समयद्वयप्रमाणं प्रस्तुतान्तरं विज्ञेयम्। काययोगमार्गणायां मनुष्यायुषो देशोनकायस्थितिस्तिर्यगायुषो द्वाविंशतिवर्षसहस्राणि देशोनपृथ्वीकाय-

ज्येष्ठभवस्थितितृतीयभागेनाधिकानि प्रस्तुतबन्धस्य ज्येष्ठान्तरत्वेन प्राप्यन्ते, देवनरकायुषोः पुनः समयद्वयम्। औदारिककाययोगमार्गणायां तिर्यग्मनुष्यायुषोः प्रस्तुतान्तरं पृथ्वीकायसत्कज्येष्ठ स्थितिदेशोनतृतीयभागप्रमितम्, देवनरकायुषोः पुनः समयद्वयं प्रस्तुतबन्धस्य ज्येष्ठान्तरं विज्ञेयम्। स्त्रीवेदमार्गणायां पुरुषवेदमार्गणायां च नरकायुषः प्रस्तुतबन्धस्य ज्येष्ठान्तरं। देशोनपूर्वकोटितृतीय-भागप्रमाणम्, तिर्यग्मनुष्यायुषोः प्रत्येकं प्रस्तुतान्तरं स्त्रीवेदे पल्योपमशतपृथक्त्वम् पुरुषवेदे सागरोपमशतपृथक्त्वम्, देवायुषः प्रस्तुतबन्धस्योत्कृष्टान्तरं स्त्रीवेदमार्गणायां पूर्वकोटिपृथक्त्वेनाभ्य धिकान्यष्टपञ्चाशत् पल्योपमानि, पुरुषवेदमार्गणायां साधिकत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमप्रमाणम्। नपुंसक-वेदमार्गणायां तिर्यगायुषः प्रस्तुतबन्धस्य ज्येष्ठान्तरं सागरोपमशतपृथक्त्वम्, मनुष्यायुषो नरकायुष-श्च देशोनज्येष्ठकायस्थितिर्देवायुषोऽनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टान्तरं देशोनपूर्वकोटितृतीयभागप्रमाणं विज्ञेयम्। मतिज्ञानश्रुतज्ञानाऽवधिज्ञानावधिदर्शनसम्यक्त्वौघवेदकसम्यक्त्वरूपासु षट्सु मार्गणासु मनु-ष्यायुषो देवायुषश्चानुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्य ज्येष्ठान्तरं साधिकानि त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि। मनःपर्यवज्ञान-संयमौघसामायिकच्छेदोपस्थापनीयपरिहारविशुद्धिदेशविरतिरूपासु षट्सु मार्गणासु देवायुषोऽनुत्कृ-ष्टप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टान्तरं पूर्वकोट्या देशोनतृतीयभागो भवति। मत्यज्ञानश्रुताज्ञानासंयमाचक्षुर्दर्शन-भव्याभव्यमिथ्यात्वरूपासु सप्तसु चतुर्णामप्यायुषामनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टान्तरमोघवद् भवति, तद्यथा–तिर्यगायुषः सागरोपमशतपृथक्त्वम्, शेषाणां त्रयाणामायुषामसंख्येयपुद्गलपरावर्ताः। विभ-ङ्गज्ञानमार्गणायां चतुर्णामप्यायुषां पूर्वकोटितृतीयभागो देशोनः, यद्वा मतान्तरमाश्रित्य तिर्यग्म-नुष्यायुषोः प्रस्तुतान्तरं देशोनाः षण्मासाः। देवनरकायुषोः समयद्वयम्। एवं कृष्णनीलकापोतलेश्या-मार्गणासु तिर्यग्नरायुषो देशोनाः षण्मासाः, देवनरकायुषोः समयद्वयम्। तेजःपद्मलेश्यामार्गणयो-स्तिर्यग्मनुष्यायुर्द्वयस्य प्रस्तुतान्तरं देशोनषण्मासाः, नरकायुषोऽत्र बन्धाभावाद्देवायुषः समयद्वयम्। शुक्ललेश्यायां मनुष्यायुषः प्रस्तुतबन्धस्योत्कृष्टान्तरं देशोनषण्मासाः, देवायुषः पुनः समयद्वयम्। क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणायां मनुष्यायुषोऽनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टान्तरं देशोना षण्मासाः, देवायुषः प्रस्तुतान्तरं पूर्वकोट्या देशोनतृतीयभागः। आहारकमार्गणायां नरकमनुष्यदेवरूपाणां त्रयाणामायु-षामनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टान्तरं देशोनकायस्थितिः, तिर्यगायुषः प्रस्तुतबन्धस्य ज्येष्ठान्तरं सागरोपमशतपृथक्त्वम्। एतच्च सर्वं प्रकृतिबन्धाद्यन्तरेण गतार्थत्वात् न विवृतम्। गतं मार्गणास्वा-युषामुत्कृष्टानुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्य जघन्योत्कृष्टान्तरमिति ॥४०६॥

अथ जघन्याऽजघन्यप्रदेशबन्धस्याऽन्तरं निरूपणीयम्, तत्राऽऽदौ तावदोघतो जघन्यप्रदेश-बन्धस्य जघन्योत्कृष्टभेदेन द्विविधाऽन्तरं प्रदर्शयन्नाह—

सुरविउवदुगजिणाणं हस्सपएसस्स अंतरं णत्थि।
समयो लहु णिरयतिगसुराउआहारगदुगाणं ॥४०७॥

समयूणदुखुड्डभवा मणुयाउस्स इयराण समयूणो ।
खुड्डभवो गुरुमडहियसयस्स सिमसंखलोगा वा ॥४०८॥

(प्रे०) "**सुरविउवे**" त्यादि, देवद्विक-वैक्रियद्विकरूपचतुष्प्रकृतीनां जघन्यप्रदेशबन्धको देव-नैरयिकेभ्यश्च्युत्वा मनुष्येषूत्पन्नो भवप्रथमसमये तत्प्रायोग्यजघन्ययोगे च वर्तमानो देवगतिप्रा-योग्यं जिननामसहितमेकोनत्रिंशतं बन्धस्थानं बध्नन्नेव भवति, तस्य च चरमभववर्तित्वेन तद्भवा-ऽनन्तरं सिध्यमानत्वान्न पुनर्जघन्यप्रदेशबन्धो लभ्यतेऽतो देवद्विक वैक्रियद्विकयोर्ह्रस्वप्रदेशबन्ध-स्याऽन्तरं नास्ति, जिननाम्नोऽप्येवं, केवलं द्विचरमभववर्त्तिनां देवनैरयिकाणां मनुष्यप्रायोग्यं त्रिंशतं बध्नतो तज्जघन्यप्रदेशबन्धभावान्न भवति तदन्तरमिति । तथा नरकद्विकदेवायुष्काहारकद्विक-रूपाणां षण्णां जघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्याऽन्तरं समयप्रमितम् , नरकत्रिक-देवायुष्करूपाणां चतसृणां प्रकृतीनां जघन्यप्रदेशबन्धकोऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियपर्याप्ततिर्यङ् परावर्तमानयोगेषु जघन्ययोगस्थाने वर्तमानो मूलाऽष्टविधबन्धं कुर्वन् भवति, तस्य च जघन्ययोगस्य समयाऽन्तरेण प्राप्यमाणत्वात् समयप्रमाणं निरुक्ताऽन्तरं भवति । एवमाहारकद्विकस्य नवरमप्रमत्तसंयतस्याऽपेक्षया भावना विधेया, तथाच तस्य मूलाष्टप्रकृतीनां बन्धकत्वे सति नामकर्मणो देवगतिप्रायोग्यैकत्रिंशतं बध्नतः प्रस्तुताऽन्तरं विज्ञेयम् ।

"**समयूणे**"त्यादि, मनुष्यायुषो जघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्याऽन्तरं समयोनक्षुल्लकभव-द्वयं भवति, तद्यथा–सूक्ष्मलब्ध्यपर्याप्तनिगोदजीवस्य क्षुल्लकभवायुष्कस्य स्वायुष्कस्य द्वित्रिभागकाले व्यतीते तृतीयभागप्रथमसमये मनुष्यायुर्बन्धं कुर्वतो जघन्यप्रदेशबन्धो भवति, द्वितीयादिसमये च योगस्य वर्धनादजघन्यम् , एवमायुर्बन्धं निष्ठाप्य क्रमेण निगोदसत्कमायुः समाप्य क्षुल्लकभवायुष्को मनुष्यो भवति, ततः पुनरेकेन्द्रियेषु सूक्ष्मलब्ध्यपर्याप्तनिगोदत्वेन क्षुल्लकभवायुष्कस्थितावुत्पद्य स्वायुषो द्वित्रिभागं चाऽतिवाह्य चरमतृतीयभागप्रथमसमये पुनर्मनुष्यायुषो जघन्यप्रदेशबन्धं करोति तदा प्रथ-मभवसत्कसमयोनक्षुल्लकभवस्य तृतीयभागः, क्षुल्लकभवस्थितिकमनुष्यभवस्तृतीयक्षुल्लकभवसत्क-स्य द्वित्रिभागश्चेति समुदितं समयोनक्षुल्लकभवद्वयं प्रस्तुतान्तरं भवति, नाऽतो न्यूनं मनुष्यायुर्ज-घन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्याऽन्तरं भवतीत्यर्थः । उक्तशेषाणामष्टोत्तरशतप्रकृतीनां जघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्यान्तरं समयोनः क्षुल्लकभवः, तत्र तिर्यगायुर्वर्जानां सप्तोत्तरशतप्रकृतीनां सूक्ष्मलब्ध्यपर्याप्तानां भवप्रथमसमये जघन्यप्रदेशबन्धादनु द्वितीयसमयादारभ्य भवचरमसमयपर्यन्तं प्रकृतिबन्धे सत्य-जघन्यप्रदेशबन्ध एव भवति द्वितीयभवप्रथमसमये च पुनर्जघन्य इति, सकृज्जघन्यप्रदेशबन्धाऽनन्तरं जघन्यतः समयोनक्षुल्लकभवप्रमाणकाले व्यतीत एव पुनर्जघन्यप्रदेशबन्धो भवितुमर्हति न तु ततोऽ-र्वाग् । एवं तिर्यगायुषः, किन्तु तस्य जघन्यप्रदेशबन्धः [illegible] भवायुष्कस्य द्वित्रिभागे व्यतीते चरम-तृतीयभागप्रथमसमय एव ज[illegible] देशब[illegible] स्य [illegible] क्तव्यः । भावना तु सुगमा ।

निरुक्तानामेवाष्टोत्तरशतप्रकृतीनां जघन्यप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टाऽन्तरमसंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमितम् , सूक्ष्मनिगोदजीवस्य तद्बन्धकत्वे सति तदुत्कृष्टाऽन्तरस्याऽसंख्येयलोकमितत्वाच्च पृथ्वीकायिकादीनां ज्येष्ठकायस्थितेस्तथात्वाच्च, मतान्तरेण पुनर्यथा सूक्ष्मलब्ध्यपर्याप्तनिगोदस्य जघन्यप्रदेशबन्धो भवति। तथा सूक्ष्मलब्ध्यपर्याप्तपृथ्व्यादीनामपि जघन्यप्रदेशबन्धः प्राप्यत इत्येवमङ्गीकर्तुरभिप्रायेणाऽष्टोत्तरशतप्रकृतीनां जघन्यप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टाऽन्तरं श्रेणेरसंख्येयभागप्रमाणं प्राप्यते, सूक्ष्मत्वस्य ज्येष्ठाऽन्तरस्याङ्गुलासंख्येयभागगतसमयप्रमितत्वेऽपि सूक्ष्मजीवानां प्रायोग्याणि योगस्थानानि श्रेणेरसंख्येयभागप्रमाणानि भवन्ति, अत एव ते जघन्ययोगस्थानं सकृल्लब्ध्वा पुनस्तत् श्रेणेरसंख्येयभागकाले व्यतीते प्राप्नोत्येवेति प्रस्तुताऽन्तरस्य तदभिप्रायेण तथा निर्देश एतच्च मूलकृता वाकारेण संगृहीतम् ।।४०७-४०८।।

अथात्र पञ्चानां निषिद्धत्वादष्टोत्तरशतस्य दर्शितत्वाच्छेषाणां सप्तानां जघन्यप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टाऽन्तरं दर्शयति—

णिरयणरसुराउणिरयदुगाण य असंखपोग्गलपरट्टा ।
देसूणपुव्वकोडितिभागो आहारगदुगस्स ।।४०९।।

(प्रे०) "णिरये" त्यादि, नरकमनुष्यदेवायुषां नरकद्विकस्य चेति पञ्चानां जघन्यप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टाऽन्तरमसंख्येयपुद्गलपरावर्ताः, तत्प्रकृतिबन्धाऽन्तरस्यापि तथात्वात्प्रकृतिबन्धाऽन्तरतः प्रस्तुताऽन्तरं किञ्चित्समधिकं वेदितव्यमिति । आहारकद्विकस्य जघन्यप्रदेशबन्धोऽप्रमत्तसंयतस्य निकाचितजिननाम्नो देवायुषो बन्धं कुर्वत एव भवति, तस्य ततस्तृतीयभवे मोक्षगमनान्न तृतीयभवे चरमभवलक्षणे पुनरायुर्बन्धसंभवः, द्वितीयभवे द्विचरमभवरूपे च तस्य देवतयैवोत्पादान्न तत्र प्रस्तुतबन्धाऽवसरः, अत एव त्रिचरमभवे पूर्वकोटयायुष्कस्य निकाचितजिननाम्नोऽप्रमत्तसंयतस्याहारकद्विकस्य देवायुषश्च बन्धं कुर्वतः स्वायुष्कस्य तृतीयभागप्रथमसमये प्रथमाकर्षेणायुर्बन्धं कुर्वतो जघन्यप्रदेशबन्धो भवति, भवप्रान्ते द्विचरमाऽन्तर्मुहूर्ते द्वितीयाकर्षेणायुर्बन्धं विदधदायुर्बन्धचरमसमये जघन्यप्रदेशबन्धं करोतीत्येवं पूर्वकोटयास्तृतीयभागोऽन्तर्मुहूर्तलक्षणेन देशेनोनः प्रस्तुताऽन्तरतया विज्ञेय इति ।।४०९।। एवमोघतो जघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्योत्कृष्टभेदेन द्विविधाऽन्तरं निरूप्य संप्रत्योघतोऽजघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्योत्कृष्टतो द्विधाऽन्तरं प्ररूपयन्नाह—

तिरियमणुसाउगाणं अलहुपएसस्स अंतरं हस्सं ।
भिन्नमुहुत्तं णेयं समयो सेसाण पयडीणं ।।४१०।।
बत्तीससागरसयं जेट्ठं मिच्छाइपंचवीसाए ।
मज्झऽट्ठकसायाणं कोडी पुव्वाण देसूणा ।।४११।।

होइ असंखपरट्टा णिरयणरसुराउछणिरयाईणं ।
तिरियाउस्स पुहुत्तं जलहिसयाणं मुणेयव्वं ॥४१२॥
तेवट्ठिसागरसयं तिरियाइतिगस्स णरदुगुच्चाणं ।
लोगा-ऽसंखा अहियं पल्लतिगं तिवइराईणं ॥४१३॥
पणसीइसागरसयं णवायवाईण अद्धपरिअट्टो ।
आहारदुगस्सूणो सेसाण भवे मुहुत्तंतो ॥४१४॥

(प्रे०) "तिरये"त्यादि, तिर्यग्मनुष्यायुर्द्वयस्याऽजघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्याऽन्तरमन्तर्मुहूर्तं भवति, बन्धप्रारम्भप्रथमसमय एव केषाञ्चित्सूक्ष्मनिगोदादिजीवानां जघन्यप्रदेशबन्धभावान्न जघन्यप्रदेशबन्धप्रयुक्तं समयप्रमाणमजघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्याऽन्तरं प्राप्यते, प्रकृतिबन्धजघन्याऽन्तरस्य चाऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणत्वेन प्रस्तुतबन्धान्तरस्यापि तथात्वात्, यावत्प्रकृतिबन्धजघन्याऽन्तरं तावत्प्रस्तुताजघन्यप्रदेशबन्धस्याऽन्तरं प्राप्यत इति भावः, तच्च क्षुल्लकभवतः संख्येयगुणहीनमिति । शेषाणामष्टादशोत्तरशतप्रकृतीनामजघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्याऽन्तरं समयः प्राप्यते, जघन्यप्रदेशबन्धप्रयुक्तप्रस्तुतान्तरस्य लाभात् तद्यथा—आसामजघन्यप्रदेशबन्धं निर्वर्तयन् मध्ये समयप्रमाणं जघन्यप्रदेशबन्धं निर्वर्त्य पुनरजघन्यप्रदेशबन्धं करोति तदपेक्षया प्राप्यते । कासाञ्चित्प्रकृतीनां पुनः प्रकृतिबन्धान्तरस्याऽपि समयप्रमाणत्वात्तदपेक्षयाऽपि प्रस्तुतान्तरं समयप्रमाणं प्राप्यत इति । तत्राहारकद्विकदेवनरकायूरूपचतसृणामध्रुवबन्धिप्रकृतीनां तथा मिथ्यात्व स्त्यार्द्धित्रिकाऽनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानावरण-प्रत्याख्यानावरणचतुष्करूपाणां षोडशानां ध्रुवबन्धिप्रकृतीनां प्रकृतिबन्धाऽन्तरस्याऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणत्वान्न प्रकृतिबन्धाऽन्तरप्रयुक्तं प्रस्तुताऽन्तरं प्राप्यते, किन्तु जघन्यप्रदेशबन्धप्रयुक्तं प्रस्तुताऽन्तरं समयप्रमाणं विज्ञेयमिति । शेषाणामष्टनवतेरजघन्यप्रदेशबन्धस्य समयप्रमाणं जघन्याऽन्तरं प्रकृतिबन्धाऽन्तरप्रयुक्तं जघन्यप्रदेशबन्धप्रयुक्तं वा प्राप्यत इति ।

अथाऽजघन्यप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टाऽन्तरं दर्शयति-"बत्तीसे"त्यादिना, अत्राऽजघन्यप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टाऽन्तरं प्रकृतिबन्धाऽन्तरतुल्यम्, अनुत्कृष्टप्रदेशबन्धाऽन्तरतुल्यं च भवति, अतो हेत्वादिभावना तत एवाऽवधार्या, शब्दार्थमात्रं तु दर्शयामः। तद्यथा- मिथ्यात्व-स्त्यानर्द्धित्रिका-ऽनन्तानुबन्धिचतुष्क-स्त्रीवेद नपुंसकवेदा-ऽऽद्यवर्जसंहननपञ्चका-ऽऽद्यवर्जसंस्थानपञ्चक-कुखगतिनाम दुर्भगत्रिक नीचैर्गोत्ररूपाणां पञ्चविंशतेः प्रस्तुताऽन्तरं द्वात्रिंशदभ्यधिकं सागरोपमशतं सातिरेकम्, प्रकृतिबन्धाऽन्तरस्याऽपि तथात्वात् । प्रत्याख्यानावरणाऽप्रत्याख्यानावरणरूपाणामष्टकषायाणां प्रस्तुतबन्धस्य ज्येष्ठाऽन्तरं देशोनपूर्वकोटिः । नरकायुर्मनुष्यायुर्देवायु र्नरकद्विक-देवद्विक-वैक्रियद्विकरूपाणां नवानां ज्येष्ठाऽन्तर-

मावलिकाऽसंख्येयभागगतसमयप्रमितपुद्गलपरावर्ताः। तिर्यगायुषः सागरोपमशतपृथक्त्वम्। तिर्यग्द्विकोद्योतरूपाणां त्रयाणां त्रिषष्ट्यभ्यधिकं सागरोपमशतम्। मनुष्यद्विको च्चैर्गोत्ररूपत्रिप्रकृतीनामसंख्येयलोकाकाशप्रदेशतुल्यसमयाः, औदारिकद्विक-वज्रर्षभनाराचरूपप्रकृतित्रयस्य प्रस्तुताऽन्तरं देशोनपूर्वकोटितृतीयभागाऽभ्यधिकं पल्योपमत्रयम्, जातिचतुष्क-स्थावरचतुष्का-ऽऽतपरूपाणां नवानां प्रस्तुताऽन्तरं पञ्चाशीत्यभ्यधिकं सागरोपमशतम्, आहारकद्विकस्य प्रस्तुतबन्धस्य ज्येष्ठान्तरं देशोनार्धपुद्गलपरावर्तः, शेषा याः साताऽसातवेदनीयहास्यादियुगलद्वय-पुरुषवेद पञ्चेन्द्रियजाति-समचतुरस्रसंस्थान सुखगति--पराघातो -च्छ्वास--जिननाम -त्रसदशका ऽस्थिराऽशुभाऽयशःकीर्तिनामरूपाः षड्विंशत्यध्रुवबन्धिन्यस्तथा ज्ञानावरणपञ्चक दर्शनावरणचतुष्क निद्राद्विक-संज्वलनचतुष्क-भय-जुगुप्सा तैजस-कार्मण वर्णचतुष्का ऽगुरुलघू पघात-निर्माणाऽन्तरायपञ्चकरूपा एकत्रिंशद्ध्रुवबन्धिप्रकृतयः समुदिताश्चैताः सप्तपञ्चाशत्प्रकृतयः, तासां प्रकृतिबन्धाऽन्तरस्याऽप्युत्कृष्टतोऽन्तर्मुहूर्तत्वात्प्रस्तुताऽजघन्यप्रदेशबन्धस्य ज्येष्ठाऽन्तरमन्तर्मुहूर्तम् । अत्र भावना तु सर्वथा प्रकृतिबन्धाऽन्तरवत्कार्येति ॥४१०-४१४॥

एवमोघतो जघन्याऽजघन्यप्रदेशबन्धस्य द्विविधाऽन्तरं निरूप्याऽथ मार्गणास्वायुर्वर्जानां वध्यमानोत्तरप्रकृतीनां जघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्यान्तरं प्रदर्शयन्नरकादिमार्गणास्वाह—

ण लहुपएसस्संतरमखिलणिरयसुरअपज्जमणुएसुं ।
विउवाहारदुगेसुं कम्मेऽणाहारगे य सव्वेसिं ॥४१५॥ (गीतिः)
सप्पाउग्गाणाउगवज्जाण णवरि जिणस्स व लहु खणो ।
दुइअतइअणिरयेसुं णरदुगउच्चाण तमतमाअ खणो ॥४१६॥(गीतिः)

(प्रे०) "ण लहुपएसे"त्यादि, सर्वे नरकभेदास्ते चाष्ट, सर्वे देवभेदास्ते च त्रिंशत्, अपर्याप्तमनुष्यस्तास्वेकोनचत्वारिंशन्मार्गणासु तथा वैक्रिय वैक्रियमिश्रा ऽऽहारका ऽऽहारकमिश्रकार्मणाऽनाहारकमार्गणासु च समुदितास्वेतासु पञ्चचत्वारिंशन्मार्गणासु तत्तन्मार्गणाप्रायोग्यबन्धार्हाणामायुर्वर्जानां सर्वासां प्रकृतीनां जघन्यप्रदेशबन्धस्याऽन्तरं नास्ति, मार्गणाप्रथमसमये सकृदेव तज्जघन्यप्रदेशबन्धभावात् । तद्यथा—देवनरकमार्गणासु भवप्रथमसमय एव जघन्यप्रदेशबन्धो भवति, देवनैरयिकाणां द्वितीयभवे देवनैरयिकतयोत्पादाऽभावान्न पुनर्द्वितीयवेलायां तज्जघन्यप्रदेशबन्धसंभवः । अपर्याप्तमनुष्यमार्गणायामसंज्ञिभ्य आगतस्य भवप्रथमसमये वर्तमानस्य जघन्यप्रदेशबन्धस्य भावाद् द्वितीयभवेऽपर्याप्तमनुष्यतया पुनरुत्पद्यमानत्वेऽपि तस्य संज्ञितः संज्ञितयोत्पद्यमानत्वाद् द्वितीयभवप्रथमसमये न जघन्यप्रदेशबन्धसंभवः, असंज्ञितयोत्पन्ने तु प्रस्तुतमार्गणाया एव विच्छेद इति न तदन्तरस्य संभवः । अत्र शतकादिग्रन्थाऽभिप्रायेण मनुष्यगतौ संज्ञिपर्याप्ताऽपर्याप्तरूपभेदद्वयमेवाऽ-

ङ्गीकर्तुरपेक्षयैतद्दर्शितम् । तदन्याऽभिप्रायेण तु प्रस्तुताऽन्तरं प्राप्यते, तच्चाऽन्तर्मुहूर्तमिति । वैक्रियमिश्राऽऽहारकमिश्रमार्गणाद्वये मार्गणाप्रारम्भे तज्जघन्यप्रदेशबन्धो संभवति, तदूर्ध्वं त्वामार्गणापरिसमाप्ति योगस्याऽसंख्येयगुणवृद्धेर्भावान्न पुनर्जघन्यप्रदेशबन्धस्य संभव इति । वैक्रियकाययोगमार्गणायामाहारककाययोगमार्गणायां च शरीरपर्याप्तिपरिसमाप्तिप्रथमक्षणे मतान्तरेण पुनः प्रथमसमयतश्चतुःसमयं यावदेव जघन्यप्रदेशबन्धसंभवः, तदूर्ध्वं न जघन्यप्रदेशबन्धः । कार्मणाऽणाहारकमार्गणयोः सूक्ष्माऽपर्याप्तादिजीवानां भवप्रथमसमय एव जघन्यप्रदेशबन्धार्हत्वात्प्रमार्गणागतानां योगस्य प्रतिसमयमसंख्येयगुणवृद्धेर्भावाच्च न पुनर्द्वितीयवारं जघन्यप्रदेशबन्धः प्राप्यत इति । अथाऽत्र द्वितीयनरकादिषु कासुचिन्मार्गणासु कासाञ्चित्प्रकृतीनां भवप्रथमसमयादिषु बन्धाऽप्रायोग्यत्वात्पर्याप्ताऽवस्थायामेव तद्बन्धार्हत्वाद् ,घोलमानयोगस्थानेषु संभवज्जघन्ययोगस्थानवर्त्तिन एव तज्जघन्यप्रदेशबन्धस्वामित्वाच्च जघन्यप्रदेशबन्धस्यानेकश एकस्मिन्नपि भवे संभवात्तत्राऽपवाद प्रदर्शयन्नाह—"णवरि" इत्यादि, द्वितीयतृतीयभूमिनारका जिननाम्नो जघन्यप्रदेशबन्धं भवप्रान्त आयुर्बन्धेन सहाऽष्टमूलप्रकृतीर्बध्नन्तः परावर्तमानयोगस्थानेभ्यः संभवज्जघन्यतमयोगस्थानस्थिताः कुर्वन्ति, एतच्च स्वामित्वद्वारे दर्शितम् , ततस्तज्जघन्यप्रदेशबन्धद्वयमध्ये समयमात्रमजघन्यप्रदेशबन्धस्यापि संभवाज्जिननाम्नो जघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्याऽन्तरं समयमात्रं प्राप्यते । भवप्रथमसमये तु न शेषप्रकृतीनामिवाऽस्य बन्धार्हत्वम् , अत एव तद्वदन्तरनिषेधोऽपि न प्राप्यते, भावना तु सुगमप्राया । एवं सप्तमनैरयिकस्य मनुष्यद्विकोच्चैर्गोत्ररूपप्रकृतित्रयस्य जघन्यप्रदेशबन्धः परावर्तमानयोगिन एव प्राप्यत अतस्तज्जघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्याऽन्तरं समयमात्रं विज्ञेयम् । अत्राऽपि भवप्रथमसमये नैतासां बन्धार्हत्वं, येन तदन्तराऽभावः प्राप्येत । मतान्तरेण पुनर्द्वितीयतृतीयभूमिनैरयिकेषु क्षायिकसम्यग्दृशामुत्पादस्य भावाज्जिननाम्नो जघन्यप्रदेशबन्धस्य भवप्रथमसमय एव भावात्तदन्तरं निषेधनीयम् । एतच्च ग्रन्थकृता वाकारेण दर्शितम् । स्वामित्वद्वारवृत्तावपि मतद्वयं प्रदर्शितं चेति ॥४१५ ४१६॥

अथ तिर्यगोघादिमार्गणासु जघन्यप्रदेशबन्धस्य ह्रस्वाऽन्तरं दर्शयन्नाह—

सुरविउवदुगाण तिरिदुपणिंदितिरियेसु णो तिरिच्छीए ।
सिं णिरयदुगस्स चउसु वि खणोऽण्णेसिं खणूणहस्सठिई ॥४१७॥(गीतिः)

(प्रे०) "सुरे"त्यादि, तिर्यग्गत्योघमार्गणायां पञ्चेन्द्रियतिर्यगोघे पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिरश्चि चेति तिसृषु मार्गणासु देवद्विक-वैक्रियद्विकयोर्जघन्यप्रदेशबन्धस्याऽन्तरमेव नाऽस्ति । युग्मितिर्यक्षु पुंवेदितयैव सम्यक्त्वसहितस्योत्पद्यमानस्य भवप्रथमसमये कस्यचिज्जघन्ययोगिन आसां जघन्यप्रदेशबन्धः प्राप्यते, तद्भवाऽनन्तरं तु तस्य नियमतो देवलोकगमनसद्भावात्प्रस्तुत-

मार्गणाया एवोच्छेदात् । तथैतासु तिसृषु नरकद्विकस्य तथा तिरश्चीमार्गणायां पुनर्देवद्विक वैक्रियद्विकनरकद्विकरूपाणां षण्णां जघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्याऽन्तरं समयो भवति, आसां जघन्यप्रदेशबन्धस्याऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियपर्याप्तस्य घोलमानयोगिन एव सद्भावेन जघन्यप्रदेशबन्धद्वयाऽन्तरालेऽजघन्यप्रदेशबन्धस्य संभवात् । मार्गणाप्रायोग्याणामायुर्वर्जानां शेषाणां सप्तोत्तरशतप्रकृतीनां जघन्यप्रदेशबन्धस्य ह्रस्वाऽन्तरं समयोना स्वजघन्यकायस्थितिः, सा च तिर्यग्गत्योघे पञ्चेन्द्रियतिर्यगोघे च समयोनक्षुल्लकभवरूपा, पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्मार्गणायां तिरश्चीमार्गणायां चाऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणा, जघन्यप्रदेशबन्धयोग्ये जघन्यस्थितिके निरन्तरभवद्वयप्रथमसमये जघन्यप्रदेशबन्धकर्तुर्ह्रस्वाऽन्तरं निरुक्तप्रमाणं प्राप्यत इति ॥४१७॥

अथाऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यगादिमार्गणासु प्राह—

समयूणलहुठिई तिरिपणिंदियपणिंदितसअपज्जेसुं ।
तह सव्विगविगलिंदियपणकायेसु उण सव्वेसिं ॥४१८॥

(प्रे०) "**समयूणे**"त्यादि, पञ्चेन्द्रियतिर्यगपर्याप्त-पञ्चेन्द्रियाऽपर्याप्त-त्रसकायाऽपर्याप्तरूपासु तिसृषु मार्गणासु तथा सप्तैकेन्द्रियमार्गणासु नवविकलाक्षमार्गणासु पृथ्वीकायादिपञ्चकायसत्कैकोनचत्वारिंशत्कायमार्गणासु समुदितास्वष्टपञ्चाशन्मार्गणासु बन्धार्हाणामायुर्वर्जसर्वप्रकृतीनां जघन्यप्रदेशबन्धस्य ह्रस्वाऽन्तरं तत्तन्मार्गणाया या ह्रस्वा कायस्थितिः सा समयोना विज्ञेया, निरन्तरजघन्यस्थितिकभवद्वयसत्कप्रथमसमये जघन्यप्रदेशबन्धस्य करणात् । जघन्यकायस्थितिः पुनरोघमार्गणास्वपर्याप्तमार्गणासु च क्षुल्लकभवरूपा तथा पर्याप्तमार्गणास्वन्तर्मुहूर्तप्रमिता ज्ञातव्या । बन्धप्रायोग्यप्रकृतयस्तु सप्ततेजःकाय-सप्तवायुकायमार्गणासु वैक्रियषट्काऽऽहारकद्विक जिननाम-मनुष्यद्विको-च्चैर्गोत्रायुश्चतुष्कवर्जाश्चतुरुत्तरशतप्रकृतयः; शेषासु चतुश्चत्वारिंशन्मार्गणासु ता एव मनुष्यद्विकोच्चैर्गोत्रसहिताः सप्तोत्तरशतम् ॥४१८॥ एतर्हि मनुष्यौघादिमार्गणासु प्रस्तुताऽन्तरं दर्शयति—

णिरयाहारदुगाणं तिणरउरलचउकमायसण्णीसुं ।
समयो अत्थि जहण्णं णेव भवे सेसपयडीणं ॥४१९॥

(प्रे०) "णिरये"त्यादि, मनुष्यौघ-पर्याप्तमनुष्य-मानुषीरूपासु त्रिमनुष्यमार्गणास्वौदारिककाययोगक्रोधादिचतुष्कषाय-संज्ञिमार्गणासु समुदितासु नवसु मार्गणासु सर्वाः प्रकृतयो बन्धार्हा भवन्ति, ताभ्यो नरकद्विकस्याहारकद्विकस्य च जघन्यप्रदेशबन्धस्य घोलमानजघन्ययोगिन एव स्वामित्वात्तज्जघन्याऽन्तरं समयप्रमाणं भवति, जघन्यप्रदेशबन्धद्वयाऽन्तराले समयमात्राऽजघन्यप्रदेशबन्धस्य प्रवर्तनात् । शेषाणां द्वादशोत्तरशतप्रकृतीनां जघन्यप्रदेशबन्धस्याऽन्तरं न भवति, तत्र

-त्रिमनुष्यमार्गणासु देवद्विक-वैक्रियद्विकजिननाम्नां तु चरमशरीरिणो भवप्रथमसमयवर्तिन एव जघन्यप्रदेशबन्धस्य भावात्, औदारिककाययोगमार्गणायां तस्यैव शरीरपर्याप्तिनिष्ठापनप्रथमसमये, शेषमार्गणापञ्चके देवद्विकवैक्रियद्विकयोर्जघन्यप्रदेशबन्धस्य चरमशरीरिणो मनुष्यस्य भवप्रथमसमये देवगतिप्रायोग्यजिननामसहितैकोनत्रिंशतं बध्नतः संभवज्जघन्ययोगिन एव जघन्यप्रदेशबन्धसद्भावात्तस्य च सकृदेव लाभान्न भवति तज्जघन्यप्रदेशबन्धस्याऽन्तरम् । एतासु पञ्चसु मार्गणासु जिननाम्नो जघन्यप्रदेशबन्धस्य सिद्धिगमनतो द्विचरमभववर्त्तिनां देवनैरयिकाणां भवप्रथमसमये संभवज्जघन्ययोगे च वर्तमानानां मनुष्यगतिप्रायोग्यजिननामसहितं त्रिंशतं बध्नतामेव सद्भावात्पुनश्च तल्लाभायोगान्न भवति तदन्तरम् । त्रिमनुष्यसंज्ञिरूपे मार्गणाचतुष्के शेषाणां सप्तोत्तरशतप्रकृतीनां जघन्यप्रदेशबन्धोऽसंज्ञिस्य उद्वृत्त्यागतानां मार्गणाप्रथमसमयवर्त्तिनां भावात्पुनरसंज्ञिषूत्पादे तु मार्गणाया विच्छेदाच्च न भवति तासां ह्रस्वप्रदेशबन्धस्याऽन्तरम् । कषायचतुष्कमार्गणास्वोघवत्सूक्ष्मनिगोदजीवानां बन्धार्हाणां सप्तोत्तरशतप्रकृतीनां जघन्यप्रदेशबन्धस्वामित्वेऽपि तज्जघन्यप्रदेशबन्धार्हजीवानां प्रस्तुतमार्गणानां कायस्थितेः क्षुल्लकभवतोऽतीवन्यूनत्वान्न भवति तासां जघन्यप्रदेशबन्धस्याऽन्तरम् । औदारिककाययोगमार्गणायामपि सूक्ष्मनिगोदस्य शरीरपर्याप्तिनिष्ठापनसमयतो मार्गणाप्रारम्भो भवति; तस्य मार्गणाप्रथमसमये जघन्यप्रदेशबन्धो भवति पुनश्च तद्भवे जघन्यप्रदेशबन्धाऽभावाद्भवाऽन्तरगमने च मार्गणाया विच्छेदान्न भवति तस्य तासां सप्तोत्तरशतप्रकृतीनां द्विर्जघन्यप्रदेशबन्धोऽतो न भवति तासां जघन्यप्रदेशबन्धाऽन्तरमिति, नवसु मार्गणासु भिन्नभिन्नस्वामित्वेऽप्यन्तरप्ररूपणायाः समानत्वाद्युगपन्निर्देश इति ॥४१९॥

साम्प्रतं पञ्चेन्द्रियादिमार्गणासु जघन्यप्रदेशबन्धस्याऽन्तरं दर्शयन्नाह—

सुरविउवदुगजिणाण ण दुपणिंदितसपुमलोयणेसु लहुं ।
णिरयाहारदुगाणं समयोऽण्णेसिं खणूसलहुठिई ॥४२०॥ (गीतिः)

(प्रे०) "सुरविउवे"त्यादि, पञ्चेन्द्रियौघ पर्याप्तपञ्चेन्द्रिय- त्रसकायौघ- पर्याप्तत्रसकायमार्गणाचतुष्के तथा पुरुषवेदमार्गणायां चक्षुर्दर्शनमार्गणायां च समुदितासु षट्सु मार्गणासु देवद्विकवैक्रियद्विक जिननामरूपाणां पञ्चानां जघन्यप्रदेशबन्धस्याऽन्तरं न भवति, भावना त्वोघवद्विधेया, ओघप्ररूपणायामपि तासां निरुक्तबन्धस्याऽन्तराऽभावात् ; अनन्तरगाथावृत्तौ कषायचतुष्कादिपञ्चमार्गणा अधिकृत्य च दर्शितेति ततो वाऽवधार्येति । अत्र पुरुषवेदमार्गणायां जिननाम्नो ह्रस्वप्रदेशबन्धस्वामित्वेन देवा एव वक्तव्याः, न नैरयिकाः, इति विशेषः । तथा नरकद्विकाऽऽहारकद्विकयोर्जघन्यप्रदेशबन्धस्य ह्रस्वाऽन्तरं समयः, घोलमानजघन्ययोगिनस्तज्जघन्यप्रदेशबन्धस्वामित्वेन जघन्यप्रदेशबन्धद्वयमध्ये समयमात्राऽजघन्यप्रदेशबन्धस्य लाभात् समयः प्रस्तुताऽन्तरं प्राप्यते । तथोक्तशेषाणां

सप्तोत्तरशतप्रकृतीनां जघन्यप्रदेशबन्धो भवप्रथमसमय एव भवति, किञ्च मार्गणाषट्केऽपि यावज्जघन्य-भवस्थितिस्तावदेव जघन्यकायस्थितिः, सा च समयोना निरन्तरजघन्यस्थितिकभवद्वयप्रथमसमययो र्जघन्यप्रदेशबन्धकरणात्प्रस्तुताऽन्तरत्वेन प्राप्यते । तदन्तरं पञ्चेन्द्रियौघ-त्रसकायौघमार्गणाद्वये समयोनक्षुल्लकभवरूपं, शेषमार्गणाचतुष्केऽन्तर्मुहूर्तप्रमितं विज्ञेयमिति । त्रसकायमार्गणाद्वये द्वीन्द्रियः चक्षुर्दर्शनमार्गणायां चतुरिन्द्रियः, पञ्चेन्द्रियमार्गणाद्वये पुरुषवेदमार्गणायां चाऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियः शेष-सप्तोत्तरशतप्रकृतीनां जघन्यप्रदेशबन्धस्वामी भवति, ततस्तानधिकृत्य भावना विधेया ।।४२०।। एतर्हि काययोगौघादिमार्गणासु प्रस्तुताऽन्तरं सापवादमोघवदतिदिशन्नाह—

कायउरलमीसणपुमअजयाचक्खुभवियेसु आहारे ।
सव्वाणोघव्व णवरि सुरविउव्वदुगाण लहुं खणो णपुमे ।।४२१।।(गीतिः)

(प्रे०) "काये"त्यादि, काययोगौघमार्गणायामौदारिकमिश्रे नपुंसकवेदेऽसंयममार्गणा-यामचक्षुर्दर्शनमार्गणायां भव्यमार्गणायामाहारकमार्गणायां चेति सप्तसु मार्गणासु तत्तन्मार्गणायां बन्धप्रायोग्याणामायुर्वर्जानां प्रकृतीनां जघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्याऽन्तरमोघवद्भवति, तद्यथा—सूक्ष्मनि-गोदस्वामिकानां सप्तोत्तरशतस्य प्रकृतीनां समयोनक्षुल्लकभवो जघन्यप्रदेशबन्धस्य ह्रस्वाऽन्तरं भवति, औदारिकमिश्रकाययोगमार्गणायां नरकद्विकस्य बन्धाभावात्तद्वर्जमार्गणाषट्के नरकद्विकस्य समयः, औदारिकमिश्राऽसंयममार्गणाद्वये आहारकद्विकस्य बन्धाऽभावात्तद्वर्जासु पञ्चसु मार्गणास्वाहारकद्विक-स्य समयः, देवद्विकादीनां नपुंसकवेदमार्गणायां पृथग्दर्शितत्वात् तद्वर्जासु षट्सु मार्गणासु देव-द्विकवैक्रियद्विकजिननाम्नां जघन्यप्रदेशबन्धस्याऽन्तरं नास्ति, भावना त्वोघवद्विधेया । केवलमौ-दारिकमिश्रयोगमार्गणायां जिननाम्नश्चरमभवस्थभवसिद्धिकस्य मनुष्यस्य भवप्रथमसमयवर्त्तिनो देव-प्रायोग्यजिननामसहितैकोनत्रिंशतं बध्नतो जघन्यप्रदेशबन्धस्य लाभात्तदपेक्षया भावना कर्त्तव्या, सा चौघेऽपि देवद्विकजघन्यप्रदेशबन्धस्याऽन्तरनिषेधमधिकृत्य कृतैव, तदर्थिना तद्वृत्तिर्विलोकनीया । ससम्यक्त्वजीवानां तिर्यग्मनुष्येषु नपुंसकवेदित्वेनोत्पादाभावेन नपुंसकवेदिना तिर्यग्मनुष्याणामप-र्याप्ताऽवस्थाया सम्यक्त्वाऽभावान्न देवद्विकवैक्रियद्विकयोरपर्याप्ताऽवस्थायां बन्धः संभवति, पर्या-प्ताऽवस्थायां तद्बन्धसद्भावे घोलमानयोगिनामेव जघन्यप्रदेशबन्धस्य भावाज्जघन्यप्रदेशबन्धद्वया-न्तराले समयमेकमजघन्यप्रदेशबन्धप्रवर्तनान्नपुंसकवेदमार्गणायां देवद्विक वैक्रियाद्विकयोर्जघन्यपदेश-बन्धस्य ह्रस्वाऽन्तरं समयः प्राप्यते, न त्वोघवदन्तराऽभाव इत्यतोऽपवाददर्शनम् । जिननाम्नःपुन-र्नरकभवप्रथमसमय एव तस्य लाभात्तदनन्तरं पुनस्तस्याऽसंभवादोघवदन्तराभाव एवेति न तस्या-ऽपवादरूपता । शेषभावनादयस्तु सुगमाः ।।४२१।।

अथ स्त्रीवेदमार्गणायां लघुप्रदेशबन्धस्य ह्रस्वाऽन्तरं दर्शयन्नाह—

माणुस्सिव्व विउव्वियछक्काहारदुगतित्थणामाणं ।
थीए भिन्नमुहुत्तं सगुत्तरसयस्स सेसाणं ॥४२२॥

(प्रे०) "माणुस्सिव्वे"त्यादि, स्त्रीवेदमार्गणायां वैक्रियषट्काहारकद्विक-जिननामरूपाणां नवानां जघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्याऽन्तरं मानुषीमार्गणावद्विज्ञेयम्, तद्यथा–देवद्विक वैक्रियद्विक-जिननाम्नां प्रस्तुतबन्धस्याऽन्तरं नास्ति, तीर्थकरत्वेनोत्पन्नस्य भवप्रथमसमय आसां जघन्य-प्रदेशबन्धसंभवात्, सामान्यतः सम्यक्त्वेन सह स्त्रीवेदित्वेन नोत्पद्यत इति सप्ततिकाचूर्णौ दर्शितं कदाचित्तूत्पद्यत, एवमनन्तकाले स्त्रीतीर्थकरस्याऽपि भावात्तस्यैवासां पञ्चानां जघन्यप्रदेशबन्ध-लाभेन न भवति तदन्तरम् । तथा नरकद्विकाऽऽहारकद्विकयोः प्रस्तुताऽन्तरं समयः, जघन्यप्रदे-शबन्धद्वयाऽन्तराले समयमात्रमजघन्यप्रदेशबन्धस्य लाभात् । उक्तशेषाणां सप्तोत्तरशतप्रकृतीनां जघ-न्यप्रदेशबन्धस्य जघन्याऽन्तरं अन्तर्मुहूर्तम्, असंज्ञिषु तिर्यक्स्त्रीत्वेनोत्पन्नस्य भवप्रथमसमय आसां जघन्यप्रदेशबन्धं विधाय संभवज्जघन्यायुष्कं जीवित्वा पुनस्तत्रैव स्त्रीत्वेनोत्पन्नस्य भव-प्रथमसमय आसां जघन्यप्रदेशबन्धकस्य प्रस्तुताऽन्तरं प्राप्यते, तिरश्च्या यावज्जघन्यायुस्ततः समयोनं प्रस्तुताऽन्तरं विज्ञेयमिति ॥४२२॥

अथ मतिज्ञानादिमार्गणासु प्रस्तुतबन्धस्य ह्रस्वाऽन्तरं प्ररूपयन्नाह--

णामपयडिवज्जाणं तिणाणऽवहिसम्मवेअगेसु लहुं ।
वासपुहुत्तं खइए समयूणसहस्सवासचुलसीई ॥४२३॥ (गीतिः)
सत्तसु वि भवे समयो आहारदुगस्स णत्थि सेसाणं ।
णपुमव्व सजोग्गाणं दुअणाणअभवियमिच्छअमणेसुं ॥४२४॥ (गीतिः)

(प्रे०) "णामे"त्यादि, मतिश्रुताऽवधिज्ञानमार्गणात्रयेऽवधिदर्शनसम्यक्त्वौघक्षायोपशम-सम्यक्त्वमार्गणासु च समुदितासु षण्मार्गणासु नामकर्मवर्जानां शेषाणां षट्कर्मसत्कोत्तरप्रकृतीनां जघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्याऽन्तरं वर्षपृथक्त्वम्, देवनैरयिकेभ्यो मनुष्येषु सम्यक्त्वेन सहोत्पद्य-मानो जघन्यतोऽपि वर्षपृथक्त्वस्थितिष्वेवोत्पद्यते, स च मनुष्यभवप्रथमसमये जघन्यप्रदेशबन्धं विदधाति तदनन्तरमन्तरं प्रारभ्यते ततो वर्षपृथक्त्वप्रमितं मनुष्यायुःपरिपाल्य सम्यक्त्वयुक्त एव वैमानिकदेवेषूत्पद्यते तत्र च देवभवप्रथमसमय आसां पुनर्जघन्यप्रदेशबन्धं करोत्येवं सम्यक्त्वेन सह जघन्यतो यावत्स्थितिकमनुष्यत्वेनोत्पादस्य संभवस्ततस्समयोनं प्रस्तुताऽन्तरं प्राप्यते, तच्च वर्षपृथक्त्वम् । प्रस्तुतषण्मार्गणासु नामेतरा बन्धयोग्या प्रकृतयः पुनरिमाः–ज्ञानावरणपञ्चकं दर्शना-वरणचतुष्कं निद्राद्विकं साताऽसातवेदनीयद्विकमप्रत्याख्यानावरण-प्रत्याख्यानावरण-संज्वलनकषाय-

रूपा द्वादशकषाया हास्यषट्कं पुरुषवेदो चैर्गोत्रमन्तरायपञ्चकञ्चेति समुदितार्श्चैता अष्टात्रिंशत् । क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणायामेतासामष्टात्रिंशत्प्रकृतीनां प्रस्तुतबन्धस्य जघन्याऽन्तरं क्षायिकसम्यग्दृशां नरके यावज्जघन्यस्थितिकेषूत्पादः समयोनं तावत्प्रमाणं विज्ञेयम् , तच्च समयोनं चतुरशीतिवर्ष सहस्रप्रमाणं भवति । तद्यथा–मुख्यवृत्त्या क्षायिकसम्यग्दृश उत्कृष्टतस्त्रींश्चतुरो वा भवान् परिभ्रम्य शिवमध्यारोहन्ति, त्रयो भवास्तु तस्य क्षायिकसम्यक्त्वलाभाऽनन्तरभवे प्राग्बद्धायुर्वशतो नैरयिकभवे देवभवे वा समुत्पद्य ततो मनुष्यभवं प्राप्य शिवं गमनाद्विज्ञेयाः,चत्वारो भवाः पुनः सम्यक्त्वलाभतः प्राग्बद्धयुग्मितिर्यग्मनुष्यायुष्कत्वेन क्षायिकसम्यक्त्वप्राप्त्यनन्तरभवे तत्रोत्पद्य ततो वैमानिकदेवलोकमित्वा ततो मनुष्यत्वेन समुत्पद्य शिव गमनात् , पञ्चभवास्तु कादाचित्का भवान्तराऽपेक्षया वा विज्ञेयास्ततः क्षायिकसम्यग्दृष्टे युग्मितिर्यग्मनुष्यभवे वैमानिकदेवभवे च पल्योपमतो न्यूनायुषोऽसंभवाज्जघन्याऽन्तरस्य च प्रस्तुतत्वाज्जघन्यतो यावत्स्थितिकनैरयिकेषु स उत्पद्यते ततस्समयोनमासां प्रकृतीनां जघन्यप्रदेशबन्धस्य ह्रस्वाऽन्तरं प्राप्यते नैरयिकभवप्रथमसमये तत उद्वृत्तस्य मनुष्यभवप्रथमसमय आसां जघन्यप्रदेशबन्धाऽर्हत्वेन कस्यचित्तद्बन्धभावात्क्षायिकसम्यग्दृष्टिन उत्पत्तियोग्या नैरयिकस्तका जघन्यस्थितिश्चतुरशीतिवर्षसहस्राणीति तथा निर्देशः। एतासु मतिज्ञानादिषण्मार्गणासु क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणायां चेति सप्तसु मार्गणास्वाहारकद्विकस्य जघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्याऽन्तरं समयः, घोलमानयोगिनस्तज्जघन्यप्रदेशबन्धस्वामित्वात् । शेषाणां बन्धार्हाणां सप्तत्रिंशन्नामप्रकृतीनां जघन्यप्रदेशबन्धस्याऽन्तरं नाऽस्ति, तत्र देवद्विक-वैक्रियद्विकयोर्देवनैरयिकेभ्य उद्वृत्तस्य मनुष्यभवप्रथमसमये संभवज्जघन्ययोगे च वर्तमानस्य देवप्रायोग्यजिननामसहितैकोनत्रिंशतं बध्नतस्तद्भवसिद्धिकस्य तीर्थंकरस्य जघन्यप्रदेशबन्धस्वामित्वाद् द्विस्तज्जघन्यप्रदेशबन्धाऽयोगात् । शेषाणां त्रयस्त्रिंशत्प्रकृतीनां सम्यग्दृष्टिर्देवो नैरयिको वा भवप्रथमसमये वर्तमानो मनुष्यगतिप्रायोग्यं जिननामसहितं त्रिंशतं बध्नन्नेतासु मार्गणासु जघन्यप्रदेशबन्धस्य स्वामी भवति तस्य चाऽनन्तरभवे तीर्थंकरत्वमवाप्य सिद्धिगमनात्पुनस्तज्जघन्यप्रदेशबन्धस्याऽभावान्न प्राप्यते तज्जघन्यप्रदेशबन्धस्याऽन्तरम् । त्रयस्त्रिंशत्प्रकृतयः पुनरिमाः–मनुष्यद्विक पञ्चेन्द्रियजात्यौदारिकद्विक तैजस कार्मणशरीर-समचतुरस्रसंस्थान-वज्रर्षभनाराचसंहनन-सुखगति-वर्णचतुष्का गुरुलघूपघात-निर्माण पराघातो-च्छ्वास-जिननाम-त्रसदशका-ऽस्थिरा-ऽशुभाऽयशःकीर्तिनामानीति ।

अथ मत्यज्ञानादिमार्गणासु प्रस्तुतबन्धस्य जघन्याऽन्तरमतिदिशत्यार्यया उत्तरार्धेन–'णपुमव्वे' त्यादि, मत्यज्ञान-श्रुताज्ञान-मिथ्यात्वा-ऽसंज्ञिमार्गणाचतुष्के स्वप्रायोग्याणामायुर्वर्जानां त्रयोदशोत्तरशतप्रकृतीनां जघन्यप्रदेशबन्धस्य ह्रस्वाऽन्तर नपुंसकवेदमार्गणावद्विज्ञेयम् , तद्यथा–देवद्विकवैक्रियद्विकनरकद्विकानां जघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्याऽन्तरं समयः, असंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्य घोलमानयोगिनस्तज्जघन्यप्रदेशबन्धभावाज्जघन्यप्रदेशबन्धद्वयाऽन्तराले समयमात्रमजघन्यप्रदेशबन्धस्य प्रवर्ते-

नाच । शेषाणां सप्तोत्तरशतप्रकृतीनां समयोनक्षुल्लकभवः, ओघवत्सूक्ष्मलब्ध्यपर्याप्तनिगोदस्य भवप्रथमसमये तज्जघन्यप्रदेशबन्धस्य लाभात् । भावना त्वोघवद्विधेया ॥४२३ ४२४ ।

अथ विभङ्गज्ञानमार्गणायामशुभलेश्यात्रये च जघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्याऽन्तरं दर्शयति—

बारससुहुमाईणं खणो विभंगे लहुं ण वाऽण्णेसिं ।
मणुयव्व कुलेसासुं णवरि जिणस्स समयो दोसुं ॥४२५॥

(प्रे०) "बारसे"त्यादि, विभङ्गज्ञानमार्गणायां देवद्विक नरकद्विक वैक्रियद्विक विकलत्रिक-सूक्ष्मत्रिकरूपाणां द्वादशानां जघन्यप्रदेशबन्धस्य पर्याप्तसंज्ञितिर्यग्मनुष्याणां स्वामित्वाज्जघन्यप्रदेश-बन्धद्वयाऽन्तराले समयमात्राऽजघन्यप्रदेशबन्धस्य प्रवर्तनात्तद्बन्धकालप्रयुक्ताऽन्तरस्य लाभात् , अपर्याप्ताऽवस्थागतानां तिर्यग्मनुष्याणां विभङ्गज्ञानस्याऽभावान्न भवप्रथमसमयवर्त्येतासां जघन्यप्रदेश-बन्धस्य स्वामी भवति येन तासां द्विर्बन्धस्य तद्बन्धान्तरस्य च निषेधस्स्यात् । शेषाणां बन्धार्हाणा-मेकोत्तरशतप्रकृतीनां यथासंभव देवनारकाणां भवप्रथमसमये तज्जघन्यप्रदेशबन्धस्य स्वामित्वेऽपि तत उद्वृत्य तिर्यग्मनुष्येषूत्पन्नस्य विभङ्गज्ञानस्य विगमान्न जघन्यप्रदेशबन्धस्याऽन्तरं प्राप्यते । 'वा' कारोऽत्र मतान्तरसूचकस्तेन महाबन्धकाराणां मते येऽपर्याप्ताऽवस्थाया देवनारकाणामपि विभङ्गज्ञानं न मन्यन्ते तेषामभिप्रायेण पर्याप्ताऽवस्थागतानां घोलमानयोगिनामेकोत्तरशतस्याऽपि जघन्यप्रदेश-बन्धस्वामित्वाज्जघन्यप्रदेशबन्धद्वयाऽन्तराले समयमात्रप्रवृत्ताऽजघन्यप्रदेशबन्धजघन्यकालप्रयुक्तं प्रस्तुताऽन्तरं समयप्रमाणं विज्ञेयम् , ततस्तन्मते मार्गणाप्रायोग्याणां बन्धार्हाणां सर्वासां त्रयोदशो-त्तरशतस्य जघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्याऽन्तरं समयो विज्ञेयम् ।

अशुभलेश्यात्रये प्रस्तुताऽन्तरं मनुष्यमार्गणावद्विज्ञेयम् , नवरं कृष्णलेश्या-नीललेश्यामार्गणाद्वये जिननाम्नः प्रस्तुताऽन्तर समयो विज्ञेयम् , मनुष्यमार्गणायां भवप्रथमसमये चरमभवसिद्धिकस्य तज्जघन्यप्रदेशबन्धभावेन तस्य प्रस्तुताऽन्तरं निषिद्धं, प्रस्तुते तु परावर्तमानजघन्ययोगिनस्तज्जघन्य-प्रदेशबन्धभावाज्जघन्यप्रदेशबन्धद्वयाऽन्तराले समयमजघन्यप्रदेशबन्धस्य प्रवर्तनेन तत्प्रयुक्तप्रस्तुता-ऽन्तरस्य समयप्रमाणत्वलाभात् । अशुभलेश्यात्रये सापवादाऽतिदेशेन प्राप्तमन्तरं प्रदर्श्यते, तद्यथा अशुभ-लेश्यात्रये सूक्ष्मनिगोदप्रायोग्याणां सप्तोत्तरशतप्रकृतीनां जघन्यप्रदेशबन्धस्य सूक्ष्मनिगोदस्याऽपर्याप्त-स्य भवप्रथमसमये भावेऽपि द्वितीयभवात्प्रागेव मार्गणाया विच्छेदान्न द्वितीयवेलायां तत्संभव इति तासां जघन्यप्रदेशबन्धाऽन्तरस्य निषेधो ज्ञातव्यः, तथा देवद्विक-वैक्रियद्विकयोर्देवनैरयिकेभ्य उद्वृत्तस्य सम्य-क्त्वेन सहोत्पन्नस्य मनुष्यस्य भवप्रथमसमये जघन्यप्रदेशबन्धस्य भावेऽपि तस्याऽन्तर्मुहूर्तात् परतो लेश्यायाः परावर्तनेन तस्यामेव मार्गणायां पुनर्जघन्यप्रदेशबन्धासंभवान्नास्त्यन्तरम् । नरकद्विकस्य जघ-न्यप्रदेशबन्धस्य जघन्याऽन्तरं समयः, घोलमानजघन्ययोगेन तज्जघन्यप्रदेशबन्धस्य भावाज्जघन्य-

प्रदेशबन्धद्वयाऽन्तराले समयमात्रमजघन्यप्रदेशबन्धस्य प्रवर्तनाच्च । जिननाम्नः कृष्णलेश्या नील-लेश्यामार्गणाद्वये जघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्याऽन्तरं समयः, घोलमानजघन्ययोगिनो मनुष्यस्य तज्जघन्यप्रदेशबन्धस्य स्वामित्वात् । कापोतलेश्यायां जिननाम्नो जघन्यप्रदेशबन्धस्याऽन्तरं नास्ति नारकस्य भवप्रथमसमये तद्बन्धार्हस्य तत्संभवेन सकृदेव तस्य भावात् ॥४२५॥

अथ शुभलेश्यात्रय उपशमसम्यक्त्वमार्गणायां च लघुप्रदेशबन्धस्य लघ्वन्तरं दर्शयति—

सुहलेसासु कमा दससहस्सवासाऽयरा दुवेऽट्ठार ।
णामरहिआण अण्णे दुइअतुरिअछट्ठणीअवज्जाणं ॥४२६॥ (गीतिः)
आहारदुगस्स खणो तीसु वि सेसाण णुवसमे समयो ।
लहु सुरविउवाहारगदुगाण णऽण्णेगसयरीए ॥४२७॥

(प्रे०) "सुहलेसासु" इत्यादि, तेजोलेश्या पद्मलेश्या-शुक्ललेश्यारूपासु तिसृषु मार्गणासु नामकर्मवर्जानां ज्ञानावरणादिषट्कर्मसत्कैकोनपञ्चाशदुत्तरप्रकृतीनां जघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्याऽन्तरं क्रमेण दशसहस्रवर्षाणि, सागरोपमद्वयम्, अष्टादशसागरोपमाणि भवन्ति, तद्यथा—तेजोलेश्यामार्गणायां दशसहस्रवर्षाणि व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तेः समयोनानि, पद्मलेश्यायां सागरोपमद्वयम् पल्योपमा-ऽसंख्येयभागेनाऽधिकम्, शुक्ललेश्यामार्गणायामष्टादशसागरोपमाणि, मनुष्येभ्यो मार्गणार्हजघन्यस्थि-तिकदेवेषूत्पन्नो भवप्रथमसमये तज्जघन्यप्रदेशबन्धं कृत्वा ततो द्वितीयादिसमयेऽजघन्यप्रदेशबन्धादिकं कुर्वन् स्वजीवितकालमतिवाह्य देवेभ्यश्च्युत्वा मनुष्येषूत्पन्नो भवप्रथमसमये वर्तमान आसामेकोनपञ्चा-शत्प्रकृतीनां पुनर्जघन्यप्रदेशं बध्नाति तदा जघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्याऽन्तरं प्राप्यते । ननु स्वामित्वद्वारे दर्शनावरणादिप्रकृतीना केवलं देव एव जघन्यप्रदेशबन्धस्य स्वामी निरूपितो मूलकृता प्रस्तुते त्वन्तरस्य निर्वाहणार्थं यथासंभवं मनुष्यतिरश्चामपि जघन्यप्रदेशबन्धोऽधिकृतः तदनधिकृते तु प्रस्तुतग्रन्थस्याऽसंगतत्वापत्तिः, अधिकृते तु स्वामित्वद्वारोक्तमूलेन विरोध इति चेत्, न, तत्र सामान्यतो देवस्य निर्देशेऽपि नेतरेषां तिर्यग्मनुष्याणां व्यवच्छेदः कृतः, यतो मतद्वयसंग्रहार्थं तथा प्रकारेण सामान्यनिर्देशः, तद्वृत्तौ च मतद्वयेनाऽभ्युपगतार्थः स्पष्टो दर्शितः, प्रस्तुते तु न तथा दर्शयितुं शक्यत अत एव मूलकृता मतद्वयमधिकृत्याऽन्तरप्ररूपणं स्पष्टरूपेण दर्शितम् । तत्र देवेभ्यश्च्युतस्य संज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यग्मनुष्येषूत्पन्नस्य मिथ्यादृशोऽपि सतोऽन्तर्मुहूर्तं यावद्देवभवसत्का लेश्या प्रवर्तत इत्यभिप्रायः, तन्मतमाश्रित्य नामकर्मवर्जानां ज्ञानावरणादिषट्कर्मसत्कैकोनपञ्चाश-त्प्रकृतीना प्रस्तुताऽन्तरं दर्शित, तच्च भावितम् । अन्ये पुनर्ग्रन्थकारा मिथ्यादृष्टिर्देवेभ्यश्च्युतो नष्टशुभ-लेश्याक एव भवाऽन्तरं व्रजति, देवभवचरमसमयं यावत्तस्य भवप्रत्ययेन शुभलेश्याया भावेऽपि परभवा-द्यसमये तस्य लेश्याऽन्तराऽभ्युपगमादत एव तन्मते यासां नामेतरप्रकृतीनां जघन्यप्रदेशबन्धका

मिथ्यादृष्टय एव, तासां शुभलेश्यात्रयेऽन्तरं नाऽस्ति, देवभवप्रथमसमये तज्जघन्यप्रदेशबन्धस्य भावेऽपि तस्यां पुनर्जघन्यप्रदेशबन्धस्याऽसंभवात् । यासां पुनर्जघन्यप्रदेशबन्धस्य सम्यग्दृष्टयो मिथ्यादृष्टयश्च स्वामिनस्तासां जघन्यप्रदेशबन्धस्याऽन्तरं पूर्ववत्प्राप्यते, तन्मते देवभवप्रथमसमये सम्यग्दृष्टीनां मिथ्यादृष्टीनां वा यथासंभवं तज्जघन्यप्रदेशबन्धभावे सति तदुत्तरभवे तस्यामेव मार्गणायां सम्यग्दृष्टिमनुष्याणां जघन्यप्रदेशबन्धस्य भावाद्घटते प्रस्तुतबन्धस्य निर्दिष्टाऽन्तरम् । तन्मते ज्ञानावरणपञ्चक-वेदनीयद्वयोच्चैर्गोत्राऽन्तरायपञ्चकरूपाणां त्रयोदशानां प्रस्तुताऽन्तरं प्रथममतवद्दर्शितप्रमाणं प्राप्यते, तथा दर्शनावरणनवकमोहनीयषड्विंशति-नीचैर्गोत्ररूपाणां षट्त्रिंशतः प्रथममतेनाऽन्तरस्य निरुपितत्वेऽप्यस्मिन्मते तासामन्तराऽभाव एव विज्ञेयः । नामप्रकृतीनां प्रस्तुताऽन्तरं दर्शयति–"**आहारदुगस्से**"त्यादि, प्रस्तुते तासु तिसृषु शुभलेश्यामार्गणास्वाहारकद्विकस्य जघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्याऽन्तरं समयः, घोलमानजघन्ययोगिनस्तज्जघन्यप्रदेशबन्धभावाज्जघन्यप्रदेशबन्धं विधाय समयाऽन्तरे पुनस्तद्बन्धसंभवात् । शेषाणां मार्गणार्हाणां नामप्रकृतीनां जघन्यप्रदेशबन्धस्याऽन्तरं नास्ति, कासाञ्चित्प्रकृतीनां जघन्यप्रदेशबन्धस्य देवानामेव भावात्, कासाञ्चित्प्रकृतीनां तु मनुष्याणामिति न जघन्यप्रदेशबन्धस्य द्विरवकाशः, नाम्नः शेषप्रकृतयः स्वय परिभावनीयाः, सुगमत्वात् । अन्यमते पुनर्दर्शनावरणमोहनीयमत्कोत्तरप्रकृतिनीचैर्गोत्रलक्षणाः षट्त्रिंशत्प्रकृतयोऽपि शेषप्रकृतितया ग्राह्याः । अत्राऽयं विशेषो विज्ञेयः–देवद्विकवैक्रियद्विकयोर्जघन्यप्रदेशबन्धस्य मनुष्यभवप्रथमसमये देवप्रायोग्यं जिननामसहितैकोनत्रिंशतं बध्नत एव लाभात्तदन्तरस्याऽनवकाशः । मनुष्यद्विकस्य जिननाम्नश्च देवानामेव भवप्रथमसमये त्रिंशद्बन्धे वर्तमानानां जघन्यप्रदेशबन्धस्य लाभान्न भवति तदन्तरम् । यदि शुभलेश्यायां देवेभ्यश्च्युत्वा तिर्यग्मनुष्येषूत्पन्नस्याऽपर्याप्ताऽवस्थायां मिथ्यादृष्टित्वेन देवप्रायोग्यबन्धाऽभावेऽपि शुभलेश्याभावान्मनुष्यप्रायोग्यमेकोनत्रिंशतं बन्धस्थाने वर्तते तदा न भवति कस्या अपि प्रकृतेर्जघन्यप्रदेशबन्धः, अनधिकप्रकृतिबन्धकत्वात्; ततस्तासामन्तराऽभावः प्राप्येत, यदि पुनस्तस्य तेजःपद्मलेश्ययोः सद्भावेऽपि तिर्यक्प्रायोग्यमुद्योतयुक्तं त्रिंशत्प्रकृत्यात्मकं बन्धस्थानं प्राप्येत तदा प्रस्तुताऽन्तरस्याऽपि लाभात्तदपेक्षया च यथासमयमन्तरपरिभावना विधेयेति । एवं शुक्ललेश्यायां मनुष्यतयोत्पन्नस्यापि भवप्रथमसमये केवलमिथ्यादृष्टिस्वामिकपञ्चसंहननपञ्चसंस्थानकुखगतिदुर्भगत्रिकप्रकृतीनां जघन्यप्रदेशबन्धार्हत्वं स्यात् तदाप्यन्तरभावना स्वय विधेया । अन्यमते तु केनाऽपि प्रकारेणाऽन्तरस्याऽसंभव एव, मिथ्यादृष्टिदेवानां ततश्च्यवनानन्तरं नष्टलेश्याकत्वमेवाङ्गीकरणात् । अत्र तत्त्वं बहुश्रुतगम्यमिति ।

अथोपशमसम्यक्त्वमार्गणायां प्राह–'**उवसमे**' इत्यादि, उपशमसम्यक्त्वमार्गणायां देवद्विक वैक्रियद्विका-ऽऽहारकद्विकानां जघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्याऽन्तरं समयः, घोलमानयोगिन

एवाऽऽसां जघन्यप्रदेशबन्धस्वामित्वात् । आहारकद्विकस्य भावनौघवत्कार्या, देवद्विकवैक्रियद्विक-बन्धकतिर्यग्मनुष्याणां प्रस्तुतमार्गणाया अपर्याप्तावस्थायामभावात्पर्याप्ताऽवस्थायां प्रस्तुतमार्गणागतानां जघन्ययोगस्थानस्य घोलमानयोगस्थानरूपत्वेन तस्य समयान्तरे पुनः प्राप्यमानत्वाद् घटते समयप्रमाणमन्तरम् । शेषाणामेकसप्ततेर्जघन्यप्रदेशबन्धस्याऽन्तरं नाऽस्ति, उपशमश्रेणौ काल-करणेन देवेपूत्पन्नस्य भवप्रथमसमय आसां जघन्यप्रदेशबन्धस्वामित्वात् , अन्तर्मुहूर्तादूर्ध्वं प्रस्तुतमार्गणाया विच्छेदान्न पुनर्जघन्यप्रदेशबन्धस्य संभव इति । एकसप्ततिप्रकृतयः पुन र्या अनुत्तरदेवस्य बन्धप्रायोग्या द्वासप्ततिस्ता एव मनुष्यायुर्विहीना विज्ञेया इति ॥४२६ ४२७॥

अथ सास्वादनमार्गणायां जघन्यप्रदेशबन्धस्य प्रस्तुताऽन्तरं दर्शयति —

सुरविउवदुगाण लहुं समयो सासायणे ण सेसाणं ।
सेसासु लहुं समयो सप्पाउग्गाण सव्वेसिं ॥४२८॥

(प्रे०) "**सुरविउवे**"त्यादि, सास्वादनमार्गणायां देवद्विकवैक्रियद्विकयोः प्रकृतिबन्धो-ऽपि संज्ञिनः पर्याप्ताऽवस्थागतस्यैव भवति, तद्बन्धकस्य च जघन्ययोगस्थानं घोलमानयोगस्थान-रूपमतस्तासां चतसृणां जघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्याऽन्तरं समयो विज्ञेयम् , जघन्यप्रदेशबन्धद्वया-ऽन्तराले समयमात्रमजघन्यप्रदेशबन्धस्य प्रवर्तनात्तत्प्रयुक्तकालस्य प्रस्तुतेऽन्तरत्वेन लाभात् । शेषाणां मार्गणाप्रायोग्याणां चतुर्नवतिप्रकृतीनां जघन्यप्रदेशबन्धस्याऽन्तरं नाऽस्ति, आसां जघन्यप्रदेशबन्धस्य भवप्रथमसमये लाभात्, सास्वादनमार्गणायाः प्रकृष्टकालस्य षडावलिका-प्रमाणत्वान्न पुनर्जघन्यप्रदेशबन्धस्याऽवकाशः । अथ शेषमार्गणासु जघन्यप्रदेशबन्धस्याऽन्तरं दर्शयति-'**सेसासु**' मित्यादि, शेषासु उक्तेतरमार्गणासु यावत्यः प्रकृतयो बन्धार्हास्तासामायु-र्वर्जानां सर्वासां जघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्याऽन्तरं समयो भवति, एतास्वासां जघन्यप्रदेशबन्ध-स्वामिनां घोलमानयोगस्थानवर्तित्वात् । यत्र यासां घोलमानयोगस्थानगतानां जघन्यप्रदेशबन्ध-स्वामित्वं तत्र तासां जघन्यप्रदेशबन्धस्य लघ्वन्तरं समयो भवति, घोलमानयोगस्थानस्य परावर्त-मानत्वेन समयाऽन्तरे पुनरपि तस्य प्राप्तिसंभवात् । शेषमार्गणाः पुनरिमाः—मनोयोगसामान्यः सत्यादयश्चत्वारस्तदुत्तरभेदा एवं पञ्चवचनयोगभेदाः, अपगतवेदो मनःपर्यवज्ञानं संयमौघ-सामायिक-संयम-च्छेदोपस्थापनीयसंयम परिहारविशुद्धि सूक्ष्मसंपरायसंयम-देशविरतिरूपाः षट् संयममार्गणा-भेदाः सम्यग्मिथ्यात्वमार्गणा चेत्येकोनविंशतिमार्गणाः । मार्गणासु बन्धार्हाः प्रकृतयस्तद्भावनादयश्च सुगमा इति न प्रदर्श्यन्ते ॥४२८॥

अथ मार्गणासु जघन्यप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टान्तरं निरूपणीयम् , तत्र यासु मार्गणासु जघन्या-ऽन्तरप्रस्तावे सर्वासां तन्निषिद्धं ता मार्गणा एवाऽत्र न ग्राह्यास्तासामत्र प्ररूपणाया अविषयत्वात् ।

तथा यासु मार्गणासु यासां प्रकृतीनां जघन्यप्रदेशबन्धान्तरं निषिद्धं तासु मार्गणासु ताः प्रकृतयो विहाय शेषाणां प्ररूपणा कर्तव्या; तथा यासु मार्गणासु यासां प्रकृतीनां जघन्यप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टान्तरं देशोनकायस्थितिप्रमाणं तासु तासां तदन्तरं "अण्णह जाण इवउ सि इवेज्ज देसूणजेट्ठकायठिई" इत्यादिना वक्ष्यमाणत्वात् ता विहाय यासु यावतीनामन्यासां प्रकृतीनां ज्येष्ठकायस्थितितोऽतीवन्यूनमन्तरं तासु तावतीनां प्रत्येकं जघन्यप्रदेशबन्धस्य गुर्वन्तरं गत्यादिक्रमेण दर्शयति—

दुइअतइअणिरयेसुं ऊणछमासा गुरुं जिणस्स भवे ।

(प्रे०) 'दुइअ' इत्यादि, द्वितीय-तृतीयनरकमार्गणायां जिननाम्नो येषां मते सम्यग्दृशां तत्रोत्पादाऽभावाद् घोलमानयोगी जघन्यप्रदेशबन्धस्वामी भवति तेषां मते तस्य ज्येष्ठान्तरं देशोनाः षण्मासा विज्ञेयम् ,आयुषो बन्धकाल एव तस्य जघन्यप्रदेशबन्धभावात् , प्रस्तुतमार्गणाद्वय आकर्षद्वयेन प्राप्यमाणस्यायुर्बन्धाऽन्तरस्य तथात्वाच्च, आयुर्बन्धाऽन्तरतः प्रस्तुताऽन्तरमन्तर्मुहूर्तद्वयेनाऽभ्यधिकं द्रष्टव्यम् । मार्गणाद्वये शेषाणामष्टनवतेर्जघन्यप्रदेशबन्धस्याऽन्तरं नाऽस्ति,भवप्रथमसमय एव तज्जघन्यप्रदेशबन्धस्य लाभात् ।

अथ तिर्यग्गत्यादिमार्गणासु प्रस्तुताऽन्तरं दर्शयति—

तिरिये एगिंदियतस्सुहमेसुं कायणपुमेसुं ॥४२९॥
अजए अचक्खुभवियामणेसु सव्वाण होइ ओघव्व ।
परमूणपुव्वकोडितिभागो तिरिणपुमअमणेसुं ॥४३०॥
णिरयदुगस्स तहा सुरआहारदुगाण विउवछक्कस्स ।
कमसो णिरयाहारगदुगाण काये मुहुत्तंतो ॥४३१॥
णपुमे विउवदुगस्स असंखपरट्टाऽत्थि······· ।

(प्रे०) 'तिरिये' इत्यादि, तिर्यग्गत्योघमार्गणायामेकेन्द्रियौघे सूक्ष्मैकेन्द्रियौघे काययोगौघे नपुंसकवेदेऽसंयममार्गणायामचक्षुर्दर्शनमार्गणायां भव्यमार्गणायामसंज्ञिमार्गणायां चेति नवमार्गणासु बन्धार्हाणामायुर्वर्जानां सर्वासां प्रकृतीनां जघन्यप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टमन्तरमोघवद्भवति, तद्यथा— सूक्ष्मनिगोदप्रायोग्याणां सप्तोत्तरशतस्याऽसंख्येयलोकाः, मतान्तरे पुनः सूचिश्रेणेरसंख्येयभागः, एतन्मार्गणाभ्यः समभवद्बन्धासु मार्गणासु देवद्विक वैक्रियद्विक जिननाम्नामन्तरं नाऽस्ति, नरकद्विकस्याऽसंख्येयपुद्गलपरावर्ताः,आहारकद्विकस्य देशोनपूर्वकोटेस्तृतीयोभागः,अत्र तिर्यगोघमार्गणायां नरकद्विकस्य जघन्यप्रदेशबन्धोऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्य पर्याप्तस्य घोलमानयोगिनो नरकायुर्बध्नतो भवति ततस्तद्बन्धाऽनन्तरं तस्य नरकेषूत्पद्यमानत्वात्प्रस्तुतमार्गणाया विच्छेदादेकभवसत्कायुर्बन्धाकर्षद्वय-

प्रयुक्ताऽन्तरस्यैव प्रस्तुताऽन्तरतया प्राप्यमाणत्वात्। "ओघव्व" इत्यतिदेशो न संगच्छते, एवमन्यमार्गणास्वपि प्राप्तामतिप्रसक्तिं 'पर' मित्यादिनोद्धरति–उक्तनवमार्गणाभ्यस्तिर्यग्गत्योघमार्गणायां नपुंसकवेदमार्गणायामसञ्ज्ञिमार्गणायाश्च क्रमशो नरकद्विकस्य सुरद्विका ऽऽहारकद्विकयोर्वैक्रियषट्कस्य पूर्वकोटेस्तृतीयो भागो देशोनो जघन्यप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टान्तरं विज्ञेयम्, इदमुक्तं भवति–तिर्यग्गत्योघमार्गणायां नरकद्विकस्य नपुंसकवेदमार्गणायां देवद्विका ऽऽहारकद्विकयोस्तथाऽसंज्ञिमार्गणायां वैक्रियषट्कस्य जघन्यप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टाऽन्तरं पूर्वकोटेस्तृतीयभागो देशोनः, आयुषि बध्यमाने एवासां जघन्यप्रदेशबन्धस्य भावात्तद्भवाऽनन्तरं च मार्गणाया विच्छेदस्य भावात्पूर्वकोट्यायुष्मतोऽऽयुर्बन्धस्य ज्येष्ठाऽन्तरप्रयुक्तं प्रस्तुताऽन्तरं विज्ञेयम्, तथा काययोगमार्गणायां नरकद्विकाऽऽहारकद्विकयोर्जघन्यप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टान्तरमन्तर्मुहूर्तम्, ओघे आसां प्रस्तुतबन्धस्य ज्येष्ठाऽन्तरं दीर्घम्, प्रस्तुते तु तद्बन्धकानां योगस्य परावर्तमानतयोत्कृष्टतोऽप्यन्तर्मुहूर्तमात्रमेवाऽवस्थानान्न घटते ततोऽधिकोऽन्तरकालः, अत्रैकस्मिन्नायुर्बन्धाद्धायां प्रस्तुताऽन्तरस्य भावना विधेया, प्रस्तुतमार्गणागतानां नरकद्विकादिबन्धकानां द्विरायुर्बन्धाऽसंभवात्। नपुंसकवेदमार्गणायां वैक्रियद्विकस्य प्रस्तुताऽन्तरमसंख्येयाः पुद्गलपरावर्ताः, असंज्ञिनस्तज्जघन्यप्रदेशबन्धस्वामित्वादत्र प्रथमो मार्गणाऽऽरम्भभावी जघन्यप्रदेशबन्धो नरकायुषा सह विज्ञेयोऽन्यथा देवायुषा सह तज्जघन्यप्रदेशबन्धस्य भावेऽपि तथाबन्धकस्य तद्भवाऽनन्तरं देवगतावुत्पत्तेरावश्यकत्वेन प्रस्तुतनपुंसकवेदमार्गणाया विच्छेदान्न प्राप्येत एतावदन्तरं, नरकगतौ पुनरुत्पन्नस्य प्रस्तुतमार्गणाया विच्छेदाऽभावान्नरकद्विकवद् घटत एवैतावन्महदन्तरम्, भावना त्वोघोक्तनरकद्विकवद्विधेयेति। एवं च सत्येकेन्द्रिय-सूक्ष्मैकेन्द्रिया-संयमा ऽचक्षुर्भव्यरूपासु पञ्चमार्गणासु बन्धाहाणामायुर्वर्जानां सर्वप्रकृतीनां प्रस्तुताऽन्तरमोघवद् भवति; तिर्यगोघमार्गणायामेकादशोत्तरशतस्यौघवत्प्राप्तं नरकद्विकस्य पृथगपोदितम्, नपुंसकवेदमार्गणायां दशोत्तरशतस्यौघवत्प्रस्तुताऽन्तरम्, देवद्विकवैक्रियद्विकाऽऽहारकद्विकरूपाणां षण्णामोघतो विलक्षणं प्रस्तुताऽन्तरं दर्शितम्, काययोगे नरकद्विका-ऽऽहारकद्विकयोरपवादरूपेण निरूपित शेषाणां द्वादशोत्तरशतस्य तदोघवत्, असंज्ञिनि वैक्रियषट्कस्य पूर्वकोटेस्तृतीयभागो देशोनः प्रस्तुताऽन्तर प्रदर्शितं, शेषाणां सप्तोत्तरशतस्यौघवज्जघन्यप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टान्तरं विज्ञेयम् ॥४२९-४३१॥

अथ पञ्चेन्द्रियतिर्यगादिमार्गणासु जघन्यप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टाऽन्तरं प्रदर्शयन्नाह—

............णारगदुगस्स ।
तिपणिंदितिरिणरेसुं तिरिव्व सुरविउवजुगलाणं ॥४३२॥
देसूणपुव्वकोडितिभागो तिरिजोणिणीअ सेसाणं ।
पुव्वा कोडिपुहुत्तं तिसु आहारगदुगस्स ओघव्व ॥४३३॥(गीतिः)

(प्रे०) "णारगदुगस्स तिपणिंदि" इत्यादि, पञ्चेन्द्रियतिर्यक्पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यक्तिरश्चीलक्षणमार्गणात्रिके मनुष्योघ-पर्याप्तमनुष्य-मानुषीरूपे मार्गणात्रिके चेति षण्मार्गणायां नरकद्विकस्य जघन्यप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टाऽन्तरं तिर्यग्गत्योघे नरकद्विकस्य यावद्दर्शितं तावदत्र द्रष्टव्यं, तच्च देशोनः पूर्वकोट्यास्तृतीयभागस्तिर्यग्गतिवत्प्रस्तुतमार्गणासु घोलमानयोगिना नरकायुर्बन्धेन सह वर्तमानस्यैव नरकद्विकस्य जघन्यप्रदेशबन्धभावात्तद्भवाऽनन्तरं च नरकगतावुत्पादेन प्रस्तुतमार्गणाया विच्छेदादेकभवसत्कायुर्बन्धाकर्षद्वयाऽन्तरप्रयुक्तं प्रस्तुताऽन्तरं प्राप्यते, तच्चोक्तरूपमिति। तथा तिरश्चीमार्गणायां देवद्विक वैक्रियद्विकयोर्जघन्यप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टाऽन्तरं देशोनपूर्वकोटीतृतीयभागः, शेषमार्गणापञ्चक आसां जघन्यप्रदेशबन्धस्य भवप्रथमसमये सकृदेव लाभादन्तराऽभावः, तिरश्चीमार्गणायां भवप्रथमसमये सम्यक्त्वाऽभावेन तद्बन्धाऽभावात्; असंज्ञिन एव नरकद्विकवज्जघन्यप्रदेशबन्धस्य स्वामित्वान्नरकद्विकवत्प्रस्तुताऽन्तरं देशोनपूर्वकोटितृतीयभागो विज्ञेयम्, भावनाऽपि यथासंभवं नरकद्विकवत्कार्या। पञ्चेन्द्रियतिर्यग्मार्गणात्रये शेषाणां सप्तोत्तरशतप्रकृतीनां जघन्यप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टाऽन्तरं देशोनपूर्वकोटीपृथक्त्वम्, मार्गणात्रयेऽप्यसंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्य जघन्यप्रदेशबन्धभावेन मार्गणाज्येष्ठकायस्थितिपूरकस्य युग्मिभवस्य मार्गणाप्रान्तभव एव लाभात्तत्र च जघन्यप्रदेशबन्धाऽनर्हत्वाद्युग्मिभवसत्कस्थितिवर्जा मार्गणानां यावती ज्येष्ठकायस्थितिः सा देशोना प्रस्तुताऽन्तरत्वेन विज्ञेया। तच्चान्तरं पूर्वकोटीपृथक्त्वम्।

मनुष्यमार्गणात्रय एतासां सप्तोत्तरशतस्याऽन्तरं नाऽस्ति, असंज्ञित्व पश्चात्कृतस्य मार्गणाप्रथमसमय एव तज्जघन्यप्रदेशबन्धस्वामित्वाङ्गीकरणान्न द्विर्जघन्यप्रदेशबन्धस्य संभव इति, मतान्तरेण तु तदन्तरं प्राप्यते तत्स्वयं परिभावनीयम्। तथा देवद्विकादिपञ्चानामप्यन्तरं नाऽस्ति, भवप्रथमसमये चरमभविनस्तीर्थकृत एव तज्जघन्यप्रदेशबन्धभावात्। नरकद्विकस्य दर्शितम्। आहारकद्विकस्य जघन्यप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टाऽन्तरमोघवद्विज्ञेयम्, तच्च पूर्वकोटेर्देशोनतृतीयभागः, भावना त्वोघवदेव विधेयेति ॥४३२-४३३॥

अथ मनोयोगादिषु जघन्यप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टाऽन्तरं प्ररूपयन्नाह—

जाणत्थि मुहुत्तंतो पणमणवयुरलअवेअमीसेसु।
कोहाइसुहमतिअसुहलेसुवसमसासणेसुं सिं ॥४३४॥

(प्रे०) 'जाणे'त्यादि, पञ्चमनोयोगेषु पञ्चवचनयोगेष्वौदारिककाययोगेऽपगतवेदमार्गणायां सम्यग्मिथ्यात्वे क्रोधादिचतुष्कषायमार्गणासु सूक्ष्मसंपरायसंयमाऽशुभलेश्यात्रयोपशमसम्यक्त्व-सास्वादनमार्गणासु चेति त्रयोविंशतिमार्गणासु यासां प्रकृतीनां जघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्याऽन्तरं भवति तासां ज्येष्ठाऽन्तरमन्तर्मुहूर्तं विज्ञेयम्, तत्रौदारिककाययोगाऽशुभलेश्यात्रयवर्जानामेकोनविंशतिमार्गणा-

नामन्तर्मुहूर्ततोऽधिककायस्थितेरभावान्न प्राप्यतेऽन्तर्मुहूर्तादधिकोऽन्तरकालः, तथौदारिककाययोगादि-मार्गणाचतुष्कस्याऽन्तर्मुहूर्ततो दीर्घतरकायस्थितिकत्वेऽपि यासां प्रकृतीनां यान् जीवानधिकृत्य तज्ज-घन्यप्रदेशबन्धस्याऽन्तरं प्राप्यते तेषां प्रस्तुतमार्गणागतानां कायस्थितेरुत्कृष्टतोऽप्यन्तर्मुहूर्तप्रमाणत्वान्न प्राप्यते तासु चतसृषु मार्गणासु तासां प्रकृतीनां मध्ये कस्या अपि प्रकृतेर्जघन्यप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टाऽ-न्तरमन्तर्मुहूर्तादधिकम्। एताभ्यो मार्गणाभ्यः कस्यां मार्गणायां कासां प्रकृतीनां जघन्यप्रदेशबन्ध-स्याऽन्तरं न भवति, कासां च तज्ज्येष्ठमन्तर्मुहूर्तम् ,तद्दर्शयामः–पञ्चमनोयोगमार्गणासु पञ्चवचनयोग-मार्गणास्वायुर्वर्जानां षोडशोत्तरशतस्य जघन्यप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टाऽन्तरमन्तर्मुहूर्तम् , एवं गतवेदमार्ग-णायां बन्धाऽर्हाणामेकविंशतेः, सूक्ष्मसंपरायसंयममार्गणायां बध्यमानानां सप्तदशानां, सम्यग्मिथ्यात्व-मार्गणायां बन्धाऽर्हाणां चतुःसप्ततेः प्रस्तुतबन्धस्य गुर्वन्तरमन्तर्मुहूर्तम्। क्रोधादिचतुष्कषायमार्गणास्वौ-दारिककाययोगे च नरकद्विकाहारकद्विकयोरन्तर्मुहूर्तम् , शेषाणां द्वादशोत्तरशतस्य तन्नाऽस्ति । तथा कापोतलेश्यायां नरकद्विकस्याऽन्तर्मुहूर्तम् , आहारकद्विकस्य बन्धाऽभावात्तद्वर्जानां द्वादशोत्तरशतस्य जघन्यप्रदेशबन्धस्याऽन्तरं नाऽस्ति। नीलकृष्णलेश्याद्वये नरकद्विकस्य जिननामकर्मणश्च प्रस्तुतबन्धस्य ज्येष्ठाऽन्तरमन्तर्मुहूर्तम् , आहारकद्विकस्य बन्धाऽभावः, शेषाणामेकादशोत्तरशतस्य तन्नाऽस्ति । तथो-पशमसम्यक्त्वमार्गणायां देवद्विकवैक्रियद्विकाऽऽहारकद्विकानां प्रस्तुतबन्धस्य ज्येष्ठाऽन्तरमन्तर्मुहूर्तं, शेषाणामेकसप्ततेर्जघन्यप्रदेशबन्धस्याऽन्तरं नाऽस्ति । सास्वादनमार्गणायां देवद्विक वैक्रियद्विकयो-र्जघन्यप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टाऽन्तरमन्तर्मुहूर्तं शेषाणां चतुर्नवतेर्जघन्यप्रदेशबन्धस्याऽन्तरं नाऽस्तीति ॥४३४॥ अथ मनःपर्यवज्ञानादिमार्गणासु जघन्यप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टान्तरं दर्शयन्नाह—

मणणाणसंजमेसुं समइअ-छेअ-परिहार-देसेसुं ।
छण्ह असायाईणं देसूणा सगुरुकायठिई ॥४३५॥
देसूणपुव्वकोडितिभागोऽण्णेसिं .... ।

(प्रे०) "मणणाणे"त्यादि, मनःपर्यवज्ञान संयमौघ-सामायिकसंयमच्छेदोपस्थापनीय-संयम परिहारविशुद्धिकसंयम-देशविरतिरूपासु षट्सु मार्गणासु षण्णामसातवेदनीयादीनां–असात-वेदनीय-शोका-ऽरत्य-स्थिरा शुभा ऽयशःकीर्तिरूपाणां जघन्यप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टाऽन्तरं देशोना स्वज्येष्ठकार्यस्थितिः, अयं भावः–एताः सर्वा मार्गणाः पर्याप्त ऽवस्थागतानामेव भवन्ति, तेषां च जघ-न्ययोगस्थानं घोलमानयोगस्थानरूपं भवति; अन्यच्चैतासु केवलं देवायुष एव बन्धाऽर्हत्वं न शेषा-युषाम् , ततो यासां प्रकृतीना देवायुषो बन्धेन सहाऽविरोधस्तासां जघन्यप्रदेशबन्धको निरुक्तमार्ग-णासु देवायुर्बध्नन्नेव भवति, एतासु च मार्गणासु यावद् देवायुषः प्रकृतिबन्धस्योत्कृष्टाऽन्तरं भवति; किञ्चिदधिकं तावदेव तासां जघन्यप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टाऽन्तरं भवति, तच्च देशोनपूर्वकोटीतृतीय-

भागो विज्ञेयः । यासां पुनः प्रकृतीनां देवायुषो बन्धेन सह विरोधस्तासां प्रकृतीनां जघन्यप्रदेशबन्धकः सप्तविधमूलप्रकृतिबन्धक एव भवति, ततस्तासां प्रकृतीनां जघन्यप्रदेशबन्धो मार्गणाप्रारम्भेऽपि भवत्येवं प्रान्ते च यदा तासां जघन्यप्रदेशबन्धं करोति तदा तासां जघन्यप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टाऽन्तरं देशोनपूर्वकोटिः, ता एतादृशा प्रकृतयः पुनरसातवेदनीयाद्याः षट्, शेषाणां बन्धप्रायोग्यायुर्वर्जानां प्रकृतीनां बन्धस्य देवायुषा सहाऽविरोधात्तासां जघन्यप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टाऽन्तरं देशोनपूर्वकोटित्रितीयभागः, शेषप्रकृतयो देशविरतिमार्गणायां षष्टिः, शेषपञ्चमार्गणास्वष्टपञ्चाशत् ॥४३५॥

अथ मत्यज्ञानादिमार्गणासु जघन्यप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टाऽन्तरं प्ररूपयन्नाह—

............असंखपरिअट्टा ।

दुअणाणाभविमिच्छे विउवछगस्स इयराण ओघव्व ॥४३६॥(गीतिः)

(प्रे०) "असंखे"त्यादि, मत्यज्ञान श्रुताऽज्ञाना-ऽभव्य-मिथ्यात्वरूपासु चतसृषु मार्गणासु वैक्रियद्विक देवद्विक नरकद्विकरूपवैक्रियषट्कस्य जघन्यप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टाऽन्तरमसंख्येयाः पुद्गलपरावर्ताः, अत्राऽसंख्येयत्वमावलिकाऽसंख्येयभागप्रमाणम्, असंज्ञिपञ्चेन्द्रियाणामेतत्प्रकृतिजघन्यप्रदेशबन्धस्वामित्वं विज्ञेयम्, भावना त्वोघोक्तनरकद्विकजघन्यप्रदेशबन्धज्येष्ठाऽन्तरवद्विज्ञेया । शेषाणां सप्तोत्तरशतस्य जघन्यप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टाऽन्तरं मार्गणाचतुष्केऽप्योघवज्ज्ञातव्यमित्यत्र जघन्यप्रदेशबन्धस्वामिनामौघिकैस्तैस्तुल्यत्वात् ओघवदेतावदन्तरपूरकाणां सूक्ष्मपृथ्व्यादीनामत्राऽपि प्रवेशाच्च, भावना सर्वथैवोघतुल्येति ॥४३६॥

एतर्हि विभङ्गज्ञानमार्गणायां प्रस्तुतान्तरं प्राह—

बारससुहमाईणं विब्भंगे पुव्वकोडितंसंतो ।

अण्णे उ मुहुत्तंतो सेसाणं ऊणछम्मासा ॥४३७॥

(प्रे०) 'बारसे' त्यादि, विभङ्गज्ञानमार्गणायां सूक्ष्मत्रिक-विकलत्रिक देवद्विक-नरकद्विक-वैक्रियद्विकरूपाणां द्वादशप्रकृतीनां जघन्यप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टान्तरं पूर्वकोटेर्देशोनतृतीयभागो भवति, तासां जघन्यप्रदेशबन्धं घोलमानयोगिनस्तिर्यग्मनुष्या आयुर्बध्नन्त एव कुर्वन्ति, श्रीभगवतीसूत्राऽष्टमशतकाऽभिप्रायेणाऽपर्याप्ताऽवस्थागतानां तिर्यग्मनुष्याणां विभङ्गज्ञानस्याऽभावान्न तेषां जघन्यप्रदेशबन्धस्वामित्वम्, प्रज्ञापनावृत्त्याद्यभिप्रायेण तु देवनारकेभ्य उद्वृत्य विभङ्गज्ञानेन सहाऽवक्रगत्या तिर्यग्मनुष्येषूत्पद्यमानस्यापर्याप्तावस्थाया विकलत्रिक-सूक्ष्मत्रिकयोर्बन्धसम्भवात्तस्यैव जघन्यप्रदेशबन्धो भवति किन्तु जघन्यप्रदेशबन्धस्य द्विरसंभवात् न प्राप्यते तदभिप्रायवतस्तासां षण्णां जघन्यप्रदेशबन्धस्याऽन्तरम् । वैक्रियषट्कस्य पुनरपर्याप्ताऽवस्थायां बन्धाऽभावादुभयमतेऽपि यथोक्तमन्तरं भवति । शेषाणां मार्गणाप्रायोग्यबन्धाऽर्हाणामायुर्वर्जानामेकोत्तर-

शतस्य त्वन्तरं न भवति, यथासंभवं देवनैरयिकाणां भवप्रथमसमये तज्जघन्यप्रदेशबन्धभावा त्तत उद्वृत्तस्य मार्गणाया अनवस्थानाच्च न प्राप्यते तस्यामेव मार्गणायां द्विर्जघन्यप्रदेशबन्धस्तद-भावाच्चाऽन्तराभावः, प्रज्ञापनावृत्त्यभिप्रायेण तु यथासंभवं तदन्तरं वाच्यं । महाबन्धकाराऽभिप्रायेण तु सूक्ष्मादिद्वादशानां जघन्यप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टमन्तरमन्तर्मुहूर्तम् , तेषां मते तिर्यग्मनुष्याणां विभङ्गज्ञानमार्गणायामुत्कृष्टतोऽन्तर्मुहूर्तमात्राऽवस्थानात् । तथा शेषाणामेकोत्तरशतस्य जघन्यप्रदेश-बन्धस्य ज्येष्ठाऽन्तरं देशोनाः षण्मासाः, यथासंभवं देवानां नारकाणां चाऽऽयुर्बन्धेन सह तज्ज-घन्यप्रदेशबन्धस्वामित्वात् , आयुर्बन्धद्वयान्तरस्य देवनैरयिकाणामुत्कृष्टत एतावत्प्रमाणत्वाच्च । भावना तु सुगमप्रायाः ॥४३७॥

अथ जघन्यप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टान्तरं शेषमार्गणासु साऽपवादं दर्शयति–

अण्णह जाण हवइ सिं हवेज्ज देसूणजेट्ठकायठिई ।
परमाहारदुगस्स सुलेसासु भवे मुहुत्तंतो ॥४३८॥
दुपणिंदियतसपुमथीतिणाणऽवहिचक्खुसम्मखइएसु ।
वेअगसण्णीसु तहा आहारे तस्स ओघव्व ॥४३९॥

(प्रे०) 'अण्णहे'त्यादि, अन्यत्र-उक्तशेषमार्गणाभ्यो यासु मार्गणासु यासां प्रकृतीनां जघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्यान्तरं भवति, तासु मार्गणासु तासां प्रकृतीनां जघन्यप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टान्तरं देशोनस्वज्येष्ठकायस्थितिर्भवति, तत्तन्मार्गणाया या ज्येष्ठकायस्थितिः सा देशोना प्रस्तुता-ऽन्तरत्वेन विज्ञेया, यथासंभवं मार्गणायां प्रारम्भे प्रान्ते च जघन्यप्रदेशबन्धाऽर्हत्वादिति भावः, अत्रैवं कृतेऽतिदेशे प्राप्ता याऽतिप्रसक्तिस्तामपवदन्नाह "परमि"त्यादि, तेजःपद्मशुक्ललेश्यात्रय आहारकद्विकस्य जघन्यप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टान्तरमन्तर्मुहूर्तम् , तद्बन्धकानां लेश्यायाः परावर्तमान-त्वेनाऽन्तर्मुहूर्तमात्राऽवस्थानात् । शेषबन्धार्हप्रकृतिभ्यो यासां जघन्यप्रदेशबन्धस्याऽन्तरं न निषिद्धं तासा जघन्यप्रदेशबन्धस्य ज्येष्ठान्तरं देशोनकायस्थितिप्रमाणं विज्ञेयमिति । तद्विस्तरप्ररूपणा तु जघन्यप्रदेशबन्धस्वामिनमवगम्य जघन्यप्रदेशबन्धजघन्यान्तरदर्शितप्रकाराऽनुसारेण श्रुतानुसारेण च स्वयं कार्येति । तथा पञ्चेन्द्रियौघ पर्याप्तपञ्चेन्द्रिय-त्रसकायौघ-पर्याप्तत्रसकाय पुरुषवेद-स्त्रीवेद मति-श्रुताऽवधिज्ञाना -ऽवधिदर्शन--चक्षुर्दर्शन -सम्यक्त्वौघ-क्षायिकसम्यक्त्वसंज्ञिक्षयोपशमसम्यक्त्वाऽऽ-हारकलक्षणासु षोडशमार्गणास्वाहारकद्विकस्य जघन्यप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टान्तरं ज्येष्ठकायस्थितिमितं न भवति, किन्त्वोघवत्पूर्वकोट्या देशोनतृतीयभागः, भावनाऽप्यत्रौघवद्विधेया । एतासु षोडशमार्ग-णासु यासा प्रकृतीनां जघन्यप्रदेशबन्धस्याऽन्तरं भवति तासां तज्ज्येष्ठं देशोनकायस्थितिप्रमाणं विज्ञेयम् , तद्यथा–पञ्चेन्द्रियमार्गणाद्वये त्रसकायमार्गणाद्वये पुरुषवेदमार्गणायां स्त्रीवेदमार्गणायां चक्षु-

दर्शनमार्गणायामाहारकमार्गणायां चेत्यष्टमार्गणासु देवद्विक-वैक्रियद्विक-जिननामरूपाणां पञ्चानां जघन्यप्रदेशबन्धस्याऽन्तरं नास्ति, आहारकद्विकस्यौघवच्छेषाणां नवोत्तरशतस्य जघन्यप्रदेश-बन्धस्योत्कृष्टान्तरं देशोनस्वकायस्थितिः । संज्ञिमार्गणायामाहारकद्विकस्यौघवन्नरकद्विकस्य देशो-नस्वज्येष्ठकायस्थितिः, देवद्विकादीनां पञ्चानां शेषाणां सप्तोत्तरशतस्य चाऽन्तरं नाऽस्ति । ज्ञानत्रयावधिदर्शन सम्यक्त्वौघक्षयोपशमसम्यक्त्वरूपासु षण्मार्गणास्वाहारकद्विकस्यौघवत् , शेषाणां नामकर्मणां सप्तत्रिंशतः प्रस्तुतान्तरं नास्ति, शेषाणां ज्ञानावरणाद्यष्टात्रिंशतो जघन्यप्रदेशबन्धस्यो-त्कृष्टान्तरं देशोनकायस्थितिः, सा च षट्षष्टिसागरोपमाणि सातिरेकाणि प्रस्तुताऽन्तरत्वेन प्राप्यते । क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणायामाहारकद्विकस्यौघवत्पूर्वकोट्या देशोनतृतीयभागः,शेषाणां नाम्नां सप्तत्रिंशतो जघन्यप्रदेशबन्धस्यान्तरं नाऽस्ति, ज्ञानावरणादीनामष्टात्रिंशतो जघन्यप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टाऽन्तरं देशोनकायस्थितिः, बन्धकजीवानाश्रित्य या ज्येष्ठकायस्थितिर्देशोनपूर्वकोटिद्वयाऽभ्यधिकत्रयस्त्रिं-शत्सागरोपमरूपा, समयन्यूनत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमप्रमाणा तु प्रस्तुताऽन्तरत्वेन प्राप्यते, अतः सा देशोना उक्तेति । इत्येवं शुभलेश्यात्रये पञ्चेन्द्रियौघादिषोडशमार्गणासु चाऽपवादभणनपूर्वमतिदेश-प्राप्तं प्रस्तुताऽन्तरं दर्शितम् ।तथा द्वितीयतृतीयनरक-तिर्यगोघै-केन्द्रियौघ सूक्ष्मैकेन्द्रियौघ-काययोगौघ-नपुंसकवेदा ऽयता ऽचक्षुर्दर्शन-भव्या-ऽसंज्ञिमार्गणा—पञ्चेन्द्रियतिर्यक्त्रिक—मनुष्यत्रिक—पञ्चमनोयो-ग-पञ्चवचनयोगौदारिककाययोगाऽपगतवेदसम्यग्मिथ्यात्व-क्रोधादिकषायचतुष्क-सूक्ष्मसंपरायसंयमा-ऽशुभलेश्यात्रयौ पशमिकसम्यक्त्व-सास्वादनमार्गणा-मनःपर्यवज्ञान संयमौघ-सामायिक च्छेदोपस्थाप-नीय-परिहारविशुद्धि--देशविरति--विभङ्गज्ञानाऽज्ञानद्वया--ऽभव्य- मिथ्यात्वरूपास्वेकपञ्चाशन्मार्गणासु ग्रन्थकृता मूलेनैव प्रस्तुताऽन्तरं दर्शितम् । तथा नरकौघ-प्रथम-चतुर्थ-पञ्चम षष्ठनरकभेदपञ्चक त्रिं-शद्देवभेदा ऽपर्याप्तमनुष्य-वैक्रियकाययोग-तन्मिश्रयोगा-ऽऽहारककाययोग तन्मिश्रकाययोग कार्मणका-ययोगा-ऽनाहारकमार्गणारूपासु द्विचत्वारिंशन्मार्गणासु बन्धयोग्यसर्वप्रकृतीनां जघन्यप्रदेशबन्धस्या-ऽन्तराऽभावः,तच्च जघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्याऽन्तरप्रस्तावे निरूपितम् । सप्तमनरकमार्गणायां मनुष्य-द्विको-च्चैर्गोत्ररूपत्रिप्रकृतीनां जघन्यप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टाऽन्तरं देशोना स्वज्येष्ठकायस्थितिः, शेषाणां बन्धाऽर्हाणां पञ्चनवतेर्जघन्यप्रदेशबन्धस्याऽन्तरं नाऽस्ति, औदारिकमिश्रकाययोगमार्गणायां देवद्वि-क-वैक्रियद्विक-जिननामरूपाणां पञ्चानां जघन्यप्रदेशबन्धस्याऽन्तर नाऽस्ति, शेषाणामायुर्वर्जानां सप्तोत्तरशतस्य जघन्यप्रदेशबन्धस्य ज्येष्ठाऽन्तरं देशोना स्वज्येष्ठकायस्थितिः । अपर्याप्तपञ्चेन्द्रिय-तिर्यगऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रिया-ऽपर्याप्तत्रसकायनवविकलेन्द्रिय पृथ्व्यादिपञ्चकायसत्कैकोनचत्वारिंशन्मार्ग-णास्तथा बादरैकेन्द्रियौघ पर्याप्ता ऽपर्याप्तबादरैकेन्द्रियसूक्ष्म-पर्याप्ता-ऽपर्याप्तैकेन्द्रियरूपाः पञ्चैकेन्द्रिय-मार्गणाः समुदिताश्चैताः षट्पञ्चाशन्मार्गणास्तास्वायुर्वर्जबन्धप्रायोग्यसर्वप्रकृतीनां जघन्यप्रदेशबन्धस्यो-त्कृष्टाऽन्तरं देशोना स्वज्येष्ठकायस्थितिः । एवं सप्तत्युत्तरशतमार्गणासु बन्धार्हाणामायुर्वर्जसप्तकर्मस-

त्कोत्तरप्रकृतीनां जघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्योत्कृष्टभेदेन द्विविधाऽन्तरनिरूपणं समाप्तम्।।४३८-४३९।।

अथ मार्गणास्वायुर्वर्जबन्धार्हाणामजघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्याऽन्तरं निरूपयन्नाह—

सव्वासु लहुं समयो सप्पाउग्गाण आउवज्जाणं ।
अलहुपएसस्स भवे जोऽत्थि विसेसोऽत्थ कत्थइ सो ॥४४०॥

(प्रे०) "**सव्वासु**"इत्यादि, सामान्यतः सर्वमार्गणासु स्वप्रायोग्याणामायुर्वर्जानां कर्मणामजघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्याऽन्तरं समयो विज्ञेयम्, यथासंभवमजघन्यप्रदेशबन्धद्वयाऽन्तराले समयमात्रं जघन्यप्रदेशबन्धस्य प्रवर्तनेन तत्प्रयुक्ताऽन्तरस्य लाभात्, यद्वा प्रकृतीनां बन्धस्य परावर्तमानादिना प्रकृतिबन्धाऽन्तरस्य समयप्रमाणत्वात्तत्प्रयुक्ताऽन्तरस्य लाभात्। अयं भाव—अजघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्याऽन्तरं द्विधा प्राप्यते, तद्यथा—जघन्यप्रदेशबन्धजघन्यकालप्रयुक्तम्, प्रकृतिबन्धस्य जघन्याऽन्तरप्रयुक्तं च, तच्च सामान्यनिर्देशेन समयमात्रं दर्शितम्, यत्र पुनर्यासां जघन्यप्रदेशबन्धस्य मार्गणाप्रारम्भप्रथमसमये भावाज्जघन्यप्रदेशबन्धप्रयुक्तमजघन्यप्रदेशबन्धस्याऽन्तरं न प्राप्यते तत्र तासां तद् यदि प्रकृतिबन्धस्य जघन्याऽन्तरमन्तर्मुहूर्तादिप्रमाणं तदा तासामजघन्यप्रदेशबन्धस्य ह्रस्वान्तरमन्तर्मुहूर्तादिप्रमाणं भवति, तच्च यावत्प्रकृतिबन्धस्य ह्रस्वान्तरं प्राप्यते तावद्भवति, तथा तासां प्रकृतिबन्धाऽन्तराऽभावेऽजघन्यप्रदेशबन्धस्याऽप्यन्तराभाव इत्येतद्विशेषं निरूपयितुं प्रतिज्ञां कुर्वन्नाह-"**जोऽत्थि विसेसोऽत्थ कत्थइ सो**"इति, योऽत्र विशेष उक्तनिर्देशाऽपवादरूपः सोऽनन्तरग्रन्थेन कथ्यत इति ।।४४०।। विशेषमेव दर्शयन्नाह—

मिच्छाईणऽखिलणिरयतइआइगअट्ठमंतदेवेसुं ।
भिन्नमुहुत्तमियरधुवदखुरलुवंगाइगाणं णो ॥४४१॥
दुइअतइअणिरयेसु व खणो जिणस्स तिरिजुगलणीआणं ।
भिन्नमुहुत्तं सत्तमणिरये………… ॥४४२॥

(प्रे०) '**मिच्छाईणे**"त्यादि, सर्वनरकभेदास्ते चाऽष्ट, तथा सनत्कुमारादिसहस्रारदेवपर्यन्ताः षड्वैमानिकदेवभेदास्तेषु मिथ्यात्वाऽनन्तानुबन्धिचतुष्कस्त्यानर्द्धित्रिकरूपाणामष्टानां प्रस्तुतमजघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्याऽन्तरमन्तर्मुहूर्तमेतासामष्टानां प्रकृतीनां जघन्यप्रदेशबन्धस्य भवप्रथमसमये मार्गणाप्रथमसमयरूपे भावेन तत्प्रयुक्ताऽन्तरस्याऽलाभात्, प्रकृतिबन्धाऽन्तरस्य जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणत्वेन तत्प्रयुक्ताऽन्तरस्य तथात्वाच्च, प्रथमगुणस्थानतस्तृतीये चतुर्थे वा गतस्याऽऽसामबन्धस्य लाभात्तत्र च जघन्यतोऽप्यन्तर्मुहूर्तमात्रमवस्थाय पुनः प्रथमगुणस्थानकस्य प्राप्त्या भूयस्तासां बन्धप्रवर्तनाच्च निरुक्तमन्तरं प्राप्यत इति। तथैतासु चतुर्दशमार्गणासु शेषाणामेकोनचत्वारिंशद्-

ध्रुवबन्धिप्रकृतीनां तथा पञ्चेन्द्रियजात्यौदारिकद्विक-पराघातो--च्छ्वास-त्रसचतुष्करूपाणां नवानां तथा नरकौघ--प्रथमादित्रिनरक-सनत्कुमारादिषड्देवभेदेषु जिननाम्नश्चाऽजघन्यप्रदेशबन्धस्याऽन्तरं नाऽस्ति, मार्गणाप्रारम्भसमय एव तज्जघन्यप्रदेशबन्धस्य भावात्, प्रकृतिबन्धाऽन्तरस्याऽसंभवाच्च। अत्र द्वितीयतृतीयनरकमार्गणाद्वये मतान्तरेण जिननाम्नो जघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्यान्तरं समयप्रमाणं विज्ञेयम्, तन्मते क्षायिकसम्यग्दृशां तत्रानुत्पादात्। तथा सप्तमनरकमार्गणायां तिर्यग्द्विक-नीचैर्गोत्रयोरपि प्रस्तुताऽन्तरमन्तर्मुहूर्तं भवति, मार्गणाप्रारम्भसमय एव जघन्यप्रदेशबन्धस्य लाभेन तत्प्रयुक्ताऽन्तरस्याऽभावेऽपि सम्यक्त्वगुणप्रयुक्तप्रकृतिबन्धाऽन्तरस्य जघन्यतोऽप्यन्तर्मुहूर्तप्रमाणत्वेन प्रस्तुताऽन्तरस्याऽपि तावन्मात्रत्वम्। उक्तमार्गणासु बन्धार्हशेषप्रकृतीनामजघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्याऽन्तरं समयः। ताश्च शेषप्रकृतयः पुनरिमाः—नरकौघ-प्रथमनरक-चतुर्थपञ्चमषष्ठनरकसनत्कुमारादि-सहस्राराऽन्तदेवरूपास्वेकादशमार्गणासु साताऽसातवेदनीयहास्यादियुगलद्वय-वेदत्रय-तिर्यग्द्विक मनुष्यद्विक-संहननषट्क-संस्थानषट्क-खगतिद्वयो-द्योत-स्थिरषट्का-ऽस्थिरषट्क-गोत्रद्वयरूपा द्विचत्वारिंशत्, द्वितीय-तृतीयनरकभेदद्वये मतान्तरे एता एव जिननामसहितास्त्रिचत्वारिंशत्, सप्तमनरकमार्गणायां तिर्यग्द्विक--नीचैर्गोत्रविहीना नरकौघमार्गणोक्ता एकोनचत्वारिंशत्। तत्र द्वितीय-तृतीयनरकमार्गणाद्वये जिननाम्नोऽजघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्याऽन्तरं जघन्यप्रदेशबन्धजघन्यकालप्रयुक्तमवसातव्यं प्रकृतिबन्धाऽन्तरस्याऽभावादित्येकमतेन, तदन्यमतेन तु तस्य प्रस्तुतान्तरस्य निषेध एव कृतः। तथा सप्तमनरकमार्गणायां मनुष्यद्विको-च्चैर्गोत्रयोः प्रस्तुताऽन्तरं जघन्यप्रदेशबन्धप्रयुक्तमवसातव्यं, प्रकृतिबन्धाऽन्तरप्रयुक्तस्य तु तस्य जघन्यतोऽप्यन्तर्मुहूर्तप्रमाणत्वात्। उक्तमार्गणासु शेषप्रकृतीनामजघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्याऽन्तरं प्रकृतिबन्धाऽन्तरप्रयुक्तं विज्ञेयमध्रुवबन्धित्वेन समयाऽन्तरे पुनस्तद्बन्धस्य लाभादिति।

तिर्यग्गत्योघादिमार्गणाचतुष्के बन्धाऽर्हाणामायुर्वर्जानां त्रयोदशोत्तरशतप्रकृतीनामजघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्याऽन्तरं समयस्तत्र ध्रुवबन्धिनीनां जघन्यप्रदेशबन्धजघन्यकालप्रयुक्तम्, देवद्विक वैक्रियद्विकयोस्तिर्यगोघ पञ्चेन्द्रियतिर्यगोघ-पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्रूपासु तिसृषु जघन्यप्रदेशबन्धप्रयुक्तं प्रस्तुताऽन्तरं न प्राप्यते किन्तु परावर्तमानत्वात्प्रकृतिबन्धाऽन्तरेण प्रस्तुताऽन्तरं प्राप्यते। तिर्यग्योनिमतीमार्गणायां तु तयोरुभयथाऽपि प्रस्तुताऽन्तरं समयप्रमाणं प्राप्यते। शेषाणामेकषष्टेः प्रकृतिबन्धजघन्याऽन्तरप्रयुक्तमजघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्याऽन्तरं समयः प्राप्यते।

इदत्ववधेयम्—अत्रोत्तरत्र च यत्र यासामध्रुवबन्धिनीनां प्रस्तुतान्तरं प्रकृतिबन्धान्तरप्रयुक्तं दर्शयामः, तत्र जघन्यप्रदेशबन्धजघन्यकालेन प्रस्तुतजघन्यान्तरं नैव प्राप्यत इति न मन्तव्यम्, किन्तु कासांश्चित् प्रकृतीनां प्रस्तुतान्तरस्य तथैव प्राप्यमाणत्वेऽपि बहूनां प्रस्तुतान्तरस्य तथैवाप्राप्यमाणत्वात् पृथक्पृथग्निर्देशे तु ग्रन्थगौरवापत्तिश्चेति तन्निवारणाय तथा तत्रोक्तसर्वासां प्रकृतीनां

प्रस्तुतान्तरस्य प्रकृतिबन्धजघन्यान्तरेण प्राप्यमाणत्वेनैकोक्त्या प्रतिपादनेन लाघवसम्भवात्, तत्तद-न्तरप्रयोजकहेतूनां सुखावबोधाय चैवमुच्यते इति मन्तव्यम् । सूक्ष्मेक्षिकया पाठनरसिकैर्विशेषभावना अन्तरप्रयोजकानां जघन्यप्रदेशबन्धजघन्यकालादीनामन्वेषणं कृत्वा स्वयं कर्तव्या ।

अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्-पर्याप्तपञ्चेन्द्रियाऽपर्याप्तत्रसकाय-सर्वैकेन्द्रिय--सर्वविकलाक्ष-पृथिवी-कायादिपञ्चकायमार्गणासत्कैकोनचत्वारिंशद्भेदरूपास्वष्टपञ्चाशन्मार्गणासु सप्तचत्वारिंशद्ध्रुवबन्धि-प्रकृतीनामौदारिकशरीरनाम्नश्च प्रस्तुतबन्धस्य जघन्याऽन्तरं जघन्यप्रदेशबन्धजघन्यकालप्रयुक्तम्, शेषाणामेकोनषष्टेरजघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्याऽन्तरं समयप्रमाणं प्रकृतिबन्धाऽन्तरकालेन प्राप्यते । ॥४४१-४४२॥ अथ त्रिमनुष्यमार्गणासु विशेषं दर्शयति—

..................तह धुवजिणाण तिणरेसुं ॥४४३॥ (गीतिः)

(प्रे०) "तहे"त्यादि, मनुष्यौघ-पर्याप्तमनुष्य-मानुषीरूपासु तिसृषु मनुष्यमार्गणासु सप्तचत्वा-रिंशद्ध्रुवबन्धिप्रकृतीनां जिननाम्नश्चाऽजघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्याऽन्तरम् "भिन्नमुहुत्तं" इति पदस्यात्रापि सम्बन्धादन्तर्मुहूर्तं विज्ञेयम्, मार्गणाप्रारम्भरूपभवप्रथमसमये वर्तमानानां तदीयजघ-न्यप्रदेशबन्धस्वामित्वान्न तत्प्रयुक्ताऽन्तरं प्राप्यते, प्रकृतिबन्धाऽन्तरप्रयुक्तं तु प्रस्तुताऽन्तरमन्त-र्मुहूर्तप्रमाणं भवति, प्रकृतिबन्धाऽन्तरस्याऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणत्वात् । तथाऽत्र मार्गणात्रये आहारकद्विकस्या-ऽजघन्यप्रदेशबन्धस्य ह्रस्वाऽन्तरं समयप्रमाणं जघन्यप्रदेशबन्धप्रयुक्तमवसातव्यं, तस्य प्रकृतिबन्धा-ऽन्तरस्य जघन्यतोऽप्यन्तर्मुहूर्तप्रमाणत्वात् । शेषाणां षट्षष्टेरध्रुवबन्धिप्रकृतीनामजघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्याऽन्तरं समयप्रमाणमासामध्रुवबन्धित्वेन तत्प्रकृतिबन्धाऽन्तरस्य समयप्रमाणत्वात् ॥४४३॥

अथाऽपर्याप्तमनुष्यमार्गणायां निरूपयति—

धुवबंधिउरालाणंअपज्जमणुसम्मि णो........।

(प्रे०) "धुवे"त्यादि, अपर्याप्तमनुष्यमार्गणायां सप्तचत्वारिंशद्ध्रुवबन्धिप्रकृतीनामौदारिक-शरीरनाम्नश्चाऽजघन्यप्रदेशबन्धस्याऽन्तरं नाऽस्ति, असंज्ञिभ्य आगतानां भवप्रथमसमये वर्तमानानां तज्जघन्यप्रदेशबन्धस्वामित्वान्न जघन्यप्रदेशबन्धप्रयुक्तं प्रस्तुताऽन्तरं प्राप्यते, प्रकृतिबन्धाऽन्तरस्य त्वासां प्रस्तुतमार्गणायामभावान्न लभ्यते तत्प्रयुक्तमपि प्रस्तुताऽन्तरम्, इदं हि मनुष्यमार्गणायां जीव-भेदद्वयमङ्गीकुर्वतामभिप्रायेणोक्तम्, जीवभेदत्रयस्वीकर्तृमते तु स्वयं तद्विभावनीयं सुगमप्रायस्त्वात् । शेषाणामेकोनषष्टेरजघन्यप्रदेशबन्धस्य ह्रस्वाऽन्तरं समयः प्रकृतिबन्धाऽन्तरस्य तथात्वादिति ।

अथ देवौघादिष्वीशानाऽन्तदेवमार्गणासु विशेषं दर्शयति—

..................मुहुत्तंतो ।

सुरईसाणंतेसुं अडमिच्छाईण विण्णेयं ॥४४४॥

सेसधुवसगुरलाईण णत्थि………… ।

(प्रे०) 'मुहुत्तंतो' इत्यादि, देवौघ-भवनपति व्यन्तर-ज्योतिष्क-सौधर्मेशानरूपासु षण्मार्गणासु मिथ्यात्व स्त्यानर्द्धित्रिका-ऽनन्तानुबन्धिचतुष्करूपाणामष्टानामजघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्याऽन्तरमन्तर्मुहूर्तम्, भावना नरकौघवद्विधेया। तथा शेषैकोनचत्वारिंशद्ध्रुवबन्धिप्रकृतीनामौदारिकशरीर-पराघातो-च्छ्वास-बादरत्रिक जिननामरूपाणां सप्तानाञ्चाऽजघन्यप्रदेशबन्धस्याऽन्तरं नाऽस्ति, प्रकृति-बन्धाऽन्तराऽभावात्, जघन्यप्रदेशबन्धस्य मार्गणाप्रथमसमये एव भावाच्च। अत्र जिननाम्नो वक्तव्यता भवनपत्यादिमार्गणात्रये न कार्या, तासु तस्य बन्धाऽभावात्। उक्तशेषाणां साताऽसातवेदनीय-हास्यादियुगलद्वय--वेदत्रय--तिर्यग्द्विक-मनुष्यद्विकै-केन्द्रिय--पञ्चेन्द्रियजात्यौदारिकाङ्गोपाङ्ग संहननषट्क--संस्थानषट्क-खगतिद्वया ऽऽतपो-द्योत-त्रस-स्थावर-स्थिरषट्का स्थिरषट्क-गोत्रद्वयरूपाणामष्टचत्वारिंशतोऽजघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्याऽन्तरं समयः, तासां प्रकृतिबन्धाऽन्तरस्य तथात्वात्॥४४४॥ सनत्कुमारादिमार्गणाषट्के नरकादिमार्गणाभिः साकं दर्शितत्वादानतादिनवमग्रैवेयकान्तमार्गणासु दर्शयति–

……………णिरयव्व आणताईसुं ।
गेविज्जंतसुरेसुं णवरि णरदुगस्स णेव भवे ॥४४५॥

(प्रे०) "णिरयव्वे"त्यादि, आनतादिषु नवमग्रैवेयकपर्यवसानासु त्रयोदशमार्गणासु प्रस्तुतबन्धस्याऽन्तरे विशेषो नरकौघवद्विज्ञेयः, केवलं तत्र मनुष्यद्विकस्याऽन्तरं समयो भवति, अत्र तु तस्याऽपि ध्रुवबन्धिकल्पत्वादन्तरं न प्राप्यते। साऽपवादं नरकवदतिदिष्टे सति प्राप्तमन्तरं त्वेवम्–मिथ्यात्वाद्यष्टानामन्तर्मुहूर्तम्, शेषैकोनचत्वारिंशद्ध्रुवबन्धिनीनां तथा पञ्चेन्द्रियजात्यौदारिक-द्विक-पराघातो-च्छ्वास त्रसचतुष्क जिननाम मनुष्यद्विकरूपाणां द्वादशानां चेति समुदितानामेकपञ्चाशत्प्रकृतीनां जघन्यप्रदेशबन्धस्याऽन्तर नाऽस्ति। साताऽसातवेदनीय हास्यादियुगलद्वय-वेदत्रय-संहननषट्क-संस्थानषट्क-खगतिद्वय-स्थिरषट्का-ऽस्थिरषट्क-गोत्रद्वयरूपाणां सप्तत्रिंशत्प्रकृतीनामजघन्य-प्रदेशबन्धस्य जघन्याऽन्तरं समयः, परावर्तमानत्वेन प्रकृतिबन्धाऽन्तरस्य तथात्वात्॥४४५॥

एतर्हि पञ्चाऽनुत्तरदेवमार्गणास्वाहारककाययोगा-ऽऽहारकमिश्रकाययोगमार्गणाद्वये च तद्दर्शयति–

पंचसु अणुत्तरेसुं आहारदुगम्मि अंतरं णत्थि ।
सेसाणं पयडीणं बारहसायाइवज्जाणं ॥४४६॥

(प्रे०) "पंचे"त्यादि, पञ्चस्वनुत्तरसुरमार्गणासु तथाऽऽहारकतन्मिश्रमार्गणाद्वये साताऽसातवेदनीय हास्यादियुगलद्वय स्थिराऽस्थिर-शुभा-ऽशुभ-यशःकीर्त्ययशःकीर्तिनामरूपाणां द्वादशानां बन्धस्य परावर्तमानत्वेन प्रकृतिबन्धाऽन्तरस्य समयप्रमाणत्वात् प्रस्तुताऽन्तरं समयप्रमाणं लभ्यतेऽतस्तद्वर्जानां शेषाणामायुर्वर्जानां बन्धप्रयोग्याणामजघन्यप्रदेशबन्धस्याऽन्तरं नास्ति, प्रकृतिबन्धाऽन्तरस्याऽभा-

याऽजघन्यप्रदेशबन्धस्य मार्गणाप्रथमसमय एव भावाच्च । ताः प्रकृतयः पुनरिमाः—ज्ञानावरणपञ्चक-दर्शनावरणषट्काऽप्रत्याख्यानावरणादिद्वादशकषाय--भय जुगुप्सा पुरुषवेद- मनुष्यद्विक पञ्चेन्द्रियजात्यौदारिकद्विक-नवनामध्रुवबन्धि-समचतुरस्रसंस्थान-वज्रर्षभनाराचसंहनन-सुखगति-पराघातो च्छ्वास-जिननाम-त्रसचतुष्क-सुभगत्रिको च्चैर्गोत्रा-ऽन्तरायपञ्चकरूपा एकोनषष्टिः पञ्चाऽनुत्तरसुरमार्गणासु, आहारकद्विकमार्गणयामेता एव मनुष्यपञ्चकहीना देवद्विकवैक्रियद्विकसंयुता अष्टपञ्चाशदिति ।

द्विपञ्चेन्द्रियमार्गणा-द्वित्रसकायमार्गणा काययोगरूपासु पञ्चसु मार्गणासु षोडशोत्तरशतस्याऽजघन्यप्रदेशबन्धस्य ह्रस्वाऽन्तरं समयः, अत्राऽऽहारकद्विकस्य जघन्यप्रदेशबन्धप्रयुक्तं प्रस्तुताऽन्तरं समयप्रमाणम् ,सप्तचत्वारिंशद्ध्रुवबन्धिप्रकृतीनां जघन्यप्रदेशबन्धप्रयुक्तम् , तत्रापि मिथ्यात्व स्त्यानर्द्धित्रिका--ऽनन्तानुबन्धिचतुष्का--ऽप्रत्याख्यानावरणचतुष्क-प्रत्याख्यानावरणचतुष्करूपषोडशप्रकृतिवर्जानामेकत्रिंशतस्तु प्रकृतिबन्धान्तरप्रयुक्तमपि तत् समयमात्रं द्रष्टव्यम् । शेषाणामध्रुवबन्धिप्रकृतीनां प्रस्तुताऽन्तरं प्रकृतिबन्धाऽन्तरप्रयुक्तं समयप्रमाणं विज्ञेयम् ।

शेषासु सप्तदशेन्द्रियमार्गणासु चत्वारिंशत्कायमार्गणासु चाऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्वत्सर्वासां प्रस्तुताऽन्तरं समयप्रमाणं प्राप्यते, तच्च तत्सममेव दर्शितम् ।

योगमार्गणास्थानेभ्यः पञ्चमनोयोगेषु पञ्चवचनयोगेषु च षोडशोत्तरशतस्याऽजघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्यान्तरं समयस्तत्र सप्तचत्वारिंशद्ध्रुवबन्धिनीनां जिननाम्न आहारकद्विकस्य च प्रस्तुताऽन्तरं जघन्यप्रदेशबन्धजघन्यकालप्रयुक्तं प्राप्यते, एतासु मार्गणासु निरुक्तानां पञ्चाशत्प्रकृतीनां प्रकृतिबन्धाऽन्तराऽभावान्न तत्प्रयुक्ताऽन्तरं प्राप्यते, शेषाणां षट्षष्टेरजघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्याऽन्तरं जघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्यकालप्रयुक्तं प्रकृतिबन्धाऽन्तरप्रयुक्तं वाऽवसातव्यम् ॥४४६॥

सम्प्रत्यौदारिक तन्मिश्र-वैक्रिययोगद्वयरूपासु चतसृषु मार्गणासु विशेषं दर्शयति—

धुवबंधिजिणाणुरले ण सुरविउवदुगजिणाणुरलमीसे ।
णो धुवबंधीणं तह सत्तुरलाईण विउवदुगे ॥४४७॥

(प्रे०) "धुवे"त्यादि, औदारिककाययोगमार्गणाया सप्तचत्वारिंशद्ध्रुवबन्धिनीनां जिननाम्नश्चाऽजघन्यप्रदेशबन्धस्याऽन्तरं नास्ति, मार्गणाप्रारम्भसमये शरीरपर्याप्तिनिष्ठापनप्रथमसमयरूपे एव तासां जघन्यप्रदेशबन्धस्य भावान्न लभ्यते जघन्यप्रदेशबन्धप्रयुक्ताऽन्तरमेव प्रकृतिबन्धप्रयुक्तस्याऽप्यन्तराऽभावः, आसां बन्धविच्छेदाऽनन्तरं पुनर्बन्धात्प्रागेव मार्गणाया अपगमात् । उक्तशेषाणामष्टषष्टेरध्रुवबन्धिप्रकृतीनामजघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्याऽन्तरं समयः, तत्राऽऽहारकद्विकस्य जघन्यप्रदेशबन्धजघन्यकालप्रयुक्ताऽन्तरं प्राप्यते, न पुनः प्रकृतिबन्धाऽन्तरेण, प्रस्तुतमार्गणायामाहारकद्विकस्य प्रकृतिबन्धाऽन्तराऽभावात् ,शेषाणां षट्षष्टेः प्रकृतिबन्धाऽन्तरप्रयुक्तं प्रस्तुताऽन्तरं विज्ञेयम् । तथैताभ्यो-

नरकद्विकस्य जघन्यप्रदेशबन्धप्रयुक्तमप्यन्तरं प्राप्यते, न चतुःषष्टेस्तज्जघन्यप्रदेशबन्धस्य मार्गणायाः प्रथमसमय एव शरीरपर्याप्तिनिष्पादनप्रथमसमयरूपे संभवात् ।

औदारिकमिश्रकाययोगमार्गणायां देवद्विक-वैक्रियद्विकजिननामरूपाणां पञ्चानामजघन्यप्रदेशबन्धस्याऽन्तरं नाऽस्ति, तत्प्रकृतिबन्धाऽन्तरस्याऽभावाज्जघन्यप्रदेशबन्धस्य मार्गणाप्रथमसमये भावाच्च । अयं भावः—एतासां पञ्चानां प्रस्तुतमार्गणायां सम्यग्दृष्टिरेव बन्धकस्तस्य च देवनैरयिकेभ्यः पर्याप्तमनुष्येभ्यो वा प्रस्तुतमार्गणास्थागमनान्न तस्य प्राग्भवचरमसमये प्रस्तुतमार्गणायाः संभवस्तद्भवानन्तरं प्रस्तुतमार्गणां प्राप्तस्यापि तस्य करणाऽपर्याप्तरूपत्वेन वर्तमानत्वात्तत्र चैतासां बन्धस्य ध्रुवबन्धिकल्पत्वान्मार्गणाप्रथमसमय एव तस्य जघन्यप्रदेशबन्धस्याऽर्हत्वाच्च न प्राप्यते प्रकृतिबन्धाऽन्तरप्रयुक्तं जघन्यप्रदेशबन्धकालप्रयुक्तं च प्रस्तुताऽन्तरमिति । सप्तचत्वारिंशद्ध्रुवबन्धिप्रकृतीनामौदारिकशरीरनाम्नश्च जघन्यप्रदेशबन्धप्रयुक्तं प्रस्तुतान्तरं समयप्रमाणं प्राप्यते, शेषाणामेकोनषष्टेर्ध्रुवबन्धिप्रकृतीनां तु प्रकृतिबन्धजघन्याऽन्तरप्रयुक्तं प्रस्तुताऽन्तरं समयमितं लभ्यते ।

तथा वैक्रिय- वैक्रियमिश्रकाययोगमार्गणाद्वये सप्तचत्वारिंशद्ध्रुवबन्धिनीनामौदारिकशरीर-पराघातोच्छ्वास-बादरत्रिक-जिननामरूपाणां सप्तानाञ्चाऽजघन्यप्रदेशबन्धस्याऽन्तरं नाऽस्ति, तत्र मिथ्यात्व-स्त्यानर्द्धित्रिका-ऽनन्तानुबन्धिचतुष्करूपाणामष्टानां वैक्रियकाययोगमार्गणायां बन्धविच्छेदाऽनन्तरं पुनर्बन्धात्प्रागेव मार्गणायाः परावर्तमानत्वान्न प्रकृतिबन्धाऽन्तरेण प्रस्तुताऽन्तरं प्राप्यते, वैक्रियमिश्रमार्गणायामेतासां येषां तद्बन्धस्तेषां तद्बन्धविच्छेदाऽभावान्न प्राप्यते प्रकृतिबन्धाऽन्तरम्, यत्र यासां बन्धविच्छेदः पुनर्बन्धारम्भश्च प्राप्यते तत्रैव प्रकृतिबन्धाऽन्तरस्य प्राप्यमाणत्वात् । शेषैकोनचत्वारिंशद्ध्रुवबन्धिप्रकृतीनामौदारिकशरीरादिसप्तानां च ध्रुवं बध्यमानत्वेन प्रकृतिबन्धविच्छेदाऽभावान्मार्गणाद्वयेऽप्येतासां न प्राप्यते प्रकृतिबन्धाऽन्तरम्, तथा बन्धार्हाणामायुर्वर्जसर्वासां जघन्यप्रदेशबन्धस्य मार्गणाप्रथमसमय एव प्रवर्तनान्न तत्प्रयुक्तं प्रस्तुताऽन्तरं कस्या अपि प्रकृतेरुपलभ्यते । तथोक्तमार्गणाद्वये शेषाणां बन्धार्हाणामष्टचत्वारिंशद्ध्रुवबन्धिप्रकृतीनामजघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्याऽन्तरं समयः, जघन्यप्रदेशबन्धप्रयुक्ताऽन्तराऽभावेऽपि प्रकृतिबन्धजघन्याऽन्तरस्य तथात्वात्तत्प्रयुक्ताऽन्तरं प्राप्यत इति ।।४४७।।

एतर्हि कार्मणकाययोगाऽनाहारकमार्गणाद्वये स्त्रीवेदमार्गणायां चाजघन्यप्रदेशबन्धस्य ह्रस्वाऽन्तरे विशेषं दर्शयति—

कम्माणाहारेसु ण धुवबंधिजिणुरलचउसुराईणं ।
समयोऽणाणियरमए सयमुज्झं थीअ ण जिणस्स ।।४४८।।

(प्रे०) "कम्मे"त्यादि, कार्मणकाययोगमार्गणायामनाहारकमार्गणायां च सप्तचत्वारिंशद्ध्रुवबन्धिप्रकृतीनामौदारिकशरीरदेवद्विक-वैक्रियद्विक-जिननाम्नां चाऽजघन्यप्रदेशबन्धस्याऽन्तरं नाऽस्ति,

प्रकृतिबन्धाऽन्तराभावान्मार्गणाप्रथमसमय एव जघन्यप्रदेशबन्धभावेन तत्प्रयुक्ताऽन्तराभावाच्च । तथा शेषैकोनषष्टिप्रकृतीनां तु प्रस्तुताऽन्तरं समयप्रमाणं प्राप्यते जघन्यप्रदेशबन्धप्रयुक्तान्तरस्याभावेऽपि प्रकृतिबन्धाऽन्तरस्य तथात्वात् । ये ग्रन्थकारा एकेन्द्रियेभ्य एकेन्द्रियेषूत्पद्यमानानामेकेन्द्रियवेद्यप्रकृतीनामेव बन्धस्स्यादित्यभिप्रायवन्तस्तेषां मते मनुष्यद्विक द्वीन्द्रियादिजातिचतुष्कौ-दारिकाङ्गोपाङ्ग-संहननषट्काऽऽद्यसंस्थानपञ्चक-खगतिद्वय-त्रसनाम-सुभगत्रिक-दुःस्वरो च्चैर्गोत्र-स्त्रीवेद-पुरुषवेदरूपाणामष्टाविंशतिप्रकृतीनां देवद्विकादिपञ्चानाञ्चाऽजघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्याऽन्तरं नास्ति, एकेन्द्रियेभ्य एकेन्द्रियेषूत्पद्यमानानामेतासां त्रयस्त्रिंशत्प्रकृतीनां बन्धाभावात् , एतासां बन्धकानां त्रसकायिकानां प्रस्तुतमार्गणायाः समयद्वयतोऽधिकमनवस्थानाच्च । अस्मिन्मतेऽपि शेषाणां द्वात्रिंशदध्रुवबन्धिप्रकृतीना प्रस्तुतबन्धस्याऽन्तरं प्रकृतिबन्धान्तरवद्यथासंभवं यथागमं च स्वयं बोद्धव्यम् । इदमुक्तं भवति-एतन्मतेतिर्यग्गत्येकेन्द्रियजात्यादीनामुत्कृष्टतस्त्रिसमयबन्धकालस्य प्राप्यमाणत्वेऽपि केवलस्थावर-प्रायोग्याणामेव बन्धभावेन प्रतिपक्षप्रकृतीनां बन्धाभावान्नास्ति प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धप्रयुक्तप्रस्तुतबन्धस्यान्तरम् । यासां पुनः प्रकृतीनां केवलस्थावरप्रायोग्यबन्धेऽपि परावर्तमानभावेन बन्धोऽस्ति तासां सातवेदनीयादिप्रकृतीनां प्रकृतिबन्धप्रयुक्तं समयमात्रमन्तरं प्रकृतबन्धस्याऽपि प्राप्यते । एवमष्टादशयोगभेदेषु प्रस्तुताऽन्तरं निरूपितम् ।

वेदमार्गणाभ्यः पुरुषवेदमार्गणायां षोडशोत्तरशतप्रकृतीनामजघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्याऽन्तरं समयः, तत्र भयजुगुप्सानामनवध्रुवबन्धिप्रकृतिनिद्राद्विकरूपाणां त्रयोदशध्रुवबन्धिप्रकृतीनां प्रस्तुताऽन्तरं प्रकृतिबन्धाऽन्तरप्रयुक्तं जघन्यप्रदेशबन्धकालप्रयुक्तं चाऽवसातव्यं, मिथ्यात्वस्त्यानर्द्धित्रिकाऽनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानावरण प्रत्याख्यानावरण-सञ्ज्वलनचतुष्क-ज्ञानावरणपञ्चक-दर्शनावरणचतुष्काऽन्तरायपञ्चकरूपाणां चतुस्त्रिंशद्ध्रुवबन्धिप्रकृतीनां प्रस्तुतबन्धस्य ह्रस्वाऽन्तरं समयप्रमाण जघन्यप्रदेशबन्धप्रयुक्तं भवति, प्रकृतिबन्धाऽन्तरप्रयुक्तं तु न प्राप्यते, ज्ञानावरणादीनां चतुर्दशानां संज्वलनचतुष्कस्य च प्रकृतिबन्धाऽन्तराऽभावाच्छेषाणां षोडशानां तस्यान्तर्मुहूर्तप्रमाणत्वाच्च, आहारकद्विकस्य जघन्यप्रदेशबन्धजघन्यकालप्रयुक्तं प्रस्तुताऽन्तरं समयप्रमाणं भवति । शेषाणां सप्तषष्टेरध्रुवबन्धिप्रकृतीनां प्रस्तुतबन्धस्य समयप्रमाणं ह्रस्वाऽन्तरं प्रकृतिबन्धाऽन्तरप्रयुक्तं प्राप्यते ।

स्त्रीवेदमार्गणायां सप्तचत्वारिंशद्ध्रुवबन्धिप्रकृतीनां जघन्यप्रदेशबन्धजघन्यकालप्रयुक्तमेव प्रस्तुतबन्धस्य समयप्रमाणं ह्रस्वाऽन्तरं प्राप्यते, न पुनः प्रकृतिबन्धाऽन्तरप्रयुक्तम् , मिथ्यात्वादिषोडशानां तु तदन्तर्मुहूर्तप्रमाणत्वाच्छेषैकत्रिंशद्ध्रुवबन्धिनीनां प्रकृतिबन्धाऽन्तरस्यैवाऽभावात् । जिननाम्नस्तु प्रस्तुतबन्धस्याऽन्तरं नाऽस्ति, प्रकृतिबन्धाऽन्तराऽभावाद् भवप्रथमसमये मार्गणाप्रथमसमयरूपे तज्जघन्यप्रदेशबन्धभावाच्च, एतच्च 'थीअ ण जिणस्स' इत्यनेन गाथायां दर्शितम् । आहारकद्विकस्य तु प्रकृतिबन्धजघन्याऽन्तरस्याऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणत्वाज्जघन्यप्रदेशबन्धप्रयुक्तमजघन्य-

प्रदेशबन्धस्य जघन्याऽन्तरं समयप्रमाणं प्राप्यते । शेषाणां पट्षष्टेरध्रुवबन्धिप्रकृतीनां तु प्रकृतिबन्धाऽन्तरप्रयुक्तं प्रस्तुतबन्धस्य ह्रस्वाऽन्तरं समयप्रमाणं प्राप्यते ।

नपुंसकवेदमार्गणायां सप्तचत्वारिंशद्ध्रुवबन्धिप्रकृतीनामजघन्यप्रदेशबन्धस्य ह्रस्वाऽन्तरं समयः, जघन्यप्रदेशबन्धकालस्य तथात्वेन तत्प्रयुक्ताऽन्तरस्य तथात्वात् । अत्राऽपि प्रकृतिबन्धाऽन्तरप्रयुक्तस्य प्रस्तुतबन्धस्य ह्रस्वाऽन्तरस्य निषेधः स्त्रीवेदमार्गणावद्विज्ञेयः । शेषाणामेकोनसप्ततेरध्रुवाणां प्रस्तुताऽन्तरं समयस्तत्र जिननामा-ऽऽहारकद्विकयोः प्रस्तुताऽन्तरं जघन्यप्रदेशबन्धप्रयुक्तम्, शेषाणां पट्षष्टेरजघन्यप्रदेशबन्धस्य समयप्रमाणं जघन्याऽन्तरं प्रकृतिबन्धजघन्याऽन्तरप्रयुक्तमपि प्राप्यते ।

अपगतवेदमार्गणायां बन्धप्रायोग्याणां ज्ञानावरणाद्येकविंशतेरपि प्रकृतीनामजघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्याऽन्तरं समयः, अत्र प्रकृतिबन्धाऽन्तरस्य जघन्यतोऽप्यन्तर्मुहूर्तप्रमाणत्वाज्जघन्यप्रदेशबन्धजघन्यकालप्रयुक्तं प्रस्तुताऽन्तरं ज्ञातव्यमिति ।

चतसृषु कषायमार्गणासु षोडशोत्तरशतप्रकृतीनामजघन्यप्रदेशबन्धस्य ह्रस्वाऽन्तरं समयप्रमाणम्, तत्र मिथ्यात्वस्त्यानर्द्धित्रिका‌ऽनन्तानुबन्ध्य-प्रत्याख्यानावरण प्रत्याख्यानावरणकषायचतुष्करूपाणां षोडशानां तथा ज्ञानावरणपञ्चक-दर्शनावरणचतुष्का-ऽन्तरायपञ्चकरूपाणां चतुर्दशानां चेति समुदितानां त्रिंशद्ध्रुवबन्धिप्रकृतीनामाहारकद्विकस्य च प्रकृतिबन्धाऽन्तराऽभावाज्जघन्यप्रदेशबन्धप्रयुक्तं प्रस्तुताऽन्तरं विज्ञेयम् । एवं क्रोधमार्गणायां संज्वलनचतुष्कस्य, मानमार्गणायां संज्वलनक्रोधवर्जसंज्वलनत्रिकस्य, मायामार्गणायां संज्वलनमायालोभयोः, प्रकृतिबन्धाऽन्तराऽभावाज्जघन्यप्रदेशबन्धप्रयुक्तं प्रस्तुताऽन्तरं समयप्रमाणं विज्ञेयम् । चतुर्मार्गणासूक्तशेषध्रुवबन्धिप्रकृतीनां तथा सप्तषष्टेरध्रुवबन्धिप्रकृतीनामजघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्याऽन्तरं समयो विज्ञेयम्, तच्च प्रकृतिबन्धाऽन्तरेण जघन्यप्रदेशबन्धजघन्यकालेन वा प्रयुक्तं विज्ञेयमिति ॥४४८॥

अथ ज्ञानमार्गणायामजघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्याऽन्तरं यासां समयतोऽधिकं तासां तद्दर्शयन्नाह—

वासपुहुत्तं पंचणराईण तिणाणओहिसम्मेसुं ।
देवविउव्वदुगाणं भिन्नमुहुत्तं मुणेयव्वं ॥४४९॥

(प्रे०) 'वासपुहुत्त'मित्यादि, मतिज्ञान श्रुतज्ञाना-ऽवधिज्ञाना-ऽवधिदर्शन-सम्यक्त्वौघरूपासु पञ्चसु मार्गणासु मनुष्यद्विकौ-दारिकद्विक-वज्रर्षभनाराचसंहननरूपाणां पञ्चप्रकृतीनामजघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्यान्तरं वर्षपृथक्त्वम्, आसां जघन्यप्रदेशबन्धस्य तद्बन्धप्रारम्भप्रथमसमय

एव भावान्न जघन्यप्रदेशबन्धप्रयुक्तमन्तरं प्राप्यते, प्रस्तुतमार्गणागतानां देवनैरयिकाणां जघन्यतोऽपि वर्षपृथक्त्वस्थितिकेष्वेव मनुष्येषूत्पादात् , ततः प्रकृतिबन्धाऽन्तरप्रयुक्तमेतदन्तरं विज्ञेयम् । देवद्विकवैक्रियद्विकयोः प्रस्तुतबन्धस्य ह्रस्वाऽन्तरं अन्तर्मुहूर्तं भवति, उक्तप्रकृतीनां देवनैरयिकेभ्य उद्वृत्य मनुष्यभवप्रथमसमये वर्तमानस्य बन्धप्रारम्भप्रथमसमय एव भावान्न जघन्यप्रदेशबन्धकालप्रयुक्तं प्रस्तुताऽन्तरं प्राप्यते, किन्तु प्रकृतिबन्धजघन्यान्तरस्योपशमश्रेण्यपेक्षया तथालभ्यमानत्वेन प्रस्तुतबन्धाऽन्तरमपि तथा लभ्यते, भावना तु प्रकृतिबन्धाऽन्तरानुसारेण विधेया । एवं मार्गणापञ्चके नवप्रकृतीर्वर्जशेषाणां बन्धप्रायोग्याणामष्टषष्टेरजघन्यप्रदेशबन्धस्य ह्रस्वाऽन्तरं समयप्रमाणम् , तत्र प्रत्याख्यानावरणकषायचतुष्का-ऽप्रत्याख्यानावरणकषायचतुष्करूपाणामष्टमध्यमकषायणामाहारकद्विकस्य च प्रकृतिबन्धान्तरस्य जघन्यतोऽप्यन्तर्मुहूर्तप्रमाणत्वान्न तत्प्रयुक्तं प्रस्तुतबन्धस्य ह्रस्वाऽन्तरं समयप्रमाणं प्राप्यते, किन्तु जघन्यप्रदेशबन्धजघन्यकालप्रयुक्तं तद्विज्ञेयमिति । शेषाणामष्टपञ्चाशतोऽजघन्यप्रदेशबन्धस्य ह्रस्वाऽन्तरं प्रकृतिबन्धजघन्यान्तरप्रयुक्तं प्राप्यते, तत्र ध्रुवबन्धिप्रकृतीनां तथाऽध्रुवबन्धिप्रकृतीनां जघन्यप्रदेशबन्धजघन्यकालप्रयुक्तमपि तत्प्राप्यते । शेषप्रकृतयो नामतः पुनरिमाः-ज्ञानावरणपञ्चक-दर्शनावरणचतुष्क निद्राद्विक-संज्वलनचतुष्क भयजुगुप्सापुरुषवेद-हास्यादियुगलद्वय- साता- ऽसातवेदनीयो--च्चैर्गोत्र-पञ्चेन्द्रियजाति -तैजसकार्मणशरीर--समचतुरस्र सुखगति-वर्णचतुष्का--ऽगुरुलघुचतुष्क-निर्माण जिननाम-त्रसदशका-ऽस्थिरऽशुभा-ऽयशःकीर्तिनामाऽन्तरायपञ्चकरूपा अष्टपञ्चाशत् ।

मनःपर्यवज्ञान-संयमौघ-सामायिकसंयमच्छेदोपस्थापनीय-परिहारविशुद्धि सूक्ष्मसंपराय--देशविरति-सम्यगमिथ्यात्वरूपास्वष्टसु मार्गणासु बन्धाऽर्हाणामायुर्वर्जसर्वप्रकृतीनामजघन्यप्रदेशबन्धस्य लघ्वन्तरं समयप्रमितं भवति, तत्र सूक्ष्मसम्परायसंयममार्गणायां सर्वासां बध्यमानप्रकृतीनां प्रकृतिबन्धाऽन्तराऽभावाज्जघन्यप्रदेशबन्धजघन्यकालप्रयुक्तं प्रस्तुतबन्धस्य जघन्यान्तरं बोद्धव्यम् , देशविरतिमार्गणायां सातवेदनीयादिद्वादशानां जघन्यप्रदेशबन्धजघन्यकालप्रयुक्तं प्रकृतिबन्धजघन्याऽन्तरप्रयुक्तं वाऽजघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्याऽन्तरं समयप्रमाण प्राप्यते, शेषाणां चतुःपञ्चाशत्प्रकृतीनां प्रकृतिबन्धाऽन्तराऽभावाज्जघन्यप्रदेशबन्धजघन्यकालप्रयुक्त प्रस्तुताऽन्तरं समयप्रमाणं विज्ञेयम् । एवं सम्यग्मिथ्यात्वमार्गणायां सातवेदनीयादिद्वादशानां द्विधा प्रस्तुताऽन्तरं प्राप्यते, शेषाणां द्वाषष्टेस्तु प्रकृतिबन्धान्तराऽभावाज्जघन्यप्रदेशबन्धजघन्यकालप्रयुक्तं प्रस्तुतबन्धस्य जघन्याऽन्तरं विज्ञेयम् । मनःपर्यवज्ञान-संयमौघमार्गणयोः सातवेदनीयादिद्वादशानां प्रकृतिबन्धजघन्याऽन्तरप्रयुक्तं जघन्यप्रदेशबन्धजघन्यकालप्रयुक्तं वाऽजघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्याऽन्तरं समयप्रमाणं लभ्यते, शेषाणां द्वापञ्चाशत्प्रकृतीनामजघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्याऽन्तरं जघन्यप्रदेशबन्धजघन्यकालप्रयुक्तम् , न पुनः प्रकृतिबन्धाऽन्तरप्रयुक्तम् , प्रस्तुतमार्गणाद्वय उक्तशेषाणां प्रकृतिबन्धा-

ऽन्तरस्य जघन्यतोऽप्यन्तर्मुहूर्तप्रमाणत्वात् । एवं सामायिक च्छेदोपस्थापन-परिहारविशुद्धिरूपसंयम-त्रिके केवलमाहारकद्विकवर्जपञ्चाशत्प्रकृतीनां प्रकृतिबन्धाऽन्तरस्य निषेधो विज्ञेयः ।

अज्ञानत्रिके त्रयोदशोत्तरशतस्याऽजघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्यान्तरं समयः, तत्र ध्रुवबन्धि-सप्तचत्वारिंशतो जघन्यप्रदेशबन्धजघन्यकालप्रयुक्तं शेषाणां षट्षष्टेः प्रकृतिबन्धजघन्याऽन्तरप्रयुक्तम् प्रस्तुतान्तरं विज्ञेयम् । असंयममार्गणायां चतुर्दशोत्तरशतस्याऽजघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्याऽन्तर-मेकः समयस्तत्र सप्तचत्वारिंशद्ध्रुवबन्धिप्रकृतीनां जिननाम्नश्च जघन्यप्रदेशबन्धजघन्यकालप्रयुक्तम्, शेषाणां षट्षष्टेरध्रुवबन्धिप्रकृतीनां तु प्रस्तुतान्तरं समयप्रमितं प्रकृतिबन्धाऽन्तरप्रयुक्तं विज्ञेयम् । चक्षुर्दर्शनमार्गणायामचक्षुर्दर्शनमार्गणायाञ्च पञ्चेन्द्रियमार्गणावत्प्रस्तुताऽन्तरं विज्ञेयम् । अवधिदर्शन-मार्गणायामवधिज्ञानेन सह निरूपितम् ।

कृष्णलेश्या नीललेश्याकापोतलेश्यामार्गणात्रये चतुर्दशोत्तरशतस्याऽजघन्यप्रदेशबन्धस्य प्रस्तु-ताऽन्तरं समयः, तत्र सप्तचत्वारिंशतो ध्रुवबन्धिप्रकृतीनां जिननाम्नश्च प्रस्तुतबन्धस्य जघन्याऽन्तरं जघन्यप्रदेशबन्धप्रयुक्तम्, न तु प्रकृतिबन्धाऽन्तरप्रयुक्तं यतः कासाञ्चित्प्रकृतिबन्धान्तराऽभावात्का-साञ्चित्तस्य जघन्यतोऽप्यन्तर्मुहूर्तप्रमाणत्वात् । उक्तशेषाणां षट्षष्टेरध्रुवबन्धिप्रकृतीनामजघन्यप्रदेश-बन्धस्य लघ्वन्तरं समयप्रमितं प्रकृतिबन्धान्तरप्रयुक्तं ज्ञातव्यम् ॥४४९॥

अथ तेजःपद्मशुक्ललेश्यारूपमार्गणात्रये यासां समयतोऽधिकं प्रस्तुतबन्धस्य ह्रस्वाऽन्तरं यासाञ्च प्रस्तुतबन्धस्यान्तराऽभावस्तासां तद्दर्शयन्नाह—

तेऊअ दससहस्सा समा सुरविउवदुगाण णुरलस्स ।
पउमाअ साहिया दो अयरा देवविउवदुगाणं ॥४५०॥
उरलदुगस्स ण हवए ण भवे सुक्काअ णरुरलदुगाणं ।
देवविउव्वदुगाणं भिन्नमुहुत्तं मुणेयव्वं ॥४५१॥

(प्रे०) "तेऊअ" इत्यादि, तेजोलेश्यामार्गणायां देवद्विकस्य वैक्रियद्विकस्य चाऽजघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्याऽन्तरं दशसहस्रवर्षाणि विज्ञेयम्, मार्गणावर्ती कश्चित्तिर्यङ्मनुष्यो वा भवचरमसमये प्रकृति-चतुष्कं बद्ध्वा जघन्यस्थितिकतेजोलेश्याकदेवेषूत्पद्य तत आयुःक्षयेण सम्यक्त्वेन सह मनुष्येषूत्पद्यते, तस्य मनुष्यभवप्रथमसमयतः पुनः प्रस्तुतबन्धस्य लाभाद्देवभवजघन्यस्थितिप्रमित प्रस्तुताऽन्तरं प्राप्यते तच्च दशसहस्रवर्षाणि । तथौदारिकशरीरनाम्नोऽन्तरं नाऽस्ति, तद्यथा—देवेभ्यो मिथ्यादृष्टयः शुभ-लेश्यां मुक्त्वैव तिर्यग्मनुष्येषूत्पद्यन्ते तेषां मते प्रस्तुताऽन्तरं न भवति, देवानामस्या ध्रुवबन्धिकल्पत्वेन प्रकृतिबन्धाऽन्तराऽभावाद्भवप्रथमसमय एव तज्जघन्यप्रदेशबन्धभावाच्च न लभ्यते प्रस्तुताऽन्तरम् ।

श्रीप्रज्ञापनादिसूत्राऽभिप्रायेण तु प्रस्तुताऽन्तरं वक्तव्यम्, तच्च समयोनदशसहस्रवर्षाणि ज्ञायते इति । उक्तशेषप्रकृतिभ्यः सप्तचत्वारिंशद्ध्रुवबन्धिप्रकृतीनां जिननाम-पराघातो-च्छ्वासबाद-रत्रिकाणामाहारकद्विकस्य च जघन्यप्रदेशबन्धजघन्यकालप्रयुक्तमजघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्या-ऽन्तरं समयः, न पुनः प्रकृतिबन्धाऽन्तरप्रयुक्तं, मिथ्यात्वाद्यष्टानां तज्जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तप्रमाण-त्वाच्छेषाणां च प्रकृतिबन्धान्तराऽभावाच्च । तथोक्तशेषाणामष्टचत्वारिंशद्ध्रुवबन्धिप्रकृतीनां प्रस्तु-तबन्धस्य जघन्याऽन्तरं समयः,प्रकृतिबन्धाऽन्तरप्रयुक्तं तद्विज्ञेयं ।

पद्मलेश्यामार्गणायां देवद्विक वैक्रियद्विकयोरजघन्यप्रदेशबन्धस्य ह्रस्वाऽन्तरं साधिकसागरोपम-द्वयम्, पद्मलेश्याकदेवानां जघन्यस्थितेः साधिकसागरोपमद्वयप्रमाणत्वात्, अयं भावः–शुभलेश्यायां पर्याप्ततिर्यग्मनुष्यैर्नियता एव देवगतिप्रायोग्यप्रकृतयो बध्यन्तेऽतो मनुष्यतिर्यग्भवचरमाऽन्तर्मुहूर्ते वर्तमानस्य निरुक्तप्रकृतिचतुष्कस्याऽजघन्यप्रदेशबन्धः प्रवर्तते ततो देवेषूत्पन्नस्य भवप्रत्ययादेवैतासां प्रकृतीनामबन्धः पुनः सम्यक्त्वसहितमनुष्यगतावुत्पत्तौ तद्भवप्रथमसमयतो देवद्विकादीनां बन्धः प्रवर्तते, एवं सति प्रस्तुताऽन्तरं तत्तल्लेश्याकदेवभवजघन्यस्थितिप्रमाणं विज्ञेयमिति । तथा पद्मलेश्यायामेवौदारिकद्विकस्याऽजघन्यप्रदेशबन्धास्याऽन्तरं नाऽस्ति, मतान्तरेण तु यथासंभवं वक्त-व्यम् । सप्तचत्वारिंशद्ध्रुवबन्धिप्रकृतीनां पञ्चेन्द्रियजातिपराघातो-च्छ्वास त्रसचतुष्क-जिननामा-ऽऽहारकद्विकानामजघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्यान्तरमेकसमयो भवति, तच्चान्तरं जघन्यप्रदेशबन्ध-जघन्यकालप्रयुक्तम्, न पुनः प्रकृतिबन्धाऽन्तरप्रयुक्तं, कुतो ? मिथ्यात्वाद्यष्टानां प्रकृतिबन्धाऽन्त-रस्य जघन्यतोऽप्यन्तर्मुहूर्तप्रमाणत्वाच्छेषाणाञ्चैकोनपञ्चाशतः प्रकृतिबन्धाऽन्तराऽभावादिति। शेषाणां बन्धाऽर्हाणामायुर्वर्जानामध्रुवबन्धिप्रकृतीनामजघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्याऽन्तरं समयः, तच्च प्रकृ-तिबन्धजघन्याऽन्तरप्रयुक्तं विज्ञेयमिति, ताः प्रकृतयः पुनरिमाः–सातासातवेदनीय हास्यादियुग-लद्वय वेदत्रय-तिर्यग्द्विक-मनुष्यद्विक संहननषट्क-संस्थानषट्क-खगतिद्विकोद्योत- स्थिरषट्का-ऽस्थि-रषट्कगोत्रद्वयरूपा द्विचत्वारिंशत् ।

"सुक्काए" इत्यादि, शुक्ललेश्यामार्गणायां मनुष्यद्विकौ-दारिकद्विकरूपप्रकृतिचतुष्कस्याऽजघन्य-प्रदेशबन्धस्याऽन्तरं नाऽस्ति,मतान्तरेण तु प्रस्तुताऽन्तरं यथासमयं विज्ञेयमिति । तथा देवद्विकवैक्रि-यद्विकयोः प्रस्तुतबन्धस्य ह्रस्वाऽन्तरमन्तर्मुहूर्तम्, उपशमश्रेण्यपेक्षया प्रकृतिबन्धाऽन्तरस्य जघन्यतोऽपि तथाप्रमाणत्वात् । उक्तशेषप्रकृतीनां प्रस्तुताऽन्तरं समयः, मिथ्यात्व-स्त्यानर्द्धित्रिका-ऽनन्तानुबन्धिकषायचतुष्का-ऽप्रत्याख्यानावरणकषायचतुष्क-प्रत्याख्यानावरणकषायचतुष्करूपाणां षोडशानामाहारकद्विकस्य च जघन्यप्रदेशबन्धप्रयुक्तं प्रस्तुताऽन्तरं समयप्रमाणं प्राप्यते, न पुनः प्रकृ-तिबन्धाऽन्तरं प्रयुक्तम्, कासाञ्चित्तदभावात्कासाञ्चिचाऽन्तर्मुहूर्तादिप्रमाणत्वात् । उक्तशेषाणां ध्रुव-बन्धिप्रकृतीना तु जघन्यप्रदेशबन्धजघन्यकालप्रयुक्तं प्रकृतिबन्धजघन्याऽन्तरप्रयुक्तं वा प्रस्तुताऽन्तरं

समयप्रमाणं विज्ञेयमिति, अन्यासां तु प्रकृतिबन्धाऽन्तरप्रयुक्तं तदवसातव्यम् । भव्यमार्गणायां षोडशोत्तरशतस्य प्रस्तुतबन्धस्य ह्रस्वाऽन्तरमोघवत्समयप्रमाणं विज्ञेयम् । अभव्यमार्गणायां मिथ्यात्वमार्गणायामसंज्ञिमार्गणायाञ्च त्रयोदशोत्तरशतस्याऽजघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्याऽन्तरं समयो भवति, तथाऽज्ञानमार्गणावद्विज्ञेयम् । सम्यक्त्वौघमार्गणायां मतिज्ञानादिमार्गणाभिस्समं प्रस्तुताऽन्तरं दर्शितम् ॥४५०-४५१॥

अथ क्षायिकसम्यक्त्वे यासां प्रस्तुताऽन्तरं नाऽस्ति यासां च समयतोऽधिकाऽन्तरं भवति तासां तद्दर्शयन्नाह—

खइअम्मि णराईणं पंचण्हं णो भवे मुहुत्तंतो।
देवविउव्वदुगाणं ण उवसमे पणणराईणं ॥४५२॥

(प्रे०) "**खइअम्मि**" इत्यादि, क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणायां मनुष्यद्विकौ-दारिकद्विकवज्रर्षभनाराचरूपाणां पञ्चानां प्रकृतीनामजघन्यप्रदेशबन्धस्याऽन्तरं नाऽस्ति, प्रकृतिबन्धाऽन्तराऽभावाऽजघन्यप्रदेशबन्धस्य चाऽऽसां प्रकृतिबन्धप्रारम्भप्रथमसमय एव भावात्तत्प्रयुक्तमप्यन्तरं न प्राप्यते। पञ्चभविकस्याऽत्राऽविवक्षणादेवं निर्देशः, तद्विवक्षायां तु यथागमयं तदन्तरं विज्ञेयमिति । देवद्विक वैक्रियद्विकयोरजघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्याऽन्तरमन्तर्मुहूर्तम्, उपशमश्रेणावारोहणावरोहणाऽपेक्षया प्रकृतिबन्धाऽन्तरस्यैतावत्प्रमाणत्वेन प्रस्तुतबन्धह्रस्वाऽन्तरस्य तथात्वात् । उक्तशेषप्रकृतीनां प्रस्तुतबन्धस्य ह्रस्वाऽन्तरं समयः, तत्र मध्यमकषायाऽष्टकाऽऽहारकद्विकरूपाणां दशप्रकृतीनां जघन्यप्रदेशबन्धजघन्यकालप्रयुक्तं समयः प्रस्तुताऽन्तरं लभ्यते । शेषाणामष्टपञ्चाशत्प्रकृतीनां प्रकृतिबन्धाऽन्तराऽपेक्षया समयप्रमाणं प्रस्तुतबन्धस्य ह्रस्वान्तरं प्राप्यते ।

'**ण उवसमे**' इत्यादिना उपशमसम्यक्त्वमार्गणायां कथयति—उपशमसम्यक्त्वमार्गणायां मनुष्यद्विकौ-दारिकद्विकवज्रर्षभनाराचरूपाणां पञ्चानां प्रकृतीनामजघन्यप्रदेशबन्धस्याऽन्तरं नाऽस्ति, श्रेणितः कालं कृत्वा देवेषूत्पन्नस्य भवप्रथमसमय एव तज्जघन्यप्रदेशबन्धसंभवात्, न जघन्यप्रदेशबन्धप्रयुक्तं प्रस्तुतबन्धस्याऽन्तरं प्राप्यते, प्रकृतिबन्धाऽन्तराऽभावाच्च न प्रकृतिबन्धाऽन्तरप्रयुक्तं तदिति । उक्तशेषाणामायुर्वर्जबन्धप्रायोग्याणां द्वासप्ततेरजघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्याऽन्तरं समयः, तत्र देवद्विक वैक्रियद्विकाऽऽहारकद्विकानां मध्यमकषायाऽष्टकस्य च न प्रकृतिबन्धाऽन्तरहेतुकं प्रस्तुतबन्धाऽन्तरं समयः, उपशमसम्यक्त्वमार्गणायामेतासां प्रकृतिबन्धजघन्याऽन्तरस्याऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणत्वात्, किन्तु जघन्यप्रदेशबन्धजघन्यकालप्रयुक्तमेव समयप्रमाणं प्रस्तुतबन्धाऽन्तरं प्राप्यते, शेषाणामष्टपञ्चाशतः प्रकृतिबन्धाऽन्तरप्रयुक्तं प्रस्तुतबन्धस्य ह्रस्वाऽन्तरं समयप्रमाणं ज्ञातव्यम् ॥४५२॥

एतर्हि क्षयोपशमसम्यक्त्वमार्गणायां प्रस्तुताऽन्तरं दर्शयन्नाह—

खायोवसमे णेयं पंचणराईण हायणपुहुत्तं ।
देवविउव्वदुगाणं साहियपल्लं मुणेयव्वं ॥४५३॥

(प्रे०) "खायोवसमे" इत्यादि, क्षयोपशमसम्यक्त्वमार्गणायां मनुष्यद्विकौदारिकद्विक-वज्रर्षभनाराचरूपाणां पञ्चानामजघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्याऽन्तरं वर्षपृथक्त्वम् , आसां पञ्चानां बन्ध-प्रारम्भप्रथमसमय एव जघन्यप्रदेशबन्धभावेन न तत्प्रयुक्तं प्रस्तुताऽन्तरं समयप्रमाणमतःप्रकृतिबन्धा-ऽन्तरप्रयुक्तमेतदन्वेषणीयम् , तच्चैवम्–प्रस्तुतमार्गणागतदेवनैरयिकानामेताः प्रकृतयो निरन्तरं बध्यन्ते, तिर्यग्मनुष्यास्त्वेता नैव बध्नाति, ततः प्रस्तुताऽन्तरं तु यो देवनैरयिकेभ्यः सम्यक्त्वेन सह च्युत्वा सम्भवदत्यल्पतमायुष्को मनुष्यो भवति ततो मनुष्यभवसत्कायुः सम्यक्त्वेन सहानुभूय ससम्यक्त्व एव देवेषूत्पद्यते तस्य प्रस्तुतमार्गणाया प्रकृतिबन्धजघन्याऽन्तर प्राप्यते, तच्च वर्षपृथ-क्त्वप्रमाणम् , सम्यग्दृष्टिदेवनारकाणा वर्षपृथक्त्वतो हीनस्थितिकेषूत्पादाऽभावात् । तथा देवद्विक-वैक्रियद्विकयोरजघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्यान्तरं साधिकं पल्योपमम् , अत्राऽपि जघन्यप्रदेशबन्धो नाऽन्तरप्रयोजकः, किन्तु प्रकृतिबन्धजघन्याऽन्तरमेव प्रकृतबन्धजघन्याऽन्तरप्रयोजकं भवति, प्रस्तु-तमार्गणागताना सम्यग्दृष्टितिर्यग्मनुष्याणां जघन्यतोऽप्येतावत्स्थितिकेष्वेव देवेषूत्पादाच्छेपभावना तु सुगमा, मतान्तरेण पुनः साधिकत्वं न वाच्यम् , सम्यग्दृष्टीनां जघन्यतः पल्योपमस्थितिके-ष्वपि वैमानिकदेवेषूत्पादस्य श्रवणादिति । उक्तशेषाणामष्टपष्टेरजघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्याऽन्तरं समयो भवति, तत्र सातवेदनीयादिद्वादशानां प्रस्तुतबन्धस्य लब्धऽन्तरं प्रकृतिबन्धाऽन्तरप्रयुक्तं भवति, शेषषट्पञ्चाशतः प्रस्तुताऽन्तरं जघन्यप्रदेशबन्धजघन्यकालप्रयुक्त विज्ञेयं न तु तत्प्रकृतिबन्धा-ऽन्तरप्रयोज्यमिति ।

सम्यग्मिथ्यात्वमार्गणायां बन्धाऽर्हाणां चतुःसप्ततेरजघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्याऽन्तरं समयः, तत्र सातादिद्वादशानामुभयथा तदन्तरं समयप्रमाणं प्राप्यते, शेषाणां द्वाषष्टेस्तु प्रकृति-बन्धाऽन्तराऽभावाज्जघन्यप्रदेशबन्धप्रयुक्तमेव निरुक्ताऽन्तरं प्राप्यते । सास्वादनमार्गणायां मिथ्या-त्ववर्जषट्चत्वारिंशद्ध्रुवबन्धिनीनां तथा पञ्चेन्द्रियजाति पराघातो-च्छ्वास-त्रसचतुष्करूपाणां सप्ता-नां च प्रस्तुतमार्गणाया निरन्तरं बध्यमानत्वेन प्रकृतिबन्धाऽन्तराऽभावादजघन्यप्रदेशबन्धस्य जघ-न्याऽन्तर जघन्यप्रदेशबन्धजघन्यकालप्रयुक्तं विज्ञेयम् । शेषाणामायुर्वर्जबन्धाऽर्हाणां पञ्चचत्वारिंश-त्प्रकृतीना प्रस्तुतबन्धस्य जघन्याऽन्तरं समयप्रमाणं प्रकृतिबन्धलब्धान्तरप्रयुक्तं विज्ञेयम् ॥४५३॥

सम्प्रति संज्ञिमार्गणाया यासामजघन्यप्रदेशबन्धस्य ह्रस्वाऽन्तरं समयतोऽधिकं प्राप्यते तासां तद्दर्शयन्नाह—

सण्णिम्मि मुहुत्तंतो तइअकसायाइसोलसण्ह भवे ।
णिद्दादुगस्स समयो भिन्नमुहुत्तं व विण्णेयं ॥४५४॥

(प्रे०) '**सण्णिम्मि**'इत्यादि, संज्ञिमार्गणायां प्रत्याख्यानावरणकषायचतुष्का-ऽप्रत्याख्यानावरणचतुष्काऽनन्तानुबन्धिचतुष्क स्त्यानर्द्धित्रिक मिथ्यात्वरूपाणां षोडशानामजघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्याऽन्तरमन्तर्मुहूर्तम् ,असंज्ञिभ्य आगतस्य मार्गणाप्रथमसमय एवैतासां जघन्यप्रदेशबन्धस्य भावान्न तेन प्रस्तुत ऽन्तरं प्राप्यते, प्रकृतिबन्धाऽन्तरं तु जघन्यतोऽप्यन्तमुर्हूर्तम् , तत्प्रयुक्तं च प्रस्तुताऽन्तरमपि तथैवेति । निद्राद्विकस्य तु प्रस्तुताऽन्तरं समयप्रमाणं मतान्तरेऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणं विज्ञेयम् तद्यथा–उपशमश्रेणिमारूढस्य निद्राद्विकबन्धविच्छेदाऽनन्तरं समयाऽन्तरे कालकरणेन प्रकृतिबन्धाऽन्तरं समयप्रमाणम् ,येषां तु तद्बन्धविच्छेदादऽनन्तरमन्तर्मुहूर्तं यावद्मरणव्याघातो नैव भवतीत्येवमभिप्रायस्तन्मते प्रस्तुताऽन्तरमन्तर्मुहूर्तप्रमाणं ज्ञातव्यम् , तच्च प्रकृतिबन्धाऽन्तरप्ररूपणायामुक्तमेव । उक्तशेषाणामष्टनवतेः प्रस्तुताऽन्तरं समयप्रमाणं विज्ञेयम् , तत्र आहारकद्विकस्य जघन्यप्रदेशबन्धप्रयुक्तं, नरकद्विकस्योभयथा तथा शेषाणां चतुर्नवतेः प्रकृतिबन्धाऽन्तरप्रयुक्तं प्रस्तुताऽन्तर समयप्रमाणं विज्ञेयम् । आहारकमार्गणायां षोडशोत्तरशतस्याऽजघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्यान्तरं समयः, भावना त्वोघवद्विधेया । अनाहारकमार्गणायां तु कार्मणमार्गणया सह निरूपितमिति ॥४५४॥

गतं मार्गणास्वायुर्वर्जबन्धप्रायोग्याणां कर्मणामजघन्यप्रदेशबन्धस्यान्तरं जघन्यतः । एतर्हि तदेवोत्कृष्टतो विभणिषुः सापवादातिदेशेन निरूपयति—

सव्वासु जाण अंतरमलहुपएसस्स अत्थि ताण गुरुं ।
अगुरुपएसव्व णवरि धुवउरलाण समयो उरलमीसे ॥४५५॥(गीतिः)
अगुरुपएसस्स दुवे समया जाण जइ सिं इह भवे ता ।
भवपढमसमयसामी समयो इहराऽत्थि चउसमया ॥४५६॥

(प्रे०) "**सव्वासु**" इत्यादि, सप्तत्युत्तरशतमार्गणामध्याद् यासु मार्गणास्वायुर्वर्जबन्धप्रायोग्यप्रकृतिभ्यो यासामजघन्यप्रदेशबन्धस्याऽन्तरमस्ति तासु तासां वक्ष्यमाणाऽपवादपदानि विहाय तदुत्कृष्टाऽन्तरमनुत्कृष्टप्रदेशबन्धोत्कृष्टाऽन्तरवद्विज्ञेयम् । अपवादपदान्याह–"**णवरि**" इत्यादि, औदारिकमिश्रकाययोगमार्गणायां यद्यपि सप्तचत्वारिंशद्ध्रुवबन्धिन्योदारिकशरीरनाम्नां प्रकृतिबन्धाऽन्तरस्याऽभावेन तथा करणाऽपर्याप्तस्य मार्गणाचरमसमये ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्य भावेन चानुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्यान्तराऽभावस्तथाऽपि तासामष्टचत्वारिंशतोऽजघन्यप्रदेशबन्धस्य ज्येष्ठाऽन्तरं समयो भवति, तद्यथा–लब्ध्यपर्याप्तस्य विग्रहगतिं मुक्त्वौदारिकमिश्रकाययोग एव भवति, तस्य चैकभवतो द्वितीयभव ऋजुगत्योत्पत्तौ न मार्गणाविच्छेदस्तत्र लब्ध्यपर्याप्तरूपं प्रथमं भवं निर्वाह्य द्वितीयादिभवप्रथमसमये यदि लब्ध्यपर्याप्तसूक्ष्मादिषूत्पन्नो जघन्यप्रदेशबन्धं करोति तदा ध्रुवबन्धिसप्तचत्वारिंशत औदारिकनाम्नश्च जघन्यप्रदेशबन्धप्रयुक्तमजघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्यमुत्कृष्टं चाऽन्तरं समय-

प्रमाणं प्राप्यते, तत्रौदारिकमिश्रमार्गणायां शेषबन्धाऽर्हाणामायुर्वर्जाध्रुवबन्धिप्रकृतीनामनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टाऽन्तरवत्प्रस्तुतबन्धस्य ज्येष्ठाऽन्तरं प्राप्यते, तद्यथा–औदारिकमिश्रकाययोगमार्गणायां देवद्विक वैक्रियद्विक जिननाम्नामजघन्यप्रदेशबन्धस्याऽन्तरं नाऽस्ति, शेषाणामेकोनषष्टेरध्रुवाणां प्रस्तुतबन्धस्य ज्येष्ठाऽन्तरमन्तर्मुहूर्तम् ।

अथाऽन्यदपवादद्वयं प्राह–"अणुरूपएससस्से"त्यादि, यासु मार्गणासु यासां यासां प्रकृतीनां प्रकृतिबन्धाऽन्तराऽऽभावाज्ज्येष्ठप्रदेशबन्धप्रयुक्तमनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टाऽन्तरं समयद्वयं प्राप्यते, तासु मार्गणासु तासां प्रकृतीनां प्रकृतिबन्धाऽन्तराऽभावाद्यदि जघन्यप्रदेशबन्धकालप्रयुक्तं प्रस्तुताऽन्तरं भवेत्तर्हि तासां यावज्जघन्यप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टकालस्तावदेवाऽजघन्यप्रदेशबन्धस्य ज्येष्ठान्तरं भवति । अत्र जघन्यप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टकालो द्विधा प्राप्यते, तद्यथा–भवप्रथमसमयभाविजघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्यकालवज्ज्येष्ठकालोऽपि समयमात्रः, परावर्तमानमध्यमपरिणामेन वध्यमानजघन्यप्रदेशबन्धस्य पुनर्ज्येष्ठकालश्चत्वारः समयाः, अतो यासां भवप्रथमसमय एव जघन्यप्रदेशबन्धः प्राप्यते प्रकृतिबन्धाऽन्तराऽभावश्च भवति, तासां यद्यजघन्यप्रदेशबन्धस्याऽन्तरमस्ति तदा तदुत्कृष्टतः समयमात्रं भवति, यासां पुनः परावर्तमानपरिणामेन जघन्यप्रदेशबन्धः प्राप्यते प्रकृतिबन्धाऽन्तराऽभावश्च भवति, तासां यदि अजघन्यप्रदेशबन्धस्याऽन्तरमस्ति तदा तदुत्कृष्टतश्चत्वारः समया भवति । यथा नरकगतिमार्गणायां ज्ञानावरणस्याऽनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टाऽन्तरं समयद्वयं भवति तथाऽपि तस्य जघन्यप्रदेशबन्धस्य मार्गणाप्रथमसमय एव लाभात्, अजघन्यप्रदेशबन्धस्याऽन्तराऽभावाच्च, प्रस्तुते तदन्तरस्य निषेधो वाच्यः, यथा च तिर्यगोघमार्गणायां ज्ञानावरणस्याऽनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टाऽन्तरं समयद्वयं भवति तत्र च जघन्यप्रदेशबन्धस्य मार्गणामध्येऽपि भवप्रथमसमये भावात्प्रस्तुताऽजघन्यप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टान्तरं समयो भवति, तथा मनोयोगादिमार्गणासु ज्ञानावरणादीनामनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टाऽन्तरस्य समयद्वयप्रमाणत्वेऽपि तासु तासां जघन्यप्रदेशबन्धोत्कृष्टकालस्य चतुःसमयप्रमाणत्वादजघन्यप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टाऽन्तरं चत्वारः समया लभ्यते ।

अथ यासु मार्गणासु यासां प्रकृतीनां प्रकृतिबन्धाऽन्तराऽभावादनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टान्तरं समयद्वयं तत्र तासामजघन्यप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टान्तरं प्रदर्श्यते, शेषाणां तु प्रकृतिबन्धान्तरस्याऽन्तर्मुहूर्तादिप्रमाणत्वेनाऽनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्याजघन्यप्रदेशबन्धस्य च तत्समानप्रायस्त्वात्, अनुत्कृष्टप्रदेशबन्धोत्कृष्टाऽन्तरप्ररूपणायामपि तस्य निरूपितत्वाच्च तत एवाऽवधार्यमिति । तत्र नरकगत्योघे मिथ्यात्वस्त्यानर्द्धित्रिकाऽनन्तानुबन्धिचतुष्कवर्जज्ञानावरणाद्येकोनचत्वारिंशद्ध्रुवबन्धिप्रकृति-पञ्चेन्द्रियजात्योदारिकद्विक-पराघातोच्छ्वास जिननाम-त्रसचतुष्करूपाणामेकोनपञ्चाशत्प्रकृतीनामजघन्यप्रदेशबन्धस्याऽन्तरं नास्ति, भवप्रथमसमये मार्गणाप्रथमसमयरूपे तासां जघन्यप्रदेशबन्धस्याऽर्हत्वात् । एवं

प्रथमादिनरकत्रये सनत्कुमारादि-सहस्राराऽन्तपड्देवभेदेषु च नरकौघवत् ,केवलं मतान्तरेण द्वितीय-तृतीयनरकभूमौ जिननाम्नोऽजघन्यप्रदेशबन्धस्याऽन्तरं चत्वारः समया वक्तव्याः । चतुर्थादिषु चतुर्षु नरकौघवज्जिननामवर्जाऽष्टचत्वारिंशतोऽन्तरं नाऽस्ति । तिर्यगोघ-पञ्चेन्द्रियतिर्यगोघ-पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यङ् तिरश्चीरूपासु चतसृषु मार्गणासु मिथ्यात्व-स्त्यानर्द्धित्रिका-ऽनन्तानुबन्धिकषाय-चतुष्का-ऽप्रत्याख्यानावरणकषायचतुष्करूपद्वादशप्रकृतिवर्जशेषपञ्चत्रिंशत्प्रकृतीनामजघन्यप्रदेशबन्ध-स्योत्कृष्टाऽन्तरं समयो भवति । तथाऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग-पर्याप्तपञ्चेन्द्रिया-ऽपर्याप्तत्रस-सप्तै-केन्द्रिय नवविकलेन्द्रिय-सप्तपृथ्वीकाय सप्ताप्कायैकादशवनस्पतिकायरूपासु चतुश्चत्वारिंशद्मार्गणासु सप्तचत्वारिंशद्ध्रुवबन्धिप्रकृतीनामौदारिकशरीरनाम्नश्चाऽजघन्यप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टान्तरमपि समयो भवति, प्रकृतिबन्धाऽन्तराऽभावाऽजघन्यप्रदेशबन्धोत्कृष्टकालस्य तथात्वाच्च । अपर्याप्तमनुष्य-मार्गणायां सप्तचत्वारिंशद्ध्रुवबन्धिप्रकृतीनामौदारिकशरीरस्य च प्रस्तुतबन्धस्यान्तरं नाऽस्ति । देवौघ-सौधर्मेशानदेवरूपासु तिसृषु मार्गणासु मिथ्यात्व-स्त्यानर्द्धित्रिका-ऽनन्तानुबन्धिचतुष्कवर्जै-कोनचत्वारिंशद्ध्रुवबन्धिप्रकृतीनामौदारिकशरीर—पराघातो—च्छ्वास—जिननाम—बादरत्रिकरूपाणां सप्तानां च प्रस्तुतबन्धस्यान्तरं नाऽस्ति । भवनपतित्रिके देवौघवज्जिननामरहितानां पञ्च-चत्वारिंशत्प्रकृतीनामजघन्यप्रदेशबन्धस्या-ऽन्तरं नास्ति । आनतादिनवमग्रैवेयकान्तरूपासु त्रयोदश-मार्गणासु ध्रुवबन्ध्येकोनचत्वारिंशतो मनुष्यद्विक—पञ्चेन्द्रियजात्यौ-दारिकद्विक पराघातो-च्छ्वास-जिननाम-त्रसचतुष्करूपाणां चेत्येकपञ्चाशत्प्रकृतीनामजघन्यप्रदेशबन्धस्याऽन्तरं नाऽस्ति । पञ्चा-ऽनुत्तरसुरमार्गणासु सातादिद्वादशपरावर्तमानप्रकृतिवर्जानामेकोनषष्टिप्रकृतीनामजघन्यप्रदेशबन्धस्या-ऽन्तरं नाऽस्ति ।

सप्ततेजस्काय-सप्तवायुकायमार्गणासु सप्तचत्वारिंशद्ध्रुवबन्धिप्रकृतीनां तिर्यग्द्विक-नीचैर्गोत्रौ-दारिकशरीरनाम्नां चाऽजघन्यप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टाऽन्तरमपि समयो भवति, प्रकृतिबन्धाऽन्तराऽभा-वाज्जघन्यप्रदेशबन्धोत्कृष्टकालस्य तथात्वाच्च ।

मनोयोगमार्गणापञ्चके वचनयोगमार्गणापञ्चके च सप्तचत्वारिंशद्ध्रुवबन्धिप्रकृतीनां जिन-नाम्न आहारकद्विकस्य चाऽजघन्यप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टाऽन्तरं चत्वारः समयाः प्रकृतिबन्धाऽन्तराऽभा-वात्परावर्तमानपरिणामेन जघन्यप्रदेशबन्धसद्भावाच्च। काययोगमार्गणायां मिथ्यात्व स्त्यानर्द्धित्रिका-ऽनन्तानुबन्धिकषायचतुष्का—ऽप्रत्याख्यानावरणकषायचतुष्क—प्रत्याख्यानावरणकषायचतुष्करूपाणां षोडशानामजघन्यप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टाऽन्तरं समयो भवति, प्रकृतिबन्धाऽन्तराऽभावाज्जघन्यप्रदेश-बन्धोत्कृष्टकालस्य तथात्वात् , आहारकद्विकस्य प्रस्तुतबन्धस्य ज्येष्ठान्तरं चत्वारः समयाः । औदा-रिककाययोगमार्गणायां सप्तचत्वारिंशद्ध्रुवबन्धिप्रकृतीनां जिननाम्नश्चाऽजघन्यप्रदेशबन्धस्याऽन्तरं नाऽस्ति, मार्गणायाः प्रथमसमय एव तासां जघन्यप्रदेशबन्धस्य सद्भावात् , आहारकद्विकस्य तु

प्रस्तुतबन्धस्य ज्येष्ठाऽन्तरं चत्वारः समयाः। औदारिकमिश्रमार्गणायां सप्तचत्वारिंशत्ध्रुवबन्धिप्रकृतीनामौदारिकशरीरनाम्नश्चाऽजघन्यप्रदेशबन्धस्याऽन्तरं समयो भवति, तथा देवद्विक-वैक्रियद्विकजिननामरूपाणां पञ्चानामजघन्यप्रदेशबन्धस्याऽन्तरं नाऽस्ति तच्च प्राग्दर्शितम्। वैक्रियकाययोगमार्गणायां वैक्रियमिश्रकाययोगमार्गणायाश्च सप्तचत्वारिंशद्ध्रुवबन्धिप्रकृतीनामौदारिकशरीर-पराघातो-च्छ्वास-बादरत्रिकजिननामरूपाणां चतुःपञ्चाशतः प्रकृतीनामजघन्यप्रदेशबन्धस्याऽन्तरं नाऽस्ति मार्गणाप्रथमसमयवर्तिनामेव तज्जघन्यप्रदेशबन्धस्वामित्वात्। आहारककाययोगमार्गणायामाहारकमिश्रकाययोगमार्गणायाश्च सातादिद्वादशवर्जानां पञ्चाशत्प्रकृतीनामजघन्यप्रदेशबन्धस्याऽन्तरं नाऽस्ति मार्गणाप्रथमसमय एव तासां जघन्यप्रदेशबन्धस्य भावात्। कार्मणकाययोगमार्गणायामनाहारकमार्गणायां च सप्तचत्वारिंशद्ध्रुवबन्धिप्रकृतीनामौदारिकशरीरनाम्नश्च प्रस्तुतबन्धस्याऽन्तरं नाऽस्ति, एवं देवद्विक-वैक्रियद्विक-जिननाम्नामपि प्रस्तुतबन्धस्याऽन्तरं नाऽस्ति, शेषाणां नवपञ्चाशतः समयप्रमाणम्, यद्वा मतान्तरेण तत्राऽपि त्रसप्रायोग्याणां प्रस्तुतबन्धस्याऽन्तरं नाऽस्ति स्थावरप्रायोग्याणां च कासांचित् प्रकृतीनां तज्जघन्यत उत्कृष्टतश्च समयो भवति, एतच्चाऽजघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्याऽन्तरप्रस्तावे निरूपितम्।

वेदमार्गणान्तर्गतायां पुंवेदमार्गणायां ज्ञानावरणपञ्चक–दर्शनावरणचतुष्का-ऽन्तरायपञ्चकसंज्वलनचतुष्करूपाणामष्टादशानां प्रकृतिबन्धाऽन्तराऽभावाज्जघन्यप्रदेशबन्धोत्कृष्टकालस्याऽपि समयप्रमाणत्वात्तत्प्रयुक्तमन्तरं समयप्रमाणं भवति। स्त्रीवेदमार्गणायां ज्ञानावरणपञ्चक दर्शनावरणषट्क-संज्वलनचतुष्कभयजुगुप्सानामनवध्रुवबन्धिप्रकृत्यन्तरायपञ्चकरूपाणामेकत्रिंशत्प्रकृतीनां जिननाम्नश्चाऽजघन्यप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टान्तरं समयो भवति। एवं नपुंसकवेदमार्गणायां जिननामवर्जानामेकत्रिंशतः प्रस्तुताऽन्तरं समयो भवति।

क्रोधमार्गणायां ज्ञानावरणपञ्चक-दर्शनावरणचतुष्का ऽन्तरायपञ्चक-संज्वलनचतुष्करूपाणामष्टादशानां तथा मिथ्यात्व-स्त्यानर्द्धित्रिकाऽनन्तानुबन्ध्य-प्रत्याख्यानावरण-प्रत्याख्यानावरणकषायरूपाणां षोडशानाञ्च प्रकृतिबन्धाऽन्तराऽभावाज्जघन्यप्रदेशबन्धकालप्रयुक्तमजघन्यप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टाऽन्तरं समयप्रमाणमवसातव्यम्, आहारकद्विकस्य चत्वारः समयाः प्रकृतिबन्धाऽन्तराऽभावाज्जघन्यप्रदेशबन्धस्य घोलनयोगिन एव भावात्तत्र चोत्कृष्टतश्चतुरः समयान् यावदेवाऽवस्थानात्। मानमार्गणायामेवमेव नवरं संज्वलनक्रोधस्य प्रकृतिबन्धाऽन्तरस्याऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणत्वात्तद्वर्जानां प्रस्तुताऽन्तरं निरुक्तमवसातव्यम्, एवं मायामार्गणायां परं संज्वलनक्रोधमानौ वर्जनीयौ, लोभमार्गणायामपि प्रस्तुताऽन्तरप्ररूपणा क्रोधमार्गणावत्केवलं संज्वलनचतुष्कस्याऽजघन्यप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टान्तरमन्तर्मुहूर्तप्रमाणं प्रकृतिबन्धाऽन्तरप्रयुक्तमवसातव्यम्।

मत्यज्ञान-श्रुताऽज्ञानविभङ्गज्ञानाऽभव्य-मिथ्यात्वरूपे मार्गणापञ्चके सप्तचत्वारिंशद्ध्रुवबन्धिप्रकृतीनामजघन्यप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टाऽन्तरं समयप्रमाणं जघन्यप्रदेशबन्धकालप्रयुक्तं ज्ञातव्यम् ,शेषमनुत्कृष्टाऽन्तरवत् ।

सामायिकसंयम च्छेदोपस्थापनीयसंयम--परिहारविशुद्धिसंयममार्गणासु सातावेदनीयादिद्वादशाऽऽहारकद्विकवर्जानां पञ्चाशत्प्रकृतीनां प्रकृतिबन्धाऽन्तराऽभावाज्जघन्यप्रदेशबन्धोत्कृष्टकालप्रयुक्तमजघन्यप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टान्तरं चत्वारः समयाः, एवं सूक्ष्मसंपरायसंयममार्गणायां बन्धाऽर्हाणां सप्तदशानां प्रस्तुतबन्धस्योत्कृष्टाऽन्तरं चत्वारः समयाः, देशविरतिमार्गणायां सातवेदनीयादिद्वादशवर्जानां बन्धाऽर्हाणां चतुःपञ्चाशत्प्रकृतीनां प्रस्तुताऽन्तरं चत्वारः समयाः । असंयममार्गणायां चतुर्थगुणस्थानके बन्धाऽर्हाणामेकोनचत्वारिंशद्ध्रुवबन्धिप्रकृतीनां प्रकृतिबन्धाऽन्तराऽभावाज्जघन्यप्रदेशबन्धकालप्रयुक्तं प्रस्तुतबन्धस्य ज्येष्ठाऽन्तरं समयो भवति ।

कृष्ण नीललेश्यामार्गणाद्वये एकोनचत्वारिंशद्ध्रुवबन्धिप्रकृतीनां प्रस्तुतबन्धस्य ज्येष्ठाऽन्तरं समयो भवति, जघन्यप्रदेशबन्धज्येष्ठकालस्य तथात्वात् । जिननाम्नश्चत्वारः समयाः, घोलमानयोगिन एव तज्जघन्यप्रदेशबन्धभावात्प्रकृतिबन्धाऽन्तराऽभावाच्च । एवं कापोतलेश्यामार्गणायां केवलं जिननाम्नः प्रस्तुतबन्धस्य गुर्वन्तरं समयो विज्ञेयम् । तेजोलेश्यामार्गणायां सप्तमगुणस्थाने बन्धप्रायोग्यैकत्रिंशद्ध्रुवबन्धिप्रकृतीनां पराघातो-च्छ्वास-बादरत्रिक-जिननामरूपाणां षण्णां तथा मध्यमकषायाऽष्टकस्य च प्रकृतिबन्धाऽन्तराऽभावाज्जघन्यप्रदेशबन्धप्रयुक्तमजघन्यप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टाऽन्तरमपि समयः, आहारकद्विकस्याऽजघन्यप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टाऽन्तरं चत्वारः समयाः, औदारिकशरीरनाम्नः प्रस्तुतबन्धस्याऽन्तरं नास्ति, मतान्तरे पुनः समयः, एवं पद्मलेश्यायां, परमौदारिकद्विकस्याऽन्तरं निषेधनीयम् , मतान्तरे पुनः समयः, तथा त्रसनामपञ्चेन्द्रियजातिनाम्नोः प्रस्तुतबन्धस्य ज्येष्ठाऽन्तरं समयो विज्ञेयम् ।

क्षयोपशमसम्यक्त्वमार्गणायां सप्तमगुणस्थाने बन्धप्रायोग्याणां ज्ञानावरणाद्येकत्रिंशद्ध्रुवबन्धिप्रकृतीनां तथा पुरुषवेद पञ्चेन्द्रियजाति-समचतुरस्रसंस्थान सुखगति-पराघातो-च्छ्वास-जिननामत्रसचतुष्क-सुभगत्रिकोच्चैर्गोत्ररूपाणां पञ्चदशानां प्रकृतिबन्धाऽन्तराऽभावादजघन्यप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टाऽन्तरं जघन्यप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टकालप्रयुक्तं समयप्रमाणं विज्ञेयम् । सम्यग्मिथ्यात्वमार्गणायां सातादिद्वादशप्रकृतिवर्जानां शेषद्वाषष्टिप्रकृतीनामजघन्यप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टाऽन्तरं चत्वारः समयाः । सास्वादनमार्गणायां षट्चत्वारिंशद्ध्रुवबन्धिप्रकृतीनां तथा पञ्चेन्द्रियजातिपराघातोच्छ्वासत्रसचतुष्करूपाणां सप्तानां प्रकृतिबन्धाऽन्तराऽभावाज्जघन्यप्रदेशबन्धोत्कृष्टकालेनाऽजघन्यप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टाऽन्तरं समयो भवति ।

असंज्ञिमार्गणायां सप्तचत्वारिंशद्ध्रुवबन्धिप्रकृतीनां प्रकृतिबन्धाऽन्तराऽभावादजघन्यप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टाऽन्तरं समयो ज्ञातव्यम् , जघन्यप्रदेशबन्धोत्कृष्टकालस्य तावन्मात्रत्वात् । अनाहारकमार्गणायां तु कार्मणमार्गणाया निरूपणाऽवसर एव निरूपितम् । एतास्वेव सप्तचत्वारिंशदुत्तरशतमार्गणासु निर्दिष्टेतरप्रकृतिभ्यो यासामजघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्याऽन्तरं निषिद्धं तासामुत्कृष्टाऽन्तरमपि नाऽस्ति, तद्वर्जशेषाणामजघन्यप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टाऽन्तरमनुत्कृष्टप्रदेशबन्धोत्कृष्टाऽन्तरवद्विज्ञेयं, तच्च तत एवाऽवसातव्यम् , न पुनः प्रदर्श्यते, विशेषाऽभावात् , उभयत्र प्रकृतिबन्धाऽन्तरप्राधान्येन तल्लाभात् ।

तथा मनुष्यौघ-पर्याप्तमनुष्य-मानुषी पञ्चेन्द्रियौघ पर्याप्तपञ्चेन्द्रिय-त्रसौघ-पर्याप्तत्रसकाया-ऽपगतवेद--मति--श्रुताऽवधिमनःपर्यायज्ञानचतुष्क--चक्षुर- चक्षु- रवधिदर्शनत्रय--संयमौघ शुक्ललेश्या-भव्य-सम्यक्त्वौघ क्षायिकौ पशमिकसम्यक्त्व संज्ञ्याहारकरूपासु त्रयोविंशतिमार्गणासु सर्वासामायुर्वर्जबन्धाऽर्हाणामजघन्यप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टाऽन्तरमनुत्कृष्टप्रदेशबन्धोत्कृष्टाऽन्तरवद्विज्ञातव्यम् ,भावनाऽपि तदनुसारेणैव कार्या, केवलं शुक्ललेश्यौ-पशमिकसम्यक्त्व क्षायिकसम्यक्त्वरूपासु तिसृषु मार्गणासु मनुष्यद्विकौ-दारिकद्विकजिननामरूपाणां पञ्चानामजघन्यप्रदेशबन्धजघन्याऽन्तरस्यैव निषिद्धत्वेन तदीयज्येष्ठाऽन्तरस्याऽप्यलाभात्तासां प्रस्तुताऽन्तरं न वक्तव्यं, शेषं तु तद्वदेवेति । तदेवं समाप्तं मार्गणास्वायुर्वर्जकर्मणामजघन्यप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टाऽन्तरम् , समाप्ते च तस्मिन् गता मार्गणास्वायुर्वर्जानां जघन्याजघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्योत्कृष्टभेदेन द्विधान्तरप्ररूपणा ।।४५५ ४५६।।

अथ मार्गणासु बन्धाऽर्हाणामायुषां जघन्याऽजघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्योत्कृष्टभेदेन द्विधाऽन्तरस्य प्ररूपणाऽवसरः, तत्राऽऽदौ जघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्याऽन्तरं दर्शयन्नाह—

सव्वह लहुमाऊणं हस्सपएसस्स जइ भवे सामी ।
घोलणजोगी समयो इहरा समयूणखुड्डभवो ।।४५७।।
णवरि णिरयदेवाऊ विण सियराउस्स अंतरं णत्थि ।
पज्जरहिअतिरिणरचउइंदियकायतिगभेअअमणेसुं ।।४५८।। (गीतिः)
मणुयाउस्स पणिंदियतसदुगकाउरलमीसणपुमेसुं ।
दुअणाणाजयअणयणभवियरमिच्छेसु आहारे ।।४५९।।
ओघव्वाहारदुगे णंतरममराउगस्स णेव भवे ।
तिरियणराऊणं चउकसायअपसत्थलेसासुं ।।४६०।।

(प्रे०) "सव्वहे"त्यादि, मार्गणास्थानेभ्यो यद्यन्मार्गणासु यद्यदायुषो जघन्यप्रदेशबन्धस्य स्वामी घोलमानयोगी भवति तत्तन्मार्गणासु तत्तदायुषो जघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्याऽन्तरं समयो भवति, जघन्यप्रदेशबन्धद्वयाऽन्तराले समयमात्रमजघन्यप्रदेशबन्धस्य प्रवर्तनात् । तथा यासु यासु मार्गणासु यासां यासामायुष्प्रकृतीनां जघन्यप्रदेशबन्धस्वामी घोलमानयोगी न भवति किन्तु लब्ध्यपर्याप्तः क्षुल्लकभवायुष्कः स्वायुषो द्वित्रिभागाऽनन्तरं चरमतृतीयभागप्रथमसमये भवति, तासु तासु मार्गणासु तासामायुष्प्रकृतीनां जघन्यप्रदेशबन्धस्याऽन्तरं समयोनक्षुल्लकभवो विज्ञेयम्, तस्मिन्भवे पुनर्जघन्यप्रदेशबन्धाऽभावाद् द्वितीयभवे च द्वित्रिभागादूर्ध्वं तज्जघन्यप्रदेशबन्धसंभवाच्च । अत्रैवाऽपवादपदानि दर्शयति- "णवरि" इत्यादिना, तिर्यगोघ-पञ्चेन्द्रियतिर्यगोघा ऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्रूपासु तिसृषु तथा- एकेन्द्रियौघ-बादरैकेन्द्रियौघ-सूक्ष्मैकेन्द्रियौघ-बादराऽपर्याप्तैकेन्द्रिय--सूक्ष्माऽपर्याप्तैकेन्द्रियरूपाः पञ्चैकेन्द्रियमार्गणाः, एवं पञ्च पृथ्वीकायमार्गणाः, पञ्चाऽप्कायमार्गणाः, पञ्चसाधारणवनस्पतिकायमार्गणाः, वनस्पतिकायौघ-प्रत्येकवनस्पतिकायौघा -ऽपर्याप्तप्रत्येकवनस्पतिकाय--द्वीन्द्रियौघा-ऽपर्याप्तद्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रियौघा-ऽपर्याप्तत्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रियौघा ऽपर्याप्तचतुरिन्द्रिया ऽसंज्ञिरूपा या मार्गणाः, तासु समुदितासु त्रयस्त्रिंशद्मार्गणासु '**सियराउस्स**' त्ति, स्वेतरायुषः, स्वभिन्नायुषः, वेद्यमानतिर्यगायुष्काद्भिन्नमनुष्यायुषो जघन्यप्रदेशबन्धस्याऽन्तरं नाऽस्ति, सकृत् तद्बन्धाऽनन्तरं तत्स्वामिनो मनुष्येषूत्पादेन मार्गणाया विच्छेदाद्बन्धद्वयाऽधीनं प्रस्तुतान्तरं न प्राप्यते, एवं मनुष्यौघा-ऽपर्याप्तमनुष्यमार्गणयोर्वेद्यमानमनुष्यायुष्काद्भिन्नस्य तिर्यगायुषो जघन्यप्रदेशबन्धस्याऽन्तरं नाऽस्ति, अत्र तिर्यगोघ पञ्चेन्द्रियतिर्यगोघमनुष्यौघा-ऽसंज्ञिरूपासु चतसृषु मार्गणासु देवनरकायुषोर्जघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्याऽन्तरं दर्शितनीत्या समयः, अतो न तदपवादविषयम्, त्रयस्त्रिंशद्मार्गणासु तिर्यगायुषो मनुष्यौघाऽपर्याप्तमनुष्यरूपयोर्द्वयोर्मार्गणयोर्मनुष्यायुषः समयोनक्षुल्लकभवो जघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्याऽन्तरं प्राप्यते निरुक्तहेतुवशादिति । "**मणुयाउस्स**" इत्यादिना द्वितीयमपवादपदमाह-पञ्चेन्द्रियौघापर्याप्तपञ्चेन्द्रियत्रसकायौघापर्याप्तत्रसकाय-काययोगौदारिकमिश्रनपुंसकवेदाज्ञानद्वयाऽयताचक्षुर्दर्शनभव्याभव्यमिथ्यात्वाहारकमार्गणासु मनुष्यायुषो जघन्यान्तरं ओघवत्समयोनक्षुल्लकभवद्वयं भवति, न तु कथितातिदेशानुसारेण समयोनक्षुल्लकभवप्रमाणं तेनापवादस्य कथनम् । कुतः ? इति चेत्, कथ्यते आसु मार्गणासु मनुष्यायुषो जघन्यप्रदेशबन्धस्वामितया मनुष्येतरजीवाः सन्तीति कृत्वा । घटनौघवत्कार्या । प्रस्तुतपञ्चदशमार्गणासु शेषायुषामन्तरं दर्श्यते, तद्यथा—अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियाऽपर्याप्तत्रसौदारिकमिश्रमार्गणासु तिर्यगायुषो जघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्यान्तरं समयोनक्षुल्लकभवप्रमाणं, शेषद्वादशमार्गणास्वपि तिर्यगायुषः प्रस्तुतान्तरमेवमेव, तथा तासु द्वादशसु देवनरकायुषोः प्रस्तुतान्तरं समयप्रमाणं विज्ञेयम् ।

अथ तृतीयमपवादपदमाह—"**वाहारे**"त्यादि, आहारककाययोगा-ऽऽहारकमिश्रकाययोगद्वये

देवायुषो जघन्यप्रदेशबन्धस्याऽन्तरं नाऽस्ति, मार्गणाप्रथमसमय एव तज्जघन्यप्रदेशबन्धस्य भावात्, सुगमं चैतत्। अथ चतुर्थमपवादमाह-"**णेव भवे तिरिणराऊण**"मित्यादि, क्रोध-मानमायालोभरूपासु चतसृषु कषायमार्गणासु तथा कृष्ण-नील-कापोतरूपासु तिसृष्वप्रशस्तलेश्या-मार्गणासु तिर्यग्मनुष्यायुषोर्जघन्यप्रदेशबन्धस्याऽन्तरं नाऽस्ति, निरुक्तसप्तमार्गणास्वेतयोरायुषो-र्जघन्यप्रदेशबन्धस्य लब्ध्यपर्याप्तसूक्ष्मनिगोदस्वामिकत्वात्तस्य चैकस्मिन्नपि भवे प्रस्तुतमार्गणानाम-नेकशः परावर्तनात्। तथा कथितासु सप्तसु मार्गणासु देवनरकायुषोर्जघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्याऽ-न्तरं समयो भवति।

एवं जघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्यान्तरं करणद्वारेणाऽपवादसहितं निरूपितम्, तदेव संक्षेपतः प्रतिमार्गणं बन्धाऽर्हाणामायुषां निरूप्यते, तद्यथा-नरकौघा-ऽऽद्यषड्नरक-देवौघादिसहस्राराऽन्तद्वादश-देववैक्रियकाययोगमार्गणासु एकेन्द्रिय-पृथ्वीकाया-ऽप्काय-साधारणवनस्पतिकायानां सूक्ष्मपर्याप्त-बादरपर्याप्तभेदेषु पर्याप्तप्रत्येकवनस्पतिकाये द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रियाणां पर्याप्तभेदेष्विति द्वात्रिं-शद्मार्गणासु तिर्यग्मनुष्यायुषोः, सप्तमनरकमार्गणायां पर्याप्तसूक्ष्मबादरतेजोवायुकायसत्कमार्गणाचतुष्के च तिर्यगायुषः, आनताद्यष्टादशदेवमार्गणासु मनुष्यायुषः, पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यङ् तिरश्ची-पर्याप्तमनुष्य-मानुषी-पर्याप्तपञ्चेन्द्रिय-पर्याप्तत्रसकाय-पञ्चमनोयोग-पञ्चवचनयोगौ-दारिककाययोग-स्त्रीवेद-पुरुष-वेद विभङ्गज्ञानरूपासु विंशतिमार्गणासु चतुर्णामायुषाम्, ज्ञानत्रिक सम्यक्त्वौघ क्षायिकसम्यक्त्व-क्षयोपशमसम्यक्त्व शुक्ललेश्या-ऽवधिदर्शनरूपास्वष्टासु मार्गणासु देवमनुष्यायुषोः, मनःपर्यवज्ञान-संयमौघ-सामायिकसंयम च्छेदोपस्थापनसंयमपरिहारविशुद्धिसंयम-देशविरतिरूपासु षण्मार्गणासु केवलं देवायुषः, तेजोलेश्या-पद्मलेश्या सास्वादनमार्गणात्रये तिर्यग्मनुष्यदेवायुषां; एवं निरुक्तमार्ग-णासु बन्धाऽर्हाणामायुषां जघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्याऽन्तरं समयो विज्ञेयम्। तथा तिर्यगोघादि-नवपञ्चाशतमार्गणास्वपवादभणनाऽवसर एव शेषायुषोऽपि दर्शितम्, पञ्चतेजस्कायभेदेषु पञ्चवायु-कायेषु च तिर्यगायुषो जघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्याऽन्तरं समयोनक्षुल्लकभवो विज्ञेयम्। संज्ञि-मार्गणायां देवनरकायुषोर्जघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्याऽन्तरं समयः, तिर्यगायुषस्तथैव मनुष्यायुषो-ऽपि तत्समयोनक्षुल्लकभवप्रमाणम्। चक्षुर्दर्शनमार्गणा यदि लब्ध्यपर्याप्तानामप्यङ्गीक्रीयते तर्हि तत्र चतुर्णामप्यायुषां तदन्तरमचक्षुर्दर्शनमार्गणावदन्यथा तु पर्याप्तपञ्चेन्द्रियमार्गणावज्जघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्याऽन्तरं विज्ञेयम् ॥४५७-४६०॥ तदेवं त्रिपष्ट्युत्तरशतमार्गणासु बन्धाऽर्हाणामायुषां जघन्य-प्रदेशबन्धस्य जघन्याऽन्तरं प्रदर्शितम्।

सम्प्रति मार्गणास्वायुषो जघन्यप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टान्तरं प्रदर्शयन्नाह—

सव्वणिरयदेवेसुं सप्पाउग्गाण तिरिणराऊणं।
देसूणा छम्मासा उक्कोसं अंतरं णेयं ॥४६१॥

तिरियाउस्सोघव्व उ तिरियासण्णीसु होइ सेसाणं ।
दोण्हाऊण तिभागो देसूणो पुव्वकोडीए ॥४६२॥
पुव्वाकोडिपुहुत्तं साउस्स पणिंदितिरिणरतिगेसु ।
सेसाऊण तिभागो देसूणो पुव्वकोडीए ॥४६३॥
होइ अपज्जत्तेसु पणिंदियतिरिक्खमणुसेसु ।
सव्वेसु एगिंदियविगलिंदियपञ्चकायेसु ॥४६४॥ (उपगीतिः)
साउस्स होइ जेट्ठा सगसगकायट्ठिई उ देसूणा ।
इयराउस्स तिभागो सगुरुभवठिईअ देसूणो ॥४६५॥
णवरेगिंदियपुहवीदगतेउअणिलणिगोअभेएसु ।
सिं सुहमेसु तह वणे तिरियाउस्स मुण ओघव्व ॥४६६॥
जाणऽत्थि मुहुत्तंतो सिं पणमणवयउरालियदुगेसु ।
विउवचउकसायेसु तिअसुहलेसासु सासाणे ॥४६७॥
तिरियाउगस्स काये ओघव्व णराउगस्स देसूणा ।
गुरुकायठिई दोण्हं सेसाऊणं मुहुत्तंतो ॥४६८॥
तिरियाउस्स णपुंसे ओघव्व सुराउगस्स पुमथीसु ।
णिरयाउस्स तिरिव्व य तीसु वि सेसाण ऊणजेट्ठठिई ॥४६९॥(गीतिः)
मणणाणसंजमेसु समइअछेअपरिहारदेसेसु ।
देवाउस्स तिभागो देसूणो पुव्वकोडीए ॥४७०॥
अण्णाणदुगे अजए अचक्खुभवियेयरेसु मिच्छत्ते ।
ओघव्व जाणियव्वं होइ चउण्हं पि आऊणं ॥४७१॥
विब्भंगे देसूणो कोडितिभागो हवेज्ज पुव्वाणं ।
आऊण चउण्ह परे भणन्ति किण्हव्व विण्णेयं ॥४७२॥
सुहलेसासु तीसु भिन्नमुहुत्तं सुराउगस्स भवे ।
देसूणा छम्मासा सप्पाउग्गाण सेसाणं ॥४७३॥

देसूणा छम्मासा खइए मणुसाउगस्स विण्णेयं ।
देवाउस्स तिभागो देसूणो पुव्वकोडीए ॥४७४॥
सेसासु मग्गणासु सप्पाउग्गाण आउगाणं उ ।
देसूणा उक्कोसा सगसगकायट्ठिई णेयं ॥४७५॥

(प्रे०) "**सव्वणिरये**"त्यादि, गाथापञ्चदशकं मार्गणास्वायुषो जघन्यप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टाऽन्तरप्ररूपणायाम्, तत्राऽष्टनरकमार्गणासु त्रिंशद्देवमार्गणासु च यथासम्भवं स्वबन्धप्रायोग्यतिर्यग्मनुष्यायुषोर्जघन्यप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टाऽन्तरं देशोनषण्मासाः प्रकृतिबन्धाऽन्तरस्याऽपि तथात्वात् । प्रकृतिबन्धाऽन्तरतः प्रस्तुतबन्धाऽन्तरमन्तर्मुहूर्तद्वयेनाभ्यधिकं ज्ञातव्यम्, तच्च समयद्वयाऽधिकजघन्यविश्रामणाद्धया न्यूनषण्मासाः प्रस्तुताऽन्तरं भवति । अत्राऽऽनताद्यष्टादशमार्गणासु केवलं मनुष्यायुषः, सप्तमनरकमार्गणायां केवलं तिर्यगायुषः, शेषैकोनत्रिंशतौ पुनर्द्वयोरायुषोरन्तरं भवतीति ॥४६१॥ '**तिरिये**'त्यादि, तिर्यगोघमार्गणायामसंज्ञिमार्गणायां च तिर्यगायुषो जघन्यप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टाऽन्तरमोघवद्भवति, श्रेण्यसंख्येयभागतोऽधिककायस्थितिकासु मार्गणासु तिर्यगायुषः प्रस्तुतबन्धस्याऽन्तरमोघवद्भवति, तच्चाऽन्तरं श्रेणेरसंख्येयभागमितं मतान्तरेणाऽसंख्येयलोकमितम्, तद्भावना त्वोघवत्त एवाऽवधार्येति । तथैतन्मार्गणाद्वये शेषदेवनरकायुषोर्जघन्यप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टाऽन्तरं पूर्वकोट्या देशोनतृतीयभागस्तद्भवाऽनन्तरं च यथायोगं देवनरकायुर्बन्धकस्य देवनरकेषूत्पादात्प्रस्तुतमार्गणाया विच्छेदस्य भावात्प्रकृतिबन्धाऽन्तरस्यैव तथात्वात्, अत्राऽपि प्रकृतिबन्धाऽन्तरतः प्रस्तुताऽन्तरमन्तर्मुहूर्तद्वयाऽभ्यधिकं ज्ञातव्यम् । मनुष्यायुषस्तु जघन्यप्रदेशबन्धस्याऽन्तरं नाऽस्ति, तच्च जघन्याऽन्तरप्रस्ताव एव निषिद्धमिति ॥४६२॥ '**पुव्वा**' इत्यादि, पञ्चेन्द्रियतिर्यगोघपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यङ्-तिरश्चीलक्षणासु त्रिपञ्चेन्द्रियतिर्यग्मार्गणासु एवं तिसृषु मनुष्यमार्गणासु स्वायुषः स्ववेद्यमानतुल्यनामायुषः तिर्यग्मार्गणात्रिके तिर्यगायुषः, मनुष्यमार्गणात्रिके मनुष्यायुषो जघन्यप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टाऽन्तरं पूर्वकोटिपृथक्त्वम्, युगलिकसम्बन्धिकालस्याप्रवेशात् । मार्गणाषट्के देवनरकायुषोर्जघन्यप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टाऽन्तरं पूर्वकोट्या देशोनतृतीयभागः, भावना तु तिर्यग्गत्योघवत्कार्या । तथा पञ्चेन्द्रियतिर्यगोघे मनुष्यायुषः, मनुष्योघे तिर्यगायुषः प्रस्तुताऽन्तरस्य निषिद्धत्वान्नास्त्यन्तरम् । पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यङ्-तिरश्चीमार्गणयोर्मनुष्यायुषस्तथा पर्याप्तमनुष्यमानुषीमार्गणयोः तिर्यगायुषो जघन्यप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टाऽन्तरं पूर्वकोटेर्देशोनतृतीयभागस्तद्भवाऽनन्तरं प्रस्तुतमार्गणाया विच्छेदात्प्रकृतिबन्धाऽन्तरस्य तथात्वाच्च ॥४६३॥ '**होइ**'इत्यादि, गाथात्रयम्, अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यङ् सूक्ष्मपर्याप्ता ऽपर्याप्तैकेन्द्रिय बादरकेन्द्रियोघ-पर्याप्ताऽपर्याप्तबादरैकेन्द्रियरूपाः पञ्चैकेन्द्रियमार्गणाः, एवं पञ्च पृथ्वीकायमार्गणाः पञ्चाऽप्कायमार्गणाः पञ्च तेजःकायमार्गणाः पञ्चवायु-

कायमार्गणाः पञ्चसाधारणवनस्पतिकायमार्गणा ओघ-पर्याप्ता-ऽपर्याप्तभेदभिन्नास्तिस्रः प्रत्येकवनस्पतिकायमार्गणास्त्रयो द्वीन्द्रियमार्गणाभेदास्त्रयस्त्रीन्द्रियमार्गणाभेदास्त्रयश्चतुरिन्द्रियमार्गणाभेदास्तेषु त्रिचत्वारिंशद्मार्गणाभेदेषु 'स्वायुषः'त्ति, तिर्यगायुषः, अपर्याप्तमनुष्यमार्गणायां मनुष्यायुषश्च जघन्यप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टाऽन्तरं देशोनस्वज्येष्ठकायस्थितिः, मार्गणायाः प्रथमभवे तदनन्तरं मार्गणाप्रान्तेऽन्तर्मुहूर्तात्प्राक् तज्जघन्यप्रदेशबन्धस्य करणात् । तथैकेन्द्रियौघः सूक्ष्मैकेन्द्रियौघस्तथैव पृथ्वीकाया-ऽप्कायतेजःकाय-वायुकाय-साधारणवनस्पतिकायसत्कौ द्वौ द्वौ भेदौ तथा वनस्पतिकायौघ इति त्रयोदशमार्गणाः तासु तिर्यगायुषो जघन्यप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टाऽन्तरमोघवच्छ्रेणेरसंख्येयभागप्रमाणं विज्ञेयम्, यद्वा मतान्तरेणासंख्यलोकप्रमाणमवसेयमिति । तथाऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यङ् ओघ-बादरौघ सूक्ष्मौघा-ऽपर्याप्तबादरा-ऽपर्याप्तसूक्ष्मरूपाः पञ्चैकेन्द्रियमार्गणाभेदाः, पञ्च पृथ्वीकायमार्गणाभेदाः, पञ्चाऽप्कायमार्गणाभेदाः, पञ्च साधारणवनस्पतिकायमार्गणाभेदाः, वनस्पतिकायौघप्रत्येकवनस्पतिकायौघा-ऽपर्याप्तप्रत्येकवनस्पतिकायमार्गणा ओघा ऽपर्याप्तरूपौ द्वौ द्वौ भेदौ द्वीन्द्रियत्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रियमार्गणासत्कौ चेति तासु समुदितासु त्रिंशद्मार्गणासु मनुष्यायुषस्तथाऽपर्याप्तमनुष्यमार्गणाया तिर्यगायुषो जघन्यप्रदेशबन्धस्याऽन्तरं नाऽस्ति जघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्याऽन्तरप्रस्तावे एव तस्य निषिद्धत्वात् । सप्ततेजस्कायमार्गणासु सप्तवायुकायमार्गणास्वितरायुषो बन्धाऽभावादेव न तद्विषया विचारणा। तथा सूक्ष्मपर्याप्त बादरपर्याप्तरूपौ द्वौ द्वौ भेदौ एकेन्द्रिय-पृथ्वीकाया-ऽप्काय-साधारणवनस्पतिकायानां पर्याप्तप्रत्येकवनस्पतिकायपर्याप्तद्वि-त्रि चतुरिन्द्रियाश्चेति समुदिता द्वादशमार्गणास्तासु मनुष्यायुषो जघन्यप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टाऽन्तरं तत्तन्मार्गणाया या ज्येष्ठा भवस्थितिस्तस्यास्तृतीयभागो देशोनः, नरायुर्बन्धकस्य तद्भवाऽनन्तरं तन्मार्गणाया विच्छेदात्, एकभवसत्कायुर्बन्धद्वयाऽन्तरालप्रयुक्तप्रस्तुताऽन्तरस्य तथात्वाच्च ॥४६४-४६६॥ 'जाणे' त्यादि, पञ्चमनोयोगपञ्चवचनयोगौ-दारिककाययोगरूपास्वेकादशमार्गणासु चतुर्णामायुषां, सास्वादनमार्गणायां तिर्यग्मनुष्यदेवायुषाम्, चतस्रः कषायमार्गणास्तिस्रोऽशुभलेश्यामार्गणास्तासु सप्तसु मार्गणासु देवनरकायुषोर्वैक्रियकाययोगमार्गणायामौदारिकमिश्रमार्गणायाश्च तिर्यग्मनुष्यायुषोर्जघन्यप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टाऽन्तरमन्तर्मुहूर्तम्, अशुभलेश्यात्रयमौदारिककाययोगं च मुक्त्वा शेषमार्गणानां कायस्थितेरेवाऽन्तर्मुहूर्तत्वात्, अशुभलेश्यास्वपि देवनरकायुर्बन्धकानां तिर्यग्मनुष्याणां प्रस्तुतलेश्यास्वन्तर्मुहूर्ततोऽधिकमनवस्थानात् । एवमौदारिककाययोगे सूक्ष्माणामसंज्ञिनां च यथार्हं जघन्यप्रदेशबन्धभावात्, तेषां च तस्यान्तर्मुहूर्तप्रमाणत्वात् । अत्र चतुःकषायमार्गणास्वशुभलेश्यात्रये च तिर्यग्मनुष्यायुषोर्जघन्यप्रदेशबन्धाऽन्तरं नाऽस्तीत्यतो 'जाणऽत्थि' इति निरूपितम् ॥४६७। 'तिरियाउगस्से' त्यादि, काययोगमार्गणायां तिर्यगायुषो जघन्यप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टाऽन्तरमोघवच्छ्रेणेरसंख्येयभागप्रमाणम्, मतान्तरेणाऽसंख्यलोकप्रमाणं वा विज्ञेयम्, मनुष्यायुषो देशोनकायस्थितिः,प्रकृतिबन्धाऽन्तरस्याऽपि तथात्वात् प्रकृ-

तिबन्धाऽन्तरवत् सविशेषं भावना विधेया । तथा देवनरकायुषोर्जघन्यप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टाऽन्तरमन्तर्मुहूर्तम् , तद्बन्धकानां काययोगमार्गणाया अन्तर्मुहूर्तमात्रमवस्थानाद् देवनरकायुषोः प्रकृतिबन्धाऽन्तरस्याऽभावेनैकस्यामायुर्बन्धाद्धायां तदन्तरस्य लाभाच्च ॥४६८॥ **'तिरियाउस्से'** त्यादि, नपुंसकवेदमार्गणायां तिर्यगायुषो जघन्यप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टाऽन्तरमोघवद्भवति । नपुंसकवेदमार्गणायां देवायुषः तथा स्त्रीपुरुषवेदमार्गणाद्वये नरकायुषो जघन्यप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टान्तरं पूर्वकोटेर्देशोनतृतीयभागः, तद्भवाऽनन्तरं देवादितत्तद्गतावुत्पादेन प्रस्तुततत्तद्मार्गणाया विच्छेदान्न ततोऽधिकाऽन्तरस्य संभवः, भावना तु सुगमा । नपुंसकवेदमार्गणायां नरकायुषो मनुष्यायुषश्च स्त्रीवेदपुरुषवेदमार्गणाद्वये नरकवर्जायुस्त्रयस्य जघन्यप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टान्तरं देशोनकायस्थितिः, मार्गणाप्रारम्भे प्रान्ते च तद्बन्धमनुसृत्य भावना विधेया ॥४६९॥

'मणे' त्यादि, मनःपर्यवज्ञान-संयमौघ-सामायिकच्छेदोपस्थापनीय-परिहारविशुद्धिसंयम-देशविरतिरूपासु षण्मार्गणासु केवल देवायुरेव बन्धप्रायोग्यं तस्य च जघन्यप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टाऽन्तरं पूर्वकोटेर्देशोनतृतीयभागः प्रकृतिबन्धाऽन्तरस्य तथात्वात् ॥४७०॥

'अण्णाणे' त्यादि, मत्यज्ञान-श्रुताज्ञाना-ऽसंयमा-ऽचक्षुर्दर्शन-भव्या-ऽभव्य मिथ्यात्वरूपासु सप्तसु मार्गणासु चतुर्णामप्यायुषां जघन्यप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टाऽन्तरमोघवद्भवति, तद्यथा–देवनरकमनुष्यायुषामसंख्येयपुद्गलपरावर्ताः, तिर्यगायुषो-ऽसंख्येयलोकाः श्रेण्यसंख्येयभागप्रमितं वा, भावनाऽप्योघानुसारेण विधेया॥४७१॥ विभङ्गज्ञानमार्गणायां चतुर्णामायुषां जघन्यप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टाऽन्तरं पूर्वकोट्या देशोनतृतीयभागस्तत्प्रकृतिबन्धान्तरस्य तथात्वात् । **'परे'** नाम महाबन्धकारा विभङ्गज्ञानमार्गणायां चतुर्णामायुषां जघन्यप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टाऽन्तरं कृष्णलेश्यावद्दर्शयन्ति, तद्यथा–यथा लेश्या तिर्यग्मनुष्याणामुत्कृष्टतोऽन्तर्मुहूर्तमात्राऽवस्थायिनी तथा विभङ्गज्ञानमपि तिर्यग्मनुष्येष्वन्तर्मुहूर्तमात्राऽवस्थानपरम्, यथा वा नारकस्य कृष्णलेश्या भवस्थायिनी तथा विभङ्गज्ञानमपि पर्याप्ताऽवस्थानन्तरं मरणपर्यवसानं यावदवस्थानपरम् , ततो देवनरकायुषोः प्रस्तुतबन्धस्य ज्येष्ठाऽन्तरमन्तर्मुहूर्तम् , तच्च प्रकृतिबन्धाऽन्तराभावाद्विरुद्धबन्धकालप्रयुक्तमवसातव्यम् , तिर्यग्मनुष्यायुषोः प्रस्तुतबन्धस्य गुर्वन्तरं देशोनाः षण्मासाः, देवनैरयिकाणामाकर्षद्वयाऽपेक्षया तदन्तरस्य प्राप्यमाणत्वात् , भावना तु प्रकृतिबन्धाऽन्तरमनुसृत्य विधेया ॥४७२॥ **'सुहलेसासु'** इत्यादि, तेजःपद्मशुक्लरूपासु तिसृषु शुभलेश्यासु देवायुषो जघन्यप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टाऽन्तरमन्तर्मुहूर्तम् , प्रकृतिबन्धाऽन्तराऽभावात्प्रतिपक्षबन्धकालाऽपेक्षयैतावदन्तरस्यैव प्राप्यमाणत्वात् । शेषबन्धप्रायोग्यायुर्जघन्यप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टाऽन्तरं देशोनषण्मासाः, देवानामेव शेषायुर्बन्धकत्वात्तासां चायुर्बन्धज्येष्ठाऽन्तरस्य तथात्वादिति । तत्र तेजोलेश्यापद्मलेश्यामार्गणाद्वये तिर्यग्मनुष्यायुषोः शुक्ललेश्यामार्गणायां मनुष्यायुषः शेषायुष्कत्वेन भावात्तस्य निरुक्ताऽन्तरं बोद्धव्यम् , प्रकृतिबन्धाऽन्तरतः

प्रस्तुताऽन्तरं साधिकं विज्ञेयमिति ॥४७३॥

"देसूणा" इत्यादि, क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणायां मनुष्यायुषो जघन्यप्रदेशबन्धस्य गुर्वऽन्तरं देशोनपण्मासाः, देवनैरयिकाणामेव तज्जघन्यप्रदेशबन्धकत्वात्, पञ्चभविकस्य प्रस्तुतमार्गणाया-मविवक्षणाच्च। देवायुषः पुनः पूर्वकोट्या देशोनतृतीयभागः प्रस्तुतबन्धस्य ज्येष्ठमन्तरं प्राप्यते, प्रस्तुतमार्गणायां देवायुषः प्रकृतिबन्धाऽन्तरस्य तथात्वात्, तच्चैवम्—कश्चित्पूर्वकोट्यायुष्को जन्मप्रभृति साऽतिरेकाऽष्टवर्षाऽतिक्रमाऽनन्तरं सम्यक्त्वविशुद्धिबलाद्विंशतिस्थानकाराधनबलाच्च जिननामकर्म निकाच्य क्षायिकसम्यक्त्वं प्राप्नोति, तस्य चाऽबद्धायुष्कत्वेऽपि क्षायिकसम्यक्त्वलाभाऽनन्तरं क्षपक श्रेण्यारोहस्याऽसंभवः, ततः स स्वायुष्कस्य द्वित्रिभागाऽनन्तरं चरमतृतीयभागप्रथमसमये देवायुर्बन्धं कुर्वन् यदि जघन्यप्रदेशं बध्नाति, यदि च भवप्रान्ते द्वितीयाकर्षेणायुर्बन्धं कुर्वन्नायुर्बन्धचरमसमये देवा-युषो जघन्यप्रदेशं बध्नाति तदा निर्दिष्टमन्तरं प्राप्यत इति ॥४७४॥ एवं षट्चत्वारिंशदधिकशत-मार्गणासु बध्यमानायुषां जघन्यप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टाऽन्तरं प्रदर्शितम्। आहारकतन्मिश्रयोगद्वये प्रस्तुतबन्धाऽन्तराऽभाव इति जघन्याऽन्तरप्रस्ताव एव निरूपितम्। "सेसासु" इत्यादि, शेषासु पञ्च-दशमार्गणासु बन्धाऽर्हाणामायुषां जघन्यप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टाऽन्तरं देशोनकायस्थितिप्रमाणं विज्ञेयम्, मार्गणाप्रारम्भे प्रान्ते च तज्जघन्यप्रदेशबन्धस्य सम्भवात्। तत्र पञ्चेन्द्रियौघ-पर्याप्तपञ्चेन्द्रिय-त्रसौघ पर्याप्तत्रस चक्षुर्दर्शन संज्ञ्याहारिरूपासु सप्तसु मार्गणासु चतुर्णामायुषाम्, अपर्याप्तपञ्चेन्द्रिया-ऽपर्याप्तत्रसकायमार्गणाद्वये तिर्यग्मनुष्यायुषोः, ज्ञानत्रिका-ऽवधिदर्शन-सम्यक्त्वौघ-क्षयोपशमसम्य-क्त्वरूपासु षण्मार्गणासु देवमनुष्यायुषोः प्रस्तुताऽन्तरं देशोनस्वज्येष्ठकायस्थितिप्रमाणं ज्ञातव्यम्। एवं मार्गणास्वायुषां जघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्योत्कृष्टभेदतो द्विविधमन्तरं निरूपितम् ॥४७५॥

अथ तास्वेवायुषामजघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्योत्कृष्टाऽन्तरं दर्शयति—

णाउस्साहारदुगे अलहुपएसस्स तिरिणराऊणं।
णत्थि कसायेसु लहुं सव्वह समयो सिमाऊणं ॥४७६॥
जेसिं घोलणजोगी भिन्नमुहुत्तमियराण लहुमियरं।
अगुरुपएसव्व णवरि दुखणा जहि जाए तहि चउखणा सिं ॥४७७॥ (गीतिः)

(प्रे०) "णाउस्से" त्यादि, आहारककाययोगतन्मिश्रकाययोगमार्गणाद्वये बन्धार्हस्य देवायुषो-ऽजघन्यप्रदेशबन्धस्याऽन्तरं नास्ति, प्रकृतिबन्धाऽन्तराऽभावात्, मार्गणाप्रथमसमय एव जघन्य-प्रदेशबन्धस्य लाभान्न जघन्यप्रदेशबन्धप्रयुक्तमपि तत् प्राप्यते। कषायमार्गणाचतुष्के तिर्यग्मनुष्यायु-षोरजघन्यप्रदेशबन्धस्यान्तरं नास्ति, जघन्यप्रदेशबन्धप्रयुक्तस्य प्रकृतिबन्धान्तरप्रयुक्तस्य चाभावात्। शेषास्वेकषट्युत्तरशतमार्गणासु येषामायुषां जघन्यप्रदेशबन्धको घोलमानयोगी-परावर्तमानजघन्य-

योगी भवति तेषामायुषामजघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्याऽन्तरं समयो भवति, अजघन्यप्रदेशबन्ध-द्वयान्तराले समयमेकं जघन्यप्रदेशबन्धस्य लाभात्, येषामायुषां जघन्यप्रदेशबन्धको घोल मानयोगी न भवति तेषामायुषां प्रस्तुतबन्धस्य लघ्वन्तरमन्तर्मुहूर्तप्रमाणम्, प्रस्तुतान्तरस्य जघन्यप्रदेशबन्धकालप्रयुक्ताभावेन प्रकृतिबन्धाऽन्तरप्रयुक्तत्वात्तस्य च जघन्यतोऽप्यन्तर्मुहूर्त-प्रमाणत्वादिति । आयुषां जघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्याऽन्तरप्रस्तावे यासु मार्गणासु यद्यदायुषां जघ-न्यप्रदेशबन्धस्य जघन्याऽन्तरं समयप्रमाणं निरूपितम्, तासु मार्गणासु तत्तदायुषामजघन्यप्रदेशबन्ध-स्य जघन्याऽन्तरं समयप्रमाणं भवति, तच्च तत एवाऽवधार्यम् । तथा यासु मार्गणासु येषां येषामायुषां जघन्यप्रदेशबन्धस्याऽन्तरं निषिद्धं यद्वा समयोनक्षुल्लकभवप्रमाणादिनिर्दिष्टं तासु मार्गणासु तेषा-मायुषामजघन्यप्रदेशबन्धस्य जघन्याऽन्तरमन्तर्मुहूर्तप्रमाणम्, एतच्च क्षुल्लकभवतो संख्यातगुणहीनं विज्ञेयमिति ।

अजघन्यप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टमन्तरमनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टाऽन्तरवद्विज्ञेयम्, तदपि प्रकृति-बन्धाऽन्तराऽनुसारेण प्राप्यते । यासु मार्गणासु यद्यदायुषां प्रकृतिबन्धाऽभावादनुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्यो-त्कृष्टाऽन्तरमुत्कृष्टप्रदेशबन्धोत्कृष्टकालप्रयुक्तं समयद्वयं प्राप्यते, तासु मार्गणासु तत्तदायुषां प्रकृतिबन्धा-ऽन्तराऽभावादजघन्यप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टाऽन्तरं चत्वारः समया विज्ञेयम्, तद्यथा–पञ्चमनोयोग-पञ्चवचनयोग-वैक्रियकाययोग-कषायचतुष्क-सास्वादनमार्गणासु बन्धाऽर्हाणामायुषां प्रकृतिबन्धा-ऽन्तराऽभावाज्जघन्यप्रदेशबन्धोत्कृष्टकालप्रयुक्तं चत्वारः समया अजघन्यप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टाऽन्तरं प्राप्यते, नवरं कषायचतुष्के तिर्यग्मनुष्यायुषोरन्तरं नास्ति तच्च मूले दर्शितम्, एवमौदा-रिककाययोगमार्गणायां तिसृष्वशुभलेश्यामार्गणासु देवनरकायुषोस्तिसृषु शुभलेश्यामार्गणासु देवा-युषोऽजघन्यप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टाऽन्तरं चत्वारः समया विज्ञेयम् । उक्तमार्गणासप्तके शेषायुषां शेषासु मार्गणासु बन्धाऽर्हाणां सर्वासामायुषामजघन्यप्रदेशबन्धस्योत्कृष्टाऽन्तरस्याऽनुत्कृष्टप्रदेशबन्धोत्कृष्टा-ऽन्तरवद्भावात्तत एवाऽवधार्यम्, न पुनर्दर्श्यत इति । एवं समाप्तं मार्गणास्वायुषां जघन्याऽजघन्य-प्रदेशबन्धस्य जघन्योत्कृष्टाभ्यामन्तरं तत्समाप्तौ च समाप्तमन्तरद्वारम् ।।४७६-४७७।।

इति श्रीप्रेमप्रभाटीकासमलङ्कृते बन्धविधाने उत्तरप्रकृतिप्रदेशबन्धे प्रथमाधिकारे एकजीवाश्रित षष्ठमन्तरद्वारं समाप्तम् ॥



॥ सप्तमं सन्निकर्षद्वारम् ॥

अथ सन्निकर्षद्वारस्य प्ररूपणाया अवसरः, सन्निकर्षो नाम सम्बन्धः, स च द्विविधः स्वस्थान-परस्थानभेदेन, तत्र स्वस्थानसन्निकर्षो नाम एकैकमूलप्रकृत्यभिन्नोत्तरप्रकृतीनामुत्कृष्टादिप्रदेशबन्धस्य प्रधानीकृतप्रकृतेरुत्कृष्टादिप्रदेशबन्धेन सह सम्बन्धस्याऽन्वेषणम् ,तथा परस्थानसन्निकर्षो नाम प्रधानीकृतैकैकप्रकृतेरुत्कृष्टादिप्रदेशबन्धेन सह तदितरासां सर्वासां बन्धार्हप्रकृतीनामुत्कृष्टादिप्रदेशबन्धानां सम्बन्धस्यान्वेषणम् , स्वस्थान-परस्थानभेदेन द्विविधोऽपि सन्निकर्ष उत्कृष्टप्रदेशबन्धविषयको जघन्यप्रदेशबन्धविषयकश्चेति । यस्मिन् विवक्षितमतिज्ञानावरणाद्येकस्य कर्मण उत्कृष्टप्रदेशबन्धं कुर्वन् तदितरश्रुतज्ञानावरणादिकर्मणां ज्येष्ठप्रदेशबन्धं विदधाति, उताऽनुत्कृष्टम् ? यद्यनुत्कृष्टम् ? तर्हि कियन्तं न्यूनम् ? किमनन्तभागहीनं वा असंख्येयभागहीनं वा संख्येयभागहीनं वा संख्येयगुणहीनं वा असंख्येयगुणहीनं वा बध्नातीति, एवं सर्वमूलप्रकृत्यभिन्नोत्तरप्रकृतीनां सर्वोत्तरप्रकृतीनां च प्रत्येकं ज्येष्ठप्रदेशबन्धं प्रधानीकृत्य तदितरकर्मणां बध्यमानप्रदेशानामुत्कृष्टादिभेदभिन्नत्वं निरूपणीयं भवति, स ज्येष्ठप्रदेशबन्धसन्निकर्षः, एवं जघन्यप्रदेशबन्धसन्निकर्षोऽपि वाच्यः, नवरं ज्ञानावरणाद्येकैकस्य जघन्यप्रदेशं बध्नन् तदितरेषां किं जघन्यप्रदेशं बध्नाति उता-ऽजघन्यम् ? यद्यजघन्यं तर्हि किमनन्तभागाधिकमुताऽसंख्येयभागाद्यधिकमित्यादिकं वक्तव्यम् । तत्र प्रथमं स्वस्थानोत्कृष्टप्रदेशबन्धसन्निकर्षः, तत स्वस्थानजघन्यप्रदेशबन्धसन्निकर्षः, तदनु परस्थानोत्कृष्टप्रदेशबन्धसन्निकर्षः, पश्चात् परस्थानजघन्यप्रदेशबन्धसन्निकर्षो निरूपणीयः । एतत्क्रमेण, स्वस्थानोत्कृष्टप्रदेशबन्धसन्निकर्षं निरूपयन्नादौ तावदोघतःप्ररूपयितुकामो ज्ञानावरणसत्कमन्तरायसत्कं च तं प्राह—

एगस्स गुरुपएस णाणावरणपणगाउ बंधतो । बंधइ णियमाऽण्णेसिं चउण्ह एमेव विग्घाणं ॥४७८॥

(प्रे०) "एगस्से"त्यादि, ज्ञानावरणस्य पञ्चोत्तरप्रकृतिष्वन्यतमस्या एकस्या ज्येष्ठप्रदेशं बध्नन् शेषाणां चतुर्णां ज्ञानावरणानां नियमतो बन्धको भवति, प्रदेशमपि तासां ज्येष्ठमेव बध्नाति, सूक्ष्मसंपरायं यावत्पञ्चानां निरन्तरं बध्यमानत्वात् , पञ्चानामुत्कृष्टप्रदेशबन्धकानां तुल्यत्वेनैकस्य ज्येष्ठप्रदेशबन्धकाले शेषाणां चतुर्णां ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्यैव भावात् । यथा एकस्या निरूपितस्तथा शेषचतुर्ज्ञानावरणप्रकृतीनामपि निरूपणीयः । यथा ज्ञानावरणस्य दर्शितस्तथा-ऽन्तरायस्याऽपि वक्तव्यः, तद्यथा—अन्तरायसत्कपञ्चोत्तरप्रकृतिष्वन्यतमस्या एकस्या ज्येष्ठप्रदेशबन्धकः शेषचतुरन्तरायप्रकृतीर्नियमतो बध्नाति, प्रदेशं तु तासामुत्कृष्टपदगतमेव बध्नाति, युगपदेव ज्ञानावरणवदासां पञ्चानां ज्येष्ठप्रदेशबन्धभावात् । यथा एकस्याऽन्तरायकर्मणो दर्शितस्तथा शेषचतुरन्तरायकर्मणामपि द्रष्टव्यः ॥४७८॥ अथौघतो वेदनीयायुर्गोत्रकर्मणां स्वस्थानसन्निकर्षं निरूपयन्नादेशतश्च ज्ञानावरणान्तरायवेदनीयायुर्गोत्रकर्मणां सर्वमार्गणास्वतिदिशन्नाह—

तइअस्स बंधमाणो एगं बंधइ ण चेव पडिवक्खं । एव गोआऊणं पचण्हेमेव सव्वासु ॥४७९॥

(प्रे०) "तइअस्स" इत्यादि, तृतीयस्य वेदनीयकर्मण एकां प्रकृतिं बध्नताऽन्या प्रकृतिर्न बध्यते, कस्यचिदपि जीवस्य सातवेदनीयं बध्नतोऽसातवेदनीयस्य बन्धाऽभावात्, असातवेदनीयं बध्नतः सातवेदनीयस्य बन्धाभावात् । एवं निषेधरूपसन्निकर्षो वाच्यः । यथा वेदनीयस्य सन्निकर्षस्य निषेधस्तथा गोत्रकर्मण आयुकर्मणोऽपि ज्ञातव्यः । तयोरपि वेदनीयकर्मवदेकदा एकस्यैव कर्मणो बध्यमानत्वात् । एवं पञ्चकर्मसत्कं स्वस्थानसन्निकर्षमोघतो निरूप्य आदेशतस्तत्तुल्यत्वादतिदेशेन प्राह 'पंचण्हेमेव सव्वासु' ज्ञानावरणान्तरायवेदनीयगोत्रकर्मणां सप्ततिशतमार्गणासु तथा आयुष्कर्मणः त्रिषष्ट्युत्तरशतमार्गणासु यथौघतः सन्निकर्षप्ररूपणा कृता तथैव निरुक्तमार्गणास्वपि ज्ञातव्या, त्रयाणां सन्निकर्षस्याऽभावाद्द्वयस्यैकैकबन्धस्थानस्य लाभेन युगपदेव पञ्चानां पञ्चानां ज्येष्ठप्रदेशबन्धकत्वात् । सुगमं चैतत् ।।४७९।।

अथ दर्शनावरणस्य स्वस्थानोत्कृष्टप्रदेशबन्धसन्निकर्षं निरूपयति—

एगस्स गुरुपएसं थीणद्धितिगाउ बंधमाणो उ । सेसाण दोण्ह नियमा बवेइ पएसमुक्कोसं ।।४८०।।
णिद्दादुग बंधइ णियमाहिन्तोऽणतभागूण । बन्धइ चेव चउण्हं सेसाण सखभागूण ।।४८१।।
णिद्ददुगा बधतो गुरुमेगस्स इयरस्स णियमाओ । जेट्ठं थीणद्धितिग ण चउण्हं सखभागूण ।।४८२।।
चउबीआवरणाओ बधतो गुरुपएसमेगस्स । सेसाण तिण्ह णियमा जेट्ठं बधइ ण पणणिद्दा ।।४८३।।

(प्रे०) "एगस्से"त्यादि, स्त्यानर्द्धित्रिकादेकस्या ज्येष्ठप्रदेशबन्धकः शेषयोर्द्वयोर्ज्येष्ठमेव प्रदेशं बध्नाति, तुल्यस्वामिकत्वेन तिसृणां युगपदेव ज्येष्ठप्रदेशबन्धभावात् बन्धस्तु नियमतो विज्ञेयः । निद्राद्विकस्य तु ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्य चतुर्थादिगुणस्थानगतानामेव भावात् प्रथमगुणस्थाने निद्राद्विकस्य ज्येष्ठप्रदेशबन्धो न भवति, किन्त्वनुत्कृष्ट एव, सोऽप्युत्कृष्टतोऽनन्तभागमात्रहीनः, मिथ्यात्ववर्जसर्वघातिप्रकृतीनां बन्धविच्छेदे तत्सत्कदलिकस्याऽनन्तबहुभागदलिकं देशघातिषु व्रजति, एकानन्ततमभागमात्रं शेषबध्यमानसजातीयसर्वघातिप्रकृतिषु लभ्यतेऽतः स्त्यानर्द्धित्रिकस्य बन्धविच्छेदे तत्सत्काऽनन्तभागदलिकस्य लाभात् प्रथमगुणस्थानतश्चतुर्थगुणस्थाने जीवो निद्राद्विकस्याऽनन्तभागाधिकं दलिकं बध्नाति । स्त्यानर्द्धित्रिकज्येष्ठप्रदेशबन्धकाले निद्राद्विकस्य स्वज्येष्ठप्रदेशबन्धतोऽनन्तभागहीनं दलिकं बध्नाति । तस्य च ध्रुवबन्धित्वान्नियमेन बन्धो भवति । तथा दर्शनावरणचतुष्कस्य चक्षुरचक्षुरवधिकेवलदर्शनरूपस्य ज्येष्ठप्रदेशबन्धो दशमगुणस्थाने प्राप्यते तत्र च मोहनीयस्य बन्धविच्छेदात्तत्सत्कदलस्य लाभात्, प्रथमादिगुणस्थाने तस्याऽलाभात् तत्र स्वज्येष्ठप्रदेशबन्धगतदलिकतः संख्येयभागहीनमेव दलिकं स्त्यानर्द्धित्रिकज्येष्ठप्रदेशबन्धकाले बध्नाति, नियमबन्धस्तु सुगमः ।।४८०-४८१।।

निद्राप्रचलाप्रकृतिभ्यामेकस्या ज्येष्ठप्रदेशबन्धकः तदितरस्या ज्येष्ठमेव प्रदेशं बध्नाति,

तुल्यस्वामिकत्वेन युगपदेव तज्ज्येष्ठप्रदेशबन्धभावात्, प्रकृतिबन्धोऽपि तस्य नियमेन विज्ञेयः। स्त्यानर्द्धित्रिकस्य बन्ध एव न भवति। चक्षुर्दर्शनावरणादिचतुष्कस्य तु प्रागुक्तसंख्येयभागहीनं नियमाच्च बध्नाति। सुगमं चेदम् ॥४८२॥

चतुर्षु दर्शनावरणेष्वन्यतमस्य ज्येष्ठं प्रदेशं बध्नन् शेषाणां त्रयाणां नियमतो बन्धको भवति, प्रदेशमपि तेषां ज्येष्ठमेव बध्नाति, दशमगुणस्थाने चतुर्णां ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्वामिनामैक्यात् युगपदेवामीषां ज्येष्ठप्रदेशबन्धभावात्। निद्रापञ्चकं त्वत्र नैव बध्नाति अतः प्रागेव तद्बन्धविच्छेदात् ॥४८३॥ अथ दर्शनावरणस्यैव स्वस्थानोत्कृष्टप्रदेशबन्धसन्निकर्षमादेशतः प्रदर्शयन्नाह—

तिणरदुपणिदितसपणमणवयकायुरलल्लोहचक्खूसु। अणयणसुक्कासु तहा भविये सण्णिम्मि आहारे॥४८४॥
चउणाणसंजमावहिसम्मखइअउवसमेसु ओघव्व। जेट्ठपएसस्स भवे सप्पाउग्गाण वीअस्स ॥४८५॥
एगस्स गुरुपएसं थीणद्धितिगाउ बंधमाणो उ। सव्वणिरयभेएसुं तिरिये तिपणिंदितिरियेसुं। ४८६।
सुरभेविज्जतेसुं वेउव्वियदुगउरालमीसेसुं। कम्मणअसंजमेसु पणलेसासुं अणाहारे ॥४८७॥
जेट्ठं चेव पएसं दोण्ह पयडीण बंधए णियमा। सेसाण छण्ह णियमा बंधेइ अणंतभागूणं ॥४८८॥
थीणद्धितिगं वज्जिअ बंधंतो गुरुपएसमेगस्स। ण च्चिअ थीणद्धितिगं जेट्ठं च्चिअ सेसपंचण्हं ॥४८९॥
वेअकसायतिगेसु थीणद्धितिगाउ जेट्ठमेगस्स। बंधंतो दोण्ह गुरुं णियमा छण्ह अणंतभागूणं ॥४९०॥
(गीतिः)

बंधंतो निद्ददुगा गुरुमेगस्स णियमेयरस्स गुरुं। चउबीआवरणाण णियमाउ अणंतभागूणं ।४९१॥
चउबीआवरणाओ बंधंतो गुरुपएसमेगस्स। सेसाण तिण्ह णियमा बंधेइ पएसमुक्कोसं ॥४९२॥
समइअछेएसु गुरुबंधी णिद्दादुगाउ एगस्स। इयरस्स गुरुं णियमा चउण्ह तु अणंतभागूणं ॥४९३॥
चउबीआवरणाओ बंधंतो गुरुपएसमेगस्स। णियमाऽण्णतिगस्स गुरुं बंधइ णो चेव णिद्ददुगं ॥४९४॥
सेसासु मग्गणासुं बंधंतो गुरुपएसमेगस्स। सप्पाउग्गाहिन्तो णियमाऽण्णेसिं गुरुं चेव ॥४९५॥

(प्रे०) "तिणरे" त्यादि, द्वादशगाथाभिर्मार्गणासु दर्शनावरणस्य स्वस्थानोत्कृष्टप्रदेशबन्धसंनिकर्षो दर्शितस्तत्र आद्यगाथाद्वयेन मनुष्यगत्यादिमार्गणास्वोघवदतिदेशस्तत्र मनुष्यगत्यादिषड्विंशतिमार्गणासु दर्शनावरणस्य बन्धस्थानत्रयस्य भावात्प्रथमादिदशमान्तगुणस्थानस्य च सद्भावात्तत्र सर्वाऽपि भावना ओघवदेव विज्ञेया। तथा मतिज्ञानश्रुतज्ञानाऽवधिज्ञानमनःपर्यवज्ञानाऽवधिदर्शनसंयमौघसम्यक्त्वौघक्षायिकसम्यक्त्वौपशमिकसम्यक्त्वरूपासु नवसु मार्गणासु स्वप्रायोग्याणां ज्येष्ठप्रदेशबन्धसंन्निकर्ष ओघवद्भवति। अत्र स्त्यानर्द्धित्रिकस्य बन्धाऽभावाद् दर्शनावरणषट्कस्यैव बन्धलाभात्तद्विषयकसन्निकर्ष ओघवद्विज्ञेयः, स्त्यानर्द्धित्रिकविषयकः सन्निकर्षो नैव वाच्य इति।

अथ यासु मार्गणासु दर्शनावरणस्य चतुष्प्रकृत्यात्मकं बन्धस्थानं न लभ्यते, केवलं नवप्रकृत्यात्मकं षट्प्रकृत्यात्मकञ्च बन्धस्थानद्वयं लभ्यते, तासु तृतीयाद्यार्याचतुष्केण दर्शयति—नरकगतिसत्काऽष्टभेदाः, तिर्यगोघः, त्रयः पञ्चेन्द्रियतिर्यग्भेदाः, देवौघः, भवनपत्यादिनवमग्रैवेयकपर्यन्ता-

श्चतुर्विंशतिदेवभेदाश्च, वैक्रिय-वैक्रियमिश्रकाययोगौ दारिकमिश्रयोग कार्मणकाययोगाः, असंयमः, शुक्लवर्जपञ्चलेश्यामार्गणाः, अनाहारकमार्गणा चेत्यष्टचत्वारिंशद्मार्गणाः, तासु स्त्यानर्द्धित्रिकादेक तमस्या ज्येष्ठप्रदेशं बध्नन् शेषयोर्द्वयोर्ज्येष्ठमेव प्रदेशं बध्नाति, ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्य तुल्यस्वामित्वाद् युगपदेव लाभाच्च । शेषाणां दर्शनावरणचतुष्कनिद्राद्विकरूपाणां षण्णां नियमतो बन्धो भवति, स चोत्कृष्टतोऽनन्तभागहीनः; अत्र दर्शनावरणचतुष्कस्य ज्येष्ठप्रदेशबन्धो निद्राद्विकेन सहैव भावात्तत्र च मोहनीयस्य नियमेन बध्यमानत्वेन तत्सत्कदलस्याऽलाभात् तस्य नौघवत्संख्येयभागन्यूनत्वं किन्तु निद्राद्विकवदनन्तभागन्यूनत्वम् , अत एव च तस्य निद्राद्विकज्येष्ठप्रदेशबन्धकाले दर्शनावरणचतुष्कस्य, दर्शनावरणचतुष्कस्य ज्येष्ठप्रदेशबन्धकाले निद्राद्विकस्य च उत्कृष्ट एव प्रदेशबन्धो भवति, स्त्यानर्द्धित्रिकं च स नैव बध्नाति, एतच्च षष्ठगाथया दर्शितम् तद्यथा-स्त्यानर्द्धित्रिकवर्जिताभ्यः शेषषट्प्रकृतिभ्यः कस्या अप्येकस्या ज्येष्ठप्रदेशबन्धं कुर्वन् शेषाणां पञ्चानां नियमतो बन्धो भवति प्रदेशश्चोत्कृष्टमेव बध्नाति, स्त्यानर्द्धित्रिकं तु नैव बध्नातीति, भावार्थस्तु गतार्थः ।

अथ सप्तमाद्यार्यात्रयेण वेदत्रय क्रोधादिकषायत्रयरूपासु षण्मार्गणासु प्रस्तुतं दर्शयति–''**वेअकसायतिगेसु**''मित्यादि, अत्र मार्गणाषट्के सूक्ष्मसंपरायगुणस्थानाऽभावाद् मोहनीयकर्मणोऽबन्धो न लभ्यतेऽतः प्रस्तुतमार्गणासु बन्धस्थानत्रयस्य लाभेऽपि निद्रापञ्चकबन्धकाले न दर्शनावरणचतुष्कस्य सङ्ख्येयभागोनत्व प्राप्यते, किन्तु तस्याऽनन्तभागोनत्वमेव, शेषसन्निकर्षस्त्वोघवद् ज्ञेय इति । तद्यथा–स्त्यानर्द्धित्रिकादेकस्या उत्कृष्टप्रदेशबन्धं कुर्वन् शेषद्वय नियमतो बध्नाति, प्रदेशं तु तयोरुत्कृष्टमेव बध्नाति, शेषाणां षण्णां बन्धो नियमतो भवति, प्रदेशबन्धं त्वनुत्कृष्टम् , उत्कृष्टतो ऽनन्तभागहीनं करोति । तथा निद्राप्रचलाभ्यामेकस्या ज्येष्ठप्रदेशबन्धकोऽन्यस्या अपि ज्येष्ठमेव प्रदेशं बध्नाति, चतुश्चक्षुर्दर्शनावरणादिप्रकृतीनां नियमतोऽनन्तभागहीनं च बध्नाति; स्त्यानर्द्धित्रिकं तु नैव बध्नाति । दर्शनावरणचतुष्कादेकस्या ज्येष्ठप्रदेशबन्ध कुर्वन् शेषदर्शनावरणत्रयस्य नियमतो ज्येष्ठप्रदेशं च बध्नाति निद्रापञ्चकं नैव बध्नातीति मूलेऽनुक्तमपि व्याख्यानतो ज्ञेयम् ।

अथ सामायिकच्छेदोपस्थापनीयमार्गणयोर्यत्र षट्चतुष्प्रकृत्यात्मकबन्धस्थानद्वयं सूक्ष्मसंपरायगुणस्थानकस्याऽभावश्च तत्र प्रस्तुतसन्निकर्षं दर्शयति–''**समइअ**'' इत्यादि, गाथाद्वयम् , अत्र बन्धार्हा दर्शनावरणस्य षट् प्रकृतयः, तत्र निद्राप्रचलाभ्यामेकस्या ज्येष्ठप्रदेशबन्धकोऽन्यस्याज्येष्ठमेव प्रदेशं बध्नाति, शेषाणां चतुर्णां नियमतोऽनन्तभागहीन च बन्धं करोति । दर्शनावरणचतुष्कादेकस्य ज्येष्ठप्रदेशबन्धं कुर्वन् शेषदर्शनावरणत्रयस्य नियमतो ज्येष्ठप्रदेशं च बध्नाति, निद्राद्विकं नैव बध्नाति । भावना तु वेदत्रिकवद्यथासंभवं विधेयेति ।

एवमेकादशगाथाभिर्यासु दर्शनावरणस्य द्वे त्रीणि वा बन्धस्थानानि तासु ज्येष्ठप्रदेशबन्ध-

स्य स्वस्थानसन्निकर्षं निरूप्य अथ यासु केवलमेकस्यैव बन्धस्थानस्य सद्भावस्तासु तद् दर्शयति— "**सेसासु**" इत्यादि, शेषमार्गणासु प्रत्येकं स्व-स्वमार्गणायां बन्धप्रायोग्यदर्शनावरणसत्कोत्तरप्रकृतिभ्य एकस्या ज्येष्ठप्रदेशं बध्नन् शेषाणां सर्वासां बन्धप्रायोग्याणां ज्येष्ठमेव प्रदेशं बध्नाति, एतास्वेकैकस्यैव बन्धस्थानस्य भावेन बन्धार्हाणां सर्वासां युगपदेव ज्येष्ठप्रदेशबन्धसम्भवात् । शेषमार्गणा नामतः पुनरिमाः—अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यगपर्याप्तमनुष्यपश्चाऽनुत्तरसप्तैकेन्द्रियनवविकलाक्षाऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रियपृथ्व्यादिपञ्चकायसत्कैकोनचत्वारिंशद्भेदा-ऽपर्याप्तत्रसकायाहारकाहारकमिश्राऽ-पगतवेदाज्ञानत्रिकपरिहारसंयमसूक्ष्मसंपरायदेशविरताऽभव्यसम्यग्मिथ्यात्वसास्वादन मिथ्यात्व-क्षयोपशमसम्यक्त्वा-ऽसंज्ञिरूपा नवसप्ततिः ॥४८४-४९५॥

अथ मोहनीयसत्कं स्वस्थानोत्कृष्टप्रदेशबन्धसन्निकर्षमोघतः प्रदर्शयन्नाह—

मिच्छस्स जेट्ठबंधी णियमा बंधेइ चउअणाण गुरु । मज्झकसायऽट्ठगभयकुच्छाण अणंतभागूण ॥
कोहमयदुसेसाण संजलणेसु कमसो दुभागूणं । अहियदिवड्ढसूण संखगुणूण कुणइ णियमा ॥
थीणपुमाणं बंधइ सिआ पएसं गुरुं तु पुरिसस्स । सखगुणूणं दोण्ह जुगलाण अणंतभागूणं ॥
एमेव सण्णियासो पढमकसायचउगस्स एमेव । थीणपुमाण णवरि ण बंधइ पडिवक्खवेअदुगं ॥४९६-४९९॥

(प्रे०) "**मिच्छस्से**"त्यादि, मिथ्यात्वमोहनोयस्य गुरुप्रदेशबन्धकोऽनन्तानुबन्धिचतुष्कस्य बन्धं नियमतः करोति, प्रदेशमपि तस्योत्कृष्टमेव बध्नाति, पञ्चानामपि ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्वामित्वस्य तुल्यत्वात् ,सर्वत्रासां पञ्चानां युगपदेव ज्येष्ठप्रदेशबन्धो लभ्यतेऽतोऽनन्तानुबन्धिप्रधानसन्निकर्षेऽपि मिथ्यात्वस्य नियमेन ज्येष्ठश्च प्रदेशबन्धो वक्तव्यः । प्रत्याख्यानावरणकषायचतुष्काऽप्रत्याख्यानावरणकषायचतुष्करूपाणामष्टमध्यमकषायाणां तथा भयजुगुप्सयोश्च ध्रुवबन्धित्वात्तासां नियमतो बन्धको भवति प्रदेशं तु ज्येष्ठप्रदेशबन्धाऽपेक्षयाऽनन्तभागहीनं बध्नाति, यतः सर्वघातिप्रकृतीनां बन्धविच्छेदे तत्सत्कदलिकादनन्तबहुभागप्रमाण दलिकं देशघातिप्रकृतिषु प्राप्यते तच्च देशघातिप्रकृतिसत्कदलस्याऽनन्ततमभागतुल्यम् , अतः सर्वघातिप्रकृतीनां बन्धविच्छेदे देशघातिप्रकृतीनां सर्वघातिप्रकृतीनां वाऽनन्ततमभागप्रमाणैव वृद्धिर्भवति । तत्र मिथ्यात्वसत्कं दलं मिथ्यात्वस्य बन्धाऽभावे बध्यमानेषु कषायेषु नोकषायेषु च प्राप्यते, कषायसत्कं दलं पुनः स्वबन्धविच्छेदे शेषबध्यमानकषायेष्वेव व्रजति, अतः प्रस्तुतेऽप्रत्याख्यानावरणस्य ज्येष्ठप्रदेशबन्धश्चतुर्थगुणस्थानगतस्य भवति, तत्र मिथ्यात्वाऽनन्तानुबन्धिसत्कदलस्याऽनन्ततमभागप्रमाणस्य लाभादेवं प्रत्याख्यानावरणचतुष्के मिथ्यात्वाऽनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानावरणदलस्य लाभात् पञ्चमगुणस्थानके तस्य ज्येष्ठप्रदेशबन्धः प्राप्यते, स ज्येष्ठप्रदेशबन्धः प्रथमगुणस्थाने मिथ्यात्वाऽनन्तानुबन्धिज्येष्ठप्रदेशबन्धकाले बध्यमानान्मध्यमकषायाष्टकप्रदेशपरिमाणतोऽनन्तभागाधिको भवति, ततः प्रस्तुते तेषामनन्तभागहीनमेव ज्येष्ठं बध्नाति । भयजुगुप्सयोस्तु कषायसत्कदलस्यालाभेन मिथ्यात्वसत्क-

दलस्य तद्बन्धविच्छेदे एव लाभेन च प्रथमगुणस्थानतश्चतुर्थाद्यष्टमान्तगुणस्थानेषु ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्य भावात् मिथ्यात्वज्येष्ठप्रदेशबन्धकाले तयोरनन्तभागहीन एव ज्येष्ठप्रदेशबन्धो भवति । तथा संज्वलनक्रोधस्य देशोनार्धभागप्रमाण दलं बध्नाति । कथम् ? नोकषाये बध्यमाने संज्वलनक्रोधे मोहनीयस्य देशोनाष्टमभागप्रमाण दलं प्राप्यते तद्बन्धविच्छेदे तु देशोनचतुर्थभागगतम्, अतः प्रथमगुणस्थानतः पुरुषवेदस्य बन्धविच्छेदं यावत्तस्य प्रकृष्टोऽपि प्रदेशबन्धः स्वोत्कृष्टप्रदेशबन्धतो देशोनार्धभागप्रमाणो भवति तत् सिद्धं मिथ्यात्वं बध्नतोऽपि तथा ।

"अहियदिवड्ढसूणं" मित्यादि, साधिकसार्धांशेनोनम्, मिथ्यात्वस्य ज्येष्ठप्रदेशबन्धकाले संज्वलनमानस्य प्राप्तदलिकं तु साधिकसार्धेन उत्कृष्टपदगतान मानदलिकान विभज्य प्राप्तलब्धिः स्वज्येष्ठप्रदेशाऽग्रतोऽपनीयते तावद् भवतीत्यर्थः, यद्वा प्रस्तुते संज्वलनमानस्य बध्यमानदलिकेषु साधिकसार्द्धगुणदलिकं प्रक्षिप्यते तदा तस्य स्वोत्कृष्टदलिकप्रमाण भवतीति यावत् । अयं भावः— मिथ्यात्वज्येष्ठप्रदेशबन्धकाले सञ्ज्वलनमानतयापरिणतं दलिकं मोहनीयसत्कदलस्य देशोनाष्टमभागप्रमाणं भवति स्वज्येष्ठप्रदेशबन्धकाले तु मोहनीयसत्कदलस्याष्टभागेषु कृतेषु साधिकद्वयर्धभागप्रमितं भवति । यद्वा मोहनीयसत्कदलस्य देशोनतृतीयभागप्रमितं दलं संज्वलनमानस्य स्वज्येष्ठप्रदेशबन्धकाले लभ्यते अतो मिथ्यात्वज्येष्ठप्रदेशबन्धकाले संज्वलनमानतया लब्धदलिकं स्वज्येष्ठप्रदेशबन्धकाले प्राप्तदलिकतस्साधिकसार्द्धेनांशेनोनं भवति, साधिकसार्धं नाम पादोनद्वयतो हीने सति किञ्चिदधिकं सार्धं तत्तु प्रस्तुते आसन्नपञ्चत्रिभागप्रमाणं सम्भाव्यते । तच्चाऽसत्कल्पनया दर्श्यते-ज्येष्ठयोगेन गृह्यमाणानि दलिकान्यष्टशतोत्तरषोडशसहस्राणि, तत्र सप्तविधबन्धकस्य मोहनीयसत्कदलिकानि तु चतुर्विंशतिशतानि, तेषामासन्नत्रिभागप्रमाणान्यष्टशतदलिकानि संज्वलनमानतया स्वज्येष्ठप्रदेशबन्धकाले परिणतानि, तानि पञ्चत्रिभागेन भाज्यन्ते । प्राप्तलब्धिः, अशीत्यधिकचतुःशतप्रमाणा भवति । तस्यां चाष्टशतसंख्यातोऽपनीतायां विंशत्यधिकत्रिशत प्रमाणसंख्या शेषतया प्राप्ता । मिथ्यात्वज्येष्ठप्रदेशबन्धकाले तावत्प्रमाणदलिकानि (३२०) मानतया परिणतानि, अत्र च विशेषाधिकत्वादिकमनपेक्ष्याऽसत्कल्पना दर्शिता, विशेषभावना तु स्वयं गणितानुसारेण तज्ज्ञैर्विधेया । मिथ्यात्वज्येष्ठप्रदेशबन्धकस्य संज्वलनमायायाः प्रदेशबन्धः स्वोत्कृष्टप्रदेशबन्धतः संख्येयगुणहीनो भवति, मोहनीयसत्कं देशोनार्धदलं मायाज्येष्ठप्रदेशबन्धकाले मायात्वेन बध्यते, प्रस्तुते तु मोहनीयसत्कं देशोनाष्टमभागप्रमाणं दलं तत्त्वेन बध्यते, तच्च स्वज्येष्ठप्रदेशबन्धत आसन्नचतुर्थभागमात्रमिति । तथा स संज्वलनलोभस्याऽपि संख्येयगुणहीनं दलिकं बध्नाति तच्च स्वज्येष्ठप्रदेशबन्धतो देशोनाऽष्टमभागमात्रम्, शेषं सुगमम् । मिथ्यात्वज्येष्ठप्रदेशबन्धकः संज्वलनचतुष्कस्य बन्धं तु नियमेन करोति । स हि स्त्रीनपुंसकवेदयोः स्याद्बन्धं करोति, वेदत्रयस्याऽपि प्रस्तुतबन्धकस्य परावर्तमानभावेन बध्यमानत्वात् । प्रदेशबन्धस्तु तयोरुत्कृष्ट एव भवति तुल्यस्वामिकत्वात्प्रथमगुणस्थाने मोहनीयसत्कप्रकृतीनां न्यूनाधिकत्वाऽभावात्, पुरुषवेदस्य स्याद् बन्धको भवति, दलिकं तु तस्य संख्येयगुण-

हीनं बध्यते, स्त्रोत्कृष्टतो देशोनपञ्चमभागमात्रमिति । हास्यरतिशोकारतिरूपयोर्द्वयोर्युगलयोः स्याद् बन्धो भवति, प्रस्तुतबन्धकस्य परावर्तमानेन तयोर्बध्यमानत्वात्प्रदेशबन्धस्तु स्वज्येष्ठप्रदेशबन्धतोऽनन्तभागहीन एव भवति, भावना तु भयजुगुप्सयोर्यथाऽनन्तभागहीने दर्शिता तथा द्रष्टव्या । यथा मिथ्यात्वज्येष्ठप्रदेशबन्धप्रधानसन्निकर्षो दर्शितस्तथाऽनन्तानुबन्धिकषायचतुष्कस्याऽपि वक्तव्यः, स्त्रीनपुंसकवेदयोरपि प्रधानीकृत्य प्रस्तुतसन्निकर्षस्तथैव वक्तव्यः, केवलं प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धो निषेधनीयः, स्त्रीवेदप्रधानत्वे नपुंसकवेदपुरुषवेदयोर्निषेधः, नपुंसकवेदप्रधानत्वे स्त्रीपुरुषवेदयोर्निषेधः कर्तव्यः, शेषं तु तद्वदेव ॥४९८-४९९॥

अथ द्वितीयकषायचतुष्कप्रधानं सन्निकर्षं प्रदर्शयन्नाह—

दुइअकसायस्स गुरुं बधतोऽण्णतिगभयजुगुच्छाणं । जेट्ठं बधइ णियमा तइअकसायाणऽणंतभागूणं ॥
संजलणाण चउण्ह मिच्छव्व पुमस्स सखगुणहीण । णियमा सिआ गुरुं उण जुगलाण सत्त सेसा णो ॥
(प्रथमा गीति) ॥५००-५०१॥

(प्रे०) "दुइअ" इत्यादि, अप्रत्याख्यानावरणचतुष्कादेकस्य ज्येष्ठप्रदेशं बध्नन् शेषत्रयाणामप्रत्याख्यानावरणकषायाणां भयजुगुप्सयोश्च नियमतो ज्येष्ठप्रदेशं बध्नाति, चतुर्थगुणस्थाने आसां ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्य युगपद्भावात् । प्रत्याख्यानावरणकषायचतुष्कस्याऽनन्तभागहीनं ज्येष्ठं प्रदेशं बध्नाति, तस्य ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्य पञ्चमगुणस्थाने भावात्, भावना तु प्राग्वत्कार्या । संज्वलनचतुष्कं नियमतो बन्धाति प्रदेशबन्धस्तु तासां मिथ्यात्वप्रधानसन्निकर्षे दर्शितरीत्या वक्तव्यः । पुरुषवेदस्य बन्धो नियमतो भवति, चतुर्थगुणस्थाने शेषवेदद्वयस्य बन्धाऽभावात्प्रदेशबन्धस्तु तस्य मिथ्यात्वप्रधानसन्निकर्षवत्संख्येयगुणहीनो बध्यते । हास्यादिद्वयोर्युगलयोः स्याद् बन्धो भवति, प्रस्तुतबन्धकस्य परावर्तमानेन तयोर्बध्यमानत्वात्, प्रदेशबन्धस्तु तयोरुत्कृष्ट एव भवति चतुर्थगुणस्थानेऽप्येतयोरुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्य भावात्, शेषा मिथ्यात्वाऽनन्तानुबन्धिकषायचतुष्कस्त्रीवेदनपुंसकवेदरूपाणां सप्तानां बन्ध एव न भवति इति न ताभिस्सह सन्निकर्षवक्तव्यता ॥५००-५०१॥

अथ प्रत्याख्यानावरणचतुष्कप्रधानं ज्येष्ठप्रदेशबन्धसन्निकर्षं दर्शयति—

तइअकसायस्स गुरुं बंधंतो सेसभयजुगुच्छाणं । णियमा गुरुं पुमजुगलसंजलणाण दुइअव्व णो सेसा ॥५०२॥
(गीति)

(प्रे०) "तइअ" इत्यादि, तृतीयप्रत्याख्यानावरणकषायचतुष्कादेकस्य ज्येष्ठप्रदेशबन्धं कुर्वन् शेषप्रत्याख्यानावरणत्रयाणां भयजुगुप्सयोश्च नियमतो बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु ज्येष्ठमेव करोति । पुरुषवेदचतुःसंज्वलनप्रकृतीनां सन्निकर्षवक्तव्यत्वं द्वितीयाऽप्रत्याख्यानावरणप्रधानसन्निकर्षे यथा भवति तथैवाऽत्राऽपि विज्ञेयम् । तच्च मिथ्यात्वप्रधानसन्निकर्षे यथा प्रदर्शितं तथैव विज्ञेयम् । युगलद्वयस्य तु यथा द्वितीयकषायप्रधाने स्याज्ज्येष्ठश्च प्रदेशबन्धो भवति तथा तृतीयकषाय-

प्रधानेऽपि युगलद्वयस्य स्याद्बन्धो ज्येष्ठप्रदेशबन्धश्च वक्तव्यः । शेषाणां मिथ्यात्वाऽनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानावरणस्त्रीनपुंसकवेदरूपाणामेकादशानां बन्ध एव न भवति, पञ्चमगुणस्थाने तासां बन्धाऽभावात् ॥५०२॥

अथ संज्वलनचतुष्कपुरुषवेदप्रधानं सन्निकर्षं प्ररूपयन्नाह—

माणाईण कमसो सखेज्जदुभागसंखगुणहीण । कोहस्स जेट्ठबंधी णियमा बधइ ण चिअ सेसा ॥
माणस्स जेट्ठबधी णियमा सखेज्जभागगुणहीण । मायाईण कमसो बधइ णो चेव सेसाओ ॥
लोहस्स दुभागूण णियमाओ मायजेट्ठदलबधी । ण उ सेसा बंधतो लोहस्स गुरुं ण चिअ सेसा ॥
गुरुबधी पुरिसस्स दुअहियदिवड्ढसंसखगुणहीण । कोहमयदुगाण कमा संजलणाण णियमा णऽण्णा ॥
॥५०३-५०६॥

(प्रे०) "माणाईण" मित्यादि, संज्वलनक्रोधस्य ज्येष्ठप्रदेशं बध्नन् संज्वलनमानस्य स्वज्येष्ठप्रदेशबन्धतः संख्यातभागहीनं प्रदेशं बध्नाति, स्वज्येष्ठप्रदेशबन्धकाले मोहनीयसत्कदलस्य देशोनतृतीयभागप्रमाणस्य लाभात् , क्रोधस्य ज्येष्ठप्रदेशबन्धकाले मोहनीयसत्कदलस्य देशोनचतुर्थभागप्रमाणस्य लाभात् । तदैव संज्वलनमायायाः स्वज्येष्ठप्रदेशबन्धतोऽर्धं दलिकं बध्यते । स्वज्येष्ठप्रदेशबन्धस्य मोहनीयसत्कदलस्य देशोनार्धभागप्रमाणत्वात्प्रस्तुतबन्धकस्य माया तया बध्यमानदलस्य देशोनचतुर्थभागप्रमाणत्वाच्च । सञ्ज्वलनलोभस्य तु संख्येयगुणहीनं बध्नाति देशोनचतुर्थभागमात्रमित्यर्थः । संज्वलनक्रोधबन्धकस्य आसां त्रयाणां नियमतो बन्धो भवति । शेषा मोहनीयसत्का द्वाविंशतिप्रकृतीस्तु नैव बध्नाति । संज्वलनमानस्य ज्येष्ठप्रदेशबन्धकः संज्वलनमायायाः स्वज्येष्ठप्रदेशबन्धाऽपेक्षया संख्यातभागहीनं प्रदेशं बध्नाति, मोहनीयसत्कदलस्य तत्र देशोनार्धभागप्रमाणस्य लाभात् , प्रस्तुते तु तस्य देशोनतृतीयांशमितत्वाच्च । संज्वलनलोभस्य संख्यातगुणहीनं प्रदेशं बध्नाति स्वज्येष्ठप्रदेशबन्धाऽपेक्षया तृतीयांशप्रमितम् । शेषाणां त्रयोविंशतिप्रकृतीनां बन्ध एव न भवति । सञ्ज्वलनमायाया ज्येष्ठप्रदेशं बध्नन् संज्वलनलोभस्य देशोनार्धं बध्नाति, शेषाश्चतुर्विंशतिप्रकृतीस्तु नैव बध्नाति । संज्वलनलोभस्य ज्येष्ठप्रदेशं बध्नन् शेषाः पञ्चविंशतिप्रकृतीर्नैव बध्नाति, एकविधबन्धकस्यैव तज्ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्य भावात् । पुरुषवेदस्य ज्येष्ठप्रदेशबन्धं कुर्वन् संज्वलनक्रोधस्य देशोनार्धभागहीनं संज्वलनमानस्य सातिरेकसार्धभागमात्रं हीनं संज्वलनमायायाश्चतुर्थभागमात्रं बध्नाति संज्वलनलोभस्याऽष्टमांशमितं बध्नाति । मायालोभयोर्दलिकस्य स्वज्येष्ठप्रदेशबन्धतः क्रमेण चतुर्थभागमात्रत्वादष्टमांशमात्रत्वात् , च रमार्यायां "संखगुणहीणं दुगाण" इति यदुक्तं तत्तु युक्तमेव । भावना तु मिथ्यात्वप्रधानसन्निकर्षवत्कर्तव्या । शेषा एकविंशतिप्रकृतयः प्रस्तुतबन्धकस्य बन्धेऽप्रायोग्यत्वान्नैव बध्यन्ते ॥५०३-५०६॥

अथ हास्यादिप्रधानं सन्निकर्षं प्ररूपयन्नाह–

हस्सस्स जेट्ठबंधी रइभयकुच्छाण बंधए णियमा। जेट्ठं दुइअकसायव्व पुरिससंजलणचउगाण ॥
दुइअकसायाण गुरुं सिआ गुरु उअ अणंतभागूणं। तइअकसायाणं ण व सेसाओ बधए णेव ॥
एव रईअ हवए तहेव सोगअरईण एमेव। भयकुच्छाणं णवर सिआ गुरु दोण्ह जुगलाण ॥
॥५०७-५०९॥

(प्रे०) "हस्से" त्यादि, हास्यमोहनीयस्य ज्येष्ठप्रदेशबन्धं कुर्वतो रतिभयजुगुप्सामोहनीयत्रयस्य बन्धो नियमतो भवति प्रदेशबन्धस्तु तस्योत्कृष्ट एव भवति, हास्यबन्धकाले रतेर्नियमतो बन्धाद्भयजुगुप्सयोर्ध्रुवबन्धित्वाच्चचतुर्थाद्यष्टमान्तगुणस्थान आसां ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्वामित्वेन तुल्यत्वाच्च। स संज्वलनचतुष्कपुरुषवेदरूपाणां पञ्चानां बन्धं विदधात्येव, प्रदेशबन्धं त्वप्रत्याख्यानावरणकपायप्रधानसन्निकर्षदर्शितरीत्या विज्ञेयः। तद्यथा–स्वज्येष्ठप्रदेशबन्धाऽपेक्षया संज्वलनक्रोधस्स देशोनार्धभागहीनं संज्वलनमानस्य सातिरेकसार्धभागन्यूनं मायायाश्चतुर्थांशमितत्वेन संख्येयगुणहीनं लोभस्याष्टमांशप्रमितत्वेन संख्येयगुणहीनं बध्नाति, पुरुषवेदस्य स्वज्येष्ठप्रदेशबन्धाऽपेक्षया संख्येयगुणहीनं बध्नाति, प्रत्याख्यानावरणकपायचतुष्कस्योत्कृष्टप्रदेशं बध्नाति यदि प्रस्तुतबन्धकः पञ्चमगुणस्थानवर्ती स्यात्, यदि पुनः स चतुर्थगुणस्थानस्थः स्यात् तर्हि प्रत्याख्यानावरणकषायस्योत्कृष्टप्रदेशबन्धतोऽनन्तभागहीनं बध्नाति, यदि च षष्ठादिगुणस्थानगतः स्यात्तर्हि स तृतीयकषायाणामबन्धक एव स्यदिति विकल्पत्रयम्। अप्रत्याख्यानावरणकषायचतुष्कस्य स्याद्बन्धस्तद्यथा–हास्यज्येष्ठप्रदेशबन्धको यदि चतुर्थगुणस्थानवर्ती स्यात्तदास्य बन्धं विदधाति प्रदेशाग्रं पुनरुत्कृष्टमेव बध्नाति, यदि च प्रस्तुतबन्धकः पञ्चमादिगुणस्थानवर्ती तदा स द्वितीयकषायं नैव बध्नाति। अरतिशोकमोहनीयाऽनन्तानुबन्धिकषायचतुष्कमिथ्यात्वस्त्रीवेदनपुंसकवेदरूपाणां नवप्रकृतीनां बन्ध एव न भवति। यथा हास्यमोहनीयप्रधानसन्निकर्षो दर्शितस्तथैव रतिमोहनीयस्य शोका-ऽरतिमोहनीययोश्च सनिकर्षो द्रष्टव्यः। भयजुगुप्सयोरप्येवमेव सनिकर्षो विज्ञेयः, केवलं हास्यरत्योः शोकारत्योर्वा स्यादुत्कृष्टप्रदेशबन्धकश्च भवतीति विशेषः। एवमोघतो मोहनीयस्य स्वस्थानोत्कृष्टप्रदेशबन्धसन्निकर्षो दर्शितः ॥५०७-५०९॥

सम्प्रति मार्गणासु तं प्रदर्शयन्नादौ तावद् यासु स ओघवद् भवति तासु तमोघवदतिदिशन्नाह–

मोहस्सोघव्व तिणरदुपणिदितसपणमणवयुरलेसु। काये लोहणयणियरसुक्कभवियसण्णिगेसु आहारे ॥
(गीति.) ॥५१०॥

(प्रे०) "मोहस्स" इत्यादि, यासु मार्गणासु मोहनीयसत्कसर्वाण्यपि बन्धस्थानानि भवन्ति, तासु सर्वासां मोहनीयकर्मणां सन्निकर्ष ओघवत् प्राप्यते, अतो मनुष्यौघादिषड्विंशतिमार्गणासु सर्वथौघवत्सन्निकर्षो विज्ञेयः, भावनाऽपि तत एवावगन्तव्या।

एतर्हि नरकगत्योघादिमार्गणासु मोहनीयसत्कं सन्निकर्षं दर्शयति–

सव्वणिरयभेएसु सुरगेविज्जंतउरलमीसेसुं । विउवदुगकम्मअजयअसुहलेसासुं अणाहारे ।।
मिच्छस्स जेट्ठबंधी बंधेइ अणचउगस्स उक्कोस । णियमाऽणंतंसूण सेसकसायभयकुच्छाण ।।
थीणपुमाण जेट्ठं सिआ अणतसहीणमण्णेसिं।अणचउगस्सेव तह थीणपुमाण णवर ण पडिवक्खा।।(गीति)
एगस्स बंधमाणो दुइअकसायस्स गुरुपएस तु । मिच्छचउअणणपुमथी ण सिआ जुगलाण दोण्ह गुरुं ।
णियमा सेसाण गुरुं सेसाणेमेव णवरि जुगलाण । दोण्ह गुरुं बंधतो बंधइ पडिवक्खजुगल णो ।।
।।५११-५१५।।

(प्रे०) "**सव्वणिरये**"त्यादि, गाथाः सुगमाः, नवरं तृतीयगाथास्थं '**सिआ**" इति पदं **अणंतंसहीणमण्णेसिं**' इत्यनेनाऽपि संबन्धनीयम् , तेनाऽर्थ एवं स्यात्—हास्यरत्योः शोकारत्योः पुरुषवेदस्य च बन्धः स्याद् , अनन्तभागहीनश्च । भावार्थः पुनरयम्—सर्वनरकादिद्वाचत्वारिंशद्मार्गणासु मोहनीयस्य द्वाविंशतिरेकविंशतिः सप्तदशेति त्रीणि बन्धस्थानानि भवन्ति, अत्र मिथ्यात्वाऽनन्तानुबन्धिचतुष्कस्त्रीनपुंसकवेदरूपाणां सप्तानां सन्निकर्ष ओघवद्भवति, केवलं संज्वलनचतुष्कपुरुषवेदरूपाणां पञ्चानां स्वज्येष्ठप्रदेशबन्धतोऽनन्तभागहीनोऽनुत्कृष्टप्रदेशबन्धो वक्तव्यः । अत्र निरुक्तपञ्चप्रकृतीनां ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्य चतुर्थगुणस्थान एव भावात् नाऽनन्तभागतोऽधिकन्यूनत्वमिति । शेषद्वादशकषायभयजुगुप्सापुरुषवेदरूपाणां पञ्चदशानां ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्य युगपद्भावादेकस्य ज्येष्ठप्रदेशं बध्नतः शेषाणां चतुर्दशानां नियमतो ज्येष्ठप्रदेशबन्धो भवति । हास्यादियुगलद्वयस्य स्याद्बन्धो भवति प्रदेशबन्धस्तु तस्योत्कृष्ट एव । एवमेव द्वयोर्युगलयोः, परं स्वप्रतिपक्षं युगलं नैव बध्नातीति ।।५११-५१५।।

अथ तिर्यग्गत्योघ-पञ्चेन्द्रियतिर्यक्त्रिकरूपमार्गणाचतुष्के मोहनीयसत्कं प्रस्तुतसन्निकर्षं दर्शयन्नाह—

मिच्छाणणपुमथीण णिरयव्व तिरितिपणिदितिरियेसु । दुइयकसायस्स गुरु बंधतोऽणपुमभयजुगुन्छाण।।
(गीतिः)
जेट्ठ बंधइ णियमा अट्ठकसायाणऽणंतभागूण । दोण्ह जुगलाण सिआ जेट्ठं बंधइ ण चिअ सेसा ।।
णियमाऽणसत्तपुमभयकुन्छाण इयरकसायगुरुबंधी । जेट्ठ जुगलाण सिआ बंधइ णो चेव सेसाओ ।।
पुरिसस्स जेट्ठबंधी जेट्ठ बंधेइ भयजुगुन्छाण । णियमाऽट्ठकसायाणं गुरुमगुरु वा अणंतभागूणं।।(गीति)
दुइअकसायाण तहा जुगलाण सिआ गुरु ण चिअ सेसा।एवं भयकुन्छाणं तहेव जुगलाण णवरि इयर णो
(गीतिः)।।५१६-५२०।।

(प्रे०) "**मिच्छाणे**"त्यादि, तिर्यगोघ-पञ्चेन्द्रियतिर्यगोघ-पञ्चेन्द्रियतिर्यक्पर्याप्त-तिर्यग्योनिमतीरूपासु चतसृषु मार्गणासु मिथ्यात्वाऽनन्तानुबन्धिचतुष्कस्त्रीनपुंसकवेदरूपाणां सप्तप्रकृतीनां सन्निकर्षः सर्वथा नरकमार्गणावत्कथयितव्यः, तद्यथा—मिथ्यात्वस्योत्कृष्टप्रदेशबन्धकोऽनन्तानुबन्धिचतुष्कस्य नियमेनोत्कृष्टश्च प्रदेशं बध्नाति, शेषद्वादशकषायाणां नियमतः स्वोत्कृष्टप्रदेशबन्धतोऽनन्तभागहीनञ्च प्रदेशं बध्नाति, हास्यादियुगलद्वयं पुरुषवेदं च स्याद्

बध्नाति, अनन्तभागहीनञ्च, स्त्रीनपुंसकवेदयोः स्यादुत्कृष्टं च बध्नाति एवमनन्तानुबन्धिचतुष्कप्रधानसन्निकर्षो विज्ञेयः, स्त्रीनपुंसकवेदयोरप्येवमेव, केवलं स्वप्रतिपक्षवेदद्वयस्य बन्धाभावो वक्तव्यः । इदमत्र विज्ञेयम्—यत्र नवमगुणस्थानकं नाऽस्ति तासु मार्गणासु संज्वलनचतुष्कपुरुषवेदयोरुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्वामिन उपरितनगुणस्थानवर्तित्वं स्यात्तदाऽधस्तनगुणस्थाने ज्येष्ठप्रदेशबन्धप्रायोग्यप्रकृत्या सह सन्निकर्षे प्रकृतिपञ्चकस्य दलिकमनन्तभागहीनं बध्नाति, न तु संख्यातभागहीनादिकम् , अतः प्रस्तुतेऽपि तासां पञ्चानामनन्तभागहीनम् , शेषं सर्वमोघवदिति । अप्रत्याख्यानावरणकषायचतुष्कस्योत्कृष्टप्रदेशं बध्नन् शेषाप्रत्याख्यानावरणत्रयाणां भयजुगुप्सापुरुषवेदानां च नियमेन ज्येष्ठप्रदेशबन्धं करोति, प्रत्याख्यानावरणचतुष्कसंज्वलनचतुष्कयोर्नियमेन स्वोत्कृष्टप्रदेशबन्धतोऽनन्तभागहीनं प्रदेशबन्धं करोति, हास्यरत्योः शोकाऽरत्योश्च स्यादुत्कृष्टप्रदेशकं बन्धं करोति । प्रस्तुतबन्धकः शेषा मिथ्यात्वादिसप्तप्रकृतीर्नैव बध्नाति । एवं शेषाप्रत्याख्यानावरणत्रयस्याऽपि वक्तव्यम् । प्रत्याख्यानावरणचतुष्कसंज्वलनचतुष्करूपाऽष्टप्रकृतिभ्य एकस्या गुरुप्रदेशबन्धकः शेषाणां सप्तानां पुरुषवेदभयजुगुप्सानां च नियमेन बन्धको भवति, प्रदेशबन्धं तु तासां ज्येष्ठमेव करोति, हास्यादियुगलद्वयं स्याद् बध्नाति, प्रदेशबन्धं तु तयोरपि ज्येष्ठमेव करोति, शेषमिथ्यात्वादिसप्तप्रकृतीरप्रत्याख्यानावरणचतुष्कं च स न बध्नाति, तस्य पञ्चमगुणस्थानवर्तित्वात् । पुरुषवेदस्य ज्येष्ठप्रदेशबन्धकोऽप्रत्याख्यानावरणचतुष्कं स्याद् बध्नाति यदि बध्नाति तर्हि उत्कृष्टमेव, एवं द्वयोरपि युगलयोः स स्याद्बन्धको भवति, प्रदेशं च ज्येष्ठं बध्नाति, भयजुगुप्से तु नियमेन बध्नाति, तयोः प्रदेशबन्धं तु ज्येष्ठमेव करोति प्रत्याख्यानावरणकषायचतुष्कसंज्वलनकषायचतुष्करूपाऽष्टकषायाणां स नियमाद् बन्धको भवति, प्रदेशबन्धं तु तासां ज्येष्ठं ज्येष्ठप्रदेशबन्धतोऽनन्तभागहीनं वा करोति, मिथ्यात्वादिसप्तप्रकृतीस्तु स न बध्नाति । एवं भयजुगुप्साप्रधानसन्निकर्षोऽपि विज्ञेयः, हास्यादियुगलयोः सन्निकर्षेऽप्येवमेव, केवलं प्रतिपक्षयुगलस्य बन्धो न भवति । युगलमध्यादेकस्य सन्निकर्षे तदितरस्य बन्धो नियमतो वक्तव्यः, सुगमा चैषा सर्वा प्ररूपणेति न हेतुभिर्व्याख्यायते ॥५१६-५२०॥

अथाऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यगादिमार्गणासु मोहनीयसत्कस्वस्थानोत्कृष्टप्रदेशबन्धसन्निकर्षं दर्शयन्नाह—

असमत्तपणिंदितिरियमणुयपणिंदियतसेसु सव्वेसु । एगिंदियविगलिंदियपणकायेसु अणाणतिगे ॥
अभवियसासाणेसु मिच्छे असण्णे विणा जुगलवेआ । एगस्स बधमाणो गुरुमण्णेसिं गुरु णियमा ॥
कुणइ जुगलवेआण सिआ गुरु एवमेव विण्णेयो । वेअजुगलाण णवर ण चेव वंधेइ पडिवक्खा ॥
॥५२१-५२३॥

(प्रे०) "असमत्ते"त्यादि, अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यगादिषु षट्षष्टिमार्गणासु प्रस्तुतसन्निकर्षो निरूपणीयस्तत्र सास्वादनमार्गणाऽज्ञानत्रयवर्जशेषमार्गणासु प्रथमस्यैव गुणस्थानकस्य

भावात् , तत्र चैकस्यैव बन्धस्थानभावात् युगपद् बन्धार्हाणां सर्वासां प्रकृतीनां ज्येष्ठप्रदेशबन्धो भवति, केवलं वेदयुगलयोः परावर्तमानत्वेन युगपद्बन्धाऽभावादेकस्य बन्धे तदितरस्य निषेधो वक्तव्यः, शेषं सुगमम् । अज्ञानत्रयेऽपि बन्धस्थानद्वयभावेऽपि प्रथमगुणस्थान एव ज्येष्ठप्रदेश-बन्धभावान्निरुक्तवक्तव्यता एव प्राप्यते, सास्वादनमार्गणायां केवलं द्वितीयगुणस्थानस्य भावात् , तत्राऽपि बन्धार्हाणां सर्वासां युगपदेव ज्येष्ठप्रदेशबन्धो भवति, अत्राऽपि वेदद्वययुगलद्वयोर्युग-पद्बन्धाऽभावात्स्याद् बन्धो वक्तव्यः, प्रदेशबन्धस्तु बध्यमानमोहनीयप्रकृतीनां ज्येष्ठ एव भवति, न्यूनप्रकृतिबन्धस्थानान्तराभावात् नाऽनुत्कृष्टप्रदेशबन्धसंभव इति ।

अयमत्र भावार्थः—यत्र यासां प्रकृतीनामेकबन्धस्थानगतस्य एव ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्वामित्वं तत्र ताभ्य एकस्या ज्येष्ठप्रदेशबन्धकत्वे तदितरासामपि ज्येष्ठप्रदेशबन्धकत्वम् । प्रकृतिबन्धस्तु स्यान्नियतो वा ध्रुवाऽध्रुवाऽपेक्षया यथासंभवं स्यादिति । अतः प्रस्तुतेऽपि पट्षष्टिमार्गणासु बन्धा-र्हाणां सर्वासां ज्येष्ठ एव प्रदेशबन्धो दर्शितः ॥५२१-५२३॥

सम्प्रति पञ्चाऽनुत्तरादिमार्गणासु मोहनीयकर्मणः स्वस्थानोत्कृष्टप्रदेशबन्धसन्निकर्षं प्रदर्शयन्नाह-

पंचसु अणुत्तरेसु आहारदुगपरिहारदेसेसुं । मीसे बधतो विण जुगलं एगस्स उक्कोस ॥
जुगलाण सिआ जेट्ठ णियमाऽण्णाण जुगलस्स गुरुबधो । णेव पडिवक्खजुगल बधइ णियमेयराण गुरुं ॥
॥५२४-५२५॥

(प्रे०) "पंचसु" इत्यादि, पञ्चस्वनुत्तरदेवमार्गणास्वाहारककाययोगतन्मिश्रयोगद्वये परिहारविशुद्धिसंयमदेशसंयममार्गणाद्वये मिश्रमार्गणायां चेत्येवं समुदितासु दशसु मार्गणासु केवलमेकैकस्यैव बन्धस्थानस्य भावान्मार्गणाहबन्धप्रायोग्यप्रकृतिभ्य एकस्या उत्कृष्टप्रदेशबन्धकः शेषाणामुत्कृष्टमेव प्रदेशं बध्नाति, तुल्यबन्धस्थानगतस्वामित्वेनोत्कृष्टेतरविकल्पस्याभावात् , प्रकृतिबन्धमपि स हास्यादियुगलद्वयं विहाय नियमतो विदधाति हास्यादियुगलद्वयस्य तु स्याद् बन्धं विदधाति । हास्यादिप्रधानत्वे तु स्वप्रतिपक्षयुगलं नैव बध्नाति, शेषाणां नियमतो बन्धं करोति । शब्दाऽर्थस्तु सुगमः । एवं गतीन्द्रिय-काय-योगमार्गणागतोत्तरभेदेषु प्रस्तुतसन्निकर्षः प्ररूपितः ॥५२४-५२५॥

अथ वेदमार्गणात्रये प्रस्तुतसन्निकर्षं निरूपयन्नाह—

एगस्स बधमाणो संजलणस्स परम तिवेएसुं । नियमाऽण्णतिगस्स गुरुं सिआ दुजुगलभयकुच्छाण ॥
जेट्ठं सखगुणूण व धुव बधइ पुमस्स ण उ सेसा । पुरिसस्स जेट्ठबंधी संजलणाण णियमा गुरुं णऽण्णा ।
सेसाणोघव्व णवरि संजलणाणं अणतभागूण । इअ जेट्ठ हस्सछगं बधतोऽण्णा अणतभागूणं ॥
(द्वितीया तृतीया च गीतिः) ॥५२६-५२८॥

(प्रे०) "एगस्से"त्यादि, पुरुषस्त्रीनपुंसकवेदरूपासु तिसृषु मार्गणासु द्वाविंशत्यादिपञ्च पर्यवसानानि षट् बन्धस्थानानि भवन्ति, अत्र संज्वलनचतुष्कस्य ज्येष्ठप्रदेशबन्धः पञ्चविधबन्ध-

कस्य नवविधबन्धकस्य वा भवति, नवविधबन्धस्थानाद् हास्यरतिभयजुगुप्सानां बन्धविच्छेदात्पञ्चविधबन्धस्थाने तासां चतुर्णां नोकषायत्वेन तत्सत्कदलस्य पुरुषवेदेष्वेव गमनात् , पञ्चप्रकृत्यात्मके नवप्रकृत्यात्मके बन्धस्थाने सञ्ज्वलनचतुष्कस्य प्रदेशबन्धमधिकृत्य न कश्चिद्विशेषः। अतः सञ्ज्वलनचतुष्केभ्य एकस्य ज्येष्ठप्रदेशबन्धकः शेषसंज्वलनत्रयस्य ज्येष्ठमेव प्रदेशं बध्नाति हास्यादियुगलयोरन्यतरस्याऽपि भयजुगुप्सयोश्च स्याद् बन्धकोभवति, नवविधबन्धकस्तु बध्नाति पञ्चविधकबन्धकस्तु नैव बध्नाति, यदि नवविधबन्धकाले स ता बध्नाति तदा तासां ज्येष्ठमेव प्रदेशं बध्नाति, अत्र हास्यादियुगलद्वयस्य सप्रतिपक्षत्वात्स्याद् बन्धो ज्ञातव्यः, पुरुषवेदं तु ध्रुवं बध्नाति, तस्य प्रदेशबन्धं तु यदि स पञ्चप्रकृत्यात्मकस्थानस्य बन्धकः स्यात्तदा ज्येष्ठमेव करोति, यदि च स नवप्रकृत्यात्मकस्थानं बध्नाति तदा तस्य प्रदेशं संख्येयगुणहीनं बध्नाति, तदानीं पञ्चविधबन्धकाले मोहनीयदलाद् देशोनार्धभागप्रमितस्य नोकषायतया परिणतसर्वदलस्य तस्यैव लाभादिदानीं तु नवविधबन्धकस्य पञ्चानामपि नोकषायाणां बध्यमानत्वेन नोकषायतया परिणतदलिकेभ्य आसन्नपञ्चमभागस्यैव लाभात् संख्येयगुणोनं बध्यते। शेषाणां पञ्चदशानां बन्धो न भवति। पुरुषवेदस्य ज्येष्ठप्रदेशबन्धकः संज्वलनचतुष्कस्य ज्येष्ठमेव प्रदेशं बध्नाति, नियमेन च बध्नाति। शेषास्तु नैव बध्नाति। एवं पञ्चप्रकृतिप्रधानसन्निकर्षो निरूपितः. शेषाणामेकविंशतेः प्रत्येकं तत्तत्प्रकृतिप्रधानसन्निकर्ष ओघवज्ज्ञातव्यः, केवलं संज्वलनचतुष्कस्याऽत्र चतुर्विधादिबन्धस्थानाभावात् हास्यषट्कज्येष्ठप्रदेशबन्धकाले तस्य ज्येष्ठमनन्तभागहीनं वा प्रदेशमसौ बध्नाति। तद्यथा—हास्यषट्कस्य यदि चतुर्थपञ्चमगुणस्थाने ज्येष्ठप्रदेशं बध्नाति तर्हि तत्प्रधानसन्निकर्षे संज्वलनचतुष्कस्याऽनन्तभागहीनं प्रदेशमसौ बध्नाति यदि पुनः षष्ठादिगुणस्थानगतो हास्यादीनां ज्येष्ठप्रदेशं बध्नाति तर्हि स संज्वलनचतुष्कस्योत्कृष्टमेव प्रदेशं बध्नातीति हास्यषट्कप्रधानसन्निकर्षे संज्वलनचतुष्कस्य प्रदेशबन्धसत्कविकल्पद्वयम् , शेषद्वादशकषायमिथ्यात्वस्त्रीनपुंसकवेदप्रधानसन्निकर्षे तु संज्वलनचतुष्कस्याऽनन्तभागहीनमेव प्रदेशं बध्नातीति साऽपवादमतिदिष्टम्। ॥५२६-५२८॥

सम्प्रति क्रोधादिमार्गणात्रये प्रस्तुतसन्निकर्षं प्रदर्शयन्नाह—

ओघव्व अवेए, चउसंजलणाणं तदेगगुरुबंधी। कोहेऽणतिगस्स गुरु णियमा बंधइ ण चिअ सेसा ॥
सेसाणोघव्व णवरि सजलणाण णियमा दुभागूणं। माणे बधंतो गुरुपएसमतस्स कोहस्स ॥
णियमा संखंसूणं संजलणतिगस्स णेव सेसाओ। सेसस्स जेट्ठबधी जेट्ठं दोण्ह णियमा णऽण्णा ॥
सेसाणोघव्व णवरि दुभागहीणं तु चरमकोहस्स। तिण्हं सजलणाणं अब्भहियदिवड्ढभागूणं ॥
मायाए बंधंतो जेट्ठ कोहस्स संजलणगस्स। माणस्स दुगस्स कमा णियमा सखसगुणहीणं ॥
माणस्स जेट्ठबंधी णियमा दोण्हं पि संखभागूणं। सेसस्स जेट्ठबंधी बधइ णियमेयरस्स गुरुं ॥
सेसाणोघव्व णवरि चरमाणं कोहमाणजुगलाणं। दुदिवड्ढभागसखियगुणहीणं तु णियमा कमसो ॥
॥५२९-५३५॥

(प्रे०) "ओघव्व" इत्यादि, सुगमम् , ओधिकस्वामित्वाद्भावनाऽप्योघवत्कार्या, केवलमिह संज्वलनचतुष्कस्यैव बन्धभावेन तदतिरिक्तप्रकृतीनामत्र बन्धनिषेधो न वाच्यः। "तदेग०" इत्यादि, क्रोधमार्गणायां संज्वलनचतुष्कादेकस्य ज्येष्ठप्रदेशबन्धं कुर्वन् शेषसंज्वलनत्रयस्य ज्येष्ठमेव प्रदेशं बध्नाति चतुर्विधबन्धकस्यैव तज्ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्वामित्वेन युगपच्चतुर्णामेव ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्य भावात्। शेषद्वाविंशतिं न बध्नात्यसौ। शेषद्वाविंशतिप्रकृतिषु प्रत्येकं तत्तत्प्रकृतिप्रधानसन्निकर्षे संज्वलनचतुष्कस्य बन्धो नियमेन भवति, प्रदेशबन्धस्तु स्वज्येष्ठप्रदेशबन्धतोऽर्धभागप्रमाणः प्राप्यते, शेषसर्वमोघवक्तव्यतावद्विज्ञेयमिति। मानमार्गणायां संज्वलनक्रोधस्य ज्येष्ठप्रदेशबन्धकः संज्वलनमानमायालोभरूपस्य संज्वलनत्रिकस्य स्वज्येष्ठप्रदेशबन्धतः संख्यातभागन्यूनं प्रदेशं बध्नाति, त्रिविधबन्धकस्याऽस्य त्रिकस्य ज्येष्ठप्रदेशबन्धभावात्। शेषा द्वाविंशतिप्रकृतीरसौ नैव बध्नाति। "सेसस्स" इति शेषसंज्वलनत्रिकादेकस्य ज्येष्ठप्रदेशबन्धकः शेषद्वयस्य नियमेन बन्धको भवति, प्रदेशं ज्येष्ठमेव बध्नाति, शेषाणां त्रयोविंशतेर्बन्धं त्वसौ नैव करोति। शेषद्वाविंशतिप्रकृतीनां प्रत्येकं तत्तत्प्रकृतिप्रधानसन्निकर्षे संज्वलनक्रोधस्याऽर्धभागप्रमितं दलं बध्नाति, शेषसंज्वलनत्रिकस्य तु सातिरेकसार्धभागहीनं दलं बध्नाति, अयं भावः—स्वज्येष्ठप्रदेशबन्धकाले प्राप्तदलिकं साधिकसार्धरूपेण विभज्य प्राप्तलब्धिस्तस्मादपनीयते ततो यावदवशिष्टं तावद्बध्नातीत्यर्थः। आसां चतुर्णां बन्धं तु नियमतो विदधाति। शेषप्रकृतीनां त्वोघवक्तव्यत्ववद् भवति तच्च सुगममिति न भण्यते। मायामार्गणायां संज्वलनक्रोधस्य ज्येष्ठप्रदेशबन्धकः संज्वलनमानस्य स्वज्येष्ठप्रदेशबन्धतः संख्यातभागहीनं प्रदेशं बध्नाति, संज्वलनमायालोभयोस्तु संख्यातगुणहीनं प्रदेशं बध्नाति, शेषा द्वाविंशतिं प्रकृतीर्नैव बध्नात्यसौ। संज्वलनमानस्य ज्येष्ठप्रदेशबन्धकः संज्वलनमायालोभयोः संख्यातभागहीनं बध्नाति शेषास्त्रयोविंशतिप्रकृतीस्तु नैव बध्नाति। 'सेसस्स' इति संज्वलनचतुष्कमध्यात् संज्वलनक्रोधमानयोरुक्तत्वाच्छेषस्य संज्वलनमायालोभयोरन्यतरस्य ज्येष्ठप्रदेशबन्धकः स्वेतरस्य ज्येष्ठमेव प्रदेशं बध्नाति शेषाश्चतुर्विंशतिप्रकृतीर्नैव बध्नाति। शेषद्वाविंशतिप्रकृतीनां प्रत्येकं तत्तत्प्रकृतिप्रधानसन्निकर्षे संज्वलनक्रोधस्याऽर्धभागमात्रं बध्नाति, अर्धभागस्तु हीयते, संज्वलनमानस्य स्वज्येष्ठप्रदेशबन्धतः साधिकसार्धभागहीनं बध्नाति, तथा संज्वलनमायालोभयोस्तु स्वज्येष्ठप्रदेशबन्धपरिमाणतः संख्यातगुणहीनं बध्नाति, बन्धं च नियमतो विदधाति, सुगमं चैतद्। शेषप्रकृतिविषयकसन्निकर्षस्त्वोघवद्विज्ञेय इति ॥५२९-५३५॥

अथ ज्ञानादिमार्गणासु प्रस्तुतसन्निकर्षं प्ररूपयन्नाह—

चउणाणसजमसमइअछेअऽवहिसम्मखइउवसमेसुं। सव्वाणोघव्व णवरि सप्पाउग्गाण विण्णेया ॥५३६॥

(प्रे०) 'चउणाणे' त्यादि, मतिज्ञान-श्रुतज्ञाना-ऽवधिज्ञान-मनःपर्यवज्ञान-संयमौघ-सामायिकसंयमच्छेदोपस्थापनसंयमाऽवधिदर्शन-सम्यक्त्वौघ-क्षायिकसम्यक्त्वौ-ऽपशमिकसम्यक्त्वरूपास्वेकादशमार्गणासु तत्तन्मार्गणासु बन्धप्रायोग्याणां मोहनीयकर्मणां सन्निकर्ष ओघवद्विज्ञेयः,

(प्रे०) "एगस्से" त्यादि, नरकगतिनरकानुपूर्वीकुखगतिदुःस्वररूपप्रकृतिचतुष्कादेकस्या उत्कृष्टप्रदेशबन्धकः शेषतिसृणां ज्येष्ठमेव प्रदेशं बध्नाति, त्रयोविंशत्यादिबन्धस्थानेष्वासां बन्धाऽभावान्नरकप्रायोग्याऽष्टाविंशतिं बध्नत एव युगपदासां चतसृणां ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्य भावादेकस्या ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्य सद्भावे तदितरासां तिसृणां ज्येष्ठप्रदेशबन्ध एव लभ्यतेऽतस्तथा निर्देशः, एवं वैक्रियद्विकस्याऽपि ज्येष्ठमेव प्रदेशं बध्नाति नरकगतिप्रायोग्यं बध्नतस्तस्य नियमेन बन्धभावात्केवलं कुखगतिदुःस्वराभ्यां सह तस्याऽनुपादानं तु वैक्रियद्विकप्रधानसंनिकर्षस्य पृथग्वक्ष्यमाणत्वात्, यतो वैक्रियद्विकस्य ज्येष्ठप्रदेशं बध्नतो यथा नरकगतिप्रायोग्यप्रकृतीनां बन्धो भवति तथैव देवगतिप्रायोग्याणामपि बन्धलाभान्न कुखगत्यादिप्रधानसन्निकर्षवत्केवलं नरकगतिप्रायोग्याणां बन्ध इति, उत्कृष्टप्रदेशबन्धहेतुस्त्वष्टाविंशतेन्यूनबन्धस्थानेषु तस्य बन्धाऽभावात्।

तथा शेषाणां नरकगतिप्रकृत्या सह बन्धाऽर्हाणां द्वाविंशतेः प्रकृतीनां ज्येष्ठप्रदेशबन्धो न भवति, किन्तु स्वज्येष्ठप्रदेशबन्धतः संख्येयभागहीन एव भवति, तद्यथा—आभ्यः कासाञ्चित्प्रकृतीनां ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्त्रयोविंशतिबन्धस्थाने वर्तमानस्य भवति, कासाञ्चित्प्रकृतीनां तु ज्येष्ठप्रदेशबन्धः पञ्चविंशतौ वर्तमानैः प्राप्यते, तत्र—तैजसकार्मणशरीरहुण्डकसंस्थान-वर्णचतुष्का-ऽगुरुलघूपघात-निर्माण-बादरप्रत्येका-ऽस्थिरा-ऽशुभ-दुर्भगा-ऽनादेया-ऽयशःकीर्तिरूपाणां सप्तदशानामुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्त्रयोविंशतिबन्धकैः प्राप्यते, पञ्चेन्द्रियजाति-पराघातो-च्छ्वास-त्रस-पर्याप्तनामरूपाणां पञ्चानां पञ्चविंशतिं बध्नद्भिर्ज्येष्ठप्रदेशबन्धः क्रियतेऽतः प्रस्तुतबन्धकस्य द्वाविंशतेरपि संख्येयभागहीनो ज्येष्ठबन्धो भवति, भाजकराशेः संख्येयभागाऽधिकत्वात्। एवं नामकर्मसन्निकर्षे उत्कृष्टप्रदेशबन्धस्याऽसंभवे संख्येयभागहीनः प्रदेशबन्धः प्राप्यते, क्वचित्केवलं यशःकीर्तेः संख्येयगुणहीनश्चेति। एवं शेषप्रकृतित्रिकस्याऽपि सन्निकर्षो वाच्यः, चतुर्णां तुल्यज्येष्ठप्रदेशबन्धस्वामित्वादिना समानसन्निकर्षस्य लाभात् ॥५४२-५४३॥

अथ तिर्यग्गत्यादीनामेकविंशतेः प्रत्येकं प्राधान्येन सन्निकर्षं प्ररूपयन्नाह—

तिरियदुगेगिंदियुरलधुवहुंडगसत्तथावराईओ । एगस्स जेट्ठबंधी बंधइ णियमेयराण गुरुं ॥५४४॥
बंधइ सिआ पएसं उक्कोसं सुहमबायरदुगाणं । ....

(प्रे०) "तिरिये" त्यादि, तिर्यग्द्विकैकेन्द्रियजात्यौदारिकशरीरनामध्रुवबन्धिनीनवकहुण्डकसंस्थानस्थावराऽपर्याप्ताऽस्थिराऽशुभ-दुर्भगा-ऽनादेया-ऽयशःकीर्तिनामरूपा एकविंशतिप्रकृतयः, ताभ्य एकस्या ज्येष्ठप्रदेशबन्धं कुर्वन् शेषविंशतेर्ज्येष्ठमेव प्रदेशं बध्नाति, तद्बन्धोऽपि नियमतो विज्ञेयः, अपर्याप्तैकेन्द्रियप्रायोग्यं बध्नत आसां ध्रुवतया बध्यमानत्वात् त्रयोविंशतिबन्धस्थान एवासां सर्वासां ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्य भावाच्च, तथा सूक्ष्मनामसाधारणनामबादरनामप्रत्येकनामरूपाणां चतुर्णां सप्रतिपक्षबन्धाऽर्हत्वेन स्याद्बन्धो भवति, प्रदेशबन्धस्तु तासामप्युत्कृष्ट एव, तुल्यबन्धस्थान एव

ज्येष्ठप्रदेशबन्धकः प्रत्याख्यानावरणचतुष्कं स्याद्बध्नाति,सोऽपि चतुर्थगुणस्थानवर्ती स्यात् तदाऽनन्तभागहीनम् ,पञ्चमगुणस्थाने स्यात् तदोत्कृष्टम् , षष्ठसप्तम.गुणस्थानयोस्तु नैव बध्नाति, तथा संज्वलनचतुष्कं नियमतो बध्नाति,तत्र यदा स षष्ठसप्तमगुणस्थानयोः पुरुषवेदस्योत्कृष्टप्रदेशबन्धको वर्तते, तदा संज्वलनचतुष्कस्योत्कृष्टप्रदेशबन्धं करोति,यदि पुनश्चतुर्थपञ्चमगुणस्थानयोर्वर्तते तदाऽनन्तभागहीनं ज्येष्ठप्रदेशं बध्नाति, एवं संज्वलनचतुष्कस्य द्विविधप्रदेशबन्धो भवति, तथा भयजुगुप्सयोर्नियमतो ज्येष्ठप्रदेशबन्धं च करोति, हास्यरत्योः शोकारत्योरप्रत्याख्यानावरणचतुष्कस्य चेत्यष्टानां स्याद्बन्धको भवति,युगलस्य परावर्तमानत्वादप्रत्याख्यानावरणस्य पञ्चमादिगुणस्थाने बन्धाऽभावात् , यदि बध्नाति तदा पुरुषवेदस्य ज्येष्ठप्रदेशबन्धकाले आसामप्युत्कृष्टमेव प्रदेशं बध्नाति, तुल्यस्वामित्वात् , शेषा मिथ्यात्वादिसप्तप्रकृतीर्नैव बध्नाति, प्रस्तुतबन्धकस्य चतुर्थादिगुणस्थानवर्तित्वात् । यथा पुरुषवेदस्य तथा भयजुगुप्सयोरपि सन्निकर्षो वक्तव्यः, विशेषाऽभावात् , तथा हास्यादियुगलद्वयस्याऽपि सन्निकर्षो पुरुषवेदवदेव वाच्यः । केवलमेकस्य युगलस्य बन्धे तत्प्रतिपक्षयुगलस्य निषेधः कर्तव्यः । एवं लेश्यामार्गणायां मोहनीयसत्कज्येष्ठप्रदेशबन्धस्य स्वस्थानसन्निकर्षो निरूपितः, भव्यमार्गणायां प्राक् त्रिमनुष्यादिमार्गणाभिः सममोघवदतिदेशेन भणितः, अभव्यमार्गणायामपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यगादिभिस्सह निरूपितः, सम्यक्त्वमार्गणायां सम्यक्त्वौघ-क्षायिकौ-पशमिकमार्गणासु मतिज्ञानादिभिस्सह मिश्रेऽनुत्तरमार्गणया साकं मिथ्यात्वे सास्वादने चा-ऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्मार्गणाभिस्समं निरूपितः ।

अथ वेदकसम्यक्त्वमार्गणायामार्याशेषेण प्राह—"**वेअगे एव**"मितिगाथाशकलं तेजोलेश्यामार्गणाया अतिदेशरूपम् ,तच्च सुगमम् , यथाऽनन्तरगाथासु तेजःपद्मलेश्यामार्गणाद्वयेऽप्रत्याख्यानावरणादिद्वादशकषायहास्यषट्कपुरुषवेदरूपाणामेकोनविंशतेः प्रत्येकं सन्निकर्षो दर्शितः, तथा प्रस्तुतमार्गणायामपि वक्तव्यः, केवलं तत्र मिथ्यात्वादिसप्तानां बन्धप्रायोग्यत्वात् तन्निषेधः, प्रस्तुते तासां बन्धाऽनर्हत्वात् न तन्निषेधो वक्तव्य इति । संज्ञ्यादिमार्गणाचतुष्टये तु प्रागेवाऽन्याऽन्यमार्गणाभिस्सह प्रदर्शितः । एवं मोहनीयकर्मसत्कस्वस्थानोत्कृष्टप्रदेशबन्धसन्निकर्षो मार्गणास्वपि समाप्तः ॥५३७-५४१॥

अथ नामकर्मण उत्तरप्रकृतीनां स्वस्थानोत्कृष्टप्रदेशबन्धसनिकर्षं निरुरूपयिषुरादौ तावदोघतो नरकगत्यादिप्रकृतिविषयकं तमाह—

एगस्स गुरुपएसं बंधंतो णिरयदुगकुखगइसरा । सेसतिगस्स तह विउव्वदुगस्स बंधइ गुरुं णियमा ॥
जेट्ठं पएसमूणं संखियभागेण बंधए णियमा । बात्तीसाए णारगपाउग्गाण अवसेसाण ॥
॥५४२-५४३॥

(प्रे०) "एगस्से" त्यादि, नरकगतिनरकानुपूर्वीकुखगतिदुःस्वररूपप्रकृतिचतुष्कादेकस्या उत्कृष्टप्रदेशबन्धकः शेषतिसृणां ज्येष्ठमेव प्रदेशं बध्नाति, त्रयोविंशत्यादिबन्धस्थानेष्वासां बन्धाऽभावान्नरकप्रायोग्याऽष्टाविंशतिं बध्नत एव युगपदासां चतसृणां ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्य भावादेकस्या ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्य सद्भावे तदितरासां तिसृणां ज्येष्ठप्रदेशबन्ध एव लभ्यतेऽतस्तथा निर्देशः, एवं वैक्रियद्विकस्याऽपि ज्येष्ठमेव प्रदेशं बध्नाति नरकगतिप्रायोग्यं बध्नतस्तस्य नियमेन बन्धभावात्केवलं कुखगतिदुःस्वराभ्यां सह तस्याऽनुपादानं तु वैक्रियद्विकप्रधानसंनिकर्षस्य पृथग्वक्ष्यमाणत्वात्, यतो वैक्रियद्विकस्य ज्येष्ठप्रदेशं बध्नतो यथा नरकगतिप्रायोग्यप्रकृतीनां बन्धो भवति तथैव देवगतिप्रायोग्याणामपि बन्धलाभान्न कुखगत्यादिप्रधानसन्निकर्षवत्केवलं नरकगतिप्रायोग्याणां बन्ध इति, उत्कृष्टप्रदेशबन्धहेतुस्त्वष्टाविंशतेन्यूनबन्धस्थानेषु तस्य बन्धाऽभावात्।

तथा शेषाणां नरकगतिप्रकृत्या सह बन्धाऽर्हाणां द्वाविंशतेः प्रकृतीनां ज्येष्ठप्रदेशबन्धो न भवति, किन्तु स्वज्येष्ठप्रदेशबन्धतः संख्येयभागहीन एव भवति, तद्यथा–आभ्यः कासाञ्चित्प्रकृतीनां ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्त्रयोविंशतिबन्धस्थाने वर्तमानस्य भवति, कासाञ्चित्प्रकृतीनां तु ज्येष्ठप्रदेशबन्धः पञ्चविंशतौ वर्तमानैः प्राप्यते, तत्र–तैजसकार्मणशरीरहुण्डकसंस्थान-वर्णचतुष्का-ऽगुरुलघूपघात-निर्माण-बादरप्रत्येका–ऽस्थिरा-ऽशुभ-दुर्भगा-ऽनादेया-ऽयशःकीर्तिरूपाणां सप्तदशानामुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्त्रयोविंशतिबन्धकैः प्राप्यते, पञ्चेन्द्रियजाति-पराघातो-च्छ्वास-त्रस-पर्याप्तनामरूपाणां पञ्चानां पञ्चविंशतिं बध्नद्भिर्ज्येष्ठप्रदेशबन्धः क्रियतेऽतः प्रस्तुतबन्धकस्य द्वाविंशतेरपि संख्येयभागहीनो ज्येष्ठबन्धो भवति, भाजकराशेः संख्येयभागाऽधिकत्वात्। एवं नामकर्मसन्निकर्षे उत्कृष्टप्रदेशबन्धस्याऽसंभवे संख्येयभागहीनः प्रदेशबन्धः प्राप्यते, क्वचित्केवलं यशःकीर्तेः संख्येयगुणहीनश्चे ति। एवं शेषप्रकृतित्रिकस्याऽपि सन्निकर्षो वाच्यः, चतुर्णां तुल्यज्येष्ठप्रदेशबन्धस्वामित्वादिना समानसन्निकर्षस्य लाभात् ॥५४२-५४३॥

अथ तिर्यग्गत्यादीनामेकविंशतेः प्रत्येकं प्राधान्येन सन्निकर्षं प्ररूपयन्नाह—

तिरियदुगेगिंदियुरलधुवहुंडगसत्तथावराईओ। एगस्स जेट्ठबंधी बंधइ णियमेयराण गुरुं ॥५४४॥
बंधइ सिआ पएसं उक्कोसं सुहुमबायरदुगाणं।

(प्रे०) "तिरिये" त्यादि, तिर्यग्द्विकैकेन्द्रियजात्यौदारिकशरीरनामध्रुवबन्धिनीनवकहुण्डकसंस्थानस्थावराऽपर्याप्ताऽस्थिराऽशुभ-दुर्भगा-ऽनादेया-ऽयशःकीर्तिनामरूपा एकविंशतिप्रकृतयः, ताभ्य एकस्या ज्येष्ठप्रदेशबन्धं कुर्वन् शेषविंशतेर्ज्येष्ठमेव प्रदेशं बध्नाति, तद्बन्धोऽपि नियमतो विज्ञेयः, अपर्याप्तैकेन्द्रियप्रायोग्यं बध्नत आसां ध्रुवतया बध्यमानत्वात् त्रयोविंशतिबन्धस्थान एवासां सर्वासां ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्य भावाच्च, तथा सूक्ष्मनामसाधारणनामबादरनामप्रत्येकनामरूपाणां चतुर्णां सप्रतिपक्षबन्धाऽर्हत्वेन स्याद्बन्धो भवति, प्रदेशबन्धस्तु तासामप्युत्कृष्ट एव, तुल्यबन्धस्थान एव

तासामपि ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्य प्राप्यमाणत्वात् । शेषाः प्रकृतयस्तु नैव बध्यन्ते । अत्रोत्तरत्र च याः प्रकृतयो नैव बध्यन्ते ताः स्वयमेव विज्ञेयाः, सुगमप्रायत्वादिति न ताः पुनः पुनः प्रदर्शयामः ॥५४४॥

अथ सूक्ष्मसाधारणबादरप्रत्येकनाम्नां साऽपवादमतिदेशेन प्रस्तुतसन्निकर्षं दर्शयति—

. ... । एमेव सुहुमबायरदुगाण णवर ण पडिवक्खं ॥५४५॥

(प्रे०) "एमेव" त्यादि, सूक्ष्मद्विकं सूक्ष्मसाधारणनामरूपम् , बादरद्विकं बादरप्रत्येकनामरूपमेवं तासां चतसृणां प्रकृतीनां तिर्यग्द्विकादिवत्सन्निकर्षो वेदितव्यः, उभयत्राऽपर्याप्तैकेन्द्रियप्रायोग्यत्रयोविंशतिबन्धस्थान एव ज्येष्ठप्रदेशबन्धभावात् , केवलं तत्र तिर्यग्द्विकादयोऽप्रतिपक्षा अत्र तु सूक्ष्मबादरादीनां सप्रतिपक्षत्वं तेन सूक्ष्मज्येष्ठप्रदेशबन्धसन्निकर्षे तद्बन्धको बादरनाम न बध्नाति । एवं बादरनामप्रधानसन्निकर्षे स सूक्ष्मनाम न बध्नाति, प्रत्येकसाधारणनाम्नोरप्येवमेव विशेषो बोद्धव्यः ॥५४५॥

एतर्हि मनुष्यद्विकस्य प्रस्तुतस्वस्थानसन्निकर्षं प्रदर्शयन्नाह—

मणुयगईए जेट्ठं बधतो बंधए गुरु णियमा । तसुरलुवंगपणिंदियछेवट्ठणराणुपुव्वीणं ॥५४६॥
सेसाण अपज्जत्तगणरयाउग्गाण सखभागूण । गुणवीसाए णियमा एमेव णराणुपुव्वीए ॥५४७॥

(प्रे०) "मणुय"इत्यादि, मनुष्यगतिनाम्नो ज्येष्ठप्रदेशबन्धं कुर्वन् त्रसनामौदारिकाङ्गोपाङ्गपञ्चेन्द्रियजातिसेवार्तसंहननमनुष्यानुपूर्वीरूपाणां पञ्चानां नियमतो ज्येष्ठप्रदेशं च बध्नाति, यथा मनुष्यगतेर्ज्येष्ठप्रदेशबन्धोऽपर्याप्तमनुष्यप्रायोग्यं पञ्चविंशतिबन्धस्थानं बध्नतो भवति तथा पञ्चविंशतिबन्धस्थानं बध्नत एवाऽऽसां पञ्चानामपि ज्येष्ठप्रदेशबन्धभावात् , अपर्याप्तमनुष्यप्रायोग्यं बध्नतस्त्रसनामादीनां पञ्चानामवश्यं बन्धभावाच्च । शेषाणामपर्याप्तमनुष्यप्रायोग्याणामेकोनविंशते र्ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्य त्रयोविंशतिबन्धस्थाने सद्भावात् न मनुष्यगतिज्येष्ठप्रदेशबन्धकस्तासामुत्कृष्टप्रदेशबन्धं करोति, किन्तु स्वज्येष्ठप्रदेशबन्धतः संख्येयभागहीनं बध्नाति । शेषैकोनविंशतिप्रकृतयः पुनरिमाः औदारिकशरीरनवनामध्रुवबन्धिनी-हुण्डकाऽपर्याप्तबादरप्रत्येकाऽस्थिराऽशुभदुर्भगाऽनादेयाऽयशःकीर्तिनामलक्षणाः । यथा मनुष्यगतिनाम्नो ज्येष्ठप्रदेशबन्धसन्निकर्षो निरूपितस्तथैव मनुष्यानुपूर्व्या अपि द्रष्टव्यः, विशेषाऽभावात् ॥५४६-५४७॥

सम्प्रति देवगत्यादिप्रधानं प्रस्तुतसन्निकर्षं निरूपयन्नाह—

सुरदुगसुहृगिइखगइसुहगतिगाओ इगस्स बधंतो । जेट्ठदलं सेसाणं छण्ह बधइ गुरु णियमा ॥
धुवनसचउगपणिंदियपरघूसासाण सखभागूणं । णियमा विउवदुगस्स य जेट्ठं उअ संखभागूणं ॥
आहारदुगस्स गुरुं सिआ जसस्स खलु सखगुणहीणं । बधइ संखंसूणं थिराथिरदुगाजसाण सिआ ॥
॥५४८-५५०॥

(प्रे०) "सुरदुगे"त्यादि, देवद्विकसमचतुरस्रसंस्थानसुखगतिसुभगत्रिकरूपाः सप्त, ताभ्य एकस्या ज्येष्ठप्रदेशबन्धकः शेषाणां षण्णां ज्येष्ठमेव प्रदेशं बध्नाति, आसां सप्तानां त्रयोविंशत्यादौ

बन्धाऽभावेन देवप्रायोग्यस्याऽष्टाविंशतेर्बन्धकस्य यद्वाऽऽहारकद्विकसहितस्य त्रिंशतो बन्धकस्य वा ज्येष्ठप्रदेशबन्धभावात् । देवप्रायोग्यं बध्नत आसां प्रतिपक्षप्रकृतीनां बन्धाऽभावात् ,नियमतो बन्धकत्वम् । तथा नवनामध्रुवबन्धिप्रकृतित्रसचतुष्कपञ्चेन्द्रियजातिपराघातोच्छ्वासरूपाणां षोडशप्रकृतीनां नियमतो बन्धको भवति प्रदेशबन्धं तु स तासां स्वज्येष्ठप्रदेशबन्धतः संख्येय-भागहीनं करोति, आसां ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्य त्रयोविंशतौ पञ्चविंशतौ वा जायमानत्वात् । वैक्रिय-द्विकस्य पुनर्यदि देवगत्यादीनां ज्येष्ठप्रदेशबन्धकोऽष्टाविंशतिं बध्नाति तदा तस्य ज्येष्ठप्रदेशबन्धको भवति, यदि पुनराहारकद्विकसहितं त्रिंशतं बध्नाति तदा शरीरनामलब्धभाग-स्याङ्गोपाङ्गनामलब्धभागस्य चाष्टविंशतिबन्धकाले ये क्रमशः त्रय एकश्च भागा भवन्ति ते त्रिंश-द्बन्धकाले चत्वारो द्वे च भागा भवन्ति, ततोऽष्टाविंशतिबन्धकाले तस्य ज्येष्ठप्रदेशबन्धको भवति त्रिंशद्बन्धकाले पुनः स वैक्रियशरीरस्य स्वज्येष्ठप्रदेशबन्धाऽपेक्षा द्वादशभागहीनं बध्नाति,वैक्रियाङ्गोपाङ्गस्य पुनरासन्नार्धं बध्नाति, एतदपि संख्येयभागहीनं वक्तुं युज्यते, अतो वैक्रियद्विकस्य विकल्पद्वयं ज्येष्ठं संख्येयभागहीनं चेति । आहारकद्विकं पुनः स्याद्बध्नाति, यदि बध्नाति तदोत्कृष्टम् , सुगमञ्चैतत् । यशःकीर्तिनामकर्मणः पुनर्ज्येष्ठप्रदेशबन्धो दशमगुण-स्थाने भवति, ततः प्रस्तुतबन्धकस्तस्य स्वज्येष्ठप्रदेशापेक्षया संख्येयगुणहीनं प्रदेशं बध्नाति, प्रकृतिबन्धस्तु सप्रतिपक्षत्वात्स्याद्विज्ञेयः । तथा स्थिरशुभाऽस्थिराऽशुभाऽयशःकीर्तिरूपाः पञ्च स देवगतिज्येष्ठप्रदेशबन्धकः स्याद् बध्नाति प्रतिपक्षप्रकृतीनां बन्धसद्भावात् तासां ज्येष्ठप्रदेश-बन्धस्य त्रयोविंशतौ पञ्चविंशतौ वा भावात्प्रस्तुते तासां स संख्येयभागहीनं बध्नातीति ॥५४८-५५०॥ एवं गतिचतुष्टयप्रधानसन्निकर्षं निरूप्याऽथ जातिप्रधानं तं प्ररूपयन् एकेन्द्रियजाति-नाम्नस्तिर्यग्गत्या समं दर्शितत्वाद् द्वीन्द्रियजातिप्रधानं तं प्रदर्शयन्नाह—

बेइंदियस्स जेट्ठं बंधंतो बंधए गुरुपएसं । णियमा तसओरालियउवंगछेवट्ठणामाणं ॥
णियमा अपज्जबिंदियपाउग्गाण तु इगवीसाए । संखंसूणं बधइ भवे तिचउइंदियाणेवं ॥
॥५५१-५५२॥

(प्रे०) "बेइंदियस्से"त्यादि, द्वीन्द्रियजातिनामकर्मणो ज्येष्ठं प्रदेशं बध्नन् त्रसनामौ-दारिकाङ्गोपाङ्गसेवार्तनाम्नामप्युत्कृष्टमेव प्रदेशं बध्नाति, यथा द्वीन्द्रियजातिनाम्नो ज्येष्ठप्रदेश-बन्धः पञ्चविंशतिं बध्नतो भवति तथैव एतासामपि, तथाऽपर्याप्तद्वीन्द्रियप्रायोग्यं बध्नत आसां नियमतो बन्धः । '**नियमा**' इत्यादि, शेषाणामपर्याप्तद्वीन्द्रियप्रायोग्याणामेकविंशते-र्बन्धं तु स नियमतो विदधाति, अपर्याप्तद्वीन्द्रियप्रायोग्यं बध्नतः प्रतिपक्षप्रकृतीनां बन्धाभावेन तासामवश्यं बन्धभावात् , प्रदेशबन्धं तु स तासां न ज्येष्ठमपि तु संख्येयभागहीनं करोति, शेषाणां ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्त्रयोविंशतिबन्धस्थाने भवतीति कृत्वा । शेषा एकविंशतिप्रकृतयः पुन-

रिमाः—तिर्यग्द्विकौदारिकशरीरनामनवध्रुवबन्धिहुण्डकसंस्थानबादरप्रत्येकाऽपर्याप्ताऽस्थिराऽशुभदुर्भगाऽनादेयाऽयशःकीर्तिरूपाः ।

एवं यथा द्वीन्द्रियनामप्रधानसन्निकर्षो दर्शितस्तथैव त्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियनामप्रधानोऽपि सन्निकर्षो विज्ञेय इति ॥५५१-५५२॥

अथ पञ्चेन्द्रियजात्यादिनामप्रधानसन्निकर्षं प्रदर्शयन्नाह—

तसुरलुवंगछिवट्ठाण गुरुं णियमा पणिंदिगुरुबंधी । मणुयदुगस्स गुरुं वा संखंसूणं तिरिदुगस्स ॥
णियमा सखसूणं गुणवीसअपज्जमणुयजोग्गाणं । एमेव तसाईणं तिण्ह परं व चउजाईणं ॥
॥५५३-५५४॥

(प्रे०) "तसुरलु" इत्यादि, पञ्चेन्द्रियजातिज्येष्ठप्रदेशबन्धकः त्रसौदारिकाङ्गोपाङ्गसेवार्तनामरूपाणां तिसृणां ज्येष्ठमेव प्रदेशं नियमतश्च बध्नाति, अपर्याप्तमनुष्यप्रायोग्याया अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यक्प्रायोग्याया वा पञ्चविंशतेर्बन्धकस्यासां तिसृणां नियमतो बध्यमानत्वात्, मनुष्यद्विकं स्याद् बध्नाति तस्य च प्रदेशं ज्येष्ठं बध्नाति, तिर्यग्द्विकस्य तु स्याद्बन्धः, प्रदेशं तु संख्येयभागहीनं बध्नाति, त्रयोविंशतौ तस्य ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्य लाभात् । शेषाणामेकोनविंशतेरपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्मनुष्यप्रायोग्याणां बन्धो नियमाद्भवति, प्रदेशबन्धस्तु तासां संख्येयभागहीन उत्कृष्टो विज्ञेयः । त्रयोविंशतिबन्ध एव आसां ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्य लाभात् । एकोनविंशतिप्रकृतयः पुनरिमाः—औदारिकशरीरनवनामध्रुवबन्धिनीहुण्डकसंस्थानबादरापर्याप्तप्रत्येकाऽस्थिराऽशुभदुर्भगाऽनादेयाऽयशःकीर्तिनामलक्षणाः । यथा पञ्चेन्द्रियजातिनामप्रधानसन्निकर्षो निरूपितस्तथैव त्रसनामौदारिकाङ्गोपाङ्गनामसेवार्तनाम्नश्च प्रस्तुतसन्निकर्षो विज्ञेयः केवलमेतत्प्रकृतित्रयप्रधानसन्निकर्षे द्वीन्द्रियादिजातिचतुष्कस्य स्याद्बन्धो वाच्यः, न पुनः पञ्चेन्द्रियजातिसन्निकर्षे यथा त्रसनामादीनां ध्रुवबन्धः कथितस्तथा वक्तव्यः, त्रसनामादिज्येष्ठप्रदेशबन्धकाले द्वीन्द्रियजात्यादीनामपि बन्धलाभात्, प्रदेशबन्धस्तु बध्यमानाऽन्यजातिनाम्न उत्कृष्ट एव भवति, पञ्चविंशतिबन्धस्थाने एव त्रसनामादिवद् द्वीन्द्रियजातिनाम्नामपि ज्येष्ठप्रदेशबन्धभावादिति ॥५५३-५५४॥

अथ वैक्रियद्विकप्रधानसन्निकर्षं प्ररूपयन्नाह—

एगस्स जेट्ठबंधी विउवदुगियरस्स णियमओ जेट्ठं । णिरयसुरखगइदुगसरसुहगतिगसुहागिईण सिआ ॥
णामाण पचिंदियनरघाऊसासतसचउक्काणं । धुवबंधीण बंधइ णियमाओ संखभागूणं ॥
थिरसुहहुण्डअथिरदुगदुहगाणादेयअजसणामाणं । संखंसूणं तु सिआ जसस्स सखेज्जगुणहीणं ॥
॥५५५-५५७॥

(प्रे०) "एगस्स" इत्यादि, वैक्रियद्विकादेकस्य ज्येष्ठप्रदेशबन्धकस्तदितरस्य नियमतो ज्येष्ठप्रदेशं बध्नाति । देवद्विकनरकद्विकखगतिद्विकदुःस्वरसुभगत्रिक-समचतुरस्रसंस्थानरूपाणा-

मेकादशप्रकृतीनां स्याद् ज्येष्ठप्रदेशं च बध्नाति, वैक्रियद्विकज्येष्ठप्रदेशबन्धकस्य देवनरकप्रायोग्य-बन्धकत्वात् स्याद्बन्धकत्वम् , अष्टाविंशतेर्बन्धकत्वात् ज्येष्ठप्रदेशबन्धकत्वं विज्ञेयमिति । पञ्चेन्द्रियजातिपराघातोच्छ्वासत्रसचतुष्कनामध्रुवबन्धिनीनवकरूपाणां षोडशप्रकृतीनां नियमतो बन्धः, प्रदेशं पुनरासां ज्येष्ठप्रदेशबन्धतः संख्येयभागहीनं बध्नाति, आसां प्रतिपक्षप्रकृतीनां बन्धाऽभावान्नियमतो बन्धकत्वम् , पञ्चविंशतौ त्रयोविंशतौ वा-ऽऽसां ज्येष्ठप्रदेशबन्धभावात् संख्येयभागहीनत्वं विज्ञेयम् । तथा स्थिरशुभहुण्डकाऽस्थिराऽशुभदुर्भगाऽनादेयाऽयशःकीर्ति-नामरूपाणामष्टानां स्यात्संख्येयभागहीनज्येष्ठप्रदेशं स बध्नाति, यशःकीर्तिनाम्नो बन्धः स्याद् भवति, प्रदेशं पुनः संख्यातगुणहीनं बध्नाति । देवगतिप्रधानसन्निकर्षवद्भावना कार्येति । ॥५५५-५५७॥

अथाऽऽहारकद्विकप्रधानं ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्वस्थानसन्निकर्षं प्ररूपयन्नाह—

एगस्साहारदुगा गुरुबंधी बंधए गुरुं णियमा । चउरंस तह सुरदुगसुभगिइखगइसुहगतिगाणं॥
बंधइ संखगुणूणं जसस्स णियमाउ संखभागूणं । वीसाए सेसाणं णामाणं तित्थवज्जाणं॥
॥५५८-५५९॥

(प्रे०) "एगस्से"त्यादि, आहारकद्विकादेकस्य ज्येष्ठप्रदेशबन्धकस्तदितरस्य नियमाज्ज्येष्ठप्रदेशं बध्नाति, एवं देवद्विकसमचतुरस्रसंस्थानसुखगतिसुभगत्रिकरूपाणां सप्तानामपि स ज्येष्ठप्रदेशं नियमाच्च बध्नाति, देवद्विकादीनां सप्तानामष्टाविंशतिबन्धकस्येव त्रिंशद्बन्धकस्याऽपि तज्ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्वामित्वाज्ज्येष्ठप्रदेशबन्धकत्वम् , प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाऽनर्हत्वाच्च ध्रुवबन्धिकल्पत्वमिति । तथा यशःकीर्तिनाम्नो बन्धो नियमतो भवति,प्रदेशबन्धं तु संख्यातगुणहीनं करोति, तत्र सप्तमादिगुणस्थाने प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाऽभावान्नियमेनेति तज्ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्य केवलं यशःकीर्तिं बध्नत एव भावेन प्रस्तुते त्रिंशत्प्रकृत्यात्मकबन्धस्थाने तस्य प्रदेशबन्धस्य ज्येष्ठप्रदेशबन्धतः संख्येयगुणहीनत्वमिति । तथा शेषबन्धाऽर्हाणां विंशतेः प्रकृतीनां तीर्थकरनामवर्जानां स नियमतो बन्धको भवति तासां प्रदेशं तु स्वज्येष्ठप्रदेशबन्धतः संख्यातभागहीनं बध्नाति प्रस्तुतबन्धकस्य त्रिंशत्प्रकृत्यात्मकस्थाने प्रवर्तमानत्वात् , शेषविंशतेः प्रकृतीनां ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्य तु त्रयोविंशत्यादौ बन्धस्थाने लाभात्संख्येयभागहीनत्वम् , प्रतिपक्षप्रकृतीनां बन्धाऽभावान्नियमतो बन्धकत्वम् । जिननाम्नो वर्जनं तु देवप्रायोग्यां त्रिंशतं बध्नतः प्रस्तुतबन्धकस्य जिननाम्नो बन्धाऽभावात् , देवप्रायोग्यत्रिंशद्बन्धस्थाने जिननाम्नोऽनन्तर्भावादिति भावः ।

शेषा विंशतिप्रकृतयः पुनरिमाः—पञ्चेन्द्रियजाति-वैक्रियद्विक-नामनवध्रुवबन्धिप्रकृति-पराघातो-च्छ्वास-त्रसचतुष्क-स्थिर-शुभनामलक्षणाः । शरीरनामलब्धभागस्याऽष्टविंशतिबन्धकाले

त्रिभागत्रयस्य भावात्तत्र च वैक्रियशरीरनाम्नो ज्येष्ठप्रदेशबन्धकत्वम् , आहारकशरीरज्येष्ठप्रदेशबन्धकाले तु त्रिंशतो बन्धस्थानस्य लाभाच्छरीरतया लब्धदलिकानां भागचतुष्कस्य भवनान्न तस्य ज्येष्ठप्रदेशबन्धकत्वम् । एवं वैक्रियाङ्गोपाङ्गनाम्नोऽपि ज्ञातव्यमिति, नवरं स्वज्येष्ठप्रदेशबन्धत आसन्नार्धदलिकमिति ॥५५८-५५९॥

अथ वज्रर्षभनाराचसंहननस्य ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्य सन्निकर्षं प्रदर्शयन्नाह––

वइरस्स जेट्ठबंधी णियमा बंधेइ संखभागूणं । पंचिंदियुरलदुगधुवपरघूसासतसचउगाणं ॥
मज्झिमसंठाणाणं सिआ गुरु बंधए जसस्स सिआ । संखगुणूण बंधइ तित्थयरुज्जोअवज्जाण ॥
तिरियदुगाईण सिआ इगूणवीसाअ सखभागूणं । एमेव मज्झिमाण संघयणाणिट्टचउक्काणं ॥
॥५६०-५६२॥

(प्रे०) "वइरस्से"त्यादि, वज्रर्षभनाराचसंहननस्य ज्येष्ठप्रदेशबन्धकः पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्मनुष्यप्रायोग्यं नाम्न एकोनत्रिंशद्बन्धस्थानं बध्नाति, ततः पञ्चेन्द्रियजात्यादीनामष्टादशानां नियमतो बन्धस्तासां ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्य त्रयोविंशतौ पञ्चविंशतौ वा लाभात् संख्येयभागहीनो बन्धः, मध्यमसंस्थानचतुष्कस्य सप्रतिपक्षत्वात् स्याद् बन्धः, एकोनत्रिंशद्बन्ध एव तासां ज्येष्ठप्रदेशबन्धभावात् यदि बध्नाति तदा स ज्येष्ठमेव प्रदेशं बध्नाति, न ततो न्यूनम् । यशःकीर्तिनाम्नः स्याद् बन्धो भवति, प्रदेशबन्धं तु तस्य संख्येयगुणहीनम् , एकविधबन्धकस्यैव तज्ज्येष्ठप्रदेशबन्धलाभात् । तीर्थकरनाम्न उद्योतनाम्नश्च बन्ध एव न भवति तिर्यग्मनुष्यप्रायोग्यैकोनत्रिंशद्बन्धस्थाने तयोर्बन्धाऽभावात् , शेषाणां बन्धप्रायोग्याणां तिर्यग्गत्यादीनामेकोनविंशतेः स्याद् बन्धो भवति, प्रदेशबन्धं तु तासां संख्यातभागहीनमेव स बध्नाति, त्रयोविंशत्यादौ तासां ज्येष्ठप्रदेशबन्धकत्वात् सप्रतिपक्षत्वाच्च स्याद्बन्ध इति । शेषा एकोनविंशतिः प्रकृतयः पुनरेताः–तिर्यग्द्विक-मनुष्यद्विक-समचतुरस्रसंस्थान-हुण्डकसंस्थान-खगतिद्वय-स्थिर-शुभ-सुभग-सुस्वरा-ऽऽदेयनामास्थिरषट्कलक्षणाः । यथा प्रथमसंघयणनाम्नः सन्निकर्षो निरूपितस्तथैव द्वितीयादिपञ्चमान्तसंहननसंस्थाननाम्नामपि सन्निकर्षो वक्तव्यः, वज्रर्षभनाराचवत्तेषामपि ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्य पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्मनुष्यप्रायोग्यं बध्नत एव ज्येष्ठप्रदेशबन्धभावात् केवलं मध्यमसंस्थानप्रधानसन्निकर्षे पञ्चानामपि संहननानां स्याज्ज्येष्ठप्रदेशबन्धो वाच्य इति तु सुगमम् ॥५६०-५६२॥

अथ पराघातनामादिप्रकृतीनां ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्य स्वस्थानसन्निकर्षमोघतः प्राह––

घायस्स जेट्ठबंधी परघाऊसासपज्जगामाओ । दोण्ह णियमा जेट्ठं बंधेइ सिआ थिरसुहाणं ॥
बायरपत्तेअसुहुमसाहारणअथिरअसुहअजसाण । संखंसूण तु सिआ जसस्स संखेज्जगुणहीण ॥
णियमा सखसूण सेससुहुमपज्जिगिंदियऽरिहाण । सत्तरसण्हेव थिरसुहाण णवरं ण पडिवक्ख ॥
॥५६३-५६५॥

(प्रे०) 'एगस्से'त्यादि, पराघातोच्छ्वासपर्याप्तनामभ्य एकस्य ज्येष्ठप्रदेशबन्धकः शेषद्वयस्य नियमाद्बन्धको भवति, प्रदेशबन्धमपि तयोर्ज्येष्ठमेव स करोति, आसां तिसृणां यत्र कुत्रचिदपि युगपदेव बन्धभावात् , पर्याप्तैकेन्द्रियप्रायोग्यपञ्चविंशतिप्रकृत्यात्मक-बन्धस्थान एव तिसृणामपि युगपदेव ज्येष्ठप्रदेशबन्धभावाच्च । स्थिरशुभनाम्नः स स्याद्-बन्धको भवति, प्रदेशबन्धं तु तयोर्ज्येष्ठमेव निर्वर्तयति, अत्र प्रकृतीनां परावर्तमानत्वात्स्याद्-बन्धः, ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्वामिनां तुल्यत्वाज्ज्येष्ठ एव प्रदेशबन्धः । तथा बादरनामप्रत्येकनाम-सूक्ष्मसाधारणास्थिराशुभायशःकीर्तिरूपसप्तप्रकृतीनां स्यात्संख्यातभागन्यूनं ज्येष्ठप्रदेशबन्धं च स करोति । प्रस्तुतबन्धकस्यासां परावर्तमानभावेन बन्धकत्वात् आसां ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्य त्रयोविंश-तिबन्धस्थाने एव जायमानत्वाच्च तथानिर्देशः । यशःकीर्तिनाम्नस्तु स्वज्येष्ठप्रदेशबन्धतः संख्या तगुणहीनं प्रदेशबन्धं स्यात् करोति, एकविधबन्धकस्यैव तज्ज्येष्ठप्रदेशबन्धभावात् , स्यात्तु परा-वर्तमानत्वात् । शेषाणां सूक्ष्मपर्याप्तैकेन्द्रियप्रायोग्याणां सप्तदशानां स नियमतः स्वज्येष्ठप्रदेश-बन्धतः संख्यातभागहीनप्रदेशबन्धं करोति । अत्र पञ्चविंशतिबन्धस्थाने वर्तमानप्रस्तुतबन्धकस्य सूक्ष्मपर्याप्तैकेन्द्रियप्रायोग्यशेषप्रकृतीनामिति निर्देशस्तु तस्य बादरैकेन्द्रियपर्याप्तप्रायोग्यस्यापि-बन्धाऽर्हत्वेऽप्यातपोद्योतयोर्वर्जनार्थम् , तद्वर्जनं तु तद्बन्धकस्य षड्विंशतिबन्धस्थानस्य लाभात् न प्रस्तुतपराघातादिप्रकृतीनां स ज्येष्ठप्रदेशबन्धकः स्यात् , आसां शेषसप्तदशानामपि ध्रुवं बध्यमानत्वं तु प्रस्तुतबन्धकस्य तत्प्रतिपक्षप्रकृतीनां बन्धाऽभावात्संख्येयभागहीनत्वं तु त्रयोविंशतौ तज्ज्येष्ठप्रदेशबन्धलाभात् । शेषप्रकृतयः पुनरेताः-तिर्यग्द्विकैकेन्द्रियजात्यौदारिक-शरीरनवनामध्रुवबन्धिनीहुण्डकसंस्थानस्थावरदुर्भगानादेयनामानीति । यथा पराघातादिप्रधान-सन्निकर्षो दर्शितस्तथैव स्थिरशुभनाम्नोरपि प्रत्येकं तत्प्रधानसन्निकर्षो वक्तव्यः, केवलं पराघातादिति-सृणां ज्येष्ठप्रदेशबन्धो नियत एव द्रष्टव्यः,तथा स्वप्रतिपक्षप्रकृतेर्बन्धाभावश्चे ति ॥५६३-५६५॥

अथा-ऽऽतपनामादिप्रधानसन्निकर्षं प्रदर्शयितुमनाः प्राह—

गुरुबंधी खलु आयवदुगिगस्स अजसथिराथिरदुगाण । संखसूणं तु सिआ जसम्स सखेज्जगुणहीण ॥
सेसाण पज्जबायरपत्ते एगिंदियारिहाण तु । बावीसाए बधइ णियमाओ संखसागूणं ॥
॥५६६-५६७॥

(प्रे०) "गुरुबंधो" इत्यादि, आतपोद्योतनाम्नोरन्यतरस्य ज्येष्ठप्रदेशबन्धकः स्वेतरन्न बध्नाति, विरुद्धबन्धत्वात्तयोः । तथाऽयशःकीर्तिनामस्थिराऽस्थिरशुभाऽशुभनामरूपपञ्चानां स्यात्संख्यातभागहीनज्येष्ठप्रदेशबन्धं करोति, यशःकीर्तिनाम्नस्तु स्यात्संख्यातगुणहीनं ज्येष्ठप्रदे-शबन्धतः प्रदेशं बध्नाति । तथा शेषाणां बादरपर्याप्तैकेन्द्रियप्रायोग्याणां द्वाविंशतेर्नियमतो ज्येष्ठप्रदेशबन्धतः संख्यातभागहीनप्रदेशबन्धं करोति, षड्विंशतिबन्धस्थाने आतपनामोद्योतनाम वा विहाय न कस्या अपि प्रकृतेर्ज्येष्ठप्रदेशबन्धसंभव इति । शेषहेत्वादिभावना तु सुगमा ।

इमाः पुनः शेषप्रकृतयः-तिर्यग्द्विकैकेन्द्रियजात्यौदारिकशरीरनामनवध्रुवबन्धिप्रकृतिहुण्डकसंस्थानपराघातोच्छ्वासस्थावरबादरत्रिकदुर्भगानादेयनामानीति ॥५६६-५६७॥

अथ तीर्थकरनामकर्मप्रधानं प्रस्तुतसन्निकर्षं प्रदर्शयन्नाह—

तित्थस्स जेट्ठबंधी संखियगुणहीणगं जसस्स सिआ । थिरअथिराहारगदुगअजसाणं संखभ.गूणं ॥
णियमा सखम्मूण सुरपाउग्गाण पंचवीसाए । सेसाणं गुरुबधी जसस्स बंधइ ण चिअ सेसा ॥
॥५६८-५६९॥

(प्रे०) "**तित्थस्से**"त्यादि,तीर्थकरनाम्नो ज्येष्ठप्रदेशबन्धको देवगतिप्रायोग्यैकोनत्रिंशद्बन्धस्थाने एकत्रिंशद्बन्धस्थाने वा वर्तमानो भवति, ततः स न कस्या अपि प्रकृतेर्ज्येष्ठप्रदेशबन्धकर्ता भवति,तत्र यशःकीर्तिनाम्नस्तु स स्वज्येष्ठप्रदेशबन्धतः संख्यातगुणहीनप्रदेशबन्धं स्याच्च करोति,तथा स्थिराऽस्थिरशुभाऽशुभाऽऽहारकद्विकाऽयशःकीर्तिनामरूपाणां सप्तानां स्यात्संख्यातभागहीनं ज्येष्ठप्रदेशबन्धं करोति । शेषाणां देवगतिप्रायोग्याणां पञ्चविंशतेरपि प्रकृतीनां स नियमात्स्वज्येष्ठप्रदेशबन्धात्संख्येयभागहीनप्रदेशबन्धं च निर्वर्तयति। त्रयोविंशत्यादौ यथासंभवं तासां ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्य लाभात् । पञ्चविंशतिप्रकृतयः पुनरेताः—देवद्विकपञ्चेन्द्रियजातिवैक्रियद्विकनामनवध्रुवबन्धिनीसमचतुरस्रसंस्थानसुखगतिपराघातोच्छ्वासत्रसचतुष्कसुभगत्रिकनामानीति ।

अथ "**गुरुबंधी**" इत्यादि, गाथादेशेन यशःकीर्तिनामप्रधानसन्निकर्षं दर्शयति—यशःकीर्तिनाम्नो ज्येष्ठप्रदेशबन्धकः शेषनामप्रकृतीनां बन्धमेव न करोति, एकप्रकृत्यात्मकबन्धस्थाने श्रेणौ देवगत्यादिप्रकृतीनां बन्धविच्छेदादूर्ध्वं दशमगुणस्थान एव तस्या ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्य जायमानत्वादिति सुगमं चैतदिति । एवं नामकर्मणः स्वस्थानज्येष्ठप्रदेशबन्धसन्निकर्षनिरूपणमोघतः समाप्तम् ॥५६८-५६९॥

संप्रति मार्गणासु नामकर्मण एव स्वस्थानज्येष्ठप्रदेशबन्धसन्निकर्षं प्ररूपयन्नादौ तावद्यासु मार्गणासु सर्वासां नामप्रकृतीनां निरुक्तसन्निकर्ष ओघवत्तासु तदतिदेशेन प्रदर्शयन्नाह—

ओघव्व सण्णियासो जेट्ठपएसस्स णामपयडीण । सव्वेसिं विण्णेयो तिणरदुपंचिंदियतसेसुं ॥
पणमणवयकायउरलथीपुरिसणपुंसचउकसायेसुं । चक्खुअचक्खूसु तहा भविये सण्णिम्मि आहारे ॥
॥५७०-५७१॥

(प्रे०) "**ओघव्वे**"त्यादि, त्रिमनुष्याद्येकत्रिंशद्मार्गणासु बन्धाऽर्हाणां सर्वासां सप्तषष्टिनामप्रकृतीनां स्वस्थानज्येष्ठप्रदेशबन्धसन्निकर्ष ओघवद्भवति, ओघोक्तानां ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्वामिनां निरुक्तसर्वमार्गणासु लाभात् , भावनाऽप्योघतुल्या, तत ओघत एवाऽवधार्या, न पुनर्दर्श्यत इति ॥५७०-५७१॥

अथ गत्यादिक्रमेण नरकगत्यादिमार्गणासु प्रस्तुतसन्निकर्षं प्राह—

णिरयपढमाइतिणिरयतइआइगअट्ठमंतदेवेसु । एगस्स गुरुपएसं बंधेमाणो उ तिरियदुगा ॥
खगइछसंघयणागिइथिराइजुगलाण खलु सिआ जेट्ठं । णियमा उज्जोअरहिअतिरिजोग्गाण गुणवीसाए ॥
मणुयगईअ पएसं बंधेमाणो गुरुं सिआ जेट्ठं । बंधइ दुखगइछागिइसंघयणथिराइजुगलाणं ॥
बंधइ गुणवीसाए णराउग्गाण तित्थवज्जाणं । णियमा जेट्ठं एवं णराणुपुव्वीअ विण्णेयो ॥
पंचिंदियुरलदुगधुवपराऊसासतसचउक्काओ । एगस्स जेट्ठबंधी बंधइ णियमेयराण गुरुं ॥
बंधेइ सिआ जेट्ठं सेसजिणुज्जोअवज्जतीसाए। एमेव छवीसाए णवर बंधइ ण पडिवक्खं ॥
तित्थस्स जेट्ठबंधी बंधेइ थिराइतिजुगलाण सिआ। संखसूणं णियमा छवीसधुवसुणरजोग्गाणं ॥
खगइछसंघयणागिइथिराइजुगलाण संखभागूणं। बंधइ सिआ पएस गुरुमुज्जोअस्स बंधंतो ॥
णियमा संखसूणं तिरियाउग्गाण वीससेसाणं । .... ॥

॥५७०-५७६॥

(प्रे०) "**णिरये**" त्यादि, नरकौघ-प्रथमादित्रिनरकरूपासु चतसृषु मार्गणासु तथा सनत्कुमारादिसहस्रारान्तषड्देवमार्गणासु च समुदितासु दशमार्गणासु नाम्नो द्वे बन्धस्थाने, तद्यथा-पञ्चेन्द्रियतिर्यक्प्रायोग्यमेकोनत्रिंशत् त्रिंशच्च, मनुष्यप्रायोग्यमप्येकोनत्रिंशत् त्रिंशच्च । तत्रैकोनत्रिंशद्बन्धस्थाने तिर्यग्द्विकं मनुष्यद्विकं विहाय समानाः प्रकृतयो भवन्ति, तत उद्योत-जिननाम्नी विहाय शेषबन्धाऽर्हाणामष्टचत्वारिंशत्प्रकृतीनां ज्येष्ठप्रदेशबन्ध एकोनत्रिंशद्बन्धकस्यैव प्राप्यते, तत एताभ्य एकस्या ज्येष्ठप्रदेशबन्धमत्वे शेषनामप्रकृतीनां बन्धसंभवे तासां ज्येष्ठप्रदेशबन्ध एव भवति, उद्योतनाम जिननाम च नैव बध्नातीति तद्विहाय स्याद्बन्धकत्वं नियतबन्धकत्वं तु तस्याः सप्रतिपक्षत्वादिना भवति । तत्राऽऽद्यगाथाद्वयेन तिर्यग्द्विकप्रधानसन्निकर्षस्तृतीयचतुर्थगाथाभ्यां मनुष्यद्विकप्रधानः, पञ्चमादिसार्धगाथया पञ्चेन्द्रियजात्याद्यष्टादशप्रकृतिप्रधानस्ततोऽर्धगाथया सापवादमतिदेशेन षड्विंशतिप्रकृतीनां सन्निकर्षो निरूपितः, सुगमप्रायश्चैषः। षड्विंशतिः प्रकृतयः पुनरिमाः-संहननषट्कं संस्थानषट्कं स्थिरषट्कमस्थिरषट्कं खगतिद्वयञ्चेति । सप्तमार्यया जिननामसत्कसन्निकर्षं दर्शयति-तत्र जिननामज्येष्ठप्रदेशबन्धकस्य प्रस्तुतमार्गणागतस्य त्रिंशत्प्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्यैव लाभात्तत्र स जिननामवर्जानां बन्धाऽर्हाणां सर्वासां स्वज्येष्ठप्रदेशबन्धतः संख्यातभागहीनं प्रदेशबन्धं करोति । तत्र स्थिरादियुगलत्रिकस्य स्याद्बन्धः, शेषाणां षड्विंशतेर्नियतबन्धश्च वक्तव्यः । षड्विंशतिः प्रकृतयः पुनरिमाः—मनुष्यद्विक-पञ्चेन्द्रियजात्यौ-दारिकद्विक-नवनामध्रुवबन्धिनी-वज्रर्षभनाराचसंहनन-समचतुरस्रसंस्थान-सुखगति-पराघातो-च्छ्वास--त्रसचतुष्कसुभगत्रिकनामानीति । अथाऽष्टमादिसार्धगाथया उद्योतनामप्रधानं सन्निकर्षं प्रदर्शयति उद्योतनाम्नो ज्येष्ठप्रदेशबन्धकः प्रस्तुते त्रिंशद्बन्धस्थानगत एव वर्तते, ततः स उद्योतरहितानां बन्धाऽर्हाणां प्रकृतीनां स्वज्येष्ठप्रदेशबन्धतः संख्येयभागहीनमेव प्रदेशबन्धं करोति, तथा तदा षड्विंशतेः खगत्यादीनां स्याद्बन्धो भवति, शेषाणां तिर्यक्प्रायोग्याणां विंशतेर्नियमतो बन्धो भवति, भावना तु सुगमा । तिर्यक्प्रायोग्याणां यासां विंशतेः प्रस्तुते ध्रुवो बन्धः ताः

पुनरिमाः–तिर्यग्द्विक–पञ्चेन्द्रियजात्यौ-दारिकद्विक–नामध्रुवबन्धिनीनव–पराघातो–च्छ्वास-त्रस-चतुष्कनामानीति ॥५७२-५७९॥

एवं सार्धाऽष्टगाथया नरकगत्योघादिदशमार्गणासु बन्धप्रायोग्यनामप्रकृतीनां सन्निकर्षं प्रदर्श्य अथ चतुर्थादिनरके तमतिदिशन्नाह—

··· ·। तुरिआइतिणिरयेसु सप्पाउग्गाण एमेव ॥५८०॥

(प्रे०) "तुरिआइ" इत्यादि, चतुर्थपञ्चमषष्ठनरकमार्गणात्रये स्वप्रायोग्याणां प्रकृतीनां प्रत्येकं सन्निकर्षो नरकौघवज्ज्ञातव्यः, अत्र जिननाम्नो बन्धाऽभावात्तद्विषयकसन्निकर्षं विहाय शेषं सर्वं तद्वदेव भवतीति ॥५८०॥

एतर्हि सप्तमनरकमार्गणायां नामकर्मणः स्वस्थानज्येष्ठप्रदेशबन्धसन्निकर्षं प्राह—

एगस्स तमतमाए गुरुबंधी तिरिदुगा सिआ जेट्ठं । बंधइ दुखगइछागिइसंघयणथिराइजुगलाणं ॥
गुणवीसुज्जोअरहिअतिरिजोग्गाण णियमा गुरुं एव । पणसंघयणागिइकुखगइदुहगतिगाण ण उण पडिवक्खं ।
गुरुबंधी मणुयदुगा एगस्स थिराइतिजुगलाण सिआ । जेट्ठं णियमाऽण्णधुवसुणरजोग्गाण णिरयव्व
सेसाणं ॥ (द्वितीया तृतीया च गीतिः) ॥५८१-५८३॥

(प्रे०) "एगस्से"त्यादि, सप्तमनरकपृथ्व्यां वर्तमानैर्नारकैः प्रथमद्वितीयगुणस्थानगतैस्तिर्यक्प्रायोग्यप्रकृतीनामेव बन्धो भवति, ततो यथा तिर्यग्द्विकप्रधानसन्निकर्षो नरकगत्यौघवतुल्यो भवति तथा न पुनर्द्वितीयादिपञ्चसंहननादिप्रकृतीनाम्, किन्तु तासां द्वितीयादिसंहननज्येष्ठप्रदेशबन्धकस्तिर्यग्द्विकस्याऽपि नियमाद् बन्धको भवति, ततस्तिर्यग्द्विकस्य सन्निकर्षमभिधाय पञ्चसंहननादिचतुर्दशप्रकृतीनां तं सापवादमतिदिशति-"एव"मित्यादि, अत्रेदं ज्ञातव्यं भवति—यत् तिर्यग्द्विकबन्धकस्य संहननषट्कस्य स्याद् बन्धो भवति, किन्तु द्वितीयाद्यन्यतमसंहननप्रधाने शेषसंहननानां प्रतिपक्षत्वात् स नैव बध्नाति, एवं संस्थानादिष्वपि प्रतिपक्षप्रकृतीनां निषेधो वक्तव्यः, तथोक्तसंहननादिचतुर्दशप्रकृतिज्येष्ठप्रदेशबन्धकस्तिर्यग्द्विकं नियमतो बध्नातीति । तथा मनुष्यद्विकस्य केवलं तृतीयचतुर्थगुणस्थानगतैर्बध्यमानत्वेन नरकौघतः प्रस्तुते तत्सन्निकर्षस्य विलक्षणत्वात्तत्प्रधानसन्निकर्षं दर्शयति-"गुरुबंधी"इत्यादिना, मनुष्यद्विकादेकस्या ज्येष्ठप्रदेशबन्धकः सप्तमपृथ्वीनारकः स्थिरादियुगलत्रयस्य स्याद्बन्धं प्रदेशबन्धं च ज्येष्ठं करोति, शेषाणां सम्यग्दृष्टियोग्याणां मनुष्यगत्या सह बन्धप्रायोग्याणां पञ्चविंशतेर्नियमतो ज्येष्ठप्रदेशं च बध्नाति । ताः पुनरिमाःपञ्चविंशतिः-पञ्चेन्द्रियजात्यौ-दारिकद्विक-नवनामध्रुवबन्धिनी-वज्रर्षभनाराचसंहनन-समचतुरस्रसंस्थान-सुखगति-पराघातो-च्छ्वास-त्रसचतुष्क-सुभगत्रिकनामानि मनुष्यद्विके-ऽन्यतरा एका चेति ।

एवञ्च तिर्यग्द्विकद्वितीयसंहननादिचतुर्दशप्रकृतिमनुष्यद्विकरूपाणामष्टादशप्रकृतीनां सन्निकर्षो ग्रन्थकृता पृथग्दर्शितः, शेषाणां बन्धप्रयोग्याणां पञ्चेन्द्रियजात्यौ-दारिकद्विक-नामनवध्रुव-

चन्धिनी-वज्रर्षभनाराचसंहनन-प्रथमसंस्थान-सुखगति-पराघातो-च्छ्वासो-द्योत-त्रसदशका-ऽस्थिरा-ऽशुभा-ऽयशःकीर्तिनामरूपाणामेकत्रिंशत्प्रकृतीनां स्वस्थानज्येष्ठप्रदेशबन्धसन्निकर्षस्सर्वथा नरकौघवज्ज्ञातव्यः, उद्योतनाम विहाय शेषाणां सम्यग्दृष्टिमिथ्यादृष्टयोस्तज्ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्वामित्वात् । सुगमत्वात् स सन्निकर्षो नरकौघप्ररूपणात एवाऽवधारणीयो जिज्ञासुभिः ॥५८१-५८३॥

अथ तिर्यगोघादिमार्गणासु प्रस्तुतसन्निकर्षं प्रदर्शयन्नाह—

तिरियतिपणिंदियतिरियतिअणाणअभवियमिच्छअमणेसु । ओघव्व सण्णियासो सगाउग्गाण णामाणं ॥
णवरं जसस्स सव्वह थिरव्व णेयो जसस्स गुरुबंधी । बायरपत्ते आणं णियमा बंधइ ण सुहुमसाहारा
देवजुगलपढमागिइसुहगतिगपसत्थखगइगुरुबंधी । जेट्ठं चेव पएसं बंधइ वेउव्वियदुगस्स ॥
(द्वितीया गीतिः) ५८४-५८६॥

(प्रे०) "तिरिये"त्यादि, तिर्यगोघ-पञ्चेन्द्रियतिर्यगोघ-पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यक्-तिरश्ची-मत्यज्ञान-श्रुताज्ञान-विभङ्गज्ञाना-ऽभव्य-मिथ्यात्वा-ऽसंज्ञिरूपासु दशमार्गणासु बन्धाऽर्हाणां चतुःपष्टेर्नामकर्मोत्तरप्रकृतीनां प्रस्तुतसन्निकर्षं ओघवज्ज्ञातव्यः, तत्र यशःकीर्तिनाम विहाय शेषाणामोघवत् तिर्यग्मनुष्याणां ज्येष्ठप्रदेशबन्धलाभात् सन्निकर्षोऽप्योघतुल्यः प्राप्यते, यशःकीर्तिनाम्नः पुनर्विशेष इति "णवरं"इत्यादिना तं दर्शयति-'सव्वह' त्ति यासां यासां प्रकृतीनां सन्निकर्षे यशःकीर्तिनाम्नो नियमतो यद्वा स्याद्बन्धस्तत्र सर्वत्र तस्य प्रदेशबन्धः स्थिरनामवत् ज्येष्ठः संख्यातभागन्यूनो वा कथनीयो न तु संख्यातगुणन्यूनः, इह श्रेणेरभावात् ,तथा स्वप्रधान-सन्निकर्षोऽपि स्थिरनामवज्ज्ञेयः, यतो यशःकीर्तिनाम्न ओघे सन्निकर्ष एव न विद्यते, श्रेणावेकप्रकृतिबन्धकस्यैव तज्ज्येष्ठप्रदेशबन्धभावात् , प्रस्तुतमार्गणासु श्रेण्यभावात् स्थिरनामकर्मवत्तस्य सन्निकर्षो विज्ञेयः, पञ्चविंशतौ वेवोभययोर्ज्येष्ठप्रदेशबन्धभावात् , केवलं स्थिरनाम्नो ज्येष्ठप्रदेशबन्धकैः सूक्ष्मसाधारणनाम्नोरपि वध्यमानत्वेन बादरनाम प्रत्येकनाम च स्याद् वध्येते,किन्तु यशःकीर्तिनामबन्धकैर्बादरत्रिकं नियमतो बध्यते इति कृत्वा तदन्तर्वर्तिनोर्बादरप्रत्येकनाम्नोर्नियमेन बन्धः कथितः, प्रतिपक्षसूक्ष्मसाधारणनाम्नोर्निषेधः कृत इति । तथा प्रस्तुत आहारकद्विकस्य बन्धाऽभावाद् देवद्विकसमचतुरस्रसुखगतिसुभगत्रिकनामलक्षणानां सप्तानां ज्येष्ठप्रदेशबन्धं कुर्वन् वैक्रियद्विकस्योत्कृष्टमेव प्रदेशबन्धं करोति नत्वोघवत्संख्येयभागहीनमपीत्यपवादस्य भणनम् । भावना तु सुगमा ॥५८४-५८६॥

अथाऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यगादिमार्गणासु प्रस्तुतसन्निकर्षं प्रदर्शयन्नाह—

असमत्तपणिंदितिरियमणुयपणिंदियतसेसु सव्वेसु । एगिंदियविगलिंदियपुढवीसलिलवणकायेसु ॥
वइरस्स जेट्ठबंधी णियमा बधेइ संखभागूणं । पंचिंदियुरलदुगधुवपरघूसासतसचउगाणं ॥
तिरिणरदुगहुंडदुहगऽणादेयथिराइतिजुगलाणं तु । बंधइ सिआ पएसं हीणं संखेज्जभागेणं ॥
जेट्ठं सिआ ण्णागिइदुखगइसुहगतिगदुस्सराणेवं । सि तह चउमज्झिमसंघयणाण तिरिव्व सेसाणं ॥
॥५८७-५९०॥

(प्रे०) "असमत्त"त्यादि, अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यङ्, अपर्याप्तमनुष्यः, अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियः, अपर्याप्तत्रसकायः, सप्तैकेन्द्रियभेदाः, नव विकलेन्द्रियभेदाः, सप्तपृथ्वीकायभेदाः, सप्ताऽप्कायभेदाः, एकादश वनस्पतिकायभेदाः, समुदिताश्च पञ्चचत्वारिंशद् मार्गणाः, तासु ग्रन्थकृता वज्रर्षभादिषोडशप्रकृतीनां सन्निकर्षं प्रदर्श्य शेषाणां द्विचत्वारिंशत्प्रकृतीनां सन्निकर्षः तिर्यग्मार्गणावदतिदिष्टः, तद्बीजं त्विदम्—त्रयोविंशतौ पञ्चविंशतौ षड्विंशतौ वा यासां द्विचत्वारिंशतो ज्येष्ठप्रदेशबन्धो लभ्यते, तासां सन्निकर्षस्तिर्यगोघवद्भवति । तथाऽत्राऽष्टाविंशतिबन्धस्थानस्याऽभावात्तिर्यगत्योघे यासां समचतुरस्रसंस्थान-सुखगति-सुभगत्रिक-कुखगति-दुःस्वररूपाणां सप्तानां ज्येष्ठप्रदेशबन्धोऽष्टाविंशतेर्बन्धकस्य भवति प्रस्तुते तासां ज्येष्ठप्रदेशबन्धमेकोनत्रिंशद्बन्धकः करोति, अतस्तासां तथाऽऽद्यपञ्चसंहननमध्यमसंस्थानचतुष्करूपाणां नवानां चेति षोडशानामेकोनत्रिंशद्बन्धको ज्येष्ठप्रदेशबन्धं करोतीति तासां विशेषरूपेण प्ररूपणम् । तत्र वज्रर्षभनाराचसंहननस्य ज्येष्ठप्रदेशबन्धकः पञ्चेन्द्रियजात्याद्यष्टादशानां नियमतः संख्यातभागहीनञ्च ज्येष्ठप्रदेशं बध्नाति, तिर्यग्द्विकादित्रयोदशानां सप्रतिपक्षत्वात्स्यात्संख्येयभागहीनञ्च ज्येष्ठप्रदेशबन्धं करोति । तथा समचतुरस्रादिसंस्थानपञ्चकाद्येकादशप्रकृतीनां सप्रतिपक्षत्वात्स्यात्तुल्यस्थानगतानामेव ज्येष्ठप्रदेशबन्धभावात् ज्येष्ठमेव प्रदेशं बध्नाति । एवं पञ्चसंस्थानखगतिद्वय-सुभगत्रिक-दुःस्वरनाम्नां सन्निकर्षो ज्ञातव्यः, तथा मध्यमसंहननचतुष्कस्याऽप्येवमेव सन्निकर्षो विज्ञेयः, केवलं प्रधानीकृतप्रकृतिप्रतिपक्षप्रकृतीनां बन्धो न भवति । यासां शेषाणां प्रस्तुतसन्निकर्षस्तिर्यगोघवद्भवति ताः पुनरिमाः—तिर्यग्द्विक-मनुष्यद्विक-जातिपञ्चकौदारिकद्विक-नामनवध्रुवबन्धिप्रकृति-हुण्डक-सेवार्तसंहनन-पराघातो-च्छ्वासा-ऽऽतपो-द्योत-त्रसचतुष्क-स्थिरादियुगलत्रय-स्थावरचतुष्क-दुर्भगा-ऽनादेयनामानीति द्विचत्वारिंशत् । हेत्वादिभावना तु सुगमा । ॥५८७-५९०॥ अथ मनुष्यत्वादिमार्गणात्रये प्रस्तुतसन्निकर्षस्य "ओघव्व सण्णियासो" इत्यादिना ओघवदतिदेशेन निरूपितत्वात्क्रमप्राप्तदेवगतिभेदेषु तं दर्शयन्नाह—

एगम्मि जेट्ठबंधी देवपढमकप्पाविउव्वजुगलेसु । तिरियदुगेगिंदियधुवबंधिउरालपरघायाओ ॥
ऊसासहुंडथावरदुहगाणादेयबायरतिगाओ । णियमा बंधइ जेट्ठं सेसाणं एगवीसाए ॥
बंधेइ सिआ जेट्ठं थिराइजुगलाण तिण्ह एमेव । तिथिराइगजुगलाणं णवर बंधइ ण पडिवक्खं ॥
मणुयगईए जेट्ठं बंधंतो बंधए गुरुं णियमा । उरलोवंगपणिंदियणराणुपुव्वितसणामाणं ॥
जेट्ठं संघयणागिइदुखगइसुहगतिगदुस्सराण सिआ । हुंडदुहगऽणादेयतिथिराइजुगलाण संखभागूणं ॥
सेसाण पणासण्हं णराउगाण तित्थवज्जाणं । णियमा सखसूणं एमेव णराणुपुव्वीए ॥
मणुयाइव्व पणिंदियसुरखुवगाण णवरि बंधेइ । णरतिरियदुगाण कमा सिआ गुरु संखभागूणं ॥
संघयणछगपणागिइदुखगइसुहगतिगदुस्सराणं तु । एमेव णवरि बंधइ ण चेव पडिवक्खपयडीओ ॥
णिरयव्व जिणस्स भवे तिरियव्वाऽऽयवदुगस्स विण्णेयो । भवणतिगे णामाणं सप्पाउग्गाण एमेव ॥

(पञ्चमा गीतिः) ॥५९१-५९९॥

(प्रे०) '**एगस्स**'त्यादि, देवौघ-सौधर्मेशान-वैक्रियकाययोग-तन्मिश्रयोगरूपासु पञ्च-मार्गणासु बादरपर्याप्तप्रत्येकैकेन्द्रियप्रायोग्यां पञ्चविंशतिं बध्नन् तिर्यग्द्विकादिद्वाविंशतिप्रकृति-ष्वन्यतमस्या ज्येष्ठप्रदेशं बध्नन् शेषैकविंशतेर्ज्येष्ठप्रदेशबन्धं नियमतश्च करोति, स्थिरादियुग-लत्रयस्य स्याज्ज्येष्ठप्रदेशबन्धं च करोति। एवं स्थिरादियुगलत्रयस्याऽपि सन्निकर्षो द्रष्टव्यः, केवलं प्रधानीकृतप्रकृतिप्रतिपक्षप्रकृतिं न बध्नाति। मनुष्यद्विकादेकस्या गुरुप्रदेशबन्धको नाम्न एकोनत्रिंशतं बध्नाति, ततस्तुल्यबन्धस्थानगतानां ज्येष्ठप्रदेशबन्धानां ज्येष्ठप्रदेशबन्धो विज्ञेयः, पञ्चविंशतौ ज्येष्ठप्रदेशबन्धाऽर्हाणां तु संख्येयभागहीनम्, स्यान्नियतबन्धादिकं तु प्रकृतिबन्धा-ऽनुसारेण ज्ञातव्यम्। तद्यथा—मनुष्यगतिनाम्नो ज्येष्ठप्रदेशबन्धको मनुष्यानुपूर्वि-पञ्चेन्द्रिय-जात्यौदारिकाङ्गोपाङ्ग-त्रसनाम्नां नियमतो ज्येष्ठप्रदेशबन्धं च करोति, संहननषट्क-प्रथमादि-पञ्चसंस्थान-खगतिद्वय-सुभगत्रिक-दुःस्वररूपाणां सप्तदशानां सप्रतिपक्षाणां स्यात् ज्येष्ठप्रदेश-बन्धं च करोति। तथा नामनवध्रुवबन्धिप्रकृत्यौदारिकशरीर-पराघातोच्छ्वास बादरत्रिकरूपाणां पञ्चदशानां नियमतः संख्यातभागहीनं ज्येष्ठप्रदेशबन्धं करोति, तथा हुण्डक-दुर्भगा-ऽनादेया-स्थिरा-ऽस्थिर-शुभा-ऽशुभ-यशःकीर्त्य-यशःकीर्तिनामरूपाणां नवानां सप्रतिपक्षत्वात्स्यात्संख्यात-भागहीनञ्च ज्येष्ठप्रदेशबन्धं विदधाति। तीर्थकरनाम तु नैव बध्नाति। एवं मनुष्यानुपूर्व्याः सन्निकर्षो विज्ञेयः। यथा मनुष्यद्विकस्य सन्निकर्षो दर्शितस्तथैव पञ्चेन्द्रियजाति-त्रसनामौ-दारिकाङ्गोपाङ्गनाम्नामपि सन्निकर्षो वक्तव्यः। एकोनत्रिंशद्बन्धस्थाने एव तेषामपि ज्येष्ठप्रदेश-बन्धभावात्, तत्राऽपि संघयणादिप्रकृतीनां स्याद्बन्धकत्वादिकं पूर्ववत्, केवलं मनुष्यद्विकस्य-स्याज्ज्येष्ठप्रदेशबन्धश्च करोति, तिर्यग्द्विकस्य पुनः स्यात्संख्येयभागहीनं ज्येष्ठप्रदेशबन्धं करो-तीति विशेषः, शेषं तु सुगमम्। यथा पञ्चेन्द्रियजातिप्रधानसन्निकर्षो निरूपितस्तथैव संहनन-षट्कप्रथमादिसंस्थानपञ्चकखगतिद्वयसुभगत्रिकदुःस्वरनाम्नां सन्निकर्षो विज्ञेयः, आसामपि नाम्न एकोनत्रिंशतं बध्नत एव ज्येष्ठप्रदेशबन्धभावात्, केवलं संहननादिभ्य एकस्या ज्येष्ठप्रदेश-बन्धकः स्वप्रतिपक्षप्रकृतीर्नैव बध्नाति, युगपदासां बन्धस्यैव विरोधात्। सुगमश्चैषः सन्निकर्षः।

तथा जिननाम्नः सन्निकर्षो नरकवद्विज्ञेयः, उभयत्र सम्यग्दृष्टेस्त्रिंशतं बध्नतो ज्येष्ठप्रदेश-बन्धकत्वादिति।

आतपनाम्न उद्योतनाम्नश्च सन्निकर्षो यथा तिर्यग्गतिमार्गणायां दर्शितस्तथैवा-ऽत्रा-ऽपि दर्श-नीयः, उभयत्र तयोर्ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्य षड्विंशतिबन्धस्थाने भावात्तत्र बन्धाऽर्हप्रकृतीनां तुल्य-त्वात्, तासां ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्य ततो न्यूनस्थानगतस्य लाभाच्च। एवं देवगत्योघादिपञ्चमार्गणासु बन्धाऽर्हनामप्रकृतीनां स्वस्थानज्येष्ठप्रदेशबन्धसन्निकर्षो निरूपितः, भवनपतिव्यन्तरज्योतिष्करूप-देवगतिभेदत्रये बन्धाऽर्हाणां नाम्नां सन्निकर्षो देवौघवद्विज्ञेयः।

अयं भावः—अत्र मार्गणात्रये जिननाम्नो बन्धाऽभावात्तत्प्रधानसन्निकर्षो न वक्तव्यः, शेषं सर्वं देवगत्योघवद्भावनीयमिति ॥५९१ ५९९॥

अथ सनत्कुमारादिदेवभेदेषु प्रस्तुतसन्निकर्षस्य नरकौघादिना समं दर्शितत्वात्तदनु क्रमप्राप्तानतादिनवग्रैवेयकपर्यन्तदेवमार्गणासु तं दर्शयति—

एगस्स जेट्ठबंधी गेविज्जंतेसु आणयाईसु । णरउरलदुगपणिंदियधुवपरघूसाससतसचउक्को ॥ (गीतिः)
णियमाऽण्णेसिं जेट्ठं सिआऽण्णाजिणणज्जगाण एवं सिं । णवरि ण चिअ पडिवक्खा बंधइ तित्थस्स णिरयव्व
॥६००-६०१॥

(प्रे०) "एगस्से"त्यादि, आनतादिनवसग्रैवेयकपर्यन्तासु त्रयोदशमार्गणासु मनुष्यप्रायोग्यमेकोनत्रिंशत् त्रिंशच्चेति द्वे एव नाम्नो बन्धस्थाने, तत्र जिननाम विहाय शेषाणां षट्चत्वारिंशद्बन्धाऽर्हाणामेकोनत्रिंशतं बध्नत एव ज्येष्ठप्रदेशबन्धो भवति, ततस्ताभ्य एकस्या ज्येष्ठप्रदेशबन्धं कुर्वन् शेषासु यासां नियतबन्धः प्रवर्तते तासां नियतबन्धो ज्येष्ठप्रदेशबन्धश्च, यासां स्याद्बन्धः प्रवर्तते तासाञ्च स्याद्बन्धो ज्येष्ठप्रदेशबन्धश्च भवति । जिननाम तु नैव बध्नाति । तत्र मनुष्यद्विकादिविंशतेर्नियतो बन्धः, संहननादिनवानां स्याद्बन्ध इति, तथा संहननादिप्रधानत्वे प्रतिपक्षप्रकृतीनां बन्धो न वक्तव्य इति विशेषः । अक्षरार्थस्तु सुगमः, "तित्थस्से" त्यादि, जिननामप्रधानसन्निकर्षस्तु नरकौघवद्विज्ञेयः, भावनाऽपि सुगमेति ॥६००-६०१॥ एतर्हि पञ्चाऽनुत्तरसुरमार्गणासु प्रस्तुतसन्निकर्षं निगदन्नाह—

पंचसु अणुत्तरेसुं तित्थथिराइगतिजुगलवज्जाओ । एगस्स जेट्ठबंधी पणवीसाए गुरुं णियमा ।
तिथिराइगजुगलाणं सिआ गुरुं एवमेव सिं छण्हं । णवरि ण चिअ पडिवक्खा बंधइ तित्थस्स णिरयव्व ॥
॥६०२–६०३॥

(प्रे०) "पंचसु" इत्यादि, पञ्चाऽनुत्तरमार्गणासु जिननाम विहाय शेषाणां बन्धाऽर्हाणां नाम्नो द्वात्रिंशत्प्रकृतीनां ज्येष्ठप्रदेशबन्धो नाम्न एकोनत्रिंशतं बध्नतो भवति, ततस्ताभ्य एकस्या ज्येष्ठप्रदेशबन्धकाले स्थिरादियुगलत्रयस्य स्याच्छेषाणां षड्विंशतेर्नियमतो ज्येष्ठप्रदेशबन्ध एव भवति, जिननाम तु नैव बध्नाति, एवं सर्वासां द्वात्रिंशतः ।

केवलं स्थिरादियुगलत्रयस्य सप्रतिपक्षत्वात् प्रधानीकृतप्रकृतेः प्रतिपक्षभूतां प्रकृतिं न बध्नाति । भावना तु सुगमा । जिननामप्रधानसन्निकर्षस्तु नरकवद्विज्ञेयः ॥६०२-६०३॥

अथ क्रमप्राप्ततेजःकायवायुकायसत्कसर्वभेदेषु प्रस्तुतसन्निकर्षं प्रतिपादयन्नाह—

सव्वागणिवाऊसुं अरज्जमणुसव्व णालयपईणं । सप्पाउग्गाण णवरि पणिंदियउरालुवंगाणं ॥
संघयणखगइदुखगइनखमुहुमजिगदुस्सराणं च । गुरुबंधी ण णरदुग बंधइ णियमा तिरिदुगस्स ॥
॥६०४–६०५॥

(प्रे०) "सव्वे" त्यादि, सप्ततेजःकायभेदेषु सप्तवायुकायभेदेषु च बन्धप्रायोग्याणां षट्पञ्चाशत्प्रकृतीनां प्रस्तुतसन्निकर्षोऽपर्याप्तमनुष्यमार्गणावद्विज्ञेयः, केवलमत्र मनुष्यद्विकस्य बन्धाऽभावात् पञ्चेन्द्रियजातिनामौदारिकाङ्गोपाङ्गनाम्नोस्तथा संहननषट्कसंस्थानपञ्चकखगतिद्वयत्रसनामसुभगत्रिकदुःस्वरनाम्नां ज्येष्ठप्रदेशबन्धकस्तिर्यग्द्विकं नियमात् संख्यातभागहीनं ज्येष्ठप्रदेशं बध्नाति, मनुष्यद्विकं तु नैव बध्नातीति, अत्र तिर्यग्द्विकस्य संख्यातभागहीनत्वं मूलकृता नोक्तम्, यतोऽपर्याप्तमनुष्यमार्गणायां तस्य तथैव भावादिति ॥६०४-६०५॥

अथ गत्यादिक्रमेण प्राप्तासु योगमार्गणासत्कास्वौदारिकमिश्रादिमार्गणासु प्रस्तुतसन्निकर्षं प्रदर्शयन्नाह—

एगस्स उरलमीसे कम्माणाहारगेसु बधंतो । जेट्ठं सुरविउव्वदुगसुआगइखगइसुहगतिगाओ ॥
णियमाऽण्णाणऽट्ठण्ह गुरुं सिआ य थिरथिराइजुगलाण । सखसूणं णियमा जिणवज्जियरसुरजोग्गाणं ॥
तित्थस्सोघव्व णवरि सिआ जसस्स खलु संखभागूणं । सेसाण मुणेयव्वो असमत्तपणिंदितिरियव्व ॥
णवरि पणसघयणमज्झिमागिइचउगकुखगइसरबंधी । सुहआगिइखगइसुहगतिगाण संखेज्जभागूणं ॥
॥६०६-६०९॥

(प्रे०) 'एगस्से' त्यादि, औदारिकमिश्रे कार्मणकाययोगेऽनाहारकमार्गणायां चेति तिसृषु मार्गणासु देवद्विकवैक्रियद्विकसमचतुरस्रसुखगतिसुभगत्रिकरूपेभ्यो नवप्रकृतिभ्य एकस्या ज्येष्ठप्रदेशबन्धकस्तदन्यासामष्टानां ज्येष्ठमेव प्रदेशं बध्नाति, तुल्यबन्धस्थानगतानामेव तासां ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्वामित्वात्, तथा स स्थिरादियुगलत्रयस्य स्यात्संख्यातभागोनज्येष्ठप्रदेशबन्धं करोति, पञ्चविंशतौ त्रयोविंशतौ वा यथासंभवं तासां ज्येष्ठप्रदेशबन्धभावात्, शेषाणां जिननामवर्जानां देवप्रायोग्याणां स देवद्विकादिप्रकृतीनां ज्येष्ठप्रदेशबन्धको नियमात्संख्येयभागहीनज्येष्ठप्रदेशबन्धं च करोति, अत्र नियमादिति तु देवगतिप्रायोग्यबन्धकस्य प्रतिपक्षप्रकृतीनां बन्धाऽभावात् संख्यातभागहीनत्वं तु तासां ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्य त्रयोविंशतौ पञ्चविंशतौ वा क्रियमाणत्वात्।

शेषदेवयोग्याः प्रकृतयः पुनरिमाः—पञ्चेन्द्रियजाति-नामनवध्रुवबन्धिनी-पराघातो-च्छ्वासत्रसचतुष्कनामानीति षोडश। अत्र जिननाम्नो वर्जनं तु देवद्विकादिप्रकृतीनां ज्येष्ठप्रदेशबन्धकस्याऽष्टाविंशतिबन्धस्थानस्य बध्यमानत्वात्, अष्टाविंशतौ च जिननाम्नो बन्धाऽभावात्। तथा जिननामप्रधानसन्निकर्षस्तु यथौघे प्ररूपितस्तथा प्रस्तुतेऽपि प्ररूपणीयः, केवलमोघे यशःकीर्तिनाम्नः संख्येयगुणहीनप्रदेशबन्धो भवति, प्रस्तुते तु तस्य संख्येयभागहीन एव, प्रस्तुते पञ्चविंशतौ तस्य ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्य भावादिति। उक्तशेषाणां बन्धप्रायोग्याणां नामप्रकृतीनां प्रस्तुतसन्निकर्षोऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्मार्गणावद्विज्ञेयः, तद्वत्प्रस्तुतेऽपि त्रयोविंशतौ पञ्चविंशतौ एकोनत्रिंशति वा ज्येष्ठप्रदेशबन्धभावात्। अत्र समचतुरस्रादिपञ्चप्रकृतीनामष्टाविंशतौ ज्येष्ठप्रदेश-

बन्धभावात् , एकोनत्रिंशतं बध्नन् वज्रर्षभनाराचसंहननादिज्येष्ठप्रदेशबन्धकाले तासां पञ्चानां संख्येयभागहीनज्येष्ठप्रदेशबन्धो भवति, अतिदेशानुसारेण तु अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्मार्गणाया-मष्टाविंशतेर्बन्धस्थानस्याऽभावेन वज्रर्षभनाराचादिप्रकृतीनामिव प्रथमसंस्थानादिप्रकृतीनामप्ये-कोनत्रिंशति ज्येष्ठप्रदेशबन्धभावात् उत्कृष्ट एव प्रदेशबन्धो भवति, न च तथा प्रस्तुतेऽतोऽपवद-न्नाह–"**णवरि**" इत्यादि, वज्रर्षभनाराचसंहननपञ्चक-द्वितीयादिपञ्चमान्तसंस्थानचतुष्क-कुख-गतिदुःस्वररूपैकादशप्रकृतीनां ज्येष्ठप्रदेशबन्धकः समचतुरस्रसंस्थान-सुभगत्रिक-सुखगतिरूपाः पञ्च प्रकृतीरतिदेशवदत्राऽपि स्याद्बध्नाति, यदा बध्नाति तदा तु तासां संख्यातभागहीनमेव ज्येष्ठप्रदेशं न तूत्कृष्टमिति, सुगमं गतार्थञ्च । अत्राऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्वदित्यतिदेशलब्धाः प्रकृतयः पुनरिमाः–तिर्यग्द्विक-मनुष्यद्विक-जातिपञ्चकौदारिकद्विक-तैजस-कार्मण-संहननषट्का-ऽऽद्यवर्जसंस्थानपञ्चक-कुखगति-वर्णचतुष्क-पराघातोच्छ्वासा-ऽगुरुलघू-पघात-निर्माणाऽऽतपो-द्योत-त्रसचतुष्क-स्थिर-शुभ-यशःकीर्ति-स्थावरदशकनामानीति त्रिपञ्चाशत्प्रकृतयः॥६०६-६०९॥

अथाहारककाययोग-तन्मिश्रयोग-देशविरतिमार्गणासु च प्रस्तुतस्वस्थानोत्कृष्टप्रदेशबन्ध-सन्निकर्षं प्रदर्शयन्नाह—

आहारदुगे देसे तित्थथिराइगतिजुगलवज्जाओ । एगस्स जेट्ठबंधी चउवीसाए गुरुं णियमा ॥
तिथिराइगजुगलाणं सिआ गुरुं एवमेव सिं छण्हं । णवरि ण चिअ पडिवक्खा तित्थस्स उरालमीसव्व ॥
॥६१०-६११॥

(प्रे०) "**आहारदुगे**"त्यादि, आहारककाययोगद्विके देशविरतौ च तीर्थकरनामस्थिरा-दियुगलत्रयवर्जाणां नाम्नो बन्धप्रायोग्याणां पञ्चविंशतेर्मध्यादेकस्या ज्येष्ठप्रदेशबन्धकः शेषाणां चतुर्विंशतेर्नियमाज्ज्येष्ठप्रदेशबन्धं च करोति,पञ्चविंशतेरप्यष्टाविंशतौ ज्येष्ठप्रदेशबन्धभावात्प्रति-पक्षप्रकृतीनां बन्धाऽभावाच्च,स्थिरादियुगलत्रयस्य स्यादुत्कृष्टं च बन्धं करोति, सप्रतिपक्षत्वात्स्या-दष्टाविंशतौ एव तासां षण्णां ज्येष्ठप्रदेशबन्धभावादुत्कृष्टमिति । अत्र जिननामकर्मणो वर्जनं तु तस्याऽष्टाविंशतौ बन्धाभावात् । एवं स्थिरादिषण्णां प्रत्येकं प्रधानीकृत्य प्रस्तुतसन्निकर्षो वक्तव्यः केवलं तासां सप्रतिपक्षत्वात् प्रधानीकृतप्रकृतिप्रतिपक्षप्रकृतिं न बध्नाति । तीर्थकरनामकर्मप्रधान-सन्निकर्षस्त्वौदारिकमिश्रमार्गणावद् बोध्यः, तद्यथा–जिननामज्येष्ठप्रदेशबन्धको देवद्विकादिपञ्च-विंशतेर्नियमात्संख्येयभागहीनं च स्थिरादियुगलत्रयस्य स्यात्संख्येयभागहीनं च प्रदेशबन्धं करो-तीति ॥६१०-६११॥

अथाऽपगतवेदमार्गणायां सूक्ष्मसंपराये च प्रस्तुतसन्निकर्षं निषेधरूपेण निरूपयन्नाह—

णामस्स सण्णियासो गयवेए सुहमसंपराये य । णो चेव भवे जम्हा एगस्स जसस्स चिअ बंधो ॥६१२॥

(प्रे०) "**णामस्से**"त्यादि, अपगतवेदसूक्ष्मसंपरायमार्गणाद्वये नामकर्मणि केवलं यशःकीर्ति-नाम्न एव बन्धभावात् न तस्य विषयः, सन्निकर्षस्य द्व्यादिप्रकृतिसत्त्वे एव संभवादिति ॥६१२॥

संप्रति क्रमागतं ज्ञानत्रयादिमार्गणासु प्रस्तुतसन्निकर्षमाह—

एगस्स जेट्ठबंधी तिणाणऽवहिसम्मखइउवसमेसु । णरुरलदुगवइराओ सेसचउण्हं गुरुं णियमा ॥
संखगुणूणं उ जसस्स सिआ दुथिराइजुगलअजसाणं । संखंसूणं णियमा जिणवज्जियरणरजोग्गाणं ॥
सुरदुगपणिंदिधुवसुहआगिइखगइपरवायऊसासा । तसचउगा सुहगतिगा जेट्ठं एगस्स बंधंतो ॥
णियमा बावीसाए सेसाण गुरुं विउव्वजुगलस्स । णियमा बंधइ जेट्ठं अहवा संखेज्जभागूणं ॥
बंधइ गुरुमाहारगदुगदुथिराइजुगलाजसाण सिआ । बंधइ संखगुणूणं जसस्स एवं थिरसुहाणं ॥
अथिरअसुहअजसाण वि एमेव परं ण चेव बंधेइ । आहारदुगं णियमा विउव्वदुगस्स य गुरुपएसं ॥
विउव्वदुगेगस्स गुरुं बंधंतो बंधए गुरुं णियमा । इयरस्साहारदुगं ण उ इयरेसिं सुरगइव्व ॥
एगस्स जेट्ठबंधी आहारदुगा विउव्वियदुगस्स । सखंसूणं णियमा जसस्स संखेज्जगुणहीणं ॥
बंधइ णियमा जेट्ठं जिणवज्जाण धुवसुसुरजोग्गाण । सेसाण छवीसाए ओघव्व भवे जिणजसाणं ॥
॥६१३–६२१॥

(प्रे०) 'एगस्से'त्यादि, मतिज्ञान-श्रुतज्ञाना-ऽवधिज्ञाना-ऽवधिदर्शन-सम्यक्त्वौघ-क्षायिकसम्यक्त्वौ-पशमिकसम्यक्त्वरूपासु सप्तमार्गणासु मनुष्यद्विकौदारिकद्विकवज्रर्षभनाराचरूपपञ्चप्रकृतिभ्य एकस्या ज्येष्ठप्रदेशबन्धकस्तदन्यासां चतसृणां ज्येष्ठमेव प्रदेशं नियमाद्ध बध्नाति, पञ्चानामेकोनत्रिंशत्प्रकृतिबन्धस्थाने ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्वामित्वात् , यशःकीर्तिनाम्नः स्यात्संख्यातगुणोनं च ज्येष्ठप्रदेशबन्धं करोति, सुगमम् , स्थिराऽस्थिर-शुभा-ऽशुभा-ऽयशःकीर्तिनामरूपाणां पञ्चानां स स्यात्संख्येयभागहीनज्येष्ठप्रदेशबन्धं च करोति शेषाणां मनुष्यप्रायोग्याणां जिननामवर्जानामेकविंशतेर्नामप्रकृतीनां स नियमात्संख्यातभागहीनं च ज्येष्ठप्रदेशबन्धं विदधाति, प्रतिपक्षप्रकृतीनां बन्धाऽभावान्नियमादष्टाविंशतिबन्धस्थाने ज्येष्ठप्रदेशबन्धलाभात्संख्यातभागहीनत्वं च विज्ञेयः । एकविंशतिः प्रकृतयः पुनरिमाः—पञ्चेन्द्रियजातिनामनवध्रुवबन्धिनीसमचतुरस्रसंस्थानसुखगतिपराघातोच्छ्वासत्रसचतुष्कसुभगत्रिकनामानीति ।

तथा देवद्विकपञ्चेन्द्रियजातिनामनवध्रुवबन्धिनीसमचतुरस्रसुखगतिपराघातोच्छ्वासत्रसचतुष्कसुभगत्रिकलक्षणास्त्रयोविंशतिप्रकृतयः, तन्मध्यादेकस्या ज्येष्ठप्रदेशं बध्नन् शेषाणां द्वाविंशतेर्नियमाज्ज्येष्ठप्रदेशबन्धं च करोति, वैक्रियद्विकस्य नियमात्संख्यातभागहीनं ज्येष्ठं वा प्रदेशबन्धं करोति, तत्र प्रतिपक्षप्रकृतीनां बन्धाऽभावाद्देवप्रायोग्यं बध्नतो नियमतो बध्यमानत्वात्तत्र यदाहारकद्विकं बध्नाति, तदा वैक्रियद्विकस्य प्रदेशबन्धं ज्येष्ठं न करोति, किन्तु संख्येयभागहीनं करोति, यदाहारकद्विकं न बध्नाति, तदा तस्य ज्येष्ठ एव प्रदेशबन्धो भवति । तथा स स्थिराऽस्थिरशुभाशुभनामायशःकीर्तिनामाहारकद्विकरूपसप्तानां बन्धं स्याज्ज्येष्ठप्रदेशं च करोति, यशःकीर्तिनाम्नो बन्धं तु स्यात्संख्यातगुणहीनज्येष्ठप्रदेशकं करोति । यथा एतासां त्रयोविंशतेः प्रत्येकं प्रधानीकृत्य स्वस्थानोत्कृष्टप्रदेशबन्धोऽभिहितस्तथैव स्थिरनामप्रधानः शुभनामप्रधानश्च प्रस्तुतसन्निकर्षो ज्ञातव्यः, अस्थिराऽशुभायशःकीर्तिनामानि प्रधानीकृत्य प्रस्तुत-

सन्निकर्षेऽभिधीयमानेऽपि तथैव देवद्विकादिवदेव स वाच्यः, केवलमाहारकद्विकं नैव बध्नाति, तत एव वैक्रियद्विकस्याऽपि ज्येष्ठ एव प्रदेशबन्धो भवति, हेत्वादिभावना तु सुगमा, प्रतिपक्षप्रकृतीस्तु नैव बध्नातीति। वैक्रियद्विकादेकस्य ज्येष्ठप्रदेशबन्धकस्तदितरस्य तथा देवद्विकादीनां त्रयोविंशतेर्बन्धं नियमाज्ज्येष्ठप्रदेशं च करोति, स्थिरादियुगलत्रयस्य स्याद्बन्धो भवति, तत्र यशःकीर्तिनाम्नः संख्यातगुणोनज्येष्ठप्रदेशबन्धः शेषपञ्चानां संख्यातभागोनज्येष्ठप्रदेशबन्धः, आहारकद्विकं तु नैव बध्नाति। तथाऽऽहारकद्विकादेकस्य ज्येष्ठप्रदेशं बध्नतस्तदितरस्य तथा देवद्विकादित्रयोविंशतेः स्थिरशुभनाम्नोश्चेति षड्विंशतेर्नियमाज्ज्येष्ठमेव प्रदेशबन्धं करोति, वैक्रियद्विकस्य बन्धं पुनः नियमात्संख्यातभागहीनञ्च करोति, यशःकीर्तिनाम्नो बन्धं संख्यातगुणहीनं नियमाच्च करोति, भावना तु सुगमा। जिननामप्रधानो यशःकीर्तिनामप्रधानश्च सन्निकर्ष ओघवद्विज्ञेयः, भावना तु सुगमा॥६१३-६२१॥

गतं मतिज्ञानादिसप्तमार्गणासु प्रस्तुतसन्निकर्षस्य प्ररूपणम्, एतर्हि मनःपर्यवज्ञानादिमार्गणासु तं दर्शयन्नाह—

मणणाणसजमेसु समइअछेएसु णामपयडीण। ओहिव्व सण्णियासो सप्पाउग्गाण सव्वेसिं॥६२२॥

(प्रे०) 'मणणाणे'त्यादि, मनःपर्यवज्ञानादिमार्गणाचतुष्के नामकर्मणो बन्धाऽर्हाणां चतुस्त्रिंशत्प्रकृतीनां प्रस्तुतसन्निकर्षोऽवधिज्ञानमार्गणावद्विज्ञेयः, तद्वदत्राऽपि तासां ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्वामिनां तुल्यत्वाद्धेत्वादिभावनाऽपि तद्वद्विधातव्येति॥६२२॥

अथ परिहारविशुद्धिमार्गणायां क्षयोपशमसम्यक्त्वमार्गणायां सम्यग्मिथ्यात्वे च प्रस्तुतसन्निकर्षं निरूपयन्नाह—

परिहारवेअगेसु मीसे ओहिव्व णामपयडीण। सप्पाउग्गाण णवरि जसस्स सव्वह थिरव्व भवे॥६२३॥

(प्रे०) 'परिहारे' त्यादि, परिहारविशुद्धौ क्षयोपशमसम्यक्त्वमार्गणायां सम्यग्मिथ्यात्वे च बन्धाऽर्हाणां नामप्रकृतीना प्रस्तुतसन्निकर्षोऽवधिज्ञानमार्गणायां दर्शितनीत्या भावनीयः, स्वामिनां तुल्यत्वात्, किन्त्वत्र श्रेण्यभावात् एकप्रकृत्यात्मकस्य बन्धस्थानस्याऽलाभाच्च स्थिरनामवद्यशःकीर्तिनाम्नः सन्निकर्षो मार्गणात्रयेऽपि वक्तव्यः, स्थिरनामकर्मवद्यशःकीर्तिनाम्नोऽप्यत्राऽष्टाविंशतौ ज्येष्ठप्रदेशबन्धलाभाच्छेषार्थस्तु सुगमः॥६२३॥

अथाऽसंयममार्गणायां त्र्यशुभलेश्यामार्गणासु च प्रस्तुतसन्निकर्षं निगदन्नाह—

अजयासुहलेसासुं ओघव्व जिणस्स होइ णवरि सिआ। बधइ संखसूण जसस्स तिरियव्व सेसाणं॥६२४॥

(प्रे०) 'अजये'त्यादि, असंयमादिमार्गणाचतुष्के बन्धाऽर्हाणा पञ्चषष्टिप्रकृतिभ्यो यशःकीर्तिनाम विहाय शेषाणा सन्निकर्षस्यौघवद्भावेऽपि तैस्साधं यशःकीर्तिनाम्नो बन्धे सति यशःकीर्तिनाम्नः संख्येयगुणहीनज्येष्ठप्रदेशबन्धो न प्राप्यते किन्तु ज्येष्ठः संख्यातभागहीनो वा, तथाऽऽहारकद्विकस्य बन्धोऽपि प्रस्तुते नास्ति अत ओघवदनतिदिश्य तिर्यग्मार्गणावदतिदिष्टः, तत्र

तिर्यग्गतौ जिननाम्नो बन्धाऽभावाज्जिननाम्न ओघवदतिदिष्टः, तत्राऽपि यशःकीर्तिनाम्न ओघवत्संख्यातगुणहीनत्याऽलाभात्संख्यातभागहीनज्येष्ठप्रदेशबन्धं करोतीत्यपवादकथनमपि । शेषार्थस्तु तिर्यग्मार्गणातो विभावनीयः, सुगमप्रायश्चेति ॥६२४॥

एतर्हि तेजोलेश्यामार्गणायां नाम्नः स्वस्थानज्येष्ठप्रदेशबन्धसन्निकर्षं प्ररूपयन्नाह—

एगस्स बंधमाणो तेऊए णरदुगा गुरुपएसं । णियमा गुरुमियरस्स य उरालुवगस्स बंधेइ ॥
धुवबंधिपणिंदिउरलपरघाऊसासतसचउक्काणं । सत्तदसण्ह नियमा सखंसूण तु बंधेइ ॥
मज्झिमचउसंठाणछसंघयणकुखगइदुस्सराण सिआ । जेट्ठं संखसूणं जिणवज्जियरणरजोग्गाण ॥
सुरदुगपंचिंदियसुहआगिइसुहगतिगसुखगइतसाओ । एगस्स जेट्ठबंधी जेट्ठं णियमाऽट्ठसेसाण ॥
विउव्वदुगस्स पएसं णियमा गुरुमहव सखभागूणं । बंधइ सिआ पएसं अहारदुगस्स उक्कोसं ॥
णियमा धुवबंधिणवग परघाऊसासबायरतिगाण । संखमूणं बंधइ सिआ थिराइगतिजुगलाणं ॥
विउव्वदुगस्सेवं परमाहारदुगं ण चेव ओघव्व । तित्थाहारदुगाणं सखंसूणं जसस्स परं ॥
उरलोवगस्स गुरुं बंधंतो बंधए सिआ जेट्ठं । णरदुगछसंघयणचउआगिइदुस्सरकुखगईण ॥
संखेज्जभागहीणं बंधेइ सिआ तिरिक्खजुगलस्स । चरमऽज्जागिइसुखगइथिरछक्काण थिराईण ॥
संखसूणं णियमा बंधेइ णवधुवबंधिणामाणं पणिंदियुरालियपरघाऊसासतसचउगाणं ॥
संघयणछक्कमज्झिमसंठाणकुखगइदुस्सराणेवं । णवरि ण चिअ पडिवक्खा बंधइ देवव्व सेसाण ॥
॥६२५-६३५॥

(प्रे०) 'एगस्से' त्यादि, तेजोलेश्यामार्गणायां मनुष्यद्विकादेकस्या ज्येष्ठप्रदेशबन्धकस्तदन्यस्यास्तथौदारिकाङ्गोपाङ्गस्य नियमाज्ज्येष्ठप्रदेशबन्धञ्च करोति, एकोनत्रिंशत्येवाऽऽसां ज्येष्ठप्रदेशबन्धभावात् , नियमबन्धस्तु सुगमः, नामनवध्रुवबन्धिनीपञ्चेन्द्रियजातिनामौदारिकशरीरपराघातोच्छ्वासत्रसचतुष्करूपाणां सप्तदशानां नियमात्संख्यातभागहीनं च प्रदेशं बध्नाति, आसां ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्य पञ्चविंशतौ अष्टाविंशतौ वा भावात् , तथा मध्यमसंस्थानचतुष्कसंहननषट्ककुखगतिदुःस्वररूपाणां द्वादशप्रकृतीनां स्याज्ज्येष्ठप्रदेशबन्धं च करोति, तत्र सप्रतिपक्षत्वात्स्याद् बन्धकः, एकोनत्रिंशति ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्य भावात्तुल्यस्थाने ज्येष्ठप्रदेशबन्धभावादित्यर्थः । शेषाणां जिननामरहितानां मनुष्यप्रायोग्यानां स्यात्संख्यातभागहीनं च ज्येष्ठप्रदेशं बध्नाति, हेत्वादयस्तु सुगमाः । शेषप्रकृतयः पुनरिमाः—समचतुरस्रसंस्थान-हुण्डकसंस्थान-सुखगतिस्थिरषट्क-दुःस्वरवर्जाऽस्थिरपञ्चकरूपाः ।

तथा देवद्विकपञ्चेन्द्रियजातिसमचतुरस्रसंस्थानसुभगत्रिकसुखगतित्रसनामरूपाभ्यो नवप्रकृतिभ्य एकस्या ज्येष्ठप्रदेशबन्धं कुर्वन् शेषाणामष्टानां बन्धं ज्येष्ठप्रदेशकं नियमाच्च करोति, आसां नवानामपि ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्याऽष्टाविंशतौ भावाद् देवप्रायोग्यं बध्नत एतत्प्रतिपक्षप्रकृतीनां बन्धाऽभावाच्च । वैक्रियद्विकस्य ज्येष्ठप्रदेशबन्धं संख्यातभागहीनज्येष्ठप्रदेशबन्धं वा करोति, प्रकृतिबन्धस्तु तस्य नियमतो भवति, अत्र संख्यातभागहीनज्येष्ठप्रदेशबन्धस्त्वाहारकद्विकस्य बन्धसद्भावात् , आहारकद्विकस्य बन्धाऽभावे तु ज्येष्ठप्रदेशबन्ध एव भवति । तथाऽऽ-

हारकद्विकस्य स्याज्ज्येष्ठप्रदेशवन्धं च करोति । तथा नामनवध्रुवबन्धिनी-पराघातो-च्छ्वास-बादरत्रिकरूपाणां चतुर्दशानां बन्धं नियमात्संख्यानभागहीनज्येष्ठप्रदेशवन्धं च करोति निरुक्तप्रकृतीनां ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्य पञ्चविंशतौ भावात् , स्थिरादियुगलस्य स्यात्संख्येयभागहीनज्येष्ठप्रदेशबन्धं च विदधाति । यथा देवद्विकादिप्रधानसन्निकर्षोऽभिहितस्तथा वैक्रियद्विकप्रधानसन्निकर्षो वाच्यः, केवलं वैक्रियशरीराङ्गोपाङ्गयोर्ज्येष्ठप्रदेशं बध्नन्नाहारकद्विकं न बध्नाति, देवप्रायोग्याऽष्टाविंशतिं बध्नत एव एतयोर्ज्येष्ठप्रदेशबन्धभावात् ,देवगत्यादीनां त्वष्टाविंशतिं त्रिंशतं वा बध्नतो ज्येष्ठप्रदेशबन्धो भवति, ततोऽपवादभणनम् । जिननामाऽऽहारकद्विकरूपाणां तिसृणां प्रत्येकं स्वस्थानज्येष्ठप्रदेशबन्धसन्निकर्ष ओघवद्विज्ञेयः,परं यशःकीर्तिनाम्नः प्रस्तुते संख्येयगुणहीनज्येष्ठप्रदेशबन्धो न प्राप्यते किन्तु संख्येयभागहीनज्येष्ठप्रदेशबन्ध इति, हेतुस्तु सुगमः । औदारिकाङ्गोपाङ्गस्य ज्येष्ठप्रदेशं बध्नन् मनुष्यद्विक-षट्संहनन-मध्यमसंस्थानचतुष्क-दुःस्वर-कुखगतिरूपाणां चतुर्दशानां स्याज्ज्येष्ठप्रदेशबन्धं च करोति,एकोनत्रिंशति निरुक्तानां चतुर्दशानां ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्य भावात्सप्रतिपक्षत्वाच्च स्याद् बन्धः, तिर्यग्द्विक-समचतुरस्र-हुण्डकसंस्थान-सुखगति-स्थिरषट्का-ऽस्थिर-ऽशुभ-दुर्भगा-ऽनादेया-ऽयशःकीर्तिनामरूपाणां षोडशानां स्यात्संख्येयभागहीनं ज्येष्ठप्रदेशबन्धं विदधाति, सप्रतिपक्षत्वात्स्याद्बन्धः, पञ्चविंशतौ अष्टाविंशतौ वा आसां गुरुप्रदेशबन्धभावात्प्रस्तुतबन्धकस्यैकोनत्रिंशद्बन्धस्थानस्यैव बन्धकत्वात् संख्यातभागहीनश्च । नवनामध्रुवबन्धिनी-पञ्चेन्द्रियौदारिकशरीर-पराघातोच्छ्वासत्रसचतुष्करूपाणां सप्तदशानां नियमेन बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं च संख्यातभागहीनमिति । यथौदारिकाङ्गोपाङ्गनामप्रधानसन्निकर्षः प्ररूपितस्तथैव संहननषट्क-मध्यमसंस्थानचतुष्क-कुखगतिदुःस्वरनामरूपाणां द्वादशानां प्रत्येकं तत्तत्प्रकृतिप्रधानसन्निकर्षो वक्तव्यः, तुल्यज्येष्ठप्रदेशबन्धस्वामित्वात् , अत्र प्रतिपक्षप्रकृतिसद्भावात् प्रधानीकृतप्रकृतेः प्रतिपक्षप्रकृतीनां बन्धाऽभावात्तद्विषयकसन्निकर्षो न वक्तव्य इति ।

प्रस्तुततेजोलेश्यामार्गणायामुक्तशेषप्रकृतीनां प्रस्तुतसन्निकर्षो देवौघवद्विज्ञेयः, शेषप्रकृतीनां ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्य पञ्चविंशतौ षड्विंशतौ वा भावात् ,तिर्यग्मनुष्याणां ज्येष्ठप्रदेशबन्धाऽभावाच्च।

शेषप्रकृतयः पुनरिमाः—तिर्यग्द्विकै-केन्द्रियजातिनामौ-दारिक-तैजस-कार्मणशरीरत्रय-हुण्डकसंस्थान-वर्णचतुष्का-ऽगुरुलघू पघात-निर्माणा ऽऽतपो द्योत-पराघातो-च्छ्वास-बादरत्रिक स्थावरनाम दुर्भगा-ऽनादेयनाम स्थिरा-स्थिर शुभा ऽशुभ-यशःकीर्त्ययशःकीर्तिनामरूपास्त्रिंशत् ॥६२५-६३५॥ अथ पद्मलेश्यामार्गणायां नाम्नःस्वस्थानज्येष्ठप्रदेशबन्धसन्निकर्षं प्ररूपयन्नाह—

पउमाए बंधतो गुरुं तिरिगईअ संखभागूणं । णियमा पणिंदिधुवपरघाऊसासतसचउगाणं ॥
णियमा गुरुं उरलदुगतिरिअणुपुव्वीण संखभागूणं । पढमागिइसुखगइथिरछक्कतिअथिराइगाण सिआ ॥
जेट्ठं सिआ पणागिइछसंघयणदुहगतिगकुखगईण । एवं अणुपुव्वीए एमेव भवे णरदुगस्स ॥
रगस्स जेट्ठबधी उरलदुगाउ णियमेयरस्स गुरुं । तिरिणरदुगसंघयणपणागिइदुहगतिगकुखगईण सिआ॥

णियमा पंचिंदियधुवपरघाऊसासतसचउक्काणं । संखसूणं छतिथिरअथिराइसुखगइआगईण सिआ ॥
मणरससंघयणाईणेवं उज्जोअगस्स णिरयव्व । सेसाणोहिव्व णवरि जसस्स सव्वह थिरव्व भवे ॥

(चतुर्थी पञ्चमी च गीतिः) ॥॥६३८–६३९॥

(प्रे०) 'पउमाए' इत्यादि, पद्मलेश्यामार्गणायां जघन्यं बन्धस्थानमष्टाविंशतिप्रकृत्यात्मकं ततोऽष्टाविंशतौ बध्यमानानां देवद्विकादीनामेकत्रिंशत्प्रकृतीनां जिननामाऽऽहारकद्विकरूपत्रयाणाञ्च समुदितानां चतुस्त्रिंशत्प्रकृतीनां प्रत्येकं प्रधानीकृत्य प्रस्तुतसन्निकर्षोऽवधिज्ञानमार्गणावत्सापवादमतिदेशेन वक्ष्यमाणत्वात् ता विहायाऽऽदावेकोनत्रिंशति ज्येष्ठप्रदेशबन्धाऽर्हप्रकृतीनां प्रस्तुतसन्निकर्षं प्ररूपयति–'बंधंतो' इत्यादि, तिर्यग्गतिनाम्नो ज्येष्ठप्रदेशं बध्नन् पञ्चेन्द्रियजातिनामनवध्रुवबन्धिनीपराघातोच्छ्वासत्रसचतुष्कलक्षणानां षोडशप्रकृतीनां नियमात्संख्यातभागहीनं च ज्येष्ठप्रदेशबन्धं करोति, तत्र तासां नियमाद् बन्धस्तु मार्गणाप्रायोग्यध्रुवबन्धित्वात्, संख्येयभागहीनज्येष्ठप्रदेशबन्धस्तु तासामष्टाविंशतौ एव ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्य भावात्, तथौदारिकद्विकतिर्यगानुपूर्वीलक्षणप्रकृतित्रयस्य नियमाज्ज्येष्ठप्रदेशबन्धं च विदधाति, नियमाद् बन्धस्तु सुगमः, ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्त्वेकोनत्रिंशति एवासां ज्येष्ठप्रदेशबन्धभावात् । समचतुरस्रसंस्थान-सुखगति-स्थिरषट्का-ऽस्थिरा-ऽशुभा-ऽयशःकीर्तिनामसंज्ञका या एकादश प्रकृतयः, तासां स्यात्संख्यातभागहीनज्येष्ठप्रदेशबन्धं विरचयति, सप्रतिपक्षत्वादष्टाविंशतावेवासां ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्य भावाच्च । प्रथमवर्जसंस्थानपञ्चक-संहननषट्क-दुर्भगत्रिक-कुखगतिनामलक्षणपञ्चदशानां स्यादुत्कृष्टप्रदेशबन्धश्च भवति, सप्रतिपक्षत्वात्प्रधानीकृतप्रकृत्या तुल्यबन्धस्थाने ज्येष्ठप्रदेशबन्धकत्वाच्च । यथा तिर्यग्गतिनामप्रधानप्रस्तुतसन्निकर्षो निरूपितस्तथैव तिर्यगानुपूर्वीनाम्नोऽपि प्रस्तुतसन्निकर्षो वक्तव्यः केवलं यथासंभवं तिर्यग्गतिस्थाने तिर्यगानुपूर्वी तथा तिर्यगानुपूर्वीस्थाने तिर्यग्गतिनामकर्म वाच्यमिति । तथैवमेव मनुष्यगतितदानुपूर्वीनाम्नोर्वाच्यः, केवलं तिर्यग्गत्यानुपूर्वीप्रकृतयोः स्थाने मनुष्यगत्यानुपूर्व्यौ वाच्ये इति । तथा औदारिकशरीरौ-दारिकाङ्गोपाङ्गनाम्नोरन्यतरस्य ज्येष्ठप्रदेशबन्धकस्तदितरस्य नियमाज्ज्येष्ठप्रदेशं च बध्नाति, तथा तिर्यग्द्विक-मनुष्यद्विक-संहननषट्क-द्वितीयादिसंस्थानपञ्चक-दुर्भगत्रिक-कुखगतिरूपाणामेकोनविंशतिप्रकृतीनां स्यादुत्कृष्टप्रदेशबन्धं च करोति, तत्र सप्रतिपक्षत्वात् स्याद् बन्धः, एकोनत्रिंशति निरुक्तानां ज्येष्ठप्रदेशबन्धभावाज्ज्येष्ठ इति । पञ्चेन्द्रियजातिनामादिषोडशानां नियमात्संख्येयभागहीनं च ज्येष्ठप्रदेशबन्धं करोति, स्थिरषट्का-ऽस्थिरा-ऽशुभा-ऽयशःकीर्तिनाम-सुखगति-समचतुरस्रनामरूपाणामेकादशप्रकृतीनां स्यात्संख्येयभागहीनगुरुप्रदेशबन्धं च करोति, हेत्वादिभावना सुगमा तिर्यग्गतिनामप्रधानसन्निकर्षवत्कार्या । यथौदारिकशरीरनामप्रधानसन्निकर्षो निरूपितस्तथैव संहननषट्क-द्वितीयादिसंस्थानपञ्चक कुखगति-

दुर्भगत्रिकरूपाणां पञ्चदशानां प्रत्येकं प्रधानीकृत्य प्रस्तुतसन्निकर्षो वाच्यः, तत्र व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिरिति न्यायमधिकृत्य औदारिकशरीरनाम्नो ज्येष्ठप्रदेशबन्धकाले संहनननामादीनां स्याद्बन्धभावेऽपि संहनननामादिप्रधानसन्निकर्षे औदारिकद्विकस्य बन्धो नियमतो भवति, तथा प्रतिपक्षप्रकृतीना बन्धाऽभावात्तद् बन्धो निषेधनीय इति ।

उद्योतनामप्रधानसन्निकर्षस्तु नरकौघवद्वक्तव्य उभयत्र पञ्चेन्द्रियतिर्यक्प्रायोग्यां त्रिंशतं बध्नतस्तज्ज्येष्ठप्रदेशबन्धभावात् तज्ज्येष्ठप्रदेशबन्धकाले शेषाणां बन्धाऽर्हप्रकृतीनां संख्येयभागहीनज्येष्ठप्रदेशबन्धकत्वाच्च, विशेषभावना तु नरकमार्गणातः कार्या । एवं तिर्यग्द्विकादिद्वाविंशतिप्रकृतीनां सन्निकर्षो दर्शितः, जातिचतुष्क-स्थावरचतुष्का-ऽऽतपनाम-नरकद्विकरूपाणामेकादशानां प्रस्तुतमार्गणागतानां बन्धाऽभावाच्छेषाणां चतुस्त्रिंशद्नामप्रकृतीनां प्रत्येकं प्रधानीकृत्य स्वस्थानज्येष्ठप्रदेशबन्धसन्निकर्षोऽवधिज्ञानमार्गणायां यथा प्राप्यते, तथैवाऽत्राऽपि प्राप्यतेऽतस्तद्वदतिदिष्टः, भावनाऽपि तद्वत्कार्या, केवलं तत्र यशःकीर्तिनाम्नो ज्येष्ठप्रदेशबन्धो देवगत्यादीनां बन्धविच्छेदादूर्ध्वं प्राप्यमाणत्वादेवगत्यादिप्रधानसन्निकर्षे तस्य संख्यातगुणन्यूनज्येष्ठप्रदेशबन्धो भवति, न च तथा प्रस्तुते, किन्तु प्रस्तुते देवगत्यादिवत्तस्याऽपि ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्याऽष्टाविंशतिबन्धस्थाने देवप्रायोग्यत्रिंशद्बन्धस्थाने वा भावात्स्थिरनामवज्ज्येष्ठप्रदेशबन्धः प्राप्यते, जिननामप्रधानसन्निकर्षे च संख्यातभागहीनश्च, तथा तत्र यशःकीर्तिनामप्रधाने शेषनामप्रकृतीनां बन्धाऽभावान्न सन्निकर्षः प्राप्यते, प्रस्तुते तु तस्य यशःकीर्तिनाम्नः सन्निकर्षः स्थिरनामप्रधानसन्निकर्षवद्विभावनीयः, सुगमश्चेति ॥६३६-६३९॥

अथ शुक्ललेश्यामार्गणायां नामकर्मसत्कस्वस्थानज्येष्ठप्रदेशबन्धसन्निकर्षं निरूपयन्नाह–

सुक्काए बंधंतो जेट्ठं एगस्स णरुरलदुगाओ । णियमाऽण्णातिगस्स गुरुं सखगुणूणं जसस्स सिआ ॥
धुवबंधितसाणिंदियसरघाऊसासतसचउगणसमाणं । बंधइ णियमाहिंतो हीणं संखेज्जभागेण ॥
जेट्ठं सिआ पणागिइछसंघयणदुहगतिगकुखगईण । संखसूणं सुखगइआगिइथिरपणगतिअथिराईणं ॥
एमेवऽत्थि पणागिइछसंघयणदुहगतिगकुखगईणं । णवरि ण चिअ पडिवक्खा बंधइ ओहिव्व सेसाणं ॥
(तृतीया गीतिः) ॥६४०–६४३॥

(प्रे०) "सुक्काए" इत्यादि, शुक्ललेश्यामार्गणायां मनुष्यद्विकौदारिकद्विकरूपप्रकृतिचतुष्कमध्यादेकस्या ज्येष्ठप्रदेशबन्धकश्शेषाणां तिसृणां नियमाज्ज्येष्ठप्रदेशबन्धं च करोति, अत्र तिर्यग्द्विकस्य बन्धाऽभावाद् मनुष्यद्विकस्यौदारिकद्विकेन सह नियमतो बन्धः, शेषं सुगमम्, यशःकीर्तिनाम्नस्स्यात्संख्येयगुणहीनं ज्येष्ठप्रदेशबन्धं च करोति सप्रतिपक्षत्वात्स्याद्बन्धः, श्रेणौ तज्ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्य भावात् संख्यातगुणन्यूनज्येष्ठप्रदेशबन्धः, पञ्चेन्द्रियजात्यादिषोडशानां नियमात्संख्यातभागहीनज्येष्ठप्रदेशबन्धं च करोति, संहननषट्कद्वितीयादिसंस्थानपञ्चककुखगतिदुर्भगत्रिकरूपाणां पञ्चदशानां स्याज्ज्येष्ठप्रदेशबन्धं च करोति, सुखगतिसमचतुरस्रस्थिरनामादि-

पञ्चप्रकृत्यऽस्थिराऽशुभा-ऽयशःकीर्तिनामलक्षणानां दशानां स्यात्संख्येयभागहीनं ज्येष्ठप्रदेशबन्धं करोति, भावना त्वनन्तरदर्शितपद्मलेश्यावत्कार्या। तथा संहननषट्क-द्वितीयादिसंस्थानपञ्चक-कुखगति-दुर्भगत्रिकरूपाणां पञ्चदशानां प्रत्येकं प्रधानीकृत्य प्रस्तुतसन्निकर्ष औदारिकशरीरनामकर्मप्रकृतिवद्विज्ञेयः, केवलं प्रतिपक्षप्रकृतीनां बन्धो निषेधनीयः, तथौदारिकद्विकमनुष्यद्विकयोर्नियतो ज्येष्ठप्रदेशबन्धश्च वाच्य इति, भावना तु पद्मलेश्यामार्गणामनुसृत्य यथासंभवं कार्या। उक्तशेषाणां नाम्नश्चतुस्त्रिंशत्प्रकृतीनां स्वस्थानज्येष्ठप्रदेशबन्धसन्निकर्षोऽवधिज्ञानमार्गणावद्भवति, भावनाऽपि सुगमा, तद्वदेव कार्येति। शेषाश्चतुस्त्रिंशत्प्रकृतयः पुनरिमाः—देवद्विक-पञ्चेन्द्रियजाति वैक्रियद्विका-ऽऽहारकद्विक तेजस कार्मणशरीर-समचतुरस्रसंस्थान-सुखगति-वर्णचतुष्का-ऽगुरुलघू-पघात निर्माण पराघातोच्छ्वास जिननाम-त्रसदशका-ऽस्थिरा-ऽशुभा-ऽयशःकीर्तिनामानीति ॥६४०-६४३॥

अथ भव्यादिमार्गणासु प्राक्प्रसंगतो निरूपितत्वात्क्रमप्राप्तसास्वादनमार्गणायां तं प्राह—

सुरविउव्वदुगपणिंदियपरघूसासमुहखगइआगिइओ। तह धुवतसचउगसुहगतिगाउ एगस्स सासाणे॥
गुरुबंधी सेसाणं चउवीसाअ णियमा गुरुपएसं। बधेइ सिआ तिण्हं जुगलाण थिराइगाणं तु॥
तिथिराइगजुगलाणं एमेव भवे परं ण पडिवक्खं। पम्हव्व सण्णियासो सप्पाउग्गाण सेसाण॥
॥६४४-६४६॥

(प्रे०) "सुरविउवे" त्यादि, सुरद्विकादिपञ्चविंशतिप्रकृतयस्ताभ्य एकस्या ज्येष्ठप्रदेशबन्धकः शेषाणां चतुर्विंशतेर्नियमाज्ज्येष्ठप्रदेशबन्धं च करोति, स्थिरादियुगलत्रयस्य स्याज्ज्येष्ठप्रदेशबन्धं च करोति, एतासामेकत्रिंशत्प्रकृतीनां ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्याऽष्टाविंशतौ भावात्। एवं स्थिरादियुगलत्रयसत्कषट्प्रकृतीनां प्रत्येकं प्रधानीकृत्य प्रस्तुतसन्निकर्षो देवद्विकसन्निकर्षवद्वाच्यः, केवलं प्रतिपक्षप्रकृतिं नैव बध्नाति।

तथा प्रस्तुतसास्वादनमार्गणायां शेषाणां वक्ष्यमानप्रकृतीनां प्रस्तुतसन्निकर्षः पद्मलेश्यामार्गणावद् भवति, भावनाऽपि तद्वद्विधेया। तत्रैकविंशतेरेकोनत्रिंशद्बन्धस्थाने उद्योतनाम्नस्त्रिंशद्बन्धस्थाने ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्य लाभात्, ततः सन्निकर्षस्य समानत्वात्।

शेषप्रकृतयः पुनरिमाः—तिर्यग्द्विक-मनुष्यद्विकौ-दारिकद्विक-संहननपञ्चकद्वितीयादिसंस्थानचतुष्क-कुखगति-दुर्भगत्रिको-द्योतनामानीति विंशतिः ॥६४४-६४६॥

इति स्वस्थानज्येष्ठप्रदेशबन्धसन्निकर्षः समाप्तः।

॥ अथ जघन्यप्रदेशबन्धस्वस्थानसन्निकर्षः ॥

अथ स्वस्थानजघन्यप्रदेशबन्धसन्निकर्षस्य निरूपणाऽवसरः, तत्रादावोघतस्तं निरूपयितुकामो ज्ञानावरणदर्शनावरणाऽन्तरायसत्कं प्राह—

एगस्स लहुपएसं णाणावरणस्स बंधमाणो उ। णियमाऽण्णाण जहण्णं एवं चिअ बीअविग्घाणं ॥६४७॥

(प्रे०) "एगस्से"त्यादि, ज्ञानावरणपञ्चकस्य जघन्यप्रदेशबन्धको लब्ध्यपर्याप्तसूक्ष्मनिगोदजीवो भवप्रथमसमये तत्प्रायोग्यजघन्ययोगे वर्तमानो भवति, तत एकस्या ज्ञानावरणोत्तरप्रकृतेर्ह्रस्वप्रदेशबन्धकस्तदितराश्चतस्रः प्रकृतीर्नियमाद् बध्नाति, प्रदेशबन्धमपि तासां जघन्यमेव करोति, एवं शेषचतुर्णां ज्ञानावरणानां दर्शनावरणनवकस्य अन्तरायपञ्चकस्य च स्वस्थानसन्निकर्षो वक्तव्यः, जघन्यप्रदेशबन्धस्वामिनां तुल्यत्वात् ,तद्यथा—एकस्याश्चक्षुर्दर्शनावरणप्रकृतेर्जघन्यप्रदेशबन्धकश्शेषाणामष्टानां दर्शनावरणानां नियमतो बन्धको भवति, प्रदेशबन्धमपि तासां जघन्यमेव विदधाति, एवं शेषाणामष्टानामपि दर्शनावरणप्रकृतीनां सन्निकर्षो विज्ञेयस्तथा एकस्य दानान्तरायस्य ह्रस्वप्रदेशबन्धकश्शेषाणां चतुर्णामन्तरायकर्मणां नियमाद् बन्धको भवति, प्रदेशं तु तेषां जघन्यमेव बध्नातीति ॥६४७॥

अथ वेदनीयकर्मगोत्रकर्मायुष्कर्मसत्कैकैकस्या एव प्रकृतेरेकजीवस्यैकस्मिन्काले बध्यमानत्वान्न तद्विषयकसन्निकर्षो भवति ततस्तमोघतो निषेधयन् प्रसंगतो लाघवार्थं मार्गणासु च ज्ञानावरणादिषट्कर्मणामोघवदतिदिशन्नाह—

तइअस्स बंधमाणो एगं बंधइ ण चेव पडिवक्खं । एव गोआऊणं छण्हं एमेव सव्वासुं ॥६४८॥

(प्रे०) "तइअस्से"त्यादि, तृतीयस्य वेदनीयकर्मणो द्वे प्रकृती—सातवेदनीयमसातवेदनीयम् , तत्र यदा सातवेदनीयं बध्नाति तदाऽसातवेदनीयस्य बन्धाऽभावः, असातवेदनीयबन्धकाले सातवेदनीयस्य बन्धाऽभावस्तस्मान्न वेदनीयकर्मणः स्वस्थानजघन्यप्रदेशबन्धसन्निकर्षः संभवति । यथा वेदनीयकर्मणस्तथा गोत्रकर्मण आयुकर्मणश्च सन्निकर्षस्य निषेधो निषेधरूपो वा सन्निकर्षो वाच्यः ।

एवं ज्ञानावरणादिषट्कर्मणां यथौघे प्रस्तुतसन्निकर्षो निरूपितो मूलकारेण तथैव स्वप्रायोग्याणां प्रकृतीनां मार्गणास्वपि वक्तव्यः । तत्र सप्तत्युत्तरशतमार्गणासु ज्ञानावरणपञ्चकेऽन्तरायपञ्चके च एकस्या जघन्यप्रदेशबन्धकोऽन्यासां चतसृणां नियमाद् बन्धको भवति, प्रदेशमपि तासां जघन्यं बध्नाति, एवं शेषचतसृणामपि वक्तव्यम् । दर्शनावरणस्य पुनः प्रस्तुतसन्निकर्षप्ररूपणायां कासुचिन्मार्गणासु नवाऽपि बन्धप्रायोग्याः, कासुचित् षट् , अपगतवेदसूक्ष्मसंपराययोः पुनश्चतस्रः, अतः स्वस्वमार्गणाप्रायोग्यबन्धार्हसर्वदर्शनावरणप्रकृतिभ्य एकस्या

ह्रस्वप्रदेशबन्धभावे तदन्यासां मार्गणायां बन्धप्रायोग्याणां सर्वदर्शनावरणप्रकृतीनां नियमाद् बन्धो भवति प्रदेशबन्धमपि तासां जघन्यमेव । एवं तदन्यासामपि सन्निकर्षो वाच्यः, सप्तत्युत्तरशतमार्गणास्वपि तत्तन्मार्गणायां मार्गणाप्रायोग्याणां सर्वासां जघन्यप्रदेशबन्धस्वामिनां तुल्यत्वेन युगपदेव सर्वासां बन्धार्हदर्शनावरणप्रकृतीनां जघन्यप्रदेशबन्धभावात् । वेदनीयस्य पुनरपगतवेदसूक्ष्मसंपरायमार्गणाद्वये एकस्यैव सातवेदनीयस्य बन्धभावात् ,शेषाऽष्टषष्ट्युत्तरशतमार्गणास्वन्यतरैकस्यैव वेदनीयस्यैकदा बन्धभावात् तत्सन्निकर्षो न भवति ।

एवं गोत्रकर्मणोऽपि कासुचित्केवलमुच्चैर्गोत्रस्यैव बन्धभावात् , कासुचित्केवलं नीचैर्गोत्रस्यैव बन्धभावात् , कासुचिद् द्वयोर्बन्धसंभवेऽपि युगपद्बन्धाऽभावान्न तद्विषयकसन्निकर्षः प्राप्यते । एवं बन्धाऽर्हाणामायुषां सन्निकर्षस्य निषेधो वाच्यः ॥६४८॥

अथ मोहनीयकर्मणो जघन्यप्रदेशबन्धसन्निकर्षमोघतो निरूपयन्नाह—

मोहस्स लहुपएसं धुवबंधीओ इगस्स बंधतो । सेसधुवबंधिणीणं णियमा बंधइ लहुपएसं ॥
वेअजुगलाण बंधइ लहुं पएसं सिआ तहेव भवे । वेअजुगलाण णवरं बंधइ णो चेव पडिवक्खं ॥
॥६४९–६५०॥

(प्रे०) 'मोहस्से'त्यादि, मोहनीयकर्मणः षड्विंशतिः प्रकृतयः, तासां सर्वासां जघन्यप्रदेशबन्धको लब्ध्यपर्याप्तसूक्ष्मनिगोदजीवो भवप्रथमसमये सर्वजघन्ययोगे वर्तमानो भवति, स च मिथ्यादृष्टिः, तत्र षोडशकषायभयजुगुप्सामिथ्यात्वमोहनीयरूपैकोनविंशतिध्रुवबन्धिप्रकृतिभ्य एकस्या ह्रस्वप्रदेशं बध्नन् शेषाऽष्टादशप्रकृतीर्नियमाद् बध्नाति, प्रदेशबन्धं च तासां जघन्यमेव करोति, तथा स एव वेदत्रयस्य हास्यादियुगलद्वयस्य च स्याद् बन्धको भवति, सप्रतिपक्षत्वेन युगपत्तयोर्बन्धाऽभावात् , यदा बध्नाति तदाऽन्यतमवेदयुगलयोर्जघन्यमेव प्रदेशमिति । एवं वेदत्रयस्य प्रत्येकं प्रधानीकृत्य प्रस्तुतसन्निकर्षो वक्तव्यः, केवलं प्रधानीकृतेतरशेषवेदद्वयं न बध्नाति, हास्यादियुगलद्वयं तु तद्वत् स्याद् बध्नाति, जघन्यप्रदेशं च करोति । एवं हास्यादियुगलद्वयस्याऽपि प्रत्येकं प्रधानीकृत्य प्रस्तुतसन्निकर्षो वक्तव्यः केवलं प्रतिपक्षयुगलस्य बन्धो न भवति, षड्विंशतेर्जघन्यप्रदेशबन्धस्वामिनां तुल्यत्वात्सर्वासां जघन्यप्रदेशबन्धः, वेदत्रयस्य युगलद्वयस्य च सप्रतिपक्षत्वात् वेदस्य युगलस्य च स्याद् बन्धादिभणनं प्रकृतिबन्धसन्निकर्षाऽनुरोधादिति,-भावनादयस्तु सुगमतरा इति न भाव्यन्ते ॥६४९-६५०॥

अथ मोहनीयकर्मसत्कप्रस्तुतसन्निकर्षो मार्गणासु चिकथयिषुर्गाथाषट्केन तं प्राह—

पुरिसस्स लहुपएसं बंधंतोऽणुत्तरेसु णाणतिगे । ओहिम्मि य सम्मखइअवेअगुवसमेसु मीसम्मि ॥
जुगलाण सिआ बंधइ लहुमियराण णियमा चउदसण्हं । सिं एव जुगलाण चि णवरं बंधइ ण पडिवक्खं ॥
पुरिसस्स उ लहुबंधी आहारदुगमणपज्जवेसु तहा । संजमसामइएसुं छेए परिहारदेसेसुं ॥

णो अरइसोगजुगलं णियमाऽण्णाण लहुमेवमेव भवे। सोगारइवज्जाणं सप्पाउग्गाण पयडीण ॥
बंधंतो सोगारइजुगलस्स लहुं ण चेव पडिवक्खं। जुगलं बंधइ णियमा सेसाणं संखभागहियं ॥
संजलणस्स अवेए बधंतो लहुपएसमेगस्स। णियमाऽण्णतिगस्स लहुं मोहाणोघव्व सेसासुं ॥
॥६५१—६५६॥

(प्रे०) 'पुरिसस्से'त्यादि, पञ्चाऽनुत्तरदेव-ज्ञानत्रिका-ऽवधिदर्शन-सम्यक्त्वौघ-क्षायिकसम्यक्त्व-क्षयोपशमसम्यक्त्वौ-पशमिकसम्यक्त्व-सम्यग्मिथ्यात्वरूपासु चतुर्दशमार्गणासु मिथ्यात्वा-ऽनन्तानुबन्धिचतुष्क स्त्रीवेद-नपुंसकवेदरूपाणां सप्तानां बन्धाऽभावात्तथा मिश्रसम्यक्त्ववर्जासु त्रयोदशमार्गणासु भवप्रथमसमयवर्तिनस्तत्प्रायोग्यजघन्ययोगिनोऽविरतसम्यग्दृष्टयो बन्धाऽर्हाणामेकोनविंशतेर्जघन्यप्रदेशबन्धस्य प्रायोग्या भवन्ति, मिश्रसम्यक्त्वे तु करणाऽपर्याप्ताऽवस्थाया एवाभावात्परावर्तमानयोगेषु संभवज्जघन्यतमयोगस्थानस्थिता बन्धाऽर्हाणामेकोनविंशतेर्जघन्यप्रदेशबन्धस्य प्रायोग्या भवन्ति, तासु चतुर्दशस्वपि मार्गणासु द्वादशकषाया भयजुगुप्से चेति चतुर्दशध्रुवबन्धिन्यः, पुरुषवेदस्तु ध्रुवबन्धिकल्पो हास्यादियुगलद्वयं त्वध्रुवबन्धि, ततः पुरुषवेदस्य जघन्यप्रदेशं बध्नन् द्वादशकषायभयजुगुप्सानां नियमाद् बन्धको भवति, प्रदेशबन्धमपि तासां जघन्यं करोति। हास्यादियुगलद्वयस्य स्याद् बन्धको भवति प्रदेशबन्धं तु तयोर्द्वयोयुगलयोर्जघन्यं करोति, एवं चतुर्दशध्रुवबन्धिनीनां प्रत्येकं प्रधानीकृत्य प्रस्तुतसन्निकर्षो भावनीयः। हास्यादियुगलद्वयस्य प्रत्येकं प्रधानीकृत्य प्रस्तुतसन्निकर्ष एवमेव, केवलं प्रतिपक्षयुगलस्य बन्धो वर्जनीयः। एतासु बन्धाऽर्हाणां मोहनीयकर्मणो जघन्यप्रदेशबन्धस्वामिनां तुल्यत्वाद् बध्यमानमोहनीयप्रकृतीनां जघन्य एव प्रदेशबन्धो भवति, नाऽन्यविकल्पगतोऽपि, स्याद्बन्धनियतबन्धादिकं तु प्रकृतिबन्धसन्निकर्षानुसारेण प्राप्तं तदपि च सुगमम्।

तथाऽऽहारककाययोगा ऽऽहारकमिश्रकाययोग--मनःपर्यवज्ञान--संयमौघ--सामायिकसंयमच्छेदोपस्थापनीयसंयम-परिहारविशुद्धि-देशविरतिमार्गणारूपास्वष्टासु मार्गणासु करणपर्याप्तजीवानामेव भावात्। तथा देशविरतिमार्गणायां कषायाष्टकपुरुषवेदभयजुगुप्साहास्यादियुगलद्वयरूपाः पञ्चदशप्रकृतयो बन्धाऽर्हाः, शेषसप्तमार्गणासु पुनस्ता एव प्रत्याख्यानावरणकषायचतुष्करहिता एकादश। किञ्च एतास्वष्टास्वपि मार्गणासु केवलं देवायुष एव बन्धप्रायोग्यत्वाद् देवायुषा सह शोकारत्योर्बन्धाभावाच्च शोकारतिवर्जानां त्रयोदशानां देशविरतौ नवानां च शेषसप्तमार्गणासु देवायुर्बध्नन्नेव युगपज्जघन्यप्रदेशबन्धं करोति। तत एकस्या जघन्यप्रदेशबन्धे शेषाणां द्वादशानामष्टानाञ्च जघन्यमेव प्रदेशं बध्नाति, शोकाऽरत्योस्तु बन्धमेव न विदधाति।

शोकारत्योरेकस्या जघन्यप्रदेशं बध्नंस्तदितरस्या जघन्यमेव प्रदेशं बध्नाति, हास्यरतियुगलं तु न बध्नाति, शेषाणामेकादशानां सप्तानां च क्रमेण संख्यातभागाऽधिकं जघन्यप्रदेशबन्धं

करोति, शोकाऽरत्योर्बन्धकाले प्रस्तुतमार्गणागतायुषोऽबध्यमानत्वेन तत्सत्कदलस्य लाभात्संख्यात भागाऽधिकत्वं प्राप्यत इति ।

तथाऽपगतवेदमार्गणायां मोहनीयप्रकृतिषु संज्वलनचतुष्कस्यैव बन्धो भवति, तत्राऽपि चतुष्प्रकृत्यात्मकबन्धस्थानबन्धकस्यैव चतसृणां प्रकृतीनां जघन्यप्रदेशबन्धो भवति, तस्मादेकस्या जघन्यप्रदेशबन्धकः शेषतिसृणां नियमाद् बन्धं विदधाति, प्रदेशबन्धमपि तासां जघन्यमेव करोति । भावना तु सुगमा ।

एवं त्रयोविंशतौ मार्गणासु मोहनीयस्य बन्धाऽर्हप्रकृतीनां प्रस्तुतसन्निकर्षो दर्शितः, सूक्ष्मसंपरायमार्गणायां मोहनीयस्य बन्धाऽभावात्तां वर्जयित्वा शेषासु षट्चत्वारिंशदुत्तरशतमार्गणासु मोहनीयस्य षड्विंशतेः प्रकृतीनामपि बन्धप्रायोग्यत्वात् सर्वासामपि जघन्यप्रदेशबन्धस्वामिनां तुल्यत्वाच्चैकस्या जघन्यप्रदेशबन्धकालेऽन्यासां जघन्यप्रदेशबन्धस्यैव च भावादोघवदतिदेशः, शेषभावना तु सुगमा ।

एवं मोहनीयसत्कजघन्यप्रदेशबन्धस्य स्वस्थानसन्निकर्ष आदेशतोऽपि समाप्तः ॥६५१-६५६॥ अथ शेषस्य नामकर्मणो जघन्यप्रदेशबन्धस्य स्वस्थानसन्निकर्षमोघतो निरूपयन्नाह—

एगस्स बंधमाणो णिरयदुगा लहुपएसमियरस्स । णियमाऽण्णणारगारिहछन्वीसाए असंखगुणं ॥६५७॥

(प्रे०) 'एगस्से'त्यादि, नरकद्विकादेकस्याः प्रकृतेर्जघन्यप्रदेशबन्धकस्तदितरस्या बन्धं नियमतो विदधाति, प्रदेशबन्धं तु तस्या जघन्यं करोति, द्वयोरपि जघन्यप्रदेशबन्धस्वामिनामैक्यात्। शेषाणां नरकगतिनाम्ना सह बध्यमानानां षड्विंशतेर्नियमाद् बन्धको भवति, प्रतिपक्षप्रकृतीनां नरकगतिनाम्ना सह प्रकृतिबन्धेनैव विरोधात् , प्रदेशबन्धं तु तासां स्वजघन्यप्रदेशबन्धतोऽसंख्येयगुणं करोति, तत्र वैक्रियद्विकस्य भवप्रथमसमयवर्तिनः सम्यग्दृष्टिमनुष्या नाम्न एकोनत्रिंशतं बध्नन्तस्तत्प्रायोग्यजघन्ययोगे वर्तमाना जघन्यप्रदेशं कुर्वन्ति, तद्गतयोगतो नरकद्विकजघन्यप्रदेशबन्धकस्य करणपर्याप्ताऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियरूपत्वेन तद्योगस्याऽसंख्येयगुणत्वात् वैक्रियद्विकस्य प्रदेशबन्धोऽप्यसंख्येयगुणाऽधिक एव भवति, शेषाणां चतुर्विंशतेर्जघन्यप्रदेशबन्धस्य सूक्ष्मैकेन्द्रियस्वामित्वात् प्रस्तुतबन्धकस्य सूक्ष्माणां योगतोऽसंख्येयगुणयोगवत्त्वात् प्रदेशबन्धोऽप्यसंख्येयगुण एव भवति, शेषाश्चतुर्विंशतिप्रकृतयः पुनरिमाः—पञ्चेन्द्रियजाति तैजसकार्मणशरीर-हुण्डकसंस्थान-कुखगति-वर्णचतुष्का-ऽगुरुलघू-पघात-निर्माण-पराघातो-च्छ्वास-त्रसचतुष्काऽस्थिरषट्कनामानीति ॥६५७॥

अथ तिर्यग्द्विकादिप्रकृतीनां प्रत्येकं प्रधानीकृत्य प्रस्तुतसन्निकर्षं दर्शयन्नाह—

तिरियउरलदुगधुवपरघूसासुज्जोअतसचउक्काओ । एगस्स हम्मबंधी गुणत्रीसाए लहुं णियमा ॥

विगलं-णिंदिदुखगइछसंघयणागिइथिराइजुगलाणं। बंधइ सिआ लहुमेवं पणिंदिआईण णवरि ण विरुद्धा ॥
(गीतिः) ॥६५८–६५९॥

(प्रे०) 'तिरिये'त्यादि, तिर्यग्द्विकौदारिकद्विक-नामध्रुवबन्धिनव-पराघातो-च्छ्वासो-द्योतनाम-त्रसचतुष्कनामानीति विंशतिप्रकृतयः, सूक्ष्मलब्ध्यपर्याप्तनिगोदजीवो भवप्रथमसमये जघन्ययोगे वर्तमानो नाम्नस्त्रिंशद्बन्धस्थानं बध्नतस्तासां जघन्यप्रदेशबन्धं करोति, अतस्तस्य बन्धाऽर्हस्थानेषु त्रिंशद्बन्धस्थानस्यैव प्रकृष्टत्वात् तद्बन्धस्थाने बन्धाऽर्हाणां प्रकृतीनां जघन्यमेव प्रदेशबन्धं स करोति, तत्राऽपि तिर्यग्द्विकादिविंशतिप्रकृतीनां नियमाद् बन्धः, शेषाणां स्याद्-बन्धः ।

भावार्थः पुनरयम्—तिर्यग्द्विकादिविंशतिप्रकृतिभ्य एकस्या जघन्यप्रदेशबन्धं कुर्वन् शेषाणामेकोनविंशतेर्बन्धं नियमतो विदधाति, प्रदेशबन्धं तु तासां जघन्यं करोति। तथा विकलेन्द्रियत्रिक-पञ्चेन्द्रियजाति–कुखगति–सुखगति–संहननषट्क–संस्थानषट्क—स्थिरादिषड्युगलरूपाणां त्रिंशत्प्रकृतीनां स स्याद्बन्धं विदधाति, सप्रतिपक्षत्वात्तद्बन्धस्य, प्रदेशबन्धं तु तासां जघन्यमेव करोति, सुगमः, एवं शेषैकोनविंशतेरपि प्रस्तुतसन्निकर्षो वक्तव्यः। तथा विकलत्रिकवर्जानां स्याद्बन्धवतीनां सप्तविंशतिप्रकृतीनां प्रत्येकं प्रधानीकृत्य प्रस्तुतसन्निकर्षस्तिर्यग्द्विकजघन्यप्रदेशबन्धसन्निकर्षवद्वक्तव्यः, केवलं प्रतिपक्षप्रकृतीनां प्रधानीकृतप्रकृत्या सह विरोधवतीनाञ्च प्रकृतीनां बन्धो न वक्तव्यः, तद्यथा—कुखगति-सेवार्तसंहनन-हुण्डकसंस्थान स्थिर-शुभ यशःकीर्तिनामाऽस्थिरषट्कप्रधानसन्निकर्षे केवलं प्रतिपक्षप्रकृतीनां वर्जनं कर्तव्यम् । न च तदितरा विरुद्धाः काश्चित्प्रकृतयो येन तासामपि वर्जनं भवेत् , शेषं तु तिर्यग्द्विकप्रधानसन्निकर्षवदेव विंशतेर्ध्रुवो बन्धः शेषाणां स्याद्बन्धः । तथा पञ्चेन्द्रियजाति-सुखगति-प्रथमादिपञ्चसंहनन-प्रथमादिसंस्थानपञ्चक, सुभगत्रिकनामप्रधानसन्निकर्षे प्रतिपक्षप्रकृतीनां बन्धो नैव भवति, तथा सुखगत्यादिप्रकृतिभिस्सह नियमतः पञ्चेन्द्रियजातिनाम्न एव बन्धसद्भावात् पञ्चेन्द्रियजाति-नाम्नो नियमाद्बन्धो भवति विकलेन्द्रियत्रिकं तु नैव बध्नाति, शेषसन्निकर्षस्तु तथैव ज्ञातव्य इति ॥६५८-६५९॥

एवमार्याद्वयेन तिर्यग्द्विकादिसप्तचत्वारिंशत्प्रकृतीनां प्रत्येकं प्रधानीकृत्य प्रस्तुतसन्निकर्षो निरूपितः। एतर्हि मनुष्यद्विकप्रधानं जघन्यप्रदेशबन्धसन्निकर्षं स्वस्थानतः प्रदर्शयन्नाह—

बधंतो मणुयदुगा लहुमेगस्स णियमेयरस्स लहुं । पंचिंदियुरलदुगधुवपरघाऊसासतसचउक्काणं ॥
णियमाओ अब्भहियं संखियभागेण बंधइ सिआ तु । सेसाण छवीसाए जिणवज्जाण पाओग्गाणं ॥
(प्रथमा गीतिः) ॥६६०-६६१॥

(प्रे०) "बधंतो" इत्यादि, मनुष्यद्विकादेकस्या जघन्यप्रदेशं बध्नंस्तदितरस्या नियमाद् बन्धको भवति, प्रदेशबन्धं तु तस्या जघन्यमेव तयोर्जघन्यप्रदेशबन्धस्वामिना-

मैक्यात् । तथा पञ्चेन्द्रियजात्यौदारिकद्विकनामनवध्रुवबन्धिनीपराघातोच्छ्वासत्रसचतुष्कनामानीत्यष्टादशकर्मणां स नियमतो जघन्यतस्संख्यातभागाऽभ्यधिकप्रदेशस्य बन्धको भवति, तत्र प्रस्तुतबन्धकस्य पर्याप्तमनुष्यप्रायोग्यबन्धकत्वात्पञ्चेन्द्रियनामादीनां बन्धे ध्रुवत्वम् , पञ्चेन्द्रियजात्यादीनां जघन्यप्रदेशबन्धस्त्रिंशतं बध्नत एव प्राप्यते, प्रस्तुतबन्धक एकोनत्रिंशतमेव बध्नातीति तासां संख्यातभागाऽधिकत्वम् ।

उक्तशेषाणां पर्याप्तमनुष्ययोग्यानां जिननामकर्मवर्जानां षड्विंशतेः स स्यात्संख्यातभागाऽधिकजघन्यप्रदेशस्य बन्धको भवति, तत्र स्याद्बन्धः सप्रतिपक्षत्वात्संख्यातभागाऽधिकत्वं पुनस्तासां जघन्यप्रदेशबन्धस्य त्रिंशद्बन्धस्थान एव भावात् ।

शेषषड्विंशतिप्रकृतयः पुनरिमाः—संहननषट्क-संस्थानषट्क-खगतिद्वय-स्थिरषट्का-ऽस्थिरषट्कनामानीति । ॥६६०-६६१॥ एवं गाथाद्वयेन मनुष्यद्विकस्य प्रस्तुतसन्निकर्षो निरूपितोऽथ देवद्विकवैक्रियद्विकयोः प्रत्येकं प्रधानीकृत्य प्रस्तुतसन्निकर्षं प्ररूपयन्नाह—

एगस्स हस्सबंधी सुरविउव्वदुगाउ तिण्ह अण्णेसिं । हस्सं बंधइ णियमा जिणस्स संखेज्जभागहियं ॥
जुगलाण थिराईणं तिण्हं बंधइ सिआ असंखगुणं । णियमाऽण्णाहारगदुगवज्जिअतीसमसुरजोग्गाण ॥
॥६६२-६६३॥

(प्रे०) "एगस्से"त्यादि, देवद्विकवैक्रियद्विकयोर्जघन्यप्रदेशबन्धकः सम्यग्दृष्टिमनुष्यो भवप्रथमसमये वर्तमानो जिननामसहितैकोनत्रिंशतं बध्नन् भवति, ततस्ताभ्यश्चतुष्प्रकृतिभ्य एकस्या ह्रस्वप्रदेशबन्धकस्तदितरासां तिसृणां नियमाद् जघन्यप्रदेशस्य च बन्धको भवति, तथा जिननाम्नो नियमात् संख्यातभागाधिकं जघन्यप्रदेशबन्धं करोति,तज्जघन्यप्रदेशबन्धस्य त्रिंशद्बन्धस्थाने भावात् प्रस्तुतबन्धकस्यैकोनत्रिंशद्बन्धकत्वाच्च । स्थिरादियुगलत्रयं स्याद् बध्नाति, प्रदेशबन्धं तु तस्य स्थिरादियुगलत्रयस्याऽसंख्येयगुणाऽधिकं बध्नाति, तज्जघन्यप्रदेशबन्धस्यैकेन्द्रियस्वामिकत्वात् । शेषाणां बन्धाऽर्हाणां देवप्रायोग्याणामेकविंशतेः प्रकृतीनां नियमतो जघन्यप्रदेशबन्धतोऽसंख्येयगुणाऽधिकप्रदेशस्य बन्धको भवति, प्रतिपक्षप्रकृतीनां प्रस्तुतबन्धकस्य बन्धाऽभावात् , आसां जघन्यप्रदेशबन्धस्यैकेन्द्रियेष्वेव भावाच्च ।

शेषाः प्रकृतयः पुनरिमाः—पञ्चेन्द्रियजाति-नामनवध्रुवबन्धिनी-समचतुरस्रसंस्थान-सुखगति-पराघातोच्छ्वास त्रसचतुष्क सुभगत्रिकनामानीति ॥६६२-६६३॥

अथैकेन्द्रियजातिनामप्रधाने प्रस्तुतसन्निकर्षं प्रदर्शयन्नाह—

एगिंदियस्स हस्सं बधतो तिरियदुगुरुलधुवाणं । परघाऊसासदुहगदुं'डाणादेयबायरतिगाणं ॥ (गीतिः)
णियमा संखेसहियं उज्जोअथिराइतिजुगलाण सिआ । लहुमायवस्स उ सिआ णियमाओ थावरस्स लहुं ॥
॥६६४-६६५॥

(प्रे०) "एगिंदियस्से"त्यादि, एकेन्द्रियजातिनाम्नो जघन्यप्रदेशबन्धकस्तिर्यग्द्विकौदारिकशरीर-नवनामध्रुवबन्धिनी-पराघातोच्छ्वास-दुर्भग-हुण्डका-ऽनादेय-बादरत्रिकनामानीति विंशतिः प्रकृतयः, तासां नियमतो बन्धको भवति, प्रदेशबन्धं तु स तासां संख्यातभागाऽधिकं करोति, प्रस्तुतबन्धकस्यैकेन्द्रियप्रायोग्यपड्विंशतिस्थानस्यैव बन्धकत्वादासां जघन्यप्रदेशबन्धकस्य त्रिंशतं बध्नत एव भावाच्च संख्येयभागाऽधिकत्वं विज्ञेयम् , प्रतिपक्षप्रकृतीनां बन्धाभावाद् नियमतो बन्ध इति । उद्योतनामस्थिरादियुगलत्रयरूपसप्तप्रकृतीनां स स्यात्संख्यातभागाऽधिकजघन्यप्रदेशस्य बन्धको भवति, त्रिंशद्बन्धस्थाने एवासां सप्तानां जघन्यप्रदेशबन्धभावाच्छेषं सुगमम् । आतपनाम्नः स्याद् बन्धको भवति, उद्योतनाम्नो बन्धप्रायोग्यत्वेन तस्याऽपि बन्धस्य संभवात् , प्रदेशबन्धं तु तस्यातपनाम्नो जघन्यमेव करोति, पड्विंशतौ एवाऽस्य बन्धस्य जघन्यप्रदेशबन्धस्य च भावात्प्रस्तुतबन्धकस्यापि पड्विंशतेरेव बध्यमानत्वात् । स्थावरनाम्नो नियमतो बन्धको भवति, प्रदेशबन्धं तु तस्य जघन्यमेव स करोति, एकेन्द्रियजात्या सह त्रसनाम्नो बन्धाऽभावेन प्रकृतिबन्धसन्निकर्षाऽनुरोधादेव स्थावरनाम्नो नियतबन्धत्त्वम् ,प्रधानीकृतप्रकृतेरिवाऽस्या अपि जघन्यप्रदेशबन्धस्य पड्विंशतिबन्धस्थाने एव लाभात् जघन्यप्रदेशबन्धकत्वं च विज्ञेयमिति, शेषाः प्रकृतीस्तु नैव बध्नाति ॥६६४-६६५॥

एतर्हि विकलेन्द्रियजातित्रयस्य प्रत्येकं प्रधानीकृत्य प्रस्तुतसन्निकर्षं कथयति—

लहुबंधी विगलतिगा ण्गस्स थिराइतिजुगलाण मिआ । बधेइ लहुं णियमा पज्जविगलजोग्गसेसाणं ॥ ॥६६६॥

(प्रे०) "लहुबंधी" इत्यादि, विकलेन्द्रियजातित्रिकादेकस्या जघन्यप्रदेशबन्धकः स्थिरास्थिरादियुगलत्रयस्य स्याज्जघन्यप्रदेशस्य च बन्धको भवति, शेषाणां पर्याप्तविकलेन्द्रिययोग्यानां नियमाज्जघन्यप्रदेशस्य च बन्धकः यतः प्रस्तुतजघन्यप्रदेशबन्धकः सूक्ष्मनिगोदभवप्रथमसमये वर्तमानो जघन्ययोगी नाम्नस्त्रिंशत्प्रकृत्यात्मकबन्धस्थानं बध्नन् भवति, स एव तदा बन्धाऽर्हाणां सर्वासांजघन्यप्रदेशबन्धक इति कृत्वा सर्वासां जघन्यप्रदेशबन्धस्य लाभः, पर्याप्तविकलाक्षप्रायोग्यं बध्नता नाम्नः स्थिरादियुगलत्रयस्य सप्रतिपक्षत्वात्स्याद्बन्धः शेषाणां नियमतो बन्धः । अत्रोद्योतस्य बन्धो नियमतो भवति, प्रस्तुतबन्धकस्य त्रिंशत्प्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्य बन्धकत्वात् , उद्योतनाम्नो बन्धस्य तत्राऽवश्यं भावाच्च ।

शेषाः पड्विंशतिः प्रकृतयः पुनरिमाः—तिर्यद्विकौदारिकद्विक-तेजस-कार्मणशरीरसेवार्तसंहनन-हुण्डकसंस्थान-कुखगति—वर्णचतुष्का-ऽगुरुलघू—पघात-निर्माण-पराघातो-च्छ्वासो-द्योत—नाम-त्रसचतुष्क-दुर्भगत्रिकनामानीति । यथाऽन्यतमैकजातिप्रधानसन्निकर्षो दर्शितस्तथैव शेष-जातिद्वयस्य प्रत्येकं प्रधानीकृत्य प्रस्तुतसन्निकर्षो भावनीयः ॥६६६॥

पञ्चेन्द्रियजातिनामप्रधानसन्निकर्षस्यौदारिकद्विकवैक्रियद्विकप्रधानसन्निकर्षस्य च प्राग्दर्शितत्वात् क्रमप्राप्ताऽऽहारकद्विकप्रधानं प्रस्तुतसन्निकर्षं कथयन्नाह—

एगस्साहारदुगा लहुवंधी वंधए लहुं णियमा । इयरस्स असंखगुणं णियमाऽण्णसुहसुरजोग्गाणं ॥६६७॥

(प्रे०) "एगस्साहारदुगा" इत्यादि, आहारकद्विकादेकस्य जघन्यप्रदेशबन्धकस्तदन्यस्य जघन्यमेव प्रदेशं बध्नाति, तज्जघन्यप्रदेशबन्धस्वामिनां तुल्यत्वात् , शेषाणां बन्धाऽर्हाणां नाम्न एकोनत्रिंशत्प्रकृतीनां स नियमाद् बन्धको भवति, अप्रमत्तस्य प्रतिपक्षप्रकृतीनां बन्धाऽभावाज्जिननाम्नो बन्धकस्यैवाऽऽहारकद्विकस्य जघन्यप्रदेशबन्धकत्वान्नियमात्तस्य बन्धः । जिननामदेवद्विकवैक्रियद्विकानां करणाऽपर्याप्तभवप्रथमसमये वर्तमानस्तत्प्रायोग्यजघन्ययोगी जघन्यप्रदेशबन्धस्य स्वामी भवति, ततः प्रस्तुतबन्धकयोगस्याऽसंख्येयगुणत्वात्तासां जघन्यप्रदेशबन्धतोऽसंख्येयगुणाऽधिकप्रदेशबन्धको भवति, शेषाणां चतुर्विंशतेस्सूक्ष्माऽपर्याप्तस्य जघन्यप्रदेशबन्धस्वामित्वात्प्रस्तुते तासामसंख्येयगुणाऽधिकप्रदेशबन्धको भवति ।

एकोनत्रिंशत्प्रकृतयः पुनरिमाः—देवद्विक-पञ्चेन्द्रियजाति-वैक्रियद्विक-तैजसकार्मण-समचतुरस्र-सुखगति-वर्णचतुष्का-ऽगुरुलघू-पघात-निर्माण-पराघातो-च्छ्वास-जिननाम-त्रसदशकनामानीति ॥६६७॥

अथ संहनननामादिप्रकृतिप्रधानसन्निकर्षस्याऽतिदेशेन निरूपितत्वात्क्रमप्राप्तजिननामप्रधानं प्रस्तुतसन्निकर्षं प्ररूपयन्नाह—

तिथिराइगजुगलाणं जिणलहुवंधी सिआ असखगुणं । णियमाऽण्णधुवसुहअधुवणरजोग्गाणं छवीसाए ॥ ॥६६८॥

(प्रे०) "तिथिराइगे"त्यादि, जिननामजघन्यप्रदेशबन्धको देवो नैरयिको वा भवप्रथमसमये वर्तमानो भवति, तस्य च मनुष्यप्रायोग्यैकोनत्रिंशत्प्रकृतीनां जिननाम्नश्च बन्धो भवति, तत्राऽपि स्थिरादियुगलत्रयस्य सप्रतिपक्षत्वात्स्याद्बन्धः, शेषाणां षड्विंशतेर्मनुष्यगत्यादिप्रकृतीनां नियमतो बन्धो भवति, प्रदेशबन्धस्तु तासां षड्विंशतेर्मनुष्यगत्यादीनां स्थिरादियुगलत्रयस्य च स्वजघन्यप्रदेशबन्धतोऽसंख्येयगुणाऽभ्यधिकस्तासां जघन्यप्रदेशबन्धस्य स्वामितया सूक्ष्मनिगोदजीवस्य लाभात् ।

शेषाः षड्विंशतिप्रकृतयः पुनरिमाः—मनुष्यगति-पञ्चेन्द्रियजातिनामौ-दारिकद्विक-नवध्रुवनाम-वज्रर्षभनाराचसंहनन-समचतुरस्रसंस्थान-सुखगति-मनुष्यानुपूर्वी-पराघातोच्छ्वास-त्रसचतुष्क-सुभगत्रिकनामानीति ॥६६८॥

एतर्हि सूक्ष्मनामप्रधानं प्रस्तुतसन्निकर्षमोघतः प्ररूपयन्नाह—

सुहुमस्स हस्सवंधी तिरिदुगिगिंदियधुवुरलहुं ठाणं । थावरपरघाऊसासपज्जऽणादेयदुहगअजसाणं ॥

णियमा संखंसहियं पत्तेअथिराइदुजुगलाण सिआ । साहारणस्स हस्सं वंधइ साहारणस्सेवं ॥
(प्रथमा गीतिः) ॥६६९-६७०॥

(प्रे०) "**सुहमस्से**"त्यादि, सूक्ष्मनामकर्मणो जघन्यप्रदेशवन्धको नाम्नः पञ्चविंशतेर्वन्धको भवति, ततस्तिर्यग्द्विकनामनवध्रुववन्धिन्यौदारिकशरीरहुण्डकसंस्थानपराघातोच्छ्वासपर्याप्ताऽनादेयदुर्भगाऽयशःकीर्तिनामरूपाणामेकोनविंशतेः प्रकृतीनां जघन्यप्रदेशवन्धस्य त्रिंशद्वन्धस्थाने भावात् एकेन्द्रियस्थावरयोः षड्विंशतिवन्धस्थाने भावात् संख्यातभागाधिकं जघन्यप्रदेशवन्धं करोति, प्रकृतिवन्धं तु स नियमतो विदधाति, प्रतिपक्षप्रकृतीनां सूक्ष्मनाम्ना सह वन्धाऽनर्हत्वात् । प्रत्येकनाम-स्थिर-शुभाऽस्थिरा-ऽशुभनामानीति पञ्च प्रकृतीः स्याद् संख्यातभागाऽधिका वध्नाति, भावना तु सुगमा । साधारणनाम्नः स स्याद्वन्धको भवति, प्रतिपक्षप्रकृतेर्वन्धाऽर्हत्वात् ,प्रदेशवन्धं तु स तस्य जघन्यमेव विदधाति, सूक्ष्मनामकर्मवत्तस्याऽपि पञ्चविंशतेर्वन्धस्थान एव जघन्यप्रदेशवन्धस्य भावात् ।यथा सूक्ष्मनामप्रधानसन्निकर्षो निरूपितस्तथैव साधारणनाम्नोऽपि सन्निकर्षो वक्तव्यः, केवलं प्रकृतिव्यत्ययो यथासंभवं विज्ञेय इति ॥६६९-६७०॥

तिरिणरदुगजाइचउगणामाण सिआ अपज्जलहुवंधी । संखंसहियं बधइ धुवुरलतसदुगछिवट्ठाणं ॥
हुंडगपत्तेअगणअथिराइगणामाण वंधए णियमा । एगिंदियव्व आयवथावरणामाण विण्णेयो ॥
॥६७१-६७२॥

(प्रे०) "**तिरि**" इत्यादि, अपर्याप्तनाम्नो जघन्यप्रदेशवन्धं कुर्वंस्तिर्यग्द्विक-मनुष्यद्विक-द्वीन्द्रियादिजातिचतुष्कनाम्नां स स्यात् वन्धं करोति,प्रतिपक्षप्रकृतीनां वन्धसद्भावात् , प्रदेशवन्धं तु तासां संख्यातभागाऽधिकं करोति, तज्जघन्यप्रदेशवन्धस्य त्रिंशद्वन्धस्थान एव जायमानत्वात् । नामध्रुववन्धिन्यौदारिकशरीरौदारिकाङ्गोपाङ्गत्रसवादरसेवार्तनामहुण्डसंस्थानप्रत्येकशरीरास्थिराशुभदुर्भगानादेयायशःकीर्तिनाम्नां समुदितानामेकविंशतेर्नामप्रकृतीनां स नियमाद् वन्धं करोति,प्रदेशवन्धं त्वासां जघन्यं त्रिंशतं वध्नन्नैव करोति,प्रस्तुतवन्धकस्तु पञ्चविंशतेरेवाऽपर्याप्तत्रसप्रायोग्यं वध्नाति, अतस्तासां स जघन्यप्रदेशवन्धतः संख्यातभागाधिकमेव वध्नाति । शेषप्रकृतीस्तु स नैव वध्नाति ।

अथाऽऽतपनामस्थावरनाम्नोः प्रस्तुतसन्निकर्षमतिदेशेन दर्शयति–"**एगिंदियव्व**"इत्यादि, स्थावरनामा-ऽऽतपनामरूपयोर्द्वयोः प्रत्येकं प्रधानीकृत्य प्रस्तुतसन्निकर्ष एकेन्द्रियनामसन्निकर्षे यथा दर्शितस्तथा दर्शनीयस्तिसृणां युगपदेव जघन्यप्रदेशवन्धस्य लाभात् । भावना तु तत एवाऽवधार्या । समाप्त ओघतो नामप्रकृतीनां स्वस्थानजघन्यप्रदेशवन्धसन्निकर्षः ॥६७१-६७२॥

अथ मार्गणासु नामकर्मणो जघन्यप्रदेशवन्धस्य स्वस्थानसन्निकर्षं दर्शयन्नादौ नरकादिमार्गणास्वाह–

णिरयऽञ्जतिणिरयेसुं तिरियउरलदुगपणिंदियधुवाओ । परघूसासुज्जोअग-तसचउगाओ लहुपएसं ॥
एगस्स बंधमाणो वीसियराण णियमा लहुपएसं । संघयणागिइछगदुखगइछथिराइजुगलाण सिआ ॥
एमेव छवीसाए सिं णवरि ण बंधए उ पडिवक्खा । एगस्स णरदुगा लहुबंधी णियमेयरस्स लहुं ॥
कुणइ छवीसाअ सिआ संघयणाईण संखभागहियं । णियमा जिणवज्जमणुयजोग्गाण जिणस्स ओघव्व ॥
तुरियाइणिरयचउगे सव्वाणेवं परं तमतमाए । एगस्स णरदुगा लहुबंधी णियमेयरस्स लहुं ॥
तिथिराइगजुगलाणं सिआ असंखियगुणं तु बंधेइ । णियमा णरजोग्गइयरधुवसुहअधुवचउवीसाए ॥
॥६७३-६७८॥

(प्रे०) "णिरय" इत्यादि, नरकौघमार्गणायां तिर्यग्द्विकौदारिकद्विकपञ्चेन्द्रियजाति-नवनामध्रुवबन्धिप्रकृतिषु तथा पराघातोच्छ्वासोद्योत-त्रसचतुष्केष्वन्यतमप्रकृतेर्जघन्यप्रदेशं बध्नन् शेषविंशतेर्नियमेन बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु तासां जघन्यमेव करोति । असंज्ञिभ्य आगतानां भवप्रथमसमयस्थानां जघन्ययोगस्य लाभात् , तत्र च तेषां मनुष्यप्रायोग्यत्रिंशद्-बन्धस्थानस्याभावेन तिर्यक्प्रायोग्यत्रिंशतो बन्धस्थानं बध्नतामासां जघन्यप्रदेशबन्धलाभात् त्रिंशद्बन्धस्थानं बध्नतामासां नियमेन बध्यमानत्वाच्च । संहननषट्क-संस्थानषट्क-खगतिद्वय-स्थिरषट्का-स्थिरषट्करूपाणां षड्विंशतेः स्याद्बन्धं करोति, सप्रतिपक्षत्वात् , प्रदेशबन्धं तु तासां जघन्यमेव विदधाति । एवं शेषाणां विंशतेरपि सन्निकर्षो वाच्यः । यथा तिर्यग्द्विकप्रधान-सन्निकर्षो दर्शितः तथैव संहननादिषड्विंशतेरपि सन्निकर्षो वाच्यः, केवलं प्रतिपक्षप्रकृतीर्न बध्नातीति विशेषः ।

मनुष्यद्विकादेकतरस्या जघन्यप्रदेशबन्धं कुर्वंस्तदन्यस्या नियमेन बन्धं विदधाति, प्रदेश-बन्धं च जघन्यमेव करोति, तथा स संहननषट्कादिषड्विंशतेः सप्रतिपक्षत्वेन स्याद्बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु तासां संख्यातभागाधिकमेव करोति, आसां जघन्यप्रदेशबन्धस्य त्रिंशद्-बन्धस्थाननिर्वर्त्तकस्यैव लाभात् , प्रस्तुतबन्धकस्यैकोनत्रिंशद्बन्धस्यैव भावाच्च । तथा स शेषाणां मनुष्यप्रायोग्याणां पञ्चेन्द्रियजात्यादीनामष्टादशानां नियमेन बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु तासां संख्यातभागाधिकमेवेति । अत्र मनुष्यद्विकजघन्यप्रदेशबन्धको जिननाम्नस्तु बन्धं नैव करोति, असंज्ञिभ्य आगतत्वात् । जिननाम्नो जघन्यप्रदेशबन्धसन्निकर्ष ओघवद्विज्ञेयः, तद्यथा—जिननाम्नो जघन्यप्रदेशं बध्नन् स्थिरास्थिर-शुभाशुभयशःकीर्त्ययशःकीर्तिनाम्नां स्याद्-बन्धमसंख्येयगुणाभ्यधिकजघन्यप्रदेशबन्धं च करोति, शेषाणां मनुष्यगत्यादीनां षड्विंशते-र्नियमेन बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु तासामसंख्येयगुणाधिकं जघन्यं करोति, असंज्ञिभ्य आग-तस्य भवप्रथमसमयवर्तिनो जघन्ययोगतः संज्ञिमनुष्य-तिर्यग्भ्य आगतस्य भवप्रथमसमयवर्तिनो जघन्ययोगस्यासंख्येयगुणत्वादिति । एवं पञ्चाशन्नामप्रकृतीनां प्रत्येकं प्रधानीकृत्य सन्निकर्षो दर्शितः, शेषाः सप्तदशप्रकृतयो न बध्यन्ते नारकैरिति न तत्प्ररूपणेति ।

यथा नरकौघमार्गणायां सन्निकर्षः प्राप्यते तथैव प्रथमनरकमार्गणायाम् , एवमेव द्वितीय-तृतीयनरकमार्गणाद्वये, केवलं सन्निकर्षभावनायामयं विशेषः—नरकगतावसंज्ञिनां प्रथमनरक एवोत्पादस्तथापि द्वितीय-तृतीयनरके क्षायिकसम्यग्दृशामुत्पादाभावेन भवप्रथमसमये मनुष्यप्रायोग्यत्रिंशत्प्रकृतीनां बन्धस्थानस्यालाभात् तिर्यग्द्विकादिसप्तचत्वारिंशत्प्रकृतीनां तिर्यक्प्रायोग्यत्रिंशद्बन्धस्थान एव जघन्यप्रदेशबन्धस्य प्राप्यमाणत्वात् तदपेक्षया भावना विधेया ।

एवं मनुष्यद्विकप्रधानसन्निकर्षेऽप्येकोनत्रिंशद्बन्धं कुर्वन्तमधिकृत्य भावना कार्या, जिननाम्नः पुनः पर्याप्तघोलमानयोगिनो जघन्यप्रदेशबन्धस्य लाभाद् भवप्रथमसमयगतयोगतस्तद्योगस्यासंख्येयगुणत्वाच्च तेन सह बन्धयोग्यप्रकृतीनां स स्वजघन्यप्रदेशबन्धतोऽसंख्येयगुणाभ्यधिकप्रदेशबन्धं करोति, अतस्तदधिकृत्य भावना विधेयेति ।

यदभिप्रायेण पुनर्द्वितीय-तृतीयनरकेषु क्षायिकसम्यग्दृशामुत्पादस्तेषामभिप्रायेण मनुष्यद्विकादीनां तानधिकृत्य पञ्चेन्द्रियजात्यादीनां तिर्यग्मनुष्यप्रायोग्यबन्धकानधिकृत्य सन्निकर्षो निरूपणीयः, स च मूलतो विभिन्नः स्यादतस्तन्मतं मूलकृता न विवृतमिति ज्ञातव्यमिति ।

चतुर्थ-पञ्चम-षष्ठनरकभेदत्रयेऽपि जिननाम्नो बन्धाभावात्तद्विहाय नरकौघवत् प्रस्तुतसन्निकर्षो विज्ञेयः, भावना तु द्वितीयनरकानुसारेण यथायोगं कार्या ।

सप्तमनरकमार्गणायां तिर्यग्द्विकादिसप्तचत्वारिंशत्प्रकृतीनां नरकौघवत् प्रस्तुतसन्निकर्षो विज्ञेयः, तत्र मनुष्यद्विकस्य पर्याप्तावस्थायामेव बन्धार्हत्वात् तद्विषयकसन्निकर्षः पृथग् दर्शयति—तद्यथा—मनुष्यद्विकादेकस्या जघन्यप्रदेशबन्धकः सोऽन्यस्या जघन्यमेव प्रदेशं नियमाच्च बध्नाति, तुल्यस्वामिकत्वात् , स्थिरास्थिर-शुभाशुभ-यशःकीर्त्त्ययशःकीर्तिनाम्नां सप्रतिपक्षत्वेन स्याद्बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु स्वजघन्यप्रदेशबन्धतोऽसंख्येयगुणाधिकम् , भवप्रथमसमय एव तज्जघन्यप्रदेशबन्धस्य भावात् ।

शेषाणां मनुष्यप्रायोग्याणां पञ्चेन्द्रियजात्यादिचतुर्विंशतिप्रकृतीनां नियमेन बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु जघन्यतोऽसंख्येयगुणाधिकमिति, भावना तु सुगमा ॥६७३-६७८॥

अथ तिर्यग्गत्यादिमार्गणासु प्रस्तुतं दर्शयति—

सप्पाउग्गाण तिरिदुपणिंदितिरिएसु अत्थि ओघव्व । णवरि ण उ जिणं बंधइ सुरविउव्वदुगाण लहुबंधी ॥ ॥६७९॥

(प्रे०) "सप्पाउग्गाणे"त्यादि, तिर्यग्गत्योघ-पञ्चेन्द्रियतिर्यगोघ-पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्रूपासु तिसृषु मार्गणासु बन्धप्रायोग्याणां चतुःषष्टिनामप्रकृतीनां जघन्यप्रदेशबन्धसत्कस्वस्थानसन्निकर्ष ओघवद्विज्ञेयः, ओघेऽपि देवद्विकवैक्रियद्विके विहाय तिर्यगपेक्षयैव सर्वसन्निकर्षः प्राप्यत इति कृत्वा तिर्यग्गत्योघे तद्वदतिदेशः । पञ्चेन्द्रियतिर्यगोघ-पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्रूपमार्गणाद्वये भवप्रथमसमयवर्त्तिनामसंज्ञिनां वैक्रियषट्कवर्जाष्टपञ्चाशतः प्रस्तुतसन्निकर्षः प्राप्यते,

ओघे तु सूक्ष्मलब्ध्यपर्याप्तनिगोदस्य, तथापि बन्धस्थानादिना तत्स्वामिनां तुल्यत्वेन न प्रस्तुतप्ररूपणायां वैषम्यम्, नरकद्विकजघन्यप्रदेशबन्धस्य तूक्तमार्गणाद्वये पर्याप्तासंज्ञिनां बन्धार्हत्वेन तेन सह बन्धप्रायोग्यप्रकृतीनां भवप्रथमसमयेऽपि बन्धलाभात् प्रस्तुते तासां स्वजघन्यप्रदेशबन्धतोऽसंख्येयगुणाधिकप्रदेशबन्धस्यैव प्राप्यमाणत्वादोघतो न कश्चिद्विशेषः प्ररूपणायामिति । देवद्विक-वैक्रियद्विकयोरोघे तु मनुष्यस्य जिननामबन्धकस्यैव तज्जघन्यप्रदेशबन्धस्य लाभात्, प्रस्तुते मार्गणात्रये तु जिननाम्नो बन्धाभावाद् देवद्विक-वैक्रियद्विकप्रधानसन्निकर्षे तन्निषेधो वाच्य इत्येतदपवादपदं "णवरि" इत्यादिना दर्शितम्, सुगमञ्चेति ॥६७९॥

अथ तिरश्चीमार्गणायां तथाऽज्ञानद्वयाभव्य-मिथ्यात्वासंज्ञिमार्गणासु चेति षट्सु प्रस्तुतसन्निकर्षं दर्शयति—

तिरिजोणिमईए तह दुअणाणाऽभविय-मिच्छ-असणेसु । एगस्स बंधमाणो लहुं पएसं णिरयजुगला ॥
विउव्वदुगस्सियरस्स य लहुं पएसं तु बंधए णियमा । सेसणिरयजोग्गाणं चउवीसाए असखगुणं ॥
एगस्स लहुपएसं बंधंतो सुरदुगा लहुपएसं । णियमा इयरस्स तहा विउव्वियदुगस्स बंधेइ ॥
देवप्पाउग्गाणं सेसाणं तिअथिराइवज्जाणं । चउवीसाए बंधइ णियमाहिन्तो असंखगुणं ॥
बंधतो विउव्वदुगा एगस्स लहुं पएसमियरस्स । णियमा लहुं पएसं णारग-देवजुगलाण सिआ ॥
दुखगइ-छथिराइजुगल-दुआगिईणं सिआ असंखगुणं । बंधइ णियमा सोलससेसाणोव्वव्व सेसाणं ॥
॥६८०-६८५॥

(प्रे०) "तिरि" इत्यादि, निरुक्तमार्गणाषट्के वैक्रियषट्कं विहाय शेषाष्टपञ्चाशन्नामप्रकृतीनां प्रत्येकं प्रधानीकृत्य प्रस्तुतसन्निकर्ष ओघवद्भवति, भावनाऽपि तिरश्चीमार्गणायामनन्तरदर्शितपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्वत् कर्तव्या । शेषाज्ञानद्वयादिमार्गणापञ्चके भावना तिर्यगोघवदोघवद्वा विधेया ।

प्रस्तुतषण्मार्गणासु वैक्रियषट्कस्याऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्य स्वामित्वेन तत्प्रधानसन्निकर्षः पृथग्दर्शितः, तत्र नरकद्विकादेकस्या जघन्यप्रदेशं बध्नंस्तदितरस्या वैक्रियद्विकस्य च नियमेन बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु जघन्यमेवेति, आसां जघन्यप्रदेशबन्धस्य युगपदेकबन्धस्थाने भावादिति । शेषाणां नरकगतिप्रायोग्याणां चतुर्विंशतेर्नामप्रकृतीनां नियमेन बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु तासां स्वजघन्यतोऽसंख्येयगुणाधिकं करोति । भावना तु सुगमा, शेषप्रकृतयः पुनरिमाश्चतुर्विंशतिः—पञ्चेन्द्रियजाति-तैजस-कार्मण-हुण्डक-कुखगति-वर्णचतुष्का-ऽगुरुलघुचतुष्क-निर्माणत्रसचतुष्काऽस्थिरषट्कनामानीति ।

तथा देवगतिनाम्नो जघन्यप्रदेशं बध्नन् देवानुपूर्वी-वैक्रियद्विकप्रकृतीनां नियमेन जघन्यं प्रदेशबन्धं करोति । पञ्चेन्द्रियजाति-नवध्रुवबन्धिनी-समचतुरस्र-सुखगति-पराघातोच्छ्वास-त्रसदशकरूपाणां चतुर्विंशतेर्नियमाद्बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु तासां स्वजघन्यतोऽसंख्येय-

गुणाधिकं करोति, अत्र स्थिरादित्रयं मुक्त्वा शेषैकविंशतेः सर्वत्र देवगतिनाम्ना सह ध्रुवबन्धिकल्पत्वात् , तथा प्रस्तुते देवगतिजघन्यप्रदेशबन्धको देवायुर्वध्नन्नेव वति, देवायुर्वध्नतस्त्वस्थिरादीनां बन्धाभावात् स्थिरादित्रयस्य नियमेन बन्धो भवति,असंख्येयगुणाधिकजघन्यप्रदेशबन्धस्तु सुगमः ।

एवं देवानुपूर्व्याः सन्निकर्षो विज्ञेयः ।

वैक्रियशरीरनाम्नो जघन्यप्रदेशं बध्नन वैक्रियाङ्गोपाङ्गस्य नियमाद्बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं च जघन्यं करोति, देवद्विक-नरकद्विकयोः स्याद्बन्धं जघन्यप्रदेशबन्धं च करोति, तुल्य स्वामिकत्वात् । तथा समचतुरस्रसंस्थान-हुण्डक-खगतिद्वय-स्थिरषट्काऽस्थिरषट्करूपाणां षोडशानां स्याद्बन्धं करोति, देवगतिप्रायोग्यं बध्नन् प्रशस्ता अष्टौ बध्नाति, नरकगतिप्रायोग्यं बध्नंस्त्वष्टावप्रशस्ता इति, प्रदेशबन्धं तु तासां षोडशानां स्वजघन्यतोऽसंख्येयगुणाधिकमिति । तथा वैक्रियशरीरजघन्यप्रदेशं बध्नन् स शेषबन्धप्रायोग्यषोडशनामप्रकृतीनां नियमेन बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु तासां स्वजघन्यतोऽसंख्येयगुणाधिकमिति, भावना तु सुगमा, शेषप्रकृतयः पुनरिमाः—नवध्रुवबन्धिनी-पञ्चेन्द्रियजाति-पराघातोच्छ्वास-त्रसचतुष्कनामानीति ।

"**ओघव्व सेसाणं**" इत्यादिना शेषाष्टपञ्चाशतः प्रत्येकं प्रधानीकृत्य प्रस्तुतसन्निकर्ष ओघवद्भवति, स च सुगम इति ॥६८०-६८५॥

अथापर्याप्ततिर्यक्पञ्चेन्द्रियाद्यं कोनषष्टिमार्गणासु प्रस्तुतसन्निकर्षं दर्शयति—

ओघव्व अपज्जत्तगपणिंदितिरिणरपणिंदियतसेसु । सयलेगविगलइंदियपणकायेसु सजोग्गाणं॥६८६॥

(प्रे०) '**ओघव्वे**' त्यादि, अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यगपर्याप्तमनुष्याऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रियाऽपर्याप्तत्रसकाय-सप्तैकेन्द्रियभेद-नवविकलाक्षभेदैकोनचत्वारिंशत्पृथिव्यादिपञ्चकायसत्कभेदाः, तेषु नवपञ्चाशन्मार्गणाभेदेषु स्वप्रायोग्याणां बन्धार्हाणां नामप्रकृतीनां प्रस्तुतसन्निकर्ष ओघवद्भवति उक्तमार्गणासु भवप्रथमसमयत्वेन जघन्यप्रदेशबन्धयोग्यत्रिंशदादिबन्धस्थानादिना चौघतस्स्वामिनां तुल्यत्वात् , भावनाऽप्योघानुसारेण विधेया,केवलं भावनायामयं विशेषः-एताभ्यो यासु मार्गणासु लब्ध्यपर्याप्तसूक्ष्मनिगोदजीवानामप्रवेशस्तासु यथासम्भवं मार्गणाप्रायोग्यजघन्ययोगवतां भवप्रथमसमयवर्त्तिनां ग्रहणं कार्यमिति ॥६८६॥

अथ मनुष्यौघ-पर्याप्तमनुष्य-मानुष्यौ-दारिककाययोगतन्मिश्रकाययोगरूपासु पञ्चसु मार्गणासु प्रस्तुतसन्निकर्षं दर्शयन्नाह—

सुरविउव्वदुगजिणाओ वंधंतो लहुपएसमेगस्स । तिणरुरलदुगेसु कुणइ चउण्ह णियमा लहुपएसं ॥
तिथिराइगजुगलाणं वंधेइ सिआ असंखियगुणं तु । सुरजोग्गाणियरेसिं णियमा ओघव्व सेसाणं ॥
॥६८७-६८८॥

(प्रे०) 'सुरे' त्यादि, मनुष्यौघ-पर्याप्तमनुष्य-मानुषीमार्गणात्रय औदारिककाययोगे औदारिकमिश्रे च देवद्विक-वैक्रियद्विक-जिननामरूपपञ्चप्रकृतिभ्य एकस्या जघन्यप्रदेशबन्धं कुर्वन् शेषचतसृणां नियमाज्जघन्यप्रदेशबन्धं च करोति, उक्तमार्गणापञ्चके देवद्विकादिपञ्चानामपि जघन्यप्रदेशबन्धस्वामिनामेकत्वात् , तथा स स्थिरादियुगलत्रयस्य सप्रतिपक्षत्वेन स्याद्बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु तासां षण्णां स्वजघन्यप्रदेशबन्धतोऽसंख्येयगुणाधिकं करोति, भिन्नस्वामित्वात् तासां जघन्यप्रदेशबन्धस्य, तद्यथा—मनुष्यमार्गणात्रयेऽसंज्ञिभ्य आगतस्य भवप्रथमसमये वर्त्तमानस्य औदारिकमिश्रकाययोगे सूक्ष्मलब्ध्यपर्याप्तनिगोदजीवानां भवप्रथमसमये वर्तमानस्य जघन्यप्रदेशबन्धो भवति, औदारिककाययोगे तु सूक्ष्मपर्याप्तानामेव जघन्यप्रदेशबन्धो भवति, प्रस्तुतबन्धकस्य ततोऽसंख्येयगुणयोगवत्त्वात् भवत्येवाऽसंख्येयगुणाधिको जघन्यप्रदेशबन्ध इति।

शेषाणां देवप्रायोग्याणामेकविंशतेर्नियमेन बन्धं करोति, प्रस्तुतबन्धकस्य सम्यग्दृष्टित्वेनासां प्रतिपक्षप्रकृतीनां बन्धाभावादिना ध्रुवबन्धिकल्पत्वात् , ताः प्रकृतयः पुनरिमाः—नवनामध्रुवबन्धिनी-पञ्चेन्द्रियजाति-समचतुरस्र-सुखगति-पराघातो-च्छ्वास-त्रसचतुष्क-सुभगत्रिकलक्षणाः, आसां जघन्यप्रदेशबन्धस्वामिनामतो विलक्षणत्वेन प्रस्तुते तासामसंख्येयगुणाधिकजघन्यप्रदेशबन्धो भवति।

अत्र देवद्विक-वैक्रियद्विकयोः प्रस्तुतसन्निकर्ष ओघोक्तसन्निकर्षेण तुल्यः, केवलं तत्र जिननाम्नो नियमेन संख्यातभागाधिकं च जघन्यप्रदेशबन्धं करोति, तत्र देवानामेव तज्जघन्यप्रदेशबन्धकत्वात् , प्रस्तुते तु देवनारकाणामप्रवेशेन देवद्विकवज्जिननाम्नोऽपि जघन्यप्रदेशबन्धस्य तुल्यस्वामित्वेन जघन्यप्रदेशबन्ध एव दर्शित इति विशेषः। मानुषीमार्गणायामाश्चर्यकल्पं श्रीमल्लिकुमार्यादिजिनमधिकृत्य यथासंभवं भावना कार्या।

शेषाणां बन्धार्हाणां त्रिषष्टिनामप्रकृतीनां प्रत्येकं प्रधानीकृत्य प्रस्तुतस्वस्थानजघन्यप्रदेशबन्धसन्निकर्ष ओघवद्भवति, तत्र नरकद्विकाऽऽहारकद्विकवर्जानामेकोनषष्टिनामप्रकृतीनामोघवत् पञ्चविंशत्यादिबन्धस्थान एव जघन्यप्रदेशबन्धभावात् ,तथा मार्गणार्हजघन्ययोगस्थानगतानामेव जघन्यप्रदेशबन्धभावाच्च। औदारिकमिश्रमार्गणां विहाय शेषमार्गणाचतुष्के नरकद्विकप्रधाने तु तद्वर्जानां तेन सह बन्धप्रायोग्याणां षड्विंशतेर्जघन्यप्रदेशबन्धस्वामिनां भिन्नस्वामिकत्वात् , तद्बन्धकानां जघन्ययोगस्थानतः प्रस्तुतबन्धकसत्कजघन्ययोगस्यासंख्येयगुणत्वं भवति, अत ओघवदेव प्रस्तुतसन्निकर्षः प्राप्यते, एवमाहारकद्विकप्रधानोऽपि सन्निकर्ष ओघवदेव भवति, भावना तु सविशेषा कार्या, सुगमा च।

अत्र मानुषीमार्गणायां सम्यग्दृशामुत्पादाभाव एवेति येषां मत तदपेक्षया तु देव-

द्विक-वैक्रियद्विकजिननामाऽऽहारकद्विक-नरकद्विकप्रधानसन्निकर्षे यो विशेषः, स स्वयं परिभावनीयः, सुगमप्रायश्चेति ॥६८७-६८८॥

अथ देवौघे भवनपति-व्यन्तर-ज्योतिष्कमार्गणात्रये च नाम्नः स्वस्थानजघन्यप्रदेशबन्धसन्निकर्षं दर्शयन्नाह-

सुरसवणतिगेसु भवे ओघव्व सजोग्गणामपयडीणं । णवरि तिरिउरलदुगधुवकुचगइ-छेवट्ठहुंडाणं ॥
परघूसासुज्जोअ-अथिरछग-तसचउग-थिर-सुह-जसाणं । लहुबंधी णियमा खलु पणिंदियस्स ण उ विगलतिगं ॥६८९-६९०॥

(प्रे०) "सुर" इत्यादि, देवौघ-भवनपति-व्यन्तर-ज्योतिष्कसुरमार्गणाचतुष्के बन्धार्हाणां नामप्रकृतीनां जघन्यप्रदेशबन्धसन्निकर्ष ओघवद्भवति, मनुष्यद्विक-तिर्यग्द्विकैकेन्द्रिय-पञ्चेन्द्रिय जाति-नामनवध्रुवबन्धिन्यौदारिकद्विक-संहननषट्क-संस्थानषट्कखगतिद्वय-पराघातो-च्छ्वासाऽऽतपोद्योत-त्रसदशक-स्थावराऽस्थिरषट्करूपाणां द्वापञ्चाशत्प्रकृतीनां जघन्यप्रदेशबन्धस्य मार्गणात्रयेऽसंज्ञिभ्य आगतस्यैव तथा ज्योतिष्कसुरमार्गणायां संज्ञिभ्य आगतस्य भवप्रथमसमये वर्तमानस्यैव लाभात् , तत्राप्येकेन्द्रिय-स्थावराऽऽतपनाम्नां षड्विंशतिबन्धस्थाने, मनुष्यद्विकस्यैकोनत्रिंशद्बन्धस्थाने,शेषाणां सप्तचत्वारिंशतस्तिर्यक्प्रायोग्यत्रिंशद्बन्धस्थाने जघन्यप्रदेशबन्धभावात् तत्प्रधानसन्निकर्ष ओघतो नातिरिच्यते, केवलं तिर्यग्द्विकौदारिकद्विकनवनामध्रुवबन्धिनी-सेवार्तसंहनन-हुण्डकसंस्थान-कुखगति-पराघातो-च्छ्वासोद्योतत्रसचतुष्क-स्थिर-शुभ-यशःकीर्तिनामाऽस्थिरषट्कनामलक्षणद्वात्रिंशतो जघन्यप्रदेशबन्धकस्यौघे द्वीन्द्रियादिजातिचतुष्कस्य बन्धभावेऽपि प्रस्तुते विकलत्रिकस्य बन्धाऽभावात् पञ्चेन्द्रियजातिनाम्नो नियमेन बन्धो भवति, प्रदेशबन्धस्त्वोघवज्जघन्य एवेति। संहननपञ्चक-संस्थानपञ्चक-सुखगति-सुभगत्रिक-पञ्चेन्द्रियजातिरूपपञ्चदशानां प्राधान्ये ओघतो न कश्चिद्विशेष इति ।

तथा देवौघमार्गणायां जिननाम्नोऽपि प्रस्तुतसन्निकर्ष ओघवद्विज्ञेयः, ओघेऽपि देवनारकाणामेव तज्जघन्यप्रदेशबन्धकत्वादिति । यथौघे जिननाम्ना सह बन्धप्रायोग्यप्रकृतीनां जघन्यप्रदेशबन्धस्यैकेन्द्रियस्वामिकत्वाज्जिननामजघन्यप्रदेशबन्धकाले तासामसंख्येयगुणाधिका एव प्रदेशा बध्यन्ते, तथा प्रस्तुते जिननाम विहाय शेषप्रकृतीनां जघन्यप्रदेशबन्धस्यासंज्ञिपश्चात्कृतस्वामिकत्वाज्जिननामजघन्यप्रदेशबन्धकस्य ततोऽसंख्येयगुणयोगवत्त्वात् तासां स्वजघन्यतोऽसंख्येयगुणाधिका एव प्रदेशा बध्यन्त इति नौघतो विलक्षणत्वमिति ॥६८९-६९०॥

अथ सौधर्मादिदेवभेदाष्टके वैक्रिय-तन्मिश्रकाययोगद्वये च नाम्नः स्वस्थानजघन्यप्रदेशबन्धसन्निकर्षं दर्शयन्नाह—

आइमअडकप्पविउव्वदुगेसु जिणणरदुगाउ लहुबंधी । एगस्स सिआ बंधइ लहु थिराइगतिजुगलाणं ॥

णगइयाउग्गाणं सेसाणं धुवपसत्थअधुवाणं । छव्वीसाए वंधइ णियमाहिन्तो लहुपएसं ।। ||
पंचिंदियधुवुरलदुग-परघा-ऊसास-तसचउक्काओ । एगस्स हुस्सवंधी सत्तरसण्हं लहुं णियमा ।। ||
तिरिणरखगइदुगाण छसंवयणागिइथिराइजुगलाणं । तित्थयरुज्जोआण य वधेइ सिआ लहुपएसं ।। ||
एवं सुखगइ-आगिइ-संघयण-थिरछग-तिअथिराईणं । णवरं पडिवक्खा णो वंधइ देवव्व सेसाणं ।। ||
||६६१-६६५||

(प्रे०) 'आइमे' त्यादि, सौधर्मदेवादिदशमार्गणाभ्यः सौधर्मैशान-वैक्रिय-तन्मिश्रलक्षण-मार्गणाचतुष्के वन्धप्रायोग्यप्रकृतिभ्य एकेन्द्रिय-स्थावराऽऽतपनाम्नां षड्विंशतिवन्धस्थाने जघन्य-प्रदेशवन्धः, दशस्वपि मार्गणासु शेषाणां तिर्यग्द्विक-मनुष्यद्विक-पञ्चेन्द्रियजातिनामौदारिकद्विक-नवनामध्रुवबन्धिनीसंहननषट्क-संस्थानषट्क-खगतिद्वय-पराघातोच्छ्वासोद्योत-जिननाम-त्रसदशकाऽस्थिरषट्करूपाणां पञ्चाशत्प्रकृतीनां जघन्यप्रदेशवन्धस्य त्रिंशद्वन्धस्थान एव लाभात् , तद्वन्धस्थाने वर्तमानानामेकेन्द्रिय-स्थावराऽऽतपनाम्नां वन्धानर्हत्वाद् मार्गणाषट्के तद्वन्ध-स्यैवानर्हत्वाच्चैकस्या जघन्यप्रदेशवन्धकालेऽन्यासां जघन्यमेव प्रदेशवन्धं करोति, स्यान्नियत-वन्धादिकं तु वन्धस्थानं तत्स्वामिनं चाधिगम्य विभावनीयम् तद्यथा—दशस्वपि मार्गणासु मनुष्यद्विक-जिननामप्रकृतित्रयादेकस्या जघन्यप्रदेशवन्धकः शेषद्वयोः पञ्चेन्द्रियजात्यौदारिक-द्विक-नवनामध्रुवबन्धिनी-वज्रर्षभनाराचसंहनन-समचतुरस्रसंस्थानसुखगति-पराघातोच्छ्वास-त्रस-चतुष्क-सुभगत्रिकरूपाणां चतुर्विंशतेश्च नियमेन वन्धं करोति, तासाञ्च जघन्यप्रदेशं बध्नाति, स्थिराऽस्थिर-शुभाशुभ-यशःकीर्तिनामाऽयशःकीर्तिनामानि सप्रतिपक्षत्वात् स्याद्बध्नाति, प्रदेश-वन्धं तु जघन्यमेव करोति ।

पञ्चेन्द्रियजाति-नवनामध्रुवबन्धिन्यौदारिकद्विक-पराघातोच्छ्वास-त्रसचतुष्करूपाभ्योऽष्टा-दशप्रकृतिभ्य एकस्या जघन्यप्रदेशवन्धकः शेषसप्तदशानां जघन्यमेव प्रदेशं बध्नाति । तथा स तिर्यग्द्विक मनुष्यद्विक खगतिद्विक-संहननषट्क-संस्थानषट्क-स्थिरादिषड्युगल-जिननामोद्योतनाम-रूपाणां द्वात्रिंशत्प्रकृतीनां स्याद्वन्धं जघन्यप्रदेशवन्धं च करोति ।

एवं समचतुरस्रसंस्थान-वज्रर्षभनाराचसंहनन-सुखगति स्थिरषट्काऽस्थिराऽशुभाऽयशःकीर्ति-नाम्नां प्रत्येकं प्रधानीकृत्य प्रस्तुतसन्निकर्षो निरूपणीयः, केवलं प्रतिपक्षप्रकृतीनां वन्धो न भव-तीति विशेषः ।

तिर्यग्द्विकाद्यवर्जसंहननपञ्चकाद्यवर्जसंस्थानपञ्चक- -कुखगतिनामोद्योतदुर्भगत्रिकैकेन्द्रिय-स्थावराऽऽतपनामरूपाणां विंशतेर्मार्गणाचतुष्के, मार्गणाषट्केत्वेकेन्द्रियादित्रयं विहाय सप्तदशानां प्रत्येकं प्रधानीकृत्य प्रस्तुतसन्निकर्षो देवौघवद् विज्ञेयः,उभयत्र मिथ्यादृष्टीनामेव तज्जघन्यप्रदेश-वन्धकत्वाद् वन्धस्थानानां तुल्यत्वाच्च ||६९१-६९५||

सम्प्रत्यानतादिनवमग्रैवेयकपर्यवसानासु त्रयोदशमार्गणासु प्रस्तुतसन्निकर्षं प्रदर्शयन्नाह—

एगस्स लहुपएसं गेविज्जतेसु आणयाईसुं । बंधंतो णरुरलदुगपणिंदिधुवजिणसुहगतिगओ ॥
सुखगइसघयण.गिइ-परघाऊसासतसचउक्काओ । नेमाण छवीसाए बंधइ णियमा लहुपएसं ॥
बंधइ सिआ पएसं लहुं तु तिण्हं थिराइजुगलाणं । एमेव छण्ह तेसिं णवरं बंधइ ण पडिवक्खं ॥
छवट्ठस्स जहण्णं बंधमाणो सिआ लहुपएसं । बंधेइ अतिमागिइ-पणगकुखगइदुहगतिगाणं ॥
णर-उरलदुग-पणिंदिय-परघा-ऊसास-तसचउक्काणं । तह धुवणामाण दुगइ णियमाओ संखभागहियं ॥
बंधइ सुखगइ अ.गिइ-थिरछग-अथिराइतिजुगलाण सिआ । संखेज्जभागअहियं रेसाण तेरसण्हेवं ॥
॥६९६-७०१॥

(प्रे०) "एगस्से"त्यादि, आनतादिनवमग्रैवेयकपर्यवसानासु त्रयोदशमार्गणासु नाम्नो द्वे बन्धस्थाने, एकोनत्रिंशत् त्रिंशच्च, एते द्वे मनुष्यप्रायोग्ये, तत्र मनुष्यद्विकादित्रयस्त्रिंशत्प्रकृतीनां त्रिंशद्बन्धस्थाने जघन्यप्रदेशबन्धः प्राप्यतेऽत आसु एकस्या जघन्यप्रदेशबन्धकाले बन्धार्हाणां सर्वासां जघन्यमेव प्रदेशबन्धं करोति, केवलं स्थिरादियुगलत्रयाणां सप्रतिपक्षत्वात् स्याद्बन्धं करोति, शेषाणां षड्विंशतेर्नियमतो बन्धं विदधाति—एवं यथासम्भवं त्रयस्त्रिंशत्प्रकृतीनां प्रत्येकं प्रधानीकृत्य प्रस्तुतसन्निकर्षो भावनीयः, आसां त्रयस्त्रिंशत्प्रकृतीनां जघन्यप्रदेशबन्धस्य सम्यग्दृशामेव लाभात् द्वितीयादिसंहननपञ्चक-द्वितीयादिसंस्थानपञ्चक-कुखगति-दुर्भगत्रिकरूपाणां चतुर्दशानां बन्ध एव न भवति । तथा निरुक्तचतुर्दशप्रकृतीनां प्रत्येकं प्रधानीकृत्य प्रस्तुतसन्निकर्षेण निरूप्यमाणे प्रतिपक्षप्रकृतीर्विहाय निरुक्तचतुर्दशप्रकृतिभ्यः शेषाणां स्याद्बन्धं जघन्यप्रदेशबन्धं च करोति, मनुष्यद्विकपञ्चेन्द्रियजातिनामौदारिकद्विक-नवनामध्रुवबन्धिनी-पराघातोच्छ्वास-त्रसचतुष्करूपाणां विंशतेर्मार्गणाप्रायोग्यध्रुवबन्धिकल्पानां नियमेन बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु संख्यातभागाधिकं करोति, प्रस्तुतबन्धकस्यैकोनत्रिंशद्बन्धस्थान एव विद्यमानत्वात् । तथा स वज्रर्षभनाराचसंहनन-समचतुरस्रसंस्थान-सुखगति-स्थिरषट्काऽस्थिराऽशुभाऽयशःकीर्तिनामभ्यः प्रधानीकृतप्रकृतेः प्रतिपक्षप्रकृतीर्विहाय शेषाणां स्याद्बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु तासां संख्यातभागाधिकं करोति ।

गाथार्थस्तु सुगमः । तत्राद्यगाथात्रयेण सम्यग्दृष्टिप्रायोग्याणां जघन्यप्रदेशबन्धानां त्रयस्त्रिंशत्प्रकृतीनां प्रधानीकृत्य सन्निकर्षो दर्शितः, अन्त्यगाथात्रयेण तु मिथ्यादृष्टिप्रायोग्याणां जघन्यप्रदेशबन्धानां चतुर्दशानां प्रधानीकृत्य सन्निकर्षो दर्शित इति ॥६९६-७०१॥

अथ पञ्चानुत्तरसुरमार्गणासु प्रस्तुतसन्निकर्षं निरुपयन्नाह—

एगस्सऽणुत्तरेसुं पंचसु तिथिराइजुगलवज्जाओ । बंधंतो अण्णेसिं छव्वीसाए लहुं णियमा ॥७०२॥
बंधइ सिआ पएसं हस्सं तिण्हं थिराइजुगलाणं । ऐमेव छण्ह तेसिं णवरं बंधइ ण पडिवक्खं ॥७०३॥

(प्रे०) "एगस्से" त्यादि, पञ्चानुत्तरसुरमार्गणासु केवलमविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थानकम्, तत्र च तेषां नाम्नस्त्रयस्त्रिंशत्प्रकृतयो बन्धप्रायोग्याः, आसां सर्वासां जघन्यपदेशबन्धस्त्रिंशद्बन्ध-

स्थाने भवत्यतः प्रस्तुते सर्वत्र जघन्यप्रदेशबन्ध एव दर्शितः। स्थिरादियुगलत्रयं विहाय शेषा यथासम्भवं भवप्रत्ययेन गुणप्रत्ययेन च ध्रुवबन्धिकल्पाः,अतस्तासां नियतो बन्धः, स्थिरादियुगलत्रयस्य स्याद्बन्ध इति। शेषा भावना त्वनन्तरदर्शितनीत्या कार्या, सुगमा चेति ॥७०२-७०३॥

गति मार्गणासु नाम्नः स्वस्थानजघन्यप्रदेशबन्धसन्निकर्षं निरुप्येन्द्रियमार्गणासु तं निरूपयितुकामः प्रागेकेन्द्रियादिसप्तदशेन्द्रियमार्गणासु तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाऽपर्याप्तमार्गणया समं निरूपितत्वाच्छेषयोर्द्विपञ्चेन्द्रियमार्गणयोस्तं प्रदर्शयन् तुल्यवक्तव्यत्वात् द्वित्रसादिमार्गणाः संगृह्य प्राह—

ओघव्व दुपंचिंदियतसकायपुरिसकसायअजएसु । णयणेयरकाऊसुं भविये सण्णिम्मि आहारे ॥७०४॥

(प्रे०) "ओघव्व" इत्यादि, पञ्चेन्द्रियौघादिसप्तदशमार्गणासु बन्धाऽर्हाणां सर्वासां नामप्रकृतीनां सप्तषष्टिप्रमितानां स्वस्थानजघन्यप्रदेशबन्धसन्निकर्षस्य गम ओघवद्विज्ञेयः, तत्र काययोगौघ-कषायचतुष्का-ऽसंयमा-ऽचक्षुर्दर्शन-कापोतलेश्याभव्य--संज्ञ्याहारकरूपास्वेकादशमार्गणासु सर्वासां प्रस्तुतसन्निकर्ष ओघवद्भावनीयः, ओघोक्तानां जघन्यप्रदेशबन्धस्वामिनामत्राऽपि लाभेन तानधिकृत्यैव प्रस्तुतसन्निकर्षस्य लाभात् । अत्रोक्तशेषमार्गणासु भावनायां विशेषः। तद्यथा-पञ्चेन्द्रियौघमार्गणायां देवद्विकवैक्रियद्विकजिननामान्याहारकद्विकं च विहाय षष्टिप्रकृतीनां पञ्चेन्द्रियतिर्यगोघवद्भावना विज्ञेया, एवं त्रसौघमार्गणायां, केवलं नरकद्विकं विहायाऽष्टपञ्चाशतोऽपर्याप्तभवप्रथमसमयवर्तिद्वीन्द्रियमधिकृत्य प्रस्तुतसन्निकर्षो विभावनीयः, पर्याप्तपञ्चेन्द्रियमार्गणायां पुरुषवेदमार्गणायाश्च षष्टिप्रकृतीनां पर्याप्ततिर्यक्पञ्चेन्द्रियवद्भावना विधेया, पर्याप्तत्रसमार्गणायामपि एवमेव, केवलमष्टपञ्चाशतो भवप्रथमसमयस्थं पर्याप्तद्वीन्द्रियमधिकृत्य प्रस्तुतसन्निकर्षो निरूपणीयः। चक्षुर्दर्शनमार्गणायां अष्टपञ्चाशतो भवप्रथमसमयस्थं पर्याप्तचतुरिन्द्रयं मतान्तरेऽपर्याप्तचतुरिन्द्रियमधिकृत्य भावना कार्या । निरुक्तमार्गणाषट्के देवद्विकवैक्रियद्विकजिननाम्नामोघवद्विभावनीयः, अत्राऽपि तैस्सह बध्यमानशेषप्रकृतीनां जघन्यप्रदेशबन्धस्य प्रस्तुतबन्धकगतयोगतोऽसंख्येयगुणहीनयोगवतोऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्य द्वीन्द्रियस्य वा लाभात् ओघवत्स्वजघन्यतोऽसंख्येयगुणप्रदेशबन्धस्यैव घटमानत्वान्नैवतः कश्चिद्विशेषः सन्निकर्षे, केवलं भावनायां यो विशेषः, स तु सुगमः। एवमाहारकद्विकस्याऽपि ओघवत्सन्निकर्षः सविशेषभावनायुतो निरूपणीय इति ॥७०४॥

शेषासु चत्वारिंशत्कायमार्गणाभेदेषु प्रस्तुतसन्निकर्षस्याऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्मार्गणया समं निरूपितत्वात् , क्रमप्राप्तयोगमार्गणासु तं निरूपयन्मनोयोगादिमार्गणास्वाह—

णिरयदुगा बंधंतो लहुमेगस्स पणमणतिवयगेसुं । इयरस्स लहुं णियमा सेसछवीसाअ संखभागहियं ॥
एगस्स सुरदुगा लहुबंधी हस्समियरस्स णियमाओ । तेअसविउवदुगाणं लहुं अहव संखभागहियं ॥

आहारदुगस्स सिआ लहुं तिअथिराइवज्जसेसाणं । संखंसहियं णियमा तेवीसाअ सुरजोग्गाणं ॥
एगस्स लहुं तेअसविउव्वाहारजुगलाउ वंधंतो । पणसेसाणं तह सुरदुगस्स वंधए लहुं णियमा ॥
अथिराइतिवज्जाणं सुरपाउग्गाण सेसपयडीणं । तेवीसाए वंधइ णियमा संखेज्जभागहियं ॥
तिरिदुगजाइचउगपणआगिइसंघयणअसुहखगईणं । थावरचउगायवदुगदुहगतिगाणं च ओघव्व ॥
सोहम्मसुरव्व भवे सेसाणं णवरि सव्वपयडीणं । वंधे णियमा तेअसदुगस्स संखेज्जभागहियं ॥
तह उरलजुगलवण्णअगुरुलहुतसचउगणिमिणवंधे य । तितिथिराइजुगलवंधे वंधइ जाइचउगस्स सिआ ॥
॥७०५-७१२॥ (प्रथमा गीतिः)

(प्रे०) "एगस्से" त्यादि, मनोयोगौघरसत्यादिचत्वारस्तदुत्तरभेदाः सत्या-ऽसत्यसत्यासत्य-वचनयोगरूपास्त्रयो वचनयोगभेदाश्चे त्यष्टमार्गणासु नरकद्विकादेकस्या जघन्यप्रदेशबन्धकस्तदितरस्या नियमेन जघन्यमेव प्रदेशबन्धं च करोति, अष्टाविंशतौ तद्बन्धस्य भावात् । शेषाणां षड्विंशतेर्नरकगतिप्रायोग्याणां नियमेन बन्धं करोति प्रदेशबन्धं तु तासां स्वजघन्यतः संख्यातभागाऽभ्यधिकमेव विदधाति, आसां जघन्यप्रदेबन्धस्य त्रिंशद्बन्धस्थान एव भावात् , वैक्रियद्विकस्य त्वेकत्रिंशद्बन्धस्थाने लाभाच्चेति । अत्र वैक्रियाङ्गोपाङ्गस्य जघन्यतः साधिकद्विगुणप्रदेशबन्धं करोतीति विशेषः ।

देवद्विकादेकस्या जघन्यप्रदेशबन्धकस्तदितरस्या जघन्यमेव प्रदेशं नियमेन च बध्नाति । तथा निरुक्तबन्धकस्य देवप्रायोग्यैकोनत्रिंशत एकत्रिंशतो वा बन्धस्थानस्य लाभः, तत्रैकत्रिंशतं बध्नन् वैक्रियद्विकतैजसकार्मणशरीरनाम्नां जघन्यप्रदेशबन्धं करोति, एकोनत्रिंशतं बध्नन् तेषां चतुर्णां संख्यातभागाधिकं जघन्यप्रदेशबन्धं करोति । तथा स आहारकद्विकं स्याद् बध्नाति, एकोनत्रिंशद्बन्धस्थाने तद्बन्धाऽभावात् , प्रदेशबन्धं तु तस्य जघन्यमेव करोति. एकत्रिंशद्बन्धस्थाने तस्य वैक्रियद्विकवज्जघन्यप्रदेशबन्धस्यैव भावात् । देवप्रायोग्यत्वेऽपि अस्थिरादितिसृणां प्रस्तुतबन्धकस्याऽऽयुर्बन्धेन सह चरितत्वात् देवायुर्बन्धेन सहाऽऽसां बन्धविरोधाच्च तासां बन्धमेव न करोति, शेषाणां देवप्रायोग्याणां त्रयोविंशतेः स नियमेन बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु तासां संख्यातभागाऽधिकं करोति, आसां जघन्यप्रदेशबन्धस्य त्रिंशत्प्रकृत्यात्मकबन्धस्थान एव लाभात् , प्रस्तुते तु संहनननाम्नो बन्धाऽभावात् भागहराणामल्पत्वात् न जघन्यप्रदेशबन्ध इति, एकत्रिंशद्बन्धस्थाने एकोनत्रिंशद्बन्धस्थानतः शरीराऽङ्गोपाङ्गनामलब्धभागस्यैव विभजनात् , न गत्यादिपिण्डप्रकृतौ भागहराणामाधिक्यमिति न तत्र जघन्यप्रदेशबन्धः शेषत्रयोविंशतेरिति । शेषास्त्रयोविंशतिः प्रकृतयः पुनरिमाः—पञ्चेन्द्रियजातिनाम-समचतुरस्र-सुखगति-वर्णचतुष्का-ऽगुरुलघुचतुष्क—निर्माणत्रसदशक-जिननामलक्षणा इति ।

तथा तैजसकार्मणशरीरवैक्रियद्विकाहारकद्विकरूपषट्कप्रकृतिभ्य एकस्या जघन्यप्रदेशबन्धं कुर्वन् शेषाणां पञ्चानां नियमेन बन्धं जघन्यप्रदेशबन्धं च करोति, आसां षण्णामेकत्रिंशद्बन्धस्थाने युगपदेव जघन्यप्रदेशबन्धस्य लाभात् देवद्विकस्याऽपि नियमेन जघन्यप्रदेशबन्धं

करोति, अस्थिराशुभायशःकीर्तिनामानि नैव बध्नाति, शेषाणां देवप्रायोग्यत्रयोविंशतिप्रकृतीनां स नियमेन बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु तासां स्वजघन्यप्रदेशबन्धतः संख्यातभागाऽधिकं करोति, भावना तु देवद्विकप्रधानसन्निकर्षदर्शितनीत्या कर्तव्या ।

तथा तिर्यग्द्विकै-केन्द्रियादिजातिचतुष्क-द्वितीयादिसंहननपञ्चक-द्वितीयादिसंस्थानपञ्चक कुखगति-स्थावरचतुष्का-ऽऽतपो-द्योत-दुर्भग-दुःस्वरा-ऽनादेयरूपाणां षड्विंशतिप्रकृतीनां प्रत्येकं प्रधानीकृत्य प्रस्तुतसन्निकर्ष ओघवद्विज्ञेयः, ओघवदत्राऽपि पञ्चविंशतौ षड्विंशतौ त्रिंशद्बन्ध-स्थाने च तज्जघन्यप्रदेशबन्धकत्वाद् मुख्यवृत्त्या मिथ्यादृशामेवासां बन्धाऽर्हत्वाच्च । केवलमासां प्रत्येकं प्रधानसन्निकर्षे तैजसकार्मणशरीरनाम्नोः प्रदेशबन्धं संख्यातभागाधिकमेव करोति, एक-त्रिंशद्बन्धकस्याऽप्रमत्तसंयतस्यैवैतयोर्जघन्यप्रदेशबन्धाऽर्हत्वात् । शेषसर्वा भावना आयुर्बध्नन् पर्या-प्तसंज्ञिनमधिकृत्यौघवद्बन्धस्थानान्याश्रित्य विधेया सुगमा चेति ।

शेषाणां मनुष्यद्विकपञ्चेन्द्रियजातिनामौदारिकद्विकवज्रर्षभनाराचसंहनन-समचतुरस्रसं-स्थान-सुखगति-वर्णचतुष्का-ऽगुरुलघुचतुष्क-निर्माण-जिननाम-त्रसदशका-ऽस्थिरा-ऽशुभा-ऽयशः-कीर्तिनाम्नामेकत्रिंशत्प्रकृतीनां प्रत्येकं प्रधानीकृत्य स्वस्थानजघन्यप्रदेशबन्धसन्निकर्षः सौधर्मदेव-वद्भवति, तद्वदत्राऽपि त्रिंशद्बन्धस्थानगतानामासां जघन्यप्रदेशबन्धस्य लाभात् केवलमौदारिक-द्विकवर्णचतुष्कागुरुलघुचतुष्कनिर्माणत्रसचतुष्कस्थिरादियुगलत्रयरूपाणामेव विंशतेर्जघन्यप्रदेशबन्धं कुर्वन् द्वीन्द्रियादिजातिचतुष्कं स्याद् बध्नाति तथा निरुक्तैकत्रिंशत्प्रकृतीनां जघन्यप्रदेशबन्धं कुर्वन् तैजसकार्मणशरीरद्वयस्य प्रदेशबन्धं संख्यातभागाभ्यधिकं करोति, भावना तु सुगमा । निरुक्तप्रकृतीनां शेषसर्वसन्निकर्षः सौधर्मदेवलोकवद्विज्ञेयः, भावना तु घोलमानसंज्ञिपर्याप्तमधि-कृत्य यथासंभवं विधेयेति ॥७०५-७१२॥

साम्प्रतं शेषवचनयोगद्वये सप्रसङ्गात्स्त्रीवेदनपुंसकवेदद्वये च प्रस्तुतसन्निकर्षं प्ररूपयन्नाह-

दुवयणणपुंसथीसुं तिरिजोणिमइव्व विउव्वछक्कस्स । सेसाणोघव्व सवे मणुयव्व जिणाहस थीअ परं ।७१३॥

(प्रे०) "दुवयणे"त्यादि, वचनयोगौव-व्यवहारवचनयोग-स्त्रीवेद-नपुंसकवेदरूपासु चतसृषु मार्गणासु देवद्विकवैक्रियद्विकनरकद्विकरूपवैक्रियषट्कं प्रधानीकृत्य सन्निकर्षस्तिरश्ची-मार्गणावद् भवति, उभयत्राऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियपर्याप्तकस्य जघन्यप्रदेशबन्धस्वामित्वाद् भावनाऽपि असंज्ञिनमधिकृत्य कार्या, शेषाणामेकषष्टेर्नामप्रकृतीनां स्वस्थानजघन्यप्रदेशबन्धसन्निकर्ष ओघ-वद् भवति, तत्राऽष्टपञ्चाशतो वचनयोगद्वये पर्याप्तद्वीन्द्रियमधिकृत्य जिननाम्नो देवनारकान-धिकृत्याऽऽहारकद्विकस्याऽप्रमत्तसंयतमधिकृत्य भावना कार्या । नपुंसकवेदमार्गणायां भावना-ऽप्योघवदेव केवलं देवानधिकृत्य जिननाम्नो भावना नैव कार्या । तथा स्त्रीवेदमार्गणायामष्टपञ्चा-

ज्ञातस्तिरश्चीमार्गणावद्भावना कार्या आहारकद्विकस्यौघवत्तथा जिननाम्नो देवीनां बन्धाऽभावात् मानुषीणामेव जघन्यप्रदेशबन्धकत्वात् मानुषीमार्गणावत्प्रस्तुतसन्निकर्षो विज्ञेयः ॥७१३॥

अथाऽऽहारककाययोगतन्मिश्रदेशविरतिमार्गणात्रये प्रस्तुतसन्निकर्षं निरूपयति—

आहारदुगे देसे लहुबंधी तिअथिराइवज्जाओ। लहुमेगस्सियरेसिं अडवीसाए लहुं णियमा ॥
अथिरस्स लहुपएस बंधंतो बंधए न पडिवक्खं। असुहअजसाण हस्सं सिआ सुहजसाण संखभागहियं ॥
सेसाण छवीसाए सुरपाउग्गाण बंधए णियमा। संखेज्जभागअहियं एवं असुहअजसाण सवे ॥
॥७१४-७१६॥ (द्वितीया गीतिः)

(प्रे०) "आहारदुगे" इत्यादि, आहारककाययोग-तन्मिश्रयोग-देशविरतिमार्गणास्व-स्थिरादिप्रकृतित्रयं वर्जयित्वा शेषबन्धप्रायोग्याणां देवप्रायोग्याणां देवद्विकाद्येकोनत्रिंशत्प्रकृतीना-मन्यतमस्या जघन्यप्रदेशं बध्नन् शेषाणामष्टविंशतेर्जघन्यप्रदेशं नियमेन च बध्नाति, अत्र देवायुषा सहैव देवद्विकादीनामेकोनत्रिंशतो जघन्यप्रदेशबन्धभावात्स्थिरादित्रयाणां नियमेन बन्धः, शेषप्रकृतीनाश्च मार्गणाप्रायोग्यध्रुवबन्धिकल्पत्वान्नियमाद् बन्धः, जिननामबन्धकस्यैव निरुक्तप्रकृतीनां जघन्यप्रदेशबन्धसम्भवात्तस्य नियतो बन्धः, अत्र मार्गणात्रिक आहारकद्विकस्य बन्धाऽभावात् वैक्रियद्विकस्य देवद्विकेन सहैव जघन्यप्रदेशबन्धो भवतीति। अस्थिरनाम्नो जघन्यप्रदेशं बध्नन् स्थिरनाम न बध्नाति अशुभाऽयशःकीर्तिनाम्नोः स्याज्जघन्यप्रदेशबन्धं च करोति, जघन्यप्रदेशबन्धस्य तुल्यस्वामित्वात्, शुभयशःकीर्तिनाम्नोः स्यात्संख्यातभागाऽधिकं जघन्यप्रदेशबन्धं करोति, सप्रतिपक्षत्वात्स्याद् बन्धः, आयुर्बन्धसहितस्यैव तयोर्जघन्यप्रदेशबन्ध-भावात् प्रस्तुतबन्धकस्यायुर्बन्धस्याऽनर्हत्वात् संख्यातभागाधिकजघन्यप्रदेशबन्धः। शेषाणां देव-द्विकपञ्चेन्द्रियजातिवैक्रियद्विकनवनामध्रुवबन्धिनीसमचतुरस्रसंस्थानसुखगतिपराघातोच्छ्वासत्रस-चतुष्कसुभगत्रिकजिननामरूपाणां षड्विंशतेर्नियमेन बन्धं करोति प्रदेशबन्धं तु तासां संख्या-तभागाऽधिकं करोतीति विज्ञेयम्। भावना तु सुगमा। यथाऽस्थिरनामप्रधानसन्निकर्षो निरूपित-स्तथैवाऽशुभनामायशःकीर्तिनाम्नोरपि सन्निकर्षो द्रष्टव्यः सुगमप्रायश्च ॥७१४-७१६॥

अथ क्रमप्राप्तकार्मणाऽनाहारकमार्गणाद्वये नाम्नः स्वस्थानजघन्यप्रदेशबन्धसन्निकर्षं दर्श-यति—

कम्माणाहारेसुं सव्वाउग्गाण अत्थि ओघव्व। णत्थि अवेए सुहुमे जम्हाऽत्थि जसस्स चिअ बंधो ॥
॥७१७॥

(प्रे०) "कम्मे"त्यादि, कार्मणकाययोगा-ऽनाहारकमार्गणाद्वये बन्धप्रायोग्याणां त्रिष-ष्टिनामप्रकृतीनां प्रस्तुतसन्निकर्ष ओघवद् भवति, ओघोक्तजघन्यप्रदेशबन्धस्वामिनामेवाऽत्र लाभा-दिति। अपगतवेदसूक्ष्मसंपरायसंयममार्गणाद्वये केवलं यशःकीर्तिनाम्न एव बन्धभावात्सन्निकर्ष-स्याऽनेकप्रकृतिसापेक्षत्वाच्च नाऽस्ति प्रस्तुतमार्गणाद्वये नाम्नः स्वस्थानजघन्यप्रदेशबन्धसन्नि-कर्ष इति ॥७१७॥ अथ मतिज्ञानादिमार्गणासु प्ररूपयन्नाह—

णाणतिगे ओहिम्मि य सम्मखइअवेअगेसु बंधंतो । णरउरलदुगपणिंदियधुववइरसुहागिईहिन्तो ॥
जिणपरघाऊसासगसुखगइतसचउगसुहगतिगा । एगस्स लहुपएसं छव्वीसाए लहुं णियमा (उपगी.ति.) ॥
बंधइ सिआ पएसं हस्सं तिण्हं थिराइजुगलाणं । एमेव छण्ह तेसिं णवरं बंधइ ण पडिवक्ख ॥
एगस्स हस्सबंधी सुरविउव्वदुगाउ बंधए णियमा । तिण्ह लहुं सिआ य तिथिराइजुगलाण संखभागहीयं ॥
संखंसहियं णियमा बंधइ आहारजुगलवज्जाणं । सुरजोग्गदुवीसाए आहारदुगस्स ओघव्व ॥
(चतुर्थीगीति.) ॥७१८-७२२॥

(प्रे०) "णाणतिगे" इत्यादि, मतिज्ञान-श्रुतज्ञाना-ऽवधिज्ञाना-ऽवधिदर्शन-सम्यक्त्वौघ-क्षायिकसम्यक्त्व-क्षयोपशमसम्यक्त्वरूपासु सप्तमार्गणासु यासां त्रयस्त्रिंशत्प्रकृतीनां जघन्यप्रदेशबन्धस्वामी देवो नारको वा भवप्रथमसमये भवति, ताभ्य एकतमस्या जघन्यप्रदेशं बध्नन् शेषाणां जघन्यप्रदेशबन्धमेव करोति, केवलं स्थिरादियुगलत्रयस्य सप्रतिपक्षत्वात्स्याद् बन्धश्शेषाणां ध्रुवो बन्धः, स्थिरादिप्रधानसन्निकर्षे प्रतिपक्षप्रकृतीनां बन्ध एव न वाच्य इति । भावना यथाऽनुत्तरदेवमार्गणायां प्राप्यते तथा कार्या । तथोक्तसप्तमार्गणासु देवद्विकवैक्रियद्विकरूपप्रकृतिचतुष्कादेकस्या जघन्यप्रदेशं बध्नन् शेषतिसृणां नियमाज्जघन्यप्रदेशबन्धं च करोति, स्थिरादियुगलत्रयस्य स्याद्बन्धं करोति, सप्रतिपक्षत्वात्, प्रदेशबन्धं तु स्वजघन्यप्रदेशबन्धतः संख्येयभागाऽधिकं करोति, तज्जघन्यप्रदेशबन्धस्य मनुष्यगतिप्रायोग्यत्रिंशद्बन्धकेन निर्वर्त्यमानत्वात् प्रस्तुतबन्धकस्यैकोनत्रिंशद्बन्धकत्वाच्चेति । स एव देवप्रायोग्याणामाहारकद्विकवर्जानां पञ्चेन्द्रियजातिनामनवध्रुवबन्धिनीसमचतुरस्रसंस्थानसुखगतिपराघातोच्छ्वासत्रसचतुष्कसुभगत्रिकजिननामरूपाणां द्वाविंशतेः संख्यातभागाऽधिकं जघन्यप्रदेशबन्धं करोति, नियमाच्च प्रकृतिबन्धं निर्वर्तयति । अत्र द्वाविंशतेः संख्यातभागाधिकत्वं तु स्थिरादिप्रकृतिवद्भावनीयम् । तथाऽऽहारकद्विकप्रधानः प्रस्तुतसन्निकर्ष ओघवद्विज्ञेयः । तद्यथा—आहारकद्विकादेकस्या जघन्यप्रदेशबन्धं कुर्वन् तदितरस्या जघन्यमेव प्रदेशं बध्नाति तुल्यस्वामित्वात्, शेषाणां देवप्रायोग्याणामेकोनत्रिंशन्नामप्रकृतीनां स नियमेन बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु तासां स असंख्येयगुणाऽधिकमेव निर्वर्तयति, भावना तु सुगमा ॥७१८-७२२॥

अधुना मनःपर्यवज्ञानादिपञ्चमार्गणासु प्रस्तुतसन्निकर्षं प्रदर्शयन्नाह—

मणनाणसंजमेसुं समइअछेअपरिहारेसुं । देवदुगपणिंदियसुहआगइखगइजिणणामाओ ॥
अगुरुलहुचउक्कणिमिणवण्णचउक्कतसदसगपयडीओ । एगस्स हस्सबंधी चउवीसाए लहुं णियमा ॥
तेअविउव्वदुगाणं लहुं पएसमुअ संखभागहियं । णियमाहिन्तो बंधइ लहुमाहारजुगलस्स सिआ ॥
एगस्स लहुं तेअसविउव्वाहारजुगलाउ बंधंतो । अथिराइतिवज्जाणं सेसाणं बंधए लहुं णियमा ॥
अथिरस्स हस्सबंधी थिरआहारजुगलाणि बंधइ णो । असुहअजसाण हस्स सिआ सुहजसाण संखभागहियं ॥
सेसाण छवीसाए सुरपाउग्गाण बंधए णियमा । संखेज्जभागअहियं एवं असुहअजसाण भवे ॥
(प्रथमोपगीति, चतुर्थी पञ्चमी च गीतिः) ॥७२३-७२८॥

(प्रे०) "मणणाणे"त्यादि, मनःपर्यवज्ञान-संयमौघ-सामायिकसंयम-च्छेदोपस्थापनीय-संयमपरिहारविशुद्धिरूपासु पञ्चसु मार्गणासु देवप्रायोग्यप्रकृतीनामेव बन्धकत्वादत्र देवद्विकादिपञ्च-त्रिंशतः प्रकृतीनां जघन्यप्रदेशबन्धस्य देवायुर्बध्नत एकोनत्रिंशतमेकत्रिंशतं वा बध्नतो लाभाद् एकस्या जघन्यप्रदेशबन्धे शेषाणां चतुर्विंशतेर्जघन्यमेव प्रदेशं बध्नाति, नियमाद् बन्धं तु स्थिरशुभयशः-कीर्तिनाम्नां प्रस्तुतबन्धकस्य देवायुर्बन्धकत्वेन प्रतिपक्षप्रकृतीनां बन्धाऽभावात्, जिननाम्नस्तु प्रस्तुते देवप्रायोग्यैकोनत्रिंशदेकत्रिंशद्बन्धस्थानद्वयस्यैव लाभात्, तत्र च जिननाम्नोऽन्तर्भावात् शेषाणामेकविंशतेर्देवगतिनाम्ना सह ध्रुवबन्धिकल्पत्वात्। पञ्चत्रिंशतिप्रकृतयः पुनरिमाः-देवद्विक-पञ्चेन्द्रियजाति-समचतुरस्रसंस्थान-सुखगति-वर्णचतुष्का-ऽगुरुलघूपघात-निर्माण पराघातोच्छ्वा-सजिननाम-त्रसदशकलक्षणाः। तथा तैजसकार्मणशरीरवैक्रियद्विकरूपप्रकृतिचतुष्कं स देवद्विका-दिजघन्यप्रदेशबन्धको नियमाद् बध्नाति, प्रदेशबन्धं तु स यद्येकत्रिंशतं बध्नाति, तदा जघन्यम्, यदि पुनरेकोनत्रिंशतं बध्नाति, तर्हि संख्यातभागाऽधिकं बध्नाति, आहारकद्विकस्य तु स स्याद्बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु तस्य जघन्यमिति, भावना तु सुगमा। प्रस्तुतमार्गणापञ्चके तैजसकार्मणशरीरवैक्रियद्विकरूपाणां चतुर्णामाहारकद्विकस्य च जघन्यप्रदेशबन्ध एकत्रिंशद्बन्ध-स्थाने एव भवति, तत एताभ्य षड्भ्य एकस्या जघन्यप्रदेशबन्धं कुर्वन् शेषपञ्चानां नियमाद्-बन्धं करोति, जघन्यप्रदेशबन्धं च, अस्थिरा-ऽशुभाऽयशःकीर्तिवर्जानां देवप्रायोग्याणां देवद्विका-दिपञ्चविंशतेर्नियमेन बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु जघन्यमिति, अस्थिरादित्रयाणां वर्जनं तु प्रस्तु-तबन्धकस्य सप्तमगुणस्थानवर्तित्वात् देवायुर्बन्धकत्वाच्च। अस्थिरनाम्नो जघन्यप्रदेशं बध्नन् स्थिरनामाहारकद्विकरूपप्रकृतित्रयस्य बन्धं नैव करोति, अशुभा-ऽयशःकीर्तिनाम्नोः स्याद्बन्धं जघ-न्यप्रदेशबन्धं च करोति, सप्रतिपक्षत्वात्स्याद्बन्धम्, जघन्यप्रदेशबन्धस्वामिनां तु तुल्यत्वाज्जघन्य-प्रदेशबन्धं च करोति। तथा स शुभयशःकीर्तिनाम्नोः स्याद्बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु स्वजघन्य-प्रदेशबन्धतः संख्यातभागाऽधिकं करोति, प्रस्तुतबन्धकस्य आयुर्बन्धाऽभावात् न जघन्यप्रदेश-बन्धम्, किन्तु संख्यातभागाऽधिकजघन्यमिति। शेषाणां देवप्रायोग्याणां षड्विंशतेर्नियमेन बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु स्वजघन्यप्रदेशबन्धतः संख्यातभागाधिकमिति। शेषाः षड्विंशतिः प्रकृतयः पुनरिमाः—देवद्विक-पञ्चेन्द्रियजातिनवनामध्रुवबन्धिनी-वैक्रियद्विक-समचतुरस्रसंस्थान-सुखगति-पराघातो-च्छ्वास-त्रसचतुष्क-सुभगत्रिकजिननामानि। यथाऽस्थिरनामप्रधानसन्निकर्षो दर्शितस्त-थैवाऽशुभा-ऽयशःकीर्तिनामप्रधानसन्निकर्षोऽपि निरूपणीयः सुगमश्चेति ॥७२३-७२८॥

अथ विभङ्गज्ञानमार्गणायां नाम्नः स्वस्थानजघन्यप्रदेशबन्धसन्निकर्षं दर्शयन्नाह—

विउव्वछगस्स विभंगे तिरिजोणिमइव्व विगललहुबंधी। तिथिराइगजुगलाणं बधेइ सिआ असंखगुणं॥
णियमा असंखियगुणं सेसाणं पञ्जविगलजोग्गाणं। सुहुमस्स हस्सबंधी लहुं तु साहारणस्स सिआ॥

पत्तेअथिरसुहजुगलदुगाण उ असंखगुणिअमण्णेसिं । पज्जसुहमजोग्गाणं णियमा साहारणस्सेवं ॥
सखंसहियं तिविगलजाईण सिआ अपज्जलहुबंधी । तिरियणरदुगपणिंदियजाईण असंखगुणअहियं ॥
णियमा सेसाणं तसअपज्जपाउग्गएगवीसाए । वंधेइ असंखियगुणअहियं देवव्व सेसाणं ॥
॥७२१-७२३॥

(प्रे०) "विउवे"त्यादि, विभङ्गज्ञानमार्गणायां वैक्रियपट्कस्य प्रत्येकं प्रधानीकृत्य प्रस्तुतसन्निकर्षस्तिरश्चीमार्गणावद्विज्ञेयः, यथा तत्र वैक्रियपट्कस्य घोलमानयोगी जघन्यप्रदेशबन्धस्य स्वामी भवति, तेन सह शेषबन्धप्रायोग्यनामप्रकृतीनां भवप्रथमसमये वर्तमानो जघन्यप्रदेशबन्धस्वामी च भवति, तथैवाऽत्रापि, केवलं तत्रासंज्ञी, अत्र तु संज्ञीति विशेषः । सन्निकर्षस्तु तत एवावधार्यः, सुगमप्रायश्चेति । "विगले"त्यादि, प्रस्तुते श्रीभगवतीसूत्राष्टमशतकापेक्षया-ऽपर्याप्ततिर्यग्मनुष्याणां विभङ्गज्ञानस्याभावमधिकृत्य निरूपितमतस्तदपेक्षया विकलत्रिक-सूक्ष्मत्रिकयोः पर्याप्तावस्थस्यैव बन्धभावात् तज्जघन्यप्रदेशबन्धः परावर्तमानजघन्ययोगस्थानवर्तिन एव लभ्यतेऽतस्तत्प्रधानसन्निकर्षः पृथग्दर्शितस्तद्यथा—विकलत्रिकादन्यतमस्याः प्रकृतेर्जघन्यप्रदेशबन्धकः पर्याप्तविकलेन्द्रियप्रायोग्यां नाम्नस्त्रिंशतं बध्नन्नेव भवति, तत्र स्थिरादियुगलत्रयस्य सप्रतिपक्षत्वात् स्याद्बन्धम्, शेषाणां तिर्यग्द्विकौदारिकद्विक-तैजस-कार्मणशरीर-सेवार्त्तसंहनन-हुण्डकसंस्थान-कुखगति-वर्णचतुष्काऽगुरुलघुचतुष्क-निर्माणोद्योत-त्रसचतुष्क-दुर्भगत्रिकरूपाणां षड्विंशतेर्नियमेन बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु तासां द्वात्रिंशतोऽपि स्वजघन्यप्रदेशबन्धतोऽसंख्येयगुणाधिकमेव करोति, आसां जघन्यप्रदेशबन्धस्य देव-नारकैर्भवप्रथमसमय एव निर्वर्त्तनात्, भावना तु सुगमा ।

सूक्ष्मनाम्नो जघन्यप्रदेशबन्धं कुर्वन् साधारणनाम्नः स्याज्जघन्यप्रदेशबन्धं च करोति, सप्रतिपक्षत्वात् स्याद्बन्धः, प्रस्तुतबन्धस्य पञ्चविंशतिबन्धस्थान एव निर्वर्तनत्वादिना जघन्यप्रदेशबन्धस्वामिनामैक्यात् । प्रत्येकनाम्नः स्थिराऽस्थिर-शुभाऽशुभनाम्नाञ्च स स्याद्बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु स्वजघन्यतोऽसंख्येयगुणाधिकम्, भवप्रथमसमय एव तज्जघन्यप्रदेशबन्धस्य निर्वर्तनात् । शेषाणां तिर्यग्द्विकैकेन्द्रियजातिनामौदारिकशरीर-तैजस-कार्मण-हुण्डक-वर्णचतुष्काऽगुरुलघुचतुष्क-निर्माण-स्थावर-पर्याप्त-दुर्भगाऽनादेयाऽयशःकीर्त्तिरूपाणामेकविंशतेस्स नियमेन बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु तासां स्वजघन्यप्रदेशबन्धतोऽसंख्येयगुणाधिकमिति, भावना तु सुगमा ।

एवं साधारणनामप्रधानोऽपि प्रस्तुतसन्निकर्षो निरूपणीयः, केवलं प्रत्येकनाम्नो बन्धाऽभावः, सूक्ष्म-बादरनाम्नोः स्याद्बन्धः, तत्राऽपि सूक्ष्मनाम्नो जघन्यप्रदेशबन्धो बादरनाम्नस्त्वसंख्येयगुणाधिको जघन्यप्रदेशबन्ध एवेति द्रष्टव्यः, सुगमश्चेति न ग्रन्थकृता दर्शितः ।

अपर्याप्तनाम्नो जघन्यप्रदेशबन्धं कुर्वंस्त्रसाऽपर्याप्तप्रायोग्यां पञ्चविंशतिमेव बध्नात्यतः स तिर्यग्द्विक-मनुष्यद्विक-द्वीन्द्रियादिजातिचतुष्करूपाणामष्टानां सप्रतिपक्षत्वात् स्याद्बन्धं करोति,

प्रदेशबन्धं तु विकलत्रिकस्य संख्यातभागाभ्यधिकं स्वजघन्यप्रदेशबन्धतस्तथा शेषपञ्चप्रकृतीनां स्वजघन्यप्रदेशबन्धतोऽसंख्येयगुणम् । तथा स औदारिकद्विक-तैजस-कार्मण-सेवार्त्त-हुण्डक-वर्ण-चतुष्काऽगुरुलघूपघात-निर्माण-त्रस-बादर-प्रत्येकाऽस्थिराऽशुभ-दुर्भगाऽनादेयाऽयशःकीर्त्तिरूपाणा-मेकविंशतेर्नियमेन बन्धं करोति, अपर्याप्तत्रसप्रायोग्यां पञ्चविंशतिं बध्नत आसां नियमतो बध्यमानत्वान्नियमाद्बन्धः, आसां जघन्यप्रदेशबन्धस्य भवप्रथमसमये देव-नारकाणामेव भावा-दसंख्यगुणाधिकजघन्यप्रदेशबन्धं करोति ।

शेषाणां मार्गणाप्रायोग्याणां बन्धार्हाणां देवौघवज्जघन्यप्रदेशबन्धसन्निकर्षो विज्ञेयः, एकेन्द्रिय-स्थावराऽऽतपनाम्ना देवानामेव जघन्यप्रदेशबन्धकत्वाच्छेषाणां देव-नैरयिकाणां जघन्य-प्रदेशबन्धकत्वात् । शेषप्रकृतयः पुनरिमाः तिर्यग्द्विक-मनुष्यद्विकैकेन्द्रिय-पञ्चेन्द्रियजातिना-मौदारिकद्विक-तैजस-कार्मणशरीर-संहननषट्क-संस्थानषट्क-खगतिद्वय-वर्णचतुष्काऽगुरुलघुचतु-ष्काऽऽतपोद्योत-निर्माण-त्रसचतुष्क-स्थावर-स्थिरषट्काऽस्थिरषट्कलक्षणा द्विपञ्चाशत्प्रकृतयः, भावना तु यथासंभवं देवौघाऽनुसारेण कार्येति ॥७२९-७३३॥

अथ मतान्तरमधिकृत्य विभङ्गज्ञानमार्गणायां प्रस्तुतसन्निकर्षं प्ररूपयन्नाह—

बिंति परे लहुबंधी एगस्स णिरयदुगा विभंगम्मि । इयरस्स तह विउव्वियदुगस्स बंधइ लहुं णियमा ॥
संखसहियं णियमा चउवीसाएऽण्णणिरयजोग्गाणं । एगस्स सुरदुगा लहुबंधी बंधइ लहुं णियमा ॥
इयरस्स तह विउव्वियदुगस्स बंधेइ संखभागहियं । णियमा चउवीसाए धुवसेससुदेवजोग्गाणं ॥
लहुबंधी विउवदुगा एगस्सऽण्णस्स णियमओ हस्सं । णिरयसुरदुगाण सिअ दुआगिइ-खगइ-थिरछक्कजुगलाणं
संखसहियं णियमाऽण्णसोलणिरय-सुर-उभयजोग्गाणं । ओघव्व मुणेयव्वो सप्पाउग्गाण सेसाणं ॥ ॥

(चतुर्थी गीतिः) ॥७३४-७३८॥

(प्रे०) 'बिंति' इत्यादि, परे नाम महाबन्धकारादयः, ये संज्ञिनां पर्याप्तावस्थायामेव विभङ्गज्ञानं मन्यन्ते तेषां मतेन बन्धार्हसर्वासां जघन्यप्रदेशबन्धस्य स्वामिनां योगस्य तुल्य-त्वमेव, परावर्तमानजघन्ययोगस्थानगतस्यैव जघन्यप्रदेशबन्धात् , अत्र च नाम्नः स्वस्थानजघ-न्यप्रदेशबन्धसन्निकर्षस्य प्ररूपणा, ततो नामप्रकृतिषु वैक्रियषट्कं विहाय तथा मार्गणाया-माहारकद्विकं जिननाम च नैव बन्धप्रायोग्यमस्त्यतस्तानि त्रीणि विहाय शेषाणामष्टपञ्चाशत्प्रकृतीनां यथाऽत्र तुल्यैकयोगस्थानगतस्य जघन्यप्रदेशबन्धस्तथौघेऽपि, यथा चात्रैताभ्यः प्रकृतिभ्यो यासां यासां प्रकृतीनां यद्यद्बन्धस्थाने जघन्यप्रदेशबन्धं कुर्वन्ति, तथौघेऽपि तत्तद्बन्धस्थान एव तासां तासां प्रकृतीनां जघन्यप्रदेशबन्धं कुर्वन्ति, तत ओघतः प्रस्तुते जघन्यप्रदेशबन्धस्वामिनां भिन्नत्वेऽपि नाष्टपञ्चाशन्नामप्रकृतिसत्कसन्निकर्षस्य निरूपणे कश्चिद्विशेषः । स च पञ्चम-गाथार्धेन "ओघव्वे"त्यादिना दर्शितः ।

अत आद्यगाथाचतुष्केण सार्धेन वैक्रियषट्कप्रधानसन्निकर्षो दर्शितस्तत्र सार्धगाथया नरकद्विकप्रधानस्ततः सार्धगाथया देवद्विकप्रधानस्ततः सार्धगाथया वैक्रियद्विकप्रधानः, तत्र नरकद्विकप्रधानस्त्वेवम्--

नरकद्विकादेकस्य जघन्यप्रदेशं बध्नँस्तादितरस्य वैक्रियद्विकस्य च जघन्यमेव प्रदेशबन्धं नियमतश्च करोति, शेषाणां नरकप्रायोग्याणां चतुर्विंशतेर्नामप्रकृतीनां नियमेन बन्धं करोति, स्वजघन्यतः संख्यातभागाधिकं प्रदेशबन्धं च करोति, आसां जघन्यप्रदेशबन्धस्य त्रिंशद्बन्धस्थान एव लाभात्, शेषचतुर्विंशतिप्रकृतयस्तु सुगमा इति ।

देवद्विकप्रधानसन्निकर्षस्त्वेवम्--देवद्विकादेकस्य जघन्यप्रदेशं बध्नंस्तदन्यस्य वैक्रियद्विकस्य च नियमेन बन्धं करोति, जघन्यमेव च प्रदेशबन्धं करोति, शेषाणां पञ्चेन्द्रियजाति-तैजस-कार्मण--समचतुरस्र-सुखगति--वर्णचतुष्काऽगुरुलघुचतुष्क--निर्माण--त्रसदशकरूपाणां चतुर्विंशतेः प्रकृतीनां नियमेन बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु स्वजघन्यतः संख्यातभागाधिकमिति, आसां जघन्यप्रदेशबन्धस्य त्रिंशद्बन्धस्थान एव भावात्, प्रस्तुतबन्धकस्याऽष्टाविंशतेरेव बन्धकत्वात्, प्रस्तुतबन्धकस्य देवायुर्बन्धस्य नियमेन भावात् स्थिरादीनां नियमेन बन्धो भवति, शेषाणां नियमाद् बन्धस्तु सुगमः ।

वैक्रियद्विकादेकस्य जघन्यप्रदेशबन्धं कुर्वंस्तदन्यस्य नियमेन बन्धं जघन्यप्रदेशबन्धं च करोति, देवद्विक-नरकद्विकयोः स्याद्बन्धं जघन्यप्रदेशबन्धं च करोत्यष्टाविंशतिबन्धस्थान एवासां जघन्यप्रदेशबन्धस्य लाभात् । शेषं सुगमम् । समचतुरस्रसंस्थान-हुण्डकसंस्थान-कुखगति-सुखगति-स्थिरषट्काऽस्थिरषट्करूपाणां षोडशानां स्यात् संख्यातभागाधिकजघन्यप्रदेशबन्धं च करोति, तत्र देवप्रायोग्यबन्धकस्य शुभानां नरकप्रायोग्यबन्धकस्याऽशुभानां बन्धलाभात् स्याद्बन्धः, । त्रिंशद्बन्धस्थान आसां जघन्यप्रदेशबन्धभावात् संख्यातभागाधिकजघन्यप्रदेशबन्धः, तथा स वैक्रियद्विकजघन्यप्रदेशबन्धकः पञ्चेन्द्रियजाति-तैजस-कार्मणशरीर-वर्णचतुष्काऽगुरुलघुचतुष्क--निर्माण-त्रसचतुष्करूपाणां षोडशानां नियमेन बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं त्वासां स्वजघन्यतः संख्यातभागाधिकमिति भावना तु सुगमा ।

शेषाणामष्टपञ्चाशतः स्वस्थानजघन्यप्रदेशबन्धसन्निकर्ष ओघवद्भवति स च भावितः शेषाः प्रकृतयस्तु नामतः सुगमा इति ॥७३४-७३८॥

अथ कृष्णनीललेश्यामार्गणाद्वये प्रस्तुतसन्निकर्षं सापवादमोघवदतिदेशेन निरूपयन्नाह—

ओघव्व सण्णियासो सप्पाउग्गाण णीलकिण्हासुं । णेयो णवरि सुरविउव्वदुगबंधी बंधए ण जिणं।
तित्थस्स लहुपएसं बंधंतो सुरविउव्वियदुगाणं । णियमा असंखियगुणं णेव णरुरलदुगवइराणि ॥
॥७३९-७४०॥

(प्रे०) "ओघव्व"त्यादि, कृष्णलेश्यानीललेश्यामार्गणाद्वये देवद्विकवैक्रियद्विकजिननामानि विहाय शेषाणां बन्धप्रायोग्याणां षष्टिनामप्रकृतीनां स्वस्थानजघन्यप्रदेशबन्धसन्निकर्ष ओघवद्भवति, तत्राऽष्टपञ्चाशतः सूक्ष्माणां नरकद्विकस्य चाऽसंज्ञिनां तज्जघन्यप्रदेशबन्धस्वामित्वात्, भावनाऽप्योघवद्भावनीया। अत्र नरकतः सम्यक्त्वेन सहोद्वर्तनेन मनुष्येषूत्पन्नस्य भवाद्यान्तर्मुहूर्ते नरकसत्ककृष्णनीललेश्याभावेन तस्य नरकगतित आगतस्य मनुष्यभवप्रथमसमये वर्तमानस्य सम्यग्दृष्टे र्देवप्रायोग्याऽष्टाविंशतिं बध्नत एव देवद्विकवैक्रियद्विकयोर्जघन्यप्रदेशबन्धस्य भावेन न तस्य जिननाम्नोबन्धसम्भव इति तन्निषेधः, जिननामबन्धकानां नैरयिकेषु कापोतलेश्यावत्स्वेव भावात् देवेषु च तेजःपद्मशुक्ललेश्यावत्स्वेव भावाच्च कृष्णनीललेश्यावतां देवनारकाणां जिननाम्नो बन्धाऽभावेन तत उद्वृत्तानामपि तद्बन्धाऽभाव एवेति। अत एव प्रस्तुतमार्गणाद्वये जिननाम्नो जघन्यप्रदेशबन्धस्य मनुष्यस्य घोलमानयोगिन एव भावाज्जिननामजघन्यप्रदेशबन्धं कुर्वन् देवद्विकवैक्रियद्विकयोर्नियमतो बन्धं करोति, स्वजघन्यप्रदेशबन्धतोऽसंख्येयगुणाऽधिकश्च जघन्यप्रदेशबन्धं करोति, भवप्रथमसमयगतमनुष्यस्य योगतो मनुष्यस्य परावर्तमानजघन्ययोगस्याऽसंख्येयगुणत्वात्, मनुष्यपञ्चकञ्च नैव बध्नाति, अत एवैतो देवद्विकादिप्रकृतिपञ्चकस्य जघन्यप्रदेशबन्धस्वामिनां भेदात् सन्निकर्षोऽपि भिन्न इति अपवादभणनम्। विशेषा भावना तु सुगमप्राया स्वतोऽवधारणीयेति ॥७३९-७४०॥ कापोतलेश्यामार्गणायां 'ओघव्व' इत्यादिना द्विपञ्चेन्द्रियादिमार्गणाभिः समं निरूपितत्वात् तेजःपद्मलेश्यामार्गणाद्वयेऽतिदेशेन दर्शयन्नाह—

तेउपउमासु खलु सुरविउव्वाहारजुगलाण ओहिव्व। सोहम्मसुरव्व भवे सप्पाउग्गाण सेसाणं ॥७४१॥

(प्रे०) "तेउपउमासु" इत्यादि, तेजोलेश्यामार्गणायां पद्मलेश्यामार्गणायां च देवद्विकवैक्रियद्विकयोः आहारकद्विकस्य च जघन्यप्रदेशबन्धसन्निकर्षोऽवधिज्ञानमार्गणावद् विज्ञेयः, तद्यथा—देवद्विकवैक्रियद्विकयोः जघन्यप्रदेशबन्धो देवेभ्य आगतस्य भवप्रथमसमयवर्तिनो मनुष्यस्य जिननामसहितां देवप्रायोग्यामेकोनत्रिंशतं बध्नतो भवति, प्रस्तुतमार्गणागतस्य मनुष्यस्य देवभवजघन्ययोगतुल्ययोगवत्त्वेऽपि पञ्चेन्द्रियजात्यादीनां देवगतौ त्रिंशद्बन्धस्थानस्य लाभात्, तत्रैव जघन्यप्रदेशबन्धो भवति, प्रस्तुते तु जघन्यप्रदेशबन्धश्चतुर्देवद्विकादीनामेव भवति, ततः शेषाणां पञ्चेन्द्रियजातिनवनामध्रुवबन्धिनीसमचतुरस्रसंस्थानसुखगतिपराघातोच्छ्वासजिननामत्रसदशकाऽस्थिराऽशुभाऽयशःकीर्तिनामरूपाणामष्टाविंशतेर्जघन्यप्रदेशबन्धतः संख्यातभागाधिकं प्रदेशबन्धं करोति, स्यान्नियतबन्धस्तु सुगमः। आहारकद्विकप्रधानसन्निकर्षे शेषबन्धाऽर्हाणामेकोनत्रिंशत्प्रकृतीनां नियमेन बन्धं करोति सप्रतिपक्षादिना विकल्पाऽभावात्, तस्य प्रदेशबन्धस्तु स्वजघन्यप्रदेशबन्धतोऽसंख्येयगुणाऽधिको भवति, भवप्रथमसमययोगतः प्रस्तुतबन्धकजघन्ययोगस्याऽसंख्येयगुणत्वात्। शेषाणां त्रिपञ्चाशत्प्रकृतीनां प्रत्येकं प्रधानीकृत्य प्रस्तुतसन्निकर्षः सौध-

र्मदेवमार्गणावद्विज्ञेयः देवानामेव तज्जघन्यप्रदेशबन्धस्वामित्वादिति, भावना तु तत एवाऽवधार्या सुगमा च। अत्र पद्मलेश्यायामपि सौधर्मदेववदतिदेशो न दृष्टः **"सप्पाउग्गाण"** इत्यनेन, एकेन्द्रियस्थावरातपनाम्नां प्राधान्येन सन्निकर्षभणनस्य व्यावृत्तत्वात् ,शेषाणां पञ्चाशतश्च सन्निकर्षे न सौधर्मसनत्कुमारयोः कश्चिद्विशेष इति ॥७४१॥

अथ शुक्ललेश्यामार्गणायां सातिदेशेन प्रस्तुतसन्निकर्षं निरूपयति—

सुक्काए हवए सुरविउव्वाहारजुगलाण ओहिव्व । आणयसुरव्व णेयो सप्पाउग्गाण सेसाणं ॥७४२॥

(प्रे०) **"सुक्काए"** इत्यादि, शुक्ललेश्यामार्गणायामपि स्वबन्धप्रायोग्याणां कर्मणां सन्निकर्षस्तेजोलेश्यामार्गणावदेव भावनीयः, केवलं सौधर्मसुरं विहायाऽऽनतसुरस्याऽतिदेशस्तु तत्र पञ्चेन्द्रियजात्यादिप्रधानसन्निकर्षे संहननषट्कादीनामपि बन्धभावात्, प्रस्तुते तु सम्यग्दृष्टिप्रायोग्याणां त्रयस्त्रिंशन्मनुष्यद्विकादीनां त्रिंशतं बध्नतस्तज्जघन्यप्रदेशबन्धलाभाच्छेषाणां द्वितीयादिसंस्थानसंहननपञ्चककुखगतिदुर्भगत्रिकरूपाणां चतुर्दशानां तु मनुष्यप्रायोग्यैकोनत्रिंशतं बध्नत एव जघन्यप्रदेशबन्धलाभेन तत्प्रधाने पञ्चेन्द्रियजात्यादीनां संख्यातभागाधिक एव जघन्यप्रदेशबन्धो भवति इत्यादिविशेषानधिकृत्य सौधर्मसुरवदनतिदिश्याऽऽनतसुरवदतिदेशो विहित इति ॥७४२॥

साम्प्रतमुपशमसम्यक्त्वमार्गणायां प्रस्तुतसन्निकर्षं निरूपयन्नाह—

एगस्स लहुपएसं देवदुगा उवसमम्मि बंधंतो । अण्णस्स बंधए खलु णियमाहिन्तो लहुपएसं ॥
आहारदुगस्स सिआ बंधेइ लहुं विउव्वियदुगस्स । णियमा कुणइ पएसं लहुं अहव संखभागहियं ॥
तित्थिराइगजुगलाणं बंधेइ सिआ दलं असंखगुणं । णियमा बावीसाए सुरपाउग्गाण सेसाणं ॥
एगस्स लहुपएसं विउव्वाहारगदुगाउ बंधंतो । अण्णतिगस्स तहा सुरदुगस्स णियमा लहुपएसं ॥
अथिराइतिगज्जाणं सुरपाउग्गाण सेसपयडीणं । बंधेइ असंखगुणं णियमा ओहिव्व सेसाणं ॥७४३-७४७॥

(प्रे०) **"एगस्से"**त्यादि, उपशमसम्यक्त्वमार्गणायां मनुष्यप्रायोग्याणां सम्यग्दृष्टिबन्धयोग्यानां त्रयस्त्रिंशत्प्रकृतीनां जघन्यप्रदेशबन्धस्य देवभवप्रथमसमय एव भावात् तच्चाऽवधिज्ञानवल्लाभात् तासां **"ओहिव्व सेसाणं"** इत्यनेनाऽतिदेशेन कथयिष्यमाणत्वात् , आदौ देवद्विकवैक्रियद्विकाहारकद्विकानां सन्निकर्षस्याऽवधिज्ञानमार्गणातो विसदृशत्वात् तं दर्शयति— प्रस्तुतमार्गणायां देवद्विकवैक्रियद्विके अपर्याप्ताऽवस्थायां न बध्येते, तिर्यग्मनुष्याणामपर्याप्ताऽवस्थायां प्रस्तुतमार्गणाया एवाऽभावात् , ततो देवगतिनाम्नो जघन्यप्रदेशबन्धं कुर्वन् देवानुपूर्व्या नियमतो जघन्यप्रदेशबन्धं च करोति, आहारकद्विकस्य स्याद्बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु जघन्यमेवेति नाम्न एकोनत्रिंशतमेकत्रिंशतं वा बध्नत एव देवगतेर्जघन्यप्रदेशबन्धभावात् , वैक्रियद्विकस्य बन्धो नियमतो भवति, प्रदेशबन्धस्तु तस्यैकोनत्रिंशतोबन्धकानपेक्ष्य जघन्यतः संख्यातभागाधिकः, अत्र वैक्रियाङ्गोपाङ्गस्य साधिकद्विगुणरूपः संख्येयभागाधिकोऽवसेयः

एकत्रिंशतो बन्धकानपेक्ष्य तु जघन्यमेवेति । स्थिरादियुगलत्रयस्य सप्रतिपक्षत्वात्स्याद् बन्धः, प्रदेशबन्धस्तु स्वजघन्यप्रदेशबन्धतोऽसंख्येयगुणो विज्ञेयः । शेषाणां पञ्चेन्द्रियजातिनामतैजस-कार्मणसमचतुरस्रसंस्थानसुखगतिपराघातोच्छ्वासवर्णचतुष्काऽगुरुलघूपघातनिर्माणजिननाम—त्रसचतुष्कसुभगत्रिकरूपाणां द्वाविंशतेर्नियमेन बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु तासां स्वजघन्य-प्रदेशबन्धतोऽसंख्येयगुणाऽधिकं करोति, भावना तु सुगमप्राया । एवं देवानुपूर्वीप्रधानसन्नि-कर्षोऽपि भावनीयः । वैक्रियद्विकाहारकद्विकयोरेकस्य जघन्यप्रदेशं बध्नन् शेषत्रयाणां देवद्वि-कस्य च नियमेन जघन्यप्रदेशमेव बध्नाति, अस्थिराऽशुभा-ऽयशःकीर्तिनामानि नैव बध्नाति, शेषाणां देवगतिप्रायोग्याणां पञ्चेन्द्रियजात्यादीनां पञ्चविंशतेर्नियमाद् बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु स्वजघन्यप्रदेशतोऽसंख्येयगुणाधिकं निर्वर्तयति, आसां जघन्यप्रदेशबन्धस्य भवप्रथमसमये भावेन प्रस्तुतबन्धकस्य ततोऽसंख्येयगुणयोगवत्त्वात् । शेषाणां बन्धाऽर्हाणां त्रयस्त्रिंशत्प्रकृतीनां प्रत्येकं प्रधानीकृत्य प्रस्तुतसन्निकर्षोऽवधिज्ञानमार्गणावद्विज्ञेयः । भावना तु सुगमा तद्वदेवाऽव-धार्या चेति । ताः प्रकृतयः पुनरिमाः—मनुष्यद्विकपञ्चेन्द्रियजातिनवनामध्रुवबन्धिन्यौदारि-कद्विकवज्रर्षभनाराचसंहननसमचतुरस्रसंस्थानसुखगतिपराघातोच्छ्वासजिननामत्रसदशकाऽस्थि-ऽशुभा-ऽयशःकीर्तिनामानीति ॥७४३-७४७॥

अथ मिश्रसम्यक्त्वमार्गणायां सास्वादनसम्यक्त्वमार्गणायाञ्च प्रस्तुतसन्निकर्षं निरूप्य स्वस्थानजघन्यप्रदेशबन्धसन्निकर्षं समापयन्नाह—

ओहिव्व सजोग्गाणं मीसे णवरि ण जिणं तिरिच्छिव्व । सासाणम्मि सुरविउवदुगाण णिरयव्व सेसाणं ॥ ॥७४८॥

(प्रे०) "ओहिव्वे"त्यादि, सम्यग्मिथ्यात्वमार्गणायां बन्धाऽर्हाणां षट्त्रिंशतो नाम-प्रकृतीनां प्रस्तुतसन्निकर्षोऽवधिज्ञानमार्गणावद् विज्ञेयः, केवलं प्रस्तुत आहारकद्विकजिननाम्नो बन्धाऽभावात्तासां बन्धो न वक्तव्यः, यथा मनुष्यद्विकादीनां द्वात्रिंशतः प्रकृतीनां तत्र देवनैरयिका जघन्यप्रदेशबन्धस्वामिनस्तथा प्रस्तुतेऽपि, देवद्विकादिचतसृणां तु तत्र मनुष्या एव स्वामिनोऽत्र तु तिर्यग्मनुष्या इति, यद्यप्यवधिज्ञानमार्गणायां षट्त्रिंशतो भवप्रथमसमयस्था जघन्यप्रदेश-बन्धस्वामिनो भवन्ति, प्रस्तुते तु घोलमानयोगिनस्तथाऽपि तासां षट्त्रिंशतो जघन्यप्रदेशबन्धस्वा-मिनां न परस्परं योगवैषम्यं येन सन्निकर्षे वैषम्यं स्यादिति, भावना तु सविशेषा तद्वदेवाऽवधार्या।

सास्वादनमार्गणायां देवद्विकवैक्रियद्विकयोर्जघन्यप्रदेशबन्धसन्निकर्षस्तिरश्चीमार्गणावद्विज्ञेयः यथा तत्र देवद्विकवैक्रियद्विकयोर्जघन्यप्रदेशबन्धोऽष्टाविंशतिबन्धकस्य घोलमानयोगिन एव भवति तदा बध्यमानशेषप्रकृतीनां पञ्चेन्द्रियजात्यादीनां चतुर्विंशतेर्भवप्रथमसमये जघन्यप्रदेशबन्धो भवति, तथाऽत्राऽपि, अतो देवद्विकवैक्रियद्विकरूपप्रकृतिचतुष्कादेकस्या

जघन्यप्रदेशं बध्नन् शेषाणां तिसृणां नियमेन बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु जघन्यमिति, अत्र वैक्रियद्विकप्रधाने तिरश्चीमार्गणायां नरकद्विकस्य बन्धभावेन देवद्विकस्य स्याद् बन्धो भवति, प्रस्तुते तु नरकद्विकस्य बन्धाऽभावाद् देवद्विकस्य नियमाद् बन्ध इति, एवं समचतुरस्र-सुखगति-स्थिरषट्करूपाणामष्टानां नियमेन बन्धो विज्ञेयः। शेषाणां पञ्चेन्द्रियजातिनवनामध्रुवबन्धिनी-समचतुरस्रसंस्थान-सुखगति-पराघातो-च्छ्वास-त्रसदशकरूपाणां चतुर्विंशतेर्नियमाद् बन्धः, चतुर्विंशतेरपि स्वजघन्यप्रदेशबन्धतोऽसंख्येयगुणाऽधिकं जघन्यप्रदेशबन्धं करोति, भावना तु सुगमा। शेषाणां बन्धार्हाणां तिर्यग्द्विकमनुष्यद्विकपञ्चेन्द्रियजातिनवनामध्रुवबन्धिन्यौदारिकद्विक-संहननपञ्चक-संस्थानपञ्चक-खगतिद्वय-पराघातो-च्छ्वासो-द्योत-त्रसदशका-ऽस्थिरषट्करूपाणां सप्तचत्वारिंशतो भवप्रथमसमय एव जघन्यप्रदेशबन्धभावात्, तत्राऽपि मनुष्यद्विकस्य नाम्न एकोनत्रिंशतं बध्नतश्शेषाणां तिर्यक्प्रायोग्यं त्रिंशतं बध्नतो जघन्यप्रदेशबन्धभावात् नरकौघमार्गणावत् तासां सप्तचत्वारिंशतः प्रत्येकं प्रधानीकृत्य प्रस्तुतसन्निकर्षो निरूपणीयः, भावनाऽपि तद्वदेव यथासंभवं कार्येति। शेषमार्गणासु मिथ्यात्व-संज्ञ्य-संज्ञ्या-हारकरूपासु प्राक् प्रसंगतोनाम्नः स्वस्थानसन्निकर्षो निरूपितः ॥७४८॥ तदेवं नाम्नः स्वस्थानजघन्यप्रदेशबन्धसन्निकर्षः समाप्तः।

॥ इति स्वस्थानजघन्यप्रदेशबन्धसन्निकर्षः समाप्तः ॥



॥ अथ परस्थानसन्निकर्षः ॥

सम्प्रति परस्थानज्येष्ठप्रदेशबन्धसन्निकर्षस्य निरूपणावसरः, स च द्विविध ओघत आदेश-तश्च तत्रौघतस्तं निरूपयन् ज्ञानावरणादिसप्तदशप्रकृतीः प्रधानीकृत्य प्राह—

एगस्स गुरुपएसं सायावरणजसउच्चविग्घाओ । बंधंतो णियमाओ सेसाणं सोलसण्ह गुरुं ॥७४९॥

(प्रे०) "एगस्से"त्यादि, ज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरणचतुष्कान्तरायपञ्चकसातवेदनीय-यशःकीर्तिनामोच्चैर्गोत्ररूपाणां सप्तदशानां दशमगुणस्थाने युगपज्ज्येष्ठप्रदेशबन्धभावात्तासामन्य-तमस्या ज्येष्ठप्रदेशं बध्नन् शेषाणां षोडशानां स नियमाद् बन्धको भवति, प्रदेशबन्धं तु स तासामुत्कृष्टमेव विदधाति, शेषास्त्वुत्तरशतप्रकृतीस्तु स नैव बध्नाति, दशमगुणस्थाने मोहनी-यायुषोर्बन्धाभावात् षड्विधबन्धकत्वेन मूलप्रकृतीनामल्पत्वाच्च प्रदेशबन्धाधिक्यम् । भावना तु सुगमा ॥७४९॥

अथ स्त्यानर्द्धित्रिकाद्यष्टप्रकृतीः प्रधानीकृत्य प्राह—

एगस्स जेट्ठबंधी थीणद्धितिगाणचउगमिच्छाओ । बंधइ गुरु पएसं णियमा सत्तण्ह सेसाणं ॥
विग्घणाणावरणाण संखंसूणं तु बंधए णियमा । णिद्दादुगकुच्छभयअडमज्झकसायाणऽणंतभागूणं ॥ (गीतिः)
बंधइ सायुच्चाण संखंसूण सिआ खलु पएस । जेट्ठमसायणपुमथीअयविउव्वछगणीआणं ॥
कोहमयदुगाण कमा संजलणाण णियमा दुभागूण । अहियदिवड्ढंसूणं संखगुणूणं च बंधेइ ॥
हस्साईणं दोण्हं जुगलाण सिआ अणंतभागूण । बंधइ पुरिसजसाणं सिआ य संखेज्जगुणहीण ॥
धुवणामाणं णियमा गुरुमुअ संखंसहीणग च सिआ । सेसाणं चउआउगतित्थाहारदुगवज्जाणं ॥
।७५०-७५५॥

(प्रे०) "एगस्से"त्यादि, स्त्यानर्द्धित्रिका-नन्तानुबन्धिचतुष्कमिथ्यात्वरूपाष्टप्रकृतीनां ज्येष्ठप्रदेशबन्धः प्रथमगुणस्थाने सप्तमूलप्रकृतिबन्धकस्य भवति, अतस्तासामन्यतमस्या ज्येष्ठप्रदेश-बन्धकः शेषसप्तप्रकृतीनां नियमाद्बन्धको भवति, प्रदेशबन्धमपि तासां ज्येष्ठमेव स करोति युग-पदष्टानां ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्वामित्वात् । न चानन्तानुबन्धिचतुष्कस्य द्वितीयगुणस्थाने मिथ्यात्वस्य बन्धाभावाज्ज्येष्ठप्रदेशबन्धः सम्भवति ततः कथमष्टानां युगपज्ज्येष्ठप्रदेशबन्धो दर्शित इति वाच्यम्, द्वितीयगुणस्थाने ज्येष्ठयोगस्थानस्यैवालाभात् कुतो ज्येष्ठप्रदेशबन्धसम्भव इति । तथा स ज्ञानावरणपञ्चक-दर्शनावरणचतुष्कान्तरायपञ्चकरूपाणां चतुर्दशप्रकृतीनां नियमाद् बन्धको भवति, प्रदेशबन्ध तु तासां स संख्यातभागहीनज्येष्ठं करोति, तासां ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्य सूक्ष्मसं-परायगुणस्थानके षड्विधबन्धकेनैव क्रियमाणत्वात् । तथा निद्राद्विकभयजुगुप्साप्रत्याख्याना-वरणचतुष्कप्रत्याख्यानावरणचतुष्करूपाणां द्वादशानां बन्धं नियमात् करोति ध्रुवबन्धित्वात्, प्रदेशबन्धं तु स तासामनन्तभागहीनं करोति चतुर्थादिगुणस्थाने तासां ज्येष्ठप्रदेशबन्धभावात्, प्रथमगुणस्थाने स्त्यानर्द्धित्रिकस्य बन्धभावेन निद्राद्विकस्य न तत्सत्कदलिकस्य लाभः, एवं

मिथ्यात्वस्यानन्तानुबन्धिकषायस्य च बन्धभावान्न कषायाष्टकभयजुगुप्सानां ज्येष्ठप्रदेशबन्धसंभवस्तथा सर्वघातिप्रकृतीनां बन्धविच्छेदे तत्सत्कदलिकस्यानन्तबहुभागप्रमाणं दलिकं बध्यमानसजातीयदेशघातिषु लभ्यतेऽनन्तभागप्रमाणदलिकस्य बध्यमानसजातीयसर्वघातिप्रकृतिषु प्राप्यतेऽतोऽनन्तभागहीनत्वम् , विशेषतस्त्वनन्तभागहीनत्वस्य कारणं स्वस्थानसन्निकर्षतोऽवसातव्यमिति। तथा स सातवेदनीयोच्चैर्गोत्रयोः स्याद्बन्धको भवति, प्रदेशबन्धं तु तयोः संख्यातभागहीनमेव स करोति सप्रतिपक्षत्वात् स्याद्बन्धः, प्रस्तुतबन्धकस्य सप्तविधबन्धकत्वात् संख्यातभागहीनज्येष्ठप्रदेशबन्धः । तथाऽसातवेदनीयनपुंसकवेदस्त्रीवेदातपवैक्रियषट्कनीचैर्गोत्ररूपा एकादशप्रकृतीः स स्याद्बध्नाति,यदि बध्नाति तदा तासां ज्येष्ठप्रदेशमेव बध्नाति, अत्र स्याद् बन्धः प्रतिपक्षप्रकृतीनां बन्धभावात् , प्रस्तुताष्टप्रकृतीनां ज्येष्ठबन्धकस्य सप्तमूलप्रकृतिबन्धकत्वात् स असातवेदनीयस्त्रीनपुंसकवेदनीचैर्गोत्रप्रकृतीनां तु ज्येष्ठप्रदेशबन्धं विदधाति, वैक्रियषट्कस्य तु नाम्नोऽष्टाविंशतिबन्धस्थान एव ज्येष्ठप्रदेशबन्धो भवति तस्य चात्र भावाद्बन्धस्थानानां तद्योग्यानां नानात्वाभावाच्च ज्येष्ठप्रदेशं स विरचयति। तथा संज्वलनक्रोधस्य स्वज्येष्ठप्रदेशबन्धत आसन्नार्धभागमात्रं प्रदेशान् स प्रस्तुतबन्धको बध्नाति, संज्वलनमानस्य स यावतः प्रदेशान् बध्नाति, तेषु साधिकसार्धगुणं दलं प्रक्षिप्यते तदा स्वोत्कृष्टदलिकप्रमाणं भवति, संज्वलनमायालोभयोस्तु स स्वज्येष्ठप्रदेशबन्धतः संख्यातगुणहीनं प्रदेशं बध्नाति, चतुर्णामपि संज्वलनकषायाणां स नियमाद्बन्धको भवति, भावना तु मोहनीयस्वस्थानसन्निकर्षवद्विज्ञेया। हास्यादियुगलद्वयस्य बन्धं स स्यात् करोति, प्रतिपक्षप्रकृतीनां बन्धभावात् , प्रदेशबन्धं तु स तयोर्द्वयोर्युगलयोरनन्तभागहीनमुत्कृष्टं करोति, मिथ्यात्वसत्कदलिकस्यात्रालाभाद् ,भावना तु प्रागवत्कर्तव्या। पुरुषवेदस्य यशःकीर्तिनाम्नश्च स स्याद्बन्धको भवति, प्रदेशबन्धं तु पुरुषवेदस्य संख्येयगुणोनमासन्नपञ्चमांशप्रमितं स मिथ्यात्वाद्यष्टकस्य ज्येष्ठप्रदेशबन्धको विदधाति, यशःकीर्तिनाम्नोऽपि संख्येयगुणोनम् , स चासन्नपञ्चविंशत्यादिभागप्रमितमेतच्च गणितप्रक्रिययोपयुज्य परिभावनीयम् । तथा नाम्नो नवध्रुवबन्धिप्रकृतीः स नियमाद् बध्नाति, ध्रुवबन्धित्वात् ,शेषा बन्धार्हा जिननामाहारद्विकवर्जसप्तचत्वारिंशन्नामप्रकृतीः स्याद्बध्नाति, प्रतिपक्षप्रकृतीनामपि बन्धभावात् , षट्पञ्चाशन्नामप्रकृतीनां तु स ज्येष्ठं संख्यातभागहीनज्येष्ठं वा प्रदेशं बध्नाति, तत्र तत्तत्प्रकृतिबन्धार्हे जघन्यबन्धस्थाने वर्तमानस्तत्तत्प्रकृतीनां स ज्येष्ठं प्रदेशं बध्नाति,जघन्येतरेऽधिकप्रकृत्यात्मकबन्धस्थाने वर्तमानस्तु संख्यातभागहीनज्येष्ठं प्रदेशं बध्नाति । तथा प्रस्तुतबन्धक आयुकर्मसत्कामेकामपि प्रकृतिं नैव बध्नाति, आयुर्वर्जानां ज्येष्ठप्रदेशबन्धकैरायुषो नियमतोऽबध्यमानत्वादन्यथा तेषां ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्यैवासम्भवादतः प्रस्तुत आयुषां वर्जनं तथा प्रस्तुतबन्धकस्य प्रथमगुणस्थानगतत्वाज्जिननामाहारकद्विकरूपप्रकृतित्रयस्याऽपि न बन्धार्हत्वमिति तस्यापि वर्जनमिति ॥७५०-७५५॥

अथ निद्राद्विकप्रधानं परस्थानज्येष्ठप्रदेशबन्धसन्निकर्षं प्रतिपादयन्नाह—

वंधंतो उक्कोसं पएसमेगस्स निद्दपयलाओ । णियमा इयरस्स तहा भयकुच्छाणं गुरुपएमं ॥
विग्घणवावरणाण पणिंदिधुवनामतसचउक्काणं । परघूसासुच्चाणं णियमा संखेज्जभागूणं ॥
संखंसूणं सायणरुरलथिराथिरदुगाजसाण सिआ । जेट्ठमसायजुगलदुगदुइअकसायचउगाण सिआ ॥
तइअकसायाण गुरुं उअऽणंतंसूणग सिआ णियमा । अंतिमकोहमयाणं कमा दुस्साहियदिवड्ढभागूणं ॥
संखगुणूणं पुरिसदुसजलणाण णियमा जसस्स सिआ । सुरविउवाहारगदुगवइरजिणाणं कुणेइ सिआ ॥
गुरुमुअ संखसूणं वधइ णियमा सुहागिईअ तहा । सुखगइसुहगतिगाणं ण चेव वंधइ निचत्ताऽण्णा ॥
(चतुर्थी गीति. ॥७५६ ७६१॥

(प्रे०) "वंधंतो" इत्यादि, निद्राप्रचलयोरन्यतरस्या ज्येष्ठप्रदेशबन्धकस्तदितरस्या भयजुगुप्सयोश्च नियमाद् बन्धं विदधाति, प्रदेशबन्धमपि तासामुत्कृष्टमेव, ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्वामिनां तुल्यत्वात् । ज्ञानावरणपञ्चकचक्षुरादिदर्शनावरणचतुष्कान्तरायपञ्चकलक्षणचतुर्दशध्रुवबन्धिनीनां नाम्नो नवध्रुवबन्धिनीनां पञ्चेन्द्रियजातित्रसचतुष्कपराघातोच्छ्वासोच्चैर्गोत्ररूपाणामष्टानां च स नियमाद्बन्धं विदधाति, प्रदेशबन्धं तु तासामनुत्कृष्टं स्वज्येष्ठप्रदेशबन्धतः संख्यातभागहीनम्, तत्र प्रस्तुतबन्धकस्य चतुर्थादिगुणस्थानवर्तित्वेन प्रतिपक्षप्रकृतीनां बन्धाभावात् नियमादासां बन्धो भवति, तथा ज्ञानावरणादिचतुर्दशानामुच्चैर्गोत्रस्य च दशमगुणस्थान एव ज्येष्ठप्रदेशबन्धं करोति, प्रस्तुतबन्धकस्य तु मोहनीयस्य नियमतो बध्यमानत्वात् संख्यातभागहीनमेव स बध्नाति, नामनवध्रुवबन्धिनीनां बादरप्रत्येकनाम्नोश्च त्रयोविंशतौ पञ्चेन्द्रियजातित्रसपर्याप्तपराघातोच्छ्वासरूपाणां पञ्चानां च पञ्चविंशतिबन्धस्थाने ज्येष्ठप्रदेशबन्धभावात् प्रस्तुते तस्य संख्यातभागन्यूनत्वं विज्ञेयमिति । तथा सातवेदनीयमनुष्यद्विकौदारिकद्विकस्थिर-शुभाऽस्थिराशुभा-ऽयशःकीर्तिनामानि स स्याद्बध्नाति, तासां प्रदेशबन्धं तु स्वज्येष्ठप्रदेशबन्धतः संख्येयभागहीनमेव स करोति, अत्र सप्रतिपक्षत्वात् स्याद्बन्धः, सातवेदनीयस्य दशमगुणस्थाने शेषाणां च नवानां मिथ्यादृष्टौ यथासंभवं त्रयोविंशत्यादिबन्धस्थानगतस्य ज्येष्ठप्रदेशबन्धभावात् प्रस्तुतबन्धक आसां संख्यातभागहीनं ज्येष्ठप्रदेशं बध्नाति । तथाऽसातवेदनीयहास्यादियुगलद्वयाप्रत्याख्यानावरणकषायचतुष्कस्य स निद्राद्विकज्येष्ठप्रदेशबन्धकः स्याद्बन्धं विदधाति, यदि बध्नाति तर्हि तासामुत्कृष्टमेव प्रदेशं बध्नाति, तत्राऽसातवेदनीयस्य हास्यादियुगलद्वयस्य च सप्रतिपक्षत्वात् स्याद्बन्धम्, अप्रत्याख्यानावरणचतुष्कं तु चतुर्थगुणस्थानगतः प्रस्तुतप्रकृतिज्येष्ठप्रदेशबन्धको बध्नाति, पञ्चमादिगुणस्थानगतस्तु नैव बध्नातीति स्याद्बन्धं करोति हास्यादियुगलद्वयस्याप्रत्याख्यानावरणकषायचतुष्कस्य सम्यग्दृष्टीनामेव ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्वामित्वात्, असातवेदनीयस्य सम्यग्दृष्टीनां मिथ्यादृष्टीनां च ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्य स्वामित्वाच्च प्रस्तुतेऽपि ज्येष्ठ एव प्रदेशबन्धो भवति । तथा स तृतीयस्य प्रत्याख्यानावरणचतुष्कस्य स्याद्बन्धको भवति, यदि बध्नाति तर्हि तस्य प्रदेशबन्धं तु ज्येष्ठमनन्तभागहीनं वा विदधाति, तत्र षष्ठादिगुणस्थानवर्ती प्रस्तुत-

वन्धको नैव वध्नाति, पञ्चमगुणस्थानगतो नियमतो वध्नाति ज्येष्ठप्रदेशं च, चतुर्थगुणस्थानगतोऽपि नियमाद्वध्नाति प्रदेशवन्धं त्वनन्तभागहीनमिति, भावना तु सुगमा । तथा संज्वलनक्रोधस्य द्विभागमात्रम् ,आसन्नार्धभागप्रमाणम् , संज्वलनमानस्य सातिरेकपञ्चत्रिभागोनम् ,संज्वलनमाया-लोभयोस्तु संख्यातगुणहीनं वध्नाति, प्रकृतिवन्धोऽपि तासां चतसृणां नियमतो विज्ञेयः, भावना तु स्त्यानर्द्धित्रिकप्रधानसन्निकर्षवत्कार्या । तथा स पुरुषवेदस्य नियमाद्वन्धको भवति, प्रस्तुत-वन्धकस्य शेषवेदद्वयस्य वन्धाभावात् , प्रदेशवन्धं तु स तस्य संख्यातगुणन्यूनं करोति, प्रस्तुत-वन्धकस्य नोकषायपञ्चकस्य युगपद्वन्धभावात् , स्वज्येष्ठप्रदेशवन्धकाले तु पुरुषवेदरूपस्यैकस्यैव नोकषायस्य वन्धभावेन नोकषायसत्कसर्वदलिकस्य तस्यैव लाभात् , प्रस्तुतवन्धकस्य त्वासन्न-पञ्चमभागमात्रदलिकस्य लाभात् संख्यातगुणहीनमिति । तथा यशःकीर्तिनाम्नः स्याद्वन्धको भवति, प्रदेशवन्धं तु तस्य संख्यातगुणहीनं वध्नाति, एकविधवन्धकत्वाभावात् संख्यातगुणहीन-त्वम् , शेषभावना तु सुगमा । तथा देवद्विकवैक्रियद्विकाहारकद्विकवज्रर्षभनाराचसंहननतीर्थकर-नामानि स स्याद्वध्नाति, तत्र देवद्विकवैक्रियद्विकयोः सप्रतिपक्षत्वात् , आहारकद्विकजिनना-म्नोः केषाञ्चिदेव वन्धभावात् , प्रदेशवन्धं तु यदि देवद्विकवैक्रियद्विकयोरष्टाविंशतिवन्धस्थाने वर्त-मानो वध्नाति तर्हि तयोरुत्कृष्टप्रदेशवन्धको भवति, जिननामसहितं यदि वध्नाति न तदो-त्कृष्टं किन्तु संख्येयभागन्यूनमिति । एवमाहारकद्विकस्य त्रिंशतं वध्नन्नुत्कृष्टमेकत्रिंशतं वध्नन् त्वनुत्कृष्टं संख्यातभागोनम् । वज्रर्षभनाराचसंहननं देवनारकाणामधिकृत्य प्रस्तुतवन्धका नियमतो वध्नन्ति तिर्यग्मनुष्यास्तु नैव वध्नन्ति, प्रदेशवन्धं तु तस्यैकोनत्रिंशतं वध्नन्नुत्कृष्टं कुर्वन्ति जिननामसहितत्रिंशतं वध्नन्तस्त्वनुत्कृष्टं संख्यातभागहीनम् ,भावना तु सुगमा । जिनना-म्नश्चैकोनत्रिंशतं एकत्रिंशतं वा देवप्रायोग्यां वध्नन्नुत्कृष्टं प्रदेशवन्धं करोति मनुष्यप्रायोग्यां त्रिंशतं वध्नन्ननुत्कृष्टमुत्कृष्टतः संख्यातभागहीनं वध्नाति । तथा समचतुरस्रसंस्थानसुखगतिसुभ-गत्रिकरूपाणां पञ्चानां स नियमाद्वन्धको भवति, प्रस्तुतवन्धकस्य सम्यग्दृष्टित्वेनासां प्रति-पक्षप्रकृतीनां वन्धाभावात् , प्रदेशवन्धं तु तासामुत्कृष्टमनुत्कृष्टं वा वध्नाति, तत्र देवप्रायो-ग्यामष्टाविंशतिं वध्नन्नुत्कृष्टप्रदेशवन्धं करोति, एकोनत्रिंशदादिवन्धस्थानं वध्नन्ननुत्कृष्टमुत्कृ-ष्टतः संख्यातभागन्यूनमिति । तथा प्रस्तुतनिद्राद्विकज्येष्ठप्रदेशवन्धक उक्तेतराः स्त्यानर्द्धित्रि-कादीःप्रकृतीर्नैव वध्नातीति न तन्निरूपणम् । ताः प्रकृतयः पुनरिमाः—स्त्यानर्द्धित्रिकानन्तानु-वन्धिचतुष्कमिथ्यात्वस्त्रीवेदनपुंसकवेदनीचैर्गोत्रनरकद्विक -तिर्यग्द्विक—जातिचतुष्काद्यवर्जसंहनन—पञ्चकाद्यवर्जसंस्थानपञ्चककुखगतिनामातपोद्योतस्थावरचतुष्कदुर्भगत्रिकनरकतिर्यग्मनुष्यदेवायूंषीति त्रिचत्वारिंशत्प्रकृतयः ॥७५६-७६१॥

एतर्ह्यसातवेदनीयस्य प्राधान्येन प्रस्तुतं संनिकर्षं प्ररूपयन्नाह—

वंधतो य पएसं गुरुं असायस्स बधइ ण सायं । वंधेइ सिआ जिट्ठं थीणद्धितिगाणमिच्छाणं ७६२॥
णियमा णिद्दादुगभयकुच्छाण गुरुमुअऽणंतभागूणं । वंधेइ सिआ मज्झिमकसायअट्ठगदुजुगलाणं ॥७६३॥
सुरविउव्वदुगजिणाणं सिआ गुरु अहव संखभागूणं । वंधइ पएसबंधं थीणद्धितिगव्व सेसाणं ॥७६४॥

(प्रे०) "बंधंतो" इत्यादि, असातवेदनीयस्योत्कृष्टप्रदेशबन्धः प्रथम-चतुर्थ-पञ्चम-षष्ठगुणस्थानकेषु भवति, तथाऽस्य परावर्तमानत्वेन स्याद्वध्यमानत्वेऽपि सातवेदनीयाहारकद्विकदेवायुर्वर्जशेषप्रकृतिभिस्सह बन्धार्हत्वम्, असातस्य ज्येष्ठप्रदेशं बध्नन् सातवेदनीयं नैव बध्नाति । स्त्यानद्धर्यष्टकस्य स्याद्वन्धं करोति, प्रथमगुणस्थाने तस्य बन्धभावेऽपि चतुर्थादिगुणस्थानेषु तस्यावन्धात्, प्रदेशबन्धं तु तासामुत्कृष्टमेव करोति, भावना तु सुगमा । सम्यग्दृष्टयो यासां ज्येष्ठप्रदेशबन्धं कुर्वन्ति तैः सह निरूपयति—सोऽसातवेदनीयज्येष्ठप्रदेशबन्धको निद्राद्विकभयजुगुप्सानां चतसृणां नियमाद्बन्धको भवति, प्रदेशबन्धं तु तासां यदि स चतुर्थादिगुणस्थानत्रये वर्तमानः स्यात्तर्हि ज्येष्ठं करोति, प्रथमगुणस्थाने वर्तमानः स स्यात्तर्हि तासामनन्तभागहीनं करोति, मध्यमकषायाष्टकस्य हास्यादियुगलद्वयस्य च स स्याद्बन्धको भवति, प्रदेशबन्धं तु तासां द्वादशानां ज्येष्ठमनन्तभागहीनं वा करोति । तत्र हास्यादियुगलद्वयस्य स्याद्बन्धः परावर्तमानत्वात् कषायाष्टकस्य तु भिन्नभिन्नगुणस्थानापेक्षया ध्रुवबन्धित्वेऽपि स्याद्बन्धः, हास्यादियुगलद्वयस्याप्रत्याख्यानावरणचतुष्कस्य च सम्यग्दृष्टिर्यदि बध्नाति, तदुत्कृष्टं मिथ्यादृष्टिर्यदि बध्नाति तदनन्तभागहीनमुत्कृष्टम्, प्रत्याख्यानावरणचतुष्कस्य देशविरतिरुत्कृष्टप्रदेशबन्धं करोति अविरतसम्यग्दृष्टिर्मिथ्यादृष्टिर्वा तस्यानन्तभागहीनं ज्येष्ठप्रदेशबन्धं करोति, भावना तु सुगमा । तथा देवद्विकवैक्रियद्विकजिननामरूपाणां पञ्चानां स्याद्बन्धको भवति, प्रदेशबन्धमपि तासां ज्येष्ठं संख्यातभागहीनज्येष्ठं वा बध्नाति । तत्र देवद्विकवैक्रियद्विकयोः सप्रतिपक्षत्वाज्जिननाम्नस्तु केषाञ्चित् सम्यग्दृशामेव बन्धभावात् स्याद्बन्धः, देवद्विकवैक्रियद्विकयोरष्टाविंशतिं बध्नन् प्रस्तुतबन्धको ज्येष्ठप्रदेशं बध्नाति, जिननामसहितैकोनत्रिंशतं बध्नन् तु संख्यातभागहीनं ज्येष्ठप्रदेशबन्धं करोति, स्त्यानर्द्धित्रिकज्येष्ठप्रदेशबन्धकस्तु देवद्विकवैक्रियद्विकयोर्यदि बन्धं करोति, तदा ज्येष्ठप्रदेशमेवातो न तद्वदतिदेशः कृतः । प्रस्तुतबन्धको नाम्नो देवप्रायोग्यैकोनत्रिंशतं बध्नन् जिननाम्नो ज्येष्ठप्रदेशं बध्नाति, मनुष्यप्रायोग्यां त्रिंशतं बध्नन् जिननाम्नः संख्यातभागहीनं ज्येष्ठप्रदेशं बध्नाति, भावना तु सुगमा । उक्तशेषाणां बन्धप्रायोग्याणां त्र्यशीतिप्रकृतीनां प्रस्तुतसन्निकर्षो यथा स्त्यानर्द्धित्रिकप्रधानसन्निकर्षे प्राप्यते तथा प्रस्तुतेऽपि प्राप्यतेऽतस्तद्वत् प्रस्तुतसन्निकर्षस्तासां विज्ञेयः । स च प्रागुक्त इति पुनर्नोच्यते शेषप्रकृतयः पुनरिमाः-ज्ञानावरणपञ्चक-दर्शनावरणचतुष्क-संज्वलनचतुष्कनामनवध्रुवबन्धिन्यन्तरायपञ्चकरूपाः सप्तविंशतिध्रुवबन्धिप्रकृतयो वेदत्रय-गोत्रद्वय-नरकद्विक-तिर्यग्द्विक-मनुष्यद्विक-

जातिपञ्चकौदारिकद्विकसंहननषट्कसंस्थानषट्कखगतिद्वयपराघातोच्छ्वासातपोद्योतनामत्रसदशकस्थावरदशकनामानीति षट्पञ्चाशदध्रुवबन्धिप्रकृतयः ॥७६२-७६४॥

अथ पुरुषवेदस्य संज्वलनचतुष्कस्य च प्रत्येकं प्रधानीकृत्य परस्थानज्येष्ठप्रदेशबन्धसन्निकर्षं निरूपयन्नाह—

सायुच्चावरणणवगजसविग्घाण पुमसंजलणबंधी । णियमा संखंसूणं मोहस्स सठाणगव्व ण उ सेसा ।
॥७६५॥ (गीति)

(प्रे०) "साये"त्यादि, पुरुषवेद-संज्वलनचतुष्करूपाणां पञ्चप्रकृतीनां ज्येष्ठप्रदेशबन्धको नवमगुणस्थानके भवति, ततः सातवेदनीयोच्चैर्गोत्रज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरणचतुष्कान्तरायपञ्चकयशःकीर्तिनामरूपाणां सप्तदशप्रकृतीनां स नियमात् संख्यातभागहीनज्येष्ठप्रदेशबन्धं च करोति प्रतिपक्षप्रकृतीनां बन्धाभावान्नियमाद्बन्धः, दशमगुणस्थान एवासां ज्येष्ठप्रदेशबन्धकत्वात् संख्यातभागहीनबन्धः । मोहनीयकर्मसत्कसन्निकर्षस्तु स्वस्थानसन्निकर्षवद्भावनीयः प्रधानीकृतप्रकृतेः तत्सहोक्तेतरशेषबध्यमानप्रकृतीनाञ्च मोहनीयरूपत्वात् , स च तत एवावधार्यः सुगमत्व । शेषप्रकृतीस्तु नैव बध्नाति ॥७६५॥ अथ स्त्रीवेदं प्रधानीकृत्य प्रस्तुतसन्निकर्षं प्राह—

वीसाउतिगणिसिद्धा थीगुरुबंधी ण बंधए णियमा । धुवणामपणिंदियपरघाऊसासतसचउगाणं ॥ ॥
सखंसूणं तिरिणरुरलदुगकुखगछिवट्ठहुंडाणं । थिरसुहअथिरछगुज्जोआण सिआऽण्णाण थीणगिद्धिव्व ॥
॥७६६-७६७॥ (द्वितीया गीति)

"वीसाउ" इत्यादि, स्त्रीवेदस्योत्कृष्टप्रदेशबन्धको जातिचतुष्क-स्थावरचतुष्कातपनरकत्रिकजिननामाहारकद्विकपुरुषवेदनपुंकवेदायुस्त्रयरूपा विंशतिप्रकृतीर्नैव बध्नाति, सप्तदशानां प्रकृतिबन्धसन्निकर्षेणैव विरुद्धत्वात् , आयुस्त्रयस्य तु ज्येष्ठप्रदेशबन्धसन्निकर्षेण विरुद्धत्वात् । नामनवध्रुवबन्धिनीपराघातोच्छ्वासपञ्चेन्द्रियजातित्रसचतुष्करूपाणां षोडशप्रकृतीनां स नियमाद्बन्धको भवति, प्रदेशबन्धं तु स तासां स्वज्येष्ठप्रदेशबन्धतः संख्यातभागहीनं करोति आसां ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्य त्रयोविंशतौ पञ्चविंशतौ वा भावात् स्त्रीवेदबन्धकस्योक्तबन्धस्थानद्वयस्य बन्धानर्हत्वात् तत्र नपुंसकवेदस्यैव बन्धभावाच्च । तथा तिर्यग्द्विकमनुष्यद्विकौदारिकद्विककुखगतिसेवार्तसंहननहुण्डकसंस्थानस्थिरनामशुभनामास्थिरषट्कोद्योतनाम—रूपाणामष्टादशानां स्याद्बन्धको भवति, प्रदेशबन्धं तु तासां संख्यातभागन्यूनं करोति, तत्र कुखगतिदुःस्वरनामवर्जानां ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्य यथासंभवं त्रयोविंशतौ पञ्चविंशतौ षड्विंशतौ वा भावात् प्रस्तुतबन्धकस्य संख्यातभागहीनत्वम् ,सप्रतिपक्षत्वात् स्याद्बन्धः,कुखगतिनामदुःस्वरनामरूपयोर्द्वयोर्ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्य नरकप्रायोग्यामष्टाविंशतिं बध्नतो लाभात् , प्रस्तुतबन्धकस्य च नरकप्रायोग्यबन्धाभावादेकोनत्रिंशति त्रिंशति वैतयोर्बन्धसद्भावाच्च न ज्येष्ठप्रदेशबन्धोऽपि तु संख्यातभागन्यून इति । उक्तशेषाणां बन्धार्हाणां पञ्चषष्टेः प्रस्तुतसन्निकर्षः स्त्यानर्द्धित्रिकप्रधानसन्निकर्षे यथा भणि-

तस्तथा भणनीयः, उभयत्र प्रथमगुणस्थानकस्थस्यैव स्त्यानर्द्धित्रिकस्त्रीवेदयोः ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्वामित्वान्नाम्नो यशःकीर्तिवर्जानामष्टाविंशत्यादावेव तज्ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्वामित्वाद् यशःकीर्तेस्तु संख्यातगुणहीनज्येष्ठप्रदेशबन्धवत्वाच्च, शेषभावना तु सुगमा। शेषप्रकृतयः पुनरिमाः—ज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरणनवकषोडशकषायहास्यषट्कमिथ्यात्वान्तरायपञ्चकवेदनीयद्वयगोत्रद्वयदेवद्विकवैक्रियद्विकसंहननपञ्चकसंस्थानपञ्चकसुखगतिनामसुभगत्रिकयशःकीर्तिनामानीति ॥७६६-७६७॥

अथ नपुंसकवेदप्रधानं तत्समानप्रायत्वाच्च नीचैर्गोत्रप्रधानं च प्रस्तुतं स्त्यानर्द्धित्रिकप्रधानसन्निकर्षवत्सापवादमतिदेशरूपेण दर्शयन्नाह—

थीणद्धितिगव्व णपुमणीआण परं ण सुरदुग-विरुद्धा। सुहआगिइखगइसुहगतिगाण संखंसहीणं व्व ॥७६८॥

(प्रे०) "थीणद्धि" इत्यादि, नपुंसकवेदस्य नीचैर्गोत्रस्य च प्रत्येकं प्रधानीकृत्य प्रस्तुतसन्निकर्षः स्त्यानर्द्धित्रिकं प्रधानीकृत्य यथा भणितस्तथा भणनीयः, केवलं तत्राहारकद्विकजिननामायुश्चतुष्करूपमष्टानामेव बन्धो न भवति, प्रस्तुते तु तासां देवद्विकस्य च, तथा नपुंसकवेदप्रधाने शेषवेदयोर्नीचैर्गोत्रप्रधानत्व उच्चैर्गोत्रस्य बन्धः प्रकृतिबन्धविरुद्धत्वान्न भवति, अतो नपुंसकवेदप्रधाने एकादशानां नीचैर्गोत्रप्रधाने दशानां बन्धो न भवतीति। तथा समचतुरस्रसंस्थानसुखगतिसुभगत्रिकरूपाणां पञ्चानां तत्र स्त्यानर्द्धित्रिकप्रधानसन्निकर्षे देवप्रायोग्यामष्टाविंशतिं बध्नन् ज्येष्ठप्रदेशबन्धं करोति, एकोनत्रिंशदादिकं बध्नंस्तु संख्यातभागहीनं ज्येष्ठप्रदेशबन्धं करोति, प्रस्तुते तु नपुंसकवेदज्येष्ठप्रदेशं बध्नन् नीचैर्गोत्रज्येष्ठप्रदेशं बध्नन् वा देवगतिप्रायोग्यं न बध्नाति, अतः स तासां पञ्चानां प्रस्तुतप्रकृतिद्वयप्रधानसन्निकर्षे ज्येष्ठप्रदेशबन्धं न करोति किन्तु संख्यातभागहीनमेव बध्नाति। उक्तेतरासां प्रकृतीनां स्त्यानर्द्धित्रिकप्रधानसन्निकर्षे यथोत्कृष्टादिप्रदेशबन्धः स्याद्बन्धादिकं च प्राप्यते तथा प्रस्तुतेऽपि, उभयत्र प्रधानीप्रकृतेर्ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्वामिनो मिथ्यादृष्टित्वेन सादृश्याद् नानाविधबन्धस्थानानां तुल्यत्वाच्च मुक्त्वा देवप्रायोग्याष्टाविंशतिम्, शेषप्रकृतयः पुनः—नीचैर्गोत्रप्रधाने चतुरुत्तरशतं नपुंसकवेदप्रधाने तु त्र्युत्तरशतम् ॥७६८॥

अधुना मध्यमकषायाष्टकहास्यषट्करूपाणां चतुर्दशानां प्रत्येकं प्रधानीकृत्य सापवादं सातिदेशं च सन्निकर्षं प्रदर्शयन्नाह—

सट्ठाणव्व उ बधइ मोहाण सेसमोहगुरुबंधी। णिद्दव्वऽण्णाण णवरि हस्सचउगजेट्ठबंधी उ ॥
णिद्दादुगणामाणं सिआ कुणइ संखभागहीणं पि। बधइ जसस्स बंधइ णाहारदुगं इयरबंधी ॥
णरखलदुगचउराणि ण बंधइ तइअकसायगुरुबंधी। सुरविउव्वदुगाण कुणइ णियमा तित्थस्स उण जेट्ठं ॥
॥७६९-७७१॥

(प्रे०) "सट्ठाणव्व" इत्यादि, मध्यमकषायाष्टकहास्यषट्कस्य ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्वामिनः सम्यग्दृष्टयो यथा निद्राद्विकस्य, ततो निरुक्तचतुर्दशप्रकृतीनां प्रत्येकं प्रधानीकृत्य प्रस्तुतसन्निकर्षे भण्यमाने मोहनीयप्रकृतीनां स्वस्थानवज्ज्ञातव्यः, प्रधानीकृतप्रकृतीनां मोहनीयत्वेन स्वस्थानरूपत्वात् । शेषप्रकृतीनां सन्निकर्षो निद्राद्विकप्रधानसन्निकर्षे यथा भवति तथा प्रस्तुतेऽपि, णवरमपवादपदानि विहाय । तान्येव दर्शयति–"णवरि" इत्यादिना, हास्यचतुष्कस्य ज्येष्ठप्रदेशं बध्नतो निद्राद्विकस्य बन्धार्हाणां नामप्रकृतीनां च स्याद्बन्धो भवति, अयम्भावः–निद्राद्विकबन्धविच्छेदादूर्ध्वं पञ्चेन्द्रियजात्यादीनां बन्धविच्छेदः प्राप्यते तत ऊर्ध्वं हास्यचतुष्कस्य, अतो निद्राद्विकप्रधानसन्निकर्षे पञ्चेन्द्रियजात्यादीनां नियमाद्बन्धको भवति, प्रस्तुते तु हास्यचतुष्कज्येष्ठप्रदेशबन्धकश्चतुर्थाद्यष्टमगुणस्थानप्रथमभागान्तं वर्तमानः स्याच्चदा निद्राद्विकं नियमाद्बध्नाति, अष्टमगुणस्थानकस्य द्वितीयादिसप्तमांशे वर्तमानः स्यात् तदा न बध्नातीत्येवं स्याद्बन्धः । एवं नाम्नो नवध्रुवबन्धिनीपञ्चेन्द्रियजातिसमचतुरस्रसुखगतिपराघातोच्छ्वासत्रसचतुष्कसुभगत्रिकरूपाणामेकविंशतेर्निद्राद्विकप्रधानसन्निकर्षे नियमाद्बन्धभावेऽपि प्रस्तुते यदि हास्यचतुष्कज्येष्ठप्रदेशबन्धकोऽष्टमगुणस्थानस्य षष्ठभागं यावद्वर्तमानः स्याच्चदा नियमत उक्तैकविंशतेर्बन्धको भवति, सप्तमांशे वर्तमानस्तु स नैव बध्नाति, एवं स्याद्बन्धः । देवगत्यादीनामष्टादशानां तत्रापि स्याद्बन्ध इति न तासामपवादभणनम्, तद्विषयकभावनाया विशेषस्तु यथासंभवं स्वयं विज्ञेयः । अथ द्वितीयमपवादं दर्शयति–"संखभागहीण" इत्यादि, यशःकीर्तिनाम्नो ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्य दशमगुणस्थाने भावान्निद्राद्विकप्रधानसन्निकर्षे तस्य संख्यातगुणहीनमेव ज्येष्ठप्रदेशबन्धं करोति एवं निरूपितम्, तत्र पञ्चेन्द्रियजात्यादीनां नियमतो बन्धभावात्, प्रस्तुते तु हास्यचतुष्कप्रधानसन्निकर्षे तासां स्याद्बन्धभावात् तद्बन्धविच्छेदादूर्ध्वमष्टमगुणस्थानसप्तमांशे स्थितः प्रस्तुतबन्धको यशःकीर्तिनाम्नः स्वज्येष्ठप्रदेशबन्धतः संख्यातभागहीनप्रदेशबन्धं करोति, चतुर्थाद्यष्टमगुणस्थानषष्ठभागं यावद्वर्तमानो निद्राद्विकसन्निकर्षवत् प्रस्तुतेऽपि यशःकीर्तिनाम्नः संख्यातगुणहीनमेव ज्येष्ठप्रदेशं बध्नाति । तृतीयमपवादं दर्शयति "इयरबंधो" अत्र 'इतर' नाम अनन्तरोक्तहास्यचतुष्कभिन्नानां शोकाऽरतिरूपयुगलं मध्यमाष्टकषायाश्च तेषां ज्येष्ठप्रदेशं बध्नन्नाहारकद्विकं न बध्नाति प्रकृतिबन्धविरोधात्, एवं प्रत्याख्यानावरणकषायचतुष्कस्य ज्येष्ठप्रदेशं बध्नन् पञ्चमगुणस्थान एव भावाद् मनुष्यपञ्चकं नैव बध्नाति, अत एव देवद्विकवैक्रियद्विकयोः स नियमाद्बन्धको भवति, प्रदेशबन्धं तु तद्वदुत्कृष्टमनुत्कृष्टं वा, तथा स प्रत्याख्यानावरणचतुष्कज्येष्ठप्रदेशबन्धको जिननाम्नो यदि बन्धं विदधाति तदा तस्य ज्येष्ठमेव प्रदेशं विदधाति, न पुनः संख्यातभागहीनम्, यतः प्रस्तुतबन्धकस्य द्वे बन्धस्थाने भवतः, अष्टाविंशतिरेकोनत्रिंशच्च तत एकोनत्रिंशद्बध्नत एव तस्य जिननाम्नो ज्येष्ठप्रदेशबन्धभावात् ततोऽधिकप्रकृत्यात्म-

कवन्धस्थानस्यासंभवाच्च ज्येष्ठमिति । हेत्वादिविशेषभावना तु सुगमा ततोऽवधार्या स्वयमेव न पुनर्वितन्यते ॥७६९-७७१॥

अथ नरकायुष्कप्रधानं प्रस्तुतसन्निकर्षं प्रकटयन्नाह—

णिरयाउजेट्ठबंधी चउसंजलणाण सखगुणहीणं । णियमा संखंसूणं सेसणिरयजोग्गसत्तसट्ठीए ।
॥७७२॥ ॥गीति॥

(प्रे०) "णिरयाउ" इत्यादि, आयुषो बन्धं कुर्वन् केषामप्यायुष्कर्मव्यतिरिक्तकर्मणां ज्येष्ठ-प्रदेशबन्धं करोति । अत्र नरकायुषो ज्येष्ठप्रदेशबन्धं कुर्वन् संज्वलनचतुष्कस्य नियमात् संख्यात-गुणहीनं प्रदेशबन्धं करोति, अत्र संज्वलनचतुष्कस्य संख्यातगुणन्यूनं कथितं तत्र क्रोधमानयो-र्यथासंभवमर्धादिभागप्रमाणस्यापि संख्यातगुणन्यूनत्वं विवक्षितम् । शेषाणां नरकगतिप्रायो-ग्याणां सप्तषष्टेः स नियमात् संख्यातभागहीनं ज्येष्ठप्रदेशं बध्नाति, प्रतिपक्षप्रकृतीनां बन्धाभा-भावान्नियमाद्बध्नाति, आयुषो बध्यमानत्वात् संख्यातभागहीनमिति । शेषप्रकृतयः पुनरिमाः—ज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरणनवकाद्वादशकषायशोकारतिनपुंसकवेदभयजुगुप्सामिथ्यात्वासात-वेदनीयनीचैर्गोत्रनरकद्विकपञ्चेन्द्रियजातिवैक्रियद्विकतैजसकार्मणहुण्डकसंस्थानकुखगतिवर्णचतुष्का-गुरुलघूपघातनिर्माणपराघातोच्छ्वासत्रसचतुष्कास्थिरषट्कान्तरायपञ्चकानीति सप्तषष्टिः ॥७७२॥

एतर्हि तिर्यगायुष्कप्रधानं प्रस्तुतसन्निकर्षं निदर्शयन्नाह—

तिरियाउस्स पएसगुरुं कुणतो उ बन्धए णियमा । संजलणाणं संखियगुणहीणं पुमजसाण सिआ ॥
णियमाऽण्णाधुवतिरियदुगउरालणीआण संखभागूणं । बधेइ सिआऽण्णेसिं तिरिजोग्गाणेगवण्णाए ॥
॥७७३-७७४॥

(प्रे०) 'तिरियाउस्स' इत्यादि, तिर्यगायुषो ज्येष्ठप्रदेशं बध्नन् सप्तचत्वारिंशद्ध्रुवबन्धि-प्रकृतीस्तथा तिर्यग्द्विकौदारिकशरीरनीचैर्गोत्ररूपा एकपञ्चाशत्प्रकृतीः स नियमाद्बध्नाति तत्र संज्वलनचतुष्कस्य संख्यातगुणहीनम्, भावना तु तस्य नरकायुर्वद्विज्ञेया, शेषाणां त्रिचत्वारिं-शद्ध्रुवबन्धिप्रकृतीनां तथा तिर्यग्द्विकादीनां चतुर्णां संख्येयभागहीनं ज्येष्ठप्रदेशबन्धं करोति । तथा पुरुषवेदस्य यशःकीर्तिनाम्नश्च स्यात् संख्यातगुणहीनज्येष्ठप्रदेशबन्धं करोति, एतयोर्ज्येष्ठप्रदेश-बन्धस्य श्रेणावेव भावाच्छेषभावना तु सुगमा । तथा शेषाणां तिर्यक्प्रायोग्याणामेकपञ्चाशत्प्रकृ-तीनां स स्याद्बन्धको भवति, प्रतिपक्षप्रकृतीनां बन्धसम्भवात् स्याद्बन्धं, प्रदेशबन्धं तु तासां संख्यातभागहीनं करोति, भावना तु सुगमा । शेषप्रकृतयः पुनर्नामत इमाः—सातासातवेदनीय-वेदद्वयहास्यादियुगलद्वयजातिपञ्चकौदारिकाङ्गोपाङ्गसंहननषट्कसंस्थानषट्कखगतिद्वयपराघातोच्छ्-वासातपोद्योतनामयशःकीर्तिवर्जत्रसनवकस्थावरदशकलक्षणा एकपञ्चाशत् ॥७७३-७७४॥

अथ मनुष्यायुष्कप्रधानं प्रस्तुतसन्निकर्षं प्ररूपयन्नाह—

वंधंतो उ पएसं गुरुं णराउस्स वंधए णियमा। संजलणाणं सखियगुणहीणं पुमजसाण सिआ ॥७७५॥
पणतीसधुवपणिंदियपत्तेअउरालणरतसदुगाणं । णियमा संखसूणं सिआऽडचत्तणरजोग्गाणं ॥७७६॥

(प्रे०) "बधन्तो" इत्यादि, मनुष्यायुषो ज्येष्ठप्रदेशं बध्नन् संज्वलनचतुष्कस्य नियमात् संख्यातगुणहीनज्येष्ठप्रदेशं बध्नाति। पुरुषवेदयशःकीर्तिनाम्नोः स्यात् संख्यातगुणहीनज्येष्ठप्रदेशं बध्नाति, भावना प्राग्वत्कार्या। तथा स्त्यानद्ध्र्यष्टक-संज्वलनचतुष्कवर्जानां पञ्चत्रिंशद्ध्रुवबन्धिप्रकृतीनां पञ्चेन्द्रियजातिनामौदारिकशरीरौदारिकाङ्गोपाङ्गत्रस-बादर-प्रत्येकनाममनुष्यद्विकरूपाणां त्रिचत्वारिंशत्प्रकृतीनां स नियमाद्बन्धको भवति, प्रदेशबन्धं तु तासां संख्यातभागहीनं करोति हेत्वादिभावना तु सुगमा। उक्तशेषाणां मनुष्यप्रायोग्याणामष्टचत्वारिंशत्प्रकृतीनां स स्याद्बन्धको भवति, प्रदेशाग्रं तु संख्यातभागहीनं बध्नाति, तत्र प्रतिपक्षप्रकृतीनां बन्धसंभवात् स्याद्बन्धः। शेषप्रकृतयः पुनरिमाः—स्त्यानर्द्धित्रिकानन्तानुबन्धिचतुष्कमिथ्यात्ववेदद्वयहास्यादियुगलद्वयसातासातवेदनीयद्वयगोत्रद्वयसंहननषट्कसंस्थानषट्कखगतिद्वयपराघातोच्छ्वासजिननामपर्याप्तनामाऽपर्याप्तनामस्थिरपञ्चकास्थिरषट्कलक्षणा अष्टचत्वारिंशत् ॥७७५-७७६॥

अथ देवायुष्कप्रधानं प्रस्तुतसन्निकर्षं प्ररूपयन्नाह—

वंधंतो य पएसं गुरुं सुराउस्स वधए णियमा। चउसजलणजसाणं संखगुणूणं पुमस्स सिआ ॥
थीणद्धितिगदुवालसकसायमिच्छत्तथीजिणाण तहा। आहारदुगस्स सिआ वधइ सखेज्जभागूणं ॥
सेसाण असायारइसोगअथिरअसुहअजसवज्जाणं। णियमा संखंसूणं सुरजोग्गाण गुणवण्णाए ॥
॥७७७-७७९॥

(प्रे०) "वंधंतो" इत्यादि, देवायुषो ज्येष्ठप्रदेशबन्धं कुर्वन् संज्वलनचतुष्कस्य यशःकीर्तिनाम्नश्च नियमाद्बन्धं करोति प्रदेशबन्धं तु तासां पञ्चानामपि संख्यातगुणहीनं स करोति, तत्र संज्वलनचतुष्कस्य नियमाद्बन्धं तु ध्रुवबन्धित्वाद्, यशःकीर्तिनाम्नो नियमाद्बन्धं तु देवायुर्बन्धेन सह शोकारतिमोहनीयासातवेदनीयास्थिराशुभायशःकीर्तिरूपाणां षण्णां बन्धाभावात्। तथा पुरुषवेदस्य स स्याद्बन्धको भवति स्त्रीवेदस्यापि बन्धसंभवात्, प्रदेशबन्धं तु तस्य संख्यातगुणोनम्, तच्च सुगमम्। तथा स्त्यानर्द्धित्रिकाद्यद्वादशकषायमिथ्यात्वस्त्रीवेदजिननामाहारकद्विकलक्षणां विंशतिं स स्याद्बध्नाति, प्रथम-चतुर्थ-पञ्चम-षष्ठ-सप्तमगुणस्थाने देवायुषो ज्येष्ठप्रदेशबन्धभावात्, प्रदेशबन्धमधिकृत्य ताः संख्यातभागहीनाः स बध्नाति। असातादिषट्प्रकृतीनां देवगतिनाम्ना सह बन्धस्य भावेऽपि देवायुषा सह तासामबध्यमानत्वात्ता वर्जशेषा या देवगतिप्रायोग्या एकोनपञ्चाशत्प्रकृतयस्तासां स नियमतो बन्धको भवति, प्रदेशबन्धमपि तासां स संख्यातभागहीनं विदधाति, प्रतिपक्षप्रकृतीनामबन्धाद्ध्रुवबन्धित्वाद्वा नियमाद्बन्धः, संख्यातभागहीनं त्वायुषो बध्यमानत्वात्, शेषभावना तु स्वयं विधेया। शेषप्रकृतयो नामतः

पुनरिमाः—ज्ञानावरणपञ्चक-दर्शनावरणषट्क-भय-जुगुप्सा-हास्य-रति-सातवेदनीयोच्चैर्गोत्र-देवद्विक-पञ्चेन्द्रियजाति-वैक्रियद्विक-तैजस-कार्मणशरीर-समचतुरस्र-सुखगति-वर्णचतुष्का-गुरुलघु-पराघात-निर्माण-पराघातोच्छ्वास-त्रसचतुष्क-स्थिरपञ्चकान्तरायपञ्चकानीति नवचत्वारिंशत् ॥७७७-७७९॥

अथ ओघतो नामकर्मप्रकृतीनां प्रत्येकं प्रधानीकृत्य प्रस्तुतं परस्थानज्येष्ठप्रदेशबन्धसन्निकर्षं प्ररूपयन्नरकगत्यादिचतसृणां प्रकृतीनां प्रधानीकृत्य प्राह—

एगस्स गुरुपएसं बंधंतो णिरयदुगकुखगइसरा । बंधेइ गुरुगसं णियमा सेसाण तिण्ह तहा ॥
थीणद्धितिगअसायऽणमिच्छणपुमविउव्वजुगलणीआणं । थीणद्धियव्व णिद्दादुगनारकसायभयजुगुञ्छाणं ॥
सोगारईण णियमाऽणंतसूणं तु सखसागूणं । णियमा सेसाण णिरयपाउग्गाणं छत्तीसाए ॥७८०-७८२॥
(द्वितीया गीतिः)

(प्रे०) "एगस्स" इत्यादि, नरकगति-नरकानुपूर्वीकुखगतिदुःस्वररूपाश्चतस्रः प्रकृतयः, नरकप्रायोग्यां नाम्नोऽष्टाविंशतिं बध्नता ज्येष्ठप्रदेशबन्धाः क्रियन्ते, आसां चतसृणां त्रयोदिशत्यादौ बन्धानर्हत्वादष्टाविंशतिबन्धस्थाने युगपदेव ज्येष्ठप्रदेशबन्धः, अत एकस्या ज्येष्ठप्रदेशं बध्नन् शेषत्रयाणां स नियमाद्बन्धको भवति प्रदेशबन्धमपि तासामुत्कृष्टमेव करोति । तथा स्त्यानर्द्धित्रिकासातवेदनीयानन्तानुबन्धिचतुष्कमिथ्यात्वनपुंसकवेदनीचैर्गोत्रवैक्रियद्विकरूपाणां त्रयोदशप्रकृतीनां स नियमाज्ज्येष्ठप्रदेशबन्धं च करोति, प्रस्तुतबन्धकस्याष्टाविंशतेरेव बन्धकत्वाद् वैक्रियद्विकस्य ज्येष्ठप्रदेशबन्धकत्वम्, शेषाणां स्त्यानर्द्धित्रिकाद्येकादशानां प्रथमगुणस्थाने नानाविधबन्धस्थानाभावाज्ज्येष्ठप्रदेशबन्धः, नरकगतिप्रायोग्यं बध्नता नपुंसकवेदनीचैर्गोत्रासातवेदनीयानामपि प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धानर्हत्वान्नियमेन बन्धो भवति, विशेषभावना तु सुगमा । तथा निद्राद्विकाद्यवर्जद्वादशकषायभयजुगुप्सालक्षणानां षोडशप्रकृतीनां प्रस्तुतसन्निकर्षो यथा स्त्यानर्द्धित्रिकप्रधानसन्निकर्षे दर्शितस्तथा द्रष्टव्यस्तद्यथा—षोडशानामपि नियमतो बन्धस्तथा ज्वलनचतुष्कस्य संख्यातगुणोनं बध्नाति, मध्यमकषायाष्टकनिद्राद्विकभयजुगुप्सारूपद्वादशप्रकृतीनां सोऽनन्तभागहीनज्येष्ठप्रदेशबन्धं करोति, भावना तु तद्वद्विधेया । तथा शोकारत्योर्नरकगत्यादिज्येष्ठप्रदेशबन्धको नियमादनन्तभागहीनं ज्येष्ठप्रदेशबन्धं करोति । शेषा नरकगतिप्रायोग्याः षट्त्रिंशत्प्रकृतीः स नियमाद्बध्नाति प्रदेशबन्धं तु तासां संख्यातभागहीनं करोति नामेतरप्रकृतीनां षड्विधबन्धकस्यैव ज्येष्ठप्रदेशबन्धलाभात्, नामकर्मसत्कबन्धार्हप्रकृतीनां त्रयोविंशत्यादौ न्यूनप्रकृत्यात्मके बन्धस्थाने ज्येष्ठप्रदेशबन्धभावाच्च । प्रतिपक्षप्रकृतीनां बन्धाभावान्नियमाद्बन्ध इति । शेषप्रकृतयः पुनरिमाः—ज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरणचतुष्कान्तरायपञ्चकपञ्चेन्द्रियजातिनामध्रुवबन्धिनी-हुण्डकसंस्थानपराघातोच्छ्वासत्रसचतुष्का-स्थिराऽशुभदुर्भगाऽनादेयाऽयशःकीर्तिनामानीति ॥७८०-७८२॥

एतर्हि देवगत्यादिप्रकृतीनां प्रधानीकृत्य प्रस्तुतसन्निकर्षं प्रकटयन्नाह—

जेट्ठं सुरदुगसुखगइसुहागिइसुहगतिगाण बंधंतो । णामाण सठाणव्व असायव्व कुणेइ सेसाणं ॥
णवरि सिआ खलु णिद्दादुगस्स बंधइ दुवेअणीआणं । णिद्दव्वुच्चस्स कुणइ णियमा णो णपुंसणीआणि ॥
॥७८३-७८४॥

(प्रे०) "जेट्ठं" इत्यादि, देवद्विक-समचतुरस्र-सुखगतिसुभगत्रिकरूपाणां सप्तानां नामप्रकृतीनां ज्येष्ठप्रदेशबन्धको देवप्रायोग्यामष्टाविंशतिं बध्नन् भवति, तस्य स्वामी तु प्रथमचतुर्थपञ्चमषष्ठसप्तमाष्टमगुणस्थानस्य षष्ठांशं यावद्वर्तमानो भवति । तत्र सप्तमाष्टमगुणस्थानके त्रिंशतं बध्नतोऽपि ज्येष्ठप्रदेशबन्धो भवति । अत्र बन्धार्हनामप्रकृतीनां सन्निकर्षः स्वस्थानसन्निकर्षे यथा दर्शितस्तथा द्रष्टव्यः, नामेतरप्रकृतीनां तु यथाऽसातवेदनीयप्रधानसन्निकर्षे निरूपितस्तथा वक्तव्यः, केवलमयं विशेषः—तत्र निद्राद्विकस्य नियमाद्बन्धकः षष्ठगुणस्थानं यावत्तज्ज्येष्ठप्रदेशबन्धभावादत्र तु तस्य स्याद्बन्धो भवति, अष्टमगुणस्थानकस्य द्वितीयभागात् षष्ठभागान्तं यावद्वर्तमानस्य तद्बन्धाभावात्, तथा वेदनीयद्वयस्य तु प्रस्तुतसन्निकर्षो निद्राद्विकप्रधानसन्निकर्षवद्वक्तव्यस्तद्यथा—सातवेदनीयस्य स्यात् संख्यातभागहीनमसातवेदनीयस्य स्याज्ज्येष्ठप्रदेशं च बध्नाति । देवप्रायोग्यं बध्नतोच्चैर्गोत्रस्यैव नियमतो बन्धभावात् तस्य बन्धो नियमाद्वक्तव्यस्तथा प्रस्तुतबन्धको नीचैर्गोत्रस्य नपुंसकवेदस्य च बन्धं न विदधातीति । शेषं सर्वमतिदेशानुसारेण भावनीयम् ॥७८३-७८४॥

अथ वैक्रियद्विकं प्रधानीकृत्य प्रस्तुतसन्निकर्षं प्राह—

विउव्वदुगजेट्ठबंधी णामाण बंधए सठाणव्व । सेसाण असायव्व उ णवरि दुणिद्दाण कुणइ सिआ ॥७८५॥

(प्रे०) "विउवे"त्यादि, वैक्रियद्विकस्य ज्येष्ठप्रदेशबन्धं कुर्वतो बन्धार्हनामप्रकृतीनां सन्निकर्षः स्वस्थानसन्निकर्षवद्विज्ञेयः, शेषाणां बन्धप्रायोग्यकर्मणां सन्निकर्षोऽसातवेदनीयप्रधानसन्निकर्षे यथा निरूपितस्तथा द्रष्टव्यो भावनाऽपि तद्वद्विधेया, केवलमसातवेदनीयप्रधानसन्निकर्षे निद्राद्विकस्य नियमाद्बन्धको भवति, प्रस्तुते तु तस्य स्याद्बन्धो ज्ञातव्य इति । अत्र वेदनीयद्वयस्य सन्निकर्षो निद्राद्विकप्रधानसन्निकर्षे यथा दर्शितस्तथा ज्ञातव्यः, स च सुगमत्वान्न दर्शितः ॥७८५॥ अथाऽऽहारकद्विकप्रधानं प्रस्तुतसन्निकर्षं प्ररूपयन्नाह—

णामाणाहारगदुगबंधी सट्ठाणगव्व सेसाणं । हस्सव्व णवरि णियमा सायस्स असायअडकसाया णो ॥
॥७८६॥ (गीतिः)

(प्रे०) "णामाणे"त्यादि, आहारकद्विकस्य ज्येष्ठप्रदेशबन्धं कुर्वतो बन्धार्हनामप्रकृतीनां सन्निकर्षः स्वस्थानसन्निकर्षवद्विज्ञेयः, शेषाणां हास्यप्रधानसन्निकर्षवद्विभावनीयः, केवलं सातवेदनीयस्य प्रस्तुते नियमाद्बन्धको भवति सप्तमादिगुणस्थानगतत्वात् प्रस्तुतबन्धकस्य, अत एव च मध्यमकषायाष्टकमसातवेदनीयञ्च नैव बध्नातीत्यपवादद्वयम् । शोकारती तु नैव बध्नातीति सुगमः, गाथार्थो भावार्थश्च सुगमः ॥७८६॥

एतर्हि वज्रर्षभनाराचसंहननप्रधानं प्रस्तुतसन्निकर्षं प्ररूपयन्नाह—

वइरस्स जेट्ठबंधी णिद्दव्व कुणइ दुवेअणीआण । तइअकसायाण कुणइ णियमाउ अणंतभागूणं ॥ ॥
दुइअकसायाण कुणइ णियमा गुरुमुअ अणंतभागूणं । णामाण सठाणव्व उ कुणइ असायव्व सेसाणं ॥
॥७८७-७८८॥

(प्रे०) "वइरस्से"त्यादि, वज्रर्षभनाराचसंहननस्य ज्येष्ठप्रदेशबन्धं कुर्वन् सातासातविषयकसन्निकर्षो निद्राद्विकप्रधाने सन्निकर्षे यथा दर्शितस्तथा द्रष्टव्यस्तद्यथा-स सातवेदनीयस्य स्यात् संख्यातभागहीनज्येष्ठप्रदेशबन्धं करोति, असातवेदनीयस्य स्याज्ज्येष्ठप्रदेशबन्धं करोति भावना तु तद्वद्विधेया । तथा प्रत्याख्यानावरणकषायचतुष्कस्य स नियमाद्बन्धको भवति प्रदेशबन्धं तु तस्यानन्तभागन्यूनं करोति, तज्ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्य पञ्चमगुणस्थान एव भावात्तत्र च संहनननाम्नो बन्धाभावात् । अप्रत्याख्यानावरणकषायचतुष्कस्य स नियमाद्बन्धं विदधाति,प्रदेशबन्धं तु यदि प्रस्तुतप्रकृतेर्ज्येष्ठप्रदेशं चतुर्थगुणस्थाने देवो नैरयिको वा बध्नाति तर्हि तस्य ज्येष्ठप्रदेशबन्धं निर्वर्तयति, यदि पुनः प्रथमगुणस्थानवर्ती बध्नाति तर्हि स अप्रत्याख्यानावरणचतुष्कस्यानन्तभागहीनज्येष्ठप्रदेशबन्धं करोति, भावना तु सुगमा । नामप्रकृतीनां तु सन्निकर्षः प्रस्तुतप्रकृत्या सह यथा स्वस्थाने दर्शितस्तथैव द्रष्टव्यः, उक्तशेषाणां ज्ञानावरणादीनामेकोनचत्वारिंशत्प्रकृतीनां वज्रर्षभनाराचसंहननज्येष्ठप्रदेशबन्धेन सह प्रस्तुतसन्निकर्षोऽसातवेदनीयप्रधानसन्निकर्षे यथा निरूपितस्तथा द्रष्टव्यः । शेषप्रकृतीनां तत्तुल्यसन्निकर्षस्यैव प्रस्तुतेऽपि लाभात् । हेत्वादयस्तु सुगमप्रायाः, शेषप्रकृतयः पुनरिमाः—ज्ञानावरणपञ्चकं दर्शनावरणनवकं मोहनीयस्य मध्यमकषायाष्टकं विहाय शेषा अष्टादश गोत्रद्वयमन्तरायपञ्चकञ्चेति ॥७८७-७८८॥

अधुना मध्यमसंहननचतुष्कमध्यमसंस्थानचतुष्कलक्षणाष्टप्रकृतीनां प्रत्येकं प्रधानीकृत्य प्रस्तुतं सन्निकर्षं निगदन्नाह—

मज्झिमसंघयणागिइगुरुबंधी बंधए सठाणव्व । णामाणं सेसाणं थीणद्धितिगव्व बंधेइ ॥७८९॥

(प्रे०) "मज्झिमे"त्यादि, चतुर्णां मध्यमसंहनानां चतुर्णां मध्यमसंस्थानानां च प्रत्येकं ज्येष्ठप्रदेशबन्धं कुर्वन् शेषाणां तेन सह बन्धार्हाणां नामकर्मणां सन्निकर्षः स्वस्थानसन्निकर्षे यथा दर्शितस्तथाऽत्रापि द्रष्टव्यः । नामेतरप्रकृतीनां तु स्त्यानर्द्धित्रिकप्रधानसन्निकर्षे यथा निरूपितस्तथा वक्तव्यः, उभयत्र बन्धार्हप्रकृतीनां तज्ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्वामिनां च तुल्यत्वात् ॥७८९॥

अथ जिननामकर्मणः प्रस्तुतसन्निकर्षं प्ररूपयन्नाह—

तित्थस्स बंधमाणो गुरु सठाणव्व कुणइ णामाणं । दोण्हं जुगलाण सिआ जेट्ठं हस्सव्व सेसाणं ॥७९०॥

(प्रे०) "तित्थस्से"त्यादि, जिननामकर्मणो गुरुप्रदेशबन्धं कुर्वन् तेन सह बध्यमान नामप्रकृतीनां सन्निकर्षः स्वस्थानसन्निकर्षवज्ज्ञातव्यः, हास्यादियुगलद्वयं स्याद्बध्नाति यदि

बध्नाति तर्हि प्रदेशबन्धं तस्य ज्येष्ठं करोति, शेषाणां ज्ञानावरणादिचतुस्त्रिंशत्प्रकृतीनां प्रस्तुतसन्निकर्षो यथा हास्यमोहनीयप्रधानसन्निकर्षे प्राप्यते तथाऽत्रापि ज्ञातव्यः, उभयत्र सम्यग्दृष्टीनां चतुर्थाद्यष्टमगुणस्थानकवर्तिनां तज्ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्वामित्वात् । हेत्वादिभावना तु सुगमा स्वयं विधेयेति ।।७९०।।

एवमष्टाविंशतावेकोनत्रिंशति त्रिंशद्बन्धस्थाने च ज्येष्ठप्रदेशबन्धानां पञ्चविंशतेर्नाम्नां यशःकीर्तिनाम्नश्च सन्निकर्षं प्रदर्श्य सम्प्रति त्रयोविंशतौ ज्येष्ठप्रदेशबन्धानां पञ्चविंशतेः प्रकृतीनां पञ्चविंशतिबन्धस्थाने ज्येष्ठप्रदेशबन्धानां पराघातोच्छ्वासपर्याप्तस्थिरशुभद्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियपञ्चेन्द्रियजातिनामौदारिकाङ्गोपाङ्गसेवार्तसंहनन-त्रसनाम-मनुष्यद्विकरूपाणां चतुर्दशप्रकृतीनां तथा षड्विंशतिबन्धस्थाने ज्येष्ठप्रदेशबन्धयोरातपोद्योतयोरेवं समुदितयोरेकचत्वारिंशत्प्रकृतीनां प्रत्येकं प्रधानीकृत्य प्रस्तुतसन्निकर्षं निरूपयन्नाह—

णामाण सठाणव्वऽण्णजेट्ठबंधी णपुंसणीआणं । णियमा गुरु ण उच्चदुवेआ थीणद्धियव्व सेसाण ॥
॥७९१॥ (गीतिः)

(प्रे०) "णामाणे"त्यादि, उक्तेतरनामप्रकृतीनां ज्येष्ठप्रदेशं बध्नन् तैः सह बन्धार्हाणां नामप्रकृतीनां सन्निकर्षो यथा स्वस्थानसन्निकर्षे दर्शितस्तथा द्रष्टव्यः । नामेतरप्रकृतिभ्यो नपुंसकवेदनीचैर्गोत्रयोः स नियमादुत्कृष्टप्रदेशबन्धं करोति प्रस्तुतप्रकृतीनां ज्येष्ठप्रदेशबन्धकस्यैकेन्द्रियप्रायोग्यस्यापर्याप्तप्रायोग्यस्य वा बन्धकत्वान्नपुंसकवेदनीचैर्गोत्रयोर्नियमाद्बन्धो ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्तु सुगमः । अत एव स्त्रीवेदपुरुषवेदयोरुच्चैर्गोत्रस्य च स बन्धमेव न करोति । उक्तशेषाणां ज्ञानावरणादिचतुश्चत्वारिंशत्प्रकृतीनां प्रस्तुतसन्निकर्षो यथा स्त्यानर्द्धित्रिकप्रधानसन्निकर्षे निरूपितस्तथा प्रस्तुतेऽपि दर्शनीयः, उभयत्र ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्वामिनां तुल्यत्वात् भावनादयस्तु सुगमाः ।।७९१।। गत ओघतो विंशत्युत्तरशतप्रकृतीनां परस्थानज्येष्ठप्रदेशबन्धसन्निकर्षः ।

साम्प्रतं मार्गणासु तं विविवरिषुः प्रथमं यासु मार्गणास्वोघवत्परस्थानज्येष्ठप्रदेशबन्धसन्निकर्षः प्राप्यते तासु तमोघवदतिदिशन्नाह—

ओघव्व दुपर्चिदियतसपणमणवयणकायलोहेसुं । चक्खुअचक्खूसु तहा भविये सण्णिम्मि आहारे ॥७९२॥

(प्रे०) "ओघव्वे"त्यादि, पञ्चेन्द्रियौघपर्याप्तपञ्चेन्द्रियत्रसकायौघपर्याप्तत्रसकाय-मनोयोगसामान्यसत्यादिमनोयोगचतुष्कवचनयोगौघ--सत्यादिवचनयोगचतुष्क--काययोगौघलोभकषाय--चक्षुर्दर्शनाऽचक्षुर्दर्शनभव्यसंज्ञिमार्गणाऽऽहारकमार्गणालक्षणास्वेकविंशतिमार्गणासु सर्वासां प्रस्तुतसन्निकर्ष ओघवद्भवति प्रथमचतुर्थादिदशमान्तगुणस्थानानां चातुर्गतिकजीवानामोघवन्नानाबन्धस्थानानां च प्रस्तुतसर्वमार्गणासु प्राप्यमाणत्वात् । सर्वाऽपि भावनौघवद्विधेया ।।७९२।।

एतर्हि नरकौघादिदशमार्गणासु प्रस्तुतसन्निकर्षं निरूपयन्नाह—

णिरयपढमाइतिणिरयाइआइअट्ठमतदेवेसु । एगस्स जेट्ठबंधी पणणाणावरणविग्घाओ ॥
सेसणवगस्स णियमा गुरुं सिआ थीणगिद्धितिगऽणाणं । मिच्छत्तवेअणीअदुवेअजिणुज्जोअगोआणं ॥
पुमदुजुगलाण बंधइ सिआ गुरुमहव अणंतभागूणं । णियमा कुणइ छदंसणबारकसायभयकुच्छाणं ॥
पणिंदियउरलदुगधुवपरघाऊसासतसचउक्काण । बंधइ णियमा जेट्ठं अहवा संखेज्जभागूणं ॥
गुरुमुअ सखमूण सिआऽवराण सेसवीसाए । सायअसायाणेव णवरं बंधइ ण पडिवक्खं ॥
एगस्स जेट्ठबंधी थीणद्धितिगाणचउगमिच्छाओ । जेट्ठं णियमाऽण्णेसिं तह णाणावरणविग्घाणं ॥
छदंसणावरणाणं दुवालसकसायभयजुगुच्छाण । बंधेइ पएसं खलु णियमा उ अणंतभागूणं ॥
साय-असायणपुमथीणरदुगउज्जोअउच्चणीआण । जेट्ठं सिआ कुणइ पुमजुगलाण अणंतभागूणं ॥
पंचिंदियउरलदुगधुवपरघाऊसासतसचउक्काणं । बंधइ णियमा जेट्ठं अहवा संखेज्जभागूणं ॥
गुरुमुअ सखंसूण सिआ उ जिणवज्जअट्ठवीसाए । एवं अत्थि णपुमथीणीआण परं ण पडिवक्खं ॥
छदंसणावरणपुरिमदुवालसकसायभयजुगुच्छाओ । एगस्स गुरुपएसं बंधंतो बंधए णियमा ॥
सेसाण वीसाण तह णाणावरणउच्चविग्घाण । जेट्ठं बंधेइ सिआ दुवेअणीअजुगलजिणाणं ॥
तिथिराइगजुगलाण सिआ गुरुं अहव संखभागूणं । णियमाऽण्णछवीसाए णरजोग्गधुवसुहअधुवणामाणं ॥
(गीति.)

दोण्ह जुगलाण एव णवर बंधइ ण चेव पडिवक्खं । तिरियाउजेट्ठबंधी णियमा धुवतिरियुरालियदुगाणं ॥
(गीति.)

परघूसासतसचउगपणिंदिणीआण सखभागूणं । बंधेइ सिआऽण्णेसिं णरतिगजिणउच्चवज्जाणं ॥
मणुयाउगस्स जेट्ठं बंधेमाणो एगूणचत्ताए । धुवबंधीण पणिंदियणरुरलदुगतसचउक्काणं ॥
परघाऊसासाण णियमा बंधेइ संखभागूणं । बंधेइ सिआऽण्णेसिं तिरितिगउज्जोअवज्जाणं ॥
तिरिदुगउज्जोआण गुरुबंधी बंधए सठाणव्व । णामाण गुरुं णियमा णीअस्सियराण थीणगिद्धिव्व ॥
(गीतिः)

सघयणाणिगइयणगासुहखगइदुहगतिगाण गुरुबंधी । णामाण सठाणव्व उ थीणद्धितिगव्व सेसाणं ॥
तित्थस्स गुरुगस्स बंधतो बंधए सठाणव्व । णामाण दुतीसाए सेसऽडतीसाअ णिद्दव्व ॥
सेसाणं णामाण गुरुबंधी बंधए सठाणव्व । णामाण पयडीणं णाणावरणव्व सेसाणं ॥
उच्चस्स सण्णियासो णाणावरणव्व णवरि बंधइ णो । णीअतिरिदुगुज्जोआ णियमा बंधइ णरदुगस्स ॥
॥७९३-८१४॥

(प्रे०) "णिरये"त्यादि, द्वाविंशतिर्गाथाः, तत्र नरकौघे-रत्नप्रभा--शर्कराप्रभा-वालुका-प्रभालक्षणे नरकगतिभेदत्रये सनत्कुमारादिसहस्रारान्तदेवभेदषट्के चेति मार्गणादशके गुणस्थानक-चतुष्कं भवति तथा तिर्यग्प्रायोग्य एकोनत्रिंशत् त्रिंशदिति द्वे बन्धस्थाने, मनुष्यगतिप्रायोग्ये द्वे बन्धस्थाने एकोनत्रिंशत् त्रिंशच्च । अतश्चतुर्थादिनरकमार्गणा देवौघादिमार्गणाश्च न संगृहीताः । उक्तमार्गणादशके ज्ञानावरणपञ्चकान्तरायपञ्चकरूपदशप्रकृतिभ्य एकस्या ज्येष्ठप्रदेश-बन्धकः प्रथमे चतुर्थे वा गुणस्थाने भवति, ततः शेषनवप्रकृतीनां स नियमाज्ज्येष्ठप्रदेशबन्धं च करोति । स्त्यानर्द्धित्रिकानन्तानुबन्धिचतुष्कमिथ्यात्वसातासातवेदनीयस्त्रीनपुंसकवेदजिननामोद्योतनामोच्चैर्गोत्रनीचैर्गोत्रलक्षणानां षोडशप्रकृतीनां स स्याद्बन्धं ज्येष्ठप्रदेशबन्धं च करोति । पुरुष-वेदहास्यादियुगलद्वयसंज्ञकपञ्चप्रकृतीनां बन्धं स्यात् करोति, प्रदेशबन्धं तु चतुर्थगुणस्थाने वर्तमान

उत्कृष्टं प्रथमगुणस्थाने वर्तमानोऽनन्तभागहीनमुत्कृष्टं करोति। दर्शनावरणषट्काद्यवर्जद्वादशकषायभयजुगुप्सारूपाणां विंशतिप्रकृतीनां स नियमाद्बन्धको भवति, प्रदेशबन्धं तु ज्येष्ठमनन्तभागहीनं वा करोति । तथा पञ्चेन्द्रियजात्याद्यष्टादशनामप्रकृतीनां नियमाद्बन्धं विदधाति कासाञ्चिद्ध्रुवबन्धित्वात् कासाञ्चिन्मार्गणाप्रायोग्यध्रुवबन्धित्वाच्च, प्रदेशबन्धं त्वेकोनत्रिंशद्बन्धस्थानं बध्नन् ज्येष्ठं करोति, त्रिंशतं बध्नन् संख्यातभागहीनज्येष्ठप्रदेशं बध्नाति । उक्तशेषाणां तिर्यग्द्विक--मनुष्यद्विक--संहननषट्क--संस्थानषट्क--खगतिद्वयस्थिरषट्का-ऽस्थिरषट्कनामानीति त्रिंशत्प्रकृतीनां स स्याद्बन्धं विदधाति, सप्रतिपक्षत्वात् प्रदेशबन्धं तु ज्येष्ठं संख्यातभागहीनं वा करोति, बन्धस्थानद्वयसद्भावात् । सातासातवेदनीयद्वयस्य प्रत्येकं प्रधानीकृत्य प्रस्तुतसन्निकर्षो ज्ञानावरणस्यैकां प्रकृतिं प्रधानीकृत्य यथा दर्शितस्तथा द्रष्टव्यः, उभयत्र प्रथमे चतुर्थे वा गुणस्थाने तज्ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्य स्वामित्वात् , केवलं प्रतिपक्षप्रकृतिस्तु नैव बध्नाति ।

स्त्यानर्द्धित्रिकानन्तानुबन्धिचतुष्कमिथ्यात्वप्रकृतिभ्य एकस्या ज्येष्ठप्रदेशबन्धं कुर्वन तदितरासां सप्तानां तथा ज्ञानावरणपञ्चकस्यान्तरायपञ्चकस्य च नियमाद्बन्धं विदधाति, प्रदेशबन्धं च ज्येष्ठं विरचयति। दर्शनावरणषट्काद्यवर्जद्वादशकषायभयजुगुप्सानां ध्रुवबन्धित्वान्नियमाद्बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु तासामनन्तभागहीनम् , तज्ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्य चतुर्थगुणस्थान एव भावात् प्रकृतबन्धकस्य प्रथमगुणस्थानवर्तित्वात् ।सातासातवेदनीयनपुंसकस्त्रीवेदमनुष्यद्विकोद्योतोच्चैर्गोत्रनीचैर्गोत्राणां स स्याद्बन्धं करोति, सप्रतिपक्षत्वात् , प्रदेशबन्धं तु तासां ज्येष्ठमेव करोति, तत्र मनुष्यद्विकस्य मिथ्यादृष्टीनामेकोनत्रिंशद्बन्धस्थानस्यैव भावादुत्कृष्ट एव प्रदेशबन्धः । शेषं तु सुगमम् । पुरुषवेदस्य हास्यादियुगलद्वयस्य च स स्याद्बन्धं करोति सप्रतिपक्षत्वात् , प्रदेशबन्धं तु तासामुत्कृष्टतोऽनन्तभागहीनं करोति । पञ्चेन्द्रियजात्यादीनामष्टादशानां स नियमाद्बन्धको भवति प्रदेशबन्धं तु तासां स ज्येष्ठं संख्यातभागहीनं वा निर्वर्तयति । शेषाणामष्टविंशतेः स स्याद्बन्धको भवति, प्रदेशबन्धं तु तासामष्टाविंशतेर्ज्येष्ठं संख्यातभागहीनं वा करोति, जिननाम तु नैव बध्नाति । शेषा अष्टाविंशतिप्रकृतयस्तु तिर्यग्द्विकसंहननषट्कसंस्थानषट्कखगतिद्वयस्थिरषट्कास्थिरषट्कनामानीति । यथा स्त्यानर्द्धित्रिकादिप्रकृतीनां प्रधानीकृत्य सन्निकर्षो निरूपितस्तथा स्त्रीवेदनपुंसकवेदनीचैर्गोत्राणामपि सन्निकर्षो वक्तव्यः, केवलं प्रतिपक्षप्रकृतीस्तु नैव बध्नाति, उभयत्र मिथ्यादृष्टिजीवानामेव ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्वामित्वात् ।

अथ केवलसम्यग्दृष्टिप्रायोग्यज्येष्ठप्रदेशबन्धानां नामायुर्वर्जानां पञ्चविंशतिप्रकृतीनां प्रत्येकं प्रधानीकृत्य प्रस्तुतसन्निकर्षं सार्धगाथात्रयेण दर्शयन् षड्दर्शनावरणाद्येकविंशतेः साक्षाद् युगलद्वयस्यातिदेशद्वारेण दर्शयति—"छदरिसाणावरणे"त्यादि, स्त्यानर्द्धित्रिकवर्जषड्दर्शनावरणपुरुषवेदाद्यवर्जद्वादशकषायभयजुगुप्सारूपास्वेकविंशतिप्रकृतिष्वन्यतमस्या ज्येष्ठप्रदेशबन्धं

कुर्वन् शेषविंशतिं नियमाद्बध्नाति प्रदेशबन्धमपि तासां ज्येष्ठं करोति तथा ज्ञानावरणपञ्चकान्तरायपञ्चकोच्चैर्गोत्राणां च नियमाज्ज्येष्ठप्रदेशबन्धं च करोति, सातासातवेदनीयहास्यादियुगलद्वयजिननामरूपाणां सप्तानां स्याद्बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु तासामुत्कृष्टं विदधाति। अत्र जिननाम्नस्त्रिंशद्बन्धस्थान एव बन्धभावाज्ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्यैव सम्भवो, नानाविधबन्धस्थानाभावेन संख्यातभागहीनस्यालाभात् । स्थिरास्थिरशुभाशुभयशःकीर्तिनामायशःकीर्तिनामलक्षणानां षण्णां स्याद्बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु तासामुत्कृष्टं संख्यातभागहीनं वा करोति, तत्रैकोनत्रिंशद्बन्धक उत्कृष्टं त्रिंशद्बध्नन्ननुत्कृष्टं संख्यातभागहीनं निर्वर्तयति । उक्तशेषाणां नाम्नो नवध्रुवबन्धिप्रकृतीनां मनुष्यप्रायोग्याध्रुवशुभनामप्रकृतीनां च स नियमाद्बन्धकोभवति प्रदेशबन्धं तु तासामुत्कृष्टं संख्यातभागहीनं वा करोति। शेषप्रकृतयः पुनरिमाः—मनुष्यद्विक-पञ्चेन्द्रियजातिनामौदारिकद्विकतैजसकार्मणशरीरवज्रर्षभनाराचसंहननसमचतुरस्रसंस्थानसुखगतिवर्णचतुष्कागुरुलघूपघातनिर्माणपराघातोच्छ्वासत्रसचतुष्कसुभगत्रिकनामानीति षड्विंशतिः। यथा दर्शनावरणषट्कादिप्रकृतीनां प्रधानीकृत्य सन्निकर्षो भणितस्तथा हास्यादियुगलद्वयस्य प्रत्येकं प्रधानीकृत्य सन्निकर्षो भणनीयः, उभयत्र चतुर्थगुणस्थानवर्तिनामेव ज्येष्ठप्रदेशबन्धकत्वात् , केवलं प्रतिपक्षयुगलं नैव बध्नातीति।

"तिरियाउ"इत्यादि, तिर्यगायुषो ज्येष्ठप्रदेशबन्धं कुर्वन् मिथ्यादृष्टिरेव भवति तथा स आयुषो बन्धं कुर्वन् न तदितरस्याः कस्या अपि प्रकृतेर्ज्येष्ठप्रदेशबन्धकर्ता भवति, अपि तु संख्यातभागहीनमेव ज्येष्ठप्रदेशबन्धं स विदधाति, स्यान्नियतबन्धादिकं तु प्रकृतिबन्धसन्निकर्षवदेव प्राप्यते, तच्च सुगमः, गाथात एव गम्यमानत्वात् । एवं मनुष्यायुःप्रधानसन्निकर्षोऽपि, केवलं तस्य सम्यग्दृष्टिर्मिथ्यादृष्टिश्च स्वामी भवति, ततः प्रकृतिबन्धसन्निकर्षवत्स्यान्नियतबन्धादिकं तस्य ज्ञातव्यम् । तथा बन्धार्हाणां सर्वासामायुर्वर्जप्रकृतीनां संख्यातभागन्यूनज्येष्ठप्रदेशबन्धः प्राप्यत इति।

अथ यासां नामप्रकृतीनां केवलं मिथ्यादृष्टय एव ज्येष्ठप्रदेशबन्धकास्तासां प्रत्येकं प्रधानीकृत्य परस्थानज्येष्ठप्रदेशबन्धसन्निकर्षं गाथाद्वयेन निरूपयन्नाह—"तिरि" इत्यादि, तिर्यग्द्विकोद्योतनाम्नोरन्यतमस्य ज्येष्ठप्रदेशबन्धं कुर्वन् शेषबन्धार्हनामप्रकृतीनां सन्निकर्षः स्वस्थानवज्ज्ञातव्यः, नीचैर्गोत्रस्य स नियमाद्बन्धकः प्रदेशबन्धमपि तस्योत्कृष्टमेव, अत उच्चैर्गोत्रस्य स बन्धं नैव करोति, ज्ञानावरणादिशेषप्रकृतीनां प्रस्तुतसन्निकर्षो यथा स्त्यानर्द्धित्रिकप्रधानसन्निकर्षे दर्शितस्तथा द्रष्टव्यः। तथाऽऽद्यवर्जसंहननपञ्चकाद्यवर्जसंस्थानपञ्चककुखगतिदुर्भगत्रिकरूपाणां चतुर्दशानामन्यतमस्योत्कृष्टप्रदेशबन्धं कुर्वन् शेषनामप्रकृतीनां स्वस्थानवत् , नामेतरप्रकृतीनां स्त्यानर्द्धित्रिकप्रधानसन्निकर्षे यथा दर्शितस्तथा द्रष्टव्यः। तिर्यग्द्विकादिभ्य आसां पृथग्भणनं त्वत्र गोत्रद्वयस्याऽपि बन्धार्हत्वात् ।

अथ जिननामप्रधानं प्रस्तुतसन्निकर्षं निरूपयति–"**तित्थस्से**"त्यादि, जिननाम्नो ज्येष्ठप्रदेशबन्धं कुर्वन् तेन समं बन्धार्हाणां नामप्रकृतीनां सन्निकर्षः स्वस्थानसन्निकर्षवज्ज्ञातव्यो नामेतरप्रकृतीनां तु निद्राद्विकं प्रधानीकृत्य यथा प्राप्यते तथाऽत्रापि वक्तव्य उभयात्रापि सम्यग्दृष्टीनां स्वामित्वात् । उक्तेतरासां मनुष्यप्रायोग्याणां द्वात्रिंशत्प्रकृतीनामन्यतमस्या ज्येष्ठप्रदेशबन्धं कुर्वतस्तया सह बन्धार्हाणां नामप्रकृतीनां सन्निकर्षः स्वस्थानसन्निकर्षवज्ज्ञातव्यः, नामेतरासां बन्धार्हप्रकृतीनां ज्ञानावरणप्रधानसन्निकर्षे यथा दर्शितस्तथा द्रष्टव्यः, ज्ञानावरणवदत्राप्यासां मिथ्यादृष्टेः सम्यग्दृष्टेश्च ज्येष्ठप्रदेशबन्धार्हत्वात् । नाम्नः शेषा द्वात्रिंशत्प्रकृतयः पुनरिमाः–मनुष्यद्विकपञ्चेन्द्रियजातिनामौदारिकद्विकतैजसकार्मणशरीर–वज्रर्षभनाराचसंहनन–समचतुरस्रसंस्थानसुखगतिवर्णचतुष्कागुरुलघूपघातनिर्माणपराघातोच्छ्वासत्रसचतुष्कसुभगत्रिकस्थिरास्थिरशुभाशुभयशःकीर्तिनामायशःकीर्तिनामानीति । तथोच्चैर्गोत्रप्रकृतेर्ज्येष्ठप्रदेशबन्धं कुर्वतो ज्ञानावरणप्रकृतिवत् प्रस्तुतसन्निकर्षो ज्ञातव्यः, केवलं स तिर्यग्द्विकोद्योतनामनीचैर्गोत्राणां बन्धं न करोति, मनुष्यद्विकस्य बन्धं नियमतो विदधाति, प्रकृतिबन्धसन्निकर्षवत्तद् भावनीयम् । एवमेकोत्तरशतस्य प्रत्येकं प्रधानीकृत्य प्रस्तुतपरस्थानज्येष्ठप्रदेशबन्धसन्निकर्षो निरूपितः, शेषैकोनविंशतिप्रकृतयस्तु नरकौघादिदशमार्गणासु नैव बध्यन्तेऽतस्ता न भणिताः ॥७९३-९१४॥

अथ चतुर्थादित्रिनरकमार्गणासु सापवादं नरकौघवदति दिशन्नाह—

णिरयव्व सण्णियासो तिचउत्थाइणिरयेसु णवरं णो । तित्थस्स जहिं णरदुगं तहिं तस्स गुरुं च्च बंधेइ ॥
छदंसणावरणपुरिसदुवालसकसायहस्सछक्काणं । उच्चस्स य गुरुबंधी णामाण गुरुं च्च बंधेइ ॥
॥८१५-८१६॥

(प्रे०) "**णिरयव्वे**"त्यादि, चतुर्थादिनरकमार्गणात्रये बन्धार्हाणां शतप्रकृतीनां प्रत्येकं प्रधानीकृत्य प्रस्तुतसन्निकर्षो नरकौघमार्गणावद्भवति केवलं जिननाम्नस्तत्र बन्धाभावात्तत्प्रधानसन्निकर्षो न वक्तव्यस्तथा मनुष्यद्विकस्य याभिः सह बन्धस्तत्र तस्योत्कृष्ट एव प्रदेशबन्धः प्राप्यते, मनुष्यप्रायोग्यत्रिंशद्बन्धस्थानस्याभावात् , केवलमेकोनत्रिंशद्बन्धस्थान एव मनुष्यद्विकबन्धस्य लाभान्न प्रदेशबन्धे विकल्पद्वयं किन्तु केवलं ज्येष्ठप्रदेशबन्धमेवेति । एवं दर्शनावरणषट्कादीनां षड्विंशतेः प्रकृतीनां प्रधानसन्निकर्षे वध्यमानानां सर्वासां नामप्रकृतीनां ज्येष्ठ एव प्रदेशबन्धो भवति, शेषं तद्वद्विभावनीयम् ॥८१५॥ अथ सप्तमनरकमार्गणायां तन्निरूपयिषुराह—

एगस्स जेट्ठबंधी छदंसणावरणबारसकसाया । पुसभयकुच्छाणरदुगउच्चाओ तमतमाअ सिआ ॥
दुजुगलदुवेअणीअतिथिराइजुगलाण गुरुपएसं तु । णियमा धुवपुसधुवणरजोग्गऽण्णचउतीसाए ॥
एवं जुगलाण णवरि ण विरुद्धाऽण्णाण तुरिअणिरयव्व । णवरं थीणद्धितिगाणमिच्छथीणपुमणीअगुरुबंधी ॥
तह पणसवयणागिइदुहगतिगकुखगइजेट्ठबंधी य । तिरिदुगणीआण कुणइ णियमा णो णरदुगुच्चाणि ॥
(तृतीया गीतिः) ॥८१७-८२०॥

(प्रे०) "एगस्से"त्यादि, सप्तमनरके षड्दर्शनावरणा-ऽऽद्यवर्जद्वादशकषाय-पुरुषवेद-भय-जुगुप्सामनुष्यद्विकोच्चैर्गोत्ररूपाणां चतुर्विंशतिप्रकृतीनामन्यतमस्या ज्येष्ठप्रदेशबन्धं कुर्वन् शेषत्रयोविंशतिप्रकृतीनां नियमाद्बन्धं करोति, प्रदेशबन्धमपि तासामुत्कृष्टम्, हास्यादियुगलद्वयसातासातवेदनीयस्थिरशुभयशःकीर्तिनामास्थिराशुभायशःकीर्तिनामलक्षणानां द्वादशप्रकृतीनां सम्यग्दृष्टीनामपि सप्रतिपक्षत्वात्स्याद्बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तूत्कृष्टम्। ज्ञानावरणपञ्चकान्तरायपञ्चकनामनवध्रुवबन्धिनीपञ्चेन्द्रियजातिनामौदारिकद्विक-वज्रर्षभनाराचसंहनन--समचतुरस्रसंस्थान--सुखगतिपराघातोच्छ्वास-त्रसचतुष्क-सुभगत्रिकनामानीति चतुस्त्रिंशत्, तासां प्रकृतीनां नियमेन बन्धं करोति, प्रदेशबन्धमुत्कृष्टमेव करोति। यथा षड्दर्शनावरणादिचतुर्विंशतिप्रकृतीनां प्रत्येकं प्रधानीकृत्य सन्निकर्षो निरूपितस्तथा हास्यादियुगलद्वयस्यापि प्रस्तुतसन्निकर्षो निरूपणीयः, उभयत्रापि सम्यग्दृष्टिरेव तासामष्टाविंशतेर्ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्वामित्वात्। केवलं प्रधानीकृतेतरयुगलं नैव बध्नातीति विज्ञेयमेवं केवलसम्यग्दृष्टिज्येष्ठप्रदेशबन्धस्वामिकानां सन्निकर्षो निरूपितः। केवलमिथ्यादृष्टिज्येष्ठप्रदेशबन्धस्वामिकानां स्त्यानर्द्धित्रिकाष्टकनपुंसकवेदस्त्रीवेदनीचैर्गोत्रतिर्यक्त्रिकाऽऽद्यवर्जसंहननपञ्चकाऽऽद्यवर्जसंस्थानपञ्चककुखगतिदुर्भगत्रिकोद्योतनामलक्षणैकोनत्रिंशत्प्रकृतीनां तथा सम्यग्दृष्टिमिथ्यादृष्ट्युभयस्वामिकानां ज्ञानावरणपञ्चकान्तरायपञ्चकसातासातवेदनीयद्वयपञ्चेन्द्रियजातिनवनामध्रुवबन्ध्यौदारिकद्विक-वज्रर्षभनाराचसंहननसमचतुरस्रसंस्थानसुखगतिपराघातोच्छ्वासत्रसचतुष्कसुभगत्रिकस्थिरशुभयशःकीर्तिनामास्थिराऽशुभाऽयशःकीर्तिनामलक्षणद्वाचत्वारिंशत्प्रकृतीनां समुदितानामेकसप्ततेः प्रत्येकं प्रधानीकृत्य प्रस्तुतसन्निकर्षश्चतुर्थनरकमार्गणायां यथा प्राप्यते तथा विज्ञेयः। केवलमयमपवादस्तिर्यक्त्रिकोद्योतनामलक्षणप्रकृतिचतुष्कं विहाय शेषाः केवलं मिथ्यादृष्टिज्येष्ठप्रदेशबन्धप्रायोग्याः पञ्चविंशतिः प्रकृतयस्तासां प्रत्येकं प्रधानीकृत्य सन्निकर्षभणनावसरे मनुष्यद्विकोच्चैर्गोत्रयोर्बन्धं न करोति तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्रयोर्नियमाद्बन्धं विदधाति, सप्तमनरकमार्गणायां मिथ्यादृष्टिर्मनुष्यद्विकोच्चैर्गोत्रयोर्बन्धमेव न करोति, भावनादयस्तु सुगमाः ॥८१७-८२०॥

अथ तिर्यगोघ-त्रिपञ्चेन्द्रियतिर्यक्-मार्गणासु प्रस्तुतसन्निकर्षं प्ररूपयन्नाह—

एगस्स विग्घणाणावरणाउ तिरितिपणिंदितिरियेसु । गुरुबधी सेसाणं णवण्ह णियमा गुरुपएस ॥
थीणद्धितिगाणचउगमिच्छणपुमथीदुवेअणीआणं । वेउव्वियछक्कायवणीउच्चाणं सिआ जेट्ठं ॥
णियमा छदरिसणावरणंतिमऽडकसायभयजुगुच्छाणं । जेट्ठमणंतंसूणं व बंधइ सिआऽण्णमोहाणं ॥
धुवणामाण णवण्ह णियमा गुरुमहव सखभागूणं । बंधेइ सिआऽण्णेसिं णामाणं अट्ठचत्ताए ॥
सायसायाणेवं णवरि विरुद्ध ण सायबंधी उ । णिरयदुगं वि ण दुस्सरखगईणं संखभागूणं ॥
एगस्स जेट्ठबधी थीणद्धितिगाणचउगमिच्छाओ । णियमा सेसाण गुरुं णाणावरणव्व सेसाणं ॥
णवरि पएसं बंधइ छदंसणावरणदुजुगलाण तहा । बारसकसायपुमभयकुच्छाण अणंतभागूणं ॥
छदरिसणावरणपुरिसभयकुच्छेगस्स जेट्ठदलबंधी । णियमा अण्णेसिं तह णाणावरणुच्चविग्घाणं ॥

तह देवविउव्वदुगसुआगिइसुहगतिगसुखगईण गुरुं । सायअसायजुगलदुगदुइअकसायाण कुणइ सिआ॥
चरमऽट्ठकसायाणं णियमा गुरुमुअ अणंतभागूणं । बंधइ संखगूणं सिआ थिराइगतिजुगलाणं ॥
णियमा संखंसूणं सुरपाउग्गाण सेसणामाणं । एमेव दुजुगलाणं णवरं बंधइ ण पडिवक्खं ॥
सट्ठाणव्व दुवालसकसायजेट्ठपएसबंधी उ । मोहाणं पयडीणं बंधइ णिद्धव्व सेसाणं ॥
मोहाण सठाणव्व उ दुवेअबंधी अणव्व सेसाणं । णवरि ण णिसिद्धपयडी णामाणं संखभागूणं ॥
विण देवविउवदुगपणसवयणागिइसुखगइसुहगतिग । थीबंधी सुखगइआगिइसुहगतिगाण णपुमबंधी उ ॥
णिरयाउजेट्ठबंधी णियमा बंधेइ संखभागूणं । णारगपाउग्गाणं पयडीणं एगसयरीए ॥
तिरियाउजेट्ठबंधी तिरिदुगउरलधुवबंधिणीआणं । णियमा संखंसूणं सिआ उ सेसतिरिजोग्गाणं ॥
मणुयाउजेट्ठबंधी णरुरलतसदुगपणिंदिपत्तेआणं । धुवबंधीणं णियमा संखंसूणं सिआऽण्णणरजोग्गाणं ॥
थीणद्धितिगदुवेअऽडकसायमिच्छाण संखभागूणं । व सुराउजेट्ठबंधी णियमा सेससुरजोग्गाणं ॥
णामाण सठाणव्व उ णिरयदुगकुखगइकुसरगुरुबंधी । थीणद्धिव्व पएसं णियमाऽण्णतिचत्तणिरयजोग्गाणं ॥
एगस्स सुरदुगसुहागिइखगइसुहगतिगाण गुरुबंधी । णियमा बंधइ जेट्ठं णाणावरणुच्चविग्घाणं ॥
भयकुच्छाऽडकसायछवीआवरणाण बंधए णियमा । गुरुमुअऽणतसूणं दुइअकसायपुमदुजुगुलाण सिआ ॥
जेट्ठं थीणद्धियतिगसायअसायअणमिच्छइत्थीणं । बंधइ सिआ पएसं कुणइ सठाणव्व णामाणं ॥
एगस्स विउव्वदुगा गुरुबंधी बंधए सठाणव्व । णामाणं पयडीणं णाणावरणव्व सेसाणं ॥
पणसहइचउआगिइगुरुबंधी बंधए सठाणव्व । णामाणं पयडीणं थीणद्धितिगव्व सेसाणं ॥
सेसाणं णामाण गुरुबंधी बंधए सठाणव्व । णामाण सिआ जेट्ठं बंधेइ दुवेअणीआणं ॥
णियमा बंधइ जेट्ठं पणणाणावरणअंतरायाण । थीणद्धितिगाणचउगमिच्छत्तणपुंसणीआणं ॥
छदरिसणावरणाणं दुवालसकसायभयजुगुच्छाणं । णियमाऽणंतंसूणं बंधेइ सिआ दुजुगलाणं ॥
णीअ ण उच्चबंधी णाणावरणव्व णामवज्जाणं । गुरुममरविउवदुगपणसंहइचउआगिईण सिआ ॥
धुवणामाण पणिंदियपरघाऊसासतसचउक्काणं । अगुरुपएसं संखियभागूणं बंधए णियमा ॥
सुहखगइआगिइसुहगतिगाण गुरुमहव संखभागूणं । बंधइ सिआऽण्णं सोलसणरजोग्गाण तु संखभागूणं ॥
णीअस्स सण्णियासो णपुमव्व णवरि सिआ दुवेआणं । जेट्ठमणंतंसूणं पुमस्स बंधइ ण पडिवक्खं ॥
(चतुर्दश्येकोनविंशतितमा एकविंशतितमा त्रिंशत्तमा गीति सप्तदशी चार्यागीतिः) ॥८२१-८५१॥

(प्रे०) "एगस्से"त्याद्य कत्रिंशद्गाथाः, तत्राद्यग थाचतुष्के ज्ञानावरणपञ्चकान्तरायपञ्चकप्रधानः प्रस्तुतसन्निकर्षो निरूपितः, प्रस्तुतबन्धकस्य प्रथम-चतुर्थ-पञ्चमगुणस्थानवर्तित्वात् , स्त्यानर्द्धित्रिकादीनां स्याद्बन्धं ज्येष्ठं च, दर्शनावरणषट्कादीनां ज्येष्ठमनन्तभागेन हीनज्येष्ठं वा नियमाद् बध्नाति। तृतीयगाथास्थ "ऽण्णमोहाण" इत्यनेन हास्यरतिशोकारतिरूपयुगलद्वयाप्रत्याख्यानावरणकषायचतुष्कपुरुषवेदरूपा नवप्रकृतयो ग्राह्याः। चतुर्थगाथान्ते "णामाणं अट्ठचत्ताए" इत्यनेन आहारकद्विकजिननाम्नोर्बन्धाभावाद्वैक्रियषट्कातपनामलक्षणसप्तप्रकृतीनां स्याद्बन्धकत्वेऽपि ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्यैव लाभाद् द्वितीयगाथायामुक्तवान्नवध्रुवबन्धिनीनां नियमतो बध्यमानत्वात्तद्वर्जशेषा ग्राह्याः। एकचार्यया सातासातवेदनीयद्वयप्रधानः प्रस्तुतसन्निकर्षः सापवादमतिदेशेन दर्शितः, तत्रापवादस्तु-एकस्य वेदनीयस्य बन्धे तत्प्रतिपक्षप्रकृतीनां बन्धो न भवति,

तथा सातवेदनीयप्रधाने सन्निकर्षे नरकद्विकस्य बन्धाभावात्तस्य बन्धो न वाच्यस्तथा कुखगति-दुःस्वरनाम्नोर्ज्येष्ठप्रदेशबन्धो नरकप्रायोग्याष्टाविंशतिं बध्नन्नेव करोति प्रस्तुते तु सातवेदनीय-बन्धकस्य नरकप्रायोग्यबन्धाभावात् कुखगतिदुःस्वरनाम्नोर्बन्धमेकोनत्रिंशद्त्रिंशद्बन्धस्थानद्वये एव करोति, ततः स तयोर्न ज्येष्ठप्रदेशबन्धं कर्तु मलम्, किन्तु संख्यातभागहीनं ज्येष्ठप्रदेश-बन्धमिति ।

ततो गाथाद्वयेन स्त्यानर्द्धित्रिकाद्यष्टप्रकृतिप्रधानः प्रस्तुतसन्निकर्षो गदितः । तत्रापवादभ-णनं त्वेवम्-प्रस्तुतबन्धकस्य नियमतो मिथ्यादृष्टित्वाज्ज्ञानावरणज्येष्ठप्रदेशबन्धकत्वेन सम्यग्दृष्टी-नामपि लाभात्तत्र दर्शनावरणषट्कादिपञ्चविंशतिप्रकृतीनां सम्यग्दृष्ट्यपेक्षया ज्येष्ठप्रदेशबन्धो मिथ्यादृष्ट्यपेक्षया त्वनन्तभागहीनप्रदेशबन्ध इति विकल्पद्वयम्, प्रस्तुते सम्यग्दृष्टीनामलाभान्निरु-क्तपञ्चविंशतेः प्रकृतीनां स ज्येष्ठप्रदेशं नैव बध्नाति, किन्तु तासामनन्तभागहीनं ज्येष्ठप्रदेशबन्धं करोति, अत्राऽप्रत्याख्यानावरणचतुष्कस्य नियमाद्बन्धं करोति इति विशेषः । शेषं तु सुग-मम् । तदनु सार्धगाथात्रयेण चतुर्थपञ्चमगुणस्थानगतानामेव यासां ज्येष्ठप्रदेशबन्धो भवति तासां षट्दर्शनावरणप्रकृतिपुरुषवेद-भयजुगुप्सालक्षणानां नवप्रकृतीनां प्रत्येकं प्रधानीकृत्य परस्थानज्ये-ष्ठप्रदेशबन्धसन्निकर्षः प्ररूपितः, प्रस्तुतमार्गणायां सम्यग्दृष्टीनां देवप्रायोग्यप्रकृतीनामेव बन्धक-त्वेन नाम्नोऽष्टाविंशतिबन्धस्थानस्यैव सद्भावस्ततः सुरद्विकादिनवानां ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्यैव भावात्, तथा यासां शेषाणां देवगतिनाम्ना सह बन्धस्तासां ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्य त्रयोविंशतौ पञ्चविंशतौ वा भावात् प्रस्तुते संख्येयभागोनत्वम्, तत्र स्थिरादियुगलत्रयस्य स्याद्बन्धः शेषाणां पञ्चेन्द्रियजात्यादीनां षोडशानां नियमाद्बन्धश्चेति, शेषसन्निकर्षः सुगमः । ततो गाथार्धेन द्वयो-र्युगलयोः सापवादमतिदेशः, द्वयोरपि युगलयोः सप्रतिपक्षत्वादेकस्य ज्येष्ठप्रदेशं बध्नन् तदितरं युगलं नैव बध्नाति, शेषसन्निकर्षो दर्शनावरणषट्कप्रधानसन्निकर्षवद्भवति, । तद्द्युगल-द्वयस्यापि सम्यग्दृष्टीनामेव ज्येष्ठप्रदेशबन्धकत्वात् ।

तत एकयार्यया पञ्चमगुणस्थाने ज्येष्ठबन्धप्रायोग्याणां संज्वलनचतुष्कप्रत्याख्यानावरण-कषायचतुष्कलक्षणाष्टकषायाणां तथा चतुर्थगुणस्थाने ज्येष्ठप्रदेशबन्धानामप्रत्याख्यानावरणकषा-याणां चेति द्वादशकषायाणां प्रत्येकं प्रधानीकृत्य सातिदेशद्वयेन प्रस्तुतसन्निकर्षो दर्शितः, अत्र बन्धार्हाणां मोहनीयकर्मणां स्वस्थानवत्तत्र मोहनीयकर्मणो ज्येष्ठप्रदेशबन्धसन्निकर्षः प्रस्तुततिर्यग्गत्यादिमार्गणाचतुष्के यथा दर्शितस्तथा द्रष्टव्यः, प्रधानीकृतप्रकृतीनामपि मोहनी-यत्वात् । उक्तेतरासां षण्णां मूलकर्मसत्कोत्तरप्रकृतीनां प्रस्तुतसन्निकर्षः प्रस्तुते निद्राद्विकप्रकृतिप्र-धाने यथा दर्शितस्तथा द्रष्टव्यः, उभयत्रापि सम्यग्दृष्टेरेव ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्वामित्वात् । तत्पश्चाद्गा-थाद्वयेन स्त्रीनपुंसकवेदप्रधानः प्रस्तुतसन्निकर्षः सातिदेश दर्शितः, मोहनीयवर्जशेषप्रकृतीनामनन्तानु-

न्धिवदतिदेशस्तूभयत्र मिथ्यादृष्टीनामेव ज्येष्ठप्रदेशबन्धार्हत्वात् । अपवादास्त्वेवम्-निषिद्धाःप्रकृतीस्तु नैव बध्नाति,कोऽर्थः? उच्यते-स्त्रीवेदबन्धकः-शेषवेदद्वयनरकद्विकजातिचतुष्कस्थावरचतुष्कातपनामानि नैव बध्नाति। वेदद्वयं विहायैताभिः सह नपुंसकवेदस्यैव बध्यमानत्वात् । नपुंसकवेदं बध्नन् शेषवेदद्वयं देवद्विकं च नैव बध्नातीत्येकोऽपवादः, द्वितीयस्तु प्रस्तुतमार्गणाचतुष्के स्त्रीवेदस्य ज्येष्ठप्रदेशबन्धं विदधतो नाम्नोऽष्टविंशत्यादीनि त्रीणि बन्धस्थानानि भवन्ति,तत्राऽप्य-ऽष्टाविंशतिर्देवगतिप्रायोग्या एव, ततस्त्रयोविंशति-पञ्चविंशति-षड्विंशति-नरकप्रायोग्याष्टाविंशतिबन्धस्थानेषु यासां ज्येष्ठप्रदेशबन्धः, प्रस्तुते तासां न ज्येष्ठप्रदेशबन्धोऽपि तु संख्यातभागहीन एव, ता देवद्विकाद्यष्टादशप्रकृतीर्विहाय शेषाः पञ्चत्रिंशत् , ताश्चेमाः-तिर्यग्द्विक-मनुष्यद्विक-पञ्चेन्द्रियजातिनामौदारिकद्विकनामनवध्रुवबन्धि- सेवार्तसंहनन-हुण्डकसंस्थान-कुखगति -पराघातोच्छ्वासो-द्योतत्रसचतुष्कस्थिरादियुगलत्रयदुर्भगत्रिकनामानि । देवद्विकाद्यष्टादशानां तु यथाऽनन्तानुबन्धिप्रधानसन्निकर्षे निरूपितस्तथैवप्रस्तुतेऽपि प्राप्यते । नपुंसकवेदज्येष्ठप्रदेशबन्धं कुर्वन् देवप्रायोग्यं नैव बध्नाति, तत एव समचतुरस्रसंस्थान-सुखगति-सुभगत्रिकरूपाणां पञ्चानां ज्येष्ठप्रदेशबन्धं न करोति, किन्तु संख्यातभागहीनमेव शेषप्रकृतीनां प्रस्तुतसन्निकर्षस्तु यथाऽनन्तानुबन्धिप्रधानसन्निकर्षे प्राप्यते तथाऽत्रापि विज्ञेयः ।

तत एकैकार्यया नरकाद्यायुश्चतुष्कस्य प्रत्येकं प्रधानीकृत्य सन्निकर्षो दर्शितः । तत्र प्रथमं नरकायुषः, तत्र नरकप्रायोग्याणामेकसप्ततेरपि प्रकृतीनां संख्यातभागहीनज्येष्ठप्रदेशबन्धं नरकायुज्येष्ठप्रदेशबन्धकः करोति, प्रस्तुते श्रेणेरभावान्न कस्या अपि प्रकृतेः स संख्यातगुणहीनं ज्येष्ठप्रदेशबन्धं करोति, किन्तु संख्यातभागहीनप्रदेशबन्धमिति,एवं शेषायुस्त्रयप्रधानसन्निकर्षेऽपि, केवलं स्त्यान्नियतबन्धस्तु प्रस्तुतमार्गणाचतुष्कगतप्रकृतिबन्धानुसारतो विभावनीयः, स च सुगमः । तत्र तिर्यगायुःप्रधाने **"सेसतिरिजोग्गाण"** मित्यनेन त्रिपञ्चाशत्प्रकृतयो ग्राह्याः, ताः पुनरिमाः-वेदनीयद्वयवेदत्रय-हास्यादियुगलद्वय-जातिपञ्चकौदारिकाङ्गोपाङ्ग-संहननषट्क- संस्थानषट्क-खगतिद्वय-पराघातोच्छ्वासातपोद्योतत्रसदशकस्थावरदशकनामानि । मनुष्यायुःप्रधानसन्निकर्षे **"धुवबंधीण"** मित्यनेन सप्तचत्वारिंशद्ध्रुवबन्धिप्रकृतयो ग्राह्याः, स्त्यानर्द्धित्रिकाद्यष्टप्रकृतीनामप्यत्रावश्यं बध्यमानत्वात् । **"ऽणणरजोग्गाण"** मित्यनेन-वेदनीयद्वय-गोत्रद्वय-वेदत्रय-हास्यादियुगलद्वय-संहननषट्क-संस्थानषट्क-खगतिद्वय-पराघातो-च्छ्वासनाम-पर्याप्तनामा-ऽपर्याप्तनाम-स्थिरषट्काऽस्थिरषट्कलक्षणा एकचत्वारिंशत्प्रकृतयो ग्राह्याः । **"सेससुरजोग्गाणं"** इत्यनेन मतिज्ञानावरणादिपञ्चत्रिंशद्ध्रुवबन्धिप्रकृतिसातवेदनीयोच्चैर्गोत्रहास्यरति-देवद्विक-पञ्चेन्द्रियजाति-वैक्रियद्विकसमचतुरस्र-सुखगति-पराघातो-च्छ्वासत्रसदशकनामानीत्यष्टपञ्चाशत्प्रकृतयो विज्ञेयाः,अनन्तानु-

बन्ध्यप्रत्याख्यानावरणकषायाष्टकस्त्यानर्द्धित्रिकमिथ्यात्वरूपाणां द्वादशप्रकृतीनां ध्रुवबन्धित्वेऽपि गुणस्थानभेदात्स्याद्बन्धस्तथा च प्रथमगुणस्थाने देवायुर्बन्धेन सह वेदद्वयस्याऽपि बन्धार्हत्वात्स्याद्बन्धः । असातशोकारतिमोहनीयास्थिराशुभायशःकीर्तिनामलक्षणषट्प्रकृतीनां तु देवायुषा सह बन्ध एव न भवतीति प्रकृतिबन्धसन्निकर्षेणैव ता वर्जिता इति ।

तदनु नरकद्विककुखगतिदुस्वरनामप्रधानं प्रस्तुतसन्निकर्षमेकार्ययाऽतिदिशति–"णामाणे" त्यादि, प्रधानीकृतप्रकृतीनां नामप्रकृतित्वात् तत्प्रधानसन्निकर्षे नामप्रकृतीनां स्वस्थानसन्निकर्षवन्नामेतरासां बन्धप्रायोग्याणां हास्यरतिस्त्रीपुंवेदसातवेदनीयोच्चैर्गोत्रवर्जानां त्रिचत्वारिंशत्प्रकृतीनां स नियमाद्बन्धको भवति, प्रदेशबन्धं तु स्त्यानर्द्धित्रिकप्रधानसन्निकर्षवज्ज्येष्ठमनन्तभागहीनादिकं च करोति, अत्र त्रिचत्वारिंशत्प्रकृतीनां नियमाद्बन्धकत्वं तु ध्रुवबन्धिनीनां ध्रुवत्वात्, असातवेदनीयादीनामध्रुवाणां तु प्रतिपक्षप्रकृतीनां बन्धाऽनर्हत्वात् । देवद्विकादिसप्तानां प्रत्येकं प्रधानीकृत्य गाथात्रयेण प्रकृतसन्निकर्षं दर्शयन्नाह–"एगस्से"त्यादि, प्रस्तुतमार्गणाचतुष्के निरुक्तसप्तप्रकृतीनां ज्येष्ठप्रदेशबन्धकाः प्रथम-चतुर्थ-पञ्चमगुणस्थानवर्तिनो भवन्ति, तथा नाम्नो देवप्रायोग्याष्टाविंशतिप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानस्यैव बन्धका भवन्ति, एतद्द्वयमनुसृत्य प्रस्तुतसन्निकर्षभावना कार्या, तत्र द्वितीयगाथायां "ऽट्ठकसाय" इत्यनेन प्रत्याख्यानावरण-संज्वलनकषायरूपा अष्टप्रकृतयो ग्राह्याः । नपुंसकवेदनीचैर्गोत्रयोर्देवगतिप्रायोग्यबन्धकस्य बन्धाभावात् न तयोर्ग्रहणम् । तत एकयार्यया वैक्रियद्विकप्रधानं प्रस्तुतसन्निकर्षं दर्शयति–'एगस्से'त्यादि, वैक्रियद्विकप्रधानसन्निकर्षे नामकर्मसत्कप्रकृतीनां स्वस्थानवत् सन्निकर्षो वक्तव्यो नामेतरप्रकृतीनां मत्यादिज्ञानावरणं प्रधानीकृत्य यथा दर्शितस्तथा द्रष्टव्यः । प्रस्तुते ज्ञानावरणवद् गोत्रद्वयस्य वेदत्रयस्य स्याद्बन्धभावाद् देवगतिवदनतिदिश्य ज्ञानावरणवदतिदेशे सार्थकत्वमवसेयम् । प्रथमादिसंहननपञ्चकमध्यमसंस्थानचतुष्करूपनवप्रकृतीनां प्रत्येकं प्रधानीकृत्य प्रस्तुतमेकार्यया प्राह–"पणे"त्यादि, सुगमः, तत्र नामेतरासां स्त्यानर्द्धित्रिकवदतिदेशस्तु प्रस्तुतमार्गणाचतुष्के निरुक्तप्रकृतीनां ज्येष्ठप्रदेशबन्धकस्य नियमतो मिथ्यादृष्टित्वात् । तदनु गाथात्रयेणोक्तशेषनामप्रकृतीनां प्रत्येकं प्रधानीकृत्य प्रस्तुतसन्निकर्षं निरूपयन्नाह– "सेसाण" मित्यादि. शेषप्रकृतयस्तु त्रयोविंशति-पञ्चविंशति-षड्विंशतिबन्धस्थानत्रये या ज्येष्ठप्रदेशबन्धप्रायोग्यास्ता ज्ञातव्याः, ता नामत इमाः–तिर्यग्द्विकमनुष्यद्विक-जातिपञ्चकौदारिकद्विक-नवध्रुवबन्धिनी-सेवार्त्तसंहननहुण्डकसंस्थान-पराघात-उच्छ्वासा-तपोद्योत-त्रसचतुष्क-स्थावरचतुष्क-दुर्भगानादेयस्थिरास्थिरशुभाशुभयशःकीर्तिनामायशःकीर्तिनामानीति द्वाचत्वारिंशत्, अत एवासां ज्येष्ठप्रदेशबन्धका मिथ्यादृष्टयो विज्ञेयास्तथा नपुंसकवेदनीचैर्गोत्रयोरपि नियमाद्बन्धकाश्च, शेषगाथार्थस्तद्भावना च सुगमा ।

अथ गाथात्रयेणोच्चैर्गोत्रं प्रधानीकृत्य प्रस्तुतसन्निकर्षं प्राह 'णीअं'' इत्यादि, उच्चैर्गोत्रस्य ज्येष्ठप्रदेशं बध्नतो नामेतरकर्मणां सन्निकर्षो ज्ञानावरणप्रधानसन्निकर्षे यथा निरूपितस्तथा द्रष्टव्यः, केवलं प्रतिपक्षरूपं नीचैर्गोत्रं नैव बध्नाति, नामकर्ममध्ये तस्य द्वे बन्धस्थाने देवप्रायोग्या अष्टाविंशतिः, मनुष्यप्रायोग्या एकोनत्रिंशत् , अतो देवद्विकादित्रयोदशानां स्याद्बन्धो ज्येष्ठप्रदेशबन्धश्च, सुखगत्यादिपञ्चप्रकृतीनां ज्येष्ठः संख्यातभागहीनज्येष्ठप्रदेशबन्धो वा भवति प्रकृतिबन्धस्तु तासां स्याद्भवति, शेषाणां बन्धार्हाणां षोडशानां ध्रुवबन्ध्यादीनां नियतबन्धानां षोडशानां च स्याद्बन्धानां संख्यातभागहीनमेव ज्येष्ठप्रदेशबन्ध करोति । हेत्वादिभावना तु सुगमा, षोडशप्रकृतयः पुनरिमाः—मनुष्यद्विकौदारिकद्विकसेवार्तहुण्डककुखगतिस्थिरशुभयशःकीर्तिनामास्थिरषट्कनामानीति । तत एकयार्यया नीचैर्गोत्रप्रधानं प्रस्तुतसन्निकर्षं निरूपयति ''णीअस्से''त्यादि नीचैर्गोत्रं प्रधानीकृत्य सन्निकर्षो यथा नपुंसकवेदबन्धकस्य प्रधानतायां दर्शितस्तथा द्रष्टव्यः, केवलमत्र वेदत्रयस्य स्याद्बन्धादिकं तु सुगमम् । उभयत्र नपुंसकवेदबन्धकस्य नीचैर्गोत्रबन्धकस्य मिथ्यादृष्टिजीवानामेव भावेन तज्ज्येष्ठप्रदेशबन्धकानां तुल्यत्वात्तथा केवलं देवप्रायोग्यप्रकृतीनामबन्धात्स्वप्रतिपक्षप्रकृतिं विहाय शेषबन्धार्हप्रकृतीनामुभयत्र समानत्वाच्च ॥८२१-८५१॥

अथापर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यगादिमार्गणासु प्रस्तुतसन्निकर्षं दर्शयन्नाह—

असमत्तपणिंदितिरियमणुयपणिंदियतसेसु सव्वेसु । एगिंदियविगलिंदियपुढवीदगहरिअकायेसु ॥
एगस्स जेट्ठबंधी धुवबंधीओ उ णामवज्जाओ । णियमा सगतीसाएऽण्णाण गुरू आयवस्स सिआ ॥
धुवणामुरलाण कुणइ णियमा गुरुमहव संखभागूणं । बंधेइ सिआऽण्णेसिं णामाण सत्तचत्ताए ॥
गुरुमुच्चथीपुमणपुमसायइयरणीअदुजुगलाण सिआ । अइणपुमाईणेव णवर बंधइ ण पडिवक्खं ॥
थीअ गुरुं बंधंतो धुवबंधीणं तु णामवज्जाणं । णियमा गुरुं सिआ य दुगोअजुगलवेअणीआणं ॥
तिरियणरदुगछिवट्ठगहुंडुज्जोअतिथिराइजुगलाण । दुहगाणादेयाणं सिआ कुणइ संखभागूणं ॥
पंचिंदियुरालियदुगपरघाऊसासतसचउक्काणं । धुवणामाण य बंधइ णियमा संखेज्जभागूणं ॥
संघयणआगिइपणगदुखगइसुहगतिगदुस्सराण सिआ । गुरुमुअ संखंसूणं बंधइ एवं पुमस्स भवे ॥
तिरियाउजेट्ठबंधी धुवबंधितिरिदुगउरलणीआणं । णियमा संखंसूणं बंधेइ सिआऽण्णतिरियजोग्गाणं ॥
मणुयाउजेट्ठबंधी बंधइ धुवबंधिणरदुगाण तहा । पंचिंदियुरलदुगतसबायरपत्तेअणामाणं ॥
णियमा संखंसूणं सिआऽण्णणरजोग्गएगचत्ताए । पणसंघयणागिइदुखगइकुसरसुहगतिगाण गुरुबंधी ॥
णामाण सठाणव्व उ बंधइ धुवबंधिणीण णियमाओ । जेट्ठं सायअसायतिवेअदुगोअजुगलाण सिआ ॥
सेसाणं णामाणं गुरुबंधी बंधए सठाणव्व । णामाण बंधइ गुरु णियमा धुवबंधिणपुमणीआण ॥
सायियरदुजुगलाणं सिआ गुरुं कुणइ उच्चगुरुबंधी । उक्कोस णियमा धुवबंधीणं णामवज्जाणं ॥
बंधेइ सिआ जेट्ठं दुवेअणीअसगणोकसायाणं । संघयणआगिइपणगदुखगइसुहगतिगकुसराणं ॥
हुंडगछिवट्ठदुहगाणादेयथिराइतिजुगलाण सिआ । संखसूणं णियमाऽण्णपज्जणरजोग्गणामाणं ॥
॥८५२-८६७॥ (नवम्येकादशी त्रयोदशी च गीतिः)

(प्रे०) ''असमत्ते''त्यादि, षोडशगाथासमूहः, तत्र प्रथमार्यया यास्वनन्तरगाथाभिः

पञ्चदशभिः सन्निकर्षो दर्शितस्ता मार्गणा दर्शिताः । तास्वपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यगादिपञ्चचत्वारिंशद् मार्गणासु सार्धगाथाद्वयेनाष्टात्रिंशद् नामवर्जध्रुवबन्धिप्रकृतीनां प्रस्तुतसन्निकर्षो दर्शितः । तत्रातपनामवर्जानां नाम्नः सर्वबन्धार्हप्रकृतीनां सप्तपञ्चाशतो ज्येष्ठप्रदेशबन्धरूपं संख्यातभागहीनज्येष्ठप्रदेशबन्धरूपं विकल्पद्वयं नानाबन्धस्थानसम्भवाद्विज्ञेयम् , आतपनाम्नस्तु षड्विंशतावेव बन्धभावात्तस्य ज्येष्ठप्रदेशबन्ध एव भवति. न संख्यातभागहीनोऽपि, उच्चैर्गोत्राद्येकादशप्रकृतीनां स्याज्ज्येष्ठप्रदेशबन्धो दर्शितः, स तु सुगमः । गाथार्धेन नपुंसकवेदाद्यष्टप्रकृतीनामतिदेशेन स दर्शितः, केवलं तासां बन्धकः प्रतिपक्षभूतां प्रकृतिं नैव बध्नाति । **'णपुमादिजुगलान्ता'** नपुंसकवेदसातासातवेदनीयनीचैर्गोत्रयुगलद्वयरूपा नपुंसकवेदाद्यष्टप्रकृतयो ज्ञेयाः । तत्पश्चाद् गाथाचतुष्केण स्त्रीवेदप्रधानः साक्षात् पुरुषवेदप्रधानस्त्वतिदेशेन प्रस्तुतसन्निकर्षो दर्शितः । तत्र **"धुवबंधीण तु णामवज्जाण"** मित्यनेनाष्टात्रिंशत्प्रकृतयो ग्रहणीयाः, पञ्चेन्द्रियजात्याद्यष्टादशानां नियमाद्बन्धस्तु प्रस्तुतबन्धकस्य पर्याप्तपञ्चेन्द्रियप्रायोग्यस्यैव बन्धकत्वात् , आद्यसंहननपञ्चकाद्यसंस्थानपञ्चकखगतिद्वयसुभगत्रिकदुःस्वरनामलक्षणानां षोडशानां ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्यैकोनत्रिंशतो भावात् प्रस्तुतप्रकृतिज्येष्ठप्रदेशबन्धं कुर्वन् नाम्न एकोनत्रिंशतं बध्नन्नासां ज्येष्ठप्रदेशबन्धं करोति, त्रिंशतं बध्नन् त्वासां संख्यातभागहीनज्येष्ठप्रदेशबन्धं विदधाति । तदनु सार्धगाथाद्वयेन तिर्यग्मनुष्यायुर्द्वयप्रधानः प्रस्तुतसन्निकर्षो दर्शितः, स चानन्तरतिर्यग्गतिमार्गणायां यथा प्राप्यते तथाऽत्रापि ततो न कश्चिद्विशेषः । ततः सार्धगाथया यासां नाम्न एकोनत्रिंशद्बन्धस्थान एव ज्येष्ठप्रदेशबन्धः प्राप्यते तासां षोडशप्रकृतीनां प्रत्येकं प्राधानीकृत्य सन्निकर्षो दर्शितः, स च सुगमः, अत्र प्रथमस्यैव गुणस्थानकस्य भावात् पुंवेदस्य हास्यादियुगलद्वयस्य च ज्येष्ठ एव प्रदेशबन्धो दर्शितः । तत्पश्चाद् देशोनसार्धगाथयोक्तषोडशप्रकृतीर्विहाय शेषद्विचत्वारिंशन्नामप्रकृतीनां प्रत्येकं प्रधानीकृत्य प्रस्तुतसन्निकर्षो दर्शितः । ता द्विचत्वारिंशत्प्रकृतयः पुनरिमाः—तिर्यग्द्विक-मनुष्यद्विक जातिपञ्चकौदारिकद्विक-तैजसकार्मणसेवार्तसंहननहुण्डकसंस्थानवर्णचतुष्कागुरुलघूपघातनिर्माण-पराघातोच्छ्वासातपोद्योतत्रसचतुष्कस्थावरचतुष्कास्थिरादियुगलत्रयदुर्भगानादेयनामानीति । नपुंसकवेदनीचैर्गोत्रयोर्नियमाद्बन्धस्तु आसां ज्येष्ठप्रदेशबन्धकस्य त्रयोविंशत्यादिबन्धस्थानत्रये एव भावात् , प्रस्तुतप्रकृतीनां ज्येष्ठप्रदेशबन्धकस्य पर्याप्तपञ्चेन्द्रियप्रायोग्यस्य बन्धाभावादिति, शेषं सुगमम् । ततः साधिकसार्धगाथाद्वयेनोच्चैर्गोत्रप्रधानं सन्निकर्षं दर्शयन्नाह **"उच्चगुरुबंधो"** इत्यादि, अत्र नाम्न एकोनत्रिंशद्बन्धस्थानस्यैव बन्धसद्भावात् संहननादिषोडशानां स्याद्बन्धभावेऽपि तद्बन्धे सति तासां ज्येष्ठ एव प्रदेशबन्धस्तथा **'ऽणणपज्जणरजोग्गणामाणं'** इत्यनेन मनुष्यद्विकपञ्चेन्द्रियजातिनामौदारिकद्विकनामध्रुवबन्धिनीनवकपराघातोच्छ्वासत्रसचतुष्कनामानीति त्रिंशतिप्रकृतयः सूचिता विज्ञेयाः ॥८५२-८६७॥

अथ मनुष्यौघ-पर्याप्तमनुष्यमानुष्यौदारिककाययोगमार्गणाचतुष्के प्रस्तुतं विभणिषुराह—

सव्वाणोघव्व तिणरउरलेसु णवरि ण णरुरलदुगाणि । वइरं च दुणिद्दुइअकसायहस्सछगगुरुबंधी ॥
णियमा णिद्दुगअरइसोगचउदुइअकसायगुरुबंधी । सुरविउवदुगाण जिणं णराउवइरगुरुबंधी णो ॥
अणमिच्छगथीणद्धियतिगाण णियमाउ वइरगुरुबंधी । दुइअकसायदुणिद्दाहस्सछगाणं अणंतभागूणं ॥
॥८६८-८७०॥ (तृतीया गीतिः)

(प्रे०) "सव्वाणो"त्यादि, मनुष्यमार्गणात्रय औदारिककाययोगे च विंशत्युत्तरशतस्य प्रत्येकं निरुक्तसन्निकर्ष ओघवज्ज्ञातव्यः। ओघोक्तज्येष्ठप्रदेशबन्धस्वामिनामत्र प्रवेशात्, केवलं प्रस्तुतमार्गणाचतुष्के सम्यग्दृष्टीनां केवलं देवप्रायोग्यप्रकृतीनां बन्धकत्वादोघे तु सम्यग्दृष्टिदेवनारकानपेक्ष्य मनुष्यप्रायोग्याणां बन्धसद्भावात्, प्रस्तुते निद्राद्विकादिप्रकृतीनां ज्येष्ठप्रदेशबन्धप्राधान्ये मनुष्यद्विकौदारिकद्विकवज्रर्षभनाराचरूपाः पञ्च प्रकृतीर्नैव बध्नाति, अत एव देवद्विकवैक्रियद्विकयोः स नियमाद्बन्धको भवति। तथा मनुष्यायुषः प्रथमसंहननस्य च ज्येष्ठप्रदेशबन्धं कुर्वन् प्रस्तुते स्त्यानर्द्धित्रिकानन्तानुबन्धिचतुष्करूपाणामष्टानां स नियमाद्बन्धको भवति, प्रस्तुते सम्यग्दृष्टीनां मनुष्यायुषो बन्धाभावात्। अत एव स जिननाम नैव बध्नातीत्यपि बोध्यम्, तथा वज्रर्षभनाराच संहननस्य ज्येष्ठप्रदेशबन्धं कुर्वत ओघेऽप्रत्याख्यानावरणकषायादिद्वादशानां ज्येष्ठप्रदेशबन्धोऽपि भवति, प्रस्तुते तु वज्रर्षभनाराचज्येष्ठप्रदेशबन्धं कुर्वन् निरुक्तद्वादशानामनन्तभागहीनज्येष्ठप्रदेशबन्धं करोति, प्रथमगुणस्थाने आसां द्वादशानां ज्येष्ठप्रदेशबन्धाऽनर्हत्वात्, शेषा भावना हेत्वादयश्च सुगमा ओघानुसारेण चावधेयाः॥८६८-८७०॥

अथ देवौघादिमार्गणासु प्रस्तुतं विभणिषुराह—

सुरसोहम्मविउव्वियदुगेसु णिरयव्व पढमचरमाणं । थीणद्धितिगाणणपुमसायइयरमिच्छणीआणं ॥
परमाययस्स जेट्ठं सिआ दुजाइतसउरलुवंगाण । उज्जोअथावराणं जेट्ठमहव संखभागूणं ॥
णामाऊणऽण्णेसिं णिरयव्व परं तु संखभागूणं। धुवणामुरलथिराइतिजुगपरघूसासबायरतिगाणं ॥
उभगुरुबंधगो उण दुहगाणादेयहुण्डगाणं पि । थीगुरुबंधी सिं तह तिरिदुगउज्जोअणामाणं ॥
तिरियाउजेट्ठबंधी णियमा बंधेइ सखभागूणं । धुवतिरिदुगणीअउरलपरघाऊसासबायरतिगाणं ॥
सखेज्जभागहीणं बंधइ णरतिगजिणुच्चवज्जाणं । सेसाण दुचत्ताए सिआ णराउस्स णिरयव्व ॥
णामाणं गुरुबंधी णामाण सठाणगव्व अण्णेसिं । णाणावरणव्व णवरि तिरिदुगएगिंदियाण तहा ॥
धुवणामउरलहुंडग-परघाऊसासआयवदुगाणं । बायरथिराइजुगतिगथावरऽणादेयदुहगाणं ॥
गुरुबंधी ण उ थीपुमउच्चाणि उ बंधए गुरुं णियमा । थीणद्धितिगाणचउगमिच्छणपुमणीअगोआणं ॥
(तृतीया पञ्चमी च गीतिः) ॥८७१-८७९॥

(प्रे०) "सुरसोहम्मे"त्यादि, गाथानवकम्, देवौघे सौधर्मेशानदेवलोकमार्गणाद्वये वैक्रियकाययोग-वैक्रियमिश्रकाययोगमार्गणाद्वये चेति मार्गणापञ्चके प्रत्येकं ज्ञानावरणपञ्चकान्तराय-

पञ्चक-स्त्यानर्द्धित्रिकानन्तानुबन्धिचतुष्कमिथ्यात्वनपुंसकवेदसातवेदनीयासातवेदनीयनीचैर्गोत्र-लक्षणद्वाविंशतिप्रकृतीनां प्रत्येकं प्रधानीकृत्य प्रस्तुतसन्निकर्षो नरकौघवद्भवति, केवलं प्रस्तुतमार्गणापञ्चके एकेन्द्रियप्रायोग्यस्याऽपि बन्धसद्भावेनैकेन्द्रियस्थावरातपनाम्नामपि प्रस्तुतबन्धकस्य बन्धार्हत्वम्, तत्रातपस्य स्याज्ज्येष्ठप्रदेशबन्धः, एकेन्द्रियस्थावरनाम्नोः स्याज्ज्येष्ठप्रदेशबन्धः संख्यातभागहीनज्येष्ठप्रदेशबन्धो वा, तथोद्योतनाम्नो नरकगतिमार्गणायामेकस्मिन्नेव त्रिंशद्बन्धस्थाने बन्धसद्भावेन ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्यैव लाभात्प्रस्तुते तु षड्विंशतिबन्धस्थानस्यापि लाभेन तस्य प्रदेशबन्धो ज्येष्ठः संख्यातभागहीनो वा । अत्र द्वितीयगाथायां पञ्चेन्द्रियजातित्रसनामौदारिकाङ्गोपाङ्गनाम्नां प्रदेशबन्धे द्वैविध्यं यद्दर्शितं तन्नरकगतिमार्गणायामपि तथैव लाभेऽपि प्रस्तुतमार्गणापञ्चके तासां स्याद्बन्धस्य प्रतिपादनपरत्वान्न ग्रन्थकारस्यानाभोग इति । तदनु गाथाद्वयेन नामकर्मायुष्कर्मवर्जोक्तशेषबन्धार्हाणां प्रकृतीनां सन्निकर्षः सापवादमतिदेशेन दर्शितः—तत्र "**णामाऊणऽण्णेसि**" मित्यनेन नामकर्मायुष्कर्म च विहायान्यासां दर्शनावरणादीनामित्यर्थो विज्ञेयः । ताः प्रकृतयः पुनरिमाः—दर्शनावरणषट्कावर्जद्वादशकषायहास्यषट्कपुरुषवेदस्त्रीवेदोच्चैर्गोत्र-लक्षणाः, एताभ्यः स्त्रीवेदस्य ज्येष्ठप्रदेशबन्धकाः पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्मनुष्यप्रायोग्यं बध्नन्तः केवलं मिथ्यादृष्टयः, उच्चैर्गोत्रस्य मिथ्यादृष्टयः सम्यग्दृष्टयश्च, शेषाणां सम्यग्दृष्टय एव । अत्र "**धुवनामे**"त्याद्येकविंशतेः प्रकृतीनां संख्यातभागोनप्रदेशबन्धस्तत्र पञ्चविंशतावेवासां ज्येष्ठप्रदेशबन्धभावात् । तथोच्चैर्गोत्रप्रधाने प्रकृतसन्निकर्षे दुर्भगानादेयहुण्डकनाम्नामपि, स्त्रीवेदप्रधाने च तिर्यग्द्विकोद्योतयोर्दुर्भगाऽनादेयहुण्डकनाम्नामपि संख्येयभागोनज्येष्ठप्रदेशबन्धो भवति, अत उच्चैर्गोत्रप्रधाने हुण्डकदुर्भगानादेयानां ध्रुवकाध्याद्येकविंशतेश्च तथा स्त्रीवेदप्रधाने तासां चतुर्विंशतेस्तिर्यग्द्विकोद्योतनाम्नोश्च संख्यातभागोनज्येष्ठप्रदेशबन्धं करोतीति दर्शितम्, दुर्भगादिप्रकृतीनां प्रस्तुते एकोनत्रिंशतादिबन्धस्थानेज्येष्ठप्रदेशबन्धाभावात् । तत्पश्चाद् देशोनगाथाद्वयेन तिर्यगायुःप्रधानं गाथादेशेन मनुष्यायुःप्रधानमतिदेशेन प्ररूपितम् । तत्र "**सेसाण दुचत्ताए**"इत्यनेन वेदनीयद्वयहास्यादियुगलद्वयवेदत्रयैकेन्द्रिय-पञ्चेन्द्रियजातिद्वयौदारिकाङ्गोपाङ्गसंहननषट्क-संस्थानषट्क-खगतिद्वया-तपोद्योत-त्रस स्थावर-स्थिरषट्कास्थिरषट्कनामप्रकृतयः सूचिताः । शेषं गाथयैव गतार्थम् । पश्चाद् गाथात्रयेण सापवादं बन्धार्हाणां नाम्नस्त्रिपञ्चाशत्प्रकृतीनां प्रत्येकं प्रधानीकृत्यातिदेशेन सन्निकर्षो दर्शितः । अत्र "**बायरथिराइसुगतिग**" इत्यनेन बादरत्रिकं स्थिरादियुगलत्रयं च बोध्यम् । तत्रापवादभणनं तु तिर्यग्द्विकादित्रिंशत्प्रकृतीनां ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्यैकेन्द्रियप्रायोग्यं बध्नत एव भावात्, स्त्रीवेदादिप्रकृतित्रयं नैव बध्नाति, स्त्यानर्द्धित्रिकादिदशानां च स नियमाद्बन्धको भवति । तत्र नपुंसकवेदनीचैर्गोत्रयोरेकेन्द्रियप्रायोग्यबन्धकत्वेन शेषाणामष्टानां मिथ्यादृष्टित्वेन नियमाद्बन्ध, उक्तदशानां ज्येष्ठप्रदेश-

बन्धमेव स विरचयति, शेषभावनादयस्तु सुगमाः स्वयं परिभावनीयाश्च ॥८७१-८७९॥

अथ भवनपत्यादिमार्गणात्रये प्रस्तुतसन्निकर्षं दर्शयन्नाह—

सव्वाण सुरव्व भवे भवणतिगे णवरि णरदुगस्स गुरुं । बंधइ पणणाणावरणविग्घसायियरउच्चगुरुबंधी ॥
णरदुगुरलगपणिंदिसुभागिइतससुहगतिगसुखगईणं । बइरस्स गुरुं चिअ पणवीसाणिद्दाइगुरुबंधी ॥
(प्रथमा गीति) ॥८८०-८८१॥

(प्रे०) "सव्वाणे"त्यादि, भवनपतिव्यन्तरज्योतिष्कदेवमार्गणात्रये बन्धार्हाणां त्र्युत्तरशतस्य प्रस्तुतसन्निकर्षो देवौघमार्गणावद्विज्ञेयः, केवलं तत्र जिननाम्नो बन्धभावाज्ज्ञानावरणादित्रयोदशप्रकृतिप्रधानसन्निकर्षे मनुष्यद्विकस्य बन्धस्यैकोनत्रिंशत्त्रिंशद्बन्धस्थानयोर्भावात् , तत्र तस्य ज्येष्ठः संख्यातभागहीनो वा बन्धो दर्शितः, प्रस्तुते तु जिननाम्नो बन्धाभावेन एकस्यैव बन्धस्थानस्य लाभाज्ज्येष्ठ एव प्रदेशबन्धः प्राप्यते, स्याद्बन्धादिकं तु तद्वदेवेति । तथा निद्राद्विकादिपञ्चविंशतिप्रकृतिप्रधानसन्निकर्षे मनुष्यद्विकाद्येकादशनामप्रकृतीनां ज्येष्ठ एव प्रदेशबन्धो लभ्यते, सम्यग्दृष्टीनां नाम्न एकस्यैव बन्धस्थानस्य लाभात् ,देवौघमार्गणायां तु बन्धस्थानद्वयलाभात्प्रस्तुतप्रकृतीनां विकल्पद्वयगतः प्रदेशबन्ध इत्यपवादभणनमौदारिकशरीरनामादिप्रकृतीनां तूभयत्र पञ्चविंशतौ ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्य भावात् सम्यग्दृष्टयस्तासां संख्यातभागहीनमेव प्रदेशं बध्नन्तीति नापवादविषयः ॥८८०-८८१॥

एतर्हि नवमग्रैवेयकपर्यन्तास्वानतादित्रयोदशमार्गणासु सातिदेशं सापवादं प्रस्तुतं दर्शयति—

तेराणयाइगेसुं सप्पाउग्गाण णारगव्व परं । ण तिरिदुगुज्जोआ णरदुगस्स णियमाऽह णामाणं ॥
जेट्ठं चिअ गुरुबंधी थीणद्धितिगऽणदुवेअमिच्छाणं । तह पणसंघयणागिइकुखगइदुहगतिगणीआणं ॥
॥८८२-८८३॥

(प्रे०) "तेराणयाइगेसु" इत्यादि, आनतादित्रयोदशदेवमार्गणासु स्वप्रायोग्याणां कर्मणां नरकमार्गणावत्प्रस्तुतसन्निकर्षो विज्ञेयः, केवलं प्रस्तुतमार्गणासु तिर्यग्द्विकोद्योतनामलक्षणप्रकृतित्रयस्य बन्धाभावान्मनुष्यद्विकस्य बन्धो नियमाद्भवति तथा प्रथमगुणस्थान एव यासां ज्येष्ठप्रदेशबन्धो भवति, तासां स्त्यानर्द्धित्रिकादिपञ्चविंशतिप्रकृतीनां प्रत्येकं ज्येष्ठप्रदेशबन्धं कुर्वन् बन्धार्हाणां नामप्रकृतीनां ज्येष्ठमेव प्रदेशबन्धं करोति, प्रथमगुणस्थान एकस्यैव नाम्नो बन्धस्थानस्य भावादतः प्रथमगाथान्ते "ऽह नामाणं" इति पदं द्वितीयगाथया सह सम्बन्धनीयम् । ॥८८२-८८३॥

अथ पञ्चानुत्तरसुरादिमार्गणासु प्रस्तुतसन्निकर्षं प्ररूपयन्नाह—

एगस्स जेट्ठबंधी धुवपुरिसुच्चाउ णामवज्जाओ । पंचसु अणुत्तरेसुं देसे आहारगदुगे य ॥
णियमाऽण्णेसिं जेट्ठं सिआ जिणदुवेअणीअजुगलाणं । गुरुमुअ संखंसूणं थिराइजुगलाण तिण्ह सिआ ॥
गुरुमुअ संखंसूणं सप्पाउग्गाण सेसणामाणं । णियमा बंधइ एवं दुवेअणीअजुगलाण भवे ॥
बारससायाइगजिणणामाण सिआ णराउगुरुबंधी । बंधइ संखंसूणं अणुत्तरेसु णियमाऽण्णेसिं ॥

तीसुं तित्थस्स सिआ सखंसूणं सुराउगुरुवंधी। वंधइ छअसायाई विण णियमाऽण्णमग्गजोग्गाणं ॥
णामाण गुरुपएसं वंधतो वंधए सठाणव्व । णामाणं अट्ठसु अवि णाणावरणव्व सेसाणं ॥
॥८८४-८८९॥

(प्रे०) "एगस्से"त्यादि, गाथाषट्कं, "धुवपुरिसुच्चाउ णामवज्जाओ" इत्यनेन नाम्नो नवध्रुवबन्धिनीवर्जाः शेषा या अष्टात्रिंशद्ध्रुवबन्धिन्यस्ताभ्यः पञ्चानुत्तरसुरमार्गणासु मिथ्यात्वाष्टकस्य बन्धाभावात् त्रिंशद्ध्रुवबन्धिप्रकृतयो देशविरतमार्गणायां ते चैवाप्रत्याख्यानावरणचतुष्कविहीना षड्विंशतिः,आहारकतन्मिश्रयोगद्वये प्रत्याख्यानचतुष्करहिता द्वाविंशतिस्ताः पुरुषवेदोच्चैर्गोत्रसहिता द्वात्रिंशत् , अष्टाविंशतिश्चतुर्विंशतिश्च क्रमेण ग्राह्याः । तासां प्रत्येकं प्रधानीकृत्य प्रस्तुतसन्निकर्षः साधिकसार्धगाथाद्वयेन दर्शितः। द्वितीयगाथायां जिननामादिसप्तानां स्याद्बन्धं ज्येष्ठप्रदेशबन्धं च करोति, स्थिरादियुगलत्रयस्य प्रकृतिबन्धापेक्षया स्याद्बन्धं प्रदेशापेक्षया ज्येष्ठप्रदेशबन्धं संख्यातभागहीनज्येष्ठप्रदेशबन्धं वा विदधातीति दर्शितम् , भावना तु सुगमा । शेषनामप्रकृतयः पञ्चानुत्तरमार्गणासु मनुष्यप्रायोग्याः षड्विंशतिः, देशविरतमार्गणायामाहारकतन्मिश्रकाययोगद्वये च देवप्रायोग्याः पञ्चविंशतिः। तृतीयगाथाप्रान्ते "एव"मित्यादिना सातासातवेदनीयहास्यादियुगलद्वयरूपषट्प्रकृतिप्रधानप्रस्तुतसन्निकर्षोऽतिदेशेन दर्शितः । तदनु "धारसे"त्यादिनैकयार्यया पञ्चानुत्तरसुरमार्गणासु बन्धार्हमनुष्यायुः प्रधानीकृत्य प्रस्तुतसन्निकर्षो दर्शितः, प्रस्तुतमार्गणासु सर्वासां सम्यग्दृष्टित्वात् सातादिद्वादश जिननाम च विहाय शेषाणां नियमाद्बन्ध इति। तत एकगाथया तु देशविरताहारकतन्मिश्रयोगरूपमार्गणात्रये देवायुः प्रधानीकृत्य प्रस्तुतसन्निकर्षो दर्शितस्तत्रासातादिषट्प्रकृतयो नैव बध्यन्त इति तन्निषेधः। "ऽण्णससजोग्गाणं" इत्यनेन देशविरतमार्गणायामेकोनषष्टिराहारकद्विके च पञ्चपञ्चाशत्प्रकृतयो बोध्याः । तदन्वेकया गाथया बन्धार्हनामप्रकृतीनां प्रस्तुतसन्निकर्षो दर्शितः, तत्रोत्तरार्धे "अट्ठसु" इत्यनेन पञ्चानुत्तरादयोऽष्टमार्गणा ग्राह्याः, शेषं सुगमम् ॥८८४-८८९॥

एतर्हि क्रमप्राप्तसप्ताग्निकायमार्गणासु सप्तवायुकायमार्गणासु च प्रस्तुतं सापवादं दर्शयन्नाह—

सव्वागणिवाऊसुं सप्पाउग्गाणऽपज्जमणुयव्व। णवरि णरदुगुच्चाणि ण णियमा तिरियदुगणीआण ॥८९०॥

(प्रे०) "सव्व" इत्यादि, सप्ताग्निकायमार्गणासु सप्तवायुकायमार्गणासु स्वप्रायोग्याणां पञ्चोत्तरशतस्य प्रस्तुतसन्निकर्षोऽपर्याप्तमनुष्यमार्गणावज्ज्ञातव्यः, केवलं मनुष्यद्विकोच्चैर्गोत्रयोर्बन्धं न करोति, तत एव तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्रयोर्नियमाद्बन्धं करोति, अतो यत्र तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्रयोः स्याद्बन्धस्तत्र तयोर्नियमाद्बन्धो भवति शेषं निरूपणं तु सुगमम् ॥८९०॥

अथ मनोयोगादिमार्गणासु प्रस्तुतसन्निकर्षस्य प्राग् "ओघव्व" इत्यनेन दर्शितत्वात् क्रमप्राप्तौदारिकमिश्रकाययोगे प्रस्तुतसन्निकर्षं निरूपयन्नाह—

एगस्स उरलमीसे पणणाणावरणअंतराय.ओ । गुरुवधी सेसाण णवण्ह वंधइ गुरुं णियमा ॥
ववेइ सिआ जेट्ठं थीणद्धियतिगदुवेअणीआण । मिच्छत्ताणचउगथीणपुमजिणायवदुगोआण ॥
णियमा छदंसणावरणवारसकसायभयजुगुच्छाण । गुरुमुअऽणतनूण वधइ पुमदुजुगलाण सिआ ॥
धुवणामाण णियमा वंधइ गुरुमहव सखभागूण । णामदुवण्णाअ सिआ एमेव दुवेअणीआण ॥
एगस्स जेट्ठवधी थीणद्धितिगाणचउगमिच्छाओ । णियमा गुरुमण्णेसिं तह णाणावरणविग्घाणं ॥
छदरिसणावरणाणं दुवालसकसायभयजुगुच्छाणं । णियमाऽणंतं सूणवधइ पुमदुजुगलाण सिआ ॥
सायियरदुवेआयवणीउच्चाणं गुरुं कुणेइ सिआ । सखंसूणं सुखगइआगिइसुहगतिगणामाणं ॥
गुरुमुअ सखसूणं धुवणामुरलाण णियमओऽण्णेसि । सुरविउवदुगजिणूणाण सिआ एमेव णपुमणीआणं ॥
छदरिसणावरणपुरिसदुवालसकसायभयजुगुच्छाओ । एगस्स जेट्ठवधी वधइ णियमा गुरुपएसं ॥
अण्णेसिं वीसाए तह णाणावरणउच्चविग्घाणं । ववेइ सिआ जेट्ठ दुवेअणीअजुगलजिणाणं ॥
धुवणामाण पणिंदियपरघाऊसासतसचउक्काण । णियमा सखसूणं थिराइजुगलाण तिण्ह सिआ ॥
सुरविउवदुगसुहखगइसंठाणसुहगतिगाण णियमाओ । गुरुमुअ सखसूण जुगलाणेव परं ण पडिवक्खं ॥
थीअ गुरुं वंधंतो पणणाणावरणअतरायाणं । थीणद्धितिगाणचउगमिच्छत्ताण गुरु णियमा ॥
छदरिसणावरणाणं दुवालसकसायभयजुगुच्छाणं । णियमाऽणतसूणं वधइ जुगलाण दोण्ह सिआ ॥
सायियरदुगोआणं जेट्ठं वंधइ सिआ गुरुं अहवा । संखसूणं चउआगिइणसंघयणकुखगईणं ॥
धुवणामपणिंदिउरलदुगपरघूसासतसचउक्काणं । णियमा सखसूणं सिअ.ऽण्णणरतिरिपणिंदिजोग्गाण ॥
तिरियाउजेट्ठवधी धुववधिनिरिदुगउरलणीआणं । णियमाऽसखगुणूणं सिआऽण्णतिरिजोग्गपयडीणं ॥
मणुयाउजेट्ठवधी वधइ णियमा असंखगुणहीण । धुववंधिणरउरलदुगपणिंदिपत्तेअवायरतसाणं ॥
सेसमणुयजोग्गाणं एगालीसाअ तित्थवज्जाणं । पयडीण वधए खलु सिआ असखेज्जगुणहीणं ॥
सुरविउवदुगसुहखगइआगिइसुहगतिगतित्थगुरुवंधी । णामाण सठाणव्व उ सेसऽडतीसाअ णिद्दव्व ॥
पणसंहइचउआगिइगुरुवंधी वंधए सठाणव्व । णामाणं पयडीणं थीणद्धितिगव्व सेसाणं ॥
सेसाण णामाण गुरुवधी वंधए सठाणव्व । णामाण सिआ जेट्ठं ववेइ दुवेअणीआणं ॥
णियमा वंधइ जेट्ठं पणणाणावरणअतरायाणं । थीणद्धितिगाणचउगमिच्छत्तणपुसणीआणं ॥
छदरिसणावरणाणं दुवालसकसायभयजुगुच्छाणं । णियमाऽणंतंसूणं वंधेइ सिआ दुजुगलाणं ॥
उच्चस्स गुरुपएसं वंधंतो वधए गुरुपएसं । णियमाओ पचण्हं णाणावरणंतरायाणं ॥
जेट्ठं थीणद्धियतिगदुवेअणीआण मिच्छणपुमाणं । तह थीचउआगिइपणसंघयणकुखगइसरजिणाण सिआ ॥
णियमा छदरिसणावरणवारसकसायभयजुगुच्छाणं । गुरुमुअऽणतसूणं वधइ पुमदुजुगलाण सिआ ॥
वंधइ सिआ पएस गुरुं अहव संखभागूणं । सुरविउवदुगसुहखगइआगिइसुहगतिगणामाणं ॥
धुवणामाण पणिंदियपरघाऊसासतसचउक्काणं । णियमा सखसूण सिआऽण्णणरजोग्गणामाण ॥
॥८६१-६१६॥ (अष्टमी द्वादशी पञ्चदशी षोडश्यष्टादशी षड्विंशतितमी च गीति स्तथा-ऽष्टाविंशतितम्युद्गीति)

(प्रे०) "एगस्से"त्यादि गाथा एकोनत्रिंशत् , अत्रौदारिकमिश्रे आयुर्द्वयवर्जस्य द्वादशोत्तरशतस्य करणापर्याप्तानां ज्येष्ठप्रदेशबन्धो भवति, तत्राद्यगाथाचतुष्केण नामवर्जानां सम्यग्दृष्टिमिथ्यादृष्टिस्वामिकज्येष्ठप्रदेशबन्धानां ज्ञानावरणान्तरायरूपदशप्रकृतीनामतिदेशेन च वेदनीयद्वयस्य प्रस्तुतसन्निकर्षो दर्शितः, तत्र द्वितीयगाथायां पूर्वार्धे स्त्यानर्द्धित्रिकं-वेदनीयद्विकं च उत्तरार्धे

मिथ्यात्वानन्तानुबन्धिचतुष्कस्त्रीवेदनपुंसकवेदजिननामातपनामगोत्रद्वयलक्षणैकादशप्रकृतयः संगृहीताः। चतुर्थगाथोत्तरार्धस्थे "णामदुवण्णाअ" इत्यनेन नरनामध्रुवबन्धिनीजिननामातपनामलक्षणैकादशप्रकृतीनां पृथग्दर्शितत्वान्नरकद्विकाहारकद्विकयोश्च प्रस्तुते बन्धाभावाच्छेषा न। नो द्विपञ्चाशत्प्रकृतयो ज्ञेयाः, तासामध्रुवबन्धित्वात्स्याद्बन्धं करोति। शेषं सुगमम्। तत्पश्चाद्गाथाचतुष्केण स्त्यानर्द्धत्रिकस्य, तथा "एवमेव" इत्यादिनातिदेशेन नपुंसकवेदनीचैर्गोत्रयोश्च प्रस्तुतसन्निकर्षो निरूपितः, प्रस्तुतबन्धकस्य मिथ्यादृष्टित्वात् स दर्शनावरणषट्कादिविंशतिप्रकृतीनां पुरुषवेदादिपञ्चप्रकृतीनां च मार्गणाप्रायोग्योत्कृष्टप्रदेशबन्धतोऽनन्तभागहीनप्रदेशबन्धं करोति। सुखगत्यादिपञ्चानां संख्यातभागहीनज्येष्ठप्रदेशबन्धं करोति, निरुक्तपञ्चानां ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्य सम्यग्दृष्टीनामेव देवप्रायोग्याष्टाविंशतिबन्धकस्यैव लाभात्प्रस्तुते मिथ्यादृष्टीनां देवप्रायोग्यस्य बन्धाभावाच्च। अत एव चौदारिकनाम्नो नियमाद्बन्धः। देवद्विकवैक्रियद्विकजिननाम्नां च वर्जनम्। अत्र–"ऽण्णेसि" इत्यनेन तिर्यग्द्विक-मनुष्यद्विक-जातिपञ्चकौदारिकाङ्गोपाङ्ग–संहननषट्काद्यवर्जसंस्थानपञ्चक–कुखगति–पराघातोच्छ्वासो–द्योतनामत्रसचतुष्क-स्थिर शुभ-यशःकीर्तिस्थावरदशकनामानीति द्विचत्वारिंशत्प्रकृतयो गृहीताः। तदनु गाथाचतुष्केण सम्यग्दृष्टिस्वामिकज्येष्ठप्रदेशबन्धानां दर्शनावरणषट्काद्येकविंशतिप्रकृतीनां साक्षात्, हास्यादियुगलद्वयस्य चातिदेशेन प्रस्तुतसन्निकर्षो भणितः, तत्रोच्चैर्गोत्रस्य नियमाद्बन्धः प्रस्तुतबन्धकस्य सम्यग्दृष्टित्वेन प्रतिपक्षप्रकृतीनां बन्धाभावात् "दुवेअणीअजुगलजिणाणं" इत्यनेन, सातासातवेदनीयहास्यादियुगलद्वयजिननामरूपाः सप्त प्रकृतयो ग्राह्याः। अत्र ध्रुवनामादिषोडशानां नियमाद्बन्धं संख्येयभागहीनज्येष्ठप्रदेशबन्धं च करोतीत्यादि सुगमम्, केवलं देवद्विकादिनवानां द्विविधप्रदेशबन्धं तु जिननाम्नो वैकल्पिकबन्धसद्भावादष्टाविंशतिं बध्नन् ज्येष्ठप्रदेशबन्धं करोति, एकोनत्रिंशतं बध्नन् तु संख्यातभागहीनमिति "जुगलाणेवं पर ण पडिवक्खं" इत्यादि, हास्यादियुगलद्वयस्य प्रत्येकं प्रधानीकृत्य प्रस्तुतसन्निकर्षोऽतिदिष्टः केवलं प्रतिपक्षं युगलं नैव बध्नाति। तथा दर्शनावरणषट्काद्येकविंशतिं नियमाद्बध्नातीति। ततो गाथाचतुष्केण स्त्रीवेदप्रधानः प्रस्तुतसन्निकर्षः प्रकटितः। तत्र प्रस्तुतबन्धकस्य मिथ्यादृष्टित्वात् स दर्शनावरणषट्कादीनां न ज्येष्ठप्रदेशबन्धं करोति, किन्त्वनन्तभागहीनम्। पञ्चेन्द्रियजात्यादीनां प्रस्तुते नियमाद्बन्धं तु स्त्रीवेदबन्धकस्य पर्याप्तपञ्चेन्द्रियप्रायोग्यस्यैव बन्धकत्वात्। "ऽण्णणरतिरिपणिंदिजोग्गाणं" इत्यनेन तिर्यग्द्विक-मनुष्यद्विक-समचतुरस्रसंस्थान-हुण्डकसंस्थान-सेवार्तसंहनन-सुखगतिनामोद्योतनाम-स्थिरषट्का-स्थिराशुभदुर्भगानादेयायशःकीर्तिनामानीति विंशतिः प्रकृतय उपादेयाः, तथा जातिचतुष्कस्थावरचतुष्कातपदेवद्विकवैक्रियद्विकजिननामलक्षणाश्चतुर्दशप्रकृतयो मार्गणायां बन्धार्हत्वेऽपि नैव बध्यन्ते,-

प्रधानीकृतप्रकृत्या सह प्रकृतिबन्धेनैव तद्विरोधात् । तत एकयार्यया तिर्यगायुः प्रधानं प्रस्तुतसन्निकर्षो दर्शितस्तत्र बन्धार्हप्रकृतीनां प्रदेशबन्धमसंख्येयगुणहीनं तु प्रस्तुतमार्गणायामायुर्बन्धस्य लब्ध्यपर्याप्तजीवैरेव क्रियमाणत्वात्, शेषप्रकृतीनां ज्येष्ठप्रदेशबन्धकास्तु करणापर्याप्तजीवाः शरीरपर्याप्तिनिष्ठापनप्राक्समये वर्तमानास्तथा करणापर्याप्तजीवस्योत्कृष्टयोगतो लब्ध्यपर्याप्तजीवस्य ज्येष्ठयोगस्यासंख्येयगुणहीनत्वाच्च । "ऽपणनिरिजोग्गपयडीण"मित्यनेन संगृहीताः प्रकृतयः पुनरिमाः—सातासातवेदनीयद्वयवेदत्रयहास्यादियुगलद्वयजातिपञ्चकौदारिकाङ्गोपाङ्गसंहननषट्कसंस्थानषट्कखगतिद्वयपराघातोच्छ्वासातपोद्योतत्रसदशकस्थावरदशकनामानीति त्रिपञ्चाशत् । ततो गाथाद्वयेन मनुष्यायुःप्रधानः प्रस्तुतसन्निकर्षो दर्शितः, तत्रापि शेषमनुयप्रायोग्यैकचत्वारिंशत्प्रकृतयः पुनरेताः-वेदनीयद्वयवेदत्रयहास्यादियुगलद्वयसंहननषट्कसंस्थानषट्कखगतिद्वयपराघातोच्छ्वासस्थिरषट्कास्थिरषट्कपर्याप्तापर्याप्तनामगोत्रद्वयलक्षणाः । तदनु एव गाथय प्रस्तुतमार्गणासु यासां नामप्रकृतीनां ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्वामिनः केवलसम्यग्दृष्टयस्तासां देवद्विकादिदशनामप्रकृतीनां प्रत्येकं प्रधानीकृत्यातिदेशेन प्रस्तुतसन्निकर्षो दर्शितस्तत्र नामवर्जानामष्टात्रिंशत्प्रकृतीनां निद्राद्विकवत् सन्निकर्षो वाच्यः, उभयत्र स्वामिनां सम्यग्दृष्टित्वात्, अष्टात्रिंशत्प्रकृतयः पुनरिमाः—ज्ञानावरणपञ्चक-दर्शनावरणषट्काद्यवर्जद्वादशकषायभयजुगुप्साहास्यरतिशोकारतिपुरुषवेदसातासातवेदनीयोच्चैर्गोत्रान्तरायपञ्चकानीति । तत एकगाथया मिथ्यादृष्टौ नामैकोनत्रिंशद्बन्धे यासां ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्तासां नवानां प्रस्तुतसन्निकर्षः प्ररूपितस्ताःपुनश्चरमवर्जप्रथमादिसंहननपञ्चकं मध्यमसंस्थानचतुष्कं चेति नव, शेषं सुगमम् तदनु शेषनामप्रकृतीनां यासां ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्त्रयोविंशतौ पञ्चविंशतौ षड्विंशतौ वा भवति तासां प्रत्येकं प्रधानीकृत्य प्रस्तुतसन्निकर्षं गाथात्रयेण दर्शयति—तत्र नपुंसकवेदनीचैर्गोत्रयोर्नियमाद्बन्धं करोतीत्यादि तु प्रस्तुतप्रकृतीनां ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्यैकेन्द्रियप्रायोग्यत्वादपर्याप्तद्वीन्द्रियादिप्रायोग्यत्वाच्च । ततो गाथापञ्चकेनोच्चैर्गोत्रप्रधानं प्रस्तुतसन्निकर्षं प्रतिपादयति—अस्य ज्येष्ठप्रदेशबन्धो ज्ञानावरणवत्प्रथम-चतुर्थगुणस्थाने भवति ततः प्रस्तुतसन्निकर्षो ज्ञानावरणवद्विज्ञेयः, केवलं प्रस्तुते तिर्यक्प्रायोग्यप्रकृतीनामपर्याप्तप्रायोग्याणां च बन्धाभावात् पञ्चेन्द्रियजात्यादीनां नियमाद्बन्धः । "ऽपणणरजोग्गणामाणं" इति पञ्चमगाथाचरमपदम्, तेन सूचिताः प्रकृतयः पुनरिमाः—मनुष्यद्विकौदारिकद्विकसेवार्तहुण्डकस्थिरशुभयशःकीर्तिनामास्थिराशुभदुर्भगानादेयायशःकीर्तिनामानीति । शेषं सुगमम्, मूलग्रन्थत एव सहेतुकं परिभावनीयम् ॥८९१-९१९॥

एतर्हि कार्मणानाहारकमार्गणाद्वये प्रस्तुतसन्निकर्षं प्ररूपयन्नाह—

कम्माणाहारेसुं पणणाणावरणअंतरायाओ । एगरस्स जेट्ठबंधी णवण्ह बंधइ गुरुं णियमा ॥
बंधेइ सिआ जेट्ठं थीणद्धियतिगदुवेअणीआणं । मिच्छत्ताणचउगथीणपुंसआयवदुगोआणं ॥

णियमा छदंसणावरणबारसकसायभयजुगुच्छाणं । गुरुमुअऽणंतंसूणं वंधइ पुमदुजुगलाण सिआ ॥
धुवणामाणं णियमा वंधइ गुरुलहव संखभागूणं । सेसाण सिआ एव दुवेअणीआण णवरि ण विरुद्ध ॥
छदरिसणावरणपुरिसदुवालसकसायभयजुगुच्छाओ । एगस्स जेट्ठवधी वंधइ णियमा गुरुपएसं ॥
सेसाणं वीसाए तह णाणावरणउच्चविग्घाणं । वंधइ जेट्ठपएसं दुवेअणीअजुगलाण सिआ ॥
णियमा धुवगरघाऊसासपणिंदितसचउगणामाणं । संखसूण णरुरलदुगतिथिराइजुगलाण सिआ ॥
वंधइ सुखगइआगिइसुहगतिगाण णियमा गुरुं अहवा । संखसूण तु सिआ जिणसुरविउव्वदुगवइराणं ॥
एमेव दुजुगलाणं सेसाणं उरलमीसगव्व परं । गुरुमुअ संखसूणं सिअ वइरजिणाण उच्चगुरुबंधी ॥
वइरस्स जेट्ठबंधी णामाणं वंधए सठाणव्व । सेसाणं पयडीणं णाणावरणव्व वधेइ ॥
(चतुर्थी नवमी च गीति) ॥६२०-९२६॥

(प्रे०) "कम्माणाहारेसु"मित्यादिगाथादशकम् , तत्राद्यगाथाचतुष्केण ज्ञानावरणपञ्चकान्तरायपञ्चकवेदनीयद्विकलक्षणा द्वादशप्रकृतयस्तासां प्रत्येकं प्रधानीकृत्य प्रस्तुतसन्निकर्षो दर्शितः स चौदारिकमिश्रमार्गणावत्सर्वः प्राप्यते केवलं तत्र जिननाम्नो ज्येष्ठ एव प्रदेशबन्धः प्रस्तुते तु मनुष्यापेक्षया ज्येष्ठो देवनारकापेक्षया संख्येयभागहीनज्येष्ठप्रदेशबन्ध इति द्वैविध्यभावाज्जिननाम्नः शेषप्रकृत्या सह संग्रहः । तदनु सातिरेकगाथाचतुष्केण दर्शनावरणषट्कादिपञ्चविंशतिप्रकृतीनां प्रस्तुतसन्निकर्षो दर्शितः, सोऽपि प्रागनन्तरदर्शितौदारिकमिश्रकाययोगवद्विभावनीयः केवलं तत्र देवद्विकवैक्रियद्विकयोर्नियमाद्बन्धः, वज्रर्षभनाराचसंहननस्याबन्धः, एवं मनुष्यद्विकौदारिकद्विकयोरप्यबन्धः, प्रस्तुते तु नवानामपि स्याद्बन्धो वज्रर्षभनाराचसंहननस्य मनुष्यद्विकौदारिकद्विकयोश्च ज्येष्ठं संख्यातभागहीनं च प्रदेशबन्धं स करोति । तथा जिननाम्नस्तत्रोत्कृष्टप्रदेशबन्धं करोति, प्रस्तुते तु ज्येष्ठप्रदेशबन्धं संख्यातभागहीनज्येष्ठप्रदेशबन्धं वा करोति । एवं गाथाऽष्टकेन सातिरेकेण सप्तत्रिंशत्प्रकृतीनां प्रस्तुतसन्निकर्षो दर्शितः, शेषाणां पञ्चसप्ततेः प्रस्तुतसन्निकर्षं सापवादमतिदेशेन ग्रन्थकारो देशोनगाथाद्वयेन दर्शयति—"सेसाण"मित्यादिना—तत्र सुखगति-समचतुरस्रसंस्थानसुभगत्रिकरूपाणां पञ्चानां ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्योभयत्र सम्यग्दृष्टिमनुष्यस्वामिकत्वादेवं कासाञ्चित्प्रकृतीनां ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्योभयत्र मिथ्यादृष्टितिर्यग्मनुष्याणामेव स्वामिकत्वात् कासाञ्चित्प्रकृतीनां प्रस्तुते देवानामपि ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्वामिकत्वलाभेऽपि न ततः कश्चिद् विशेषः, उच्चैर्गोत्रवज्रर्षभनाराचसंहननयोः प्रधानत्वे यो विशेषः तं दर्शयति—"**पर**" इत्यादिना, उच्चैर्गोत्रज्येष्ठप्रदेशबन्धं कुर्वन् तत्रौदारिकमिश्रकाययोगमार्गणायां जिननाम्नो वज्रर्षभनाराचसंहनननाम्नश्च ज्येष्ठमेव प्रदेशबन्धं करोति, किन्तु प्रस्तुते तु संख्यातभागहीनमपि, यतोऽत्र एते द्वे अपि प्रत्येकं बन्धस्थानद्वयेन बध्येते इत्येकमपवादपदम् , अन्यत्पुनरेवम्—वज्रर्षभनाराचसंहननज्येष्ठप्रदेशबन्धं कुर्वन् नामप्रकृतीनां सन्निकर्षः स्वस्थानसन्निकर्षवद्विज्ञेयः, नामेतरप्रकृतीनां ज्ञानावरणप्रधानसन्निकर्षो यथा निरूपितस्तथा वक्तव्यो ज्ञानावरणवत् प्रधानीकृतवज्रर्षभनाराचप्रकृतेः प्रस्तुते सम्यग्दृष्टिमिथ्यादृष्ट्युभयस्वामिकत्वात् ,तत्रौदारिकमिश्रकाययोगे तु केवलमिथ्यादृष्टय एवेति

तत्र स्त्यानर्द्धित्रिकवदतिदिष्ट इति । अतिदेशवशलब्धसन्निकर्षस्तु स्वयमुपयुज्य वाच्यः, तदुपयुक्तस्य सुखेनाऽवगम्यमानत्वात् ॥१२०-१२१॥

संप्रति स्त्रीवेदमार्गणायां विंशत्युत्तरशतस्य प्रस्तुतसन्निकर्षं प्रदर्शन्नाह—

एगस्स जेट्ठवंधी पणणणावरणअंतरायाओ । थीए णियमा जेट्ठं वंधेइ णवण्ह सेसाणं ॥
वंधेइ सिआ जेट्ठं थीणद्धियतिगदुवेअणीआणं । मिच्छाणथीणपुमजिणणिरयदुगायवदुगोआणं ॥
दसणसंजलणाणं णियमा गुरुमुअ अणंतभागूणं । दुजुगलणिद्दामज्झिमकसायभयकुच्छगाण सिआ ॥
पुरिसजसाण गुरुं उअ संखगुणूणं सिआऽण्णणामाणं । वासट्ठीए वंधइ गुरु अहव संखभागूण ॥४
एगस्स जेट्ठवंधी णिद्दुगा वंधए गुरुं णियमा । अण्णस्स य भयकुच्छाणाणावरणुच्चविग्घाणं ॥
णियमाऽणंतंसूणं वीआवरणचउगाण कुणइ गुरुं । सायियरदुजुगलदुइअकसायतित्थवइराण सिआ ॥
तइअकसायाण सिआ गुरुमुअऽणंतंसहीणमंताणं । णियमा पुमस्स वंधइ संखगुणूणं जसस्स सिआ ॥
णियमा धुवपरघाऊसासतसचउगपणिंदिणामाणं । संखसूणं णरुरलथिराथिरदुगाजसाण सिआ ॥
वंधइ सिआ सुरविउवआहारदुगाण संखभागूणं । अहव गुरुं णियमा सुहआगिइखगइसुहगतिगाणं ॥८
एगस्स जेट्ठवंधी वीआवरणचउगा गुरुं णियमा । णाणावरणतिदंसणसायासंजलणउच्चविग्घाणं ॥
पुरिसजसाणं णियमा वंधइ गुरुमहव संखगुणहीणं । हस्सचउगतित्थाणं वंधेइ सिआ गुरुपएसं ॥
सुरविउवाहारजुगलपढमागिइसुहगतिगसुखगईणं । वंधेइ सिआ जेट्ठं अहवा संखेज्जभागूणं ॥
धुवणामाण पणिंदियपरघाऊसासतसचउक्काणं । तह थिरसुहाण वंधइ सिआ उ संखेज्जभागूणं ॥१३
सायस्स गुरुपएसं वंधंतो वंधए गुरुपएस । णियमाओ पंचण्हं णाणावरणंतरायाणं ॥
थीणद्धितिगाणणपुमथीमिच्छजिणायवुच्चणीआणं । जेट्ठं सिआ गुरुं उअ संखगुणूणं पुमजसाणं ॥
दंसणसंजलणाणं णियमा गुरुमुअ अणंतभागूणं । वंधइ सिआ दुणिद्दाहस्सछगाणऽडकसायाणं ॥
कुखगइसराण वंधइ संखसूणं सिआऽण्णणामाणं । णिरयजुगलवज्जाणं गुरुं अहव संखभागूणं ॥१७
णाणावरणाण तहा विग्घाण गुरुं असायगुरुवंधी । णियमाऽणंतंसूणं तु दरिसणावरणचउगाणं ॥
थीणद्धितिगाणणपुमथीमिच्छणिरयदुगायवजिणाणं । गोआण गुरुं तु सिआ संखगुणूणं पुमजसाणं ॥
दुजुगलऽडकसायाणं सिआ गुरुं उअ अणंतभागूणं । णियमा कुणइ दुणिद्दाचउसंजलणभयकुच्छाणं ॥
धुवणामाणं णियमा वंधइ गुरुमहव संखभागूणं । णामिगवण्णाअ सिआ आहारदुगूणसेसाणं ॥२१
पुरिसस्स जेट्ठवंधी णियमा वंधइ गुरुं च सायस्स । आवरणाण णवण्हं संजलणजसुच्चविग्घाणं ॥२२
एवं जसस्स णवरं पुमस्स गुरुमहव संखगुणहीणं । णियमा वंधइ जेट्ठं वंधइ हस्सचउगस्स सिआ ॥२३
मोहाणं दुजुगलभयकुच्छाबारसकसायगुरुवंधी । सट्ठाणव्व उ वंधइ णिद्दव्वऽण्णाण खलु णवरं ॥
णामदुणिद्दाण सिआ हस्सचउगसजलणवंधी । दंसणचउगजसाणं गुरुमवि णाहारदुगमियरवंधी ॥
चरमकसायऽट्ठगगुरुवंधी णरउरलजुगलवइराणि । णो चिअ वंधइ णियमा सुरविउवदुगाण वंधेइ ॥२६
आऊणोघव्व णवरि चउसंजलणाण संखभागूणं । मणुयाउजेट्ठवंधी तित्थं णो चेव वंधेइ ॥२७
आहारदुगस्स गुरुं वंधंतो वंधए सठाणव्व । णामाण दुणिद्दाणं वंधेइ सिआ गुरुपएसं ॥
संखगुणूणं णियमा पुमस्स गुरुमुअ अणंतभागूणं । चउवीआवरणाणं णियमा गुरुमणणवीसाए ॥२९
तित्थस्स जेट्ठवंधी णाणावरणभयकुच्छउच्चाणं । विग्घाण गुरुं णियमा कुणइ सठाणव्व णामाणं ॥
चउवीआवरणाणं चउसंजलणाण वंधए णियमा । गुरुमुअऽणंतंसूणं सिआ कसायाण तइआणं ॥
जेट्ठं सिआ दुणिद्दासायियरदुइअकसायजुगलाणं । वंधइ णियमाहिन्तो पुमस्स संखेज्जगुणहीणं ॥३२
गुरुमुअजेट्ठवंधी पणणाणावरणअंतरायाणं । णियमा गुरुमुअ संखियगुणहीणं पुमजसाण सिआ ॥

४६ अ

जेट्ठं थीणद्धियतिगदुवेअणीअअणमिच्छणपुमाणं । थीचउसंघयणागिइजिणवइराणं कुणेइ सिआ ॥
गुरुमुअऽणंतंसूण चउवीआवरणसंजलणगाणं । णियमा सिआ दुणिद्दाछणोकसायऽडकसायाणं ॥
णरुरलदुगहुंडगधुवणामपणिंदियछिवट्ठणामाण । परघाऊसासाणं कुखगइनमअथिरछक्काणं ॥
संखसूण वधइ सिआ गुरुं अहव संखभागूणं । सुरविउव्वाहारदुगसुआगिइखगइसुहगतिगाणं ॥३७
सेसाण तिरिव्व णवरि जहिं वंधो पुमजसाण तहिं तेसिं । संखंगुणूणं सुरदुगसुखगइसंठाणसुहगतिगवंधी॥
आहारदुगम्स गुरुं वधेइ सिआ सिआ दुणिद्दाणं । तइअकसायाणं सिं छण्हं विउवदुगवंधी वि ॥
थीणद्धितिगाणचउगमिच्छाण कुणइ सिआ वइरवंधी । गुरुमवि णिद्दुगदुइअकसायहस्सछगपयडीणं ॥४०

(दशम्यष्टात्रिंशत्तमी च गीतिस्तथा पञ्चविंशतितम्युद्गीतिः) ॥६३०-६६६॥

(प्रे०) '**एगस्स जेट्ठबंधो**" इत्यादि, चत्वारिंशद्गाथासंग्रहः, तत्राऽऽद्यगाथाचतुष्केण स्त्रीवेदमार्गणायां ज्ञानावरणपञ्चका-ऽन्तरायपञ्चकलक्षणदशप्रकृतिप्रधानसन्निकर्षः, तद्यथा-उक्तदशप्रकृतिभ्य एकस्याः प्राधान्ये शेषनवानां नियमाद् वन्धो ज्येष्ठप्रदेशवन्धश्च स्त्यानर्द्धित्रिकसाताऽसातवेदनीयमिथ्यात्वाऽनन्तानुवन्धिचतुष्कस्त्रीनपुंसकवेदजिननामनरकद्विकाऽऽतपनीचैर्गोत्रोच्चैर्गोत्रलक्षणाऽष्टादशानां स्याद् वन्धः, प्रदेशवन्धस्तु तासां ज्येष्ठ एव, प्रस्तुतमार्गणाया नवमगुणस्थानप्रथमभागान्तं यावदेव सद्भावात् । ततः किम्? तस्मात् ज्ञानावरणीयपञ्चका-ऽन्तरायपञ्चकसातवेदनीयोच्चैर्गोत्राणां प्रथमादिगुणस्थानकेऽपि ज्येष्ठप्रदेशवन्धः प्राप्यते दर्शनावरणचतुष्कस्य निद्राद्विकवन्धविच्छेदादूर्ध्वं मार्गणाचरमसमयपर्यन्तं ज्येष्ठप्रदेशवन्धाऽर्हत्वमस्ति, संज्वलनचतुष्कस्य षष्ठगुणस्थानकात् नवमगुणस्थाने मार्गणाचरमसमयं यावज्ज्येष्ठप्रदेशवन्धो भवितुमर्हति, यतोऽत्र सर्वत्र मोहनीयकर्मणो वन्धोऽस्ति तेन नौघवत्प्रस्तुतसन्निकर्षः, किन्तु विशेषयुक्तः, स च विशेषः स्वामित्वमनुसृत्य विभावनीयः ।

प्रस्तुते जिननाम्नो ज्येष्ठ एव प्रदेशवन्धस्तु तद्वन्धकत्वेन मानुषीणामेव लाभात्, देवीनां जिननामवन्धकत्वाऽभावान्न संख्यातभागहीनप्रदेशवन्धोऽपीति भावः । दर्शनावरणचतुष्कस्य संज्वलनचतुष्कस्य च स ज्ञानावरणादिज्येष्ठप्रदेशवन्धको नियमाद् वन्धं विदधाति, प्रदेशवन्धं तु ज्येष्ठमनन्तभागहीनं वा, तत्र दर्शनावरणचतुष्कस्य निद्राद्विकादिवन्धभावेऽनन्तभागहीनमितरथा ज्येष्ठम् । संज्वलनचतुष्कस्य प्रस्तुतवन्धको यदा षष्ठादिनवमान्तगुणस्थानेषु तदा ज्येष्ठं यदा पुनःपञ्चमादिगुणस्थाने तदाऽनन्तभागहीनं वध्नाति, भावना तु सुगमा ।

तथा हास्यादियुगलद्वयनिद्राद्विकप्रत्याख्यानावरणाऽप्रत्याख्यानावरणकषायाऽष्टकभयजुगुप्सारूपषोडशप्रकृतीः स स्याद् वध्नाति, प्रदेशवन्धं च तासां ज्येष्ठमनन्तभागहीनज्येष्ठं वा करोति, भावना तु ओघेऽसातवेदनीयप्रधानसन्निकर्षे यथा कृता तथा कार्या, केवलं निद्राद्विकभयजुगुप्सानां स्याद्वन्धो ज्ञातव्यः । तथा पुरुषवेदयशःकीर्तिनाम्नोः स्याद् वन्धः, प्रदेशवन्धस्तु तयोरुत्कृष्टः संख्यातगुणहीनो वा भवति, तत्र पुरुषवेदस्य प्रस्तुतवन्धके नवमगुणस्थाने वर्तमाने सत्युत्कृष्टप्रदेशवन्धोऽष्टमान्तगुणस्थानके वर्तमाने तु संख्यातगुणहीनः, एवं यशःकीर्तिनाम्नोऽष्टमगुणस्थानषष्ठ

भागादूर्ध्वं वर्तमानः प्रस्तुतबन्धक उत्कृष्टप्रदेशं बध्नाति, तदधस्ताद्वर्तमानस्त्वनुत्कृष्टमुत्कृष्टतः संख्यातगुणहीनम् , तथा जिननामनरकद्विकाऽऽतपयशःकीर्तिनामवर्जशेषद्वाषष्टिनामप्रकृतीनां स्याद्बन्धं द्विविधप्रदेशबन्धं च करोति, प्रस्तुतबन्धकस्य नाम्नो नानाविधबन्धस्थानानां सद्भावात् ।

एवं ज्ञानावरणाऽन्तरायप्रधानसन्निकर्षं निरूप्य गाथापञ्चकेन निद्राद्विकप्रधानं प्रस्तुतसन्निकर्षं प्ररूपयति । 'एगस्से''त्यादि, भावना त्वोघवत्कार्या, केवलं ज्ञानावरणपञ्चका-ऽन्तरायपञ्चकोच्चैर्गोत्र सातवेदनीयरूपाणां द्वादशानामोघे संख्यातभागहीनज्येष्ठप्रदेशबन्धो भवति, प्रस्तुते तु तासां ज्येष्ठ एव, तत्र सातवेदनीयस्य स्याद् बन्धः शेषैकादशानां नियतबन्धश्चौघवदेव तथा दर्शनावरणचतुष्कस्य तु प्रस्तुतेऽनन्तभागहीन एव प्रदेशबन्धः, ओघे तु संख्यातभागहीनज्येष्ठप्रदेशबन्धः प्राप्यते, नियमाद् बन्धस्तूभयत्राऽपि ओघे प्रस्तुते च विज्ञेयः । एवं संज्वलनचतुष्कस्य प्रस्तुते ज्येष्ठमनन्तभागहीनं वा प्रदेशं बध्नाति । निद्राद्विकप्रधानसन्निकर्षे जिननाम्न ओघे द्विविकल्पगतप्रदेशबन्धलाभेऽपि प्रस्तुते मानुपीणामेव तल्लाभाज्ज्येष्ठ एव प्रदेशबन्धः । एवं वज्रर्षभनाराचसंहनननाम्नोऽपि प्रस्तुतमार्गणागतानां सम्यग्दृष्टिदेवीनां मनुष्यप्रायोग्यैकोनत्रिंशद् बन्धस्थानस्यैव लाभान्न द्विविधप्रदेशबन्धः किन्तु ज्येष्ठ एवेति, निरुक्तविशेषान् विहाय शेषनिद्राद्विकप्रधानसन्निकर्ष ओघवदेव भावनीयः ।

एवं निद्राद्विकप्रधानं प्रस्तुतपरस्थानज्येष्ठप्रदेशबन्धसन्निकर्षं निरूप्य गाथाचतुष्केण दर्शनावरणचतुष्कप्रधानं प्रस्तुतसन्निकर्षं निरूपयति—''एगस्से'' त्यादि, प्रस्तुतबन्धकाऽष्टमगुणस्थानद्वितीयभागादिस्थितस्ततो ज्ञानावरणाद्येकोनविंशतिप्रकृतीर्नियमाद् बध्नाति, प्रदेशबन्धमपि तासां ज्येष्ठमेव । पुरुषवेदयशःकीर्तिनाम्नोस्तु नियमतो बन्धं प्रस्तुतबन्धको विदधाति, प्रदेशबन्धं तु तयोर्ज्येष्ठं संख्यातगुणहीनं वा करोति, नानाबन्धस्थाने तयोर्बन्धसद्भावात् । हास्यरतिभयजुगुप्सारूपस्य हास्यचतुष्कस्य जिननाम्नश्च स्याद् बन्धं विदधाति, प्रदेशबन्धं तु तासां ज्येष्ठमेव, तत्र हास्यादिचतुर्णां नवमगुणस्थाने बन्धाऽभावात्स्याद्बन्धः, जिननाम्नस्तु केषाञ्चिज्जीवानामेव बन्धसद्भावात् , ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्तु सुगमः । तथा सुरद्विकाद्येकादशप्रकृतीनां स्याद्बन्धको भवति, निवृत्तिबादरसंपरायगुणस्थानषष्ठभागादूर्ध्वं तद्बन्धाऽनर्हत्वात् , केषाञ्चिदेव जीवानामाहारकद्विकबन्धसद्भावाच्च स्याद् बन्धकः, प्रदेशबन्धं तु तासां ज्येष्ठं संख्यातभागहीनं वा करोति, तत्र सुरद्विकादीनामष्टाविंशतौ ज्येष्ठप्रदेशबन्धलाभः, आहारकद्विकस्य तु त्रिंशद्बन्धस्थाने ज्येष्ठप्रदेशबन्धभावः, अत एवैकोनत्रिंशतमेकत्रिंशतं वा बध्नतस्तासां संख्यातभागहीनत्वम् । तथा नवनामध्रुवबन्धिनीनां पञ्चेन्द्रियादिनवप्रकृतीनां च स्याद् बन्धस्तु प्राग्वत् , संख्यातभागहीनस्तु त्रयोविंशत्यादावासां ज्येष्ठप्रदेशबन्धभावात् , प्रस्तुते त्वासां बन्धस्याऽष्टाविंशत्यादावेव सद्भावात् न देवद्विकादिवज्ज्येष्ठप्रदेशबन्धकत्वमपि ।

अथ प्रस्तुतस्त्रीवेदमार्गणायामेव सातवेदनीयप्रधानसन्निकर्षो गाथाचतुष्केण दर्शयति—"**सायस्से**" त्यादि, स च सातवेदनीयप्रधानप्रस्तुतसन्निकर्षः प्रस्तुतमार्गणागतज्ञानावरणप्रधानसन्निकर्षवद्विज्ञेयः, केवलं सातवेदनीयबन्धेन समं नरकगतिप्रायोग्याणामसातवेदनीयस्य च बन्धो न भवति प्रकृतिबन्धेनैव विरोधात्, अतो नरकद्विकस्यासातवेदनीयस्य च तत्र ज्ञानावरणप्रधानसन्निकर्षे-बन्धभावेऽपि प्रस्तुते तन्न बध्नाति तथा प्रस्तुते नरकप्रायोग्यस्य बन्धाभावात् कुखगतिदुःस्वरनाम्नो-र्ज्ञानावरणप्रधानसन्निकर्षवत्तयोः स्याद्बन्धभावेऽपि तत्र मतिज्ञानावरणप्रधानसन्निकर्षे तयोर्ज्येष्ठ-प्रदेशबन्धः संख्यातभागहीनज्येष्ठप्रदेशबन्धश्चे ति द्विविकल्पगतो बन्धो भवति, प्रस्तुते तु तयोर्ज्येष्ठ-प्रदेशबन्धो नैव प्राप्यते, किन्तु संख्यातभागहीन एव ज्येष्ठप्रदेशबन्धः । नरकप्रायोग्यं बध्नत एव तयोर्ज्येष्ठप्रदेशबन्धभावात्, प्रस्तुते तु नरकप्रायोग्याऽबन्धाच्च । सातवेदनीयप्रधानसन्निकर्षे चतुर्थगाथायां "**ऽणणामाणं निरयजुगलवज्जाणं**" इत्यनेन नाम्नः षष्टिप्रकृतयो ग्राह्याः, जिननामाऽऽतपयशःकीर्तिनामदुःस्वरकुखगतिनाम्नां पृथग्दर्शितत्वात् नरकद्विकस्य बन्धाऽभावाच्च ।

अथ गाथाचतुष्केणा-ऽसातवेदनीयप्रधानसन्निकर्षं दर्शयति—"**णाणावरणाणे**"त्यादि, प्रस्तुतसर्वसन्निकर्षो मतिज्ञानावरणादिप्रधानसन्निकर्षवद्भावनीयः, केवलं दर्शनावरणचतुष्कस्य तत्र द्विविधः प्रदेशबन्धो ज्येष्ठोऽनन्तभागहीनज्येष्ठश्च, प्रस्तुते तु तस्याऽनन्तभागहीन एव, निद्राद्विकस्याऽत्राऽवश्यं बन्धभावात् तथा निद्राद्विकभयजुगुप्सानां नवध्रुवबन्धिनाम्नामित्येव त्रयोदशानां तत्र स्याद्बन्धभावेऽपि प्रस्तुते तासां नियतो बन्धस्तासां प्रदेशबन्धस्तु तद्वदेव । सातवेदनीयं च नैव बध्नाति, तथा पुरुषवेदयशःकीर्तिनाम्नोस्तु तत्र ज्येष्ठः संख्यातगुणहीनज्येष्ठश्चे ति द्विविधः प्रदेशबन्धः, प्रस्तुते तु तयोः संख्यातगुणहीन एव, स्यान्नियतबन्धादिकं तु तद्वदेव, तथाऽऽहारकद्विकं न बध्नातीत्यपवादचतुष्टयम्, एतच्चाऽर्थतो दर्शितम्, गाथार्थः सुगमः स्वयं परिभावनीयश्च । तत्र चतुर्थगाथाया उत्तरार्धे "**णामिगवण्णाअ**" इत्यनेन नरकद्विका-ऽऽतप-जिननामा-ऽऽहारकद्विक-नवध्रुवबन्धिन्य इति षोडशप्रकृतीर्विहाय शेषा एकपञ्चाशत्प्रकृतयो बोध्याः । तत एकयाऽऽर्यया पुरुषवेदप्रधानः प्रस्तुतसन्निकर्षो निरूपितः, नवमगुणस्थाने द्वाविंशतिबन्धकस्यैव प्रस्तुतमार्गणाया भावेन शेषैकविंशतेर्ज्येष्ठ एव प्रदेशबन्धः, प्रकृतिबन्धोऽपि नियमात्प्रतिपक्षप्रकृतीनां प्रस्तुते बन्धाऽभावात् । तदन्वेकयाऽऽर्यया साऽपवादं यशःकीर्तिनाम्नः पुरुषवेदवदतिदेशेन प्राह—"**एवं**" इत्यादि, प्रस्तुते यशःकीर्तिनाम्नो ज्येष्ठप्रदेशबन्धोऽष्टमगुणस्थानसप्तमभागप्रारम्भाद् मार्गणाचरमसमयं यावत्कुत्रचिदपि वर्तमानस्य भवति, ततो यशःकीर्तेर्ज्येष्ठप्रदेशबन्धकस्य नवमगुणस्थानके वर्तमाने पुरुषवेदस्य ज्येष्ठप्रदेशबन्धो भवति, अष्टमगुणस्थानकसप्तमभागे वर्तमाने तु हास्यादिचतुर्णां बन्धभावात्संख्यातगुणहीनज्येष्ठप्रदेशबन्धो भवति, आसन्नपञ्चमांशद्रव्यस्यैव लाभात्तथा तस्य हास्यादीनां स्याद्बन्धो भवति, प्रदेशबन्धस्तु तासां ज्येष्ठ एवेति, शेषविंशतेस्तु तद्व-

न्नियमतो बन्धो ज्येष्ठप्रदेशबन्धश्च ।

तदनु गाथात्रयेणाऽनन्तानुबन्धिचतुष्कवर्जद्वादशकषायभयजुगुप्साहास्यादियुगलद्वयरूपाणामष्टादशानां सापवादमतिदेशेन प्रदर्शयन्नाह-"मोहाणं" इत्यादि, द्वादशकषायभयजुगुप्साहास्यादियुगलद्वयरूपाऽष्टादशमोहनीयप्रकृतीनां प्रत्येकं प्रधानीकृत्य प्रस्तुतसन्निकर्ष उच्यमाने तेन सह बन्धाऽर्हाणां शेषमोहनीयप्रकृतीनां सन्निकर्षः स्वस्थानवद्वाच्यः, मोहनीयेतरप्रकृतीनां तु यथा प्रस्तुते निद्राद्विकप्रधानसन्निकर्ष उक्तस्तथा वाच्यः, उभयत्र सम्यग्दृष्टिस्वामिकत्वात् । अत्रातिदेशे प्राप्ताऽपवादपदानि आर्याद्वयेन प्राह-हास्यरतिभयजुगुप्सानां ज्येष्ठप्रदेशबन्धकस्तथा संज्वलनचतुष्कस्य ज्येष्ठप्रदेशबन्धकस्तत्र नियतबन्धाऽर्हाणां पञ्चेन्द्रियजात्यादीना प्रस्तुते स्याद्बन्धको भवति, तथा निद्राद्विकस्याऽपि स्याद्बन्धं विदधाति, तथा तत्र स यशःकीर्तिनाम्नः संख्यातगुणहीनम्, एवं दर्शनावरणचतुष्कस्यानन्तभागहीनमेव प्रदेशं बध्नाति, प्रस्तुते तु निरुक्ताऽष्टप्रकृतिप्रधानसन्निकर्षे तु तासा पञ्चानां ज्येष्ठप्रदेशबन्धकोऽपि भवति, तथा मध्यमाऽष्टकषायाऽरतिशोकरूपाणां दशानां ज्येष्ठप्रदेशबन्धक आहारकद्विकं नैव बध्नाति, निद्राद्विकप्रधाने तु तद्बन्धो भवति । तथा प्रत्याख्यानावरणचतुष्कसंज्वलनचतुष्कज्येष्ठप्रदेशबन्धको मनुष्यपञ्चकं नैव बध्नाति तथा प्रत्याख्यानावरणचतुष्कज्येष्ठप्रदेशबन्धको देवद्विकवैक्रियद्विके नियमाद् बध्नाति, तस्य नियमतः पञ्चमगुणस्थानवर्तित्वात् । संज्वलनचतुष्कप्राधान्ये तु देवद्विकवैक्रियद्विकयोः स्याद्बन्धस्य "णामदुणिद्दाण सिआ" इत्यादिना दर्शितत्वात् ।

तत एकार्यया आयुश्चतुष्कप्रधानं प्रस्तुतसन्निकर्षं सापवादमोघवदतिदिशति-"आऊणोघव्वे" त्यादि, उभयत्रस्वामिनां साम्यात्, केवलं तत्रौघे संज्वलनलोभादीनां संख्येयगुणहीनज्येष्ठप्रदेशबन्धः, प्रस्तुते तु संज्वलनचतुष्कस्य संख्यातभागहीन एव ज्येष्ठप्रदेशबन्धः, षष्ठादिगुणस्थानेऽपि तज्ज्येष्ठप्रदेशबन्धसंभवात् । तथा मनुष्यायुषो ज्येष्ठप्रदेशबन्धं कुर्वन् जिननामकर्म प्रस्तुते न बध्नाति देवीनां जिननाम्नो बन्धाऽभावात्, भावना त्वोघमनुसृत्य यथासंभवं कार्या । तदनु गाथाद्वयेनाऽऽहारकद्विकप्रधानं प्रस्तुतसन्निकर्षं प्रदर्शयन्नाह-"आहारदुगस्से"त्यादि, तत्र बन्धाऽर्हाणां नामप्रकृतीनां स्वस्थानसन्निकर्षवत्सन्निकर्षो विज्ञेयः, निद्राद्विकस्य स्याद्बन्धोऽपूर्वकरणद्वितीयादिभागगतप्रस्तुतबन्धकस्य तद्बन्धाऽभावात्, यदि बध्नाति तदा ज्येष्ठमेवप्रदेशबन्धं करोति, पुरुषवेदं नियमेन बध्नाति, प्रदेशबन्धं तु तस्य संख्यातगुणहीनम् दर्शनावरणचतुष्कस्य नियमेन ज्येष्ठमनन्तभागहीनज्येष्ठप्रदेशबन्धं च करोति, शेषाणां ज्ञानावरणपञ्चकाऽन्तरायपञ्चकसंज्वलनचतुष्कहास्यरतिभयजुगुप्सासातवेदनीयोच्चैर्गोत्राणां विंशतेर्नियमाज्ज्येष्ठप्रदेशबन्धं विदधाति, हेत्वादिभावना तु सुगमा । ततो गाथात्रिकेण जिननामप्रधानः परस्थानज्येष्ठप्रदेशबन्धसन्निकर्षो निरूपितः, तत्र बन्धाऽर्हनामत्रयस्त्रिंशत्प्रकृतीनां स्वस्थानवद्भवति दर्शनावरणचतुष्कस्य नियमेन ज्येष्ठमनन्तभागहीनं वा बध्नाति, निद्राद्विकस्य स्याज्ज्येष्ठप्रदेशबन्धं च करोति, शेषाणां द्वात्रिंशतो निद्राद्विकप्रधानसन्निकर्षवत् प्रस्तुतसन्निकर्षो बोध्यः,

चतुर्थाद्यष्टमान्तगुणस्थानगतमानुषीणां जिननाम्नो ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्वामित्वमवधार्य भावनादयः स्वयं कार्या इति । ततो गाथापञ्चकेनोच्चैर्गोत्रप्रधानः प्रस्तुतसन्निकर्षो दर्शितः । अत्र चतुर्थगाथायाः "तसअथिरछक्काणं" इति पदगतषट्कपदस्य पदद्वयेऽप्यन्वयात् त्रसचतुष्कस्थिरशुभरूपं त्रसषट्कमस्थिरषट्कं च ग्राह्यम् । तत्र मतिज्ञानावरणादीनां नामगोत्रवर्जानां प्रस्तुतमार्गणागतज्ञानावरणप्रधानसन्निकर्षवत्प्रस्तुतसन्निकर्षो विज्ञेयः । नाम्नस्त्वेवम्—मनुष्यद्विकौदारिकद्विकसेवार्तसंहननहुण्डकसंस्थानपराघातोच्छ्वासकुखगतिनामत्रसषट्काऽस्थिरषट्कनवनामध्रुवबन्धिनीपञ्चेन्द्रियजातिनामरूपाणामेकत्रिंशतः स्याद् बन्धो भवति, प्रदेशबन्धस्तु तासां संख्यातभागहीनो विज्ञेयः, आसां ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्य त्रयोविंशतिं पञ्चविंशतिं नरकप्रायोग्याऽष्टाविंशतिं वा बध्नत लाभात्प्रस्तुतबन्धकस्य तत्प्रायोग्यबन्धाऽनर्हत्वात् । नाम्नो ध्रुवबन्धिन्यादीनां स्याद्बन्धस्त्वपूर्वकरणगुणस्थानषष्ठभागादूर्ध्ववर्तिनोऽपेक्षया बोध्यः । तथा देवद्विकवैक्रियद्विकाऽऽहारकद्विकसमचतुरस्रसंस्थानसुखगतिसुभगत्रिकाणामेकादशानां स्याद् बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु तासां ज्येष्ठं संख्यातभागहीनज्येष्ठं वा विदधाति, प्रथमादिसंहननपञ्चकद्वितीयादिसंस्थानचतुष्करूपनवप्रकृतीनां स्याद् बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु तासां ज्येष्ठमेव करोति, प्रस्तुतबन्धकस्य तिर्यक्प्रायोग्यबन्धाऽभावात् एकोनत्रिंशद्बन्धस्थान एव बन्धलाभात् । जिननाम्नोऽपि स्याज्ज्येष्ठप्रदेशबन्धं च करोति, भावना तु ज्ञानावरणप्रधानसन्निकर्षवज्ज्ञेया । यशःकीर्तिनाम्नः स्याद्बन्धं ज्येष्ठप्रदेशं संख्यातगुणहीनज्येष्ठप्रदेशं च बध्नाति ।

अत्र वज्रर्षभनाराचसंहननस्य जिननाम्नश्च ज्येष्ठ एव प्रदेशबन्धस्तु नारकाणां प्रस्तुतेऽप्रवेशात्प्रस्तुतमार्गणागतानां देवीनां जिननाम्नो बन्धाऽभावेन मनुष्यप्रायोग्यत्रिंशद्बन्धस्थानस्याऽलाभात् । जातिचतुष्कस्थावरचतुष्कातपोद्योततिर्यग्द्विकरूपाणां द्वादशानां तु उच्चैर्गोत्रेण सह बन्धस्यैवाऽनर्हत्वात् तासां निषेधो वाच्यस्तदनु "सेसाण"त्यादिगाथात्रयेण दर्शितशेषाणां चतुःसप्ततेः प्रकृतीनां प्रत्येकं प्रधानीकृत्य प्रस्तुतसन्निकर्षः सापवादो निरूपितः "सेसाणे"त्यादि, शेषाश्चतुःसप्ततिप्रकृतयः पुनरिमाः—स्त्यानर्द्धित्रिकाऽनन्तानुबन्धिचतुष्कमिथ्यात्वस्त्रीवेदनपुंसकवेदनीचैर्गोत्राणि जिननामाऽऽहारकद्विकयशःकीर्तिवर्जाः शेषास्त्रिषष्टिनामप्रकृतयश्च । आसां प्रस्तुतसन्निकर्षस्तिर्यग्गतिमार्गणावद्भवति, स च तदनुसारेणाऽवधार्यः, नवरमिमान्यपवादपदानि—१ यत्र पुरुषवेदस्य यशःकीर्तेर्नाम्नश्च बन्धो भवति, तत्र तयोः संख्यातगुणहीन एव ज्येष्ठप्रदेशबन्धो भवति, तद्बन्धकानामष्टमगुणस्थानसप्तमभागादधस्तनवर्तित्वात् । २ देवद्विकसमचतुरस्रसंस्थानसुखगतिसुभगत्रिकरूपाणां सप्तानां प्रधानत्वे आहारकद्विकं स्याद् बध्नाति प्रदेशबन्धं तु तासां ज्येष्ठ एव, देवद्विकादिज्येष्ठप्रदेशबन्धकत्वेन जिननामबन्धासंभवात् । ३ तथा तासामेव सप्तप्रकृतीनां प्राधान्ये निद्राद्विकप्रत्याख्यानावरणचतुष्करूपषड्ध्रुवबन्धिप्रकृतीनां बन्धस्य तिर्यगोघमार्गणायां ध्रुवत्वेऽपि प्रस्तुते ताः स्याद् बध्नाति, प्रस्तुतबन्धकस्याऽष्टम-

गुणस्थानद्वितीयादिभागेष्वपि लाभात् । (४) वैक्रियद्विकप्रधानसन्निकर्षेऽपि निद्राद्विकादिषण्णां स्याद्बन्धो लभ्यते, तथा (५) वज्रर्षभनाराचसंहननज्येष्ठप्रदेशबन्धस्य प्रस्तुतमार्गणायां चतुर्थगुणस्थानेऽपि लाभात् मिथ्यात्वाद्यष्टानां स्याद्बन्धो निद्राद्विकादिद्वादशानां ज्येष्ठप्रदेशबन्धश्च, न च तथा अतिदेशानुसारेण लभ्यते, तत्र प्रथमगुणस्थान एव प्रथमसंहननज्येष्ठबन्धाऽर्हत्वादित्यतिदेशेऽपवादपदानि ॥१३०-१६९॥

तदेवं गतः स्त्रीवेदमार्गणायां प्रस्तुतसन्निकर्षः, अथ पुरुषवेदनपुंसकवेदमार्गणयोस्तं साऽतिदेशं दर्शयति—

एवं पुमणपुमेसुं णवरं बंधइ णराउगुरुबंधी । सखंमूणं तु सिआ जिणस्स गुरुमहव संखभागूणं ॥
णाणावरणदुणिदाभयकुच्छदुवेअणीअजुगलाणं । दुइयकसायुच्चाणं पणंतरायाण गुरुबंधी ॥
दुजुगलणिद्दुगदुइअकसायभयकुच्छउच्चगुरुबंधी । वइरस्स सिआ बंधइ गुरुं अहव संखभागूणं ॥
(प्रथमा गीतिः) ॥१७०-१७२॥

(प्रे०) "एव"मित्यादिगाथात्रयम्, एवमनन्तरोक्तस्त्रीवेदमार्गणोक्तप्रकारेण पुरुषवेदनपुंसकवेदमार्गणयोर्विंशत्युत्तरशतस्य परस्थानोत्कृष्टप्रदेशबन्धसन्निकर्षो ज्ञातव्यः, उभयत्र ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्वामिनां तौल्यात्, केवलं तत्र जिननाम्नो बन्धका मनुष्याः, प्रस्तुते तु पुरुषवेदमार्गणायां देवा मनुष्याश्च, नपुंसकवेदमार्गणायां नारका मनुष्याश्च, ततोऽपवाददर्शनम्, मनुष्यायुर्ज्येष्ठप्रदेशं बध्नन् निरुक्तमार्गणाद्वये जिननाम स्याद् बध्नाति, प्रदेशबन्धं तु तस्य संख्यातभागहीनं करोति आयुर्बन्धकाले तदितरकर्मणां न ज्येष्ठप्रदेशबन्धः, मूलप्रकृत्याधिक्यात् ।

तथा पञ्चज्ञानावरणषड्दर्शनावरणभयजुगुप्सासातासातवेदनीयहास्यरतिशोकाऽरतिमोहनीयाऽप्रत्याख्यानावरणकषायोच्चैर्गोत्राऽन्तरायपञ्चकानीत्येकोनत्रिंशत्, तासां ज्येष्ठप्रदेशबन्धं कुर्वन् जिननाम्नो ज्येष्ठप्रदेशबन्धं संख्यातभागहीनज्येष्ठप्रदेशबन्धं वा करोति । स्त्रीवेदमार्गणायां जिननाम्नः स्याज्ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्यैव च लाभेऽपि निरुक्तमार्गणाद्वये तु तस्य तद्वत्स्याद्बन्धभावेऽपि मनुष्याऽपेक्षया ज्येष्ठस्यैव प्रदेशबन्धस्य देवनारकाऽपेक्षया तु तस्य जिननाम्नः संख्यातभागहीनस्यैव प्रदेशबन्धस्य लाभाद् द्वैविध्यमुक्तम् । अन्यच्च हास्यरतिशोकाऽरतिनिद्राद्विकाऽप्रत्याख्यानावरणकषायचतुष्कभयजुगुप्सोच्चैर्गोत्राणां त्रयोदशानां ज्येष्ठप्रदेशं बध्नन् वज्रर्षभनाराचं स्याद् बध्नाति, प्रदेशबन्धं तु तस्य ज्येष्ठं संख्यातभागहीनं वा करोति, प्रस्तुतमार्गणागतानां देवनारकाणां चतुर्थगुणस्थानगतानां हास्यादीनां ज्येष्ठप्रदेशबन्धकानां मनुष्यप्रायोग्यस्यैकोनत्रिंशत् त्रिंशच्चेति बन्धस्थानद्वयस्य लाभात्, न च तथा स्त्रीवेदमार्गणायाम्, इत्यतिदेशेऽपवादत्रयनिरूपणम् ॥१७०-१७२॥

अथाऽपगतवेदमार्गणायां क्रोधमानमायाकषायमार्गणात्रये च परस्थानोत्कृष्टप्रदेशबन्धसन्निकर्षं सापवादमतिदेशेन निरूपयन्नाह—

इगवीसाअ अवेए ओघव्व उ कोहमाणमायासुं । पुरिसव्व णवरि बंधो संजलणाण जहिं तहिं तेसिं ॥
कोहे चउण्ह दोसुं कोहस्स उ बधए दुभागूणं । संजलणतिगमयाणं कमाऽहियदिवड्ढभागूणं ॥
मायाए संखियगुणहीण बंधेइ दोण्ह तीसुं पि । संजलणाणं गुरुमवि सायावरणुच्चविग्घजसबंधी ॥
संजलणजेट्ठबंधी मोहाणं बधए सठाणव्व । णियमा गुरु च बंधइ सायावरणजसउच्चविग्घाणं ॥
तिण्हं संजलणाणं सखंसूणं पि माणमायासुं । सायाऽऽवरणुच्चगजसअंतरायुच्चगुरुबंधी ॥
संजलणाणं संखियगुणहीण आउजेट्ठबंधी उ । तह बीआवरणचउगजसगुरुबंधी पुमस्स सिआ ॥
माणे बंधेइ सिआ सायावरणुच्चविग्घजसबंधी । अतिमकोहस्स तहा संजलणदुगस्स मायाए ॥
॥६७३-६७६॥ (तृतीया चतुर्थी च गीतिः)

(प्रे०) "इगवीसाअ" इत्यादि, अपगतवेदमार्गणायां बन्धार्हाणामेकविंशतेः प्रस्तुतसन्निकर्ष ओघवद् भवति, ओघोक्तस्वामिनामत्र लाभात्, निरुक्तैकविंशतेरपि तत्र ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्याऽपगतवेदाऽवस्थायामेव लाभात् ।

क्रोधमानमायामार्गणात्रये बन्धाऽर्हाणां विंशत्युत्तरशतप्रकृतीनां प्रत्येकं प्रधानीकृत्य प्रस्तुतसन्निकर्ष उच्यमानाऽपवादपदानि विहाय पुरुषवेदमार्गणावद् वक्तव्यः, उभयत्र सूक्ष्मसंपरायगुणस्थानाऽभावेन षड्विधमूलप्रकृतीनां बन्धाऽभावान्नवमगुणस्थानं यावन्मार्गणायाः सद्भावात् । पुरुषवेदमार्गणाविच्छेदादूर्ध्वं प्रस्तुतमार्गणाया विच्छेदात्तन्निमित्तको यो विशेषस्तमपवादरूपेण साधिकगाथाषट्केन दर्शयति–"णवरि" इत्यादि, भावार्थस्त्वेवम्–

क्रोधमार्गणायां संज्वलनचतुष्कस्य ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्तु पुरुषवेदबन्धविच्छेदादूर्ध्वं भवति, तस्य प्रत्येकं ज्येष्ठप्रदेशबन्धकाले प्राप्तदलिकानि तु मोहनीयभागे लब्धदलिकानामासन्नचतुर्थांशप्रमाणानि पुरुषवेदमार्गणायां तु तानि मोहनीयलब्धदलिकानामासन्नाऽष्टमभागमितानि, अतो ज्ञानावरणादिसप्तदशकं संज्वलनचतुष्कमायुश्चतुष्कं च विहाय शेषप्रकृतिप्रधानसन्निकर्षे संज्वलनचतुष्कं नियमेन बध्नाति । तस्य स्वज्येष्ठप्रदेशबन्धत आसन्ना-ऽऽर्धानि दलानि प्रदेशबन्धतया प्राप्यन्ते, तथा ज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरणचतुष्कसातवेदनीययशःकीर्तिनामोच्चैर्गोत्राऽन्तरायपञ्चकलक्षणानां सप्तदशानां ज्येष्ठप्रदेशबन्धं कुर्वन् जीवस्संज्वलनचतुष्कस्य नियमाद् बन्धं विदधाति, प्रदेशबन्धं तु स तस्य ज्येष्ठं स्वज्येष्ठप्रदेशबन्धत आसन्नार्धभागप्रमितं वा बध्नाति, तत्राऽपगतवेदस्तु ज्येष्ठं बध्नाति, सवेदस्तु तदर्धमिति । अत एव पुरुषवेदस्य स्याद्बन्धकोऽपि विज्ञेयः । उक्तसप्तदशप्रकृतिप्रधानसन्निकर्षे शेषप्रकृतीनां पुरुषवेदमार्गणावत् सन्निकर्षो विज्ञेयः । तथा संज्वलनचतुष्कादेकतरया ज्येष्ठप्रदेशबन्धं कुर्वन् शेषाणां त्रयाणां ज्ञानावरणादिसप्तदशानां च नियमेन ज्येष्ठप्रदेशबन्धं च करोति, शेषा नवनवतिप्रकृतीस्तु नैव बध्नाति । शेषनवतिप्रकृतिप्रधानसन्निकर्षस्तु पुरुषवेदमार्गणावद् विज्ञेयः, केवलं तत्र संज्वलनचतुष्कस्य प्रदेशबन्धे विशेषः ।

मानमार्गणायां तु ज्ञानावरणादिसप्तदशानामन्यतमस्य ज्येष्ठप्रदेशबन्धं कुर्वन् संज्वलनक्रोधवर्जसंज्वलनत्रिकस्य नियमाद् बध्नाति, प्रदेशबन्धं तु स ज्येष्ठं संख्यातभागहीनज्येष्ठं द्वय-

र्धभागोनज्येष्ठं वा करोति, तत्र मोहनीयस्य त्रिप्रकृत्यात्मकं बन्धस्थानं बध्नञ् ज्येष्ठम्, चतस्रो बध्नन् संख्यातभागहीनम्, पञ्चादीर्बध्नंस्तु द्व्यर्धभागोनज्येष्ठम्, तथा स संज्वलनक्रोधस्य स्याद् बन्धको भवति, प्रदेशबन्धं तु स मोहनीयस्य चतस्रो बध्नञ् ज्येष्ठं विदधाति, पञ्चादीर्बध्नं स्तु द्विभागोनज्येष्ठमिति । उक्तसप्तदशान्यतमप्रधाने शेषषोडशानां नियमेन ज्येष्ठप्रदेशबन्धं च करोति, संज्वलनचतुष्कस्य तु दर्शितम्, शेषाणां बन्धार्हाणां सन्निकर्षोऽत्र पुरुषवेदमार्गणावद्विज्ञेयः । तथा मानमार्गणायामेव संज्वलनत्रिकादेकस्य ज्येष्ठप्रदेशं बध्नन् शेषद्वयोर्ज्ञानावरणादिसप्तदशानां च नियमेन ज्येष्ठप्रदेशबन्धं च करोति शेषप्रकृतीस्तु नैव बध्नाति । संज्वलनक्रोधस्य ज्येष्ठप्रदेशबन्धं कुर्वन् संज्वलनमानादीनां त्रयाणां स्वज्येष्ठप्रदेशबन्धतस्संख्यातभागहीनं नियमाच्च बध्नाति, ज्ञानावरणादिसप्तदशानां नियमेन ज्येष्ठप्रदेशं च बध्नाति । शेषनवनवतिप्रकृतीस्तु स नैव बध्नाति, शेषनवनवतिप्रकृतिप्रधानसन्निकर्षस्तु पुरुषवेदमार्गणावद्विज्ञेयः, केवलं संज्वलनचतुष्कस्य प्रदेशबन्धे विशेषः, स चैवम्—आयुवर्जपञ्चनवतिप्रकृतिप्रधानसन्निकर्षे संज्वलनक्रोधस्य आसन्नार्धभागप्रमितं संज्वलनत्रिकस्य द्व्यर्धभागहीनं बध्नातीति ।

मायामार्गणायां ज्ञानावरणादिसप्तदशानां ज्येष्ठप्रदेशबन्धं कुर्वन् संज्वलनमायालोभयोर्बन्धं नियमतो विदधाति, प्रदेशबन्धं तु तयोर्ज्येष्ठं संख्यातभागहीनज्येष्ठं संख्यातगुणहीनज्येष्ठं वा स करोति, तत्र मोहनीयस्य द्विप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानं बध्नञ् ज्येष्ठं त्रिप्रकृत्यात्मकं बन्धस्थानं बध्नन्संख्यातभागहीनं चतस्रः पञ्चादीर्वा बध्नंस्तु संख्यातगुणहीनम् । तथा स एव सप्तदशानां ज्येष्ठप्रदेशबन्धं कुर्वन् संज्वलनमानस्य स्याद् बन्धको भवति, प्रदेशबन्धं तु तस्य ज्येष्ठं संख्यातभागहीनं द्व्यर्धभागहीनं वा स निर्वर्तयति, भावना तु मानमार्गणावत्कर्तव्या । तथा स एव मायामार्गणायां वर्तमानः सप्तदशानां मतिज्ञानावरणादिप्रकृतीनां ज्येष्ठप्रदेशबन्धं कुर्वन् संज्वलनक्रोधस्य स्याद्बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु तस्य स ज्येष्ठं आसन्नार्धभागमात्रं वा करोति, भावना तु पूर्ववत् । तथा स ज्ञानावरणादिसप्तदशान्यतमज्येष्ठप्रदेशबन्धकः शेषाणां षोडशप्रकृतीनां नियमेन ज्येष्ठप्रदेशबन्धं च करोति, संज्वलनचतुष्कस्य तु दर्शितम्, शेषाणां बन्धार्हाणां सन्निकर्षोऽत्र पुरुषवेदमार्गणावद्विज्ञेयः । मायामार्गणायां संज्वलनमायालोभयोरेकस्य ज्येष्ठप्रदेशं बध्नन् तदितरस्य ज्ञानावरणादिसप्तदशानां च नियमेन ज्येष्ठप्रदेशबन्धं च करोति, शेषप्रकृतीस्तु नैव बध्नाति । संज्वलनमानस्य ज्येष्ठप्रदेशं बध्नन् संज्वलनमायालोभयोः संख्यातभागहीनज्येष्ठप्रदेशबन्धं करोति । ज्ञानावरणादिसप्तदशानां नियमेन ज्येष्ठप्रदेशबन्धं च करोति, संज्वलनक्रोधादिशतप्रकृतीस्तु न बध्नाति । संज्वलनक्रोधस्य ज्येष्ठप्रदेशबन्धं विदधत्संज्वलनमानस्य संख्यातभागहीनमुत्कृष्टप्रदेशबन्धं संज्वलनमायालोभयोः संख्येयगुणहीनज्येष्ठप्रदेशबन्धं ज्ञानावरणादिसप्तदशानां नियमेन ज्येष्ठप्रदेशबन्धं च करोति । शेषाणां पुरुषवेदादीनां बन्धं स नैवोपरचयति । शेषनवनवतिप्रकृतिप्रधानसन्निकर्षस्तु पुरुषवेद-

मार्गणावद्विज्ञेयः, केवलं संज्वलनचतुष्कस्य प्रदेशवन्धे विशेषः, स चैवम्—आयुर्वर्जपञ्चनवतिप्रकृतिप्रधानसन्निकर्षे संज्वलनक्रोधस्यासन्नार्धभागप्रमितं संज्वलनमानस्य द्व्यर्धभागहीनं संज्वलन मायालोभयोः संख्यातगुणहीनं वध्नातीति वोध्यम् ।

द्वितीयादिसार्धगाथार्थः पुनरेवम्—मोहनीयस्य पञ्चादीर्वध्नन् क्रोधमार्गणायां चतुर्णां संज्वलनकषायाणां मानमायामार्गणाद्वये संज्वलनक्रोधस्य स्वज्येष्ठप्रदेशवन्धत आसन्नाऽर्धभागमितानि, तथा मानमार्गणायां संज्वलनमानादित्रयस्य मायामार्गणायाञ्च संज्वलनमानस्य स्वज्येष्ठप्रदेशवन्धतो द्व्यर्धभागोनं ज्येष्ठप्रदेशवन्धं तथा मायामार्गणायां संज्वलनमायालोभयोः स्वज्येष्ठप्रदेशवन्धतः संख्यातगुणहीनं वध्नाति, ततश्च पुरुषवेदमार्गणावदित्यतिदेशेन प्रस्तुतमार्गणात्रये यदि सवेदावस्थायां वर्तते तदा संज्वलनचतुष्कस्य स्वज्येष्ठप्रदेशवन्धत एतावान्न्यूनप्रदेशवन्धो भवतीति वोध्यम् , तथा "नोसु पि" इत्यादिसातिरेकगाथया क्रोधादिमार्गणात्रये ज्ञानावरणादिसप्तदशप्रधानसन्निकर्षेऽपगतवेदाऽवस्थागतस्य विशेषो भणितः, एवं पञ्चमगाथायां संज्वलनचतुष्कप्रधानप्रस्तुतसन्निकर्षो निरूपितः, अर्थतस्तु दर्शित एवेति ।

तथा षष्ठगाथापूर्वार्धेन निरुक्तमार्गणात्रये आयुःप्रधानसन्निकर्षे प्राप्ताऽपवादपदं दर्शितम् , तद्यथा-पुरुषवेदमार्गणाया आयुर्वध्नन् संज्वलनचतुष्कं संख्यातभागहीनं ज्येष्ठप्रदेशं वध्नाति, प्रस्तुतमार्गणात्रये तु संज्वलनचतुष्कस्य संख्यातगुणहीनज्येष्ठप्रदेशवन्धं करोति, तत्र[1] क्रोधमार्गणायां तस्य सातिरेकद्विगुणहीनं मानमार्गणायां संज्वलनक्रोधस्य सातिरेकद्विगुणहीनं शेषत्रयस्य सातिरेकत्रिगुणहीनं देशोनतृतीयांशमितं वा मायामार्गणायां संज्वलनक्रोधस्य सातिरेकद्विगुणहीनं संज्वलनमानस्य देशोनतृतीयांशमितं संज्वलनमायलोभयोः सातिरेकसार्धचतुर्गुणहीनम् , भावनास्त्वोघपरस्थानोत्कृष्टसन्निकर्षमवलम्ब्य कार्या इति । दर्शनावरणचतुष्कयशःकीर्तिरूपपञ्चानां ज्येष्ठप्रदेशवन्धकः पुरुषवेदं स्याद्वध्नाति । तथा ज्ञानावरणपञ्चकान्तरायपञ्चकदर्शनावरणचतुष्कसातवेदनीययशःकीर्तिनामोच्चैर्गोत्राणां सप्तदशानां ज्येष्ठप्रदेशवन्धको मानमार्गणायां संज्वलनक्रोधस्य मायामार्गणायां संज्वलनक्रोधमानयोः स्याद्वन्धं करोतीति चरमसार्धगाथाया शब्दार्थः,। भावार्थस्तु प्राग्वर्णित एवेति ॥१७३-१७९॥

[1]स्थापना त्वेवम्

	स्वज्येष्ठप्रदेशवन्धकाले प्राप्तदलिकानि	आयुर्वन्धकाले प्राप्तिदलिकानि	ज्येष्ठप्रदेशवन्धत आयुर्वन्धकाले हीयमानदलिकानि
क्रोधे-संज्व० ४	$\frac{१}{७} \div \frac{४}{१} = \frac{१}{२८}$	$\frac{१}{८} \div \frac{८}{१} = \frac{१}{६४}$	$\frac{१}{२८} - \frac{१}{६४} = \frac{१६}{४४८} - \frac{७}{४४८} = \frac{९}{४४८}$
माने संज्व० क्रोध०	$\frac{१}{७} \div \frac{४}{१} = \frac{१}{२८}$	$\frac{१}{८} \div \frac{८}{१} = \frac{१}{६४}$	$\frac{१}{२८} - \frac{१}{६४} = \frac{१६}{४४८} - \frac{७}{४४८} = \frac{९}{४४८}$
,,-,, मानादि० ३	$\frac{१}{७} \div \frac{३}{१} = \frac{१}{२१}$	$\frac{१}{८} \div \frac{८}{१} = \frac{१}{६४}$	$\frac{१}{२१} - \frac{१}{६४} = \frac{६४}{१३४४} - \frac{२१}{१३४४} = \frac{४३}{१३४४}$

मायायां संज्व० क्रोध०	$\frac{१}{७} \div \frac{४}{१} = \frac{१}{२८}$	$\frac{१}{८} \div \frac{८}{१} = \frac{१}{६४}$	$\frac{१}{२८} - \frac{१}{६४} = \frac{१६}{४४८} - \frac{७}{४४८} = \frac{९}{४४८}$
,, ,, मान	$\frac{१}{७} - \frac{३}{१} = \frac{१}{२१}$	$\frac{१}{८} \div \frac{८}{१} = \frac{१}{६४}$	$\frac{१}{२१} - \frac{१}{६४} = \frac{६४}{१३४४} - \frac{२१}{१३४४} = \frac{४३}{१३४४}$
,, , मायालोभयोः	$\frac{१}{७} \div \frac{२}{१} = \frac{१}{१४}$	$\frac{१}{८} \div \frac{८}{१} = \frac{१}{६४}$	$\frac{१}{१४} - \frac{१}{६४} = \frac{३२}{४४८} - \frac{७}{४४८} = \frac{२५}{४४८}$

अथ मतिज्ञानश्रुतज्ञानाऽवधिज्ञानाऽवधिदर्शनसम्यक्त्वौघक्षायिकसम्यक्त्वौपशमिकसम्यक्त्वरूपासु सप्तमार्गणासु परस्थानज्येष्ठप्रदेशबन्धसन्निकर्षं प्ररूपयन्नाह—

ओघव्व सण्णियासो तिणाणऽवहिसम्मखइउवसमेसुं । सायणवावरणपुरिससंजलणजसुच्चविग्घाणं ॥१
एगस्स जेट्ठबंधी णिद्ददुगाऽण्णत्स य भयकुच्छाणं । णियमा गुरुं मिअ दुइअकसायदुजुगलअसायाणं ॥
णियमा आवरणणवगपणविग्धुच्चाण संखभागूणं । सायस्स सिआ तइअकसायाण गुरुमुअऽणंतभागूणं ॥
अंतिमकोहमयाणं दुदिवड्ढसूणगं कमा णियमा । पुरिसदुसंजलणाणं संखगुणूणं जसस्स सिआ ॥
णरुरलविउव्वाहारगसुरथिरदुगवइरतित्थाणं । अजसस्स सिआ गुरुमुअ संखंसूणमियराण णियमाओ ॥५
एवमसायस्स णवरि बंधइ णाहारजुगलमडिवक्खा । मोहाण सठाणव्व उ गुरुबंधी सेसमोहाणं ॥
णिद्दव्वऽण्णाण णवरि कुणइ सिआ हस्सचउगगुरुबंधी । णिद्दादुगणामाणं जसस्स संखंसहीणं पि ॥
णाहारदुगमियरगुरुबंधी ण तइअकसायबंधी उ । णरुरलदुगवइरा सुरविउव्वदुगाण णियमा जिणस्स गुरुं ॥८
संखेज्जभागहीणं बंधइ मणुयाउजेट्ठबंधी उ । सायअसायजुगलथिरअथिरदुगाजसजिणाण सिआ ॥
संखगुणूणं पुमचउसंजलणाण णियमा जसस्स सिआ । बंधइ णियमाऽण्णमणुयजोग्गाणं संखभागूणं ॥
देवाउस्सुक्कोसं बंधंतो मज्झअडकसायाणं । तित्थाहारदुगाणं कुणइ सिआ संखभागूणं ॥
संखगुणूणं पुमजससंजलणाण णियमा अमायाई । छ विणा गुणवण्णाऽमरजोग्गाणं संखभागूणं ॥
णरुरलदुगवइराणं गुरुबंधी बंधए सठाणव्व । णामाणं पयडीणं दुइअकसायव्व सेसाणं ॥
आहारदुगस्स गुरुं बंधंतो बंधए सठाणव्व । णामाणं पयडीणं बंधइ ओघव्व सेसाणं ॥
सेसाणं णामाणं गुरुबंधी बंधए सठाणव्व । णामाणं सेसाणं णिद्दव्व णवरि सिआ दुणिद्दाणं ॥
जहि सिअ बंधो णरुरलदुगवइरजिणाण उवसमे तहि सिं । जेट्ठं चिअ बंधइ ण उ संखेज्जदिमागहीणं पि ॥
(तृतीया-ऽष्टमी पञ्चदशमी च गीतिः, पञ्चम्युद्गीतिः,) ॥६८०-६९५॥

(प्रे०) "ओघव्वे"त्यादि, षोडशगाथाभिर्मतिज्ञानादिमार्गणासप्तके प्रस्तुतसन्निकर्षो दर्शितस्तत्र प्रथमगाथया नवमदशमगुणस्थानवर्तिनीनां ज्येष्ठप्रदेशबन्धप्रायोग्यानां ज्ञानावरणादिद्वाविंशतेः सन्निकर्ष ओघवद्भवति, ओघोक्तस्वामिनामेवाऽत्र लाभात् । "एगस्से" त्यादि, गाथाचतुष्केण निद्राद्विकप्रधानसन्निकर्षो दर्शितस्तत्र नामेतरासां प्रकृतीनां स ओघवदेव भवति, नामप्रकृतिष्वपि स्याद्बन्धो नियतबन्धो वा ओघवदेव । प्रदेशबन्धस्तु तत्रौघे त्रयोविंशत्यादिबन्धस्थानानां बन्धप्रायोग्यत्वेन ध्रुवनाम्नां मनुष्यगत्यादीनाञ्च संख्यातभागहीन एव ज्येष्ठप्रदेशबन्धो भवति, प्रस्तुते तु जघन्यतोऽप्यष्टाविंशत्यादौ तासां बन्धभावात्तद्बन्धकस्तासां ज्येष्ठं संख्यातभागहीनज्येष्ठप्रदेशबन्धं वा करोतीत्यतो बन्धाऽर्हाणां यशःकीर्तिवर्जनामप्रकृतीनां प्रदेश-

बन्धस्य द्विविधताऽभिहितेति । अत्र वैक्रियाङ्गोपाङ्गस्य संख्यातगुणहीनज्येष्ठप्रदेशबन्धोऽपि विज्ञेयः । केवलमुपशमसम्यक्त्वमार्गणायां जिननाम्नो मनुष्यद्विकौदारिकद्विकवज्रर्षभनाराचानां च ज्येष्ठमेव प्रदेशबन्धं करोति, एतच्चाऽपवादेनाऽग्रे दर्शयिष्यति ग्रन्थकारः, एवमग्रेऽपि । "मियराण णियमाओ" इत्यनेन नवध्रुवबन्धिनीपञ्चेन्द्रियजातिपराघातोच्छ्वासत्रसचतुष्कसमचतुरस्रसुखगतिसुभगत्रिकसंज्ञका एकविंशतिप्रकृतयो ग्राह्याः, ता नियमेन बध्नाति, प्रदेशबन्धं तु ज्येष्ठं वा संख्यातभागहीनज्येष्ठं वा । "एवम्मि" त्यादि, षष्ठगाथापूर्वार्धेनाऽसातवेदनीयप्रधानप्रस्तुतसन्निकर्षः साऽपवादोऽतिदिष्टः, निद्राद्विकेन सहाऽतिदेशस्तु चतुर्थादिगुणस्थाने तज्ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्य भावात्, अपवादकथनं तु सातवेदनीयस्य प्रतिपक्षत्वेनाऽऽहारकद्विकस्य च प्रस्तुतबन्धकस्य प्रमत्तत्वेन बन्धाऽभावात् । षष्ठगाथोत्तरार्धेन सप्तमाऽष्टमगाथाद्वयेन च शेषाणां मार्गणाप्रायोग्यबन्धाऽर्हाणां मोहनीयप्रकृतीनामप्रत्याख्यानावरणकषायचतुष्कप्रत्याख्यानावरणकषायचतुष्कहास्यषट्कलक्षणानां चतुर्दशानां प्रत्येकं प्रधानीकृत्य प्रस्तुतसन्निकर्षः साऽतिदेशः साऽपवादो निरूपितः, तत्र मोहनीयप्रकृतीनां स्वस्थानवत्तदितरासां निद्राद्विकप्रधानसन्निकर्षवत्प्रस्तुतसन्निकर्षो वक्ष्यमाणाऽपवादपदानि विहाय ज्ञातव्यः, तत्र निद्राद्विकबन्धकाले पञ्चेन्द्रियजात्यादीनामवश्यं बन्धो भवति, अत्र तु हास्यचतुष्कप्रधानसन्निकर्षे निद्राद्विकस्य पञ्चेन्द्रियजात्यादीनां च नामप्रकृतीनां स्याद्बन्धो भवति, तेषामत्र हास्यादिप्रकृतिबन्धविच्छेदतः प्रागेव विच्छिद्यमानत्वात् । अत एव यशःकीर्तेर्याबत्पञ्चेन्द्रियजात्यादीनां बन्धविच्छेदो न भवति तावत्संख्येयगुणहीनं तद्बन्धविच्छेदादूर्ध्वं तु निवृत्तिबादरसप्तमभागे केवलं यशःकीर्तेरेव बन्धभावात्तत्र वर्तमानो हास्यादिचतुष्कज्येष्ठप्रदेशं बध्नन् यशःकीर्तेः स्वज्येष्ठप्रदेशबन्धतः संख्यातभागहीनप्रदेशं बध्नाति । तथा मध्यमकषायाऽष्टकगुरुप्रदेशं बध्नन् आहारकद्विकं नैव बध्नाति, तथा प्रत्याख्यानावरणकषायचतुष्कस्य ज्येष्ठप्रदेशबन्धं कुर्वन् पञ्चमगुणस्थान एव वर्तमानत्वेन मनुष्यद्विकादीः पञ्च प्रकृतीर्नैव बध्नाति, अत एव देवद्विकवैक्रियद्विकयोः स नियमाद् बन्धको भवति । जिननाम्नोऽपि स प्रत्याख्यानावरणज्येष्ठप्रदेशबन्धको ज्येष्ठमेव प्रदेशबन्धं करोति, न तु संख्यातभागहीनमपि, अत्र वज्रर्षभनाराचसंहननस्य बन्धाऽभावात् ।

तदनु नवमदशमगाथाद्वयेन मनुष्यायुष्कप्रधानः प्रस्तुतसन्निकर्षो दर्शितो ग्रन्थकारेण, स च सुगमः केवलं मतिज्ञानादिसप्तमार्गणास्य उपशमसम्यक्त्वमार्गणायामायुषो बन्धाऽभावात् तत्र प्रस्तुतमनुष्यायुर्देवायुर्वा प्रधानीकृत्य प्ररूपणा नैव कार्या इति । ततो गाथाद्वयेन देवायुष्कप्रधानः, तत्र स्यान्नियतबन्धादिकं सुगमं प्रदेशबन्धोऽपि तथेति । असातवेदनीयादिषण्णां वर्जनमपि प्रकृतिबन्धसन्निकर्षादेवेति । देवप्रायोग्याणां ज्ञानावरणादीनामेकोनपञ्चाशतो नियमाद् बन्धो भवति, स्वज्येष्ठप्रदेशबन्धतः संख्यातभागहीनश्चेति । एकोनपञ्चाशत्प्रकृतयः पुनरिमाः—ज्ञानावरणपञ्चक-दर्शनावरणचतुष्क—निद्राद्विक-सातवेदनीय—हास्य-रति—भय-जुगुप्सा-देवद्विक—पञ्चे-

न्द्रियजाति-वैक्रियद्विक-तैजस-कार्मण-समचतुरस्र सुखगति-वर्णचतुष्का-ऽगुरुलघुचतुष्क-निर्माण-त्रसनवको-च्चैर्गोत्रा-ऽन्तरायपञ्चकानीति । तत्पश्चाद् बन्धाऽर्हनामकर्मसत्कोत्तरप्रकृतिप्रधानसन्निकर्षं गाथात्रयेण दर्शयन्नाद्यगाथया मनुष्यद्विकौदारिकद्विकवज्रर्षभनाराचरूपाणां पञ्चप्रकृतीनां प्रत्येकं प्रधानीकृत्य प्रस्तुतसन्निकर्षो निरूपितः, तत्र ताभिः सह बध्यमानानां नामप्रकृतीनां प्रस्तुतसन्निकर्षः स्वस्थानसन्निकर्षवन्नामेतरप्रकृतीनां तु द्वितीयकषायप्रकृतिवत्-अप्रत्याख्यानावरणक्रोधादिप्रधानसन्निकर्षवत्प्रस्तुतसन्निकर्षो वक्तव्यः, सुगमश्च ।

द्वितीयगाथयाऽऽहारकद्विकप्रधानः प्रस्तुतसन्निकर्षोऽतिदेशेन दर्शितः, तत्र नामेतरप्रकृतीनामाहारकद्विकेन सह बध्यमानानामोघोक्तज्येष्ठप्रदेशबन्धस्वामिनां प्रस्तुतेऽपि यथाऽर्हं लाभादोघवदतिदेशः, शेषस्तु सुगमः । तृतीयगाथया तु मनुष्यद्विकादिप्रकृतिसप्तकं यशःकीर्तिनाम च विमुच्य शेषाणां देवद्विकादीनामेकत्रिंशत्प्रकृतीनां प्रस्तुतसन्निकर्षोऽतिदेशेन दर्शितः, तत्र जिननामकर्म विहाय शेषाणां त्रिंशत्प्रकृतीनां देवप्रायोग्याऽष्टाविंशतिं बध्नतस्तज्ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्य लाभाज्जिननाम्नस्त्वेकोनत्रिंशद् बध्नन्निति, निद्राद्विकस्य स्याद्बन्धादिकं तु सुगमम् । एकत्रिंशत्प्रकृतयः पुनरिमाः-देवद्विक-पञ्चेन्द्रियजाति-वैक्रियद्विक-तैजसकार्मण-समचतुरस्रसंस्थान-सुखगति-वर्णचतुष्का-ऽगुरुलघुचतुष्क-निर्माण-जिननाम-त्रसनवका-ऽस्थिरा-ऽशुभाऽयशःकीर्तिनामानीति।

अत्रोक्तमार्गणासप्तकाऽन्तर्गता या उपशमसम्यक्त्वमार्गणा तस्यां यत्र जिननाम्नो मनुष्यपञ्चकस्य च स्याद् बन्धस्तत्र ज्येष्ठप्रदेशबन्ध एव वक्तव्यः, न तु संख्यातभागहीनोऽपि, कुतः ? एवमिति चेदुच्यते, उपशमसम्यक्त्वं द्विविधम्-तत्र प्रथमं चातुर्गतिकानां मिथ्यादृष्टीनां करणत्रयपूर्वकं प्राप्यते तत्र वर्तमानस्य जिननाम्नो बन्धाऽभावान्न तेन प्रयोजनम्, द्वितीयं उपशमसम्यक्त्वं तु उपशमश्रेणिमारोहकस्य वेदकसम्यग्दृग्मनुष्यस्य करणत्रयपूर्वकं वेदकसम्यक्त्वतः प्राप्यते, तत्र द्वितीयोपशमसम्यक्त्वे वर्तमानो यद्यपि कालं कृत्वा देवेषूत्पद्यते तथाऽपि तस्य ज्येष्ठयोगस्थानलाभार्हकालात्पूर्वमेव तदपगमान्न ज्येष्ठयोगस्थानगतस्य जिननामसहितस्य नाम्नस्त्रिंशद्बन्धस्थानस्य सम्भवोऽस्ति, अतस्तस्य संख्यातभागहीनं नैव लभ्यते अपि तु तद्बन्धसम्भवे ज्येष्ठप्रदेशबन्ध एवेति । एवं मनुष्यपञ्चकस्यापि विज्ञेयम् । निद्राद्विकहास्यषट्काप्रत्याख्यानावरणचतुष्कासातवेदनीयरूपाणां त्रयोदशानां ज्येष्ठप्रदेशबन्धं कुर्वन् जिननाम्नो मनुष्यपञ्चकस्य च स्यादुत्कृष्टप्रदेशमेव च बध्नाति, मतिज्ञानादिमार्गणासु तु तस्य ज्येष्ठं संख्यातभागहीनज्येष्ठं वा बध्नाति, भावनादयस्तु सुगमाः ॥१८०-१९५॥

अथ मनःपर्यवज्ञानसंयमौघमार्गणाद्वये परस्थानोत्कृष्टप्रदेशबन्धसन्निकर्षं दर्शयन्नाह—

ओघव्व सण्णियासो मणपज्जवसंजमेसु विण्णेयो । सायणवावरणपुरिससंजलणजसुच्चविग्घाणं ॥
एगस्स जेट्ठबंधी णिद्दुगाऽण्णस्स भयजुगुच्छाणं । णियमा बंधइ जेट्ठं असायदुजुगलजिणाण सिआ ॥

णाणावरणाण तहा चउवीआवरणउच्चविग्घाणं । णियमा संखंसूणं बंधेइ सिआ उ सायस्स ॥
अंतिमकोहमयाण दुदिवड्ढंमूणगं कमा णियमा । पुरिसदुसंजलणाणं संखगुणूणं जसस्स सिआ ॥
आहारथिरअथिरदुगअजसाण सिआ कुणेइ गुरुमहवा । संखंसूणं बंधइ णियमा सेसाण णामाणं ॥
हस्सछगअसायाण एवं णवर ण चेव पडिवक्खं । दुजुगलअमायबंधी. असायसोगारईण गुरुबंधी ॥ ॥
णाहारदुगं बंधइ सिआ कुणइ हस्सचउगगुरुबंधी । णिद्दादुगणामाणं जसस्स सखंसहीणं पि ॥
देवाउस्सुक्कोसं बंधंतो बंधए णियमा । सजलणचउक्कपुरिसजसाण मखेज्जगुणहीणं ॥
तित्थाहारदुगाणं सिआ उ बंधेइ संखभागूणं । णियमा छअसायाई विण सेसाण गुणवण्णाए ॥
आहारदुगस्स गुरु बंधतो बंधए सठाणव्व । णामाणं पयडीणं बंधइ ओघव्व सेसाणं ॥
णामाण सठाणव्वऽण्ण.जेट्ठवधीयर।ण णिद्दव्व । णवरि दुणिद्दाण सिआ अथिरअसुहअजसवज्जगुरुबधी
(षष्ठ्येकादशी च गीतिस्तथाष्टम्युपगीतिः) ॥९९६-१००६॥

(प्रे०) "ओघव्वे"त्यादि, मनःपर्यवज्ञान-संयमौघमार्गणाद्वये नवम-दशमगुणस्थानद्वये ज्येष्ठप्रदेशबन्धप्रायोग्याणां द्वाविंशतेः प्रकृतीनां प्रत्येकं प्रधानीकृत्य परस्थानज्येष्ठप्रदेशबन्धसन्निकर्ष ओघवद्भवति, स चाद्यगाथया दर्शितः, भावना तु सुगमा । तदनु गाथाचतुष्केण निद्राद्विकप्रधान-प्रस्तुतसन्निकर्षो निरूपितस्तत्र निद्राद्विकस्य भयजुगुप्सयोश्च नियमाज्ज्येष्ठप्रदेशबन्धं च विदधाति, असातवेदनीयहास्यरतिशोकारतिजिननामरूपाणां षणां स्याज्ज्येष्ठप्रदेशबन्धश्च विरचयति, तत्रा-सातवेदनीययुगलद्वयस्य च सप्रतिपक्षत्वात्स्याद्बन्धं करोति. प्रदेशबन्धं तु तद्बन्धकाले आयुर्बन्ध-स्य मोहनीयस्य नानाविधबन्धस्थानस्य चाभावाज्ज्येष्ठमेव करोति । जिननाम्नः स्याद्बन्धस्तु सुगमः, तस्यापि प्रदेशबन्धस्तु ज्येष्ठ एवेति, ज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरणचतुष्कोच्चैर्गोत्रान्तराय-पञ्चकरूपाणां पञ्चदशानां नियमात् संख्यातभागहीनज्येष्ठप्रदेशबन्धं करोति, अत्र चतुर्दशानां ध्रुव-बन्धित्वात् , उच्चैर्गोत्रस्य ध्रुवबन्धिकल्पत्वाद्ध्रुवो बन्धः, षड्विधमूलप्रकृतिबन्धाभावात् संख्यात-भागहीनज्येष्ठप्रदेशबन्धश्च भवति । सातवेदनीयस्य स्याद्बन्धः सप्रतिपक्षत्वात् , संख्यातभागहीनश्च सप्तविधबन्धकत्वात् । संज्वलनचतुष्कस्य तु ध्रुवबन्धित्वान्नियतो बन्धः, प्रदेशबन्धस्तु यथौघे-ऽनन्तरभणितमतिज्ञानादिमार्गणासु वा प्राप्यते तथाऽत्रापि, भावना तु तत ओघानुसारेण विज्ञेया । पुरुषवेदस्य नियमाद्बन्धं तु सप्रतिपक्षप्रकृतीनां बन्धराहित्येन विदधाति, संख्यातगुणहीनप्रदेशबन्धं तु नोकषायस्य बन्धभावात् , यशःकीर्तिनाम्नः स्याद्बन्धः, सप्रतिपक्षत्वात् , प्रदेशबन्धस्तु संख्या-तगुणहीनः, भावना त्वोघवद्विधेया । तथाऽऽहारकद्विकस्थिरशुभास्थिराशुभायशःकीर्तिनाम्नां स्या-द्बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु तासां ज्येष्ठं संख्यातभागहीनज्येष्ठं वा करोति, तत्राऽऽहारकद्विकस्य त्रिंशतं बध्नन् ज्येष्ठप्रदेशबन्धं जिननामसहितमेकत्रिंशतं बध्नन् संख्यातभागहीनज्येष्ठप्रदेश-बन्धं करोति, स्थिरशुभनाम्नोरष्टाविंशतौ त्रिंशति वा ज्येष्ठप्रदेशबन्धं करोति, एकोनत्रिंशदेक-त्रिंशद्बन्धस्थानद्वये संख्यातभागहीनज्येष्ठप्रदेशबन्धं निद्राद्विकगुरुप्रदेशबन्धको विदधाति, अस्थिराशुभायशःकीर्तिनाम्नां त्वष्टाविंशतिं बध्नन् ज्येष्ठप्रदेशबन्धमेकोनत्रिंशतं बध्नन् तु संख्या-

तभागहीनं ज्येष्ठप्रदेशबन्धं करोति। भावनादयस्तु सुगमा इति। उक्तशेषाणां बन्धार्हाणां पञ्चविंशतेर्नामप्रकृतीनां बन्धं नियमतः करोति, प्रदेशबन्धं तु तासां ज्येष्ठं संख्यातभागहीनं वा, अत्र नियमेन बन्धस्तु प्रतिपक्षप्रकृतीनां बन्धाभावादिना बोध्यः, तथाऽष्टाविंशतिं निर्वर्तकस्य ज्येष्ठप्रदेशबन्धः, एकोनत्रिंशद्बन्धस्थानगतस्य तु संख्यातभागहीनज्येष्ठप्रदेशबन्धः प्राप्यत इति। शेषा नामप्रकृतयः पुनरिमाः—देवद्विकपञ्चेन्द्रियजातिवैक्रियद्विकतैजसकार्मणशरीरसमचतुरस्रसुखगतिवर्णचतुष्कागुरुलघुचतुष्कनिर्माणत्रसचतुष्कसुभगत्रिकनामानीति पञ्चविंशतिः प्रकृतयः। एवं निद्राद्विकप्रधानसन्निकर्षं प्ररूप्य तदनु गाथाद्वयेन हास्यषट्काऽसातवेदनीयलक्षणप्रकृतिसप्तकप्रधानं सापवादं सातिदेशं प्रस्तुतसन्निकर्षं निरूपयति—"हस्से"त्यादि, हास्यषट्कासातवेदनीयरूपसप्तप्रकृतीनां प्रत्येकं प्रधानीकृत्य प्रस्तुतसन्निकर्षो निद्राद्विकप्रधानसन्निकर्षवद्विज्ञेयः, केवलं वक्ष्यमाणानि अपवादपदानि विहायेति विशेषः, अपवादपदानि त्वेवम्—हास्यरतिशोकारतिमोहनीयासातवेदनीयानां बन्धस्य सप्रतिपक्षत्वात्तत्तत्प्रकृतिप्राधान्ये प्रतिपक्षप्रकृतेर्बन्धो नैव भवति, यथा हास्यरतिबन्धप्रधाने शोकारत्योर्बन्धाभाव इति, भयजुगुप्सयोस्तु निद्राद्विकवद्ध्रुवबन्धित्वान्न तत्र निरुक्तापवादः। तथाऽसातशोकारतिमोहनीयानां प्रस्तुतमनःपर्यवज्ञानसंयममार्गणयोः केवलं षष्ठे प्रमत्तगुणस्थानके एव बन्धभावात्तासां प्राधान्ये आहारकद्विकस्य बन्धो न भवति। तथा हास्यरतिभयजुगुप्सानां बन्धविच्छेदस्य त्रिंशतो देवगत्यादिनामप्रकृतीनां बन्धविच्छेदादूर्ध्वं भावादष्टमगुणस्थानसप्तमभागे वर्तमानो हास्यादिप्रकृतीनां ज्येष्ठप्रदेशबन्धको यशःकीर्तिनाम विहाय शेषा नामप्रकृतीर्नैव बध्नाति, षष्ठभागान्तं यावद्वर्तमानस्तु बध्नाति, अतो निद्राद्विकप्रधानसन्निकर्षे यासां देवगत्यादिपञ्चविंशतिप्रकृतीनां नियमतो बन्धो भवति, स प्रस्तुते स्याद्वक्तव्यः, तथा तत्र निद्राद्विकप्रधाने यशःकीर्तेः स्याद्बन्धभावेऽपि तत्प्रदेशबन्धो स्वज्येष्ठप्रदेशबन्धतः संख्यातगुणहीन एव भवति, तत्र जघन्यतोऽप्यष्टाविंशतिबन्धस्थानेऽस्या बध्यमानत्वात्, प्रस्तुते पुनर्हास्यादिबन्धकस्या-ऽष्टमगुणस्थानसप्तमभागे नाम्नः केवलं यशःकीर्तेरेव बध्यमानत्वात्तत्र वर्तमानः यशःकीर्तेःस्वज्येष्ठप्रदेशबन्धतः संख्यातभागहीनं प्रदेशबन्धं करोति। संख्यातगुणहीनं तु तद्वदेवेति। भावनादयस्तु सुगमाः, स्वामित्वादिकमवधार्य भावनीया च। तदनु गाथाद्वयेन देवायुष्कप्रधानसन्निकर्षप्ररूपणम्, तत्र संज्वलनचतुष्कपुरुषवेदयशःकीर्तिनाम्नां नियमाद्बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु संख्येयगुणहीनम्, जिननामाहारकद्विकरूपाणां त्रयाणां स्यात् संख्यातभागहीनं शेषाणामसातवेदनीयादिषट्कवर्जानामेकोनपञ्चाशत्प्रकृतीनां नियमात् संख्यातभागहीनं च प्रदेशं बध्नाति, हेत्वादयस्तु सुगमाः। तत एकयाऽऽर्यया ऽऽहारकद्विकप्रधानं सन्निकर्षं दर्शयति—"आहारे"त्यादि, आहारकद्विकस्य नामप्रकृत्यन्तर्गतत्वात् तेन सह बध्यमानानां नामप्रकृतीनां सन्निकर्षः स्वस्थानसन्निकर्षवज्ज्ञातव्यः,

नामेतरप्रकृतीनां त्वाहारकद्विकेन सार्धं यथौघप्ररूपणायां प्रस्तुतसन्निकर्षो निरूपितः, तथा प्रस्तुतेऽपि निरूपणीयो नामेतरासां प्रकृतीनां ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्वामिन ओघवदत्रापि लाभात् । भावना तु सुगमा, स्वयं विभावनीयेति । तत एकार्यया बन्धप्रायोग्यशेषनामप्रकृतीनां प्रत्येकं प्रधानीकृत्य सापवादं सातिदेशं प्रस्तुतसन्निकर्षं कथयति, तत्र बन्धार्हाणां नामप्रकृतीनां स्वस्थानसन्निकर्षवत् प्रस्तुतसन्निकर्षो विभावनीयः, नामेतरासां प्रस्तुते निद्राद्विकप्रधानसन्निकर्षे यथा निरूपितं तथैव स्याद्बन्धनियतबन्धादिकं ज्येष्ठप्रदेशबन्धं संख्यातभागहीनज्येष्ठप्रदेशबन्धादिकं च प्रतिपादनीयम्, केवलं तत्र निद्राद्विकस्य प्रधानत्वेन तयोर्बन्धस्य नियमतो भावेऽपि प्रस्तुतेऽस्थिरादिप्रकृतित्रयवर्जासु तयोः स्याद्बन्धो वक्तव्यः, अस्थिरादित्रिकवर्जशेषनामप्रकृतीनां बन्धस्याष्टमगुणस्थानद्वितीयभागादूर्ध्वमेव विच्छेदभावात्, शेषनामप्रकृतयः पुनरिमाः—देवद्विक-पञ्चेन्द्रियजातिवैक्रियद्विकतैजसकार्मणशरीरसमचतुरस्रसंस्थानसुखगतिवर्णचतुष्कागुरुलघुचतुष्क-निर्माणनामजिननामत्रसनवकास्थिराशुभाऽयशःकीर्तिनामलक्षणा एकत्रिंशदिति ॥९९६-१००६॥

अथ क्रमप्राप्तासु मत्यज्ञानादिमार्गणासु प्रस्तुतसन्निकर्षं दर्शयन्नाह—

गुरुवंधी णाम विण तिअणाणअभवियमिच्छअमणेसु । एगस्स धुवस्स गुरुं णियमा धुवसत्ततीसाए ॥
वधइ सिआ पएसं दुवेअणीअसगणोकसायाणं । वेउव्वियछक्कायवणीउच्चाणं च उक्कोसं ॥
धुवणामाणं णियमा गुरुमुअ संखसहीणमण्णेसिं । णामाण सिआ एव साथियरदुजुगलणपुमणीआणं ॥
णवरि ण च्चिअ पडिवक्खा वधइ तह सायहस्सरइवंधी । णिरयदुग वि ण कुखगइस्सराण संखसहीण च्च ॥
देवदुग ण उ वंधइ णपुंसणीअगुरुवंधी उ । सुहआगिइखगइसुहगतिगाण संखसहीणं च्च ॥
थीअ गुरु वंधतो णियमा धुववंधिअट्ठतीसाए । जेट्ठं सिआ सुरविउव्वदुगदुजुगलवेअणीअगोआणं ॥
वंधइ संखसूणं तिरिणरुरलदुगछिवट्ठहुडाणं । कुखगइउज्जोअदुहगतिगथिराइजुगलाण सिआ ॥
णिअमा खलु पंचिंदियपरघाऊसासतसचउक्काणं । तह णवधुववंधीण णामाणं संखभागूणं ॥
संघयणआगिइपणगसुहखगइसुहगतिगाण वंधेइ । गुरुमुअ संखसूणं सिआ पुमस्सेवमेव भवे ॥
चउआऊणं णेयो तिरिव्व णवरं सुराउगुरुवंधी । णियमा थीणद्धितिगऽडकसायमिच्छाण वंधेइ ॥
णिरयदुगदुस्सरखगइगुरुवंधी वंधए सठाणव्व । णामाण गुरु णियमा सेसाणं णिरयजोग्गाणं ॥
विउव्वदुगस्सुक्कोसं वंधंतो वंधए सठाणव्व । णामाणं पयडीणं णाणावरणव्व सेसाणं ॥
जेट्ठं सुरदुगसुखगइसठाणसुहगतिगाण वधंतो । णामाण सठाणव्व उ णियमा जेट्ठं धुवुच्चाणं ॥
जेट्ठ सायियरजुगलपुमथीण सिआऽण्णणामगुरुवंधी । णामाण सठाणव्व उ सेसाण अपज्जमणुयव्व ॥
उच्चस्स गुरुपएसं वंधंतो वधए गुरुपएसं । णियमा धुववंधीणऽडतीसाए णामवज्जाणं ॥
वधेइ सिआ जेट्ठं दुवेअणीअसगणोकसायाणं । तह देवविउव्वदुगपणसंघयणागिइचउक्काणं ॥
गुरुमुअ संखसूणं सुहगतिगसुखगइआगिईण सिआ । धुवणामपणिंदियपरघाऊसासतसचउगाणं ॥
णियमा संखसूणं सिआ णरोरालदुगछिवट्ठाणं । हुंडगअपसत्थखगइथिरसुहजसअथिरछक्काणं ॥
(तृतीया षष्ठी च गीतिः, तथा पञ्चम्युपगीतिः) १००७-१०२४॥

(प्रे०) '**गुरुवंधी**' इत्यादि, मत्यज्ञानश्रुताज्ञानविभंगज्ञानाभव्यमिथ्यात्वासंज्ञिरूपासु षट्सु मार्गणासु नामकर्मवर्जानां बन्धप्रायोग्यध्रुवबन्धिनीनां ज्ञानावरणाद्यष्टत्रिंशत्प्रकृतीनामन्यतमस्याः

प्रकृष्टप्रदेशबन्धं कुर्वन् शेषाणां सप्तत्रिंशत्प्रकृतीनां नियमात्प्रकृष्टप्रदेशबन्धं करोति, तासां ज्येष्ठ-प्रदेशबन्धस्वामिनां तुल्यत्वात् , स च सातासातवेदनीयहास्यरतिशोकारतिवेदत्रयदेवद्विकनरकद्विकवैक्रियद्विकातपनामगोत्रद्वयरूपाणामष्टादशानां स्याद्बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु तासां ज्येष्ठमेव, तत्र स्याद्बन्धं तु तासां सप्रतिपक्षत्वाज्ज्येष्ठप्रदेशबन्धं तु प्रस्तुतबन्धकस्य नामवर्जानां नानाविधबन्धस्थानाभावात् , नाम्नो नानाविधबन्धस्थानसद्भावेऽपि निरुक्तदेवद्विकादिसप्तप्रकृतीनामेकैकस्यैव बन्धस्थानस्य भावान्न संख्यातभागन्यूनत्वमिति । स एवाष्टात्रिंशद्ध्रुवबन्धिप्रकृतीनां ज्येष्ठ-प्रदेशबन्धको नाम्नो नवध्रुवबन्धिनीनां ज्येष्ठं संख्यातभागहीनं वा प्रदेशबन्धं करोति, तद्बन्धं तु नियमात् करोति, शेषाणां बन्धार्हाणां नामप्रकृतीनां स स्याद्बन्धको भवति, अध्रुवबन्धित्वात् , प्रदेशबन्धं तु तासां ज्येष्ठं संख्यातभागहीनं वा करोति, प्रस्तुतबन्धकस्य निरुक्तप्रकृतिबन्धयोग्यानां नानाबन्धस्थानानां लाभात् । एवं सातिरेकसार्धगाथाद्वयेनाष्टात्रिंशद्ध्रुवबन्धिप्रकृतीनां प्रत्येकं प्रधानीकृत्य प्रस्तुतसन्निकर्षं निरूप्य देशोनसार्धगाथाद्वयेन सातिदेशं सापवादं सातासातवेदनीय-हास्यरतिशोकारतिनपुंसकवेदनीचैर्गोत्राणां प्रत्येकं प्रधानीकृत्य प्रस्तुतसन्निकर्षः दर्शितः, तत्रातिदेशस्तु ज्ञानावरणादिवत् , ज्ञानावरणादिज्येष्ठप्रदेशबन्धकानां निरुक्तप्रकृतिबन्धकाले तासां ज्येष्ठ-प्रदेशबन्धस्यैव लाभात् । अत्र याः काश्चिदतिप्रसक्तयस्ता गाथाद्वयेनोद्धरन्नाह-"**णवरि**" इत्यादि, निरुक्ताष्टप्रकृतिभ्य एकस्या ज्येष्ठप्रदेशं बध्नन् स्वप्रतिपक्षप्रकृतिबन्धं नैव विदधाति, प्रकृतिबन्धसन्निकर्षेणैव तन्निषेधात् , अत्र पुनस्तत्स्मरणार्थं दर्शितो निषेधो मूलकारेणेति, एवमग्रेऽपि, तथा हास्यरतिसातवेदनीयानां ज्येष्ठप्रदेशबन्धं कुर्वन् नरकप्रायोग्यं नैव बध्नाति नरकगतिबन्धेन सह सातवेदनीयादीनां बन्धाभावात्तथा स एव त्रयाणां ज्येष्ठप्रदेशबन्धं कुर्वन् कुखगतिदुःस्वरनाम्नोर्ज्येष्ठप्र-देशबन्धं नैव करोति, प्रस्तुतबन्धकस्य नरकप्रायोग्याष्टाविंशतिबन्धस्थानस्याभावात स तयोः संख्यातभागहीनं ज्येष्ठप्रदेशबन्धमेव करोति । तथा नपुंसकवेदनीचैर्गोत्रयोर्ज्येष्ठप्रदेशबन्धं विरचयन् देवद्विकं नैव बध्नाति, प्रकृतिबन्धविरोधात् , तथा स समचतुरस्रसुखगतिसुभगत्रिकलक्षणपञ्च-प्रकृतीनां स लब्धातिदेशेन स्याद्बन्धकत्वेऽपि तासां ज्येष्ठप्रदेशबन्धं न करोति, किन्तु संख्यातभा-गहीनमेव बध्नाति, प्रस्तुतबन्धकस्य देवप्रायोग्याष्टाविंशतेर्बन्धस्थानस्यैवाभावात् । शेषं तु निरुक्तातिदेशानुसारेणैवाभ्यूह्यम्, सुगमम् । ततो गाथाचतुष्केण स्त्रीवेदस्य प्रस्तुतसन्निकर्षं निरूपयति-स्त्रीवेदज्येष्ठप्रदेशबन्धको नामवर्जध्रुवबन्धिप्रकृतीनां नियमाज्ज्येष्ठप्रदेशं च बध्नाति । तथा देवद्विक-वैक्रियद्विकहास्यरतिशोकारतिसातासातवेदनीयगोत्रद्वयरूपाणां द्वादशानां स्याज्ज्येष्ठप्रदेशबन्धं च करोति, अत्र नामेतरसामायुर्वर्जानामेकस्या ज्येष्ठप्रदेशबन्धे तदितरासां नामायुर्वर्जानां ज्येष्ठप्रदेश-बन्ध एव भवति । स्यान्नियतबन्धस्तु प्रकृतिबन्धसन्निकर्षादपि गम्यम् । देवद्विकवैक्रियद्विकयोः प्रस्तुतमार्गणायामष्टाविंशतिबन्धस्थाने एव बध्यमानत्वान्नानाबन्धस्थानाभावाज्ज्येष्ठ एव प्रदेश-

बन्ध इति । तथा तिर्यग्द्विकमनुष्यद्विकौदारिकद्विकसेवार्तसंहननहुण्डकसंस्थानकुखगतिनामोद्योत-दुर्भगत्रिकस्थिरादियुगलत्रयरूपाणामेकोनविंशतेः स्यात् संख्यातभागहीनज्येष्ठप्रदेशबन्धं च करोति, तत्र स्याद्बन्धः प्रस्तुतबन्धकस्यापि निरुक्तप्रकृतीनां सप्रतिपक्षत्वात् , संख्यातभागहीनं तु स्व-बन्धप्रायोग्यजघन्यबन्धस्थानस्य प्रस्तुतेऽवध्यमानत्वाद् , अयं भावः-कुखगतिदुस्वरनाम्नो विहाय शेषाणां सप्तदशानां ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्त्रयोविंशतौ पञ्चविंशतौ वा भवति, किन्तु प्रस्तुतबन्धकस्याष्टा-विंशतिबन्धस्थानतो न्यूनबन्धस्थानस्यावध्यमानत्वान्न ज्येष्ठप्रदेशबन्धः, कुखगतिदुस्वरनाम्नोरष्टा-विंशतौ ज्येष्ठप्रदेशबन्धलाभेऽपि प्रस्तुते नरकप्रायोग्यबन्ध भावात् तयोर्बन्ध एकोनत्रिंशद्बन्धस्थाने प्राप्यते,अतः संख्यातभागन्यूनत्वमिति । पञ्चेन्द्रियजातिपराघातोच्छ्वासत्रसचतुष्कनवनामध्रुवब-न्धिरूपाणां षोडशप्रकृतीनां नियमात्संख्यातभागहीनज्येष्ठप्रदेशबन्धं च करोति, स्त्रीवेदबन्धकस्य पर्याप्तपञ्चेन्द्रियप्रायोग्यस्यैव बन्धकत्वान्नियमाद्बन्धः, संख्यातभागहीनं त्वासां ज्येष्ठप्रदेश-बन्धस्य त्रयोविंशतौ पञ्चविंशतौ वा भावात् । तथा स एव स्त्रीवेदज्येष्ठप्रदेशबन्धक आद्यसंहन-नपञ्चकाद्यसंस्थानपञ्चकसुखगतिसुभगत्रिकनाम्नां चतुर्दशानां स्याद्बन्धं विदधाति, प्रदेश-बन्धं तु ज्येष्ठं संख्यातभागहीनज्येष्ठप्रदेशबन्धं वा करोति, भावना तु सुगमा ओघवद्भावनी-येति । यथा स्त्रीवेदप्रधानसन्निकर्षो निरूपितस्तथा पुरुषवेदप्रधानप्रस्तुतसन्निकर्षोऽपि ज्ञात-व्यः, स च सुगम इति । तदनु एकया गाथयाऽऽयुश्चतुष्कप्रधानं सापवादमतिदेशेन प्रस्तुतसन्नि-कर्षं निरूपयति-"चउआऊणं" इत्यादि,-तिर्यगोघमार्गणायां चतुर्णामायुषां प्रत्येकं प्रधानीकृत्य प्रस्तुतसन्निकर्षो यथा निरूपितस्तथा प्रस्तुतेऽपि प्राप्यते, त्रयाणामायुषां तद्वदत्रापि मिथ्यादृष्टेरेव ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्वामित्वात् ,केवलं तत्र देवायुषः सम्यग्दृष्टिरपि ज्येष्ठप्रदेशबन्धं करोति, ततस्त-स्य मिथ्यात्वादीनां स्याद्बन्धो भवति, प्रस्तुते सम्यग्दृष्टेः प्रवेशाभावाद् देवायुर्ज्येष्ठप्रदेश-बन्धको मिथ्यात्वानन्तानुबन्धिचतुष्काप्रत्याख्यानावरणचतुष्कस्त्यानर्द्धित्रिकरूपाणां द्वादशप्रकृ-तीनां नियमाद्बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु तासां तद्वदत्रापि संख्येयभागहीनमेव करोति । शेषं सुगमं तद्वदत्रापि भावान्नात्र पुनः प्रपञ्च्यते । तत एकगाथया नरकद्विकादिचतुष्प्रकृतीनां प्रत्येकं प्रधानीकृत्य प्रस्तुतसन्निकर्षो दर्शितस्तत्र प्रधानीकृतप्रकृत्या सह बध्यमानानां नामप्रकृ-तीनां स्वस्थानसन्निकर्षवत् प्रस्तुतसन्निकर्षो विज्ञेयः, शेषाणां बन्धार्हप्रकृतीनां ज्येष्ठ एव प्रदेशबन्धो भवति, प्रस्तुतबन्धकस्यायुर्बन्धाभावान्नामेतरप्रकृतीनामेकैकस्यैव बन्धस्थानस्य लाभाच्च । तदनु वैक्रि-यद्विकप्रधानमेकगाथया प्रस्तुतसन्निकर्षो दर्शितः, सोऽपि सुगमः, नाम्नां स्वस्थानवच्छेषाणां मतिज्ञानावरणवत्प्रस्तुतसन्निकर्षो भावनीयः, अत्र देवनरकोभयगतिप्रायोग्यबन्धकत्वेन वेदनीय-वेदयुगलगोत्राणां सप्तभेदानां बन्धप्रायोग्यत्वाद् ज्ञानावरणवदतिदेशः । तदनु यासां देवप्रायोग्या-ष्टाविंशतिबन्धस्थान एव ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्तासां देवद्विकसमचतुरस्रसुखगतिसुभगत्रिकाणां प्रत्येकं

प्रधानीकृत्य प्रस्तुतपरस्थानज्येष्ठप्रदेशबन्धसन्निकर्षो दर्शितः, तत्र प्रधानीकृतप्रकृत्या सह बन्धार्हाणां नाम्नां स्वस्थानसन्निकर्षवत्प्रस्तुते ज्ञातव्यः, तथा नामवर्जानामष्टात्रिंशद्ध्रुवबन्धिनीनामुच्चैर्गोत्रस्य च स नियमाज्ज्येष्ठप्रदेशबन्धं च करोति, पुरुषस्त्रीवेदद्वयसातासातवेदनीयद्वयहास्यादियुगलद्वयरूपाणामष्टानां स स्याज्ज्येष्ठप्रदेशबन्धं च करोति, तत्र स्याद्बन्धः सप्रतिपक्षत्वात्, ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्तु प्रस्तुतमार्गणायामायुर्वर्जायाः कस्या अपि प्रकृतेर्ज्येष्ठप्रदेशं बध्नतो नामवर्जप्रकृतीनां बन्धसद्भावे ज्येष्ठ एव प्रदेशबन्धो लभ्यते, नानाविधबन्धस्थानाभावात्, प्रस्तुतबन्धकस्य देवप्रायोग्यबन्धकत्वेन नीचैर्गोत्रस्य बन्धाभावादुच्चैर्गोत्रस्य नियमाद्बन्धो दर्शित इति ।

एवमष्टाविंशतिबन्धस्थाने ज्येष्ठप्रदेशबन्धार्हाणां नरकद्विकादित्रयोदशानां सन्निकर्षं पृथक् प्रदर्श्य शेषानाम्नामतिदेशेन प्रस्तुतसन्निकर्षं निरूपयति–"**अण्णणामगुरुबंधो**" इत्यादि, उक्तान्या बन्धप्रायोग्या नामप्रकृतयः पुनरिमाः–तिर्यग्द्विक-मनुष्यद्विक-जातिपञ्चकौदारिकद्विकतैजसकार्मणशरीरसंहननपट्काद्यवर्जसंस्थानपञ्चकवर्णचतुष्कागुरुलघुचतुष्कनिर्माणातपोद्योतत्रसचतुष्कस्थिरशुभयशःकीर्तिस्थावरचतुष्कास्थिराशुभदुर्भगानादेयायशःकीर्तिनामानीत्येकपञ्चाशत्प्रकृतयस्तासां प्रत्येकं प्रधानीकृत्य प्रस्तुतसन्निकर्षे भण्यमाने नामप्रकृतीनां सन्निकर्षः स्वस्थानसन्निकर्षवद्विज्ञेयो नामेतरासां त्वपर्याप्तमनुष्यमार्गणायां प्रधानीकृतप्रकृत्या सह सन्निकर्षो यथा प्राप्यते, तथा प्रस्तुतेऽपि प्राप्यते, अयम्भावः–अपर्याप्तमनुष्यवदतिदेशस्तु प्रधानीकृतप्रकृतेर्ज्येष्ठप्रदेशबन्धकस्य बन्धप्रायोग्यवेदत्रयस्य गोत्रद्वयस्य च स्यान्नियतबन्धप्रदर्शनार्थमन्यथा वेदनीययुगलद्वयस्य स्याद्बन्धस्य शेषाणां मतिज्ञानावरणादीनामष्टात्रिंशद्ध्रुवबन्धिनीनां नियतबन्धस्य तथा नामेतरासामायुर्वर्जानां ज्येष्ठप्रदेशबन्धलाभस्य मतिज्ञानावरणवदतिदेशेनाऽपि गम्यमानत्वेऽपि, वेदत्रयगोत्रद्वयरूपपञ्चानां न सम्यक्प्रतिपत्तिर्यत आद्यसंहननपञ्चकमध्यमसंस्थानचतुष्करूपनवप्रकृतिप्रधानसन्निकर्षे वेदत्रयगोत्रद्वयोः स्याद्बन्धः, शेषद्वाचत्वारिंशत्प्रकृतिप्रधासन्निकर्षे नपुंसकवेदनीचैर्गोत्रयोर्नियमतो बन्धः प्राप्यत इति मतिज्ञानावरणवदतिदेशतोऽत्र विशेष इति । तत उच्चैर्गोत्रप्रधानं परस्थानज्येष्ठप्रदेशबन्धसन्निकर्षं निरूप्य प्रस्तुतमत्यज्ञानादिमार्गणापट्के निरुक्तसन्निकर्षं समापयति–तत्रोच्चैर्गोत्रस्य ज्येष्ठप्रदेशबन्धं कुर्वन्नामवर्जानामष्टात्रिंशद्ध्रुवबन्धिनीनां नियमतो ज्येष्ठप्रदेशबन्धं च करोति, तथा स सातासातवेदनीयहास्यरतिशोकारतिवेदत्रयानां स्याज्ज्येष्ठप्रदेशबन्धं च करोति, देवद्विकवैक्रियद्विकाद्यवर्जसंहननपञ्चकमध्यमसंस्थानचतुष्करूपाणां त्रयोदशानां स स्याद्बन्धं ज्येष्ठप्रदेशबन्धं च करोति, तत्र स्याद्बन्धस्तु निरुक्तप्रकृतीनां सप्रतिपक्षत्वात्, ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्तु नानाविधबन्धस्थानाभावात्, तद्यथा–देवद्विकवैक्रियद्विकयोरष्टाविंशतिबन्धस्थान एव बन्धार्हत्वादाद्यसंहननपञ्चकमध्यमसंस्थानचतुष्करूपाणां नवानां प्रस्तुतमार्गणायामेकोनत्रिंशत्त्रिंशद्बन्धस्थानद्वये बन्धार्हत्वेऽपि त्रिंशद्बन्धस्थानस्य प्रस्तुते तिर्यक्प्रायोग्य-

त्यादुच्चैर्गोत्रप्रधानसन्निकर्षे तस्यामंभवेनैकस्मिन्नेवैकोनत्रिंशद्बन्धस्थाने तासां नवानां बन्धार्हत्वाच्च ज्येष्ठ एव प्रदेशबन्धः प्राप्यते । तथा समचतुरस्रसुखगतिसुभगत्रिकरूपाणां पञ्चानामष्टाविंशतौ देवगत्या सहैकोनत्रिंशति मनुष्यगत्या सह निरुक्तबन्धकस्य बन्धार्हत्वात् सप्रतिपक्षत्वाच्च स्याद्बन्धो ज्येष्ठप्रदेशबन्धः संख्यातभागहीनज्येष्ठप्रदेशबन्धश्च । तथा प्रस्तुतबन्धको मनुष्यद्विकौदारिकद्विकसेवार्तसंहननहुण्डकसंस्थानाऽप्रशस्तविहायोगतिस्थिरशुभयशःकीर्तिनामास्थिरपट्करूपाणां षोडशानां स्याद्बन्धं संख्यातभागहीनज्येष्ठप्रदेशबन्धं च करोति, तत्र सप्रतिपक्षत्वात्स्याद्बन्धं करोति, प्रस्तुकबन्धको देवगतिप्रायोग्यामष्टाविंशतिं मनुष्यगतिप्रयोग्यामेकोनत्रिंशतं वा बध्नाति, अतो निरुक्तप्रकृतीनां न ज्येष्ठप्रदेशबन्धं करोति । तथा नाम्नो ध्रुवबन्धिन्यः पञ्चेन्द्रियजातिपराघातोच्छ्वासत्रसचतुष्करूपाणां सप्तानां च नियमाद्बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु तासां षोडशानां संख्यातभागहीनज्येष्ठ एवेति, भावना तु सुगमा स्वतोऽवधार्या ॥१००७-१०२५॥

अथ सामायिकसंयमच्छेदोपस्थापनीयसंयममार्गणयोः प्राह—

एगस्स जेट्ठबंधी पणणाणावरणविग्घउच्चाओ । समइअछेएसु गुरुं णियमाऽण्णाण चउदंसणाण दुहा ॥
जेट्ठं सिआ दुणिद्दादुवेअणीअजिणहस्सछक्काणं । अंतिमकोहस्स सिआ बंधइ गुरुमुअ दुभागूणं ॥
अंतिममाणस्स सिआ बंधेइ पएसमुक्कोसं । अहव दिवड्ढंसूणं अहवा संखेज्जभागूणं ॥
बंधइ सिआ गुरुमहव संखसूणमुअ संखगुणहीणं । अतिमसमायाअ चरमलोहस्स उ बंधए णियमा ॥
गुरुमुअ संखगुणूणं पुरिसजसाणं सिआऽण्णणामाण । गुरुमुअ संखसूणं सयमेव परं ण पडिवक्खं ॥
एगस्स जेट्ठबंधो णिद्ददुगा बंधए गुरुं णियमा । अण्णस्स य सयकुच्छाणाणावरणुच्चविग्घाणं ॥
चउवीआवरणाण बंधइ णियमा अणंतभागूणं । बंधेइ सिआ जेट्ठं दुवेअणीअजुअलजिणाणं ॥
अंतिमकोहस्स्याणं दुदिवड्ढ सूणग कमा णियमा । पुरिसदुसजलणाण संखगुणूणं जसस्स सिआ ॥
अहारथिराथिरदुगअजसाण सिआ कुणेइ गुरुमहवा । संखंसूणं णियमा णामाणं दुवबोसाए ॥
चउवीआवरणाणं णाणावरणव्व णवरि सायजसा । णियमा बंधइ णेव दुणिद्दा छअसायपमुहा य ॥
णिद्दव्व असायअरइसोगाण णवरि ण बंधइ विरुद्धा । मोहाण सठाणव्व उ गुरुबंधी सेसमोहाण ॥
सेसाणं हस्सव्व उ बंधो उच्चव्व सेसगुरुबंधी । णियमा जेट्ठं सायणाणावरणजसुच्चविग्घाणं ॥
जेट्ठं बंधेमाणो सुराउगस्स णियमाउ बंधेइ । संजलणचउक्कपुरिसजसाण संखेज्जगुणहीणं ॥
तित्थाहारदुगाणं णिअमा बंधेइ संखभागूणं । णियमा छअसायाई विण सेसाण णाणवण्णाए ॥
णामाणाहारगदुगगुरुबंधी बंधए सठाणव्व । णियमा गुरुमज्जावरणसायहस्सचउगुच्चविग्घाणं ॥
चउवीआवरणाण णियमा गुरुमुअ अणंतभागूणं । णिद्दाण सिआ जेट्ठं पुमसंजलणाण णिद्दव्व ॥
जसगुरुबंधी जेट्ठं णाणावरणसायउच्चविग्घाणं । णियमा विग्घव्व भवे सोगअरइवज्जमोहाणं ॥
णामाण सठाणव्वऽण्णजेट्ठबंधीचराण णिद्दव्व । णवरि दुणिद्दाण सिआ अथिरअसुहअजसवज्जगुरुबंधी ॥
(प्रथमा पञ्चमी पञ्चदशम्यष्टादशमी च गीतिस्तथा तृतीयोपगीतिः) ॥१०२५-१०४२॥

(प्रे०) "एगस्से"त्यादि,सामायिकच्छेदोपस्थापनीयमार्गणयोर्ज्ञानावरणपञ्चकान्तरायपञ्चकोच्चैर्गोत्ररूपैकादशप्रकृतिभ्य एकस्या ज्येष्ठप्रदेशं बध्नन् शेषदशानां नियमाज्ज्येष्ठमेव प्रदे-

शबन्धं च करोति, दर्शनावरणचतुष्कस्य नियमाद्बन्धं विदधाति, प्रदेशबन्धं तु तस्य द्विधा-ज्येष्ठमनन्तभागहीनज्येष्ठं वा करोति, तत्र निद्राद्विकबन्धविच्छेदादूर्ध्वं वर्तमानो ज्येष्ठं प्रदेशबन्धं करोति। निद्राद्विकबन्धकाले त्वनन्तभागहीनज्येष्ठप्रदेशबन्धं करोति। तथा निद्राद्विकवेदनीयद्वय जिननामहास्यषट्कानां स्याद्बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु तासां ज्येष्ठमेव करोति, द्विविधबन्धहेतुभूतानां नानाबन्धस्थानानामभावात्। संज्वलनक्रोधस्य ज्येष्ठं देशोनार्धं वा स्याच्च बध्नाति, संज्वलनमानस्य ज्येष्ठं द्वयर्धभागोनं वा संख्यांशोनं वा स्याच्च बध्नाति, संज्वलनमायाया ज्येष्ठं संख्यातभागहीनं संख्यातगुणहीनं वा स्याच्च बध्नाति, संज्वलनलोभस्य ज्येष्ठं संख्यातगुणहीनं वा नियमाच्च बध्नाति भावना तु सुगमा, कषायमार्गणायां भावितप्रकारेण सविशेषा भावनीया। पुरुषवेदस्य बन्धं स्यात् करोति, प्रदेशबन्धं तस्य ज्येष्ठं संख्यातगुणहीनं वा करोति। नवमगुणस्थानद्वितीयभागादिषु तस्याबध्यमानत्वाच्छेषभावना सुगमा। यशःकीर्तिनाम्नः स्याद्बन्धं करोति, षष्ठगुणस्थाने वर्तमानस्य प्रस्तुतबन्धकस्य यशःकीर्तिनाम्नो बन्धस्य सप्रतिपक्षत्वात्, प्रदेशबन्धं तु तस्य ज्येष्ठं संख्यातगुणहीनं वा करोति, एकविधबन्धकस्य ज्येष्ठम्, संख्यातगुणहीनं त्वष्टाविंशत्यादिबन्धकस्येति। तथा प्रस्तुतज्ञानावरणाद्येकादशप्रकृतीनां ज्येष्ठप्रदेशबन्धक उक्तशेषाणां नामकर्मसत्कप्रकृतीनां स्याद्बन्धं करोति, आसां बन्धविच्छेदादूर्ध्वमपि प्रस्तुतबन्धकस्य वर्तमानत्वात्, प्रदेशबन्धं तु तासां गुरुं संख्यातभागहीनज्येष्ठं वा करोति, नानाबन्धस्थानेषु शेषप्रकृतीनां बध्यमानत्वात्। शेषनामप्रकृतयः पुनरिमाः—देवद्विकपञ्चेन्द्रियजातिवैक्रियद्विकाहारकद्विकतैजसकार्मणशरीरसमचतुरस्रसुखगतिवर्णचतुष्कागुरुलघुचतुष्कनिर्माणत्रसनवकास्थिराशुभायशःकीर्तिनामानीति द्वात्रिंशद्। यथा ज्ञानावरणादिप्रधानः प्रस्तुतसन्निकर्षो दर्शितस्तथा सातवेदनीयस्यापि द्रष्टव्यः, उभयत्र प्रमत्तादिनवमान्तगुणस्थानगतानां तज्ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्वामित्वात्, केवलं प्रतिपक्षप्रकृतिं नैव बध्नातीति विशेषः। निद्राद्विकस्य ज्येष्ठप्रदेशं बध्नन् भयजुगुप्साज्ञानावरणपञ्चकोच्चैर्गोत्रान्तरायपञ्चकानां नियमाज्ज्येष्ठप्रदेशबन्धं च करोति, दर्शनावरणचतुष्कस्य नियमादनन्तभागहीनज्येष्ठप्रदेशबन्धं च करोति। तथा सातासातवेदनीयहास्यादियुगलद्वयजिननामरूपाणां सप्तानां स्याद्बन्धं ज्येष्ठप्रदेशबन्धं च करोति, स्याद्बन्धस्तु सुगमो ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्तु प्रस्तुतबन्धकस्य नानाबन्धस्थानाभावात्, जिननाम्नो बन्धकाल एकोनत्रिंशदेकत्रिंशद्बन्धस्थानद्वयलाभेऽपि न तत्र जिननाम्नः प्रदेशबन्धहानिः, अत उत्कृष्टः प्रदेशबन्धो भवति। संज्वलनचतुष्कस्य पुरुषवेदस्य चौघे निद्राद्विकप्रधानज्येष्ठप्रदेशबन्धसन्निकर्षे यथा निरूपितस्तथा प्रस्तुतेऽपि विज्ञेयः। तथा यशःकीर्तेः स स्यात् संख्यातगुणहीनं च ज्येष्ठप्रदेशबन्धं करोति, भावना तु सुगमा स्त्रीवेदमार्गणावद्विधेया। एतत्प्रकृतिषट्कसन्निकर्षस्यातिदेशेनापि गम्यमानत्वेऽपि मूलकृता स्पष्टार्थं गाथयैव दर्शितः। तथा स निद्राद्विकज्येष्ठप्रदेशबन्धक आहारकद्विकं स्थिरद्विकं स्थिरशुभरूपमस्थिरद्विकमस्थिराशुभनामरूप-

अयशःकीर्तिनाम च सप्रतिपक्षत्वादिना स्याद् बध्नाति, प्रस्तुत आसां समानां बन्धस्य नानाबन्धस्थानेषु प्राप्यमाणत्वाज्ज्येष्ठं संख्यातभागहीनोत्कृष्टं वा प्रदेशं बध्नाति, शेषाणां प्रस्तुतबन्धकबन्धार्हाणां पञ्चविंशतेर्नामप्रकृतीनां बन्धं नियमतः करोति प्रदेशबन्धं तु तासामुत्कृष्टमनुत्कृष्टं वोत्कृष्टतः संख्यातभागहीनं करोति । भावना तु सुगमा । शेषप्रकृतयः पुनरिमाः—देवद्विकपञ्चेन्द्रियजातिवैक्रियद्विकतैजसकार्मणशरीरसमचतुरस्रसुखगतिवर्णचतुष्कागुरुलघुचतुष्कनिर्माणत्रसचतुष्कसुभगत्रिकनामानीति । तत एकगाथया दर्शनावरणचतुष्कप्रधानं प्रस्तुतं निरूपयति-"चक्खु" इत्यादि, दर्शनावरणचतुष्कस्य प्रत्येकं प्रधानीकृत्य प्रस्तुतसन्निकर्षो ज्ञानावरणप्रधानसन्निकर्षवद्भवति, केवलं प्रस्तुते सातवेदनीयं यशःकीर्तिनाम च नियमतो बध्नाति, प्रस्तुतबन्धकस्याष्टमगुणस्थानकद्वितीयभागादारभ्य नवमगुणस्थानचरमसमयं यावद्भावेन प्रतिपक्षप्रकृतीनां बन्धाभावात्, हास्यरतिस्थिरशुभप्रकृतीनां तु प्रतिपक्षप्रकृतेर्बन्धाभावेऽपि स्वबन्धविच्छेदादूर्ध्वमपि प्रस्तुतमार्गणायां दर्शनावरणज्येष्ठप्रदेशबन्धस्य लाभात् स्याद्बध्नाति । तथाऽसातवेदनीयास्थिराशुभायशःकीर्तिशोकारतिरूपाणां षण्णां निद्राद्विकस्य च बन्ध एव न भवति । भावना तु सुगमा । ततो गाथार्धेनासातवेदनीयशोकारतिप्रकृतित्रयस्य सापवादमतिदेशेन प्रस्तुतसन्निकर्षं दर्शयति—"णिद्दव्वे"त्यादि, निद्राद्विकवत्प्रस्तुतसन्निकर्षो वक्तव्यः केवलं विरुद्धा प्रकृतयः प्रतिपक्षा आहारकद्विकं च नैव बध्नाति, निद्राद्विकस्य ध्रुवबन्धित्वेनाप्रतिपक्षत्वात् प्रस्तुतप्रकृतित्रयस्य सप्रतिपक्षत्वाच्छेषभावना सुगमा । ततः सार्धगाथयोक्तशेषमोहनीयप्रकृतीनां संज्वलनचतुष्कहास्यरतिभयजुगुप्सापुरुषवेदरूपाणां नवानां प्रस्तुतसन्निकर्षो दर्शितः, तत्र निरुक्तप्रकृतीनां मोहनीयत्वात्ताभ्यस्तत्तत्प्रकृतिप्रधानप्रस्तुतसन्निकर्षे तया सह बध्यमानानां शेषमोहनीयप्रकृतीनां प्रस्तुतसन्निकर्षः स्वस्थानसन्निकर्षवद्विज्ञेयः । तथा हास्यचतुष्कप्रधाने हास्यरतिभयजुगुप्साप्रधाने मोहनीयेतरकर्मणां स्यान्नियतबन्धो ज्येष्ठसंख्यातभागहीनज्येष्ठादिप्रदेशबन्धश्च यथोच्चैर्गोत्रप्रधानसन्निकर्षे प्राप्यते तथा विज्ञेयः, उच्चैर्गोत्रज्येष्ठप्रदेशबन्धस्य षष्ठादिगुणस्थाने लाभेन हास्यादिज्येष्ठप्रदेशबन्धकालयुच्चैर्गोत्रस्य ज्येष्ठ एव प्रदेशबन्धो लभ्यत इत्यादि तु सुगमम् । "सेसगुरुबंधो" इत्यादि, शेषप्रकृतयो मोहनीयमत्काः संज्वलनचतुष्कपुरुषवेदरूपाः पञ्च, तासां प्रत्येकं ज्येष्ठप्रदेशबन्धं कुर्वन्नियमतो नवमगुणस्थानवर्तित्वेन सातवेदनीयज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरणचतुष्कयशःकीर्तिनामोच्चैर्गोत्रान्तरायपञ्चकरूपाः सप्तदश मोहनीयवर्जशेषप्रकृतीर्नियमेन बध्नाति तासां प्रदेशबन्धमपि स ज्येष्ठमेव करोति । तया सह बध्यमानानां मोहनीयप्रकृतीनां तु स्वस्थानवद्दर्शितं शेषाः प्रकृतीस्तु प्रस्तुतबन्धको नैव बध्नाति । तदनु गाथाद्वयेन बन्धार्हं देवायुः प्रधानीकृत्य प्रस्तुतपरस्थानज्येष्ठप्रदेशबन्धसन्निकर्षं दर्शयति—"जेट्ठ"मित्यादि, देवायुषो ज्येष्ठप्रदेशबन्धं कुर्वन् सामान्यतो बन्धार्हाणां सर्वासां संख्यातभागहीनज्येष्ठप्रदेशबन्धं करोति, केवलं संज्वलनचतुष्क

पुरुषवेदयशःकीर्तिनाम्नां संख्यातगुणहीनज्येष्ठप्रदेशबन्धं विदधाति, तथाऽऽहारकद्विकजिननामरूपास्तिस्रः प्रकृतीः स्याद्बध्नाति, शेषाः प्रकृतीस्तु नियमतो बध्नाति, भावना पुनर्मनःपर्यवज्ञानमार्गणावद्विधेया । सन्निकर्षः पुनरेवम्—ज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरणषट्कसातवेदनीयहास्यरतिभयजुगुप्सादेवद्विकपञ्चेन्द्रियजातिवैक्रियद्विकतैजसकार्मणशरीरसमचतुरस्रसुखगतिवर्णचतुष्कागुरुलघूपघातनिर्माणपराघातोच्छ्वासत्रसनवकान्तरायपञ्चकोच्चैर्गोत्ररूपा एकोनपञ्चाशत्प्रकृतीनां नियमात् संज्वलनचतुष्कपुरुषवेदयशःकीर्तिनामरूपाणां संख्यातभागहीनं च बध्नाति । आहारकद्विकं जिननाम च स्यात् संख्यातभागहीनं च बध्नाति । संज्वलनचतुष्कपुरुषवेदयशःकीर्तिनामरूपाणां षण्णां नियमात् संख्यातगुणहीनज्येष्ठप्रदेशबन्धं करोति । तदनु गाथाद्वयेनाहारकद्विकप्रधानं प्रस्तुतसन्निकर्षं निरूपयन्नाह—"णाममाणे"त्यादि, आहारकद्विकस्य ज्येष्ठप्रदेशबन्धं कुर्वतस्ताभ्यां सह बन्धप्रायोग्याणां नामकर्मणां प्रस्तुतसन्निकर्षः स्वस्थानसन्निकर्षवद्भवति सुगमश्च, ज्ञानावरणपञ्चकहास्यरतिभयजुगुप्सासातवेदनीयोच्चैर्गोत्रान्तरायपञ्चकानां स आहारकद्विकज्येष्ठप्रदेशबन्धं कुर्वन्नियमाद्बन्धं विदधाति ज्येष्ठप्रदेशबन्धं च करोति, भावना तु सुगमा । स दर्शनावरणचतुष्कस्य नियमाद्बन्धं करोति । प्रदेशबन्धं तु तस्य ज्येष्ठमनन्तभागहीनं वा, निद्राद्विकबन्धकालेऽनन्तभागहीनं तदबन्धकाले ज्येष्ठमिति । निद्राद्विकस्य स्याद्बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु तस्य ज्येष्ठमेव विदधाति । तथा स एव पुरुषवेदसंज्वलनचतुष्करूपाणां पञ्चानां सन्निकर्षं स्यान्नियतज्येष्ठाज्येष्ठप्रदेशबन्धादिकं यथा निद्राद्विकप्रधानसन्निकर्षे विदधाति तथा प्रस्तुतेऽपि करोति । उभयत्र मोहनीयनवविधबन्धकस्यैव भावात् । तदनु एकगाथया यशःकीर्तिनामप्रधानं प्रस्तुतपरस्थानज्येष्ठप्रदेशबन्धसन्निकर्षं दर्शयति—'**जसगुरुबंधी**' इत्यादि, यशःकीर्तेर्ज्येष्ठप्रदेशबन्धं कुर्वन् ज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरणचतुष्कसातवेदनीयोच्चैर्गोत्रान्तरायपञ्चकरूपाणां षोडशानां नियमेन ज्येष्ठप्रदेशबन्धं च करोति । संज्वलनचतुष्कहास्यरतिभयजुगुप्सापुरुषवेदरूपाणां नवानां मोहनीयकर्मणां प्रस्तुतमार्गणायामेव ज्ञानावरणप्रधानसन्निकर्षे यथा स्यान्नियतबन्धादिकं ज्येष्ठसंख्यातभागहीनादिकं च प्राप्यते तथा प्रस्तुतेऽपि यशःकीर्तेर्ज्येष्ठप्रदेशबन्धकस्य प्राप्यते, भावना तु सुगमा । यशःकीर्तेर्ज्येष्ठप्रदेशबन्धकस्य निरुक्तपञ्चविंशतेरेव बन्धकत्वान्नेतरासां निर्देश इति । तदनु देवगतिप्रायोग्याणां शेषद्वात्रिंशन्नामप्रकृतीनां प्रत्येकं प्रधानीकृत्य प्रस्तुतसन्निकर्ष एकगाथया दर्शितः, तत्र प्रधानीकृतप्रकृत्या सह बन्धार्हाणां नामकर्मणां स्वस्थानसन्निकर्षवत्प्रस्तुतसन्निकर्षो भवति नामेतरासां तु निद्राद्विकप्रधाने यथा प्राप्यते, तथाऽत्र वक्तव्यः, केवलमस्थिराशुभायशःकीर्तिनामवर्जदेवगत्याद्येकोनत्रिंशत्प्रकृतीनां ज्येष्ठप्रदेशबन्धको निद्राद्विकं स्याद्बध्नाति, अष्टमगुणस्थानद्वितीयादिभागेषु वर्तमानस्य प्रस्तुतबन्धकस्य तद्बन्धाभावात्, अस्थिरादिप्रकृतित्रयबन्धकस्तु निद्राद्विकं नियमाद्बध्नातीति ॥१०२५-१०४२॥

तदेवं सामायिकच्छेदोपस्थापनीयमार्गणाद्वये बन्धार्हाणां पञ्चषष्टिप्रकृतीनां प्रत्येकं प्रधानीकृत्य प्रस्तुतसन्निकर्षो भणितः, साम्प्रतं क्रमप्राप्तपरिहारविशुद्धिसंयममार्गणायां तासामेव पञ्चषष्टेर्बन्धप्रायोग्यत्वात्तद्विषयकं सन्निकर्षं दर्शयन्नाह—

परिहारे णाणं विण धुवपुरिसुच्चाउ एगगुरुबंधी । णियमाऽण्णाण गुरुं जिणदुवेअणीअजुगलाण सिआ ॥
आहारदुगथिराइतिजुगलाण सिआ कुणेइ गुरुमहवा । संखसूणं णियमा णामाणं पंचवीसाए ॥
साय हस्सरईण एवं णवर ण चेव पडिवक्खं । एमेव असायअरइसोगाण हारगदुगं णो ॥
तित्थाहारदुगाणं बंधेइ सिआ सुराउगुरुबंधी । संखंसूणं णियमा छअसायाइ विणाऽण्णेसिं ॥
आहारदुगस्स गुरुं बंधतो बंधए सठाणव्व । णामाण गुरुं णियमा धुवपुमहस्सरइसायउच्चाणं ॥
सेसाणं णामाणं गुरुबंधी बंधए सठाणव्व । णामाणं पयडीणं णाणावरणव्व सेसाणं ॥
(पञ्चमी गीतिः) ॥१०४३-१०४८॥

(प्रे०) "परिहारे"त्यादि, परिहारविशुद्धिसंयममार्गणायां षष्ठसप्तमगुणस्थानद्वयस्यैव लाभस्तत्र ज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरणचतुष्कनिद्राद्विकसंज्वलनचतुष्कभयजुगुप्साऽन्तरायपञ्चकरूपाणां नामवर्जमार्गणाप्रायोग्यद्वाविंशतिध्रुवबन्धिप्रकृतीनां तथा पुरुषवेदोच्चैर्गोत्रयोश्च ध्रुवबन्धिकल्पयोरन्यतमस्या ज्येष्ठप्रदेशबन्धं कुर्वन् शेषत्रयोविंशतेर्नियमाज्ज्येष्ठप्रदेशबन्धं च करोति । जिननामसातासातवेदनीयहास्यरतिशोकारतिरूपाणां सप्तानां स्याद्बन्धं करोति, तद्बन्धे तु तस्य ज्येष्ठमेव प्रदेशबन्धं करोति, तथाऽऽहारकद्विकस्थिरास्थिरशुभाशुभयशःकीर्त्ययशःकीर्तिनाम्नीत्यष्टानां सप्रतिपक्षत्वात् स्याद्बन्धं करोति, आसां नानाविधबन्धस्थाने बन्धार्हत्वाज्ज्येष्ठप्रदेशबन्धं संख्यातभागहीनं ज्येष्ठप्रदेशबन्धं वा करोति । शेषाणां पञ्चविंशतेर्नामकर्मणां प्रस्तुतमार्गणायां ध्रुवबन्धिकल्पत्वात् स तासां नियमाद्बन्धको भवति, प्रदेशबन्धं तु तासां नानाविधबन्धस्थाने बन्धसद्भावाज्ज्येष्ठं संख्यातभागहीनं वा करोति, भावना तु सुगमा । एवं यथा ज्ञानावरणादिप्रकृतीनां प्रस्तुतसन्निकर्षो दर्शितस्तथैव सातवेदनीयहास्यरतिप्रकृतित्रयस्य प्रत्येकं प्रधानीकृत्य निरवतसन्निकर्षो वाच्यः, केवलं पूर्वोक्ता ध्रुवबन्धिप्रकृतयस्ततस्तासां सप्रतिपक्षत्वं नास्ति, प्रस्तुतप्रकृतित्रयस्य तु सप्रतिपक्षत्वादेकस्याः प्राधान्ये तत्प्रतिपक्षप्रकृतीनां बन्धं नैव करोतीति विशेषः । एवं यथा सातवेदनीयप्रधानसन्निकर्षस्तथैवासातवेदनीयारतिशोकमोहनीयानां सन्निकर्षो विज्ञेयः, केवलं प्रस्तुतप्रकृतित्रयस्य बन्धकाः षष्ठगुणस्थानवर्तिन एवातस्त आहारकद्विकं नैव बध्नन्ति । तत एकगाथया देवायुःप्रधानसन्निकर्षः पठितस्तत्राऽऽहारकद्विकजिननाम्नः सर्वत्र स्याद्बन्धभावेन प्रस्तुतेऽपि स्याद्बन्धः, प्रदेशबन्धस्त्वायुर्बन्धकत्वात् संख्यातभागहीनज्येष्ठः, असातवेदनीयादिषण्णां देवायुषा सह बन्धाभावाच्छेषाणां पञ्चपञ्चाशत्प्रकृतीनां नियमाद्बन्धो भवति, प्रदेशबन्धस्तु तासां संख्यातभागहीन एवेति । भावनादयस्तु सुगमाः । तत एकगाथयाऽऽहारकद्विकप्रधानं प्रस्तुतसन्निकर्षं दर्शयति—"आहारगदुगस्से"त्यादि, आहारकद्विकज्येष्ठप्रदेशबन्धं कुर्वन् बन्धार्हाणा

नामकर्मणां सन्निकर्षे यथा स्वस्थानसन्निकर्षे तथा प्रस्तुते स्यान्नियतादिज्येष्ठादिप्रदेशबन्धं विदधाति, तथा स एव नामेतरासां द्वाविंशतिध्रुवबन्धिप्रकृतीनां पुरुषवेदस्य हास्यरतिसातवेदनीयोच्चैर्गोत्राणां च नियमाद्बन्धं करोति प्रदेशबन्धं तु तस्य ज्येष्ठं एव करोति, प्रस्तुतबन्धकस्य नियमतः सप्तमगुणस्थाने वर्तमानत्वात् हास्यरतिसातवेदनीयानां नियतो बन्धः, शेषः सुगमः। तदनु शेषाणां द्वात्रिंशन्नामकर्मणां सातिदेशेन प्रस्तुतसन्निकर्षं निरूपयति–"सेसाण"मित्यादि, शेषाणां द्वात्रिंशन्नामप्रकृतीनां प्रत्येकं प्रधानीकृत्य प्रस्तुतसन्निकर्षे निरूप्यमाणे तया सह बध्यमानानां नामकर्मणां स्वस्थानसन्निकर्षवत्प्रस्तुतेऽपि तत्सन्निकर्षः प्राप्यते तथा नामवर्जशेषकर्मणां तु यथा प्रस्तुतमार्गणायां मतिज्ञानावरणादिप्रधानसन्निकर्षे प्राप्यते तथाऽत्राऽपि विज्ञेयम्, उभयत्र षष्ठसप्तमगुणस्थानद्वयगतानां तुल्यप्रदेशबन्धस्वामित्वात्, भावना तु सुगमा। शेषा द्वात्रिंशत्प्रकृतयस्त्विमाः-देवद्विक-पञ्चेन्द्रियजाति-वैक्रियद्विक-तैजस-कार्मण–समचतुरस्र-सुखगति–वर्णचतुष्का-ऽगुरुलघूपघात–निर्माण-पराघातो--च्छ्वास-जिननाम-त्रसदशका-ऽस्थिरा-ऽशुभा-ऽयशःकीर्तिनामानीति ॥१०४३-१०४८॥

अथाऽसंयममार्गणायां तत्तुल्यप्रायवक्तव्यत्वात्कापोतलेश्यामार्गणायां च परस्थानज्येष्ठप्रदेशबन्धसन्निकर्षं प्रतिपादयन्नाह—

एगस्स जेट्ठबंधी पणणाणावरणअंतरायाओ। णियमाऽण्णाण णवण्हं बधइ गुरुमजयकाऊसुं ॥
बंधेइ सिआ जेट्ठं थीणद्धियतिगदुवेअणीआणं। चउअणमिच्छणपुमथीणिरयदुगायवदुगोआणं ॥
णियमा छद्दंसणावरणबारसकसायभयजुगुच्छाणं। गुरुमुअऽणंतसूणं बंधइ पुमदुजुगलाण सिआ ॥
धुवणामाण णियमा बंधइ गुरुमहव संखभागूण। सेसाणं णामाणं तेवण्णाए सिआ कुणए ॥
एवं सायियराणं णवरि विरुद्धं ण सायगुरुबंधी। णिरयदुग पि ण कुखगइसराण उण संखभागूणं ॥
छदरिसणावरणपुरिसदुवालसकसायभयजुगुच्छाणं। दुजुगलजिणणामवइरउच्चाण कम्मजोगव्व ॥
जेट्ठं बंधेमाणो मणुयाउस्स णियमाउ बंधेइ। मणुयोरालदुगाणं इगूणचत्तधुवबंधीणं॥
तसपत्तेअपणिंदियवायरणामाण संखभागूण। बंधेइ सिआऽण्णेसिं पण्णासाअ णरजोग्गाणं ॥
थीणद्धितिगदुवेअऽणमिच्छजिणाणं सुराउगुरुबंधी। सिअ संखभागहीणं णियमा सेससुरजोग्गाणं ॥
सेसाण तिरिव्व णवरि दुइअकसायाण बंधए णियमा। सुरविउवदुगसुहागिइसुखगइसुहगतिगलहुबंधी ॥
॥१०४९-१०५८॥

(प्रे०) "एगस्से"त्यादि, असंयमकापोतलेश्यारूपे मार्गणाद्वये ज्ञानावरणपञ्चका-ऽन्तरायपञ्चकलक्षणदशप्रकृतिभ्य एकस्या गुरुप्रदेशबन्धं कुर्वन् शेषनवानां नियमाज्ज्येष्ठप्रदेशबन्धं च करोति। स्त्यानर्द्धित्रिका-ऽनन्तानुबन्धिकषायचतुष्कमिथ्यात्वस्त्रीवेदनपुंसकवेदसातासातवेदनीयनरकद्विका-ऽऽतपनामगोत्रद्वयरूपाणां सप्तदशानां स्याद्बन्धं ज्येष्ठप्रदेशबन्धं च करोति, दर्शनावरणषट्का-ऽप्रत्याख्यानावरणादिद्वादशकषायभयजुगुप्सालक्षणानां विंशतिध्रुवबन्धिप्रकृतीनां नियमाज्ज्येष्ठप्रदेशबन्धमनन्तभागहीनज्येष्ठप्रदेशबन्धं च करोति, पुरुषवेदहास्यरतिशोकाऽरतीनां पञ्चानां स्याद्बन्धं ज्येष्ठप्रदेशबन्धमनन्तभागहीनज्येष्ठप्रदेशबन्धं वा करोति। नाम्नो नवध्रुवबन्धिनीनां नियमा

च्छेषाणां त्रिपञ्चाशतः स्याद् बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु तासां ज्येष्ठं संख्यातभागहीनज्येष्ठं वा करोति । भावना तु सुगमाः तिर्यगोघमार्गणामनुसृत्य सविशेषा भावनीयेति ।

एवं ज्ञानावरणप्रधानसन्निकर्षो यथा निरूपितस्तथा सातासातवेदनीयप्रधानसन्निकर्षो निरूपणीयः, केवलं प्रतिपक्षप्रकृतिं न बध्नाति । तथा सातवेदनीयबन्धको नरकद्विकं न बध्नाति, अत एव च कुखगतिदुःस्वरनाम्नोस्तदा सातवेदनीयज्येष्ठप्रदेशबन्धकाले संख्यातभागहीनज्येष्ठप्रदेशबन्धं करोति । भावना तु सुगमा । दर्शनावरणपट्काद्यवर्जद्वादशकषायभयजुगुप्सापुरुषवेदहास्यादियुगलद्वयजिननामवज्रर्षभनाराचसंहननोच्चैर्गोत्ररूपाणामष्टाविंशतिप्रकृतीनां प्रत्येकं प्रधानीकृत्य प्रस्तुतसन्निकर्षः कार्मणकाययोगमार्गणायां यथा दर्शितस्तथा द्रष्टव्यः, उभयत्र ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्वामिनां सम्यग्दृष्ट्यादिरूपेण तुल्यत्वात् , पञ्चमादिगुणस्थानानामभावात् , त्रयोविंशत्यादिबन्धस्थानानामुभयत्र तुल्यत्वाच्च । तदनु गाथाद्वयेन मनुष्यायुःप्रधानं परस्थानज्येष्ठप्रदेशबन्धसन्निकर्षं प्राह–"जेट्ठं" इत्यादि, मनुष्यायुर्ज्येष्ठप्रदेशं बध्नतः प्रस्तुतमार्गणाद्वये प्रथमचतुर्थगुणस्थानद्वये वर्तमानत्वात् , एकोनचत्वारिंशद्ध्रुवबन्धिप्रकृतीनां तथा मनुष्यगतिनाम्ना सहाऽवश्यं बन्धयोग्यानां मनुष्यगतिपञ्चेन्द्रियजातिनामौदारिकद्विकमनुष्यानुपूर्वीत्रसनामबादरनामप्रत्येकनामरूपाणामष्टानां समुदितानां सप्तचत्वारिंशतो नियमाद् बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु प्रस्तुते आयुर्बन्धकत्वात्संख्यातभागहीनम् , शेषाणां मनुष्यप्रायोग्याणां पञ्चाशत्प्रकृतीनां स्याद् बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु तासां संख्यातभागहीनमिति । भावना तु सुगमा । पञ्चाशत्प्रकृतयः पुनरिमाः–स्त्यानर्द्धित्रिक-वेदनीयद्वया-ऽनन्तानुबन्धिचतुष्क-मिथ्यात्व वेदत्रय-हास्यादियुगलद्वय-संहननषट्क-संस्थानषट्क-खगतिद्वय-पराघातो-च्छ्वास-जिननाम-पर्याप्ता-ऽपर्याप्तनाम-स्थिरषट्का-ऽस्थिरषट्क–गोत्रद्वयलक्षणाः ।

तत एकगाथया देवायुष्कप्रधानं प्रस्तुतसन्निकर्षं दर्शयति–"थीणद्धि" इत्यादि, देवायुर्ज्येष्ठप्रदेशं बध्नन् स्त्यानर्द्धित्रिकाऽनन्तानुबन्धिचतुष्कमिथ्यात्वस्त्रीवेदपुरुषवेदजिननामरूपाणामेकादशानां स्याद् बन्धं करोति, सम्यग्दृष्टिमिथ्यादृष्टीना देवायुर्ज्येष्ठप्रदेशबन्धयोग्यत्वात् स्त्यानर्द्धित्रिकादीनामष्टानां स्याद् बन्धः, तत्र वेदद्वयस्य सद्भावात्तयोः सप्रतिपक्षत्वात्स्याद् बन्धः, जिननाम्नस्तु सर्वत्र स्याद् बन्ध इति, शेषा देवयोग्याः प्रकृतीस्तु नियमतो बध्नाति, प्रतिपक्षप्रकृतीनां बन्धाऽनर्हत्वात्, अस्थिरादित्रयस्यारतिशोकयोश्च बन्धाऽर्हत्वेऽपि देवायुषा सह तद्बन्धविरोधात् स्थिरादीनामेव नियमाद् बन्धः । शेषाः प्रकृतयो द्वाषष्टिः पुनरिमाः–एकोनचत्वारिंशद्ध्रुवबन्धिनी-सातवेदनीय-हास्य-रति-देवद्विक-पञ्चेन्द्रियजातिनाम-वैक्रियद्विक–समचतुरस्रसंस्थान-सुखगति-पराघातो-च्छ्वास-त्रसदशकोच्चैर्गोत्राणीति । प्रदेशबन्धस्तु बन्धयोग्यानां त्रिसप्ततेरपि संख्यातभागहीन इति ।

तदनु शेषाणां षट्सप्ततेः प्रस्तुतसन्निकर्ष तिर्यगोघमार्गणावदतिदिशन् तथा शेषप्रकृत्यन्तर्गतानां देवद्विकादिनवप्रकृतीनां सन्निकर्षेऽपवादं निरूपयन् गाथामाह–"सेसाण तिरिंव" तिर्यग्मार्गणायां यथा दर्शितस्तथा प्रस्तुतेऽपि शेषप्रकृतीनां प्रत्येकं प्रधानीकृत्य प्रस्तुतसन्निकर्षो वाच्यः, तद्बन्धस्वामिनां मिथ्यादृष्ट्यादीनां तुल्यत्वात्, त्रयोविंशत्यादिबन्धस्थानानां चोभयत्र सद्भावाच्च । केवलं देवद्विकवैक्रियद्विकसमचतुरस्रसुखगतिसुभगत्रिकरूपाणां नवप्रकृतीनां प्रधानसन्निकर्षे तिर्यग्गत्योघमार्गणायां पञ्चमगुणस्थानेऽप्यासां ज्येष्ठप्रदेशबन्धभावात् अप्रत्याख्यानावरणचतुष्कं स्याद्बध्नाति, प्रस्तुतमार्गणाद्वये तु तस्य द्वितीयकषायचतुष्कस्य नियमेन बन्धो भवति, प्रदेशबन्धस्तु अतिदेशानुसारेण ज्येष्ठो-ऽनन्तभागहीनो वा यथासंभवं विज्ञेय इति ।

शेषप्रकृतयः पुनरिमाः-स्त्यानर्द्धित्रिका-ऽनन्तानुबन्धिचतुष्क-स्त्रीवेद नपुंसकवेदमिथ्यात्व-नीचैर्गोत्रगतिचतुष्कजातिपञ्चकौदारिक-वैक्रियतैजसकार्मणशरीरौदारिकवैक्रियाङ्गोपाङ्गद्वयप्रथमवर्जसंहननपञ्चकसंस्थानषट्क-खगतिद्वया--ऽऽनुपूर्वीचतुष्क वर्णचतुष्का--गुरुलघुचतुष्कनिर्माणा-ऽऽतपोद्योतत्रसचतुष्क-स्थावरदशक-स्थिर-तिर्यग्नरकायुर्द्वयरूपाः प्रकृतयः, भावना तु तिर्यगोघवद्विधेया ॥१०४९-१०५८॥

सम्प्रति कृष्णलेश्यानीललेश्यामार्गणाद्वये साऽपवादं परस्थानज्येष्ठप्रदेशबन्धसन्निकर्षमतिदेशेन दर्शयन्नाह—

किण्हाए णीलाए अजयव्व परं णराउगुरुबंधी । ण जिणं सिआ गुरु से पणावरणविग्घसायियरबंधी ॥
छदरिसणावरणपुरिसदुवालसकसायहस्सछक्काण । उच्चस्स य गुरुबंधी सिआ गुरुं तित्थयराणं ॥
(प्रथमा गीति) ॥१०५९-६०॥

(प्रे०) "किण्हाए" इत्यादि, कृष्णलेश्यानीललेश्यामार्गणाद्वये प्रस्तुतसन्निकर्षोऽनन्तरदर्शिता-ऽसंयममार्गणावज्ज्ञातव्यः, बन्धार्हप्रकृतीनां ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्वामिनां च साम्यात् सन्निकर्षेऽपि साम्यम् । केवलं प्रस्तुतमार्गणाद्वये देवनैरयिकाणां जिननाम्नो बन्धाऽभावात् मनुष्यायुष्कबन्धेन सह जिननाम न बध्नाति, यतः सम्यग्दृष्टिषु मनुष्यायुष्कस्य बन्धका देवनैरयिका एव, ते च तस्य ज्येष्ठप्रदेशबन्धका अपि सम्भवन्ति, न च ते जिननाम बध्नन्ति, कृष्णनीललेश्याद्वये मनुष्याणामेव जिननामबन्धकत्वात्, तथा ज्ञानावरणपञ्चका-ऽन्तरायपञ्चकसाताऽसातवेदनीयरूपद्वादशानां ज्येष्ठप्रदेशबन्धं कुर्वन् जिननाम्नः स्याज्ज्येष्ठप्रदेशबन्धं करोति तथा दर्शनावरणषट्कद्वादशकषायहास्यषट्कपुरुषवेदोच्चैर्गोत्ररूपाणां षड्विंशतिप्रकृतीनां नामप्रकृतितो भिन्नत्वात् तासामन्यतमस्या ज्येष्ठप्रदेशं बध्नन् जिननाम्नः स्याद् बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु तस्य ज्येष्ठमेव करोति, प्रस्तुतबन्धकस्य मनुष्यप्रायोग्यत्रिंशद्बन्धस्थानस्याऽभावात् न संख्यातभागहीनत्वमिति । तथा स एव षड्विंशतिप्रकृतीनामऽन्यतमप्रकृतेर्ज्येष्ठप्रदेशबन्धको वज्रर्षभनाराचसंहननस्य स्याज्ज्येष्ठप्रदेशबन्धं करोति, निरुक्तप्रकृतिभ्य उच्चैर्गोत्रं विमुच्य शेषपञ्चविंशतिप्रकृतीनां सम्यग्दृष्टेरेव ज्येष्ठ-

प्रदेशबन्धस्वामित्वात्, सम्यग्दृष्टिषु वज्रर्षभनाराचसंहननबन्धकास्तु देवनैरयिका एव, तेषां च सम्यग्दृग्देवनैरयिकाणां निरुक्तमार्गणाद्वये जिननाम्नो बन्धाऽभावेन एकोनत्रिंशद्बन्धस्थानस्यैव लाभात् ज्येष्ठप्रदेशबन्धकत्वम्, एवमेवोच्चैर्गोत्रस्याऽपि केवलं मिथ्यादृष्टीनामप्युच्चैर्गोत्रज्येष्ठप्रदेशबन्धकत्वेन मनुष्यप्रायोग्यैकोनत्रिंशत्प्रकृतीर्बध्नता वज्रर्षभनाराचं बध्यतेऽतस्तस्य सोऽपि ज्येष्ठप्रदेशबन्धमेव करोति स्याद्बन्धस्तु सुगमः। एतदपवादत्रयं विहाय शेषं सर्वमसंयममार्गणावद्विज्ञेयमिति ॥१०५९-६०॥

अथ तेजोलेश्यामार्गणायां परस्थानज्येष्ठप्रदेशबन्धसन्निकर्षं प्राह—

एगस्स जेट्ठबंधी पणणाणावरणअंतरायाओ । तेऊअ गुरुं णियमा बंधेइ णवण्ह सेसाणं ॥
बंधेइ सिआ जेट्ठं थीणद्धियतिगदुवेअणीआण । तह मिच्छत्ताणचउगदुवेअआयवदुगोआणं ॥
णियमा संजलणचउगछदंसणावरणभयजुगुच्छाणं । गुरुमुअऽणंतंसूणं अट्ठकसायपुरिसदुजुगलाण सिआ ॥
णियमा धुवणामाणं परघाऊसासबायरतिगाणं । गुरुमुअ संखंसूणं बंधेइ सिआऽण्णणामाणं ॥ ४
एव सायियराणं णवरं बंधइ ण चेव पडिवक्खं । आहारदुगं पि ण खलु बंधेइ असायगुरुबंधी ॥ ५
एगस्स जेट्ठबंधी थीणद्धितिगाणचउगमिच्छाओ । णियमा गुरुमण्णेसिं तह णाणावरणविग्घाणं ॥
उक्कोसपएसं खलु बंधेइ सिआ दुवेअणीआणं । इत्थीणपुंसणरसुरविउवदुगायवदुगोआणं ॥
छदरिसणावरणाण दुवालसकसायभयजुगुच्छाण । णियमाऽणंतंसूणं बंधइ पुरिसदुजुगलाण सिआ ॥
णियमा धुवणामाणं परघाऊसासबायरतिगाणं । गुरुमुअ संखंसूण सिआऽण्णाणं तीसणामाणं ॥ ९
एगस्स जेट्ठबंधी छदंसणावरणकुच्छभयपुमओ । णियमा गुरुमण्णेसिं णाणावरणुत्तविग्घाणं ॥
संजलणाण चउण्हं णियमा गुरुमुअ अणंतभागूण । बंधेइ खलु पएसं सिआ कसायाण तइयाणं ॥
सायियरदुजुगलदुइयकसायचउगाण सिअ गुरुं णियमा । गुरुमुअ संखंसूण पणिंदिआईण सत्तण्हं ॥
णियमा धुवणामाणं परघाऊसासबायरतिगाणं । संखंसूण उरलतिथिराइजुगलाण कुणइ सिआ ॥
णरसुरविउवाहारगदुगुरलुवंगजिणवइररिसहाणं । गुरुमुअ संखंसूणं सिआ दुजुगलाण एमेव ॥ १४
णपुमस्स जेट्ठबंधी पणणाणावरणअंतरायाणं । थीणद्धितिगाणचउगमिच्छत्ताणं गुरुं णियमा ॥
छदरिसणावरणाणं दुवालसकसायभयजुगुच्छाणं । णियमाऽणंतंसूणं बंधइ जुगलाण दोण्ह सिआ ॥
आयवसायेयरणरगोअदुगाण गुरुं सिआ कुणए । संखसूणं सुखगइआगिइसुहगतिगतसपणिंदीणं ॥
णियमा धुवणामउरलपरघाऊसासबायरतिगाण । गुरुमुअ संखसूणं सिआऽण्णअविरुद्धणामाण ॥ १८
एवं पीअस्स भवे णवरं इत्थीणपुंसगाण गुरुं । बंधइ सिआ पएसं पुरिसस्स अणंतभागूणं ॥ १९
थीअ गुरुं बंधंतो पणणाणावरणअंतरायाणं । थीणद्धितिगाणचउगमिच्छत्ताणं गुरुं णियमा ॥
छदरिसणावरणाणं दुवालसकसायभयजुगुच्छाणं । णियमाऽणंतंसूण बंधइ जुगलाण दोण्ह सिआ ॥
सायियरणरसुरविउवदुगणीउच्चाण जेट्ठग तु सिआ । गुरुमुअ संखंसूणं णियमा पर्चिदियतसाणं ॥
संखंसूणं बंधइ तिरिदुगउज्जोअउरलहुंडाणं । दुहगाणादेयाणं तह तिथिराइजुगलाण सिआ ॥
संखेज्जभागहीणं परघाऊसासबायरतिगाणं । धुवबंधीण णवण्हं णामाणं बंधए णियमा ॥
गुरुमुअ संखंसूण बंधेइ सिआ उरालुवंगस्स । सवयणछगपणागिइदुखगइकुसरसुहगतिगाणं ॥ २५
मोहाण सठाणव्व उ गुरुबंधी कुणइ सेसमोहाणं । णिद्दव्वऽण्णाण णवरि णाहारदुगमडदुइअतिअबंधी ॥
णरुरलदुगवइराणि ण अडतइअतुरिअकसायगुरुबंधी । सुरविउवदुगाण कुणइ णियमा तित्थस्स उण जेट्ठं ॥२७
धुवतिरिदुगणीअउरलपरघाऊसासबायरतिगाणं । तिरियाउजेट्ठबंधी णियमा संखेज्जभागूणं ॥
संखेज्जभागहीणं तिरिपाउग्गाण सेसपयडीणं । बायालाए बंधइ सिआ णराउस्स णिरयव्व ॥ २९

देवाउजेट्ठवधो बंधइ बारसकसायमिच्छाण । थीणद्धितिगपुरिसथीतित्थाहारजुगलाण सिआ ॥
मखसूणं णियमाऽण्णेसिं धुवबंधिणगतीसाए । हस्सरईण सुहाण य सुरजोग्गाणेगवीसाए ॥३१
निरिआयवदुगिगिंदियधुवपरघाऊसासहुंडणामाओ । दुहगाणादेयउरलथावरबायरथिराइजुगलतिगा ॥
गुरुबंधी णामाणं कुणइ सठाणव्व णपुमणीआणं। णियमा गुरुं ण उच्चदुवेआ थीणद्धियव्व सेसाणं ॥३३
णरदुगुरुलुवंगवइरगुरुबंधी बंधए सठाणव्व। णामाण गुरुं णियमा पणणाणावरणविग्घाणं ॥
बवेइ सिआ जेट्ठं थीणद्धियतिगदुवेअणीआणं । मिच्छत्ताणचउगथीणपुंसणीउच्चगोआणं ॥
णियमा छदसणावरणबारसकसायभयजुगुच्छाणं । गुरुमुअऽणंतमूणं बधइ पुमदुजुगलाण सिआ ॥३६
सुरविउवदुगपणिंदियसुहगतिगसुखगइआगिइतसाणं । गुरुबंधी णामाणं सट्ठाणव्व खलु बंधेइ॥
उच्चस्स गुरुं णियमा बंधइ णो चेव णपुमणीआणि । सेसाण छवत्ताए णाणावरणव्व बंधेइ ॥३८
आहारदुगस्स गुरुं बंधतो बंधए सठाणव्व । णामाण गुरुं णियमाऽण्णजदरिहाण सगवीसाए ॥३९
गुरुबंधी सेसाण णामाण बंधए सठाणव्व । जिणियरबंधी कमसो सेसाण णिद्दमिच्छव्व ॥४०
उच्चस्स जेट्ठबंधी णाणावरणव्व णामवज्जाणं । णरसुरविउवाहारगदुगुरलुवंगजिणवईराणं ॥
सुहआगिइखगइसुहगतिगाण बंधइ सिआ गुरुं अहवा । सखंसूण बंधइ णियमा पंचिंदियतसाणं ॥
ओरालियहुंडाणं तहा थिराइजुगलाण तिण्ह तहा । दुहगाणादेयाणं सिआ कुणइ संखभागूणं ॥
मखमूण णवधुवपरघाऊसासबायरतिगाणं । णियमा जेट्ठं कुखगइसंघयणागिइसराण सिआ । ४४
॥१०८१-११०४॥ (तृतीया सप्तदशी षड्विंशतितमी द्वात्रिंशत्तमी त्रयस्त्रिंशत्तमी च गीतयः)

(प्रे०) "एगस्से"त्यादि, तेजोलेश्यामार्गणायां सप्त गुणस्थानकानि भवन्ति, तत्र प्रस्तुतसन्निकर्षे भण्यमाने ज्ञानावरणपञ्चकाऽन्तरायपञ्चकरूपदशप्रकृतिष्वन्यतमस्या ज्येष्ठप्रदेशबन्धं कुर्वन् शेषनवप्रकृतीनां नियमेन ज्येष्ठमेव प्रदेशबन्धं करोति, तथा स स्त्यानर्द्धित्रिकसातासातवेदनीयमिथ्यात्वाऽनन्तानुबन्धिचतुष्कनपुंसकवेदस्त्रीवेदाऽऽतपनामगोत्रद्वयरूपाणां पञ्चदशानां स्याद्बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु तासां ज्येष्ठमेवोपरचयति। तथा संज्वलनचतुष्कदर्शनावरणचतुष्कनिद्राद्विकभयजुगुप्सानां नियमाद् बन्धं करोति, प्रदेशं तु तासां ज्येष्ठं अनन्तभागहीनं वा बध्नाति, प्रस्तुतबन्धकस्य दर्शनावरणमोहनीयसत्कनानाबन्धस्थानसद्भावात् । मध्यमकषायाऽष्टकपुरुषवेदहास्यादियुगलद्वयानां स्याद् बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु स तासां त्रयोदशानामुत्कृष्टमनन्तभागहीनं वा निर्वर्तयति। तथा नवनामध्रुवबन्धिनीपराघातो-च्छ्वास-बादरत्रिकाणां नियमाद् बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु स तासां ज्येष्ठं संख्यातभागहीनं वा करोति, उक्तशेषाणां मार्गणाप्रायोग्याणां बन्धाऽर्हनामप्रकृतीनां स्याद् बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु तासां ज्येष्ठं संख्यातभागहीनं वा करोति, भावना तु सुगमा, शेषचतुश्चत्वारिंशन्नामप्रकृतयः पुनरिमाः—तिर्यग्द्विक-मनुष्यद्विक-देवद्विकै-केन्द्रिय—पञ्चेन्द्रियजात्यौदारिकद्विक-वैक्रियद्विका-ऽऽहारकद्विक-संहननषट्क—संस्थान-षट्क-खगतिद्विको-द्योत-जिननाम त्रस स्थावर-स्थिरषट्का ऽस्थिरषट्कनामानि।

अत्र प्रस्तुतबन्धकस्य तिर्यग्द्विकै-केन्द्रियजातिनामौ-दारिकशरीर हुण्डकसंस्थान-स्थावर-स्थिराऽस्थिर-शुभा-ऽशुभ-दुर्भगा-ऽनादेय-यशःकीर्त्य-यशःकीर्तीनां पञ्चविंशत्यां ज्येष्ठप्रदेशबन्धः, षड्वि-

शत्यादौ संख्यातभागहीनः । उद्योतस्य षड्विंशतौ ज्येष्ठः, त्रिंशति संख्यातभागहीनः । देवद्विक-पञ्चेन्द्रियजाति-वैक्रियद्विक-समचतुरस्रसंस्थान-सुखगति-त्रसशुभगत्रिकाणां देवप्रायोग्याऽष्टाविंशतिबन्धे ज्येष्ठप्रदेशबन्धः, एकोनत्रिंशदादौ संख्यातभागहीनः, मनुष्यद्विकौदारिकाङ्गोपाङ्ग-संहननषट्क-मध्यमसंस्थानचतुष्क-कुखगति-जिननाम-दुःस्वरनाम्नामेकोनत्रिंशद्बन्धे ज्येष्ठप्रदेशबन्धः, त्रिंशद्बन्धे संख्यातभागहीनश्च । आहारकद्विकस्य त्रिंशद्बन्धे ज्येष्ठप्रदेशबन्धः, एकत्रिंशद्बन्धे संख्यातभागहीनश्च ज्येष्ठप्रदेशबन्धो भवति । यथा ज्ञानावरणप्रधानसन्निकर्षो निरूपितस्तथैव साताऽसातवेदनीयप्रधानसन्निकर्षोऽपि वक्तव्यः, केवलं प्रधानीकृतप्रकृतेः प्रतिपक्षप्रकृतिं स न बध्नाति, प्रकृतिबन्धस्यैव विरोधात् । तथाऽसातवेदनीयज्येष्ठप्रदेशं बध्नन्नाहारकद्विकमपि न बध्नाति प्रकृतिबन्धविरोधादिति ।

तदनु स्त्यानर्द्धित्रिकाद्यष्टप्रकृतिप्रधानप्रस्तुतसन्निकर्षं गाथाचतुष्केण दर्शयति "एगस्से" त्यादि, स्त्यानर्द्धित्रिक-मिथ्यात्वा-ऽनन्तानुबन्धिचतुष्कप्रकृतिष्वन्यतमस्या ज्येष्ठप्रदेशं बध्नन् शेषाणां सप्तानां तथा ज्ञानावरणपञ्चकाऽन्तरायपञ्चकयोर्नियमाद् बन्धं करोति प्रदेशबन्धं तु तासां सप्तदशानामपि ज्येष्ठमेव विदधाति, तथा साताऽसातवेदनीयस्त्रीवेदनपुंसकवेद-मनुष्यद्विकदेवद्विकवैक्रियद्विका-ऽऽतपनामगोत्रद्वयानामिति त्रयोदशानां स्याद्बन्धं ज्येष्ठप्रदेशबन्धं च करोति, तत्र देवद्विकवैक्रियद्विकयोरष्टाविंशतावेव प्रस्तुतबन्धकस्य बन्धप्रायोग्यत्वाद्, मनुष्यद्विकस्यैकोनत्रिंशतीति ज्येष्ठमेव प्रदेशबन्धं करोति, शेषं सुगमम् । तथा स चक्षुरादिदर्शनावरणषट्काद्यवर्जद्वादशकषायभयजुगुप्सानां नियमाद् बन्धं करोति, पुरुषवेदहास्यादियुगलद्वयरूपाणां पञ्चानां स्याद्बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु पञ्चविंशतेरपि स्वज्येष्ठप्रदेशबन्धतोऽनन्तभागहीनं करोति । तथा स नाम्नो नवध्रुवबन्धिनीः पराघातोच्छ्वासबादरत्रिकाणि च नियमाद् बध्नाति, प्रदेशबन्धं तु तासां ज्येष्ठं संख्यातभागहीनज्येष्ठं वा करोति, तथा शेषाणां पञ्चत्रिंशतो बन्धार्हनामप्रकृतीनां स स्याद्बन्धं करोति, प्रदेशं तु तासां ज्येष्ठं संख्यातभागहीनज्येष्ठं वा बध्नाति । भावना तु सुगमा । शेषनामप्रकृतय इमाः—तिर्यग्द्विके—केन्द्रिय—पञ्चेन्द्रियौदारिकद्विक—संहननषट्क—संस्थानषट्क—खगतिद्वयो—द्योत—त्रसस्थावर—स्थिरषट्का—ऽस्थिरषट्कनामानीति ।

तदनु गाथापञ्चकेन दर्शनावरणषट्कादिनवप्रकृतीनां सम्यग्दृष्टिज्येष्ठप्रदेशबन्धस्वामिकानां प्रत्येकं प्रधानीकृत्य प्रस्तुतसन्निकर्षं प्ररूपयति—'एगस्से'त्यादि, दर्शनावरणषट्क-भयजुगुप्सापुरुषवेदानामन्यतमस्या ज्येष्ठप्रदेशबन्धं कुर्वन् शेषाणामष्टानां नियमाज्ज्येष्ठप्रदेशबन्धं च करोति, एवं ज्ञानावरणपञ्चकोच्चैर्गोत्राऽन्तरायपञ्चकानामेकादशानां नियमाज्ज्येष्ठप्रदेशबन्धं च करोति, संज्वलनचतुष्कं नियमाद् बध्नाति, प्रदेशबन्धं तु तस्य ज्येष्ठमनन्तभाग-

हीनं वा करोति, प्रत्याख्यानावरणकषायचतुष्कं स्याद् बध्नाति, प्रदेशबन्धं तु तस्य ज्येष्ठमनन्तभागहीनं वा करोति । तथा सातासातहास्यरतिशोकारत्यप्रत्याख्यानावरणचतुष्करूपाणां दशानां स्याद्बन्धं ज्येष्ठप्रदेशबन्धं च करोति । पञ्चेन्द्रियजातिसमचतुरस्रसंस्थानसुखगतिसुभगत्रिकत्रसनाम्नां नियमाद् बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु ज्येष्ठं संख्यातभागहीनं वा करोति, अष्टाविंशतिबन्धको ज्येष्ठमेकोनत्रिंशदादिबन्धकः संख्यातभागहीनमिति, प्रस्तुतबन्धकस्य सम्यग्दृष्टित्वेन नियतबन्धस्तु प्रतिपक्षप्रकृतीनां बन्धाऽभावादिति । नवनामध्रुवबन्धिनीपराघातोच्छ्वासबादरत्रिकाणां नियमाद् बन्धं करोति प्रदेशबन्धं तु संख्यातभागहीनज्येष्ठम्, उक्तप्रकृतीनां ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्य पञ्चविंशतिबन्धस्थाने एव भावात् प्रस्तुतबन्धकस्य तदसंभवाच्चेति । औदारिकशरीरस्थिराऽस्थिरशुभाऽशुभयशःकीर्त्ययशःकीर्तिनाम्नां स्याद्बन्धं संख्यातभागहीनज्येष्ठप्रदेशबन्धं च करोति । मनुष्यद्विकदेवद्विकवैक्रियद्विकाहारकद्विकौदारिकाङ्गोपाङ्गनामजिननामवज्रर्षभनाराचसंहननानां स्याद्बन्धं ज्येष्ठप्रदेशबन्धं संख्यातभागहीनज्येष्ठप्रदेशबन्धं वा करोति, नानाविधबन्धस्थाने आसां बन्धस्य लाभात् । शेषभावना तु सुगमा । यथा दर्शनावरणषट्कादिनवप्रकृतीनां सन्निकर्षो निरूपितस्तथैव हास्यरतिशोकाऽरतिरूपयुगलयोः सन्निकर्षो ज्ञातव्यः, केवलं प्रतिपक्षाः प्रकृतीर्नैव बध्नाति, तथाऽरतिशोकयोर्बन्धक आहारकद्विकं नैव बध्नातीति विशेषः ।

तदनु नपुंसकवेदप्रधानं गाथाचतुष्केण दर्शयति, तद्यथा--नपुंसकवेदस्य ज्येष्ठप्रदेशं बध्नन् ज्ञानावरणपञ्चकाऽन्तरायपञ्चकस्त्यानर्द्धित्रिका--ऽनन्तानुबन्धिचतुष्कमिथ्यात्वरूपाणामष्टादशानां नियमाद् बन्धं ज्येष्ठप्रदेशबन्धं च करोति, स एव दर्शनावरणषट्काद्यवर्जद्वादशकषायभयजुगुप्सानां नियमादनन्तभागहीनज्येष्ठप्रदेशबन्धं च करोति, हास्यादिद्वयोर्युगलयोः स्यादनन्तभागहीनज्येष्ठप्रदेशं च बध्नाति, तथा साताऽसातवेदनीयाऽऽतपमनुष्यद्विकगोत्रद्विकरूपाणां सप्तानां स्याद्बन्धं ज्येष्ठप्रदेशबन्धं च करोति, अत्र मनुष्यद्विकस्य ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्यैव लाभस्तु प्रस्तुतबन्धकस्यैकोनत्रिंशद्बन्धस्थाने एव तद्बन्धस्य लाभात् । समचतुरस्रसुखगतिसुभगत्रिकपञ्चेन्द्रियजातित्रसनाम्नां स्याद्बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु तासां संख्यातभागहीनमेव, यत आसां ज्येष्ठप्रदेशबन्धोऽष्टाविंशतिबन्धस्थान एव लभ्यते, नपुंसकवेदबन्धकस्य प्रस्तुतबन्धस्थानस्यैवाऽभावात् संख्यातभागहीनज्येष्ठप्रदेशबन्धमिति । तथा नवनामध्रुवबन्धिन्यौदारिकशरीरपराघातोच्छ्वासबादरत्रिकनाम्नां नियमाद्बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु ज्येष्ठं संख्यातभागहीनं वा विदधाति । तथा स देवद्विकवैक्रियद्विकाहारकद्विकजिननाम्नां बन्धमेव न करोति, शेषाणां नाम्नां स्याद्बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु तासां ज्येष्ठं संख्यातभागहीनज्येष्ठं वा करोति, नानाविधबन्धस्थानानां भावात्, शेषभावना तु सुगमा । ताः शेषसप्तविंशतिप्रकृतयःपुनरिमाः--तिर्यग्द्विकै--केन्द्रियजात्यौदारिकाङ्गोपाङ्गसंहननषट्काद्यवर्जसंस्थानपञ्चक---कुखगतिनामोद्योतस्थावराऽस्थिरषट्क स्थिर-शुभ-यशःकीर्तिनामानीति । यथा नपुंसकवेदस्य सन्नि-

कर्षो दर्शितस्तथा नीचैर्गोत्रस्याऽपि सन्निकर्षो वक्तव्यः, किन्त्वयं विशेषः—उच्चैर्गोत्रं न बध्नाति, वेदत्रयस्य स्याद् बन्धो भवति तत्र स्त्रीवेद-नपुंसकवेदयो ज्येष्ठप्रदेशबन्धं करोति, पुरुषवेदस्याऽनन्तभागहीनज्येष्ठप्रदेशबन्धं करोति, भावना तु सुगमा ।

अथ गाथाषट्केन स्त्रीवेदप्रधानं दर्शयति-स्त्रीवेदस्य ज्येष्ठप्रदेशबन्धं कुर्वन् ज्ञानावरणपञ्चकाऽन्तरायपञ्चकस्त्यानर्द्धित्रिकाऽनन्तानुबन्धिचतुष्कमिथ्यात्वरूपाणामष्टादशानां नियमतो बन्धं करोति, ज्येष्ठप्रदेशबन्धं च करोति, दर्शनावरणषट्काद्यवर्जद्वादशकषायभयजुगुप्सानां नियमतोऽनन्तभागहीनज्येष्ठप्रदेशबन्धं च करोति, हास्यादिद्वयोर्युगलयोः स्याद्बन्धमनन्तभागहीनज्येष्ठप्रदेशबन्धं च करोति, सातासातवेदनीयमनुष्यद्विकदेवद्विकवैक्रियद्विकनीचैर्गोत्रोच्चैर्गोत्राणां स्याद् बन्धं ज्येष्ठप्रदेशबन्धं च करोति, देवद्विकवैक्रियद्विकयोरष्टाविंशतिबन्धस्थाने मनुष्यद्विकस्यैकोनत्रिंशद्बन्धस्थान एव प्रस्तुतबन्धकस्य बन्धाऽर्हत्वात् न संख्यातभागहीनज्येष्ठप्रदेशबन्धस्य संभव इति । पञ्चेन्द्रियजातित्रसनाम्नोस्तु स नियमतो बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु ज्येष्ठं संख्यातभागहीनं वा विदधाति । भावना तु सुगमा । तथा स तिर्यग्द्विकोद्योतौदारिकशरीरहुण्डकदुर्भगाऽनादेयनाम्नां स्थिराऽस्थिर-शुभा-ऽशुभ यशःकीर्त्य-यशःकीर्तिनाम्नां चेति त्रयोदशानां स्याद्बन्धं संख्यातभागहीनज्येष्ठप्रदेशबन्धं च करोति, उक्तप्रकृतीनां ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्य पञ्चविंशतिबन्धस्थान एव भावात् ,प्रस्तुतबन्धकस्य जघन्यतोऽप्यष्टाविंशतिबन्धस्यैव सम्भवात् । तथा स पराघातोच्छ्वासबादरत्रिकनवनामध्रुवबन्धिरूपाणां चतुर्दशानां नियमाद्बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु स्वज्येष्ठप्रदेशबन्धात् संख्यातभागहीनमेव विरचयति । तथौदारिकाङ्गोपाङ्गसंहननषट्कचरमवर्जप्रथमादिसंस्थानपञ्चकखगतिद्वयदुःस्वरसुभगत्रिकनाम्नामष्टादशानां स्याद्बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु ज्येष्ठं संख्यातभागहीनं वा विदधाति, भावना तु सुगमा । वेदद्वयैकेन्द्रियस्थावराऽऽतपनामजिनाहारकद्विकरूपाणामष्टानां बन्ध एव न भवति ।

अथ गाथाद्वयेन मोहनीयकर्मसत्कद्वादशकषायाणां परस्थानज्येष्ठप्रदेशबन्धसन्निकर्षं दर्शयन्नाह— 'मोहाण'' इत्यादि, शेषमोहानां भणितेतरमोहनीयकर्मणाम्=आद्यवर्जद्वादशकषायाणां प्रत्येकं प्रधानीकृत्य प्रस्तुतसन्निकर्षे भण्यमाने ताभिः सह बन्धाऽर्हमोहनीयप्रकृतीना स्वस्थानसन्निकर्षवत्प्ररूपणा कर्तव्या, मोहनीयेतरषट्कर्मसत्कोत्तरप्रकृतीनां निद्राद्विकप्रधानसन्निकर्षे यथा बन्धादिकं निरूपितं तथा निरूपणीयम् , उभयत्र सम्यग्दृष्टिस्वामित्वात् । किन्त्वयमत्र विशेषः—अप्रत्याख्यानावरणचतुष्कज्येष्ठप्रदेशबन्धक आहारकद्विकं न बध्नाति । प्रत्याख्यानावरणचतुष्कज्येष्ठप्रदेशबन्धक आहारकद्विकं न बध्नाति, तथा स पञ्चमगुणस्थानवर्तित्वेन देवद्विकवैक्रियद्विकयोर्नियमतो बन्धं करोति, अत एव मनुष्यपञ्चकं नैव बध्नाति. तथा मनुष्यपञ्चकस्याऽबध्यमानत्वात् जिननाम्नः स ज्येष्ठमेव प्रदेशबन्धं करोति, भावना तु

सुगमा। एवं संज्वलनचतुष्कस्य ज्येष्ठप्रदेशबन्धं कुर्वन् देवद्विकवैक्रियद्विकयोर्नियमतो बन्धं करोति। मनुष्यपञ्चकं नैव बध्नाति, जिननाम्नस्तु ज्येष्ठमेव प्रदेशबन्धं करोति।

अथ पादोनगाथाद्वयेन तिर्यगायुःप्रधानं प्रस्तुतसन्निकर्षं दर्शयति "धुवे" त्यादि, तिर्यगायुषो ज्येष्ठप्रदेशबन्धं कुर्वन् सप्तचत्वारिंशद्ध्रुवबन्धिनीतिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्रौदारिकशरीरपराघातोच्छ्वास-बादरत्रिकनाम्नां नियमेन बन्धं संख्यातभागहीनज्येष्ठप्रदेशबन्धं च करोति, शेषाणां तिर्यक्प्रायोग्याणां द्विचत्वारिंशत्प्रकृतीनां स्यात्संख्यातभागहीनज्येष्ठप्रदेशबन्धं च करोति, भावना तु सुगमा, देवायुर्वन्निरवशेषं भावनीया। शेषद्वाचत्वारिंशत्प्रकृतयः पुनरिमाः—वेदनीयद्वयवेदत्रयहास्यादियुगलद्वयैकेन्द्रियपञ्चेन्द्रियजातिद्वयौदारिकाङ्गोपाङ्गसंहननषट्कसंस्थानषट्कखगतिद्वयातपोद्योतत्रसस्थावर-स्थिरषट्काऽस्थिरषट्कलक्षणाः। मनुष्यायुःप्रधानप्रस्तुतसन्निकर्षः पुनर्नरकौघमार्गणाया यथा प्राप्यते तथा प्रस्तुतेऽपि विज्ञेयः, उभयत्र प्रथमचतुर्थगुणस्थानगतानां तज्ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्वामिकत्वात्पर्याप्तमनुष्यप्रायोग्याया एव बन्धार्हत्वाच्च। साम्प्रतं गाथाद्वयेन देवायुःप्रधानं प्रस्तुतसन्निकर्षं निरूपयति "देवाउजेट्ठबंधो" इत्यादि, देवायुषो ज्येष्ठप्रदेशबन्धं कुर्वन्ननन्तानुबन्ध्यादिद्वादशकषायमिथ्यात्वस्त्यानर्द्धित्रिकपुरुषवेदस्त्रीवेदजिननामाऽऽहारकद्विकरूपाणामेकविंशतेः स्याद्बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु संख्यातभागहीनं विदधाति, तथा स शेषैकत्रिंशद्ध्रुवबन्धिप्रकृतीनां हास्यरतिसातवेदनीयोच्चैर्गोत्राणां देवद्विकपञ्चेन्द्रियजातिवैक्रियद्विकसमचतुरस्रसुखगतिपराघातोच्छ्वास त्रसदशकनाम्ना चेति चतुःपञ्चाशत्प्रकृतीनां नियमतो बन्धं विदधाति, प्रदेशबन्धं तु तासां संख्यातभागहीनमेवेति। भावना तु सुगमा। ओघाऽनुसारेण विधेया, केवलं संख्यातगुणहीनत्वं कस्या अपि प्रकृतेर्नाऽस्तीति विशेषः। तदनु पञ्चविंशतिस्थाने ज्येष्ठप्रदेशबन्धप्रायोग्याणामष्टाविंशतेः षड्विंशतिबन्धस्थाने ज्येष्ठप्रदेशबन्धप्रायोग्यप्रकृतिद्वयस्येति तिर्यग्द्विकादित्रिंशत्प्रकृतीनां प्रस्तुतसन्निकर्षं निरूपयन्नाह "तिरि" इत्यादि, तिर्यग्द्विकैकेन्द्रियजातिनामौदारिकशरीर-तैजस-कार्मण-हुण्डकसंस्थान-वर्णचतुष्काऽगुरुलघूपघात-निर्माण-पराघातोच्छ्वास-स्थावर-बादरत्रिक-दुर्भगाऽनादेय-स्थिराऽस्थिरशुभाशुभ-यशःकीर्त्ययशःकीर्तिनामानि तथाऽऽतपोद्योतनाम्नी,इत्येतासां प्रत्येकं प्रधानीकृत्य प्रस्तुतसन्निकर्षे भण्यमाने नामकर्मसत्कप्रकृतीनां स्वस्थानसन्निकर्षवत्प्रस्तुतसन्निकर्षो वक्तव्यः, तथोक्तत्रिंशत्प्रकृतीनां ज्येष्ठप्रदेशबन्धको नपुंसकवेदनीचैर्गोत्रयोर्नियमतो बन्धं करोति, ज्येष्ठप्रदेशबन्धं च, उच्चैर्गोत्रस्त्रीपुरुषवेदांस्तु नैव बध्नाति, ज्ञानावरणपञ्चका-ऽन्तरायपञ्चका-ऽनन्तानुबन्धिचतुष्कस्त्यानर्द्धित्रिकमिथ्यात्वरूपाणामष्टादशानां नियमेन बन्धं ज्येष्ठप्रदेशबन्धं च करोति, साताऽसातवेदनीयद्वयस्य स्याद्बन्धं ज्येष्ठप्रदेशबन्धं च विदधाति, दर्शनावरणषट्का-ऽऽद्यवर्जद्वादशकषायभयजुगुप्साप्रकृतीर्ध्रुवं बध्नाति, प्रदेशबन्धं त्वनन्तभागहीनज्येष्ठं करोति, हास्यादियुगलद्वयस्य स्याद्बन्धमनन्तभागहीनज्येष्ठप्रदेशबन्धं च करोति। भावना तु सुगमेति न प्रदर्श्यते। ततो

गाथात्रयेण मनुष्यद्विकौदारिकाङ्गोपाङ्गवज्रर्षभनाराचरूपप्रकृतिचतुष्कस्य प्रस्तुतसन्निकर्षं दर्शयति–"णरे"त्यादि, मनुष्यद्विकौदारिकाङ्गोपाङ्गवज्रर्षभनाराचनाम्नां प्रत्येकं प्रधानीकृत्य प्रस्तुतसन्निकर्षे निरूप्यमाणे ताभिः सह वध्यमाननामप्रकृतीनां सन्निकर्षः स्वस्थानसन्निकर्षवद्विज्ञेयस्तथा प्रस्तुतबन्धकस्य प्रथमचतुर्थगुणस्थानद्वयवर्तित्वात्तदनुसारेण शेषप्रकृतीनां सन्निकर्षश्चिन्तनीयः, तद्यथा-ज्ञानावरणपञ्चकाऽन्तरायपञ्चकरूपदशप्रकृतीनां नियमाद्बन्धं ज्येष्ठप्रदेशबन्धं च करोति, स्त्यानर्द्धित्रिकाऽनन्तानुबन्धिचतुष्क-मिथ्यात्व-स्त्रीवेद-नपुंसकवेद-साताऽसातवेदनीयोच्चैर्गोत्रनीचैर्गोत्राणां चतुर्दशानां स्याद्बन्धं ज्येष्ठप्रदेशबन्धं च करोति, दर्शनावरणषट्का-ऽऽद्यवर्जद्वादशकषायभयजुगुप्सानां नियमाद्बन्धं करोति, हास्यरतिशोकारतिपुरुषवेदानां स्याद्बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु पञ्चविंशतेरपि ज्येष्ठमनन्तभागहीनज्येष्ठं वा विदधातीति ।

अथ देवद्विकादीनामेकादशानां यासामष्टाविंशतिबन्धस्थाने ज्येष्ठप्रदेशबन्धो भवति, तासां प्रस्तुतसन्निकर्षं दर्शयति–"सुरे"त्यादि, देवद्विकपञ्चेन्द्रियजाति-वैक्रियद्विक-समचतुरस्रसंस्थान-सुखगति-त्रसनाम सुभगत्रिकाणां प्रत्येकं प्रधानीकृत्य प्रस्तुतसन्निकर्षे दर्श्यमाने नामप्रकृतीनां सन्निकर्षः स्वस्थानसन्निकर्षवद्विज्ञेयः, तथोच्चैर्गोत्रस्य नियमाद्बन्धं ज्येष्ठप्रदेशबन्धं च करोति, नपुंसकवेदनीचैर्गोत्रयोश्च बन्धं नैव करोति, प्रस्तुतबन्धकस्य नियमतो देवप्रायोग्यबन्धकत्वेनोक्तप्रकृतिद्वयस्य बन्धाऽभावात्, तथा तस्य ज्ञानावरणादिपञ्चचत्वारिंशन्नामवर्जबन्धप्रायोग्यप्रकृतीनां यथा मतिज्ञानावरणप्रधानसन्निकर्षे प्ररूपणं भवति तथा प्रस्तुतेऽपि विज्ञेयम्, उभयत्र प्रथमचतुर्थादिसप्तमगुणस्थानगतानां देवद्विकाद्येकादशानां मतिज्ञानावरणस्य च ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्वामित्वात् । सन्निकर्षः पुनरेवम्-स देवद्विकाद्येकादशप्रकृतिज्येष्ठप्रदेशं वध्नन् ज्ञानावरणपञ्चका-ऽन्तरायपञ्चकरूपाणां दशानां नियमाद् बन्धं ज्येष्ठप्रदेशबन्धं च करोति, मिथ्यात्वा-ऽनन्तानुबन्धिचतुष्कस्त्यानर्द्धित्रिकस्त्रीवेदसाताऽसातवेदनीयरूपाणामेकादशानां स्याद्बन्धं ज्येष्ठप्रदेशबन्धं च करोति, अप्रत्याख्यानावरणप्रत्याख्यानावरणरूपकषायाऽष्टकहास्यरतिशोकारतिपुरुषवेदानां स्याद्बन्धं करोति. ज्येष्ठमनन्तभागहीनं वा प्रदेशबन्धं तु तासां करोति, दर्शनावरणषट्कसंज्वलनचतुष्कभयजुगुप्सानां नियमाद् बन्धं करोति, प्रदेशं तु तासां ज्येष्ठमनन्तभागहीनं वा वध्नाति, हेत्वादिभावना तु सुगमेति । तत एकगाथयाऽऽहारकद्विकप्रधानं प्रस्तुतसन्निकर्षं दर्शयति- 'आहारदुगस्से''त्यादि, आहारकद्विकस्य ज्येष्ठप्रदेशबन्धं कुर्वतस्तेन सह वध्यमाननामप्रकृतीनां सन्निकर्षः स्वस्थानसन्निकर्षवज्ज्ञातव्यः, तथा नामेतरासां सप्तविंशतेरपि नियमाद् बन्धं ज्येष्ठप्रदेशबन्धं च करोति, भावना पुनः सुगमा । ताः प्रकृतयः पुनरिमाः ज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरणषट्कसंज्वलनचतुष्कहास्यरतिभयजुगुप्सापुरुषवेदसातवेदनीयोच्चैर्गोत्राऽन्तरायपञ्चकलक्षणाः ।

तदनु एकगाथयोक्तशेषनामप्रकृतीनां प्रत्येकं प्रधानीकृत्य प्रस्तुतसन्निकर्षं माऽतिदेशं दर्शयति—"गुरुबंधो" इत्यादिना, उक्तशेषनामप्रकृतीनां द्वितीयादिपञ्चसंहननद्वितीयादिपञ्चसान्तचतुःसंस्थानकुखगतिदुःस्वरजिननामलक्षणानां द्वादशानां प्रत्येकं प्रधानीकृत्य प्रस्तुतसन्निकर्षे दर्श्यमाणे तत्तत्प्रकृत्या सह बन्धप्रायोग्यनामप्रकृतीनां सन्निकर्षः स्वस्थानसन्निकर्षवद् वाच्यः, नामेतरासां पुनर्जिननामप्रधानसन्निकर्षे निद्राद्विकप्रधानसन्निकर्षवद्वक्तव्यः, उभयत्र सम्यग्दृष्टीनां चतुर्थादिसप्तमान्तगुणस्थानगतानां स्वामिनां लाभेन नामेतरासां सन्निकर्षस्य समानत्वात्। जिननामवर्जशेषैकादशप्रकृतीनां केवलं प्रथमगुणस्थान एव ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्य भावात् मिथ्यात्वप्रधानसन्निकर्षे यथा नामवर्जप्रकृतीनां दर्शितस्तथाऽत्रापि द्रष्टव्यः, शेषभावना तु सुगमा।

ततो गाथाचतुष्केणोच्चैर्गोत्रप्रधानसन्निकर्षं दर्शयन्नाह—"उच्चस्से"त्यादि, उच्चैर्गोत्रस्य ज्येष्ठप्रदेशं बध्नतो नामकर्मवर्जानां ज्ञानावरणप्रधानसन्निकर्षवत्प्रस्तुतसन्निकर्षो विज्ञेयः। तद्यथा—ज्ञानावरणपञ्चका-ऽन्तरायपञ्चकरूपाणां दशानां नियमाद् बन्धं ज्येष्ठप्रदेशबन्धं च करोति। मिथ्यात्वस्त्यानर्द्धित्रिकाऽनन्तानुबन्धिचतुष्कस्त्रीवेदनपुंसकवेदसातासातवेदनीयरूपाणां द्वादशानां स्याद् बन्धं करोति प्रदेशबन्धं तु तासां ज्येष्ठं करोति। तथाऽप्रत्याख्यानावरणचतुष्कप्रत्याख्यानावरणचतुष्कहास्यरतिशोकारतिपुरुषवेदानां त्रयोदशानां स्याद्बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु तासां ज्येष्ठमनन्तभागहीनं वोपरचयति। दर्शनावरणषट्कसंज्वलनचतुष्कभयजुगुप्सारूपद्वादशप्रकृतीर्नियमतो बध्नाति, प्रदेशबन्धं तु तासां ज्येष्ठमनन्तभागहीनं वा करोति, भावना तु सुगमा। तथा स मनुष्यद्विकदेवद्विकवैक्रियद्विकाहारकद्विकौदारिकाङ्गोपाङ्गजिननामवज्रर्षभनाराचानामेकादशानां तथा समचतुरस्रसुखगतिसुभगत्रिकनाम्नां चेति षोडशानां स्याद्बन्धं करोति, तासां प्रदेशबन्धं तु ज्येष्ठं संख्यातभागहीनज्येष्ठं वा करोति, प्रस्तुतबन्धकस्य देवमनुष्यगतिप्रायोग्याणामेव बन्धकत्वात्, तिर्यग्द्विकादिप्रकृतीर्नाऽत्र बध्नाति अतो यथा मनुष्यद्विकस्य संख्यातभागहीनज्येष्ठप्रदेशबन्धो जिननाम्ना सह त्रिंशद्बन्धस्थानगतानां प्राप्यते, तथैवौदारिकाङ्गोपाङ्गवज्रर्षभनाराचयोरपि भावनीयः, न पुनः प्रकाराऽन्तरेणेति. शेषभावना तु सुगमा। तथा स पञ्चेन्द्रियत्रसनाम्नोर्नियमाद्बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु तयोर्ज्येष्ठं संख्यातभागहीनं वा विदधाति। तथौदारिकशरीरहुण्डकस्थिरा--ऽस्थिरशुभा—ऽशुभ-यशःकीर्त्य—यशःकीर्तिदुर्भगा-ऽनादेयनाम्नां स स्याद् बन्धं करोति प्रदेशबन्धं तु तासां संख्यातभागहीनज्येष्ठं करोति, आसां ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्य पञ्चविंशतिबन्धस्थान एव भावाद्। तथा स उच्चैर्गोत्रज्येष्ठप्रदेशबन्धको नामनवध्रुवबन्धिनीपराघातो-च्छ्वास-बादरत्रिकनाम्नां नियमाद् बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु तासां संख्यातभागहीनं करोति। तथा स द्वितीयादिपञ्चसंहननद्वितीयादिसंस्थानचतुष्ककुखगतिदुःस्वरनाम्नामेकादशानां सप्रतिपक्षत्वात्स्याद् बन्धं करोति, आसां बन्धस्य केवलमेकोनत्रिंशत्स्थान एव भावात्,

नाम्नां प्रदेशबन्धं ज्येष्ठमेव विदधाति, ज्ञानावरणादिप्रधानसन्निकर्षे तु तिर्यक्प्रायोग्यत्रिंशद्बन्धस्थान आसां संख्यातभागहीनज्येष्ठप्रदेशबन्धस्य लाभात् द्विविधप्रदेशबन्धो दर्शित इति । भावनादयस्तु सुगमाः । तिर्यग्द्विकैकेन्द्रियजातिस्थावरातपोद्योतनाम्नां बन्धमेव न करोति अतो न तद्विषयकसन्निकर्षो दर्शितः । तदेवं चतुश्चत्वारिंशद्गाथासमूहेन तेजोलेश्यायां प्रस्तुतसन्निकर्षो दर्शितः । ॥१०६१-११०४॥ अधुना पद्मलेश्यामार्गणाया परस्थानज्येष्ठप्रदेशबन्धस्य सन्निकर्षं निरूपयन्नाह

एगस्स जेट्ठबंधी पणणाणावरणअंतरायाओ । पम्हाअ गुरु णियमा बंधेइ णवण्ह सेसाणं ॥
बंधेइ सिआ जेट्ठं थीणद्धियतिगदुवेअणीआणं । तह मिच्छत्ताणचउगदुवेअउज्जोअगोआणं ॥
णियमा संजलणाण छदंसणावरणभयजुगुच्छाणं । गुरुमुअऽणंतंसूण अट्ठकसायपुमदुजुगलाण सिआ ॥
णवधुवणामपणिंदियपरघाऊसासतसचउक्काण । णियमा बंधइ गुरुमुअ सखंसूणं सिअऽण्णणामाणं ॥ ४
एव सायियराणं णवर बंधइ ण चेव पडिवक्खं । आहारदुगं पि ण खलु बंधेइ असायगुरुबंधी ॥ ५
एगस्स जेट्ठबंधी थीणद्धितिगाणचउगमिच्छाओ । णियमा गुरुमण्णेसिं तह णाणावरणविग्घाणं ॥
छदरिसणावरणाणं दुवालसकसायभयजुगुच्छाणं । णियमाऽणंतंसूणं बंधइ पुमदुजुगलाण सिआ ॥
उक्कोसपएस खलु बंधेइ सिआ दुवेअणीआणं । थीणपुमणरसुरविउवदुगउज्जोउच्चणीआण ॥
णियमा पणिंदिणवधुवपरघाऊसासतसचउक्काणं । गुरुमुअ सखंसूणं वा-ऽण्णजिणा-ऽऽहारजुगलवज्जाणं ॥ ६
एगस्स जेट्ठबंधी छदंसणावरणकुच्छभयपुमओ । णियमा गुरुमण्णेसिं णाणावरणुच्चविग्घाणं ॥
सायियरदुजुगलदुइयकसायगाणं गुरु सिआ णियमा । संजलणाणं गुरुमुअऽणंतंसूण सिआ तु तइआणं ॥
णियमा धुवपंचिंदियपरघाऊसासतसचउक्काणं । सुहआगिइखगइसुहगतिगाण गुरुमहव संखभागूणं ॥
णरसुरुरलविउवाहारदुगवइरजिणथिराइजुगलाणं । गुरुमुअ सखसूणं सिआ दुजुगलाण एमेव ॥ १३
इत्थीअ जेट्ठबंधी पणणाणावरणअंतरायाणं । थीणद्धितिगाणचउगमिच्छत्ताणं गुरु णियमा ॥
छदरिसणावरणाण दुवालसकसायभयजुगुच्छाण । णियमाऽणंतसूण बंधइ जुगलाण दोण्ह सिआ ॥
सायियरुज्जोअमणुयगोअदुगाणं गुरु सिआ कुणइ । सखसूण सुखगइआगिइथिरछक्कतिअथिराईण ॥
तिरिदुगछसंघयणपणआगिइदुहगतिगकुखगईण सिआ । गुरुमुअ सखसूणं णियमा ओरालियदुगस्स ॥
धुवणामाण पणिंदियपरघाऊसासतसचउक्काणं । णियमा सखसूण एमेव णपुंसणीआण ॥ १८
मोहाण सठाणव्व उ गुरुबंधी कुणइ सेसमोहाण । णिदव्वऽण्णाण णवरि णाहारदुगमइदुइअ-तिअबंधी ॥
णरुरलदुगवइराणि ण अडतइअतुरियकसायगुरुबंधी । सुरविउवदुगाण कुणइ णियमा तित्थस्स उण जेट्ठं ॥ २०
णिरयव्व दुआऊण तेऊव्व सुराउगस्स णवरि ण थिं । णामियरेसिं कमसो जिणलहुबंधी सठाणणिद्दव्व ॥
तिरिदुगउज्जोआणं गुरुबंधी बंधए सठाणव्व । णामाण गुरु णियमा णीअस्सियर णथीणगिद्धिव्व ॥
णामाण सठाणव्व उ णरुरलदुगवइररिसहगुरुबंधी । णियमाऽणतसूणं चरमकसाय ण अट्ठण्हं ॥
पढमचरमकम्माणं दसपयडीण णियमा गुरुं च सिआ । थीणद्धियतिगमिच्छऽणथीणपुमदुवेअणीअगोआणं
णियमा छदरिसणावरणदुइज्जकसायसयजुगुच्छाण । गुरुमुअऽणंतसूण बंधइ पुमदुजुगलाण सिआ ॥ २५
तित्थाहारदुगरहिअसुरजोग्गिगतीसणामगुरुबंधी । णामाण पयडीणं सट्ठाणव्व खलु बंधेइ ॥
उच्चस्स गुरुं णियमा बंधइ ण उ थीणपुंसणीआणि । पणचत्ताएऽण्णेसिं णाणावरणव्व बंधेइ ॥ २७
आहारदुगस्स गुरु बंधंतो बंधए सठाणव्व । णामाण गुरुं णियमाऽण्णतदरिहाण सगवीसाए ॥ २८
सेसाणं णामाणं गुरुबंधी बंधए सठाणव्व । णामाणं पयडीणं थीणद्धितिगव्व सेसाणं ॥ २९
उच्चस्स जेट्ठबंधी णाणावरणव्व णामवज्जाणं । पणसंघयणागिइकुखगइदुहगतिगाण जेट्ठं वा ॥

णियमा पणिंदिधुवपरघाउसासतसचउगणाममाणं । गुरुमुअ संखसूण व तिरिदुगुज्जोअवज्जसेसाणं ॥३१
तृतीया चतुर्थी नवम्येकादशी द्वादशी षोडश्येकोनविंशतितम्येकविंशतितमी द्वाविंशतितमी चतुर्विंशतितम्ये कत्रिंशत्तमी च गीतय ॥११०५-११२५॥

(प्रे०) "एगस्से"त्यादि, पद्मलेश्यामार्गणा प्रथमादिसप्तमगुणस्थानकान्तानां भवति, संज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यग्मनुष्यदेवानां च भवति, अतः प्रस्तुतसन्निकर्षो बाहुल्येन तेजोलेश्यावत्प्राप्यते। ततोऽत्राऽयं विशेषः—एकेन्द्रियस्थावराऽऽतपनामानि न बध्यन्तेऽतः कयाऽपि प्रकृत्या सह नाम्नां सन्निकर्षो न वक्तव्यः, तत्प्रधानकसन्निकर्षोऽपि न निरूपणीयः । तथैकेन्द्रियप्रायोग्यबन्धाऽभावेन पञ्चविंशतिषड्विंशतिबन्धस्थानद्वयस्याऽभावात्तिर्यग्द्विकौदारिकशरीरहुण्डकसंस्थानदुर्भगाऽनादेयनाम्नां तेजोलेश्यायां पञ्चविंशतौ ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्य भावेऽपि पद्मलेश्यायामेकोनत्रिंशद्बन्धस्थाने तासां ज्येष्ठप्रदेशबन्धो भवति, अतस्तासां सन्निकर्षः दुःस्वरनामवद् वाच्यः, नव नामध्रुवबन्धिनी-पराघातो-च्छ्वास-बादरत्रिक-स्थिरा-ऽस्थिर-शुभा-ऽशुभ-यशःकीर्त्य-यशःकीर्तिनामानीति त्रिंशतिप्रकृतयः, तासां प्रस्तुतेऽष्टाविंशतिबन्धे एव ज्येष्ठप्रदेशबन्धो लभ्यतेऽतोऽप्रत्याख्यानावरणादिज्येष्ठप्रदेशबन्धकाले सम्यग्दृष्टीनामासां ज्येष्ठप्रदेशबन्धोऽपि लभ्यतेऽतस्तासां सन्निकर्षः समचतुरस्रसंस्थानवद्वाच्यः। तिर्यगायुःप्रधानं नामप्रधानं च सन्निकर्षं विहाय ज्ञानावरणादिप्रधानसन्निकर्षे यत्रोद्योतनाम्नो बन्धः, तत्र तस्य ज्येष्ठ एव प्रदेशबन्धः, एकस्मिन् त्रिंशद्बन्धस्थान एव तस्य बन्धाऽर्हत्वात्। तथा पञ्चेन्द्रियजातिस्त्रसनाम च सर्वत्र ध्रुवं बध्यते, प्रदेशबन्धस्तु यथा, तत्र तथाऽत्राऽपि विज्ञेयः। अष्टाविंशतिबन्धस्थाने यासां नामप्रकृतीनां ज्येष्ठप्रदेशबन्धो भवति तत्प्रधानसन्निकर्षे पुरुषवेदस्य बन्धो नियमेन भवति, अतः स्त्रीवेदं नैव बध्नाति पद्मलेश्याकदेवेषु स्त्रीवेदीनामभावात्. अत एव स्त्रीवेदप्रधानसन्निकर्षः तेजोलेश्यागतनपुंसकवेदप्रधानसन्निकर्षवद्भवति । इति एतान् विशेषान्विहाय तेजोलेश्याऽनुसारेण प्रस्तुतसन्निकर्षो भावनीयः। अथ कश्चिद्गाथार्थो व्याख्यायते-तत्र ज्ञानावरणपञ्चका ऽन्तरायपञ्चकरूपदशप्रकृतिप्रधानसन्निकर्षे गाथाचतुष्कम्, तत्र "अणणामाणं" इत्यनेनैकोनचत्वारिंशत्प्रकृतयो विज्ञेयास्ताः पुनरिमाः-तिर्यग्द्विक मनुष्यद्विकदेवद्विकौदारिकद्विक वैक्रियद्विका ऽऽहारकद्विकसंहननषट्क संस्थानषट्क-खगतिद्वय-जिननाम स्थिरषट्काऽस्थिरषट्कनामानीति। तदन्वेकया गाथया साताऽसातवेदनीयप्रधानसन्निकर्षनिरूपणम् । तदनु गाथाचतुष्केण स्त्यानर्द्धित्रिका-ऽनन्तानुबन्धिचतुष्क-मिथ्यात्वप्रधानसन्निकर्षो दर्शितः, अत्र तृतीयगाथाया मनुष्यद्विक-देवद्विक-वैक्रियद्विको-द्योतनाम्ना ज्येष्ठ एव प्रदेशबन्धः प्रस्तुतबन्धकस्यैकैकबन्धस्थाने निरुक्तप्रकृतीनां बध्यमानत्वात् ।

अत्र चतुर्थगाथोत्तरार्धेन सूचिता शेषनामप्रकृतयस्त्रिंशत्ताश्चमनुष्यद्विक-देवद्विक-वैक्रियद्विकानि तथाऽऽहारकद्विकं जिननाम च विहायाऽनन्तरदर्शिता एव विज्ञेया। ततः पादोनगाथाचतुष्केण दर्शनावरणषट्क भय-जुगुप्सा-पुरुषवेदरूपाणां नवानां प्रत्येकं प्रधानीकृत्य प्रस्तुतसन्निकर्षो निरूपितः, गाथापादेन हास्यादियुगलद्वयस्य । स च सर्वोऽपि सन्निकर्षस्सुगम इति । अत्र चतुर्थगा-

थापूर्वार्धे "थिराइजुगलाण" इत्यनेन स्थिराऽस्थिर-शुभाऽशुभयशःकीर्त्ययशःकीर्तिनामलक्षण-युगलत्रयस्यैव ग्रहणं कार्यम्, सुभग-सुस्वरादेयनाम्नां नियतबन्धस्याऽनन्तरगाथायामेव दर्शितत्वात्। ततः पादोनगाथापञ्चकेन स्त्रीवेदप्रधानः प्रस्तुतसन्निकर्षो निरूपितस्तत्र तृतीयगाथायां मनुष्यद्विकस्य ज्येष्ठ एव प्रदेशबन्धः, प्रस्तुतबन्धकस्यैकोनत्रिंशद्बन्धस्थान एव तस्य बन्धात्, तत्रैवोत्तरार्धेन सुखगतिनामाद्येकादशप्रकृतीनां संख्यातभागहीनमेव ज्येष्ठप्रदेशबन्धं करोतीति दर्शितम्, उक्तप्रकृतीनां ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्याऽष्टाविंशतिबन्धस्थान एव लाभात्, प्रस्तुतबन्धकस्याऽष्टाविंशतिबन्धस्थानस्यैवाऽभावात्, एवमेव पञ्चमगाथाया ध्रुवबन्ध्यादिषोडशप्रकृतीनां संख्यातभागहीनज्येष्ठप्रदेशबन्धे हेतुर्वाच्यः। चतुर्थगाथापूर्वार्धे "पणआगिइ" इत्यनेनाऽऽद्यवर्ज-संस्थानपञ्चकस्य ग्रहणं विज्ञेयम्, तत्र तिर्यग्द्विकादिसप्तदशानामौदारिकद्विकस्य चैकोनत्रिंशत्येव ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्य लाभात् ज्येष्ठादिद्विविधप्रदेशबन्धो दर्शितः स च सुगमः, तथा प्रस्तुते स्त्रीवेद-बन्धकस्य देवद्विकवैक्रियद्विकाऽऽहारकद्विकजिननामपुरुषनपुंसकवेदरूपाणां नवानां बन्ध एव न भवतीति न तन्निर्देश इति। ततो गाथापादेन नपुंसकवेदनीचैर्गोत्रप्रधानसन्निकर्षोऽतिदिष्टः, स च सुगमः। तदनु गाथाद्वयेनाऽप्रत्याख्यानावरणप्रत्याख्यानावरणसंज्वलनचतुष्करूपाणां द्वादशानां शेष-मोहनीयप्रकृतीनां प्रत्येकं प्रधानीकृत्य प्रस्तुतसन्निकर्षो निरूपितस्तत्राऽतिदेशद्वयमपवादपदानि च सुगमानि। ततो गाथाप्रथमपादेन तिर्यग्मनुष्यायुर्द्वयस्य नरकमार्गणागतप्रस्तुतायुर्द्वयप्रधानसन्निकर्षवत्प्रस्तुतसन्निकर्षो वक्तव्यः, सर्वसाम्यात्तथातिदेशस्ततो देवायुषोऽनन्तरदर्शिततेजोलेश्यावत्प्रस्तुताऽतिदेशः। केवलमत्र देवायुषा सह स्त्रीवेदस्य बन्धाभाव इति विशेषः। ततो गाथार्धेन जिननामप्रधानसन्निकर्षोऽतिदेशेन दर्शितः, तत्र शेषाऽष्टात्रिंशत्प्रकृतयः पुनरिमाः—ज्ञानवरणपञ्चक-दर्शनावरणषट्कसातासातवेदनीयाद्यवर्जद्वादशकषायहास्यषट्कपुरुषवेदोच्चैर्गोत्राऽन्तरायपञ्चकलक्षणाः। तदनु गाथया तिर्यग्द्विकोद्योतनाम्नी प्रधानीकृत्य प्रस्तुतं निरूपयति "तिरि" इत्यादि, तत्रोच्चैर्गोत्रस्य बन्धाऽभावान्नीचैर्गोत्रस्य नियमाद् बन्धस्य ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्य च दर्शितत्वात्तद्वर्जाः सप्तचत्वारिंशज्ज्ञानावरणादयः "इयराण" इत्यनेन ग्राह्यास्तासां स्यान्नियतबन्धं ज्येष्ठादिप्रदेशबन्धं च स्त्यानर्द्धित्रिकप्रधानसन्निकर्षवत्प्रस्तुतेऽपि विज्ञेयः। तदनु मनुष्यद्विकौदारिकद्विकवज्रर्षभनाराचसंहननप्रकृतिपञ्चकस्य प्रस्तुतसन्निकर्षो दर्शयति गाथात्रयेण, स च सुगमः। ततोऽष्टाविंशतिदेवप्रायोग्यबन्धस्थाने ज्येष्ठप्रदेशबन्धाऽर्हाणामेकत्रिंशत्प्रकृतीनां प्रत्येकं प्रधानीकृत्य प्रस्तुतसन्निकर्षो गाथाद्वयेन दर्शितः, सुगमश्च स सन्निकर्षः, एकत्रिंशत्प्रकृतयः पुनरिमाः-देवद्विकपञ्चेन्द्रियजातिवैक्रियद्विकनवनामध्रुवबन्धिनीसमचतुरस्रसंस्थानसुखगतिपराघातोच्छ्वासत्रसचतुष्कसुभगत्रिकस्थिरादियुगलत्रयलक्षणा इति। तदन्वेकगाथयाऽऽहारकद्विकप्रधानं प्रस्तुतसन्निकर्षं निरूपयति "आहारदुगस्से"त्यादि, तत्र बन्धप्रायोग्यानामेतराः प्रकृतयः

पुनरेताः-ज्ञानावरणपञ्चक-दर्शनावरणषट्क-सातवेदनीय-संज्वलनचतुष्क-हास्य-रति-भय-जुगुप्सा-पुरुषवेदो-च्चैर्गोत्रा-ऽन्तरायपञ्चकलक्षणाः सप्तविंशतिः । तत उक्तशेषनामप्रकृतीनां प्रत्येकं प्रधानीकृत्य प्रस्तुतसन्निकर्षो गाथयाऽतिदेशेन दर्शितः, तत्र शेषप्रकृतयः पुनरेताः—द्वितीयादि-संहननपञ्चक-द्वितीयादिसंस्थानपञ्चक-कुखगति-दुर्भगत्रिकलक्षणाश्चतुर्दशेति, भावनादयस्तु सुगमाः। तदनु गाथाद्वयेनोच्चैर्गोत्रप्रधानः सन्निकर्षः प्ररूपितः, तत्र द्वितीयगाथोत्तरार्धे "तित्थदुगुज्झो-अवज्जसेसाणं" इत्यादिना, मनुष्यद्विक-देवद्विकौ-दारिकद्विक-वैक्रियद्विका-ऽऽहारकद्विक-प्रथम-संहननसंस्थान सुखगति जिननाम-स्थिरषट्काऽस्थिराऽशुभा--ऽयशःकीर्तिनामानीति त्रयोविंशति-प्रकृतय उपादेया इति ॥११०५-११३५॥

अथ शुक्ललेश्यामार्गणायां प्रस्तुतपरस्थानज्येष्ठप्रदेशबन्धसन्निकर्षं निरूपयन्नाह—

सुक्काअ जसुच्चाणं पणणाणावरणविग्घसायाणं । चउवीआवरणाणं पुमसंजलणाण ओघव्व ॥१
एगस्स जेट्ठबंधी थीणद्धितिगाणचउगमिच्छाओ । ओघव्व बंधए खलु पयडीणं णामवज्जाणं ॥
णरसुरउरलविउव्वदुगछसंघयणपंचआगिईण तहा । कुखगइदुहगतिगाणं बंधेइ सिआ गुरुपएस ॥
धुवणामाण पणिंदियपरघाऊसासतसचउक्काणं । णियमा बंधइ जेट्ठं अहवा संखेज्जभागूणं ॥
बंधइ सुखगइआगिइथिरपणगाथिरदुगाजसाण सिआ । गुरुमुअ संखंसूणं संखगुणूणं जसस्स सिआ ॥५
थीणीअणपुंसगगुरुबंधी ओघव्व णामवज्जाणं । बंधेइ सज्जोगाणं संखगुणूणं जसस्स सिआ ॥
णरओरालदुगाणं णियमाहिन्तो गुरुं कुणेइ सिआ । संघयणछगपणागिइकुखगइदुहगतिगणामाणं ॥
धुवणामाण पणिंदियपरघाऊसासतसचउक्काणं । णियमा सखंसूणं सिआऽण्णजिणवज्जमणुयजोग्गाणं ॥
णिद्दादुगगुरुबंधी बंधइ ओघव्व णामवज्जाणं । पयडीण बंधइ सिआ जसस्स संखेज्जगुणहीण ॥
णरसुरविउव्वाहारगउरलथिराथिरदुगाजसाण तहा । जिणवइराणं बंधइ सिआ गुरुं अहव सखसागूणं॥
धुवणामाण पणिंदिपरघाऊसासतसचउक्काणं । सुहआगिइखगइसुहगतिगाण बंधेइ णियमाओ ॥११
ओघव्व विणा णामं सगचत्ताए असायगुरुबंधी । णियमा पंणिदिधुवपरघाऊसासतसचउगणामाणं ॥
गुरुमुअ सखंसूणं णरसुरुरलविउव्वदुगजिणाण तहा । सुहआगिइखगइवइरथिरपणगाथिरदुगाजसाण सिआ ॥
जेट्ठं संघयणागिइपंचगदुहगतिगअसुहखगईणं । बंधइ सिआ पएसं जसस्स संखेज्जगुणहीणं ॥ १४
सट्ठाणव्व उ बंधइ मोहाण सेसमोहगुरुबंधी । णिद्दव्वऽण्णाण णवरि हस्सचउगजेट्ठबंधी उ ॥
णिद्दादुगणामाणं सिआ कुणइ सखभागहीणं पि । बंधइ जसस्स बंधइ णाहारदुग इयरबंधी ॥
णरुरलदुगवइराणि ण बंधेइ तइअकसायगुरुबंधी । सुरविउव्वदुगाण कुणइ णियमा तित्थस्स उण जेट्ठं ॥१७
मणुयाउजेट्ठबंधी गुणपण्णासाअ णामवज्जाणं । ओघव्व बंधइ सिआ जसस्स संखेज्जगुणहीणं ॥
णरुरलदुगधुवपरघाऊसासपणिंदितसचउक्काणं । णियमा संखंसूणं सिआऽण्णणरजोग्गणामाणं ॥ १९
देवाउजेट्ठबंधी तेयालीसाअ णामवज्जाणं । ओघव्व कुणइ णियमा जसस्स संखेज्जगुणहीणं ॥
तित्थाहारदुगाणं संखंसूणं सिआ तु बंधेइ । णियमा सगवीसाए धुवसुहसेससुरजोगाणं ॥ २१
णरुरलदुगवइराणं गुरुबंधी बंधए सठाणव्व । णामाण पुरिसचउसंजलणाणं थीणगिद्धिव्व ॥
चउवीआवरणाण पणणाणावरणअंतरायाणं । णियमा संखंसूणं कुणइ सिआ सायउच्चाणं ॥
थीणद्धितिगणपुमथीअसायअणमिच्छणीअगाण सिआ । जेट्ठमणंतंसूणं तइअकसायाण णियमाओ ॥
भयकुच्छदुणिद्दाणं दुइअकसायाण बंधए णियमा । गुरुमुअऽणंतंसूणं बंधइ जुगलाण दोण्ह सिआ ॥ २५

अहारदुगस्स गुरुं बधंतो बधए सठाणव्व । णामाणोघव्व कुगइ सेसाणं सत्तावीसाए ॥२६
पणसंघयणागिइकुखगइदुहगतिगाण गुरुबंधी । णामाण सठाणव्व उ थीणद्धितिगव्व सेसाणं ॥२७
तित्थस्स गुरुपएसं बधतो बंधए सठाणव्व । णामाणं पयडीणं सेसऽडतीसाअ ओघव्व ॥२८
गुरुबंधी सेसाणं णामाणं बधए सठाणव्व । पुमचउसंजलणाणं थीणद्धितिगव्व खलु णियमा ॥
चउवीआवरणाणं पणणाणावरणविग्घउच्चाण । णियमा सखंसूणं बधेइ सिआ उ सायस्स ॥
सयकुच्छाण णियमा जेट्ठं अहवा असंखभागूण । बधइ सिआ दुणिहादुजुगलसज्झऽडकसायाण ॥
णवरि अथिरअसुहअजसगुरुबधी उ णियमा दुणिहाण । जेट्ठं थीणद्धियतिगअसायअणमिच्छगाण सिआ ॥३२

(अष्टमी दशमी द्वादशी त्रयोदशी च गीतयस्तथा सप्तविंशतितस्युपगीति) ॥११-६-१९६७॥

(प्रे०) 'सुक्काअ' इत्यादि, शुक्ललेश्यामार्गणायां नामायुर्वर्जानां ज्ञानावरणाद्येकोनपञ्चाशत्प्रकृतीनां ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्वामित्वमोघवद्भावात् , नामवर्जाऽन्यतमप्रकृतिप्रधानसन्निकर्षे तया सह नामकर्मवर्जशेषबन्धप्रायोग्यप्रकृतीनां सन्निकर्ष ओघवदेव प्राप्यते, इत्यवधेयम् । अत्र प्रथम गाथया नवमदशमगुणस्थाने ज्येष्ठप्रदेशबन्धानां ज्ञानावरणादिद्वाविंशतिप्रकृतीनां प्रत्येकं प्रधानीकृत्य प्रस्तुतसन्निकर्षस्सर्वथौघवत्प्राप्यते इत्यतोऽतिदेशेन तासां स दर्शितः, द्वाविंशतिः प्रकृतयः-पुनरिमाः-ज्ञानावरणपञ्चक-दर्शनावरणचतुष्का-ऽन्तरायपञ्चक सातवेदनीयो-च्चैर्गोत्रयशः-कीर्तिनामसंज्वलनचतुष्कपुरुषवेदरूपाः । तदनु गाथाचतुष्केण मिथ्यात्व-स्त्यानर्द्धित्रिका ऽनन्तानुबन्धिचतुष्करूपा अष्टप्रकृतीः प्रधानीकृत्य सन्निकर्षः प्ररूपितस्तत्र नामवर्जानामोघवदेव प्रस्तुतसन्निकर्षः प्राप्यते, तथा स निरुक्ताऽष्टप्रकृतिष्वन्यतमप्रकृतेर्ज्येष्ठप्रदेशबन्धको मिथ्यादृष्टिर्भवति, तस्य च देवप्रायोग्यमेकमष्टाविंशतिप्रकृत्यात्मकं बन्धस्थानं मनुष्यप्रायोग्यमेकोनत्रिंशद्रूपमतो देवद्विक-वैक्रियद्विक मनुष्यद्विकौ दारिकद्विक-संहननषट्का-ऽऽद्यवर्जसंस्थानपञ्चक कुखगति-दुर्भगत्रिकरूपाणां त्रयोविंशतेस्स्याद्बन्धं ज्येष्ठप्रदेशबन्धं च करोति, नवनामध्रुवबन्धिनी-पञ्चेन्द्रियजाति-पराघातो-च्छ्वासत्रसचतुष्करूपषोडशानां नियमाद् बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं त्वष्टाविंशतिबन्धस्थाने वर्तमानो ज्येष्ठम् , एकोनत्रिंशद्बन्धस्थाने संख्यातभागहीनं इत्येति द्विधा करोति, सुखगति-समचतुरस्रसुभगत्रिक स्थिर-ऽस्थिर-शुभा-ऽशुभा ऽयशःकीर्तिनामानीति दशानां सप्रतिपक्षत्वात्स्याद्बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु तासां ज्येष्ठं संख्यातभागहीनं वा करोति, भावना त्वनन्तरदर्शितप्रकारेण कार्या, यशःकीर्तिनाम्नः स्याद्बन्धं संख्यातगुणहीनज्येष्ठप्रदेशबन्ध च करोति एकविधबन्धकस्यैव ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्य भावात् । ततो गाथात्रयेण स्त्रीवेदनपुंसकवेदनीचैर्गोत्राणां प्रत्येकं प्रधानीकृत्य प्रस्तुतसन्निकर्षो दर्शितस्तत्र प्रतिपक्षप्रकृतेर्बन्धाऽभावात्तद्वर्जशेषाणां नामकर्मवर्जानां प्रस्तुत सन्निकर्ष ओघवद् भवति भावनाऽप्योघत एवावसेया । स स्त्रीवेदनपुंसकवेदनीचैर्गोत्राणां ज्येष्ठप्रदेशबन्धकः प्रस्तुतमार्गणायां मिथ्यादृष्टिर्देव एव भवति, तिर्यग्मनुष्याणां शुभलेश्यायां देवप्रायोग्यबन्धकत्वेन शुक्ललेश्यायामानतादिदेवप्रायोग्यबन्धाऽर्हत्वाच्च स्त्रीवेदस्याऽपि बन्धाऽभावा-

न्नीचैर्गोत्रनपुंसकवेदरूपद्वयं तु देवप्रायोग्यमेव न भवति, तथा निरुक्तप्रकृतीनामन्यतमप्रकृति-बन्धको यशःकीर्तिनाम्नः स्याद्बन्धं संख्यातगुणहीनज्येष्ठप्रदेशबन्धं च करोति, मनुष्यद्विकौदारि-कद्विकयोर्नियमाद् बन्धं ज्येष्ठप्रदेशबन्धं च करोति, संहननषट्का-ऽऽद्यवर्जसंस्थानपञ्चक-कुखगति-दुर्भगत्रिकाणां स्याद्बन्धं ज्येष्ठप्रदेशबन्धं च करोति, आसां पञ्चदशानामेकोनत्रिंशद्बन्धस्थान एव ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्य लाभात् । नवनामध्रुवबन्धिनीपञ्चेन्द्रियजाति-पराघातोच्छ्वासत्रसचतुष्काणां नियमाद्बन्धं संख्यातभागहीनज्येष्ठप्रदेशबन्धं च करोति, समचतुरस्रसुखगतिसुभगत्रिक—स्थिरास्थिरशुभाशुभयशःकीर्तिनामानीति दशानां स्याद्बन्धं संख्यातभागहीनमेव ज्येष्ठप्रदेशबन्धं च करोति आसां ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्याऽष्टाविंशतिबन्धस्थान एव भावात्, प्रस्तुतबन्धकस्य त्वेकस्यैकोनत्रिंशद्बन्धस्थानस्यैव बन्धकत्वात्स संख्यातभागहीनमेव ज्येष्ठप्रदेशबन्धं करोति । प्रस्तुतबन्धकस्य देवद्विकवैक्रियद्विकाहारकद्विकजिननाम्नां बन्धाऽभावान्न तद्विषयकसन्निकर्षो दर्शितः । ततो निद्राद्विकप्रधानं प्रस्तुतसन्निकर्षं दर्शयति–"णिद्दादुगे"त्यादि, निद्राद्विक-प्रधानसन्निकर्षे नामवर्जशेषपट्कर्मसत्कोत्तरप्रकृतीनां प्रस्तुतसन्निकर्ष ओघवद्भवति, भावना तु सुगमा । नामकर्मसु निद्राद्विकज्येष्ठप्रदेशबन्धको यशःकीर्तिनाम्नः स्याद्बन्धं संख्यातगुणहीन-ज्येष्ठप्रदेशबन्धं च करोति, तथा मनुष्यद्विकदेवद्विकौदारिकद्विकवैक्रियद्विकाहारकद्विकस्थिरा-स्थिर-शुभाशुभाऽयशःकीर्तिनाम्नां जिननामवज्रर्षभनाराचसंहनननाम्नोश्च स्याद्बन्धं करोति; प्रदे-शबन्धं तु ज्येष्ठं संख्यातभागहीनज्येष्ठं वा करोति, भावना तु मतिज्ञानादिमार्गणावद् भाव-नीया । तथा स नवनामध्रुवबन्धिनीपञ्चेन्द्रियजातिपराघातोच्छ्वासत्रसचतुष्करूपाणां षोडशानां समचतुरस्रसुखगतिसुभगत्रिकनाम्ना च नियमेन बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु तासामेकविंशतेरपि ज्येष्ठं संख्यातभागहीनज्येष्ठं वा करोति, प्रस्तुतबन्धको नाम्नो नानाबन्धस्थानैरासां बन्धं करोति, अतस्तस्य आसां प्रदेशबन्धे द्वैविध्यं प्राप्यते । ततो गाथात्रयेणाऽसातावेदनीयप्रधानं प्रस्तुतसन्नि-कर्षं दर्शयति- "ओघव्वे"त्यादि, असातवेदनीयस्य ज्येष्ठप्रदेशबन्धको नामवर्जशेषपञ्चमूलकर्मसत्क-सप्तचत्वारिंशत्प्रकृतीनां बन्धादिकं यथौघेऽसातवेदनीयप्रधानसन्निकर्षे निरूपितम्, तथा प्रस्तुतेऽपि स्याद्बन्धनियतबन्धादिकं ज्येष्ठप्रदेशबन्धमनन्तभागादिहीनज्येष्ठप्रदेशबन्धं वा करोति, भावना-ऽपि तद्वदेव सुगमा च, आसामष्टचत्वारिंशत ओघवदेव ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्वामित्वात् । नाम्नः पुनरेवम्—सोऽसातवेदनीयज्येष्ठबन्धको नाम्नो नवध्रुवबन्धिनीपञ्चेन्द्रियजाति-पराघातो-च्छ्वास-त्रस-चतुष्कनामानीति षोडश, तासां नियमेन बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु ज्येष्ठं संख्यातभागहीनं वा करोति, तथा स मनुष्यद्विकदेवद्विकौदारिकद्विकवैक्रियद्विकजिननामसमचतुरस्रसुखगतिवज्रर्षभना-राचसंहननस्थिरशुभसुभगसुस्वरादेयाऽस्थिराऽशुभाऽयशःकीर्तिनाम्नां विंशतिप्रकृतीनां स्याद् बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु तासां ज्येष्ठं संख्यातभागहीनज्येष्ठं वा करोति, नानाविधबन्धस्थान

आसां बन्धाऽर्हत्वात् । कुखगतिनामाद्यवर्जसंहननपञ्चकाद्यवर्जसंस्थानपञ्चकदुर्भगत्रिकनाम्नां चतुर्दशानां शुक्ललेश्यायामेकोनत्रिंशद्‌बन्धस्थान एव बन्धभावात् प्रस्तुतबन्धकस्तासां सप्रतिपक्षत्वेन स्याद्‌बन्धं ज्येष्ठप्रदेशबन्धं च करोति, यशःकीर्तिनाम्नः स स्याद्‌बन्धं संख्यातगुणहीनज्येष्ठप्रदेशबन्धं च करोति । तदनु गाथात्रयेण मध्यमकपायाऽष्टक-हास्यषट्‌करूपाणां चतुर्दशप्रकृतीना प्रत्येकं प्रधानीकृत्य प्रस्तुतसन्निकर्षं साऽतिदेशं साऽपवादं प्ररूपयन्नाह–"**सठाणव्वे**"त्यादि, निरुक्तचतुर्दशप्रकृतीनां प्रत्येकं प्रधानीकृत्य प्रस्तुतसन्निकर्षे निरूप्यमाणे प्रधानीकृततत्तत्प्रकृत्या सह बन्धप्रायोग्याणां मोहनीयप्रकृतीनां स्वस्थानसन्निकर्षवत्प्रस्तुतसन्निकर्षोऽधिगम्यः, मोहनीयेतरकर्मणां तु प्रस्तुतमार्गणागतनिद्राद्विकप्रधानसन्निकर्षे यथा दर्शितस्तथा द्रष्टव्यः, केवलं प्रधानीकृतप्रकृतीनां निद्राद्विकतः प्रागुत्तरत्र च यथार्हं विच्छिद्यमानत्वात्तद्धेतुकान्यपवादपदान्याह–१ हास्यरतिभयजुगुप्साज्येष्ठप्रदेशबन्धको निद्राद्विकस्य पञ्चेन्द्रियजात्यादिनामप्रकृतीनां च स्याद् बन्धं करोति, २ तथा स यशःकीर्तिनाम्नः संख्यातभागहीनमपि बध्नाति, अष्टमगुणस्थानषष्ठभागं यावत्संख्येयगुणहीनज्येष्ठप्रदेशबन्धस्य भावेऽपि तस्य यशःकीर्तिनाम्नोऽष्टमगुणस्थानसप्तमभागे संख्यातभागहीनज्येष्ठप्रदेशबन्धस्यैव भावात् ,भावना तु सुगमा । तथा मध्यमकषायाऽष्टकाऽरतिशोकरूपाणां दशप्रकृतीनां ज्येष्ठप्रदेशबन्धक आहारकद्विकं न बध्नाति, सप्तमादिगुणस्थान आसां बन्धाऽभावात् । तथा प्रत्याख्यानावरणचतुष्कज्येष्ठप्रदेशबन्धकः पञ्चमगुणस्थाने वर्ततेऽतः स मनुष्यपञ्चकं नैव बध्नाति, देवद्विकवैक्रियद्विकयोर्नियमेन बन्धं करोति, तथा तस्य प्रत्याख्यानावरणज्येष्ठप्रदेशबन्धकस्य जिननाम्न एकोनत्रिंशद्‌बन्धस्थान एव बन्धभावात् ज्येष्ठमेव प्रदेशबन्धं स करोतीति । निरुक्तमध्यमकपायाऽष्टकहास्यषट्‌करूपचतुर्दशप्रकृतिप्रधानप्रस्तुतसन्निकर्षो मतिज्ञानमार्गणावदेव प्राप्यते, केवलं स्थानाऽशून्यार्थं लेशतो दर्शितः, हेत्वादिभावना तु ततोऽवधार्येति । तदनु गाथाद्वयेन मनुष्यायुःप्रधानं परस्थानज्येष्ठप्रदेशबन्धसन्निकर्षं दर्शयति–"**मणुयाउ**" इत्यादि, मनुष्यायुर्ज्येष्ठप्रदेशबन्धकस्य नामवर्जानां शेषषट्‌कर्मसत्कैकोनपञ्चाशत्प्रकृतीनां स्यान्नियतबन्धादिकं ज्येष्ठप्रदेशबन्धादिकं चौघवद्भवति, यथौघे मनुष्यायुःप्रधाने ता बध्यन्ते तथा प्रस्तुतेऽपि ज्ञातव्यम् । तथा स यशःकीर्तिनाम्नः स्याद् बन्धं संख्यातगुणहीनज्येष्ठप्रदेशबन्धं च करोति, मनुष्यद्विकौ-दारिकद्विक-पञ्चेन्द्रियजाति-पराघातो-च्छ्वास-त्रसचतुष्क-नवनामध्रुवबन्धिरूपाणां विंशतेः प्रकृतीनां नियमेन बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु तासां संख्यातभागहीनज्येष्ठमिति । तथा स संहननषट्‌क-संस्थानषट्‌क-खगतिद्वय-स्थिरषट्‌का-ऽस्थिरषट्‌क-जिननामरूपाणां सप्तविंशतिप्रकृतीनां स्याद्‌बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु संख्यातभागहीनं विदधाति, भावना तु सुगमा, ओघाऽनुसारेण यथासंभवं विधेया । ततो देवायुःप्रधानं प्रस्तुतसन्निकर्षं गाथाद्वयेन प्रतिपादयति "**देवाउ**" इत्यादि, देवायुषो ज्येष्ठ-

प्रदेशबन्धकस्य नामवर्जशेषपट्कर्मसत्कत्रयश्चत्वारिंशत्प्रकृतीनामोघवत्प्रस्तुतसन्निकर्षः प्राप्यते, स्त्रीनपुंसकवेदाऽरतिशोकाऽसातवेदनीयनीचैर्गोत्ररूपाणां षण्णां प्रस्तुतबन्धकस्य बन्धाऽभावात्त-द्वर्जनम् । तथा स यशःकीर्तिनाम्नो नियमेन बन्धं संख्यातगुणहीनज्येष्ठप्रदेशबन्धं च करोति । जिननामाहारकद्विकरूपप्रकृतित्रयस्य स्याद्बन्धं संख्यातभागहीनज्येष्ठप्रदेशबन्धं च करोति । शेषाणां देवप्रायोग्याणां सप्तविंशतेर्नामप्रकृतीनां नियमेन बन्धं करोति, तासां संख्यातभाग-हीनज्येष्ठप्रदेशं बध्नाति, भावना तु सुगमा । शेषाः सप्तविंशतिप्रकृतयः पुनरिमाः—देवद्विकपञ्चे-न्द्रियजातिवैक्रियद्विक–नवनामध्रुवबन्धिनी–समचतुरस्रसंस्थान-सुखगति-पराघातो-च्छ्‌वास-त्रसन-वकनामानि । अत्र गाथागत 'धुव' इत्यनेन नाम्नो नवध्रुवबन्धिप्रकृतयो ग्राह्या इति । तदनु गाथा-चतुष्केण मनुष्यद्विकौदारिकद्विकवज्रर्षभनाराचसंहननरूपाणां पञ्चानां प्रत्येकं प्रधानीकृत्य प्रस्तुत-सन्निकर्षं दर्शयति—"णरुरले"त्यादि, मनुष्यद्विकादिपञ्चप्रकृतीनां प्रत्येकं प्रधानीकृत्य प्रस्तुतसन्नि-कर्षे नामकर्मणां सन्निकर्षः स्वस्थानवज्ज्ञातव्यः, नामेतरप्रकृतीनां पुनरेवम्—निरुक्तपञ्चप्रकृति-भ्योऽन्यतमस्या अपि ज्येष्ठप्रदेशबन्धकः पुरुषवेदसंज्वलनचतुष्करूपपञ्चप्रकृतीर्नियमतो बध्नाति, प्रदेशबन्धस्त्वत्रौघे वा स्त्यानर्द्धित्रिकप्रधानसन्निकर्षे यथा भणितं तथा करोति । तथा स चक्षुरादि-दर्शनावरणचतुष्क-ज्ञानावरणपञ्चका-ऽन्तरायपञ्चकानां नियमाद् बन्धं संख्यातभागहीनज्येष्ठप्रदेश-बन्धं च करोति । सातवेदनीयोच्चैर्गोत्रयोः स्याद् बन्धं संख्यातभागहीनज्येष्ठप्रदेशबन्धश्च करोति । स्त्यानर्द्धित्रिकाऽनन्तानुबन्धिचतुष्क मिथ्यात्व-स्त्रीवेद-नपुंसकवेदा-ऽसातवेदनीय-नीचै-र्गोत्राणां द्वादशानां स्याद् बन्धं करोति प्रदेशबन्धं तु ज्येष्ठमेव करोति, प्रत्याख्यानावरणकषाय-चतुष्कं तु स नियमाद् बध्नाति, तस्य प्रदेशबन्धं त्वनन्तभागहीनमेव करोति। तथा भयजुगुप्सा-निद्राद्विकाप्रत्याख्यानावरणचतुष्करूपाणां ध्रुवबन्धिप्रकृतीनां नियमेन बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु तासां चतुर्थगुणस्थानगताऽपेक्षया ज्येष्ठं प्रथमगुणस्थानगताऽपेक्षयाऽनन्तभागहीनं विदधाति । हास्यरतिशोकारतियुगलयोः स्याद्बन्धं ज्येष्ठप्रदेशबन्धमनन्तभागहीनज्येष्ठप्रदेशबन्धं वा करोति भावना तु सुगमा । तदनु गाथयाऽऽहारकद्विकप्रधानं प्रस्तुतसन्निकर्षं दर्शयति—"आहारदुगस्से" त्यादि, आहारकद्विकस्य ज्येष्ठप्रदेशबन्धकस्य तेन सह बन्धार्हनामप्रकृतीनां सन्निकर्षः स्वस्थानसन्निकर्षवज्ज्ञातव्यः, शेषाणां सप्तविंशतेः प्रकृतीनां मतिज्ञानावरणादीनामोघवत्प्रस्तुत-सन्निकर्षः प्राप्यते, यथौघ आहारकद्विकप्रधाने ज्ञानावरणादिप्रकृतीनां बन्धो यादृक्प्राप्यते तथा प्रस्तुतेऽपीति भावः । ताः सप्तविंशतिः प्रकृतयः पुनरिमाः—ज्ञानावरणपञ्चक दर्शनावरणपट्क-संज्वलनचतुष्क-भय जुगुप्सा पुरुषवेद-हास्य-रति-सातवेदनीयो-च्चैर्गोत्रा-ऽन्तरायपञ्चकलक्षणाः । तदनु केवलमिथ्यादृष्टिप्रायोग्यज्येष्ठप्रदेशबन्धानां द्वितीयादिपञ्चसंहनन-संस्थान कुखगति दुर्भगत्रिक-नाम्नां चतुर्दशानां प्रत्येकं प्रधानीकृत्य प्रस्तुतसन्निकर्षोऽतिदेशेनैकैकगाथया प्ररूपयति "पणे"

त्यादि, निरुक्तचतुर्दशप्रकृतीनामन्यतमस्या ज्येष्ठप्रदेशबन्धको नामप्रकृतीनां स्वस्थानसन्निकर्ष-वत्सन्निकर्षं प्राप्नोति, नामेतरप्रकृतीनां पुनर्यथा प्रस्तुतमार्गणायां स्त्यानर्द्धित्रिकप्रधानसन्निकर्षे तासां सन्निकर्षो यादृक् प्राप्तस्तथाऽत्राऽपि प्राप्यत इति स चैवमवबोद्धेति, भावनाऽपि सुगमा। तत्र त्रिगतिकमधिकृत्य भावनाया लाभेऽपि प्रस्तुते तु देवमाश्रित्यैव भावना विधातव्या, प्रधानी-कृतप्रकृतीनां बन्धो देवानामेव लभ्यते, तिर्यग्मनुष्याणां तु शुक्ललेश्यायां देवप्रायोग्यस्यैव बन्ध-कत्वेन निरुक्तप्रकृतीनां बन्धाऽभावात्। ततो जिननामप्रधानं परस्थानज्येष्ठप्रदेशबन्धसन्निकर्षं गाथयाऽतिदेशेन दर्शयति– **'तित्थस्से'**'त्यादि, जिननामज्येष्ठप्रदेशं बध्नन् नामप्रकृतीनां स्व-स्थानसन्निकर्षवत्स्याद्बन्धादिकं ज्येष्ठादिप्रदेशबन्धं च करोति, शेषाणां ज्ञानावरणाद्यष्टात्रिंशत्प्र-कृतीनामोघवत्प्रस्तुतेऽपि स ता बध्नाति, भावनाऽप्योघतः स्वस्थानतश्च ज्ञातव्येति। तदनुगाथा चतुष्केण देवगत्यादिशेषाणां त्रिंशन्नामकर्मणां प्रत्येकं प्रधानीकृत्य परस्थानज्येष्ठप्रदेशबन्धस-न्निकर्षं दर्शयति **"सेसाण"**मित्यादि, शेषनामप्रकृतयः पुनरिमाः-देवद्विक-पञ्चेन्द्रियजाति-वैक्रि-यद्विक-तैजस-कार्मणशरीर-समचतुरस्रसंस्थानसुखगति-वर्णचतुष्का-ऽगुरुलघू-पघात-पराघातो-च्छ्-वास-निर्माणनाम-त्रसनवका-ऽस्थिरा-ऽशुभा-ऽयशःकीर्तिनामानि, एताभ्य एकतमस्या ज्येष्ठप्रदेश-बन्धं कुर्वंस्तया सह बन्धप्रायोग्यनामप्रकृतीनां सन्निकर्षं स्वस्थानवत्करोति, संज्वलनचतुष्कपुरुष-वेदरूपाणां पञ्चानां नियमतो बन्धं करोति। प्रदेशबन्धन्तु स्त्यानर्द्धित्रिकप्रकृतिप्रधानसन्निकर्षे यथादर्शितं तथा करोति, तथा स दर्शनावरणचतुष्क-ज्ञानावरणपञ्चका-ऽन्तरायपञ्चकोच्चैर्गोत्ररूपाणां पञ्चदशानां नियमेन बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु तासां संख्यातभागहीनं स्वज्येष्ठप्रदेशबन्धतः करोति, सातवेदनीयस्य स्याद्बन्धं संख्यातभागहीनज्येष्ठप्रदेशबन्धं च करोति, भयजुगुप्सयोर्नियमेन बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु ज्येष्ठमनन्तभागहीनं वा करोति, तथा निद्राद्विक-हास्यादियुगलद्वया-ऽप्रत्याख्यानावरण-प्रत्याख्यानावरणकषायरूपाणां चतुर्दशप्रकृतीनां स्याद्बन्धं करोति, प्रदेश-बन्धं तु तासां ज्येष्ठमनन्तभागहीनं वा करोति, अत्रेदमपवादपदम्-यदस्थिरा-ऽशुभा-ऽयशःकीर्ति-नाम्नां ज्येष्ठप्रदेशबन्धको निद्राद्विकं नियमाद् बध्नाति। शेषं सुगमम्। तथा स स्त्यानर्द्धि-त्रिका-ऽसातवेदनीय-मिथ्यात्वा-ऽनन्तानुबन्धिचतुष्क-रूपनवानां स्याद् बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु तासां ज्येष्ठमेव करोति, भावनादयस्तु सुगमार्थाः, स्वामित्वं बन्धस्थानादि च विज्ञाय यथासं-भवं कर्तव्या इति। एवं द्वात्रिंशद्गाथाभिश्शुक्ललेश्यायां बन्धाऽर्हाणां प्रस्तुतसन्निकर्षो निरूपितः। ॥११३६-११६७॥

अथ सम्यक्त्वौघ-क्षायिकौपशमिकसम्यक्त्वमार्गणात्रये मतिज्ञानादिमार्गणाभिस्समं प्रस्तु-सन्निकर्षस्य निरूपितत्वात् क्रमप्राप्तवेदकसम्यक्त्वमार्गणायां तं दर्शयन्नाह—

पणभावरणदुणिद्दाभयकुच्छापुरिसउच्चविग्घाओ। एगस्स वेअगे खलु बधेमाणो गुरुपएसं॥

णियमा गुणवीसाए सेसाणं बंधए गुरुपएसं । दुइअकसायाण तहा दुवेअगीअजुगलाण सिआ ॥
तइअकसायाण सिआ जेट्ठं अहवा अणंतभागूणं । बंधेइ खलु पएसं णियमा संजलणचउगस्स ।
णरसुरुरलविउव्वाहारदुगवइरजिणथिराइजुगलाणं । गुरुमुअ संखंसूणं सिआऽण्णणामाण णियमाओ ॥
सायियरदुजुगलाणं एवं णवरं ण चेव पडिवक्खं । आहारदुगं पि ण उ असायअरइसोगगुरुबंधी ॥
मोहाण सठाणव्व उ अडदुइअतइअकसायगुरुबंधी । णिद्दव्वऽण्णाण णवरि बंधइ णाहारगदुगं तु ॥
णरुरलदुगवइराणि ण बंधेइ तइअकसायगुरुबंधी । सुरविउव्वदुगाण कुणइ णियमा तित्थस्स उग जेट्ठ ॥
परिहारव्वाहारगदुगसंजलणामराउगाण परं । मज्झकसायाण सिआ संखसूणं सुराउगुरुबंधी ॥
सायियरथिराइजुगलजुगलजिणाण व णराउलहुबंधी । संखंसूणं णियमाऽण्णअट्ठवण्णणजोग्गाणं ॥
णरुरलदुगवइराणं गुरुबंधी बंधए सठाणव्व । णामाणं पयडीणं दुइअकसायव्व सेसाण ॥
सेसाणं णामाणं गुरुबंधी बंधए सठाणव्व । णामाणं पयडीणं णाणावरणव्व सेसाणं ॥

(अष्टमी गीतिः) ॥११६८-११७८॥

(प्रे०) 'णवे''त्यादि, क्षयोपशमसम्यक्त्वमार्गणायां यासां ध्रुवबन्धिनीनां तत्कल्पानां च प्रकृतीनां चतुर्थादिसप्तमान्तगुणस्थानवर्तिनश्चातुर्गतिकाश्च ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्वामिनो भवन्ति, तासां ज्ञानावरणपञ्चका-ऽन्तरायपञ्चक-दर्शनावरणचतुष्क-निद्राद्विकभय-जुगुप्सा-पुरुषवेदो-च्चैर्गोत्ररूपाणां विंशतेरन्यतमस्या ज्येष्ठप्रदेशं बध्नंस्तदितरासामेकोनविंशतिप्रकृतीनां नियमेन बन्धं ज्येष्ठप्रदेशं च करोति । सो-ऽप्रत्याख्यानावरणचतुष्कसातासातवेदनीयहास्यादियुगलद्वयरूपा दशप्रकृतीस्स्याद् बध्नाति, प्रदेशबन्धं तु तासां ज्येष्ठमेव निर्वर्तयति, तथा प्रत्याख्यानावरणचतुष्कस्य स्याद्बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु तस्य ज्येष्ठमनन्तभागहीनज्येष्ठं वा करोति, संज्वलनचतुष्कस्य तु स नियमेन बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु तस्य प्रत्याख्यानावरणकषायवद् द्विविधं करोति, भावना तु सुगमा, प्रागनेकशो व्याख्यातत्वात् । तथा मनुष्यद्विक-देवद्विकौ दारिकद्विक-वैक्रियद्विका-ऽऽहारकद्विक-वज्रर्षभनाराचसंहनन-जिननाम-स्थिरा-ऽस्थिर-शुभा-ऽशुभ-यशःकीर्त्य-यशःकीर्तिनामरूपाणामष्टादशानां गतिभेदादिना परावर्तमानत्वेन सप्रतिपक्षत्वात्स्याद् बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु ज्येष्ठं संख्यातभागहीनं वा करोति, शेषाणां बन्धाऽर्हाणां नामप्रकृतीनां नियमाद् बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु ज्येष्ठं संख्यातभागहीनं वा करोति, आसां प्रकृतीनां प्रस्तुतमार्गणायां ध्रुवबन्धिकल्पत्वात् । शेषप्रकृतयः पुनरिमाः—पञ्चेन्द्रियजातिनामसमचतुरस्रसंस्थान-सुखगति-पराघातो-च्छ्वास-नवनामध्रुवबन्धिनी-त्रसचतुष्क-सुभगत्रिकनामानीत्येकविंशतिः । एवं ज्ञानावरणप्रधानसन्निकर्षो यथा दर्शितस्तथा साता-ऽसातावेदनीय-हास्य-रतिशोका-ऽरतिरूपषट्प्रकृतीनां प्रत्येकं प्रधानीकृत्य सन्निकर्षो वाच्यः, केवलं प्रतिपक्षप्रकृतीनां बन्धो न भवति, तथाऽसातवेदनीय-शोका-ऽरतिप्रकृतित्रयप्रधानसन्निकर्षे आहारकद्विकस्य बन्धाऽभावात्तत्सन्निकर्षो न वाच्यः । अप्रत्याख्यानावरण-प्रत्याख्यानावरणरूपाऽष्टप्रकृतीनां प्रत्येकं प्रधानीकृत्य प्रस्तुतसन्निकर्षे निरूप्यमाणे तया सह बध्यमानमोहनीयप्रकृतीनां सन्निकर्षः स्वस्थानसन्नि-

कर्षवद्वाच्यः, मोहनीयेतरेषां कर्मणां तु निद्राद्विकप्रधानसन्निकर्षे यथा निरूपितं तथा द्रष्टव्यम्, केवलमाहारकद्विकमत्र न बध्नाति, तथाऽत्र प्रत्याख्यानावरणचतुष्कस्य ज्येष्ठप्रदेशबन्धकः पञ्चमगुणस्थान एव वर्ततेऽतः स मनुष्यपञ्चकं नैव बध्नाति, देवचतुष्कं च नियमेन बध्नाति, प्रदेशबन्धं तु तद्वज्ज्येष्ठं संख्यातभागहीनं वा करोति, तथा प्रत्याख्यानावरणज्येष्ठप्रदेशं बध्नन्जिननाम्नः स्याद्बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु ज्येष्ठमेव करोति, प्रस्तुतबन्धकस्यैकोनत्रिंशद्बन्धस्थान एव तस्य बध्यमानत्वात्। शेषभावना तु सुगमा। आहारकद्विकसंज्वलनचतुष्कदेवायुःरूपसप्तप्रकृतीनां प्रत्येकं प्रधानीकृत्य प्रस्तुतसन्निकर्षः परिहारविशुद्धिमार्गणावद्विज्ञेयः, यथा तत्र बन्धार्हाणां ज्येष्ठप्रदेशबन्धः षष्ठसप्तमगुणस्थानद्वये यथासंभवं प्राप्यते, तथाऽत्रापि प्रधानीकृतप्रकृतिभिस्सह बध्यमानानां ज्येष्ठप्रदेशबन्धः षष्ठसप्तमगुणस्थानयोः प्राप्यत इति। केवलमत्र देवायुर्बध्नन् मध्यमकषायाऽष्टकं स्याद् बध्नाति, प्रदेशबन्धं तु संख्यातभागहीनमिति विशेषः। तत एकगाथया मनुष्यायुः प्रधानं तं दर्शयति-**साथिरा०**''इत्यादि, मनुष्यायुषो ज्येष्ठप्रदेशं बध्नन् सातासातवेदनीयहास्यादियुगलद्वयजिननामस्थिराऽस्थिरशुभाऽशुभयशःकीर्त्ययशःकीर्तिनामरूपाणां त्रयोदशानां स्याद्बन्धं संख्यातभागहीनमेव ज्येष्ठप्रदेशबन्धं च करोति, शेषाणां मनुष्यप्रायोग्याणां नियमेन बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु तासां संख्यातभागहीनज्येष्ठं करोति, भावना तु सुगमा, शेषप्रकृतयः पुनरिमाः—चतुर्थगुणस्थानके बन्धयोग्यैकोनचत्वारिंशद्ध्रुवबन्धिप्रकृतयः पुरुषवेदमनुष्यद्विकपञ्चेन्द्रियजातिनामौदारिकद्विकवज्रर्षभनाराचसंहननसमचतुरस्रसंस्थानसुखगतिपराघातोच्छ्वासत्रसचतुष्कसुभगत्रिकोच्चैर्गोत्रलक्षणा अष्टपञ्चाशत्। तत एकगाथया मनुष्यपञ्चकप्रधानं प्रस्तुतसन्निकर्षं दर्शयति—''**णरुरले**''त्यादि, मनुष्यद्विकौदारिकद्विक-वज्रर्षभनाराचानामान्यतमस्या एकस्या ज्येष्ठप्रदेशं बध्नंस्तया सह बन्धप्रायोग्याणां शेषनामप्रकृतीनां स्वस्थानसन्निकर्षवत्प्रस्तुतसन्निकर्षं करोति, नामेतरासां तु द्वितीयाऽप्रत्याख्यानावरणकषायचतुष्कप्रधानसन्निकर्षवद्विज्ञेयम्, उभयत्र चतुर्थगुणस्थानगतानामेव ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्य भावाद्भावना तु सुगमा। तदनु शेषनामप्रकृतीनां प्रस्तुतसन्निकर्षमेकगाथया दर्शयति "**सेसाण**" मित्यादि, शेषनामप्रकृतीनां प्रत्येकं प्रधानीकृत्य प्रस्तुतसन्निकर्षे निरूपणीये तया सह बध्यमाननामप्रकृतीनां स्वस्थानसन्निकर्षवन्नामेतरासां शेषप्रकृतीनां तु ज्ञानावरणप्रधानसन्निकर्षवत्प्रस्तुतसन्निकर्षो विज्ञेयः, चतुर्थादिसप्तमान्तगुणस्थानेषु ज्येष्ठप्रदेशस्य बध्यमानत्वात्। शेषप्रकृतयः पुनरिमाः- देवद्विक-पञ्चेन्द्रियजाति-वैक्रियद्विक--तैजस--कार्मणशरीरद्वयसमचतुरस्रसंस्थान-सुखगति-वर्णचतुष्का- ऽगुरुलघूपघात-निर्माणपराघातो-च्छ्वास-जिननाम-त्रसनवका-ऽस्थिरा-ऽशुभा-ऽयशःकीर्तिनामानीत्येकत्रिंशदिति, भावना तु सुगमा, स्वस्थानादिकमवलम्ब्य स्वयं कार्या प्रागनेकशो दर्शितप्राया चेति ॥११६८-११७८॥

अथ सम्यग्मिथ्यात्वमार्गणायां परस्थानज्येष्ठप्रदेशबन्धसन्निकर्षं दर्शयन्नाह—

एगस्स जेट्ठबंधी मीसे आवरणणवगणिद्दुगा । बारसकसायपुम्भयकुच्छाउच्चरणविग्घाओ ॥
णियमाऽणेगेसिं जेट्ठं सिआ खलु दुवेअणीअजुगलाणं । णरसुरउरलविउव्वदुगआइमसंघयणनामाणं ॥
तिथिराइगजुगलाणं सिआ गुरुं अहव संखभागूणं । बंधइ णियमाऽण्णेसिं णामाणं एगवीसाए ॥
स थियरदुजुगलाणं एवं बंधेइ णामगुरुबंधी । णामाण सठाणव्व उ णाणावरणव्व सेसाणं ॥
॥११७६-११८२॥

(प्रे०) "**एगस्से**" त्यादि, सम्यग्मिथ्यात्वमार्गणायां ज्ञानावरणपञ्चक-दर्शनावरणचतुष्क-निद्राद्विका-ऽप्रत्याख्यानावरण-प्रत्याख्यानावरण-संज्वलनकषाय-पुरुषवेद-भयजुगुप्सो-च्चैर्गोत्रा-ऽन्तरायपञ्चकरूपाणां द्वात्रिंशत्प्रकृतीनामन्यतमस्या ज्येष्ठप्रदेशं बध्नन् शेषाणामेकत्रिंशत्प्रकृतीनां नियमेन बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु तासां ज्येष्ठमेव विदधाति । सातासातवेदनीयद्वयहास्या-दियुगलद्वयरूपाणां षण्णां स्याज्ज्येष्ठप्रदेशबन्धं च करोति, तथा स देवद्विक-मनुष्यद्विकौदारिक-द्विक-वैक्रियद्विक-वज्रर्षभनाराचसंहननरूपाणां नवप्रकृतीनां स्याद्बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु तासां ज्येष्ठमेव निर्वर्तयति, तत्तद्बन्धकानां नाम्न एकैकबन्धस्थानस्यैव लाभात् । गतिभेदेन सप्रतिपक्षत्वात्स्याद्बन्धश्चेति । स्थिरा-ऽस्थिर-शुभा-ऽशुभ-यशःकीर्तिनामा-ऽयशःकीर्तिनाम्नां स्याद्बन्धं ज्येष्ठप्रदेशबन्धं संख्यातभागहीनज्येष्ठप्रदेशबन्धं च करोति । शेषाणां पञ्चेन्द्रियजात्या-दिनामप्रकृतीनां नियमेन बन्धं विदधाति, देवमनुष्योभयगतिप्रायोग्यत्वात्तत्र देवगतिप्रायोग्यं बध्नन्तस्तिर्यग्मनुष्या आसां ज्येष्ठप्रदेशं बध्नन्ति, मनुष्यगतिप्रायोग्यं बध्नन्तो देवनैरयिका आसां संख्यातभागहीनज्येष्ठप्रदेशबन्धं कुर्वन्ति । शेषप्रकृतयः पुनरिमाः-पञ्चेन्द्रियजातिनाम-तैजसकार्मण-शरीर-समचतुरस्रसंस्थान-सुखगति-वर्णचतुष्का-ऽगुरुलघूपघात-निर्माण-पराघातो-च्छ्वास-त्रसच-तुष्क-सुभगत्रिकनामानीत्येकविंशतिः । यथा ज्ञानावरणादिद्वात्रिंशत्प्रकृतिप्रधानसन्निकर्षो निरूपि-तस्तथैव साताऽसातवेदनीयहास्यरतिशोका-ऽरतिमोहनीयप्रकृतिषट्कस्य प्रत्येकं प्रधानीकृत्य प्रस्तु-तसन्निकर्षो निरूपणीयः, केवलं प्रतिपक्षप्रकृतीनां बन्धो न वाच्य इति । एवं नामेतरासां साधि-कगाथात्रयेण सन्निकर्षं प्रदर्श्य साधिकगाथाऽर्धेन नामकर्मसत्कबन्धाऽर्हाणां षट्त्रिंशत्प्रकृतीनां प्रत्येकं प्रधानीकृत्य प्रस्तुतसन्निकर्षे नाम्नः स्वस्थानसन्निकर्षवच्छेषाणां ज्ञानावरणसन्निकर्षवन्नि-रूपणीयः, नाम्नः स्वस्थानेन गतार्थत्वात्, शेषाणां स्यान्नियतबन्धस्य ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्य च ज्ञानावरणप्रधानसन्निकर्षवदत्राऽपि लाभाच्च । शेषहेत्वादयस्तु सुगमप्रायाः । बन्धप्रायोग्यनाम-कर्मसत्कप्रकृतयः पुनरिमाः—देवद्विक-मनुष्यद्विक-पञ्चेन्द्रिजाति-नवनामध्रुवबन्धिन्यौ-दारिकद्विक-वैक्रियद्विक-वज्रर्षभनाराचसंहनन-समचतुरस्रसंस्थान-सुखगति-पराघातो-च्छ्वास त्रसदशका-ऽस्थि-राऽशुभाऽयशःकीर्तिनामरूपाः षट्त्रिंशत्प्रकृतयः ॥११७६-११८२॥

अथ सास्वादनमार्गणायां परस्थानज्येष्ठप्रदेशबन्धसन्निकर्षं दर्शयन्नाह—

एगस्स सासणे गुरुबंधी सोलसकसायभयकुच्छा । णववीआवरणाओ पणणाणावरणविग्घाओ ॥

णियमाऽण्णाइ नीसाए गुरुं सिअ दुवेअणीअजुगलाणं । थीपुरिसणरसुरविउव्वदुगउज्जोउच्चगोआणं ॥
धुवणामाणं पणिंदियपरघाऊसासतसचउक्काणं । णियमा बंधइ गुरुमुअ संखंसणं सिअ ऽण्णणामाणं ॥
नामियरदुजुगलपुरिसथीणेवं णवरि ण चिअ पडिवक्ख । तिरियाउजेट्ठबंधी छवत्तधुवबंधिणीआण ॥
तिरिउरलदुगपणिंदियपरघाऊसासतसचउक्काणं । णियमा संखंसूण सिअ ऽण्णतिरिजोग्गपयडीणं ॥
णरउरलदुगपणिंदियपरघाऊसासतसचउक्काणं। धुवबंधिछवत्ताए णियमा मणुयाउगुरुबंधी ॥
बंधइ संखंसूणं सिअ ऽण्णचउतीसमणुयजोग्गाणं । देवाउजेट्ठबंधी धुवबंधीणं छचत्ताए ॥
हस्सरईण सुहाण य सुरपाउग्गाण एगवीसाए । णियमा संखंसूणं बंधेइ सिआ पुरिसथीणं ॥
णामस्स सठाणव्व उ तिरिदुगउज्जोअगुरुबंधी । णीअस्स गुरुं णियमा णाणावरणव्व सेसाणं ॥
सुरविउव्वदुगपणिंदियपरघाऊसासअथिरअसुहाणं । अजसतसदसगसुखगइआगिइधुवणामणवगाणं ॥
गुरुबंधी णामाण सठाणव्वुच्चस्स जेट्ठगं णियमा । बंधइ ण चेव णीअं णाणावरणव्व सेसाणं ॥
सेसाण णामाणं गुरुबंधी बंधए सठाणव्व । णामाणं पयडीणं णाणावरणव्व सेसाणं ॥
णीअस्स जेट्ठबंधी णियमा धुवबंधिसत्ततीसाए । जेट्ठं सिआ णरदुगुज्जोअजुगलवेअणीआणं ॥
तिरिदुगपणसहइचउआगिइदुहगतिगअसुखगईण सिआ। गुरुमुअ संखंसूण णियमा ओरालियदुगस्स ॥
बंधइ खलु पंचिंदियपरघाऊसासतसचउक्काणं । धुवणामाण णवण्ह णियमा संखेज्जभागूणं ॥
सुहआगिइखगइसुहगतिगाण तिण्हं थिराइजुगलाणं। संखेज्जभगहीणं बंधेइ सिआ खलु पएसं ॥
उच्चस्स जेट्ठबंधी णियमा धुवबंधिसत्ततीसाए । जेट्ठपएसं बंधइ सिआ खलु दुवेअणीआणं ॥
थीपुरिसदुजुगलाणं णरसुरउरालियविउव्वियदुगाणं । संघयणागिइचउक्कखगइदुहगतिगाणं ॥
धुवणामाण पणिंदियपरघाऊसासतसचउक्काणं । णियमा बंधइ जेट्ठं अहवा संखेज्जभागूणं ॥
सुहआगिइखगइसुहगतिगाण तिण्हं थिराइजुगलाणं । बंधइ सिआ पएसं गुरुं अहव संखंसूणं ॥
(तृतीया गीतीनवस्युपगीति) ॥११८३-१२०२॥

(प्रे०) "एगस्से"त्यादि, सास्वादनमार्गणायां नामकर्मवर्जनामैकैकमेव बन्धस्थानं भवति, तत आयुर्वर्जानामेकस्या ज्येष्ठप्रदेशबन्धे प्रवर्तमाने नामवर्जषट्कर्मसत्कोत्तरप्रकृतीनां बन्धे सति तासां ज्येष्ठ एव प्रदेशबन्धो भवति, स्यान्नियतबन्धस्तु सप्रतिपक्षतदितरप्रकृतिमधिकृत्य विज्ञेयः, तत्र ज्ञानावरणपञ्चक-दर्शनावरणनवक-षोडशकषाय-भय-जुगुप्सा-ऽन्तरायपञ्चकरूपास्त्रिंशत्प्रकृतयस्तास्य एकस्या ज्येष्ठप्रदेशबन्धे शेषाष्टत्रिंशत्प्रकृतीनां नियमेन बन्धं करोति प्रदेशबन्धं तु तासां ज्येष्ठमेव विदधाति, स साता-ऽसातवेदनीयद्वय-हास्यादियुगलद्वय-स्त्रीपुरुषवेदद्वय-गोत्रद्वय-रूपाणां दशानां नामेतरासां स्याज्ज्येष्ठप्रदेशबन्धं च करोति, देवद्विक-मनुष्यद्विकवैक्रियद्विकोद्योतनाम्नां स्याज्ज्येष्ठप्रदेशं च बध्नाति, प्रस्तुतमार्गणायां निरुक्तसप्तानामेकैकबन्धस्थान एव बन्धभावाज्ज्येष्ठप्रदेशबन्धं करोति, सप्रतिपक्षत्वात्स्याद् बन्धश्चेति, तत्र देवद्विक-वैक्रियद्विकयोरष्टाविंशतौ मनुष्यद्विकस्यैकोनत्रिंशति तथोद्योतनाम्नस्त्रिंशत्येव बन्धो भवति, अतो न प्रदेशबन्धे विकल्पद्वयमिति । नव नामध्रुवबन्धिनीनां तथा पञ्चेन्द्रियजाति-पराघातो-च्छ्वास-त्रसचतुष्करूपाणां मष्टानां मार्गणाप्रायोग्यध्रुवबन्धिकल्पानां नियमेन बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु तासामष्टाविंशतिं नाम्नो बध्नञ्ज्येष्ठं करोति, एकोनत्रिंशतं बध्नन्संख्यातभागहीनं करोति । शेषाणां

मार्गणाप्रायोग्यबन्धाऽर्हाणां नामप्रकृतीनां स स्याद् बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु ज्येष्ठं संख्यातभागहीनज्येष्ठं वा, नानाविधबन्धस्थाने तद्बन्धसंभवात् । शेषनामप्रकृतयः पुनरिमाः—तिर्यग्द्विको-दारिकद्विका—ऽऽद्यसंहननपञ्चका—ऽऽद्यसंस्थानपञ्चक—खगतिद्वय-स्थिरषट्का--ऽस्थिरषट्कनामानीति ।

एवं गाथात्रयेण ज्ञानावरणादिषट्त्रिंशत्प्रकृतिप्रधानसन्निकर्षो दर्शितः । अथ चतुर्थगाथाऽर्धेन स सातवेदनीयाद्यष्टप्रकृतीनां सापवादमतिदिशति-"साये"त्यादिना, सातवेदनीया-ऽसातवेदनीय-हास्यरति-शोका-ऽरति-स्त्री-पुरुषवेदरूपाऽष्टप्रकृतीनां प्रत्येकं प्रधानीकृत्य प्रस्तुतसन्निकर्षो ज्ञानावरणप्रकृतिप्रधानसन्निकर्षवद्विज्ञेयः, केवलं प्रतिपक्षप्रकृतीर्न बध्नातीति विशेषो विज्ञेयः । अथ सार्धगाथया तिर्यगायुःप्रधानं दर्शयति—"तिरियाउ" इत्यादि, आयुःप्रधानसन्निकर्षे तद्वर्जाया न कस्या अपि प्रकृतेर्ज्येष्ठप्रदेशबन्धसम्भवः, अपि तु बन्धप्रायोग्यसर्वासां संख्यातभागहीनज्येष्ठप्रदेशबन्धस्यैव लाभः, स्यान्नियतबन्धादिकं तु प्रस्तुतमार्गणागतायुषःप्रकृतिबन्धसन्निकर्षतुल्यमिति, तच्च गाथात एव गतार्थम् , एवं मनुष्यायुर्देवायुषोः सन्निकर्षः सार्धसार्धगाथया क्रमशो व्याख्येयः, सुगमश्चेति । तत्र तिर्यगायुःप्रधानसन्निकर्षे "ऽणतिरिजोग्गपयडीणं" इत्यनेन स्त्रीपुरुषवेदद्वयहास्यादियुगलद्वय-साता-ऽसातवेदनीय-संहननपञ्चक-संस्थानपञ्चक-खगतिद्वय-स्थिरषट्का-ऽस्थिरषट्कोद्योतनामरूपास्त्रयस्त्रिंशत्प्रकृतयो विज्ञेयाः । मनुष्यायुःप्रधानसन्निकर्षे "ऽणचउतीसमणुयजोग्गाणं" इत्यनेनैता एवोद्योतनामरहिता गोत्रद्वयसंयुता चतुस्त्रिंशद्बोद्धव्याः । देवायुःप्रधानसन्निकर्षे "सुहाण य सुरपाउग्गाण एगवीसाए" इत्यनेन सातवेदनीय-देवद्विक-पञ्चेन्द्रियजाति-वैक्रियद्विक-समचतुरस्रसंस्थान-सुखगति-पराघातो-च्छ्वास-त्रसदशको-च्चैर्गोत्ररूपा एकविंशतिप्रकृतयो ज्ञेयाः, अत्र देवायुःप्रधाने हास्यरतिसातवेदनीयादीनां नियमाद् बन्धस्तु देवायुर्बन्धेन सह शोकाऽरतिमोहनीया-ऽसातवेदनीयादीनां बन्धाऽभावात् । तदनु नवमगाथया तिर्यग्द्विको-द्योतप्रधानं प्रस्तुतसन्निकर्षमतिदेशेन दर्शयति-"णामस्से"त्यादिना, प्रस्तुतप्रकृतित्रयप्रधानसन्निकर्षे तया सह बन्धप्रायोग्यनामप्रकृतीनां सन्निकर्षस्स्वस्थानवद् बोद्धव्यः, तथा स तिर्यग्द्विको-द्योतनामज्येष्ठप्रदेशबन्धको नीचैर्गोत्रं नियमेन बध्नाति प्रदेशमपि तस्य ज्येष्ठं बध्नाति, शेषाणां ज्ञानावरणादीना स्यान्नियतबन्धादिकञ्च मतिज्ञानावरणप्रधानसन्निकर्षवद् वक्तव्यम् , तद्वदत्राऽपि तासां ज्ञानावरणादीनां ज्येष्ठमेव प्रदेशं बध्नाति, भावना तु सुगमेति । ततो गाथाद्वयेन देवप्रयोग्याष्टाविंशतौ ज्येष्ठप्रदेशबन्धप्रायोग्याणां देवद्विकाद्येकत्रिंशत्प्रकृतीनां प्रत्येकं प्रधानीकृत्य प्रस्तुतसन्निकर्षो दर्शितः, तत्र नाम्नः स्वस्थानवत्सन्निकर्षो निरूपणीयः, तथा प्रस्तुतबन्धकस्य देवगतिप्रायोग्यस्यैव बन्धकत्वेन स नीचैर्गोत्रं नैव बध्नाति, उच्चैर्गोत्रस्य नियमेन बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु तस्य ज्येष्ठमेव करोति, शेषाणां ज्ञानावरणादिकर्मणां मतिज्ञानावरणवत्सन्निकर्षो द्रष्टव्यः, सुगमश्च । तत एकगाथया

मनुष्यद्विकादीनां तिर्यग्द्विकवर्जानामेकोनत्रिंशति ज्येष्ठप्रदेशवन्धप्रायोग्याणां मातिदेशेन प्रस्तुतसन्निकर्षं दर्शयति–"सेसाणं" इत्यादि, मार्गणायां बन्धप्रायोग्याश्शेषसप्तदशनामप्रकृतयः पुनरिमाः–मनुष्यद्विकौदारिकद्विक-संहननपञ्चक-संस्थानचतुष्क-कुखगति-दुर्भग-दुस्वराऽनादेयनामानि, ताभिस्सह नामप्रकृतीनां स्वस्थानवन्नामेतरासां ज्ञानावरणप्रधानसन्निकर्षवत्प्रस्तुतसन्निकर्षो विज्ञेयः। ततो गाथाचतुष्केण नीचैर्गोत्रप्रधानं प्रस्तुतसन्निकर्षं दर्शयति–'णीअस्से''त्यादि, नीचैर्गोत्रज्येष्ठप्रदेशं बध्नन् ज्ञानावरणपञ्चक-दर्शनावरणनवक-षोडशकषाय-भयजुगुप्साऽन्तरायपञ्चकरूपसप्तत्रिंशतो नियमेन बन्धं ज्येष्ठप्रदेशबन्धं च करोति, मनुष्यद्विकोद्योतनामरूपत्रयाणां स्याज्ज्येष्ठप्रदेशबन्धं च करोति, भावना तु मतिज्ञानावरणप्रधानसन्निर्षवत्कार्या, हास्यादियुगलद्वय-साता-ऽसातवेदनीयद्वयरूपाः षट्प्रकृतयस्तासां सप्रतिपक्षत्वात्स्याद्बन्धं च करोति, प्रदेशबन्धं तु ज्येष्ठमेवेति, तथा स तिर्यग्द्विक-संहननपञ्चक-मध्यमसंस्थानचतुष्क-दुर्भगत्रिक-कुखगतिनामरूपाणां पञ्चदशानां सप्रतिपक्षत्वात्स्याद्बन्धं करोति, प्रदेशबन्धस्त्वेकोनत्रिंशद्बन्धकस्य ज्येष्ठस्त्रिंशद्बन्धकस्य संख्यातभागहीनज्येष्ठो भवति, औदारिकद्विकस्य नियमेन बन्धं करोति, प्रस्तुतबन्धकस्य देवगतिप्रायोग्यबन्धाऽभावेन पञ्चेन्द्रियतिर्यग्मनुष्यप्रायोग्यस्यैव बन्धकत्वात्प्रदेशबन्धे द्वैविध्यं तु सुगमम्। पञ्चेन्द्रियजाति-पराघातोच्छ्वास-त्रसचतुष्क-नवनामध्रुवबन्धिनीनां षोडशानां नियमेन बन्धं करोति, प्रस्तुतप्रकृतीनां ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्याऽष्टाविंशतिबन्धस्थान एव भावात् प्रस्तुतबन्धकस्याऽष्टाविंशतिबन्धस्थानस्याऽभावाज्जघन्यतोऽप्येकोनत्रिंशद्बन्धस्थानस्यैव भावात्संख्यातभागन्यूनज्येष्ठप्रदेशबन्धस्य भावात्, समचतुरस्रसंस्थानसुखगतिसुभगत्रिकरूपाणां पञ्चानां स्याद् बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु तासां स्वज्येष्ठप्रदेशबन्धतः संख्यातभागहीनमेवेति, भावना तु सुगमा, देवद्विक-वैक्रियद्विके तु नैव बध्नातीति। अथ गाथाचतुष्केणोच्चैर्गोत्रप्रधानसन्निकर्षं दर्शयन्नाह–"उच्चस्से''त्यादि, प्रस्तुतसास्वादनमार्गणायामुच्चैर्गोत्रज्येष्ठप्रदेशबन्धं कुर्वन् नामवर्जानां सप्तत्रिंशद्ध्रुवबन्धिप्रकृतीनां नियमेन ज्येष्ठप्रदेशबन्धं च करोति, वेदनीयद्विक-स्त्रीवेद-पुरुषवेद-हास्यादियुगलद्वय-मनुष्यद्विक-देवद्विकौदारिकद्विक-वैक्रियद्विक-संहननपञ्चक-द्वितीयादिसंस्थानचतुष्क-कुखगतिदुर्भगत्रिकरूपाणामेकोनत्रिंशत्प्रकृतीनां सप्रतिपक्षत्वात्स्याद् बन्धः, एकैकबन्धस्थान एवाऽऽसां बन्धभावाज्ज्येष्ठप्रदेशबन्धश्च भवति, तत्र नामोत्तरप्रकृतिषु देवद्विकवैक्रियद्विकयोरष्टाविंशतौ मनुष्यद्विकौ-दारिकद्विक-संहननपञ्चक-संस्थानचतुष्क-कुखगतिदुर्भगत्रिकरूपाणां सप्तदशानामेकोनत्रिंशद्बन्धस्थान एव बन्धो भवति, प्रस्तुतबन्धकस्य तिर्यक्प्रायोग्यबन्धाऽभावेन त्रिंशद्बन्धस्थानस्यैवाऽभावात्। स नवनामध्रुवबन्धिनी-पञ्चेन्द्रिय-पराघातोच्छ्वास-त्रसचतुष्करूपाणां षोडशप्रकृतीनां नियमेन बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं त्वष्टाविंशतिबन्धको ज्येष्ठं करोति, एकोनत्रिंशद्बन्धकः संख्यातभागहीनज्येष्ठं करोति। समचतुरस्रसंस्थान-

सुखगति-सुभगत्रिकरूपाणां पञ्चानां स्थिराऽस्थिरशुभा-ऽशुभ-यशःकीर्त्य-यशःकीर्तिनाम्नां च स्याद्बन्धं करोति, तासां प्रदेशबन्धं तु ज्येष्ठं संख्यातभागहीनज्येष्ठं वा निर्मापयति, भावना तु सुगमा गतार्थप्राया चेति ॥११८३-१२०२॥

तदेवं सास्वादनमार्गणायां परस्थानज्येष्ठप्रदेशबन्धः समाप्तः, शेषासु मिथ्यात्वसंज्ञ्यसंज्ञ्या-हारका-ऽनाहारकमार्गणासु प्राक्प्रसंगतस्तत्तन्मार्गणाभिरस्माकं प्रस्तुतसन्निकर्षो निरूपितः । ततः समाप्ता परस्थानज्येष्ठप्रदेशबन्धसन्निकर्षप्ररूपणा ।

परस्थानजघन्यप्रदेशबन्धसन्निकर्षः

अथ परस्थानजघन्यप्रदेशबन्धसन्निकर्षस्य निरूपणावसरस्तत्रादौ तावदोघतो तं निरूपयन्नाह-

एगस्स लहुपएसं बंधंतो नामवज्जाओ । धुवबंधीओ बंधइ णियमा-ऽण्णेसिं लहुपएस ॥ ॥ (उपगीतिः)
बंधइ सिआ पएसं जहण्णगं खलु दुवेअणीयाणं । इत्थिपुरिसणपुमाणं दुजुगलआयवदुगोआणं ॥
धुवनामोरालाणं णियमा लहुमहव संखभागहिअ । तित्थाहारदुगविउवछगवज्जाणं सिआऽण्णेसिं ॥
णामाणं पयडीणं सगयालीसाअ एवमेव भवे । साथियरदुजुगल-णपुम-णीआण परं ण पडिवक्खं ॥
॥१२०३-१२०६॥

(प्रे०) "एगस्से"त्यादि, ओघतः परस्थानजघन्यप्रदेशबन्धसन्निकर्षे निरूप्यमाणे ज्ञाना-वरणादिजघन्यप्रदेशबन्धकस्य नामवर्जानां कर्मणामेकैकस्यैव बन्धस्थानस्य भावात्तेभ्य एकस्य जघ-न्यप्रदेशबन्धे तेन सह बध्यमानानां तदितरेषां नामवर्जकर्मणां जघन्यप्रदेशबन्ध एव भवति, स्यान्नियतबन्धस्तु तस्य सप्रतिपक्षत्वादिना बोध्यः, स च नामवर्जशेषाणामष्टात्रिंशद्ध्रुवबन्धि प्रकृ-तीनां जघन्यप्रदेशबन्धसन्निकर्षस्त्वेवम्-ज्ञानावरणपञ्चक-दर्शनावरणनवक-मिथ्यात्वमोहनीयकषाय-षोडशक-भय-जुगुप्सा-ऽन्तरायपञ्चक -रूपाणामष्टात्रिंशन्नामवर्जध्रुवबन्धिप्रकृतीनामन्यतमस्या लघु-प्रदेशबन्धं कुर्वंस्तदितरासां सप्तत्रिंशतो नियमाद् बन्धं करोति, जघन्यप्रदेशबन्धं च । साता-ऽसातवेद-नीयस्त्री-पुरुष-नपुंसकवेदहास्यादियुगलद्वयातपनामगोत्रद्वयरूपाणां द्वादशप्रकृतीनां सप्रतिपक्षत्वात् स्याद्बन्धं जघन्यप्रदेशबन्धञ्च करोति । नाम्नो नवध्रुवबन्धिनीनामौदारिकशरीरनाम्नश्च नियमाद्बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु जघन्यं जघन्यतः संख्यातभागाधिकं वा करोति । तिर्यग्गतिप्रायोग्यत्रिं-शतं बध्नन् निरुक्तदशानां जघन्यप्रदेशबन्धं करोति, एकोनत्रिंशदादिकं बध्नंस्तु संख्यातभागा-धिकं जघन्यमिति, ज्ञानावरणादिकर्मणां जघन्यप्रदेशबन्धस्य सूक्ष्माणां भावेन तेषां चौदारिक-शरीरनाम्नो ध्रुवबन्धिकल्पत्वाद् नियमाद्बन्धः, शेषं सुगमम् ।

तथा स जिननामाहारकद्विक-देवद्विक-वैक्रियद्विक-नरकद्विकरूपाणां नवानां बन्धमेव न करोति, तद्वर्जानां शेषाणां नाम्नः सप्तचत्वारिंशतः स्याद् बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु जघन्यं संख्यातभागाधिकं जघन्यं वा, तत्राऽध्रुवबन्धित्वात् सप्रतिपक्षत्वाच्च स्याद्बन्धः, नानाविधबन्ध-

स्थान आसां बन्धसम्भवाज्ज्येष्ठतमबन्धस्थाने वर्त्तमानस्य जघन्यप्रदेशबन्धस्तदितरबन्धस्थानेषु वर्तमानस्य तासां जघन्यतः संख्यातभागाधिकः प्रदेशबन्धो भवति, तद्यथा—

सूक्ष्मत्रिकस्य पञ्चविंशतौ जघन्यप्रदेशबन्धस्त्रयोविंशतौ तु संख्यातभागाधिको जघन्यः, एकेन्द्रियस्थावरयोस्तु षड्विंशतौ जघन्यः, पञ्चविंशतौ त्रयोविंशतौ वा संख्यातभागाधिक-जघन्यः, मनुष्यद्विकस्य त्वेकोनत्रिंशति जघन्यप्रदेशबन्धः, पञ्चविंशतौ संख्यातभागाधिक-जघन्यप्रदेशबन्धः, तिर्यग्द्विक-हुण्डकसंस्थाना-ऽस्थिरादिपञ्च बादर-प्रत्येकरूपाणां दशानां त्रिंश-द्बन्धे जघन्यप्रदेशबन्धस्त्रयोविंशतौ पञ्चविंशतौ षड्विंशतावेकोनत्रिंशद्बन्धस्थाने च सङ्ख्या-तभागाधिकजघन्यप्रदेशबन्धो भवति, विकलत्रिक-पञ्चेन्द्रियौदारिकाङ्गोपाङ्गसेवार्त्तसंहनन-त्रस-नामरूपाणां सप्तानां त्रिंशद्बन्धस्थाने जघन्यप्रदेशबन्धो भवति, पञ्चविंशतावेकोनत्रिंशद्बन्ध-स्थाने च संख्यातभागाधिकजघन्यप्रदेशबन्धो भवति, पर्याप्त-पराघातोच्छ्वास-स्थिर-शुभ-यशः-कीर्तिरूपाणां षण्णां त्रिंशद्बन्धस्थाने जघन्यप्रदेशबन्धः, पञ्चविंशतौ षड्विंशतावेकोनत्रिंशद्-बन्धस्थाने च संख्यातभागाधिकजघन्यप्रदेशबन्धो भवति, संहननपञ्चक-संस्थानपञ्चक-खगतिद्वय-सुभगत्रिक-दुःस्वरलक्षणानां षोडशनामप्रकृतीनां त्रिंशद्बन्धस्थाने जघन्यप्रदेशबन्धो भवत्येकोन-त्रिंशद्बन्धस्थाने संख्यातभागाधिकजघन्यप्रदेशबन्धो भवति, उद्योतनाम्नस्तु त्रिंशद्बन्धस्थाने जघन्यप्रदेशबन्धः षड्विंशतौ तु संख्यातभागाधिकजघन्य इति, तथा स आतपनाम्नः स्याद्बन्धं करोति, प्रदेशबन्धस्तु तस्य जघन्य एव भवति, तद्बन्धस्यैकस्मिन्नेव बन्धस्थाने सम्भवादत एव द्वितीयगाथायां वेदनीयादिना सह तस्य ग्रहणं कृतमिति ।

यथा ज्ञानावरणीयाद्यष्टात्रिंशत्प्रकृतीनां प्राधान्येन सन्निकर्षो दर्शितस्तथैव सातासातवेद-नीय-हास्यादियुगलद्वय-नपुंसकवेद-नीचैर्गोत्ररूपाणामष्टानां प्रत्येकं प्रधानीकृत्य प्रस्तुतसन्निकर्षो निरूपणीयः, केवलं प्रतिपक्षप्रकृतिं नैव बध्नातीति विशेषः, स च सुगमः । अत्र स्त्रीवेद-पुरुषवेदोच्चैर्गोत्राणां प्राधान्येन सन्निकर्षस्यानतिदेशस्तु ताभिः सह जातिचतुष्क-स्थावरचतु-ष्कादीनां बन्धाभावेन तत्प्रधानसन्निकर्षस्य पृथग्वक्तुमुचितत्वादिति ॥१२०३-१२०६॥

अथ शेषवेदद्वयप्रधानं प्रस्तुतसन्निकर्षं निरूपयन्नाह—

णियमा णामरहिअधुवबंधीण लहुं पुमित्थिलहुबंधी । सिअ खलु सायियरजुगलणरदुगउज्जोअगोआणं ॥
तिरियदुग-दुखगईण छसंघयणागिइथिराइजुगलाणं । बंधइ सिआ जहण्णं अहवा संखेज्जभागहियं ॥
धुवणामाण पणिंदिय-परघा-ऊसास-तसचउक्काणं । उरलदुगस्स य णियमा लहु अहव संखभागहियं ॥
॥१२०७-१२०९॥

(प्रे०) "णियमा" इत्यादि, पुरुषवेदस्य स्त्रीवेदस्य वा जघन्यप्रदेशबन्धं कुर्वन् ज्ञानावरणा-दिषट्कर्मसत्कोत्तरप्रकृतीनां मतिज्ञानावरणप्रधानसन्निकर्षवत् स्यान्नियतबन्धं जघन्यप्रदेशबन्धं च करोति, केवलं प्रतिपक्षवेदद्वयं नैव बध्नातीति विशेषः, भावनाऽपि तद्वदेव कार्या ।

नामकर्मसु तिर्यग्द्विक-संहननषट्क-संस्थानषट्क-खगतिद्वय-स्थिरषट्काऽस्थिरषट्करूपाणामष्टाविंशतेः स स्याद्बन्धं करोति, तत्र त्रिंशद्बन्धे जघन्यमेकोनत्रिंशद्बन्धे च संख्यातभागाधिकजघन्यप्रदेशबन्धं करोति, मनुष्यद्विकस्योद्योतनाम्नश्च स्याद्बन्धं जघन्यप्रदेशबन्धं च निर्वर्त्तयति, प्रस्तुतबन्धकस्यैकस्मिन् बन्धस्थान एव तद्बन्धसम्भवात्। नवध्रुवबन्धिनीनां पञ्चेन्द्रियजाति-पराघातोच्छ्वास-त्रसचतुष्करूपाणां सप्तानामौदारिकद्विकस्य च नियमेन बन्धं करोति, प्रस्तुतवेदद्वयबन्धकस्य पर्याप्तपञ्चेन्द्रियप्रायोग्यस्यैव बन्धकत्वात्, प्रदेशबन्धं तु त्रिंशद्बन्धस्थाने जघन्यं करोत्येकोनत्रिंशद्बन्धस्थाने तु संख्यातभागाधिकजघन्यमिति। जातिचतुष्कस्थावरचतुष्कातपवैक्रियषट्काहारकद्विक-जिननामरूपा अष्टादशप्रकृतीरायुश्चतुष्कं च प्रस्तुतबन्धको नैव बध्नाति। ॥१२०७-१२०९॥ अथ क्रमप्राप्तमायुःप्रधानसन्निकर्षं प्ररूपयितुकाम आदौ नरकायुःप्रधानं दर्शयंस्तुल्यवक्तव्यत्वान्नरकद्विकप्रधानमपि सममेव प्रदर्शयन्नाह—

लहुबंधी णिरयतिगा एगस्सियराण दोण्ह बंधेइ। हस्सपएस णियमा असंखगुणमण्णणिरयजोग्गाण॥
॥१२१०॥ (गीति)

(प्रे०) "लहुबंधो" त्यादि, नरकगति-नरकानुपूर्वी नरकायुस्त्रयादेकस्याः प्रकृतेर्जघन्यप्रदेशबन्धं कुर्वन् शेषद्वयोर्नियमेन बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु तयोर्जघन्यमेवेति, जघन्यप्रदेशबन्धस्य तुल्यस्वामित्वाज्जघन्यप्रदेशबन्धमिति। शेषाणां नरकगतिनाम्ना सह बन्धप्रायोग्याणां मतिज्ञानावरणादीनामेकोनसप्ततेर्नियमेन बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु स्वजघन्यप्रदेशबन्धतोऽसंख्येयगुणाधिकमिति। तत्र नियमतो बन्धो मिथ्यादृशामेव प्रस्तुतबन्धकत्वेन सर्वासां ध्रुवबन्धिनीनामवश्यं बन्धादध्रुवबन्धिनीषु नरकप्रायोग्यबन्धकस्यासां प्रतिपक्षप्रकृतीनां बन्धानर्हत्वाच्च। एकोनसप्ततिप्रकृतयः पुनरिमाः—सप्तचत्वारिंशद्ध्रुवबन्धिप्रकृतयोऽसातवेदनीय-शोकाऽरति-नपुंसकवेद-नीचैर्गोत्र-पञ्चेन्द्रियजाति-वैक्रियद्विक--हुण्डकसंस्थान--कुखगति-पराघातोच्छ्वास--त्रसचतुष्काऽस्थिरषट्कलक्षणा अध्रुवबन्धिद्वाविंशतिरिति।

असंख्येयगुणाधिकजघन्यप्रदेशबन्धस्तु वैक्रियद्विकं विहाय शेषाणां सप्तषष्टेः सूक्ष्माणां तज्जघन्यप्रदेशबन्धकत्वेन तद्गतयोगतः प्रस्तुतबन्धकगतयोगस्याऽसंख्येयगुणत्वात्, वैक्रियद्विकस्य जघन्यप्रदेशबन्धो भवप्रथमसमयवर्त्तिसंज्ञ्यपर्याप्तकस्य भवति, ततोऽपि प्रस्तुतबन्धकस्याऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियपर्याप्तकस्य जघन्ययोगस्याऽसंख्येयगुणत्वादसंख्येयगुणाधिकजघन्यप्रदेशबन्धः, भावना तु सुगमा ॥१२१०॥

अथ तिर्यगायुःप्रधानं प्रस्तुतसन्निकर्षं प्रकटयन्नाह—

तिरियाउहस्सबंधी धुवबंधि-तिरिदुग-उरल णीआणं। णियमा असंखियगुणं सिआऽण्णतिरिजोग्गपयडीणं॥
॥१२११॥

(प्रे०) "तिरियाउ" इत्यादि, तिर्यगायुषो जघन्यप्रदेशबन्धं कुर्वन् सप्तचत्वारिंशद्ध्रुवबन्धिप्रकृतीनां तिर्यग्द्विकौदारिकशरीर-नीचैर्गोत्रस्पाणाञ्च नियमेन बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु तासामेकपञ्चाशतः स्वजघन्यप्रदेशबन्धतोऽसंख्येयगुणाधिकं बध्नाति, सूक्ष्माणां भवप्रथमसमययोगतो भवचरमतृतीयभागप्रथमसमयगतयोगस्याऽसंख्येयगुणत्वात् प्रदेशबन्धस्याऽसंख्येयगुणत्वम् । शेषाणां तिर्यग्गतिप्रायोग्याणा स्याद्बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं त्वसंख्येयगुणाभ्यधिकमिति । शेषाः स्याद्बन्धवत्यः प्रकृतयः पुनरिमाः—वेदनीयद्विक-वेदत्रय-हास्यादियुगलद्वय-जातिपञ्चकौदारिकाङ्गोपाङ्ग-संहननषट्क-संस्थानषट्क-खगतिद्वय-पराघातोच्छ्वासाऽऽतपोद्योत-त्रसदशक-स्थावरदशकलक्षणास्त्रिपञ्चाशद् , भावना तु सुगमा ॥१२११॥

अथ मनुष्यायुःप्रधानं परस्थानजघन्यप्रदेशबन्धसन्निकर्षं प्रदर्शयन्नाह—

मणुयाउगलहुबंधी णियमा धुवबंधिसत्तचत्ताण । णर-उरलदुग-पणिंदिय-बायर-पत्तेअ-तसगाणं ॥१२१२॥
बंधेइ असंखगुणं सिआऽण्णजिणवज्जमणुयजोग्गाण ।

(प्रे०) "मणुयाउगे"त्यादि, मनुष्यायुषो जघन्यप्रदेशं बध्नन् सप्तचत्वारिंशद्ध्रुवबन्धिनीनां मनुष्यद्विकौदारिकद्विक-पञ्चेन्द्रियजाति-बादर-प्रत्येक-त्रसनामलक्षणानामष्टानाञ्च नियमेन बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं त्वसंख्येयगुणाधिकम् । शेषाणां जिननामवर्जानां मनुष्यगतिप्रायोग्याणां स्याद्बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं त्वसंख्येयगुणाधिकमेव । शेषाः स्याद्बन्धवत्यः प्रकृतयः पुनरिमाः—वेदनीयद्विक-वेदत्रय-हास्यादियुगलद्वय-संहननषट्क-संस्थानषट्क-खगतिद्वय-पराघातोच्छ्वास-पर्याप्ताऽपर्याप्त-स्थिरषट्काऽस्थिरषट्क-गोत्रद्वयसंज्ञका एकचत्वारिंशत्प्रकृतयः । भावना तु तिर्यगायुरधिकृत्य यथाकृता तथा यथासंभवं भावनीया सुगमा च ॥१२१२॥

साम्प्रतं देवायुःप्रधानं जघन्यप्रदेशबन्धपरस्थानसन्निकर्षं दर्शयन्नाह—

.. ... । देवाउगलहुबंधी धुवबंधीण सगचत्ताए ॥
हस्स-रईण सुहाण य सुराउगाण गुणवीसाए । णियमा असंखियगुणं बंधेइ सिआ पुरिसथीणं ॥
॥१२१३-१४॥

(प्रे०) "देवाउगे"त्यादि, देवायुषो जघन्यप्रदेशबन्धं कुर्वन् शेषद्वासप्ततिप्रकृतीनां जघन्यप्रदेशबन्धतोऽसंख्येयगुणाधिकं जघन्यप्रदेशं बध्नाति, जघन्यप्रदेशबन्धस्वामिनां भिन्नत्वादासां जघन्यप्रदेशबन्धस्यातोऽसंख्येयगुणहीनयोगवतामेव भावादित्यर्थः । प्रकृतिबन्धोऽपि स्त्रीपुरुषवेदद्वयस्य स्याद्भवति, शेषाणां नियमतः, न चात्र नरकायुषा सह नरकगतिनामवत् कस्या अपि प्रकृतेर्जघन्यप्रदेशबन्धो भवतीति नरकायुःप्रधानसन्निकर्षतोऽत्र विशेषः । देवायुर्जघन्यप्रदेशे नियतबन्धवत्यः प्रकृतयः पुनरिमाः—सप्तचत्वारिंशद्ध्रुवबन्धिप्रकृति-हास्य- रतिमोहनीय सातवेदनीयोच्चैर्गोत्रदेवद्विक-पञ्चेन्द्रियजाति-वैक्रियद्विक-समचतुरस्रसंस्थान-सुखगति-पराघातोच्छ्वास-त्रसदशकसंज्ञकाः सप्ततिरिति ॥१२१३-१४॥

अथ नामप्रकृतिप्रधानं परस्थानजघन्यप्रदेशबन्धसन्निकर्षं निरूपयितुकामो नरकद्विकस्य नरकायुषा सह निरूपितत्वात्तिर्यग्द्विकस्य शेषनाम्ना सह निरूपयिष्यमाणत्वात्ते विहाय मनुष्यगति-मनुष्यानुपूर्वीप्रधानं परस्थानजघन्यप्रदेशबन्धसन्निकर्षं दर्शयन्नाह—

मणुयदुगस्स जहण्णं बधंतो बंधए सठाणव्व। णामाण पयडीणं णाणावरणव्व सेसाणं ॥१२१५॥

(प्रे०) "मणुये"त्यादि, इह तावन्नामकर्मसत्कप्रकृतिप्रधानसन्निकर्षे तया सह बन्धप्रायोग्यनामप्रकृतीनां सन्निकर्षस्य स्वस्थाने निरूपितत्वात् स्वस्थानत एव तत्सन्निकर्षो विज्ञेयः, अतो नामप्रधानसन्निकर्षे स्वस्थानसन्निकर्षवदेवौघत आदेशतश्च सर्वत्रातिदेशेन ग्रन्थकारो वक्ष्यति, ततः प्रस्तुतेऽपि तथैव बोध्यः। शेषाणां ज्ञानावरणादीनां स्यान्नियतबन्धादिकं जघन्यादिप्रदेशबन्धं च यथा मतिज्ञानावरणप्रधाने करोति तथैव प्रस्तुतेऽपि, जघन्यप्रदेशबन्धस्वामिनामैक्यात्, तद्यथा—ज्ञानावरणपञ्चक-दर्शनावरणनवक-कषायषोडशक-भय-जुगुप्सा-मिथ्यात्वाऽन्तरायपञ्चक-लक्षणानामष्टात्रिंशतो नियमेन बन्धं करोति, वेदनीयद्वय-हास्यादियुगलद्वय-वेदत्रयगोत्रद्वयरूपाणामेकादशानां स्याद्बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं त्वेकोनपञ्चाशतोऽपि जघन्यमिति, आयुस्तु नैव बध्नाति ॥१२१५॥

अथ देवद्विक-वैक्रियद्विक-जिननामप्रधानं प्रस्तुतसन्निकर्षं निरूपयन्नाह—

सुर-विउव्वदुगजिणाणं बंधेमाणो लहुपएसं। णामाणं पयडीणं सट्ठाणव्व खलु बधेइ ॥॥ (उपगीतिः)
णियमा धुवबंधीणं तीसाए पुरिसवेअउच्चाणं। बंधेइ असंखगुणं दुवेअणीअ-जुगलाण सिआ ॥१२१६-१७॥

(प्रे०) "सुरविउवे"त्यादि, सुरद्विक-वैक्रियद्विकरूपाणां चतसृणां जघन्यप्रदेशबन्धस्वामिनामैक्यादेकस्याः प्रकृतेर्जघन्यप्रदेशबन्धे प्रवर्तमाने तदन्यासां तिसृणां नियमेन जघन्यमेव प्रदेशबन्धं करोतीत्यादि स्वस्थानसन्निकर्षवद्विज्ञेयः, एवं जिननाम्नो जघन्यप्रदेशबन्धे प्रवर्त्तमानेऽपि नामप्रकृतीनां स्वस्थानसन्निकर्षवत् प्रस्तुते सन्निकर्षो विज्ञेयः। तथा स वेदनीयद्वय-हास्यादियुगलद्वयरूपषट्प्रकृतीनां सप्रतिपक्षत्वात् स्याद्बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु स्वजघन्यतोऽसंख्येयगुणाधिकं करोति, ज्ञानावरणपञ्चक—दर्शनावरणषट्काऽनन्तानुबन्धिवर्जद्वादशकषाय-भय-जुगुप्साऽन्तरायपञ्चकानीति त्रिंशद्ध्रुवबन्धिप्रकृतीनां पुरुषवेदोच्चैर्गोत्रयोश्चेति द्वात्रिंशत्प्रकृतीनां नियमेन बन्धं करोति, स्वजघन्यप्रदेशबन्धतोऽसंख्येयगुणाधिकजघन्यप्रदेशबन्धश्च रचयति। भावना तु सुगमा। मिथ्यात्वाद्यष्टक-स्त्रीवेद-नपुंसकवेद-नीचैर्गोत्ररूपाः प्रकृतीस्तु नैव बध्नाति ॥१२१६-१७॥

अथ जातिचतुष्क-स्थावरचतुष्काऽऽतपनाम्नां प्रत्येकं प्रधानीकृत्य परस्थानजघन्यप्रदेशबन्धसन्निकर्षं दर्शयन्नाह—

बंधंतो उ पएसं थावरजाइचउगायवाण लहुं। णामाणं पयडीणं सट्ठाणव्व खलु बंधेइ ॥
णियमा धुवबंधीणं अडतीसाए णपुंसणीआणं। बंधेइ लहुपएसं दुवेअणीअजुगलाण सिआ ॥१२१८-१९॥

(प्रे०) '**बधनो**" इत्यादि, स्थावरचतुष्क-जातिचतुष्काऽऽतपनामसंज्ञकनवप्रकृतिभ्य एकस्या जघन्यप्रदेशबन्धं कुर्वतो नामप्रकृतीनां स्वस्थानसन्निकर्षवत् प्रस्तुतसन्निकर्षो भवति. तथा स नामवर्जानामष्टात्रिंशद्ध्रुवबन्धिप्रकृतीनां नपुंसकवेदनीचैर्गोत्रयोश्च नियमेन बन्धं करोति, प्रदेशबन्धमपि जघन्यमेवेति, आभिः प्रकृतिभिस्सह स्त्री-पुरुषवेदद्वयस्योच्चैर्गोत्रस्य च बन्धाभावस्तु प्रकृतिबन्धविरोधाज्जघन्यप्रदेशबन्धस्तु सुगमः । तथा स वेदनीयद्विक-हास्यादियुगलद्वय-लक्षणषट्प्रकृतीनां स्याद्बन्धं करोति, सप्रतिपक्षत्वात् , प्रदेशबन्धं तु जघन्यं करोति. जघन्य-**प्रदेशबन्धस्वामिनां तुल्यत्वात्** ॥१२१८-१९॥

अथाऽऽहारकद्विकप्रकृतिप्रधानं प्रस्तुतसन्निकर्षं निरूपयन्नाह—

आहारदुगस्स लहु बंधगो बंधए सठाणव्व । णामाण असंखगुणं णियमा तज्जोगसेसाण ॥
॥१२२०॥

(प्रे०) "**आहारे**"त्यादि, आहारकद्विकादेकस्या जघन्यप्रदेशबन्धं कुर्वतो नाम्नां स्वस्थानवत्सन्निकर्षो विज्ञेयः, ज्ञानावरणपञ्चक-दर्शनावरणषट्क-संज्वलनचतुष्क-भय-जुगुप्साऽन्तरायपञ्चकरूपाणां द्वाविंशतिध्रुवबन्धिनीनां पुरुषवेद-सातवेदनीय-हास्यरतिमोहनीय-देवायुरुच्चैर्गोत्राणां जघन्यप्रदेशबन्धतोऽसंख्येयगुणाधिकं जघन्यप्रदेशबन्धं नियमेन च करोति । अत्र न कस्या अपि प्रकृतेः स्याद्बन्धो भवत्यतो "**नियमे**" ति दर्शितम् । "**तज्जोगसेसाणे**" त्य-नेन ज्ञानावरणाद्या अष्टाविंशतिप्रकृतयः संगृहीता द्रष्टव्याः ॥१२२०॥

अत्र पञ्चेन्द्रियजात्यादिनामप्रधानं सन्निकर्षमनिरूप्योत्क्रमेणाऽऽहारकशरीर-तदङ्गोपाङ्गयोः प्रधानीकृत्य निरूपणं तु पञ्चेन्द्रियजातिनामादीनां शेषप्रकृतिभिः सह लाघवार्थमग्रे निरू-पयिष्यमाणत्वात् , एवं नरकद्विक-मनुष्यद्विक-देवद्विकाऽऽहारकद्विक-वैक्रियद्विक-जिननाम-जातिचतुष्कस्थावरचतुष्काऽऽतपनाम्नां विंशतेः प्राधान्येन प्रस्तुतं निरूप्य शेषसप्तचत्वारिंशन्नाम-प्रकृतीनां प्रत्येकं प्रधानीकृत्य युगपद्दर्शयन्नाह—

सेसाणं णामाणं लहुबंधी बंधए लहुगस्स । णियमा धुवबंधीगं अडतीसाअ तह णीअस्स ॥
बंधइ सिआ जहण्णा दुवेअणीअसगणोकसायाण । णामाण पयडीणं सट्ठाणव्व खलु बंधेइ ॥
॥१२२१-२२॥

(प्रे०) "**सेसाण**" मित्यादि, शेषप्रकृतीनां जघन्यप्रदेशबन्धो नाम्नस्तिर्यग्प्रायोग्यत्रिंशतं बध्नत एव भवति, अतस्तासां तिर्यक्प्रायोग्यबन्धकत्वादुच्चैर्गोत्रस्य बन्धाभावः, नीचैर्गोत्रस्य च नियमेन बन्धश्च दर्शितः, ज्ञानावरणाद्यष्टात्रिंशद्ध्रुवबन्धिनीनां नीचैर्गोत्रस्य च जघन्यप्रदेशबन्धं नियमेन स करोति, सातासातवेदनीयवेदत्रयहास्यादियुगलद्वयरूपाणां नवानां सप्रतिपक्षत्वात् स्याद्बन्धं जघन्यप्रदेशबन्धं च करोति, जघन्यप्रदेशबन्धस्वामिनामेकरूपत्वात् । बन्धार्हाणां नाम्नां स्वस्थानवदेव सन्निकर्षो विज्ञेयः । शेषाः सप्तचत्वारिंशन्नामप्रकृतयः पुनरिमाः—

तिर्यग्द्विक-पञ्चेन्द्रियजातिनामौदारिकद्विकनवनामध्रुवबन्धिनीसंहननषट्क-संस्थानषट्क-खगति-द्वय-पराघातोच्छ्वासोद्योतनामत्रसदशकास्थिरषट्कनामानीति॥१२२१-२२॥

अथ उच्चैर्गोत्रप्रधानं परस्थानजघन्यप्रदेशबन्धसन्निकर्षं निरूपयन्नाह—

उच्चस्स हस्सबंधी णीअं बंधइ ण णामवज्जाणं । णाणावरणव्व लहुं णियमा बधइ णरदुगस्स ॥
बंधइ सिआ दुखगइछसंघयणागिइथिराइजुगलाणं । सखसहियं णियमा जिणवज्जऽण्णणरजोग्गणामाणं ॥
(द्वितीया गीतिः) ॥१२२३ २४॥

(प्रे०) "उच्चस्से"त्यादि, उच्चैर्गोत्रस्य जघन्यप्रदेशबन्धं कुर्वन् नीचैर्गोत्रं नैव बध्नाति, तथा तस्य शेषाणां नामकर्मवर्जानां ज्ञानावरणवत् सन्निकर्षो भवति, तद्यथा—ज्ञानावरणपञ्चकदर्श-नावरणनवकषोडशकषायभयजुगुप्सामिथ्यात्वान्तरायपञ्चकरूपाणामष्टात्रिंशद्ध्रुवबन्धिनामप्रकृ-तीनां नियमेन बन्धं करोति जघन्यप्रदेशबन्धं च, जघन्यप्रदेशबन्धस्वामिनां तुल्यत्वात्। सातासात-वेदनीयवेदत्रयहास्यादियुगलद्वयरूपाणां नवानां सप्रतिपक्षत्वात् स्याद्बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु तासां जघन्यमिति। नामप्रकृतिषु नानाविधबन्धस्थानानां संभवेऽपि प्रस्तुतबन्धकस्यैकोनत्रिंशद्-बन्धस्थानस्यैव निर्वर्तकत्वादेकोनत्रिंशद्बन्धस्थाने यासां जघन्यप्रदेशबन्धो भवति, तासां जघन्य-प्रदेशबन्धं करोति, यासां त्रिंशद्बन्धस्थाने जघन्यप्रदेशबन्धो भवति तासां संख्यातभागाधिकजघ-न्यप्रदेशबन्धं करोति, स्यान्नियतबन्धादिकं तु सुगमम्। तदेव दर्शयति—मनुष्यद्विकस्य नियमेन जघन्यप्रदेशबन्धं च करोति, एकोनत्रिंशद्बन्धस्थाने एव मनुष्यद्विकस्य जघन्यप्रदेशबन्धकत्वात्। प्रस्तुतबन्धकस्य देवप्रायोग्यस्य बन्धाभावात्, तिर्यग्द्विकस्य नरकद्विकस्य च तु प्रकृतिबन्धसन्नि-कर्षेण बन्धविरोधान्मनुष्यद्विकस्य नियमेन बन्धो दर्शितः। तथा स उच्चैर्गोत्रस्य जघन्यप्रदेशबन्धं कुर्वन् संहननषट्कसंस्थानषट्कखगतिद्वयस्थिरषट्काऽस्थिरषट्करूपाणां षड्विंशतेः स्याद्बन्धं करोति, स्वजघन्यप्रदेशबन्धतः संख्यातभागाधिकं प्रदेशबन्धं करोति, तथा पञ्चेन्द्रियजातिनामौदारिक-द्विकनवनामध्रुवबन्धिनी-पराघातोच्छ्वासत्रसचतुष्करूपाणामष्टादशप्रकृतीनां नियमेन संख्यात-भागाधिकजघन्यप्रदेशबन्धं च करोति, भावना तु सुगमा। नीचैर्गोत्रप्रधानसन्निकर्षः प्रागेव सातवेदनीयादिभिः सहातिदेशेन निरूपितः। तदेवमोघतः परस्थानजघन्यप्रदेशबन्धसन्निकर्षो निरूपितः॥१२२३-३४॥ अथाऽऽदेशतस्तं विभणिषुर्नरकगत्योघ-प्रथमनरकमार्गणयोः प्राह—

णिरयपढमणिरयेसुं धुवबंधीउ खलु णामवज्जाओ। एगस्स हस्सबंधी णियमाऽण्णेसिं लहुपएसं ॥
बधइ सिआ पएसं दुवेअणीअसगणोकसायाणं। णरदुगउज्जोआणं णीरच्चाणं खलु जहण्णं ॥
तिरिखगइदुगाण तह छसंघयणागिइथिराइजुगलाण। बंधइ सिआ पएसं लहुं अहव संखभागऽहियं ॥
धुवणामाण पणिंदियपरघाऊसासतसचउक्काणं । उरलदुगस्स य णियमा लहुं अहव संखभागऽहियं ॥ ४
एमेव सण्णियासो दुवेअणीअपुमथीणपुंसाणं । तह दुजुगलणीआणं णवरं बंधइ ण पडिवक्खं ॥ ५
तिरियाउस्स जहण्णं बंधंतो कुणइ सत्तचत्ताए । धुवबंधीण तिरिउरलजुगलपणिंदितसचउगाणं ॥

परघाऊसासाणं तह णीअस्स णियमा असंखगुणं । बंधेइ सिआऽण्णेसिं छत्तीसाअ तिरिजोग्गाणं ॥ ७
मणुआउस्स जहण्णं बंधेमाणो इगूणचत्ताए । धुवबंधीण णरउरलजुगलपणिंदितसचउगाणं ॥
परघाऊसासाण णियमा बंधइ असंखगुणअहियं । णरपाउग्गाण सिआ छायालीसाअ सेसाणं । ९
ओघव्व जिणुआण लहुबंधी णरदुगस्स णामाणं । सट्ठाणव्व उ बंधइ णाणावरणव्व सेसाण ॥ १०
सेसाण णामाण लहुबंधी बंधए लहुपएसं । णियमा धुवबंधीणं अडतीसाअ तह णीअस्स ॥
बंधइ सिआ जहण्णं दुवेअणीअमगणोकसायाणं । णामाणं पयडीणं सट्ठाणव्व खलु बंधेइ । १२
॥१२२५-१२३६॥

(प्रे०) "णिरये"त्यादि, नरकौघमार्गणायां प्रथमनरकमार्गणायां चासंज्ञिभ्य आगतस्य भवप्रथमसमये वर्तमानस्य जिननामायुर्द्वयवर्जाष्टनवतिप्रकृतीनां जघन्यप्रदेशबन्धस्य स्वामित्वाज्ज्ञानावरणाद्येकस्या जघन्यप्रदेशबन्धे नामायुर्वर्जानां जघन्यप्रदेशबन्धमेव करोति, स्यान्नियतबन्धे तु ध्रुवाणां नियतो बन्धः, वेदयुगलवेदनीयानां स्याद्बन्धः, मनुष्यद्विकप्रधाने ज्ञानावरणीयादिप्रधाने च गोत्रद्वयस्य स्याद्बन्धस्तिर्यग्द्विकादिप्रधान उच्चैर्गोत्रस्य बन्धाभावान्नीचैर्गोत्रं नियमाद्बध्नाति, नाम्नो द्वे बन्धस्थाने प्रथमं एकोनत्रिंशत्प्रकृत्यात्मकम्, तत्र मनुष्यद्विकस्य जघन्यप्रदेशबन्धो भवति, द्वितीयं त्रिंशत्प्रकृत्यात्मकम्, तत्र शेषनामप्रकृतीनां जघन्यप्रदेशबन्धो भवति, इत्यष्टनवतिप्रकृतीनां सन्निकर्षस्य समुदितार्थः । व्यासार्थः पुनरेवम्-नामवर्जाष्टात्रिंशद्ध्रुवबन्धिप्रकृतिभ्य एकस्या जघन्यप्रदेशबन्धं कुर्वन् शेषाणा सप्तत्रिंशतो नियमाद्बन्धं करोति, जघन्यप्रदेशबन्धं च, सातासातवेदनीयहास्यादियुगलद्वयवेदत्रयगोत्रद्वयमनुष्यद्विकोद्योतनाम्नां स्याज्जघन्यप्रदेशबन्धं च करोति, तत्र स्यान्नियतबन्धस्तु सुगमः, जघन्यप्रदेशबन्धस्वामिना तुल्यत्वाज्जघन्यप्रदेशबन्धः, प्रस्तुतमार्गणाद्वये निरुक्तबन्धकस्य मनुष्यद्विकोद्योतनामरूपप्रकृतित्रयस्यैकैकबन्धस्थान एव बन्धलाभाज्जघन्यप्रदेशबन्धस्यैव लाभः । तथा स तिर्यग्द्विकखगतिद्विकसंहननषट्कसंस्थानषट्कस्थिरषट्कास्थिरषट्करूपाणामष्टाविंशतेः स्याद्बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु जघन्यं संख्यातभागाधिकजघन्यं वा । नवनामध्रुवबन्धिनी-पञ्चेन्द्रियजातिपराघातोच्छ्वासत्रसचतुष्कौदारिकद्विकलक्षणानामष्टादशानां नियमेन बन्धं करोति, जघन्यप्रदेशबन्धं संख्यातभागाधिकजघन्यप्रदेशबन्धं वा करोति । भावना तु सुगमा । यथा मतिज्ञानावरणादिप्रधानसन्निकर्षो निरूपितस्तथैव सातासातवेदनीयपुरुषवेदस्त्रीवेदनपुंसकवेदहास्यरतिशोकारतिनीचैर्गोत्राणां दशानां प्रत्येकं प्रधानीकृत्य प्रस्तुतसन्निकर्षो वक्तव्यः, केवलं प्रतिपक्षप्रकृतीनां बन्धो न भवतीति । तिर्यगायुषो जघन्यप्रदेशबन्धं कुर्वन् सप्तचत्वारिंशद्ध्रुवबन्धिप्रकृतीनां तिर्यग्द्विकौदारिकद्विकपञ्चेन्द्रियजातित्रसचतुष्कपराघातोच्छ्वासनीचैर्गोत्राणां नियमेन बन्धं करोति, जघन्यप्रदेशबन्धतोऽसंख्येयगुणाधिकं प्रदेशबन्धं करोति, भवप्रथमसमयगतयोगत आयुर्बन्धयोग्यपर्याप्तकघोलमानजघन्ययोगस्यासंख्येयगुणत्वात् । वेदनीयद्विकवेदत्रयहास्यादियुगलद्वयसंहननषट्कसंस्थानषट्कखगतिद्वयस्थिरषट्कास्थिरषट्कोद्योतनामरूपाणां षट्त्रिंशदध्रुवबन्धिप्रकृतीनां स्याद्बन्धं करोति,

प्रदेशबन्धं तु स्वजघन्यतोऽसंख्येयगुणाधिकं करोति । मनुष्यायुषो जघन्यप्रदेशबन्धं कुर्वन् ज्ञानावरणाद्येकोनचत्वारिंशद्ध्रुवबन्धिप्रकृतीनां मनुष्यद्विकौदारिकद्विकपञ्चेन्द्रियजातित्रसचतुष्कपराघातोच्छ्वासरूपाणां च नियमेन बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु स्वजघन्यतोऽसंख्येयगुणाधिकं करोति, तथा स मनुष्यायुषो जघन्यप्रदेशबन्धं कुर्वन मिथ्यात्वस्त्यानर्द्धित्रिकानन्तानुबन्धिचतुष्कवेदनीयद्वयहास्यादियुगलद्वयवेदत्रयगोत्रद्वयसंहननपट्कसंस्थानपट्कखगतिद्वयस्थिरपट्कास्थिरपट्कजिननामरूपाणां पट्चत्वारिंशत्प्रकृतीनां स्यादसंख्येयगुणाधिकजघन्यप्रदेशबन्धं च करोति, भावना तु सुगमा । जिननामप्रधानमुच्चैर्गोत्रप्रधानं च प्रस्तुतसन्निकर्षमोघवत् करोति, यथौघे उच्चैर्गोत्रस्य जघन्यप्रदेशबन्धकस्य सूक्ष्मस्वामित्वान्मनुष्यप्रायोग्यप्रकृतीनामेव बन्धस्तथा प्रस्तुतेऽपि मनुष्यप्रायोग्यप्रकृतीनामेव बन्धः । सन्निकर्षः पुनरेवम्—स उच्चैर्गोत्रजघन्यप्रदेशं बध्नन् ज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरणनवकषोडशकषायभयजुगुप्सामिथ्यात्वान्तरायपञ्चकरूपाणामष्टात्रिंशतो नियमेन बन्धं करोति, वेदनीयद्वयवेदत्रयहास्यादियुगलद्वयरूपाणां नवानां स्याद्बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु तासां सप्तचत्वारिंशतो जघन्यमेवेति, स मनुष्यद्विकस्य नियमेन जघन्यप्रदेशं च बध्नाति, पञ्चेन्द्रियजात्यौदारिकद्विकनवनामध्रुवबन्धिनी-पराघातोच्छ्वासत्रसचतुष्कलक्षणानामष्टादशानां नियमेन, संहननपट्कसंस्थानपट्कखगतिद्वयस्थिरपट्कास्थिरपट्करूपाणां पड्विंशतेः स्याद्बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु तासां चतुश्चत्वारिंशतः संख्यातभागाधिकं जघन्यमिति । भावना त्वोघानुसारेण विधेया । जिननाम्नो जघन्यप्रदेशबन्धं कुर्वन् शेषाणां बन्धार्हाणां प्रकृतीनां स्वजघन्यप्रदेशबन्धतोऽसंख्यगुणाधिकंप्रदेशबन्धं करोति ओघवच्छेपप्रकृतीनां जिननाम्नश्च जघन्यप्रदेशबन्धस्वामिनां भिन्नत्वात्, तत्र सातादिद्वादशानांस्याद्बन्धं करोति, शेषाष्टपञ्चाशत्प्रकृतीनां नियमेन बन्धं करोति, शेषाष्टपञ्चाशत्प्रकृतयस्त्विमाः—एकोनचत्वारिंशद्ध्रुवबन्धिप्रकृतयः-पुरुषवेदमनुष्यद्विकपञ्चेन्द्रियजात्यौदारिकद्विक-प्रथमसंहननप्रथमसंस्थानसुखगतिपराघातोच्छ्वासत्रसचतुष्कसुभगत्रिकोच्चैर्गोत्ररूपाः । ततः "**लहुबंधो**" इत्यादिना पादोनगाथया मनुष्यद्विकप्रधानं प्रस्तुतसन्निकर्षं दर्शयति—मनुष्यद्विकादेकस्या जघन्यप्रदेशं बध्नन तदितरस्या नियमेन जघन्यप्रदेशबन्धं च करोति शेषनामप्रकृतीनां स्वस्थानसन्निकर्षवन्नामेतरासां तु मतिज्ञानावरणप्रधानसन्निकर्षवद्विज्ञेयस्तद्यथा—पञ्चेन्द्रियजात्यौदारिकद्विकनवनामध्रुवबन्धिपराघातोच्छ्वासत्रसचतुष्करूपाणामष्टादशानां नियमेन बन्धं करोति, संहननपट्कखगतिद्वयस्थिरपट्कास्थिरपट्कलक्षणानां पड्विंशतेः स्याद्बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु तासां चतुश्चत्वारिंशत्प्रकृतीनां संख्यातभागाधिकं जघन्यं करोति । तथा स ज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरणनवककषायपोडशकभयजुगुप्सामिथ्यात्वान्तरायपञ्चकरूपाणामष्टात्रिंशत्प्रकृतीनां नियमेन तथा सातासातवेदनीयवेदत्रयहास्यादियुगलद्वयगोत्रद्वयरूपाणामेकादशानां स्याद्बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं त्वेकोनपञ्चाशत्प्रकृतीनां जघन्यमेव विदधाति, भावना तु सुगमा, ओघानुसारेण भाव्या । मनुष्यद्विकं जिननाम च विहाय शेषाणां

बन्धार्हाणां नामप्रकृतीनां प्रत्येकं प्रधानीकृत्य प्रस्तुतसन्निकर्षं "सेसाणं णामाणं" इत्यादिगाथाद्वयेन दर्शयति—शेषनाम्नां तिर्यग्द्विकपञ्चेन्द्रियजातिनामौदारिकद्विकनवनामध्रुवबन्धिसंहननषट्कसंस्थानषट्कखगतिद्वयपराघातोच्छ्वासोद्योतनामत्रसदशकास्थिरषट्करूपाणां सप्तचत्वारिंशन्नाम्नां प्रत्येकं प्रधानसन्निकर्षे तया सह बन्धप्रायोग्यनाम्नां स्वस्थानसन्निकर्षवत् सन्निकर्षो वाच्यः, शेषाणामोघवत् प्रस्तुतसन्निकर्षो भवति। अत्र यद्यपि नाम्नां सन्निकर्षोऽपि ओघवद् भवति, तथापि तत्र विकलत्रिकस्य बन्धभावेन त्रिंशद्बन्धस्थाने तस्य बध्यमानत्वाच्च तिर्यग्द्विकादिकामाश्रित्यप्रकृतीनां जघन्यप्रदेशबन्धे तस्य बन्धसम्भवात्पञ्चेन्द्रियजातिनाम्नः स्याद्बन्धो भवति, प्रस्तुते तु विकलत्रिकस्य बन्धाभावान्नियतबन्धः, इत्योघवदनतिदिश्य स्वस्थानवदतिदेशः। नामवर्जानामोघवत् प्रस्तुते सन्निकर्षस्य भावेऽपि ग्रन्थकारेण पृथग्दर्शितः स चैवम्—ज्ञानावरणाद्यष्टात्रिंशद्ध्रुवबन्धिप्रकृतीनां नीचैर्गोत्रस्य च नियमेन जघन्यप्रदेशबन्धं च करोति, वेदनीयद्वयहास्यादियुगलद्वयवेदत्रयरूपाणां सप्तानां स्याद्बन्धं विदधाति, प्रदेशबन्धं तु जघन्यमेव करोति। भावना तु सुगमा ॥१२२५-१२२६॥

अथ द्वितीयादिषष्ठनरकान्तमार्गणासु सातिदेशं सापवादं प्रस्तुतसन्निकर्षं निरूपयन्नाह—

दुइआइणिरयपणगे सप्तगाउग्गाण एवमेव परं। दुइअतइअणिरयेसुं णराउबंधी सिआ जिणस्स लहुं ॥ गीति
णियमा जिणलहुबंधी लहुं णराउस्स—. ... . । ॥१२२७॥

(प्रे०) "दुइआइ" इत्यादि, द्वितीयादिषष्ठान्तनरकमार्गणापञ्चके बन्धप्रायोग्याणां कर्मणां परस्थानजघन्यप्रदेशबन्धसन्निकर्षो नरकौघवद्विज्ञेयः, उभयत्र भवप्रथमसमये मिथ्यादृशामेव मतिज्ञानावरणाद्यष्टनवतेर्जघन्यप्रदेशबन्धस्वामित्वात्, एतच्च द्वितीयतृतीयनरकमार्गणाद्वये तु क्षायिकसम्यग्दृशामुत्पादस्यानङ्गीकुर्वतामपेक्षया विज्ञेयः, अन्यथा तु मतिज्ञानावरणादीनां कासाञ्चित्प्रकृतीनां तु जघन्यप्रदेशबन्धस्य सम्यग्दृशामपि संभवेन प्रस्तुतातिदेशलब्धसन्निकर्षतो विभिन्नः सन्निकर्षः स्यात्, स तु सुगमप्राय इति स्वयमेव विज्ञेयः। अत्र द्वितीयतृतीयनरकमार्गणाद्वये मनुष्यायुःप्रधाने जिननामप्रधाने च सन्निकर्षे या अतिप्रसक्तिः तां 'पर' मित्यादिना निराकुर्वन्नाह द्वितीयतृतीयनरकमार्गणाद्वये मनुष्यायुषो जघन्यप्रदेशं बध्नन् जिननाम स्याद्बध्नाति, प्रदेशबन्धं तु जघन्यमेव करोति, उभयोर्घोलमानयोग्यष्टविधमूलप्रकृतिबन्धको जघन्यप्रदेशबन्धस्वामी भवति, नरकौघे तु एतयोर्जघन्यप्रदेशबन्धस्वामिनां परस्परं भिन्नत्वमतो विलक्षणः सन्निकर्षः। तथाऽत्रैव द्वितीयतृतीयनरकमार्गणयोर्जिननाम्नो जघन्यप्रदेशबन्धं कुर्वन् मनुष्यायुषो नियमाद्बन्धको भवति, प्रदेशबन्धमपि तस्य जघन्यमिति, नरकौघे तु जिननामजघन्यप्रदेशं बध्नन् भवप्रथमसमयस्थो भवति, अतस्तदायुषो नियमेनाऽबन्धकः। जिननाममनुष्यायुषोः प्रत्येकं प्रधानसन्निकर्षे उक्तापवादं विहाय शेषाणां नरकौघवत्सन्निकर्षो विज्ञेयः। मतान्तरमधिकृत्य जिननामप्रधान-

सन्निकर्षः सुगमः स्वयमेव विचारणीयः, अत एव तन्मते मनुष्यायुःप्रधाने तु नरकौघवर्जिननाम्नः स्याद्वन्धं स्वजघन्यप्रदेशबन्धतोऽसंख्येयगुणाधिकजघन्यप्रदेशबन्धं च करोति, अतो मतान्तरापेक्षया नापवादविनयता । चतुर्थादिनरकत्रये जिननामप्रधानसन्निकर्षो न निरूपणीयो बन्धाभावादिति । ॥१२३७॥ अथ सप्तमनारकमार्गणायां प्राह—

णरदुगुच्चाओ । एगस्स चरमणिरए लहुबंधी दोण्ह रेसाणं ॥
इस्स बंधइ णियमा इगूणचत्तधुवबंधिपुरिसाणं । पंचिंदियुरलदुगसुहसघयणागिइसुखगईणं ॥
परघाऊसाससुहगतिगतसचउगाण खलु असंखगुणं । तिथिराइगजुगलाणं दुदेअणीअजुगलाण सिआ ॥
सप्पाउग्गऽण्णेसिं णिरयव्व हवेज्ज णवरि भणणीओ । सव्वह णियमा बंधो तिरिदुगणीआण जहजोग ॥
॥१२३८-१२४१॥

(प्रे०) "णरे"त्यादि, सप्तमनारकमार्गणायां मनुष्यद्विकोच्चैर्गोत्राणामन्यतमस्य जघन्यप्रदेशबन्धकस्तदितरद्वयस्य नियमाद्वन्धं जघन्यप्रदेशबन्धं च करोति, ज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरणषट्का-ऽऽद्यवर्जद्वादशकषायभयजुगुप्सापुरुषवेदान्तरायपञ्चकरूपाणामेकत्रिंशत्प्रकृतीनां पञ्चेन्द्रियजातिनामौदारिकद्विकतैजसकार्मणशरीरवज्रर्षभनाराचसंहननसमचतुरस्रसंस्थानसुखगतिवर्णचतुष्काऽगुरुलघुचतुष्कनिर्माणपराघातोच्छ्वासत्रसचतुष्कसुभगत्रिकाणां च नियमेन बन्धं करोति, हास्यरतिशोकारतिसातासातवेदनीयस्थिरास्थिरशुभाशुभयशःकीर्त्ययशःकीर्तिरूपाणां द्वादशानां स्याद्वन्धं करोति, आसां सप्तपष्टेः प्रदेशबन्धं तु स्वजघन्यप्रदेशबन्धतोऽसंख्येयगुणाधिकं करोति, भावना तु सुगमा स्वतोऽवधार्या इति । मनुष्यद्विकोच्चैर्गोत्रवर्जानां मार्गणायां बन्धप्रायोग्याणां पण्णवतेः प्रकृतीनां प्रत्येकं प्रधानीकृत्य प्रस्तुतपरस्थानजघन्यप्रदेशबन्धसन्निकर्षो नरकौघवद्भवति भवप्रथमसमये मिथ्यादृशामेव तज्जघन्यप्रदेशबन्धस्वामित्वात् , केवलमयं विशेषः—ज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरणनवकमोहनीयसत्कपड्विंशतिवेदनीयद्वयान्तरायपञ्चकलक्षणानां सप्तचत्वारिंशत्प्रकृतीनां जघन्यप्रदेशबन्धकस्तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्रयो नियमतो बन्धं करोति, तथा नीचैर्गोत्रस्य जघन्यप्रदेशबन्धकस्तिर्यग्द्विकं नियमेन बध्नाति प्रदेशबन्धं तु तद्वदेव भवति ॥१२३८-१२४१॥

अथ तिर्यगोघादिमार्गणात्रये परस्थानजघन्यप्रदेशबन्धसन्निकर्षं निरूपयन्नाह—

सप्पाउग्गाण सवे ओघव्व तिरिदुपणिंदितिरियेसुं । णवरि सुरविउव्वियदुगबंधी तित्थं ण बंधेइ ॥
॥१२४२॥

(प्रे०) "**सप्पाउग्गाण**" इत्यादि, तिर्यगोघमार्गणायां पञ्चेन्द्रियतिर्यगोघमार्गणायां पर्याप्ततिर्यक्पञ्चेन्द्रियमार्गणायां च बन्धप्रायोग्याणां सप्तदशोत्तरशतस्य प्रत्येकं प्रधानीकृत्य प्रस्तुतसन्निकर्ष ओघवद्भवति, तत्र देवद्विकवैक्रियद्विकवर्जानां त्रयोदशोत्तरशतस्य तिर्यगोघमार्गणायामोघवज्जघन्यप्रदेशबन्धस्वामित्वात् , पञ्चेन्द्रियतिर्यग्मार्गणाद्वये भवप्रथमसमयेऽसंज्ञिनः सप्तोत्तरशतस्य जघन्यप्रदेशबन्धस्वामित्वेन तत्र चौघवत् प्रकृतिबन्धस्थानादीनां प्राप्यमाणत्वेन नौघतः कश्चिद्विशेषः, नरकद्विकदेवनरकायुषामपि जघन्यप्रदेशबन्धस्वामिनामोघवद्भावे सति

तैस्सह बन्धार्हशेषप्रकृतीनां जघन्यप्रदेशबन्धस्य ततोऽसंख्येयगुणहीनयोगवतामेव भावादेवौघवत्प्रस्तुतसन्निकर्षः प्राप्यते, एवमेव तिर्यग्मनुष्यायुषोऽपि यथासंभवं भावना कार्या । मार्गणात्रयेऽप्योघवद्भवप्रथमसमय एव देवद्विकवैक्रियद्विकयोर्जघन्यप्रदेशबन्धभावेऽपि प्रस्तुते जिननाम्नो बन्धाभावादोघे तद्बन्धस्य नियमतो भावेऽप्यत्र देवद्विकवैक्रियद्विकजघन्यप्रदेशबन्धको जिननाम नैव बध्नातीति विशेषः, स च "णवरि" इत्यादिना अपवादरूपेण दर्शितः ॥१२४२॥

अथ तिरश्चीमार्गणायां तत्समत्वेन मत्यज्ञानादिमार्गणापञ्चके च तं निरूपयन्नाह—

ओघव्व तिरिच्छीए दुअणाणअभवियमिच्छअमणेसु । विउवऽट्ठगवज्जाणं सप्ताउगगाण पयडीणं ॥
लहुवंधी णिरयतिगा एगस्स लहुमियराण दोण्ह तहा । विउवजुगलस्स णियमा असंखगुणमण्णणिरय ॥
जोग्गाणं ॥ गीति)
देवाउस्स जहण्णं बंधतो सुरविउव्वियदुगाण । णियमा हुस्सं वंधइ पुमथीण सिआ असंखगुणं ॥
बंधेइ असंखगुण णियमा धुवबंधिसत्तचत्ताए । हस्सरईण तहा सुहसत्तरसेससुरजोग्गाणं ॥
सुरदुगजहण्णबंधी णामाण बंधए सठाणव्व । णियमा धुवबंधीण अडतीसाअ तह सायस्स ॥
तह रइहस्सुच्चाण वंधइ अलहुं असंखगुणअहियं । पुमथीण सिआ वंधइ णियमा देवाउगस्स लहुं ॥
विउवदुगहस्सबंधी णामाण बंधए सठाणव्व । णारगदेवाऊणं बंधेइ सिआ लहुपएसं ॥
बंधइ अडतीसाए धुवबंधीण णियमा असंखगुण । सायियरदुगोअजुगलथीपुरिसनपुंसगाण सिआ ॥
॥१२४३-१२५०॥

(प्रे०) "ओघव्वे"त्यादि, तिरश्चीमार्गणायां तथा मत्यज्ञानश्रुताज्ञानाभव्यमिथ्यात्वासंज्ञिरूपासु पञ्चमार्गणासु च वैक्रियाष्टकं विहाय शेषाणां मार्गणायां बन्धप्रायोग्याणां नवोत्तरशतप्रकृतीनां परस्थानजघन्यप्रदेशबन्धसन्निकर्ष ओघवद्भवति, तत्र मत्यज्ञानादिमार्गणापञ्चके भावनाप्योघवत्कार्या, ओघवदेव तासां नवोत्तरशतस्य जघन्यप्रदेशबन्धस्वामिनां लाभात् , तिरश्चीमार्गणायां नवोत्तरशतस्यानन्तरदर्शितपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्वद्भावना कार्या जघन्यप्रदेशबन्धस्वामिनां तद्वदेव लाभात् । मार्गणाषट्केऽपि देवद्विकवैक्रियद्विकयोर्जघन्यप्रदेशबन्धोऽसंज्ञिन एव भवति, मार्गणापञ्चके सम्यक्त्वाभावात् , तिरश्चीमार्गणायां च भवाद्यान्तर्मुहूर्ते सम्यक्त्वाभावात् । अत एव वैक्रियाष्टकस्य जघन्यप्रदेशबन्धः पर्याप्तासंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्य घोलमानयोगिनोऽष्टविधमूलप्रकृतीर्बध्नत एव भवति, तत आभ्य एकस्या जघन्यप्रदेशबन्धे तदन्यसप्तप्रकृतितो यासां बन्धो भवति तासां जघन्यप्रदेशबन्धो भवति, शेषाणां बन्धार्हाणां स्वजघन्यप्रदेशबन्धतोऽसंख्येयगुणाधिक एव जघन्यप्रदेशबन्धो भवति । स च "लहुबंधी" इत्यादि, गाथासप्तकेन दर्शितः, तद्यथा—नरकगत्यानुपूर्व्यायूरूपत्रयादेकस्य जघन्यप्रदेशं बध्नन् तदन्यद्वयस्य वैक्रियद्विकस्य च नियमाज्जघन्यमेव प्रदेशबन्धं च करोति, शेषाणां नरकप्रायोग्याणां सप्तचत्वारिंशद्ध्रुवबन्धिनीशोकारतिनपुंसकवेदासातवेदनीयनीचैर्गोत्रपञ्चेन्द्रियजातिहुण्डककुखगतिपराघातोच्छ्वासत्रसचतुष्काऽस्थिर—षट्करूपाणां सप्तषष्टेर्नियमाद्बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु तासां स्वजघन्यप्रदेशबन्धतोऽसंख्येय-

गुणाधिकमिति । देवायुषो जघन्यप्रदेशबन्धं कुर्वन् देवद्विकवैक्रियद्विकयोर्नियमाद्बन्धं जघन्यप्रदेशबन्धं च करोति, पुरुषवेदस्त्रीवेदयोः स्याद्बन्धं करोति, सप्तचत्वारिंशद्ध्रुवबन्धिनीसातवेदनीयहास्यरतिपञ्चेन्द्रियजातिसमचतुरस्रसंस्थानसुखगतिपराघातोच्छ्वासत्रसदशकोच्चैर्गोत्ररूपाणां षट्षष्टे र्नियमेन बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु तासां षट्षष्टेर्वेदद्वयस्य च स्वजघन्यप्रदेशबन्धतोऽसंख्येयगुणाधिकमिति । देवद्विकादेकस्या जघन्यप्रदेशं बध्नन् तदन्याया वैक्रियद्विकस्य च नियमेन बन्धं करोति, जघन्यप्रदेशबन्धं च करोति, देवायुषो नियमेन बन्धं जघन्यप्रदेशबन्धं च करोति, सप्तचत्वारिंशद्ध्रुवबन्धिनीपञ्चेन्द्रियजातिसमचतुरस्रसंस्थानसुखगतिपराघातोच्छ्वासत्रसचतुष्कसुभगत्रिकोच्चैर्गोत्राणां तथा सातवेदनीयहास्यरतिस्थिरशुभयशःकीर्तिनाम इति सप्तषष्टे र्नियमेन बन्धं करोति, स्त्रीपुरुषवेदयोः सप्रतिपक्षत्वात् स्याद्बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु स्वजघन्यतोऽसंख्येयगुणाधिकमिति । वैक्रियद्विकादेकस्य जघन्यप्रदेशबन्धं कुर्वन् तदितरस्य नियमेन जघन्यमेव प्रदेशबन्धं च करोति, देवद्विकनरकद्विकयोर्देवनरकायुषोश्च स्याद्बन्धं जघन्यप्रदेशबन्धं च करोति, अत्र देवनारकायुर्द्वयेऽन्यतरस्य नियमेन बन्धं करोति । वेदनीयद्वयवेदत्रयहास्यादियुगलद्वयसमचतुरस्रहुण्डकसंस्थानद्वयखगतिद्वयस्थिरषट्कास्थिरषट्कगोत्रद्वयरूपाणां सप्तविंशतेः स्याद्बन्धं करोति, जघन्यप्रदेशबन्धतोऽसंख्येयगुणाधिकं प्रदेशं बध्नाति । सप्तचत्वारिंशद्ध्रुवबन्धिप्रकृतीनां पञ्चेन्द्रियजातिपराघातोच्छ्वासत्रसचतुष्करूपाणां चतुष्पञ्चाशतो नियमेन बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु स्वजघन्यतोऽसंख्येयगुणाधिकमिति । हेत्वादिकं सुगममिति न प्रतन्यते ॥१२४३-१२५०॥ अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्मार्गणायामपर्याप्तमनुष्यमार्गणायां च बन्धप्रायोग्याणां नवोत्तरशतस्य प्रस्तुतसन्निकर्ष ओघवद्भवति, स च "सेसासु" इत्यादिना प्रान्ते दर्शयिष्यन्ति, भावना तु सविशेषा ओघानुसारेण कार्या ।

अथ मनुष्यौघ-पर्याप्तमनुष्य-मानुषीमार्गणासु तथौदारिकतन्मिश्रमार्गणाद्वये च परस्थानजघन्यप्रदेशबन्धसन्निकर्षं सापवादमोघवदतिदेशेन निरूपयन्नाह—

तिणरुरलदुगेसु भवे सव्वाणोघव्व णवरि बंधेइ । तित्थस्स जहण्णं खलु देवविउव्वदुगलहुबंधी ॥
जिणलहुपएसबंधी देवविउव्वियदुगाण बधेइ । णियमा लहुं चिअ ण चिअ णरुरलदुगवइररिसहाणि ॥
तिणरेसु सुराउगलहुबंधी बधइ सिआ असंखगुणं । थीणद्धितिगपुरिसथीबारकसायजिणमिच्छाणं ॥
आहारदुगस्स सिआ बंधइ लहुमहव संखभागहियं । बंधेइ असंखियगुणअहियं णियमा लहुपएसा ॥
धुवहस्सरईण तहा सुहसुरजोग्गेगवीससेसाणं । देवाउस्साहारगदुगलहुबंधी जहण्णं च ॥
॥१२५१-१२५५॥

(प्रे०) "तिणरु" इत्यादि, मनुष्यौघपर्याप्तमनुष्यमानुषीमार्गणात्रय औदारिककाययोगौदारिकमिश्रकाययोगद्वये च देवद्विकवैक्रियद्विकाहारकद्विकजिननामदेवायुषां मुक्त्वा द्वादशोत्तरशतस्यौघवत्प्रस्तुतसन्निकर्षो विज्ञेयो, देवद्विकवैक्रियद्विकयोरपि प्रस्तुतसन्निकर्ष ओघवद्भवति, केवलं तत्रौघे देवद्विकवैक्रियद्विकयोर्जघन्यप्रदेशबन्धं कुर्वन् जिननाम्नो नियमेन बन्धं करोति,

प्रदेशबन्धं तु संख्यातभागाधिकं जघन्यम्, प्रस्तुते तु स जिननाम्नो नियमेन जघन्यमेव-प्रदेशबन्धं च करोति, शेषं त्वोघवदेव । जिननामप्रधानसन्निकर्षोऽप्योघवदेव भावनीयः. केवलं तत्र स मनुष्यद्विकौदारिकद्विकवज्रर्षभनाराचनाम्नां नियमेन बन्धं करोति, प्रस्तुते तु स ता नैव बध्नाति, देवद्विकवैक्रियद्विकयोः स नियमेन बन्धं करोति, जघन्यप्रदेशबन्धं चेति विशेष ओघतः, स चौघतोऽत्र स्वामिनां भिन्नत्वाद्विज्ञेयः । अत्र मानुषीमार्गणायां देवद्विकवैक्रियद्विकजिननाम्नां प्रधानीकृत्य प्रस्तुतसन्निकर्षं तु भवप्रथमसमयवर्तिनं मल्लिकुमार्यादिवज्जिनमधिकृत्य विज्ञेयः । औदारिकमिश्रे देवायुषो बन्धाभावादौदारिककाययोगे चौघवदेव देवायुषो जघन्यप्रदेशबन्धसन्निकर्षस्य लाभात्, ते विहाय मनुष्यमार्गणात्रये तस्य देवायुषः प्रस्तुतसन्निकर्षस्यौघतो विलक्षणत्वात्तं निरूपयति—**"तिणरेसु सुराउगलहुबंधी"** इत्यादि. अत्र मनुष्यमार्गणात्रये देवायुषः प्रकृतिबन्धवत् तज्जघन्यप्रदेशबन्धोऽपि प्रथमद्वितीयचतुर्थादिसप्तमान्तगुणस्थानेषु भवति, ओघे त्वसंज्ञिन एव तत्स्वामित्वात् प्रथमगुणस्थान एव तज्जघन्यप्रदेशबन्धो लभ्यते, अतोऽत्र देवायुषो जघन्यप्रदेशबन्धं कुर्वन् स्त्यानर्द्धित्रिकानन्तानुबन्ध्यादिद्वादशकषायमिथ्यात्वरूपाणां षोडशानां तथा सप्रतिपक्षत्वेन स्त्रीपुरुषवेदयोर्जिननाम्नश्चेति एकोनविंशतेः स्याद्बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु स्वजघन्यतोऽसंख्येयगुणाधिकमेवेति । तथा स आहारकद्विकस्य स्याद्बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु जघन्यं संख्यातभागाधिकं जघन्यं वा करोति तत्र नाम्न एकत्रिंशद्बन्धको जघन्यं त्रिंशद्बन्धकस्तु संख्यातभागाधिकंजघन्यमिति । शेषाणां बन्धार्हाणां ज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरणषट्कसंज्वलनचतुष्कभयजुगुप्सा-नामनवध्रुवबन्धिन्यन्तरायपञ्चकरूपाणामेकत्रिंशद्ध्रुवबन्धिप्रकृतीनां सातवेदनीयहास्यरतिमोहनीयदेवद्विकपञ्चेन्द्रियजातिवैक्रियद्विकसमचतुरस्रसंस्थानसुखगतिपराघातोच्छ्वासत्रसदशकोच्चैर्गोत्राणां च नियमेन बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु स्वजघन्यतोऽसंख्येयगुणाधिकमिति, आसां जघन्यप्रदेशबन्धस्य भवप्रथमसमय एव भावाच्छेषशब्दार्थस्तु सुगमः । आहारकद्विकप्रधानसन्निकर्षोऽप्यौदारिकमिश्रं विना मार्गणाचतुष्क ओघवदेव, केवलमोघे यो देवायुषोऽसंख्येयगुणाधिकजघन्यप्रदेशबन्धो भवति, स प्रस्तुतमनुष्यमार्गणात्रये जघन्य इति विशेषः । मानुषीमार्गणायां सम्यग्दृशां कस्याश्चित् कर्हिचिदेवोत्पादात् प्राचुर्यमधिकृत्य तस्य निषेधः सप्ततिकादौ दर्शितः, अतः प्राचुर्यमतापेक्षया मानुषीमार्गणायां वैक्रियाष्टकाहारकद्विकजिननाम्नां प्रधानसन्निकर्षे विशेषो भवति । अतस्तन्मतापेक्षया तत्प्रधानसन्निकर्षो वृत्तौ निरूप्यते, शेषनवोत्तरशतप्रधानस्त्वोघवदेव विभावनीयः । तत्र नरकत्रिकादेकस्य जघन्यप्रदेशबन्धकस्तदितरद्वयस्य नियमेन जघन्यप्रदेशबन्धं च करोति । वैक्रियद्विकस्य नियमेन संख्येयभागाधिकं जघन्यप्रदेशबन्धं करोति, वैक्रियद्विकजघन्यप्रदेशबन्धस्यास्मिन्मतेऽप्रमत्तसंयतस्यैव भावादिति, शेषणां नरकप्रायोग्याणां सप्तषष्टेर्नियमेन बन्धं करोति,

जघन्यप्रदेशतोऽसंख्येयगुणाधिकजघन्यप्रदेशबन्धं च करोति । देवद्विकजिननामरूपत्रयादेकस्य जघन्यप्रदेशबन्धकस्तदितरद्वयस्य देवायुषश्च नियमेन जघन्यप्रदेशबन्धं च करोति, आहारकद्विकस्य स्याज्जघन्यप्रदेशबन्धं च करोति। वैक्रियद्विकं नियमेन बध्नाति, प्रदेशबन्धं त्वाहारकद्विकबन्धकाले जघन्यं तदबन्धकाले तु संख्यातभागाधिकजघन्यमिति, प्रत्याख्यानावरणाप्रत्याख्यानावरणचतुष्कयोः स्याद्बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु स्वजघन्यतोऽसंख्येयगुणाधिकम्, तासां जघन्यप्रदेशबन्धस्य भवप्रथमसमय एव भावात्। मिथ्यात्वानन्तानुबन्धिचतुष्कस्त्यानर्द्धित्रिकरूपाणामष्टानां बन्धमेव न करोति। शेषाणामेकत्रिंशद्ध्रुवबन्धिप्रकृतीनां नियमेन बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु स्वजघन्यतोऽसंख्येयगुणाधिकम्, भावना तु सुगमा । तथा स देवद्विकादिजघन्यप्रदेशबन्धको हास्यरतिपुरुषवेदानां सातवेदनीयपञ्चेन्द्रियजातिसमचतुरस्रसंस्थानसुखगतिपराघातोच्छ्वासत्रसदशकोच्चैर्गोत्ररूपाणां सप्तदशानां च नियमेन बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु स्वजघन्यतोऽसंख्येयगुणाधिकमिति। वैक्रियद्विकाहारकद्विकमध्यादेकस्य जघन्यप्रदेशबन्धं कुर्वन् तदितरत्रयाणां देवद्विकजिननामदेवायुषां चेति सप्तानां नियमेन बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु जघन्यमिति, तथा स ज्ञानावरणाद्येकत्रिंशद्ध्रुवबन्धिनीनां हास्यरतिपुरुषवेदानां सातवेदनीयादिसप्तदशानां च नियमेन बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु स्वजघन्यतोऽसंख्येयगुणाधिकमिति । देवायुषो जघन्यप्रदेशबन्धं कुर्वन् स्त्यानर्द्धित्रिकानन्तानुबन्ध्यादिद्वादशकषायस्त्रीपुरुषवेदद्वयमिथ्यात्वरूपाणामष्टादशानां स्याद्बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु स्वजघन्यतोऽसंख्येयगुणाधिकम् । स देवद्विकवैक्रियद्विकयोर्नियमेन बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु जघन्यं स्वजघन्यप्रदेशबन्धतः संख्यातभागाधिकजघन्यं वा करोति, यथाक्रमं जिननाम्न आहारकद्विकजिननाम्नोर्बन्धे जघन्यं तदबन्धे संख्यातभागाधिकं जघन्यमिति। जिननाम्न आहारकद्विकस्य च स्याद्बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु जघन्यमेवेति । ज्ञानावरणाद्येकत्रिंशद्ध्रुवबन्धिप्रकृतीनां हास्यरत्योः सप्तदशानां सातवेदनीयादीनां देवप्रायोग्यशुभप्रकृतीनां स नियमेनासंख्येयगुणाधिकजघन्यप्रदेशबन्धं च करोति । भावना तु सुगमा, स्वामिनमनुसृत्य यथासंभवं स्वयं कार्या चेति । एतच्च मानुषीमार्गणायां प्राचुर्यमधिकृत्य दर्शितम्, कादाचित्कमधिकृत्य मनुष्यौघवदेव प्रस्तुतसन्निकर्षो निरूपणीयः ॥१२५१-१२५५॥

अथ देवौघमार्गणायां परस्थानजघन्यप्रदेशबन्धसन्निकर्षं प्ररूपयन्नाह—

एगस्स हस्सबंधी धुवबंधीओ उ णामवज्जाओ । णियमा सुरे जहण्णं सेसाणं सत्ततीसाए ॥
बंधइ सिआ पणसं दुवेअणीअसगणोकसायाणं । मणुयदुगआयवाणं णीउच्चाणं खलु जहण्णं ॥
णियमा धुवणामउरलपरघाऊसासवायरतिगाणं । लहुमुअ संखंसहिय सिआऽण्णजिणवज्जणामाणं ॥ ३
मायियरदुजुगलणपुमणीआणेव परं ण पडिवक्खा । एमेव सण्णियासो णेयो थीपुरिसवेआणं ॥
णवरं णियमा बंधइ पंचिंदियतसउरालुवगाणं । उज्जोअस्स लहुं चिअ एगिंदियथावरायवाइं णो ॥४
धुवणीअतिरिदुगउरलपरघाऊसासवायरतिगाणं । तिरियाउगलहुबंधी णियमा बंधइ असंखगुणं ॥

बंधेइ असंखगुणं सिआऽण्णबायालतिरियजोग्गाण । मणुयाउगलहुबंधी धुववंधीण गुणचत्ताए ॥
णरउरलदुगपणिंदियतसथाऊसासतसचउक्काणं । णियमा असंखियगुणं सिआऽण्णणरजोगपयडीणं ॥८
मणुयदुगहस्सबंधी णामाण बधए सठाणव्व । णियमा धुववंधीणं अडतीसाए लहुपएसं ॥
बंधइ सिआ जहण्ण दुवेअणीअसगणोकसायाणं । णीउच्चाण एवं उच्चस्स परं ण पडिवक्खं ॥१
एगिंदिथावरायवलहुबंधी बंधए सठाणव्व । णामाण लहुं णियमा धुवबंधिणपुंसणीआणं ॥
बंधेइ लहुपएसं सिआ खलु दुवेअणीअजुगलाणं । जिणलहुबंधी बंधइ सट्ठाणव्व खलु णामाणं ॥
णियमा धुववंधीण तीसाए पुरिसवेअउच्चाणं । बंधेइ असंखगुणं दुवेअणीअजुगलाण सिआ ॥१
सेसाणं णामाण लहुवधी बंधए सठाणव्व । णामाण लहु णियमा बंधइ धुवबंधिणीआणं ॥
बंधइ सिआ जहण्णं दुवेअणीअसगणोकसायाणं । … ॥

॥१२५६ ६९॥ पञ्चमी गीतिः

(प्रे०) "एगस्से"त्यादि, देवौघमार्गणायां तिर्यग्मनुष्यायुर्जिननामानि विहायैकोत्तरशतस्य जघन्यप्रदेशबन्धोऽसंज्ञित आगतस्य भवप्रथमसमयवर्तिन एव भवति, ततस्तासा तमधिकृत्य प्रस्तुतसन्निकर्षो भावनीयः, तद्यथा--ज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरणनवकषोडशकषायभयजुगुप्सामिथ्यात्वान्तरायपञ्चकरूपाभ्योऽष्टात्रिंशत्प्रकृतिभ्य एकस्या जघन्यप्रदेशबन्धकस्तदितरासां सप्तत्रिंशत्प्रकृतीना नियमेन जघन्यप्रदेशबन्धं च करोति, सातासातवेदनीयहास्यरतिशोकारतिस्त्रीपुरुषनपुंसकवेदानां मनुष्यद्विकातपनाम्नां नीचैरुच्चैर्गोत्रयोश्च सप्रतिपक्षत्वादिना स्याद्बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं च जघन्यमेवेति, भावना तु नरकौघवदेव भावनीया । नाम्नो नवध्रुवबन्धिन्यौदारिकशरीरपराघातोच्छ्वासबादरत्रिकाणा मार्गणाप्रायोग्यध्रुवबन्धित्वेन नियमेन बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं त्वासां त्रिंशतं बध्नन् जघन्यं पञ्चविंशतिं षड्विंशतिमेकोनत्रिंशतं च बध्नन् संख्यातभागाधिकं जघन्यम् । शेषाणां जिननामवर्जानां बन्धार्हाणां नामप्रकृतीनां स्याद्बन्ध करोति, सप्रतिपक्षत्वात् , प्रदेशबन्धं तु जघन्यं संख्यातभागाधिकं जघन्यं वा, प्रस्तुतबन्धकस्य नाम्नो नानाबन्धस्थानसंभवात् । ताः शेषप्रकृतयः पुनरेताः–तिर्यग्द्विकैकेन्द्रियपञ्चेन्द्रियजात्यौदारिकाङ्गोपाङ्गसंहननषट्कसंस्थानषट्कखगतिद्वयोद्योतत्रसस्थावरस्थिरषट्कास्थिरषट्कनामानीति चतुस्त्रिंशत् । सातासातवेदनीयहास्यरतिशोकारतिनपुंसकवेदनीचैर्गोत्राणामष्टानां मतिज्ञानावरणवदेव प्रस्तुतसन्निकर्षो विज्ञेयः, केवलमासां सप्रतिपक्षत्वात् प्रतिपक्षप्रकृतीनां बन्धं नैव करोतीति विशेषः । स्त्रीपुरुषवेदयोरप्येवमेव मतिज्ञानावरणवद् सन्निकर्षो विज्ञेयः, किन्त्वत्रायं विशेषोऽयं स्त्रीपुरुषवेदबन्धक एकेन्द्रियप्रायोग्यप्रकृतिं नैव बध्नाति, पर्याप्तपञ्चेन्द्रियप्रायोग्यप्रकृतीनामेव बन्धकत्वात् ,अतः पञ्चेन्द्रियजातिनामौदारिकाङ्गोपाङ्गनामत्रसनाम्नां स नियमाद्बन्धकः, प्रदेशबन्धं तु तद्वदेव जघन्यं संख्यातभागाधिकजघन्यं वा, अत एव स एकेन्द्रियस्थावरातपनाम्ना बन्धं नैव करोति, उद्योतनाम्नः पुनः स्याज्जघन्यप्रदेशबन्धं च करोति। ततः सार्धगाथया तिर्यगायुः प्रधानः प्रस्तुतसन्निकर्षो दर्शितः, तत्र तिर्यगायुर्बन्धकस्य पर्याप्तकत्वेन भवप्रथमसमयगतजघन्ययोगतस्तद्गतजघन्ययोगस्यासंख्येयगुण-

त्वात् तिर्यगायुर्बन्धेन सह बन्धार्हाणां प्रकृतीनां स्वजघन्यप्रदेशबन्धतोऽसंख्येयगुणाधिका एव प्रदेशा बध्यन्ते। तत्र सप्तचत्वारिंशद्ध्रुवबन्धिनीनीचैर्गोत्रतिर्यग्द्विकौदारिकशरीरपराघातोच्छ्वासबादरपर्याप्तप्रत्येकनाम्नां षट्पञ्चाशतो नियमेन बन्धं करोति, कासाञ्चिन्मार्गणागतसर्वजीवानां नियमतो बध्यमानत्वात् , कासाञ्चिन्नीचैर्गोत्रादीनां तिर्यगायुषा सह अवश्यं बन्धात्। अत्र मिथ्यात्वस्य नियतबन्धो प्राचुर्यमधिकृत्य विज्ञेयः, अन्यथा सास्वादनस्यापि तिर्यगायुषो जघन्यप्रदेशबन्धभावेन स्याद्बन्धो विज्ञेयः, अन्यद्वा हेत्वन्तरं मार्गणीयम्। शेषाणां वेदनीयद्वयहास्यादियुगलद्वयवेदत्रयैकेन्द्रियपञ्चेन्द्रियजातिद्वयौदारिकाङ्गोपाङ्गसंहननषट्कसंस्थानषट्कखगतिद्वयातपोद्योतत्रसस्थावरस्थिरषट्काऽस्थिरषट्करूपा द्विचत्वारिंशत्प्रकृतयस्तासां स्याद्बन्धो भवति, सप्रतिपक्षत्वादिना तद्बन्धस्य नैयत्याभावात्। प्रदेशबन्धं त्वासामष्टनवतेः स्वजघन्यतोऽसंख्येयगुणाधिकमेव करोति। ततः सार्धगाथया मनुष्यायुःप्रधानः प्रस्तुतसन्निकर्षो दर्शितः, तत्र मनुष्यायुषो जघन्यप्रदेशबन्धस्याविरतसम्यग्दृष्टीनामपि लाभान्मिथ्यात्वाद्यष्टानां ध्रुवबन्धिनीनां स्याद्बन्धो भवति, शेषैकोनचत्वारिंशद्ध्रुवबन्धिनीनां नियमतो बन्धस्तथा मनुष्यद्विकौदारिकद्विकपञ्चेन्द्रियजातिपराघातोच्छ्वासत्रसचतुष्काणीत्येकादश, तेषां नियमतो बन्धं करोति, पर्याप्तमनुष्यप्रायोग्यबन्धकस्यासामवश्यं बन्धभावात्। शेषाणां मिथ्यात्वाद्यष्ट-वेदनीयद्वयहास्यादियुगलद्वयवेदत्रयगोत्रद्वयसंहननषट्कसंस्थानषट्कखगतिद्वयजिननामस्थिरषट्कास्थिरषट्काणां षट्चत्वारिंशतः स्याद्बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु एकोनचत्वारिंशत एकादशानां षट्चत्वारिंशतश्चेति षण्णवतेः स्वजघन्यतोऽसंख्येयगुणाधिकमेव निर्वर्तयति, भावना तु सुगमा। मनुष्यद्विकोच्चैर्गोत्रैकेन्द्रियस्थावरातपनामजिननामानीति सप्त, तेषां प्रत्येकं प्रधानीकृत्य परस्थानजघन्यप्रदेशबन्धसन्निकर्षो गाथापञ्चकेन दर्शितः, स चौघवद्भावनीयः सुगमप्रायश्चेति। ओघतः स्वामिनां भिन्नत्वेऽपि न सन्निकर्षे कश्चिद्विशेषः। "**सेसाण णामाणं**" इत्यादि, तिर्यग्द्विकपञ्चेन्द्रियजातिनामौदारिकद्विकतैजसकार्मणशरीरसंहननषट्कसंस्थानषट्कखगतिद्वयवर्णचतुष्कागुरुलघुचतुष्कनिर्माणनामोद्योतत्रसदशकास्थिरषट्करूपाणां सप्तचत्वारिंशतः प्रत्येकं परस्थानजघन्यप्रदेशबन्धसन्निकर्षे नाम्नः स्वस्थानवत् सन्निकर्षो विज्ञेयस्तथा स सप्तचत्वारिंशतोऽपि जघन्यप्रदेशबन्धको नामवर्जाष्टात्रिंशद्ध्रुवबन्धिप्रकृतीनां नीचैर्गोत्रस्य च नियमेन बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु तासां जघन्यमेव, तत्र नियमबन्धस्तु प्रस्तुतबन्धकस्य मिथ्यादृष्टित्वात् पञ्चेन्द्रियतिर्यक्प्रायोग्यस्यैव बन्धकत्वाच्च, प्रस्तुतबन्धकस्य नानाविधबन्धस्थानाभावाज्जघन्यप्रदेशबन्ध इति। तथा स वेदनीयद्वयहास्यादियुगलद्वयवेदत्रयरूपाणां नवानां सप्रतिपक्षबन्धसंभवात् स्याद्बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु तासां जघन्यमिति। आसां सप्तचत्वारिंशतः प्रत्येकं प्रधानीकृत्य भावना तु नरकौघवत् कार्या, एवं मनुष्यद्विकजिननामोच्चैर्गोत्राणामपि भावना नरकौघवदपि लभ्यत इति ॥१२५६-१२६६॥

एवं सार्धचतुर्दशगाथया देवौघमार्गणायां सन्निकर्षं निरूप्य गाथार्धेन भवनपतिव्यन्तर-ज्योतिष्कमार्गणात्रयेऽतिदेशेन तं निरूपयन्नाह—

.... । भवणतिगे विण्णेयो सण्णाउग्गाण देवव्व ॥
॥१२७०॥

(प्रे०) "भवणे"त्यादि, भवनपतिव्यन्तरज्योतिष्कमार्गणात्रये स्वप्रायोग्याणां त्र्युत्तरशतस्य प्रत्येकं प्रधानीकृत्य परस्थानजघन्यप्रदेशबन्धसन्निकर्षो देवौघमार्गणावद्विज्ञेयोऽत्र जिननाम्नो बन्धाभावात् तत्प्रधानसन्निकर्षो न वाच्यस्तथा मनुष्यायुःप्रधानेऽपि तद्बन्धो नैव भवति, अतः स्वप्रायोग्यपदस्य ग्रहणं द्रष्टव्यम् । यथा देवौघमार्गणायां जिननामतिर्यग्मनुष्यायुर्द्वयवर्जा-नामेकोत्तरशतस्यासंज्ञिभ्य आगतो जघन्यप्रदेशबन्धस्वामी भवति, न तथा ज्योतिष्कसुरमार्गणा-याम्, तथाऽपि जिननाम्नो बन्धाभावेन सम्यक्त्वेन सहोत्पादाभावेन च भवप्रथमान्तर्मुहूर्ते आद्यगुणस्थानद्वयस्य लाभात् सन्निकर्षे न कश्चिद्विशेषः ॥१२७०॥

अथ सौधर्मेशानदेवलोकमार्गणाद्वये वैक्रियकाययोगे च परस्थानजघन्यप्रदेशबन्धसन्निकर्षं निरूपयन्नाह—

मोहम्मदुगे विउव्वे पणणाणावरणअन्तरायाओ । एगस्स हस्सबंधी णियमाऽण्णेसिं लहुरएसं ॥
बधइ सिआ जहण्णं थीणद्धियतिगदुवेअणीआणं । मिच्छत्ताणचउगथीणपुमजिणायवदुगोअ.णं ॥
णियमा छदसणावरणबारसकसायभयजुगुच्छाण । लहुमुअऽणंतमहियं वंधइ पुमदुजुगलाण सिआ ॥
णियमा धुवणामउरलपरघाऊसासबायरतिगाणं । लहुमुअ संखसहिय मिआऽण्णछत्तीसणामाणं ॥ ४
सायाऽसायाणेव णवरि विरुद्धे ण एवमुच्चस्स । णवरि ण तिरिआयवदुगएगिंदियथावराइं पि ॥
णियमा पणिंदिणरदुगतसुरलुवंगाण संखभागहियं । अतिमसघयणागिइपणगकुखगइदुहगतिगाणं ॥ ६
बीआवरणणवगभयकुच्छासोलसकसायमिच्छाणं । लहुबंधी कुणइ लहु णियमा धुवसत्ततीसाए ॥
हस्सं दुवेअणीअतिवेअदुजुगलायवुच्चणीआणं । वंधइ सिआ पएस संखसहियं णरदुगस्स ॥
णियमा धुवणामउरलपरघाऊसासबायरतिगाणं । लहुमुअ सखंसहियं सिआऽण्णजिणवज्जणामाणं ॥ ९
एवं जुगलदुगणपुमणीआणेमेव पुरिसथीण भवे । परमुज्जोअस्स लहुं एगिंदियथावरायवाइं णो ॥ १०
णरदुगजिणलहुबंधी णामाणं वंधए सठाणव्व । णियमाऽज्जंतुच्चाणं हस्सं सायइयराण सिआ ॥
छदरिसणावरणपुरिसदुवालसकसायभयजुगुच्छाण । णियमाऽणंतसहियं वधइ जुगलाण दोण्ह सिआ ॥
धुवनासुरलदुगवइरसुखगइआगिइपणिंदियाण तहा । परघाऊसासगतसदसगाथिरअसुहअजसाणं ॥
लहुवंधी णामाणं वंधइ सट्ठाणगव्व सेसाणं । णाणावरणव्व कुणइ सुरव्व सेसाण पयडीणं ॥
॥१२७१-१२८४॥ (दशमी गीति)

(प्रे०) "**सोहम्मे**"त्यादि, सौधर्मेशानदेवलोकद्वये वैक्रियकाययोगे च जघन्ययोगस्थानं सम्यग्दर्शी मिथ्यादर्शी च भवति । ततो ज्ञानावरणपञ्चकान्तरायपञ्चकवेदनीयद्वयोच्चैर्गोत्रपञ्चे-न्द्रियजातिनामौदारिकद्विकनामनवध्रुवबन्धिवज्रर्षभनाराचसंहननसमचतुरस्रसंस्थानसुखगतिपरा-घातोच्छ्वासत्रसदशकास्थिराशुभायशःकीर्तिनामानीति त्रिचत्वारिंशत्प्रकृतयो मनुष्यायुश्च, तासां

जघन्यप्रदेशबन्धः सम्यग्दृष्टिमिथ्यादृष्ट्युभयोर्भवति, अत एतदवधार्य तासां प्रस्तुतसन्निकर्षो निरूपणीयः । तद्यथा—ज्ञानावरणान्तरायपञ्चकरूपदशानामेकस्य जघन्यप्रदेशबन्धकस्तदितरेषा नवानां कर्मणां नियमेन जघन्यप्रदेशं च बध्नाति । स्त्यानर्द्धित्रिकानन्तानुबन्धिचतुष्कमिथ्यात्वानां तथा सातासातवेदनीयस्त्रीवेदनपुंसकवेदजिननामातपनामगोत्रद्वयानां स्याज्जघन्यप्रदेशबन्धं च करोति, तत्र स्याद्बन्धस्तु सुगमः, जघन्यप्रदेशबन्धस्त्वासां नानाविधबन्धस्थानाभावात् सर्वाधिकबन्धस्थानस्यैव भावाद्वा, जिननाम्नस्त्रिंशद्बन्धस्थान एवा-ऽऽतपनाम्नः षड्विंशतिबन्धस्थान एव बन्धभावेन नानाबन्धस्थान आसां बन्धाभावादिति । दर्शनावरणषट्काप्रत्याख्यानावरणादि-द्वादशकषायभयजुगुप्सानां विंशतेर्नियमेन बन्धं करोति, ध्रुवबन्धित्वात् , प्रदेशबन्धं तु तासां यदि प्रस्तुतबन्धकः प्रथमगुणस्थाने भवति, तदा जघन्यम् , यदि पुनः चतुर्थगुणस्थाने भवति तदाऽनन्त-भागाधिकं जघन्यं करोति, स्त्यानर्द्धित्रिकमिथ्यात्वानन्तानुबन्धिनां बन्धाभावेन तत्सत्कदलिकानां यथासंभवं लाभात् । पुरुषवेदहास्यादियुगलद्वयोः स्याद्बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु जघन्यमनन्तभागाधिकं जघन्यं वेति । नाम्नो नवध्रुवबन्धिन्यौदारिकशरीरपराघातोच्छ्वासबादरत्रिकरूपाणां पञ्चदशानां नियमेन बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु त्रिंशतं बध्नन् जघन्यम् एकोनत्रिंशदादिबन्धकस्तु संख्यातभागाधिकं जघन्यमिति । शेषाणां नाम्नां तिर्यग्द्विकमनुष्यद्विकैकेन्द्रियपञ्चेन्द्रिय-जातिनामौदारिकाङ्गोपाङ्गसंहननषट्कसंस्थानषट्कखगतिद्वयोद्योतत्रसस्थिरषट्कस्थावरास्थिरषट्क-रूपाणां षट्त्रिंशत्प्रकृतीनां सप्रतिपक्षाणां स्याज्जघन्यं संख्यातभागाधिकं जघन्यं वा प्रदेशं बध्नाति । यथा ज्ञानावरणप्रधानसन्निकर्षो दर्शितस्तथैव सातासातवेदनीयद्वयस्यापि सन्निकर्षो द्रष्टव्यः, केवलं प्रतिपक्षप्रकृतिं नैव बध्नातीति विशेषः । एवं किञ्चिन्न्यूनसार्धगाथाचतुष्केण ज्ञानावरणादि-दशप्रकृतीनां वेदनीयद्वयस्य च सन्निकर्षं निरूप्य सातिरेकसार्धगाथयोच्चैर्गोत्रप्रधानं सापवादा-तिदेशेन दर्शयति-'**एवमुच्चस्से**'त्यादि, उच्चैर्गोत्रप्रधानसन्निकर्षो मतिज्ञानावरणप्रधानसन्निकर्ष-वद्विज्ञेयः, केवलं प्रस्तुतबन्धकस्य मनुष्यप्रायोग्यस्यैव बन्धकत्वेन नामप्रकृतिष्वेव विशेषः, तद्यथा-उच्चैर्गोत्रजघन्यप्रदेशबन्धकस्तिर्यग्द्विकातपोद्योतैकेन्द्रियस्थावरनामानि नैव बध्नाति, तथा पञ्चे-न्द्रियजातिमनुष्यद्विकत्रसनामौदारिकाङ्गोपाङ्गनाम्नां पञ्चानां नियमेन बन्धं करोति, आसां पञ्चानां प्रदेशबन्धं तु तद्वदेव, तद्यथा—जघन्यप्रदेशबन्धं जिनानामसहितां त्रिंशतं बध्नन् करोति, जिननामरहितामेकोनत्रिंशतं बध्नन् तु संख्यातभागाधिकं जघन्यं करोति । तथा स द्वितीयादि-संहननपञ्चकद्वितीयादिसंस्थानपञ्चककुखगतिदुर्भगत्रिकाणां चतुर्दशानां तद्वत् स्याद्बन्धं करोति, प्रदेशबन्धस्त्वासां तिर्यक्प्रायोग्यं त्रिंशतं बध्नतां जघन्यो भवति, प्रस्तुतबन्धकस्य तु तिर्यक्प्रायोग्यबन्धस्यैवाभावादत्र मिथ्यादृष्टीनां मनुष्यप्रायोग्यैकोनत्रिंशद्बन्धस्थानस्यैव भावाच्च आसां स्वजघन्यतः संख्यातभागाधिकमेव प्रदेशबन्धं स करोति, तथा नीचैर्गोत्रस्य बन्धो नैव भव-

तीति तु सुगमम् । शेषस्तु मतिज्ञानावरणप्रधानसन्निकर्षवद्विभावनीयः । अथ गाथात्रयेण दर्शनावरणनवकादिप्रधानं तं निरूपयति–'वीआवरणे' इत्यादि, दर्शनावरणनवकभयजुगुप्सापञ्चदशकषायमिथ्यात्वरूपाष्टाविंशतिप्रकृतिभ्य एकस्या जघन्यप्रदेशं बध्नन् शेषाणां सप्तविंशतेर्ज्ञानावरणपञ्चकस्यान्तरायपञ्चकस्य चेति सप्तत्रिंशद्ध्रुवबन्धिप्रकृतीनां नियमेन जघन्यप्रदेशबन्धं च करोति । वेदनीयद्वयवेदत्रयहास्यादियुगलद्वयातपोच्चैर्नीचैर्गोत्राणां द्वादशानां स्याज्जघन्यप्रदेशबन्धं च करोति, मनुष्यद्विकस्य स्यात् संख्यातभागाधिकजघन्यप्रदेशबन्धं च करोति, अत्र सम्यग्दृष्टीनां जिननामसहितां त्रिंशतं बध्नतामेव मनुष्यद्विकस्य जघन्यप्रदेशबन्धो भवति, प्रस्तुतबन्धकस्तु मिथ्यादृष्टिस्त स मनुष्यद्विकं बध्नन् मनुष्यप्रायोग्यामेकोनत्रिंशतं बध्नाति, तस्माद् मनुष्यद्विकस्य संख्यातभागाधिकं जघन्यप्रदेशबन्धं करोतीति विज्ञेयम् । नाम्नो नवध्रुवबन्धिन्यौदारिकशरीरपञ्चावातोच्छ्वासबादरपर्याप्तप्रत्येकनाम्नां पञ्चदशानां नियमेन बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु जघन्यं संख्यातभागाधिकं जघन्यं वा । शेषाणां जिननामवर्जानां नाम्नां तिर्यग्द्विकैकेन्द्रियपञ्चेन्द्रियजातिनामौदारिकाङ्गोपाङ्गसंहननषट्कसंस्थानषट्कखगतिद्वयोद्योतत्रसस्थावरस्थिरषट्कास्थिरषट्करूपाणां चतुस्त्रिंशत्प्रकृतीनां स्याद्बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु जघन्यं संख्यातभागाधिकं जघन्यं वा करोति । एवं दर्शनावरणनवकादिप्रधानसन्निकर्षवदेव हास्यरतिशोकरतिनपुंसकवेदनीचैर्गोत्राणां सन्निकर्षो विज्ञेयः, तद्वदासां जघन्यप्रदेशबन्धस्य प्रथमगुणस्थान एव भावात् , केवलं सप्रतिपक्षत्वेनासां प्रतिपक्षप्रकृतीनां बन्धो न भवतीति विशेषः । एवमेव पुरुषवेदस्त्रीवेदप्रधानसन्निकर्षोऽपि विज्ञेयः । केवलं स्त्रीपुरुषवेदद्वयबन्धकस्यैकेन्द्रियप्रायोग्यबन्धाभावादेकेन्द्रियस्थावरातपनामानि स नैव बध्नाति । अत एवोद्योतनाम्नः केवलं त्रिंशद्बन्धस्थान एव बन्धभावाज्जघन्यप्रदेशबन्धमेव करोति, न तु संख्यातभागाधिकमपीति । ननु ज्ञानावरणप्रधानसन्निकर्षनिरूपणेन ज्ञायते यत्सम्यग्दृष्टीनां मिथ्यादृष्टीनां च जघन्ययोगस्थानलाभः, तद्वदेव सास्वादनसम्यग्दृशां भवप्रथमसमयवर्त्तिनामपि जघन्ययोगस्थानलाभः संभवत्येव तथा सति स्त्यानर्द्धित्रिकादीनां जघन्यप्रदेशबन्धे मिथ्यात्वस्य स्याद्बन्धः प्ररूपयितव्यः कषायादीनां जघन्यस्तदितरश्चेति द्विविधप्रदेशबन्धोऽपि वक्तव्यः, न च तथोक्तम्, किमत्र कारणमिति चेद् , उच्यते, सास्वादनानां जघन्ययोगस्थानाभावो यद्वा सास्वादनानां विवक्षैव वा नाधिकृता, यद्वाऽभिप्रायान्तरं वा तदेतद् बहुश्रुतगम्यम् । प्रस्तुतमार्गणात्रये मनुष्यद्विकजिननामरूपप्रकृतित्रयस्य जघन्यप्रदेशबन्धो भव-मार्गणा-प्रथमसमयवर्त्तिसम्यग्दृष्टीनामेव भवति, तत्प्रधानसन्निकर्षे च नाम्नां स्वस्थानसन्निकर्षवत् सन्निकर्षो वाच्यः, तद्यथा–बन्धार्हाणां त्रयस्त्रिंशन्नाम्नां जघन्यमेव प्रदेशबन्धं करोति, स्थिरादियुगलत्रयस्य स्याद्बन्धं शेषाणां सप्तविंशतेर्नियमतो बन्धं करोति, भावना तु सुगमा । ज्ञानावरणान्तरायपञ्चकयोरुच्चैर्गोत्रस्य च नियमेन बन्धं करोति,

सातासातवेदनीययोस्तु स्याद्बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु त्रयोदशानामपि जघन्यमिति । दर्शनावरणषट्कपुरुषवेदाप्रत्याख्यानावरणादिद्वादशकषायभयजुगुप्सानां नियमेन बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु स्वजघन्यतोऽनन्तभागाधिकमासां जघन्यप्रदेशबन्धस्य प्रथमगुणस्थाने भावात् , हास्यादियुगलद्वयस्य स्याद्बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु स्वजघन्यतोऽनन्तभागाधिकमिति ।

अत्र दर्शनावरणषट्कपुरुषवेदाप्रत्याख्यानावरणादिद्वादशकषायभयजुगुप्साहास्यादियुगलद्वयानां स्वजघन्यप्रदेशबन्धतोऽनन्तभागाधिकप्रदेशबन्धो दर्शितः स त्वेवमवसेयः—प्रथमचतुर्थगुणस्थानद्वये जघन्ययोगस्य समानत्वेऽपि मूलप्रकृतीनां बन्धस्य च तौल्यत्वेऽपि दर्शनावरणमोहनीययोः स्वोत्तरप्रकृतीनां प्रथमगुणस्थानतश्चतुर्थगुणस्थानके न्यूनत्वाज्जघन्यप्रदेशबन्धे प्रकृतिबन्धाधिक्यस्य हेतुत्वाच्च चतुर्थगुणस्थाने न तासां जघन्यप्रदेशबन्धो भवति । तथा बध्यमानसर्वघातिप्रकृतीनां बन्धविच्छेदे तत्सत्कानन्तबहुभागद्रव्याणि बध्यमानदेशघातिप्रकृतौ प्राप्यन्ते, तानि च देशघातिप्रकृतिसत्कलब्धभागापेक्षयानन्ततमभागमात्राण्येवातो देशघातिप्रकृतावनन्तभागमात्रवृद्धिः, सर्वघातिप्रकृतौ त्वनन्तभागमात्राण्येव विच्छिद्यमानसर्वघातिप्रकृतीनां दलिकानि लभ्यन्तेऽतस्तत्राप्यनन्तभागाधिकत्वमेव, अत आसां चतुर्थगुणस्थाने बन्धाऽर्हाणां दर्शनावरणमोहनीयप्रकृतीनां जघन्यप्रदेशबन्धतोऽनन्तभागाधिकप्रदेशबन्ध एव दर्शितः, एवमुत्तरत्रापि यत्रानन्तभागाधिकजघन्यप्रदेशबन्धो दर्श्यते तत्रैतदनुसारेण भावनीय इति ।

अथ सम्यग्दृष्टिमिथ्यादृष्ट्युभयस्वामिकानां जघन्यप्रदेशबन्धानां नाम्नां प्रत्येकं प्रधानीकृत्य प्रस्तुतपरस्थानजघन्यप्रदेशबन्धसन्निकर्षो **"धुवनामु"** इत्यादिपादोनगाथाद्वयेन निरूपितः, तद्यथा—नवनामध्रुवबन्धिन्यौदारिकद्विकवज्रर्षभनाराचसंहननसमचतुरस्रसंस्थानसुखगतिपञ्चेन्द्रियजातिपराघातोच्छ्वासत्रसदशकाऽस्थिराशुभायशःकीर्तिनाम्नां त्रिंशत्प्रकृतीनां प्रत्येकं प्रधानीकृत्य जघन्यप्रदेशबन्धसन्निकर्षे नाम्नः स्वस्थानसन्निकर्षवत्सन्निकर्षो विज्ञेयः, तथा नामेतरासां यथा मतिज्ञानावरणप्रधानसन्निकर्षे स्यान्नियतबन्धादिकं जघन्यप्रदेशबन्धादिकं च निरूपितं तथैवात्रापि द्रष्टव्यम् , शेषाणां बन्धप्रायोग्याणां नाम्नां प्रस्तुतसन्निकर्षो देवौघमार्गणावद्विज्ञेयः, आयुर्द्वयवर्जानामुभयत्र भवप्रथमसमयवर्त्तिमिथ्यादृष्टेर्मार्गणाप्रथमसमयगतमिथ्यादृष्टेर्वा आसां जघन्यप्रदेशबन्धस्वामिकत्वात् , एकेन्द्रियस्थावरातपानाम्नां षड्विंशतौ, शेषाणां तिर्यक्पञ्चेन्द्रियप्रायोग्यत्रिंशद्बन्ध एवोभयत्र जघन्यप्रदेशबन्धलाभाच्च । शेषाः प्रकृतयः पुनरिमाः—तिर्यग्मनुष्यायुषी तिर्यग्द्विकैकेन्द्रियजातिद्वितीयादिसंहननपञ्चकद्वितीयादिसंस्थानपञ्चककुखगतिनामातपोद्योतस्थावरदुर्भगत्रिकनामानि चेति द्वाविंशतिः ॥१२७१-१२८४॥

अथ सानत्कुमारादिमार्गणाषट्के परस्थानजघन्यप्रदेशबन्धसन्निकर्षं निरूपयन्नाह—

छसणकुमराईसुं पणणाणावरणअंतरायाओ । एगस्स हस्सबंधी णियमाऽण्णेसिं णवण्ह लहुं ॥
बंधइ सिआ जहण्ण थीणद्धियतिगदुवेअणीआणं । मिच्छत्ताणणपुमथीजिणउज्जोअच्चणीआणं ।
णियमा छदसणावरणवारसकसायभयजुगुच्छाणं । लहुमुअऽणंतंसहियं बंधइ पुमदुजुगलाण सिआ ॥
णियमुरलदुगपणिंदियपरघाऊसासतसचउक्काणं । धुवणामाण लहु उअ संखंसहिय सिआऽण्णणामाण ॥ ४
सायासायाणेवं णवरं बंधइ ण चेव पडिपक्खं । एमेवुच्चस्स णवरि बंधइ णियमा णरदुगस्स ॥
तिरियदुगुज्जोआ उण ण चेव बंधेइ भवभागहिय । अतिमसंघयणागिइप्पणगकुखगइदुहगतिगाणं ॥
बीआवरणणवगभयकुच्छासोलसकसायमिच्छाण । लहुबंधी कुणइ लहुं णियमा धुवसत्ततीसाए ॥
लहुमुज्जोअपुमणपुमथीदुजुगलवेअणीअगोआणं । बंधइ सिआ पएसं संखसहियं णरदुगस्स ॥
णियमा पणिंदिधवुरलदुगपरघूसासतसचउक्काणं । लहुमुअ संखसहिय सिआऽण्णजिणवज्जणामाणं ॥
एमेव सण्णियासो निवेअजुगलदुगणीअगोआणं । जाणेयव्वो णवरं ण चेव बंधेइ पडिवक्खा ॥
णरदुगजिणलहुबंधी णामाणं बंधए सठाणव्व । णियमाऽज्जंतुच्चाणं हस्सं सायइयराण सिआ ॥
छदरिसणावरणपुरिमदुवालसकसायभयजुगुच्छाणं । णियमाऽणतसहिय बंधइ जुगलाण दोण्ह सिआ ॥
धुवणामुरलदुगवइरसुखगइआगिइपणिंदियाण तहा । परघाऊसासगतसदसगाथिरअसुहअजसाणं ॥
लहुबंधी णामाणं बंधइ सट्ठाण व्व सेसाणं । णाणावरणव्व कुणइ णियमव्व हवेज्ज सेसाणं ॥
चतुर्थी गीतिः ॥१२८५-१२९८॥

(प्रे०) 'छसणकुमराईसु' इत्यादि, सनत्कुमारादिसहस्रारान्तषट्देवलोकमार्गणाभेदेषु ज्ञानावरणपञ्चकान्तरायपञ्चकवेदनीयद्वयरूपद्वादशानां परस्थानजघन्यप्रदेशबन्धसन्निकर्षः सौधर्मदेवमार्गणावद्विज्ञेयः, विशेषस्त्वयं—(१) एकेन्द्रियस्थावरातपनाम्नां बन्धाभावात्तस्य सन्निकर्षो न वाच्यः (२) अत एव चात्रोद्योतनाम्नः केवलं त्रिंशद्बन्धस्थान एव बन्धभावात्तस्य ज्ञानावरणादिप्रधाने जघन्यप्रदेशबन्ध एव भवति (३) तथा प्रस्तुतमार्गणागतानां पञ्चेन्द्रियतिर्यग्मनुष्यप्रायोग्यस्यैव बन्धकत्वात् पञ्चेन्द्रियजातिनामौदारिकाङ्गोपाङ्गत्रसनामलक्षणप्रकृतित्रयस्य नियमेन बन्धो भवति। अत्र ज्ञानावरणादिप्रधानसन्निकर्षे चतुर्थगाथासूचितशेषनामप्रकृतयस्त्रिंशदेव बोध्याः। ताश्चेमाः—तिर्यग्मनुष्यद्विकखगतिद्विकसंहननषट्कसंस्थानषट्कस्थिरषट्कास्थिरषट्कानि चेति। तत "एमेवुच्चस्से" त्यादि, सार्धगाथयोच्चैर्गोत्रप्रधानसन्निकर्षो दर्शितः, स च मतिज्ञानावरणप्रधानसन्निकर्षवदेव भवति, केवलं प्रतिपक्षत्वेन नीचैर्गोत्रस्य बन्धं न निर्वर्तयति, तथा तिर्यग्द्विकोद्योतनाम्नोऽपि बन्धं न करोति, अत एव च मनुष्यद्विकस्य नियमेन बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु तद्वदेव द्विविधं करोति, तथा द्वितीयादिसंहननपञ्चकद्वितीयादिसंस्थानपञ्चककुखगतिदुर्भगत्रिकरूपाणां चतुर्दशानां तद्वत्स्याद्बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु स्वजघन्यतः संख्यातभागाधिकं करोति, भावना त्वनन्तरदर्शितसौधर्मदेवलोकवत् कार्या सुगमा चेति। ततो दर्शनावरणनवकभयजुगुप्साषोडशकषायमिथ्यात्वहास्यादियुगलद्वयवेदत्रयनीचैर्गोत्राणां षट्त्रिंशतः प्रत्येकं प्रधानीकृत्य प्रस्तुतसन्निकर्षो गाथाचतुष्केण दर्शितः, स च सौधर्मदेववद्विज्ञेयः,

अत्रापि विशेषत्रयं पूर्ववदेव विज्ञेयम् , गाथार्थस्तद्भावना च सुगमा । मनुष्यद्विकं जिननाम चेति प्रकृतित्रयं प्रधानीकृत्य प्रस्तुतसन्निकर्षो गाथाद्वयेन दर्शितः, स च निरवशेषो निरपवादः सौधर्मदेववद्भावनीयः। ततो भुवनामादित्रिंशन्नामप्रकृतीनां स प्रत्येकं प्रधानीकृत्य पादोनगाथाद्वयेन दर्शितः। सोऽपि सौधर्मदेववदेव भावनीयस्तद्वदेव प्रस्तुतेऽपि तासां सन्निकर्षस्य लाभाद् , विशेषत्रयं तु "नाम्नां नरस्थानवत्" इत्यनेनैव गतार्थं भवति। ततः "णिरयव्व हवेज्ज सेसाणं" इति गाथाचरमपादेन शेषाणामेकोनविंशतेर्नरकौघमार्गणावत्प्रस्तुतसन्निकर्षो विज्ञेयोऽत्रैकेन्द्रियस्थावरातपनाम्नां बन्धाभावात् सौधर्मादिमार्गणात्रयवन्न देवौघेऽतिदेशः, नरकौघे त्वसंज्ञिनां जघन्यप्रदेशबन्धस्वामित्वेन प्रस्तुते तु तदसंभवेऽपि शेषाणां सम्यग्दृष्टिमिथ्यादृष्ट्यादिना भवप्रथमसमयवर्तिजघन्ययोगस्थानगतादिना प्रकृतिबन्धस्थानादिना च तुल्यत्वान्न सन्निकर्षकृतः कश्चिद्विशेषः। शेषाः प्रकृतयः पुनरिमाः-तिर्यग्द्विकद्वितीयादिसंहननपञ्चकद्वितीयादिसंस्थानपञ्चककुखगतिनामोद्योतदुर्भगत्रिकाणां सप्तदशानां भवप्रथमसमयस्थितानां नाम्नस्तिर्यक्पञ्चेन्द्रियप्रायोग्यं त्रिंशत्बन्धस्थानं बध्नतामुभयत्र जघन्यप्रदेशबन्धभावात् । तथा तिर्यग्मनुष्यायुषी शेषप्रकृतितया गृहीता इति तत्प्रधानसन्निकर्षोऽपि नरकवदेव भावनीयः ॥१२८५-९८॥

अथा-ऽऽनतादित्रयोदशदेवमार्गणासु प्रस्तुतसन्निकर्षं निरूपयन्नाह—

तेराणयाइगेसुं पणणाणावरणअंतरायाओ । एगस्स हस्सबंधी णियमाऽण्णेसिं णवण्ह लहु ॥
णियमा छदंसणावरणबारसकसायभयजुगुच्छाणं । लहुमुअऽणंतंमहियं बंधइ पुमदुजुगलाण सिआ ॥
थीणद्धितिगणपुमथीमिच्छाणदुवेअणीअगोआणं । पणसंघयणागिइजिणकुखगइदुहगतिगणामाणं ॥
बंधइ सिआ पएसं जहण्णगं णरउरालियदुगाणं । धुवणामपणिंदियपरघाऊसासतसचउगाणं ॥
णियमा बंधइ लहुमुअ संखंसहिय सिआऽण्णणामाणं। सायासायुच्चाणं एवं णवरि ण उ पडिवक्खं ॥ ५
बीआवरणणवगभयकुच्छासोलसकसायमिच्छाण । लहुबंधी कुणइ लहुं णियमा धुवसत्ततीसाए ॥
बंधइ सिआ जहण्ण दुवेअणीअसगणोकसायाणं । पणसंघयणागिइकुखगइदुहगतिगुच्चणीआणं ॥
णरउरलदुगधुवपरघाऊसासपणिंदितसचउक्काणं । णियमा संखंसहियं सिआऽण्णजिणाबज्जणामाणं ॥ ८
एमेव सण्णियासो तिवेअजुगलदुगणीअगोआणं । जाणेयव्वो णवरं ण चेव बंधेइ पडिवक्खा ॥ ९
मणुयाउगलहुबंधी धुवगुणचत्ताअ णरदुगाईणं । एगारसण्ह णियमा असंखियगुणं सिआऽण्णेसिं ॥
णरउरलदुगपणिंदिसुआगिइखगइधुवणामवइराणं । जिणपरघूसासगतसदसगाथिरअसुहअजसाणं ॥ ११
लहुबंधी णामाणं पयडीणं बंधए सठाणव्व । णियमाऽज्जंतुच्चाणं हस्सं सायाइयराण सिआ ॥
छदरिसणावरणपुरिसदुवालसकसायभयजुगुच्छाणं । णियमाऽणंतंमहियं बंधइ जुगलाण दोण्ह सिआ ॥ १३
सेसाणं णामाणं लहुबंधी बंधए सठाणव्व । णामाणं पयडीणं थीणद्धितिगव्व सेसाणं ॥
॥१२९९-१३१२॥

(प्रे०) "तेर" इत्यादि, आनतादिनवमग्रैवेयकान्तत्रयोदशमार्गणासु ज्ञानावरणपञ्चकान्तरायपञ्चकयोरेकप्रकृतेर्जघन्यप्रदेशबन्धकः शेषाणां नवानां नियमेन जघन्यप्रदेशबन्धं च करोति, दर्शन [illegible] यभयजुगुप्सारूपाणां विंशतेर्नियमेन बन्धं करोति,

प्रदेशबन्धं तु जघन्यमनन्तभागाधिकं जघन्यं वा करोति, पुरुषवेदस्य हास्यादियुगलद्वयस्य च स्याद्बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु जघन्यमनन्तभागाधिकं जघन्यं वा । स्त्यानर्द्धित्रिकनपुंसकवेदस्त्रीवेदमिथ्यात्वानन्तानुबन्धिचतुष्कवेदनीयद्वयगोत्रद्वयानां तथा द्वितीयादिसंहननपञ्चकद्वितीयादिसंस्थानपञ्चककुखगतिदुर्भगत्रिकजिननाम्नां स्याद्बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु जघन्यमेव, अत्र नामेतरासां भावना सौधर्मदेवमार्गणावत्कार्या, पञ्चदशानां नाम्नां त्वेकैकबन्धस्थानके बन्धभावेन न प्रदेशबन्धवृद्धिसंभवः, तत्र द्वितीयादिसंहननपञ्चकादिचतुर्दशानामेकोनत्रिंशता जिननाम्नस्त्रिंशता सहैव बन्धो भवति । मनुष्यद्विकौदारिकद्विकतैजसकार्मणवर्णचतुष्कागुरुलघूपघातनिर्माणपञ्चेन्द्रियजातिपराघातोच्छ्वासत्रसचतुष्करूपाणां विंशतेर्मार्गणाप्रायोग्यध्रुवबन्धिनीनां नियमेन बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु स यदा त्रिंशतं बध्नाति तदा जघन्यम् , यदा त्वेकोनत्रिंशतं तदा संख्यातभागाधिकं जघन्यमिति । वज्रर्षभनाराचसंहननसमचतुरस्रसुखगतिसुभगत्रिकस्थिरास्थिरशुभाशुभयशःकीर्त्ययशःकीर्तिनामानि, तासां द्वादशानां सप्रतिपक्षाणां स स्याद्बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु जघन्यं संख्यातभागाधिकं जघन्यं वा । एवमेव सातासातवेदनीययोरुच्चैर्गोत्रस्य च प्रधानीकृत्य प्रस्तुतसन्निकर्षोऽपि विज्ञेयः, केवलं प्रतिपक्षप्रकृतिं तु नैव बध्नातीति विशेषः । दर्शनावरणनवकभयजुगुप्साषोडशकषायमिथ्यात्वरूपाणामष्टाविंशतेरेकस्या जघन्यप्रदेशबन्धकस्तदितरासां सप्तविंशतेर्ज्ञानावरणपञ्चकान्तरायपञ्चकयोश्चेति सप्तत्रिंशत्प्रकृतीनां नियमेन बन्धं करोति प्रदेशबन्धं तु जघन्यमेव । सातासातवेदनीयहास्यादियुगलद्वयवेदत्रयद्वितीयादिपञ्चसंहननद्वितीयादिपञ्चसंस्थानकुखगतिदुर्भगत्रिकोच्चैर्गोत्रनीचैर्गोत्ररूपाणां पञ्चविंशतेः स्याद्बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु जघन्यमेव, प्रस्तुतबन्धकस्य प्रथमगुणस्थानवर्तित्वात् तत्र आसामेकैकनियतबन्धस्थान एव बन्धभावात् । मनुष्यद्विकौदारिकद्विकनवनामध्रुवबन्धिनीपराघातोच्छ्वासपञ्चेन्द्रियजातित्रसचतुष्करूपाणां विंशतेः प्रकृतीनां नियमेन बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु संख्यातभागाधिकं जघन्यं करोति । आसां जघन्यप्रदेशबन्धस्य सम्यग्दृशामेव भावात् प्रस्तुतबन्धकस्य च मिथ्यादृष्टित्वान्न तत्संभवः । आद्यसंहननादिद्वादशानां जिननामरहितानां सप्रतिपक्षत्वेन स्याद्बन्धं निर्वर्तयति, प्रदेशबन्धं तु नियमतः संख्यातभागाधिकजघन्यं करोति, आसां जघन्यप्रदेशबन्धं त्रिंशद्बध्नन्नेव करोति, स च सम्यग्दृष्टिरेव, प्रस्तुतमार्गणासु नाम्नस्त्रिंशद्बन्धस्थानस्य जिननामसहितस्यैव भावान्मिथ्यादृष्टीनामेकोनत्रिंशद्बन्धस्थानस्यैव सद्भावाच्च,संख्यातभागाधिकजघन्यप्रदेशबन्धकत्वमिति । यथा स्त्यानर्द्धित्रिकप्रधानसन्निकर्षो दर्शितस्तथैव हास्यादियुगलद्वयवेदत्रयनीचैर्गोत्ररूपाणामष्टानां प्रत्येकं प्रधानीकृत्य प्रस्तुतसन्निकर्षो विज्ञेयः, केवलं प्रधानीकृतप्रकृतेः प्रतिपक्षप्रकृतीर्नैव बध्नातीति विशेषः, मनुष्यायुःप्रधानसन्निकर्षो नरकौघवद्भवति । स तु **"मणुयाउगलहुबंधो"** इत्यादिगाथाभ्यां दर्शितः, भावना तु सविशेषा स्वयं कार्या सुगमप्राया चेति । मनुष्यद्विकौदारिकद्विकपञ्चेन्द्रियजातिसुखगतिसमचतुरस्रसंस्थाननवनामध्रुवबन्धिनीवज्र-

र्षभनाराचसंहननपराघातोच्छ्वासत्रसदशकास्थिराशुभायशःकीर्तिनामजिननामरूपाणां त्रयस्त्रिंशत्प्रकृतीनां प्रत्येकं प्रधानीकृत्य प्रस्तुतसन्निकर्षे भण्यमाने तया सह वध्यमाननाम्नां स्वस्थानसन्निकर्षवत् प्रस्तुतसन्निकर्षो बोद्धव्यः। नामेतरासां पुनरेवम्—ज्ञानावरणपञ्चकान्तरायपञ्चकोच्चैर्गोत्राणां नियमेन बन्धं करोति, दशानां ध्रुवबन्धित्वात्, प्रस्तुतबन्धकस्य नियमतः सम्यग्दृष्टित्वेनोच्चैर्गोत्रस्यापि ध्रुवबन्धिकल्पत्वात्। प्रदेशबन्धं त्वासामेकादशानां जघन्यमेव करोति, जघन्यप्रदेशबन्धस्वामिनामैक्यात्। सातासातयोः स स्याद्बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु जघन्यमिति। दर्शनावरणषट्कपुरुषवेदाप्रत्याख्यानावरणादिद्वादशकषायभयजुगुप्सानामेकविंशतेर्नियमेन बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं त्वनन्तभागाधिकं जघन्यं करोति, आसां जघन्यप्रदेशबन्धस्याधस्तनगुणस्थान एव भावात्, हास्यादियुगलद्वयस्य स्याद्बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु तयोः स्वजघन्यतोऽनन्तभागाधिकं करोति, भावना तु प्रागवत्कार्या। "**सेसाणं**" इत्यादि, द्वितीयादिपञ्चसंहननद्वितीयादिपञ्चसंस्थानकुखगतिदुर्भगत्रिकनाम्नां चतुर्दशानां प्रत्येकं प्रधानीकृत्य प्रस्तुतपरस्थानजघन्यप्रदेशबन्धसन्निकर्षे भण्यमाने तया सह बन्धप्रायोग्याणां नाम्नां स्वस्थानसन्निकर्षवत् प्रस्तुतसन्निकर्षो विज्ञेयः। तथा स्त्यानर्द्धित्रिकप्रधानसन्निकर्षे नामभिन्नप्रकृतीनां यथा सन्निकर्षः प्ररूपितस्तथा प्रस्तुतेऽपि, उभयत्र मिथ्यादृष्टीनां जघन्यप्रदेशबन्धस्वामित्वात्। सास्वादनमधिकृत्यात्राऽभणनादन्यथा तु तदपेक्षया यो विशेषः प्राप्यते, स श्रुतानुसारेण वक्तव्य इति ॥१२९९-१३१२॥

अथानुत्तरमार्गणापञ्चके परस्थानजघन्यप्रदेशबन्धसन्निकर्षं निरूपयन्नाह—

णामूणधुवपुमुच्चा एगस्स अणुत्तरेसु लहुबंधी। णियमाऽण्णाण लहुं जिणदुवेअणीअजुगलाण सिआ॥
तिथिराइगजुगलाणं सिआ लहुं अहव संखभागहियं। णियमा नामियरेसिं दुवेअणीअजुगलाणेवं॥
बारससायाईणं जिणस्स य सिआ णराउलहुबंधी। बंधेइ असंखगुणं णियमाऽण्णाण अडवण्णाए॥
सव्वेसिं णामाणं लहुबंधी बंधए सठाणव्व। णामाणं पयडीणं णाणावरणव्व सेसाणं॥
॥१३१३-१३१६॥

(प्रे०) "णामूणे" त्यादि, पञ्चानुत्तरसुरमार्गणासु नामविरहितानां ज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरणषट्काप्रत्याख्यानावरणादिद्वादशकषायभयजुगुप्सान्तरायपञ्चकपुरुषवेदोच्चैर्गोत्ररूपाणां द्वात्रिंशत्प्रकृतीनां प्रस्तुतसन्निकर्षे तदन्यैकत्रिंशतो नियमेन जघन्यप्रदेशबन्धं च करोति। वेदनीयद्वयहास्यादियुगलद्वयलक्षणषण्णां जिननाम्नश्च स्याज्जघन्यप्रदेशबन्धं च करोति। स्थिरादियुगलत्रयस्य सप्रतिपक्षत्वेन स्याद्बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु जिननामसहितत्रिंशतं बध्नन् जघन्यम्। मनुष्यप्रायोग्यैकोनत्रिंशतं बध्नंस्तु संख्यातभागाधिकं जघन्यं करोति। शेषाणां मनुष्यगत्यादीनां षड्विंशतेर्नामप्रकृतीनां नियमेन बन्धं करोति। प्रदेशबन्धं तु जघन्यं संख्यातभागाधिकं जघन्यं वा करोति, भावना तु सुगमा। शेषाः षड्विंशतिप्रकृतयः पुनरिमाः—मनुष्यद्विकपञ्चेन्द्रिय-

जातिनामौदारिकद्विकतैजसकार्मणशरीरवज्रर्षभनाराचसंहननसमचतुरस्रसंस्थानसुखगतिवर्णचतुष्का-गुरुलघुचतुष्कनिर्माणनामत्रसचतुष्कसुभगत्रिकनाम्नानीति । एवमेव वेदनीयद्वयहास्यादियुगलद्वय-रूपाणां षण्णां प्रत्येकं प्रधानीकृत्य प्रस्तुतसन्निकर्षो भावनीयः, केवलं प्रतिपक्षप्रकृतीनां बन्धो नैव भवति इति विशेषः । मनुष्यायुषो जघन्यप्रदेशबन्धं कुर्वन् सातासातवेदनीयहास्यादियुगलद्व-यस्थिरास्थिरशुभाशुभयशःकीर्त्ययशःकीर्तिजिननामरूपाणां त्रयोदशानां स्याद्बन्धं करोति, द्वाद-शानां सप्रतिपक्षत्वाज्जिननाम्नस्तु केषाञ्चिदेव बन्धभावात्प्रदेशबन्धं तु स्वजघन्यतोऽसंख्येयगुणा-धिकमेव करोति, ज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरणषट्कप्रत्याख्यानावरणादिद्वादशकषायभयजुगुप्सा-पुरुषवेदमनुष्यद्विकपञ्चेन्द्रियजातिनामौदारिकद्विकतैजसकार्मणशरीरवज्रर्षभनाराचसंहननसमचतु-रस्रसंस्थानसुखगतिवर्णचतुष्कागुरुलघुचतुष्कनिर्माणत्रसचतुष्कसुभगत्रिकोच्चैर्गोत्रान्तरायपञ्चकरू-पाणामष्टापञ्चाशतो नियमेन बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं त्वसंख्येयगुणाधिकम्, भावना तु सुगमा । मार्गणासु बन्धार्हाणां सर्वासां नाम्नां त्रयस्त्रिंशत्प्रकृतीनां प्रत्येकं प्रधानीकृत्य प्रस्तुत-सन्निकर्षे प्ररूप्यमाणे तया सह बन्धप्रायोग्याणां नाम्नां स्वस्थानवत् सन्निकर्षो विज्ञेयः, नाम-भिन्नानां मतिज्ञानावरणप्रधाने यथा निरूपितस्तथा द्रष्टव्यः, जघन्यप्रदेशबन्धस्वामिनां तुल्यै-करूपत्वात् ॥१३१३-१३१६॥

एवं गतिमार्गणायां सन्निकर्षो निरूपितः, इन्द्रियमार्गणासत्कसर्वास्वेकोनत्रिंशतिमार्गणासु तथा कायमार्गणासत्कासु सर्वपृथ्व्यब्वनस्पतित्रसकायमार्गणाभेदेष्वष्टाविंशतिसंख्याकासु चौघ-वदेव परस्थानजघन्यप्रदेशबन्धसन्निकर्षो भवति, स च प्रान्तेऽतिदेशेन दर्शयिष्यते, न चात्र सन्निकर्षेऽतिदेशस्थानतः कश्चिद्विशेषः, केवलं भावना तु तत्तन्मार्गणागतजघन्यप्रदेशबन्ध-स्वामिनमवगम्य कार्या, सा चौघतो भिन्नाऽपि स्यात्सुगमप्राया चेति न विभाव्यते ।

अथ सप्ततेजस्कायभेदेषु सप्तवायुकायभेदेषु च मनुष्यद्विकोच्चैर्गोत्ररूपप्रकृतित्रयस्य बन्धा-ऽभावः । अत एव च तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्राणां नियतबन्धभावादोघतः प्रदेशबन्धकृतविशेषाऽ-भावेऽपि प्रकृतिबन्धकृतविशेषस्य सद्भावात्तासु चतुर्दशसु मार्गणासु प्रस्तुतसन्निकर्षं दर्शयति—

एगस्स लहुपएसं बंधंतो सव्वतेउवाऊसु । णीअधुववंधिणीओ पयडीओ णामवज्जाओ ॥
णियमा अडतीसाए सेसाणं बंधए लहुपएसं । आयवथीणपुमपुरिसदुवेअणीअजुगलाण सिआ ॥
णियमा तिरिदुगुरलधुवणामाण लहुमुअ संखभागहियं । बधेइ सिआऽण्णेसिं तेआलीसाअ णामाणं ॥
एवं भवे णपुंसगदुवेअणीअजुगलाण णवरं णो । बंधइ पडिवक्खेव पुमथीणं णवरि णियमाओ ॥
उरलोवंगपणिंदियपरघाऊसासतसचउक्काणं । णायवथावरजाइचउगाणि ओघव्व सेसाणं ॥
॥१३१७-१३२१॥

(प्रे०) "एगस्से" त्यादि, तेजःकायवायुकायसत्कसर्वमार्गणासु ज्ञानावरणपञ्चकदर्शना-वरणनवकवेदनीयद्वयमोहनीयषड्विंशतिनीचैर्गोत्रान्तरायपञ्चकरूपाणामष्टचत्वारिंशतः प्रत्येकं

प्रधानीकृत्य प्रस्तुतसन्निकर्ष ओघवद् भवति, केवलं तत्रौघे मनुष्यद्विकोच्चैर्गोत्ररूपत्रयाणामपि बन्धसद्भावेन तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्राणां स्याद् बन्धो भवति, प्रस्तुतमार्गणासु नियमेन बन्ध इति। नीचैर्गोत्रप्रधाने केवलं तिर्यग्द्विकस्यैव नियतबन्धो वक्तव्यः। उक्त अष्टचत्वारिंशता सह बन्धप्रायोग्याणां शेषनामकर्मणामोघवदेव प्रस्तुतसन्निकर्षो भावनीयः। तथा बन्धाऽर्हाणां षट्पञ्चाशतो नाम्नामपि प्रत्येकं प्रधानीकृत्यौघवदेव प्रस्तुतसन्निकर्षो भावनीयः, केवलमपर्याप्तनाम्नो जघन्यप्रदेशबन्धको मनुष्यद्विकं नैव बध्नाति तिर्यग्द्विकं नियमेन बध्नाति। शेषपञ्चपञ्चाशत्प्रकृतीनां प्रधानसन्निकर्ष ओघेऽपि तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्ररूपत्रयाणां नियमेन बन्ध इति न तत्रापवादविषयता इति। भावना तु सुगमा स्वतः कार्या चेति ॥१३१७-१३२१॥

अथ क्रमप्राप्तयोगमार्गणायां प्रस्तुतसन्निकर्षो निरूपणीयः, तत्राऽऽदौ मनोयोगपञ्चके वचनयोगत्रये च प्रदर्शयन्नाह—

पचमणतिवयणेसुं पणणाणावरणअंतरायाओ । एगस्स हस्सबंधी णियमाऽण्णेसिं पणण्ह लहु ॥
हस्सं सिआ णपुंसगथीणद्धियतिगदुवेअणीआणं । मिच्छाणाउचउगथीणिरयदुगायवदुगोआणं ॥
णियमा संजलणचउगछदंसणावरणभयजुगुच्छाणं । लहुमुअऽणंतंसहियं सिआ पुमदुजुगलअडकसायाणं ॥
लहुमुअ दुठाणपतितं व विउव्वुवंगस्स बंधए णियमा । धुवणामाण लहुं उअ संखंसहिय सिआऽण्णणामाणं ॥ ४
बीआवरणणवगभयकुच्छासोलसकसायमिच्छाणं । लहुबंधी कुणइ लहुं णियमा धुवसत्ततीसाए ॥
बंधइ सिआ जहण्णं दुवेअणीअसगणोकसायाणं । आऊण चउण्ह तहा तिरियदुगायवदुगोआणं ॥
तेअसदुगस्स णियमा संखंसहिय तु णरदुगस्स तहा। सुरदुगविउव्वाण सिआ विउव्वुवंगस्स संखगुणं ॥
णियमा धुवणामाणं सत्तण्ह लहुमुअ संखभागहियं। बंधेइ सिआऽण्णेसिं तित्थाहारदुगवज्जणामाणं ॥ ८
एवं हस्सरईणं णवरि ण णारगतिग तु सायस्स । णाणावरणव्व णवरि णेव असायणिरयतिगाणि ॥ १
बंधंतो उ पएसं लहु असायस्स बंधइ पएस। हस्सं णियमाहिन्तो पणणाणावरणविग्घाणं ॥
णियमा छदंसणावरणबारसकसायभयजुगुच्छाणं । लहुमुअऽणंतंसहियं बंधइ पुमदुजुगलाण सिआ ॥
बंधइ सिआ जहण्णं थीणद्धितिगाणचउगमिच्छाणं । थीणपुमाउगतिगजिणणिरयदुगायवदुगोआणं ॥
तेअसदुगस्स णियमा संखंसहियं विउव्वियस्स सिआ । बंधइ संखेज्जगुणं सिआ खलु विउव्वुवंगस्स॥
णियमा धुवणामाणं सत्तण्ह लहुमुअ संखभागहियं । बंधेइ सिआऽण्णेसिं देवाहारदुगवज्जणामाणं ॥ १४
थीलहुबंधी णियमा धुवअडतीसाअ बंधइ जहण्णं। सायियरदुगोअजुगलउज्जोआउगतिगाण सिआ ॥
तिरियउरलखगइदुगछसंघयणागिइथिराइजुगलाणं । बंधइ सिआ जहण्णं अहवा संखेज्जभागऽहियं ॥
विक्कियुवंगस्स सिआ संखगुणं विउवणरसुरदुगाणं। बंधइ संखंसहियं णियमाओ तेअसदुगस्स ॥
णगधुवणामपणिंदियपरघाऊसासतसचउक्काणं । लहुमुअ संखंसहियं णियमा एमेव पुरिसस्स ॥ १८
णपुमलहुगबंधी धुवअडतीसाअ णियमा लहुं तु सिआ । सायियराउतिगजुगलणिरयदुगायवदुगोआणं ॥
विक्कियुवंगस्स सिआ संखगुणं विउवणरदुगाण सिआ। संखंसहियं तेअसदुगस्स णियमा सगधुवाणं ॥
लहुमुअ संखंसहियं सिआ सुराहारदुगजिणूणाणं। सेसाणं णामाणं एवमरइसोगणीआणं ॥ २१
णिरयतिगा लहुबंधी एगस्स कुणेइ संखभागहियं । धुवणामपणिंदिविउवपरघाऊसासहुंडाणं ॥
कुखगइतसचउगअथिरछगाण णियमा विउव्वुवंगस्स । अहियदुभागऽब्भहियं णियमा लहुमण्णणिरय
जोग्गाणं ॥ २३

तिरियाउस्स जहण्णं वंधंतो बंधए लहुपएस । णियमा णीअस्स तहा धुववंधीण अडतीसाए ॥
बंधइ लहुं सिआऽऽयवदुवेअणीअसगणोकसायाणं । तेअसदुगस्स णियमा वंधइ संखेज्जभागहियं ॥
णियमा तिरिदुगुरलसगधुवाण लहुमहव संखभागहियं । बंधेइ सिआऽण्णेसिं तिरिजोग्गाणं तिचत्ताए ॥ २६
मणुयाउस्स पएसं बंधेमाणो लहुं लहुपएसं । बंधइ णियमाहिन्तो पणणाणावरणविग्घाणं ॥
बंधइ सिआ जहण्ण थीणद्धियतिगदुवेअणीआणं । मिच्छचउअणणपुमथीअरज्जजिणउच्चणीआणं ॥
णियमा छदसणावरणबारसकसायभयजुगुच्छाणं । लहुमुअऽणंतंसहियं बंधइ पुमदुजुगलाण सिआ ॥
तेअसदुगस्स णियमा वंधइ संखेज्जभागअब्भहियं । पणसंघयणागिइकुखगइदुहगतिगाण कुणइ सिआ ॥
णरउरलदुगपणिंदियसगधुवपत्तेअबायरतसाणं । लहुमुअ संखंसहियं सिआऽण्णणरजोग्गणामाणं ॥ ३१
देवाउहस्सबंधी णाणावरणुच्चसायविग्घाणं । णियमा बंधेइ लहुं थीणद्धितिगाणमिच्छथीण सिआ ॥
णियमा संजलणचउगछदसणावरणहस्सचउगाणं । लहुमुअऽणंतंसहियं सिआ अडकसायपुरिसाणं ॥
आहारदुगस्स सिआ लहुमुअ संखेज्जभागअब्भहियं । बंधइ णियमा सुरदुगविउव्वतणुतेअसदुगाणं ॥
सखियगुणं विउवुवगस्स व तित्थस्स संखभागहियं । णियमा सुरजोग्गाणं अथिरअसुहअजसवज्जणामाणं ॥
पणसंघयणागिइतिरिदुगदुहगतिगाऽपसत्थखगईणं । उज्जोअस्स जहण्णागबंधी सट्ठाणगव्व णामाणं ॥
णियमा धुववंधीणं अडतीसाअ तिरियाउणीआणं । हस्सं सिआ पुसणपुमथीदुजुगलवेअणीआणं ॥ ३७
णरदुगजिणणामाणं बंधेमाणो लहुपएसं । णामाणं पयडीणं सट्ठाणव्व खलु बंधेइ ॥
णियमाओ मणुयाउगणाणावरणुच्चअंतरायाणं । हस्सपएसं बंधइ सिआ खलु दुवेअणीआणं ॥
छदरिसणावरणपुरिसदुवालसकसायभयदुगुच्छाणं । णियमाऽणंतंसहियं बंधइ जुगलाण दोण्ह सिआ ॥ ४०
देवदुगहस्सबंधी णामाणं बंधए सठाणव्व । णियमा लहुं सुराउगणाणावरणुच्चसायविग्घाणं ॥
पुमचउसंजलणाणं छदंसणावरणहस्सचउगाणं । णियमाऽणंतंसहियं सिआ कसायाण अट्ठण्हं ॥ ४१
चउजाइथावरसुहुमसाहारणआयवाण लहुबंधी । णामाणं पयडीणं सट्ठाणव्व खलु बंधेइ ॥
धुवअडतीसाए तह णपुंसतिरियाउणीअगोआणं । णियमा हस्सपएसं दुवेअणीअजुगलाण सिआ ॥ ४४
तेआहारविउव्वदुगबंधी सट्ठाणगव्व णामाणं । णियमा लहुं सुराउगणाणावरणुच्चसायविग्घाणं ॥
पुमचउसंजलणाणं छदंसणावरणहस्सचउगाणं । णियमाहिन्तो बंधइ अणंतभागाहियपएसं ॥ ४६
बंधेमाणो हस्सं पएसग खलु अरज्जणामस्स । णामाणं पयडीणं सट्ठाणव्व खलु बंधेइ ॥
णियमा धुववंधीणं अडतीसाए णपुंसणीआण । हस्सं बंधेइ सिआ दुवेअणीअजुगलाऊणं ॥ ४८
सेसाण णामाणं लहुबंधी बंधए सठाणव्व । णामाण लहुं णियमा पणणाणावरणविग्घाणं ॥
बंधइ सिआ जहण्णं थीणद्धियतिगदुवेअणीआणं । मिच्छत्ताणणपुमथीदुआउणीउच्चगोआणं ॥
णियमा छदसणावरणबारसकसायभयजुगुच्छाणं । लहुमुअऽणंतंसहियं बंधइ पुमदुजुगलाण सिआ ॥ ५१
उच्चस्स उ लहुबंधी बंधइ णामाउगोअवज्जाणं । णाणावरणव्व लहुं सिआ दुआऊण बंधेइ ॥
णरसुरविउव्वाहारगउरलदुगसुखगइवइरतिस्थाणं । तह सुहसंठाणसुहगतिगाण तिथिराइजुगलाणं ॥
बंधइ सिआ लहु उअ संखसहियं तु बधए णियमा । धुवणामपणिंदियपरघाऊसासतसचउगाणं ॥
संघयणआगिइपणगकुखगइदुहगतिगणामाणं । बंधइ सिआ पएसं संखेज्जतिमागअब्भहियं ॥ ५५

तृतीया चतुर्थ्यष्टमी चतुर्दशी त्रयोविंशतितमी द्वात्रिंशत्तमी पञ्चत्रिंशत्तमी षट्त्रिंशत्तम्येकचत्वारिंशत्तमी पञ्चचत्वारिंशत्तमी च गीतिः, अष्टात्रिंशत्तमी पञ्चपञ्चाशत्तमी चोपगीतिः;

॥१३२२-१३७६॥

(प्रे०) "पंचमणे"त्यादि, ओघ-सत्यादिचतुर्भेति पञ्चमनोयोगमार्गणाभेदेषु सत्या-

ऽसत्यसत्यासत्यरूपासु तिसृषु वचनयोगमार्गणाभेदेषु चेत्यष्टमार्गणासु परस्थानजघन्यप्रदेशबन्ध-सन्निकर्षस्य निरूपणावसरः, एताश्च मार्गणाः सकलपर्याप्तिपर्याप्तस्य संज्ञिपञ्चेन्द्रियस्यैव भवन्ति। तासां जघन्ययोगस्थानं तु परावर्तमानयोगस्थानरूपम् । तथाऽत्र परावर्तमानयोगे स्वप्रायोग्या-युर्बन्धस्यापि भावाज्जघन्यप्रदेशबन्धेऽधिकमूलोत्तरप्रकृतिबन्धस्यावश्यकत्वाच्चायुर्बध्नन्तमधि-कृत्य प्रस्तुतसन्निकर्षो भावनीयः। तत्राद्यगाथाचतुष्केण ज्ञानावरणान्तरायपञ्चकप्रधानसन्निकर्षो दर्शितः, तद्यथा—ज्ञानावरणपञ्चकान्तरायपञ्चकरूपदशप्रकृतिभ्य एकस्या जघन्यप्रदेशबन्धक-स्तदन्यासां नवानां नियमेन जघन्यप्रदेशबन्धं च करोति, नपुंसकवेदस्त्रीवेदसातासातवेदनीया-युश्चतुष्कनरकद्विकातपगोत्रद्वयानां त्रयोदशानां तथा स्त्यानर्द्धित्रिकानन्तानुबन्धिकषायचतुष्क मिथ्यात्वरूपाणामष्टानां स्याद्बन्धं करोति प्रदेशबन्धं तु जघन्यमेवेति । तथा स संज्व-लनचतुष्कदर्शनावरणषट्कभयजुगुप्सारूपाणां द्वादशानां नियमेन बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु प्रथमगुणस्थाने जघन्यं चतुर्थादिसप्तमान्तगुणस्थानेषु स वर्तमानः स्यात् तदाऽनन्त भागाधिकं जघन्यं करोति, स्त्यानर्द्धित्रिकमिथ्यात्वानन्तानुबन्ध्यादीनां बन्धविच्छेदेन तत्स-त्कदलिकानां लाभात्, भावना तु प्राग्वत् सविशेषा अवसातव्या इति। स पुरुषवेदहास्यादियुगल-द्वयाप्रत्याख्यानावरणप्रत्याख्यानावरणरूपाष्टकषायाणां त्रयोदशानां स्याद्बन्धं करोति, षष्ठ-सप्तमगुणस्थाने कषायाष्टकस्य बन्धाभावाच्चतुर्थपञ्चमान्तगुणस्थानेषु तु यथाक्रमं बध्यमानत्वाद्, हास्यादियुगलस्य पुरुषवेदस्य च सप्रतिपक्षत्वात्, प्रदेशबन्धं त्वासां जघन्यमनन्तभागाधिकं जघन्यं वा करोति, तत्र प्रथमगुणस्थाने जघन्यं चतुर्थादिगुणस्थानेषु त्वनन्तभागाधिकं जघन्यमिति। नामकर्मसु स वैक्रियाङ्गोपाङ्गस्य स्याद्बन्धं करोति देवनरकप्रायोग्यबन्धकस्यैव तद्बन्धकत्वात्, प्रदेशबन्धं तु स आहारकद्विकस्य जिननाम्नश्च बन्धभावे जघन्यं करोति, आहा-रकद्विकस्य बन्धसद्भावे सति जिननाम्नो बन्धाभावे तु संख्यातभागाधिकम्, आहारकद्विकबन्धा-भावे तु सातिरेकद्विगुणं करोति, तच्चैवम्—अङ्गोपाङ्गलब्धभागस्याहारकाङ्गोपाङ्गबन्धकाले भागद्वयं भवति, तत्रापि प्रकृतिविशेषतो वैक्रियाङ्गोपाङ्गलब्धभागत आहारकाङ्गोपाङ्गे विशेषा-धिकः प्राप्यतेऽतस्तदाऽङ्गोपाङ्गलब्धभागस्य देशोनार्धो वैक्रियाङ्गोपाङ्गस्य लभ्यते सातिरेकार्ध-स्त्वाहारकाङ्गोपाङ्गस्य, आहारकद्विकस्य बन्धाभावे तु सर्व एव वैक्रियाङ्गोपाङ्गस्य प्राप्यते, स च पूर्वतः सातिरेकद्विगुण इति । नवनामध्रुवबन्धिनीनां नियमाद्बन्धं करोति प्रदेशबन्धं तु तासां जघन्यं संख्यातभागाधिकं जघन्यं वा, तत्र तैजसकार्मणशरीरयोराहारकद्विकसहितमेकत्रिंशतं बध्नन् जघन्यं करोति, तदितरबन्धस्थानं बध्नन् त्वजघन्यं संख्यातभागाधिकं जघन्यमित्यर्थः, शेषसप्तध्रुवाणां त्रिंशद्बन्धस्थाने जघन्यमेकोनत्रिंशदादिषु तु संख्येयभागाधिकं जघन्यमिति । उक्तशेषाणां चतुःपञ्चाशन्नामप्रकृतीनां स स्याद्बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु जघन्यं संख्यातभागा-

धिकं जघन्यं वा, तद्यथा—उक्तशेषप्रकृतीनां नानाबन्धस्थाने बन्धभावात्सर्वदधिकतमप्रकृत्यात्मके बन्धस्थाने वर्तमानो जघन्यप्रदेशबन्धं करोति ततोऽल्पप्रकृत्यात्मकबन्धस्थानेषु वर्तमानः संख्यातभागाधिकमिति । शेषा नामप्रकृतयः पुनरिमाः—तिर्यग्द्विकमनुष्यद्विकदेवद्विकजातिपञ्चकौदारिकद्विकवैक्रियशरीराऽऽहारकद्विकसंहननषट्कसंस्थानषट्कखगतिद्वयपराघातोच्छ्वासोद्योतजिननामत्रसदशकस्थावरदशकनामानीति ।

अथ दर्शनावरणनवकभयजुगुप्साषोडशकषायमिथ्यात्वरूपाणामष्टाविंशतेर्ध्रुवबन्धिप्रकृतीनां प्रथमगुणस्थाने जघन्यप्रदेशबन्धानां प्रत्येकं प्रधानीकृत्य प्रस्तुतसन्निकर्षं दर्शयति—"थीणा" इत्यादि,—अत्र दर्शनावरणाद्यष्टाविंशतेरेकस्या जघन्यप्रदेशं बध्नन् तदितरसप्तविंशते ज्ञानावरणपञ्चकान्तरायपञ्चकरूपदशानां चेति सप्तत्रिंशद्ध्रुवबन्धिनीनां नियमेन बन्धं जघन्यप्रदेशबन्धं च करोति, वेदनीयद्विकवेदत्रयहास्यादियुगलद्वयायुश्चतुष्कनरकद्विकातपनामगोत्रद्वयरूपाणामष्टादशानां स्याज्जघन्यप्रदेशबन्धं च करोति, आसामध्रुवबन्धित्वात्स्याद्बन्धः, वेदनीयद्वयायुश्चतुष्कगोत्रद्वयनपुंसकवेदातपनामनरकद्विकरूपाणां द्वादशानामेवैकबन्धस्थानस्यैव भावाज्जघन्यप्रदेशस्यैव बन्धः, वेदद्वयहास्यादियुगलद्वयरूपाणां षण्णां प्रथमगुणस्थान एव जघन्यप्रदेशबन्धस्तत्र चैकस्यैव बन्धस्थानस्य भावात् प्रस्तुतबन्धकस्य जघन्य एव प्रदेशबन्धः, भावना तु सुगमा । तैजसकार्मणशरीरद्वयस्य स नियमेन बन्धं करोति प्रदेशबन्धं तु संख्यातभागाधिकजघन्यमिति । मनुष्यद्विकदेवद्विकवैक्रियशरीरनाम्नां स्यात् संख्यातभागाधिकजघन्यप्रदेशबन्धं च करोति, आसां जघन्यप्रदेशबन्धः क्रमाद् त्रिंशदेकोनत्रिंशदेकत्रिंशद्बन्धस्थानेषु सम्यग्दृशामेव भवति, एतद्बन्धस्थानानां मिथ्यादृशामभावेन संख्यातभागाधिक एव जघन्यप्रदेशबन्ध इति । वैक्रियाङ्गोपाङ्गस्य संख्यातगुणाधिक एव, सातिरेकद्विगुणमित्यर्थः प्रस्तुतबन्धकस्याहारकद्विकजिननाम्नोर्बन्धाभावात् । वर्णचतुष्कागुरुलघूपघातनिर्माणसंज्ञकसप्तध्रुवबन्धिनीनां नियमेन बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु जघन्यं संख्यातभागाधिकं वा । भावना तु सुगमा । शेषाणां षट्चत्वारिंशन्नामकर्मणां स्याद्बन्धं करोति, जघन्यं संख्यातभागाधिकजघन्यप्रदेशबन्धं वा करोति । शेषप्रकृतयः पुनः अनन्तरोक्ताश्चतुःपञ्चाशत् मनुष्यद्विकाहारकद्विकवैक्रियशरीरजिननामरहिता एव विज्ञेयाः, भावना तु सुगमा । एवमेव हास्यरतिप्रधानसन्निकर्षोऽपि भावनीयः, तयोरपि प्रथमगुणस्थान एव जघन्यप्रदेशबन्धभावात्, केवलं हास्यरतिप्रधानसन्निकर्षे नरकत्रिकं न बध्नातीति विशेषः ।

सातवेदनीयप्रधानसन्निकर्षो ज्ञानावरणवद्विज्ञेयः, उभयत्र यथासंभवं प्रथमादिसप्तमान्तगुणस्थानेषु जघन्यप्रदेशबन्धभावात् , केवलं सातवेदनीयप्रधानसन्निकर्षे प्रकृतिबन्धविरोधादसातवेदनीयं नरकत्रिकं च नैव बध्नाति, शेषा भावना सन्निकर्षगमश्च ज्ञानावरणवदेव भावनीयः

सुगमप्रायश्चेति । असातवेदनीयस्य जघन्यप्रदेशं बध्नन् ज्ञानावरणपञ्चकान्तरायपञ्चकयोर्नियमेन जघन्यप्रदेशबन्धं च करोति । दर्शनावरणषट्काप्रत्याख्यानावरणादिद्वादशकषायभयजुगुप्सानां विंशतेर्नियमेन बन्धं करोति, प्रस्तुतबन्धकस्यायुर्बन्धसहितत्वेन देवायुर्बन्धेन सहासातवेदनीयस्य बन्धाभावान्मनुष्यायुर्बन्धस्य चतुर्थान्तगुणस्थाने एव भावाच्चाप्रत्याख्यानावरणादिद्वादशानां नियमाद्बन्धः, शेषस्तु सुगमः, प्रदेशबन्धं तु जघन्यमनन्तभागाधिकं जघन्यम्, तत्र प्रथमगुणस्थाने जघन्यम्, चतुर्थगुणस्थानेऽनन्तभागाधिकं जघन्यम् । पुरुषवेदहास्यादियुगलद्वयरूपाणां पञ्चानां स्याद्बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु जघन्यम्, अनन्तभागाधिकं जघन्यमिति । तथा स स्त्यानर्द्धित्रिकानन्तानुबन्धिचतुष्कमिथ्यात्वस्त्रीवेदनपुंसकवेदनारकतिर्यग्मनुष्यायुस्त्रिकजिननामनरकद्विकातपनामगोत्रद्वयरूपाणामेकोनविंशतेः स्याद्बन्धं जघन्यप्रदेशबन्धं च करोति, भावना तु सुगमा । तैजसकार्मणशरीरयोर्नियमेन संख्यातभागाधिकजघन्यप्रदेशबन्धं च करोति, प्रस्तुतबन्धकस्याहारकद्विकस्य बन्धाभावादेतयोः संख्यातभागाधिकजघन्यत्वम् । वैक्रियशरीरस्य स्यात् संख्यातभागाधिकजघन्यप्रदेशबन्धं च करोति । वैक्रियाङ्गोपाङ्गस्य स्यात् सातिरेकद्विगुणं च बध्नाति । सप्तानां ध्रुवबन्धिनीनां नियमेन बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु जघन्यं संख्यातभागाधिकजघन्यं वा करोति । उक्तशेषाणां देवद्विकाहारकद्विकवर्जानामेकोनपञ्चाशतो नाम्नां सप्रतिपक्षत्वेन स्याद्बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु जघन्यं संख्यातभागाधिकं जघन्यं वा करोति । भावना तु सुगमा । अत्राऽऽहारकद्विकस्य वर्जनं प्रस्तुतबन्धकस्य चतुर्थान्तगुणस्थानवर्तित्वाद्देवद्विकस्य वर्जनं तु प्रस्तुतबन्धकस्य देवभिन्नायुर्बन्धसहितत्वेन देवद्विकस्य बन्धाभावात् । उक्तशेषा नामप्रकृतयः पुनरिमाः—तिर्यग्द्विकमनुष्यद्विकजातिपञ्चकौदारिकद्विकसंहननषट्कसंस्थानषट्कखगतिद्वयपराघातोच्छ्वासोद्योतत्रसदशकस्थावरदशकनामानीति ।

स्त्रीवेदस्य जघन्यप्रदेशबन्धको मिथ्यादृष्टिस्तद्योग्यानां नामवर्जानामष्टात्रिंशद्ध्रुवबन्धिप्रकृतीनां नियमेन जघन्यप्रदेशबन्धं च करोति, वेदनीयद्वयगोत्रद्वयहास्यादियुगलद्वयोद्योततिर्यग्मनुष्यदेवायुस्त्रिकलक्षणानां द्वादशानां स्याद्बन्धं जघन्यप्रदेशबन्धं च करोति, अत्रोद्योतनाम्नः केवलं त्रिंशद्बन्धस्थान एव बन्धभावाज्जघन्यप्रदेशबन्धो विज्ञेयः । अत्र नरकप्रायोग्यैकेन्द्रियविकलेन्द्रियप्रायोग्यस्य बन्धाभावान्नरकद्विकातपनरकायुषामग्रहणं ज्ञातव्यम् । तथा तिर्यग्द्विकौदारिकद्विकखगतिद्वयसंहननषट्कसंस्थानषट्कस्थिरषट्कास्थिरषट्करूपाणां त्रिंशतः सप्रतिपक्षत्वात् स्याद्बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु त्रिंशद्बन्धस्थानबन्धकस्य जघन्यमेकोनत्रिंशद्बन्धकस्य तु संख्यातभागाधिकजघन्यमिति । वैक्रियाङ्गोपाङ्गस्य स्याज्जघन्यप्रदेशतः सातिरेकद्विगुणं प्रदेशबन्धं करोति । देवद्विकमनुष्यद्विकवैक्रियशरीररूपाणां पञ्चानां स्याद्बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु संख्यातभागाधिकं जघन्यम्, भावना तु स्त्यानर्द्धित्रिकप्रधानसन्निकर्षवत् कार्या । तैजसकार्मणशरीरयोर्नियमेन संख्यातभागाधिकजघन्यप्रदेशबन्धं च करोति । वर्णचतुष्कागुरु-

लघूपघातनिर्माणनाम्ना पञ्चेन्द्रियपराघातोच्छ्वासत्रसचतुष्करूपसप्तानां चेति चतुर्दशानां नियमेन बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु जघन्यं संख्यातभागाधिकजघन्यं वा करोति, अत्र पञ्चेन्द्रियजात्यादिसप्तानां नियमेन बन्धस्तु स्त्रीवेदबन्धकस्य पर्याप्तपञ्चेन्द्रियप्रायोग्यस्यैव बन्धकत्वात्, त्रिंशतं बध्नन् जघन्यप्रदेशबन्धं करोति एकोनत्रिंशतमष्टाविंशतिं वा बध्नन् संख्यातभागाधिकं जघन्यप्रदेशबन्धं करोति। एवं यथा स्त्रीवेदप्रधानसन्निकर्षो दर्शितः, तथा पुरुषवेदप्रधानसन्निकर्षोऽपि भावनीयः तद्वन्मिथ्यादृष्टीनामेव पुरुषवेदस्य जघन्यप्रदेशबन्धस्वामित्वाद् बन्धप्रायोग्यबन्धस्थानादीनां च तुल्यत्वात्।

नपुंसकवेदस्य जघन्यप्रदेशबन्धं कुर्वन् नामवर्जानामष्टात्रिंशद्ध्रुवबन्धिनीनां नियमेन जघन्यप्रदेशबन्धं च करोति, वेदनीयद्वयनारकतिर्यग्नरायुस्त्रयहास्यादियुगलद्वयनरकद्विकातपनामगोत्रद्वयरूपाणां चतुर्दशानां स्याद्बन्धं जघन्यप्रदेशबन्धं च करोति, अत्र देवप्रायोग्यबन्धाभावात् शेषायुस्त्रयस्य निर्देशः। वैक्रियाङ्गोपाङ्गस्य स्याद्बन्धं स्वजघन्यप्रदेशबन्धतः सातिरेकद्विगुणप्रदेशबन्धं च करोति। मनुष्यद्विकवैक्रियशरीरनामरूपत्रयाणां स्याद्बन्धं संख्यातभागाधिकजघन्यप्रदेशबन्धं च करोति, भावना तु सुगमा प्राग्वत्कार्या चेति। तैजसकार्मणशरीरद्वयस्य नियमेन बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु संख्यातभागाभ्यधिकं करोति। वर्णचतुष्कागुरुलघूपघातनिर्माणनाम्नां नियमेन बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु जघन्यं संख्यातभागाधिकजघन्यं वा करोति देवद्विकाहारकद्विकजिननामानि नैव बध्नाति। शेषाणां नामकर्मणां षट्चत्वारिंशतः स्याद्बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु जघन्यं संख्यातभागाधिकजघन्यं वा करोति, भावना तु सुगमा। शेषा नामप्रकृतयः पुनरिमाः-तिर्यग्द्विकजातिपञ्चकौदारिकद्विकसंहननषट्कसंस्थानषट्कखगतिद्वयत्रसदशकस्थावरदशकपराघातोच्छ्वासोद्योतनामानीति। भावना तु यथासंभवं स्त्यानर्द्धित्रिकप्रधानसन्निकर्षवत् कार्या सुगमा च। शोकारतिप्रधानसन्निकर्षोऽपि नपुंसकवेदप्रधानसन्निकर्षवद्विज्ञेयः, उभयत्र मिथ्यादृष्टीनामेव तज्जघन्यप्रदेशबन्धकत्वात्। यथा नपुंसकवेदप्रधाने देवप्रायोग्यस्याबन्धकत्वं तथैव शोकारतिप्रधानेऽप्यायुर्बन्धसहितस्यैव तयोर्जघन्यप्रदेशबन्धकत्वेन देवायुर्बन्धेन सह तयोर्बन्धविरोधाद् देवप्रायोग्यस्याबन्धकत्वम्, अतः सर्वोप्यतिदेशस्तद्वदेव, न च कश्चिद्विशेषोऽपवादो वा इति। एवं नीचैर्गोत्रप्रधानसन्निकर्षोऽपि नपुंसकवेदप्रधानसन्निकर्षवद्भावनीयः।

नरकत्रिकस्य जघन्यप्रदेशबन्धस्वामिनामैक्यान्नरकत्रिकादेकस्य जघन्यप्रदेशबन्धं कुर्वन् नवनामध्रुवबन्धिनीपञ्चेन्द्रियजातिवैक्रियशरीरपराघातोच्छ्वासहुण्डसंस्थानत्रसचतुष्ककुखगति-नामास्थिरषट्करूपाणां पञ्चविंशतेर्नाम्नां नियमेन बन्धं करोति, नरकप्रायोग्यबन्धकस्य प्रतिपक्षप्रकृतीनां बन्धाभावात्, प्रदेशबन्धं तु तासां पञ्चविंशतेः संख्यातभागाधिकं जघन्यं करोति, आसां जघन्यप्रदेशबन्धस्य यथासंभवं त्रिंशत्येकत्रिंशति वा बन्धस्थान एव भावात्। वैक्रियाङ्गो-

पाङ्गस्य नियमेन बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु स्वजघन्यतः सातिरेकद्विगुणं करोति। शेषाणां नरकप्रायोग्याणां नामवर्जाष्टात्रिंशद्ध्रुवबन्धिनीनां शोकारतिमोहनीयनपुंसकवेदासातवेदनीय-नीचैर्गोत्राणां नरकत्रिकात्प्रधानीकृतेतरप्रकृतिद्वयस्य चेति समुदीतानां पञ्चचत्वारिंशतो नियमेन बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु जघन्यमेवेति, शेषा अष्टचत्वारिंशत्प्रकृतीस्तु नैव बध्नातीति, भावना तु सुगमा ।

तिर्यगायुषो जघन्यप्रदेशबन्धको नामवर्जानामष्टात्रिंशद्ध्रुवबन्धिनीनां नीचैर्गोत्रस्य च नियमेन जघन्यप्रदेशबन्धं च करोति। वेदनीयद्वयवेदत्रयहास्यादियुगलद्वयातपनामरूपाणां दशप्रकृतीनां स्याद्बन्धं करोति जघन्यप्रदेशबन्धं च। तैजसकार्मणशरीरयोर्नियमेन संख्यात-भागाधिकजघन्यप्रदेशबन्धं च करोति। तिर्यग्द्विकौदारिकशरीरवर्णचतुष्कागुरुलघूपघातनिर्माण-नामलक्षणानां दशानां नियमाद्बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु जघन्यं संख्यातभागाधिक-जघन्यं वा, नाम्नां नानाविधबन्धस्थान आसां बन्धसद्भावात् । शेषाणां तिर्यक्प्रायोग्याणां बन्धार्हनामप्रकृतीनां स्याद्बन्धं जघन्यं संख्यातभागाधिकजघन्यप्रदेशबन्धं वा करोति, भावना तु सुगमा । शेषनामप्रकृतयः पुनरिमाः—जातिपञ्चकौदारिकाङ्गोपाङ्गसंहननषट्कसंस्थानषट्क-खगतिद्वयपराघातोच्छ्वासोद्योतत्रसदशकस्थावरदशकनामानीति त्रिचत्वारिंशत् ।

मनुष्यायुषो जघन्यप्रदेशं बध्नन् ज्ञानावरणपञ्चकान्तरायपञ्चकरूपाणां दशानां नियमेन जघ-न्यप्रदेशबन्धं च करोति। स्त्यानर्द्धित्रिकानन्तानुबन्धिचतुष्कमिथ्यात्वानां वेदनीयद्वयनपुंसकवेद-स्त्रीवेदगोत्रद्वयापर्याप्तनामजिननामरूपाणां चेति षोडशप्रकृतीनां स्याद्बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु जघन्यमेवेति, अत्राऽपर्याप्तनाम्नो मनुष्यप्रायोग्यपञ्चविंशतिं बध्नन् जिननाम्नस्तु मनुष्यप्रायोग्यं त्रिंशतं बध्ननेव बन्धभावेनैकैकबन्धस्थान एव तस्य प्रस्तुते बध्यमानत्वाज्जघन्यमेव प्रदेशबन्धं करोति, शेषभावना तु सुगमा। दर्शनावरणषट्काप्रत्याख्यानावरणादिद्वादशकषायभयजुगुप्सानां विंशतेर्नियमेन बन्धं करोति ध्रुवबन्धित्वात्, प्रदेशबन्धं तु प्रस्तुतमनुष्यायुर्जघन्यप्रदेशबन्धको यदि प्रथमगुणस्थाने वर्तते तदा जघन्यम्, यदि पुनः चतुर्थगुणस्थानगतस्तर्हि सोऽनन्तभागा-धिकजघन्यं करोति। पुरुषवेदहास्यादियुगलद्वयस्य स्याद्बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु जघन्यम-नन्तभागाधिकजघन्यं वा करोति। तैजसकार्मणशरीरद्वयस्य नियमेन बन्धं करोति प्रदेशबन्धं तु संख्यातभागाधिकं जघन्यम्, एतयोर्जघन्यप्रदेशबन्धस्याहारकद्विकसहितमेकत्रिंशतं बध्नत एव भावात् । द्वितीयादिपञ्चसंहननद्वितीयादिपञ्चसंस्थानकुखगतिदुर्भगत्रिकरूपाणां चतुर्दशानां सप्रतिपक्षत्वात् स्याद्बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं त्वासां संख्यातभागाधिकजघन्यं करोति, आसां जघन्यप्रदेशबन्धस्य तिर्यक्प्रायोग्यत्रिंशद्बन्धस्थान एव भावाद् मनुष्यप्रायोग्यत्रिंशद्बन्ध-स्थानस्य सम्यग्दृष्टिस्वामिकत्वेन तत्रासां बन्धाभावात्प्रस्तुत एकोनत्रिंशद्बन्धस्थाने चर-

मसंहननसंस्थानयोः पञ्चविंशतावपि बन्धभावाच्च संख्यातभागाधिकजघन्यमिति । तथा स मनुष्यद्विकौदारिकद्विकपञ्चेन्द्रियजातिवर्णचतुष्कागुरुलघूपघातनिर्माणत्रसबादरप्रत्येकनाम्नां पञ्चदशानां नियमेन बन्धं करोति, पर्याप्ताऽपर्याप्तमनुष्यप्रायोग्यबन्धस्थानेष्वासां बन्धस्यान्तर्भावात् , प्रदेशबन्धं त्वासां जघन्यं संख्यातभागाधिकजघन्यं वा करोति, तत्र त्रिशतं बध्नन् जघन्यमेकोनत्रिंशतं पञ्चविंशतिं वा बध्नन् संख्यातभागाधिकजघन्यं करोति । शेषाणां मनुष्यप्रायोग्याणां नामकर्मणां सप्रतिपक्षत्वादिना स्याद्बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु जघन्यं संख्यातभागाधिकजघन्यं वा, भावना तु सुगमा । शेषा नामप्रकृतयः सम्यग्दृष्टिमिथ्यादृष्ट्युभयप्रायोग्याः, ताः पुनर्नामत इमाः—प्रथमसंहननसंस्थानसुखगतिपराघातोच्छ्वासपर्याप्तनामस्थिरषट्कास्थिराशुभायशःकीर्तिनामानीति, शेषा देवद्विकाद्या एकोनविंशतिप्रकृतीस्तु नैव बध्नाति ।

देवायुषो जघन्यप्रदेशं बध्नन् ज्ञानावरणपञ्चकान्तरायपञ्चकोच्चैर्गोत्रसातवेदनीयरूपाणां द्वादशानां नियमेन जघन्यप्रदेशबन्धं च करोति । स्त्यानर्द्धित्रिकानन्तानुबन्धिचतुष्कमिथ्यात्वस्त्रीवेदरूपाणां नवानां स्याद्बन्धं जघन्यप्रदेशबन्धं च करोति । संज्वलनचतुष्कदर्शनावरणषट्कहास्यरतिभयजुगुप्सानां चतुर्दशानां नियमेन, अप्रत्याख्यानावरणप्रत्याख्यानावरणरूपकषायाष्टकस्य पुरुषवेदस्य च स्याद्बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु आसां त्रयोविंशतेर्जघन्यमनन्तभागाधिकजघन्यं वा करोति, अत्र कषायाष्टकस्य स्याद्बन्धस्तु प्रस्तुतबन्धकस्य सप्तमान्तगुणस्थानभावित्वात् , हास्यरत्योर्नियमाद्बन्धः, शोकारत्योस्त्वबन्धः देवायुषा सह प्रकृतिबन्धविरोधात् । आहारकद्विकस्य स्याद्बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु जघन्यमेकत्रिंशतं बध्नन् , संख्यातभागाधिकजघन्यं त्रिंशतं बध्नन् करोति । देवद्विकवैक्रियद्विकतैजसकार्मणनाम्नां नियमेन बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं त्वासां जघन्यं संख्यातभागाधिकजघन्यं वा, देवद्विकस्यैकत्रिंशतमेकोनत्रिंशतं वा बध्नन् जघन्यम् , अष्टाविंशतिं त्रिशतं वा बध्नन् संख्यातभागाधिकजघन्यं बध्नाति, वैक्रियतैजसकार्मणशरीरनाम्नामेकत्रिंशतं बध्नन् जघन्यं करोति, त्रिंशतं बध्नन संख्यातभागाधिकजघन्यं करोति, अष्टाविंशतिमेकोनत्रिंशतं वा बध्नन वैक्रियतैजसकार्मणशरीरत्रयाणां संख्यातभागाधिकजघन्यं प्रदेशबन्धं करोति, वैक्रियाङ्गोपाङ्गस्य तु नाम्न एकत्रिंशतं बध्नन् जघन्यं त्रिशतं बध्नन् संख्यातभागाधिकजघन्यं एकोनत्रिंशतमष्टाविंशतिं वा बध्नन् स्वजघन्यप्रदेशबन्धतः सातिरेकद्विगुणं प्रदेशबन्धं करोति, अत्रापिशब्दादनन्तरप्राग्गाथागत **"लहुमुअ संखेज्ज भागअब्भहियं"** इत्यनुकर्षात् विकल्पत्रयगतो बन्धो विज्ञेयः, शेषा भावना तु सुगमा। जिननाम्नः स्याद्बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु तस्य संख्यातभागाधिकजघन्यम् , तस्य जघन्यप्रदेशबन्धं मनुष्यप्रायोग्यत्रिशतं बध्नन्नेव करोतीति । शेषाणामस्थिराशुभाऽयशःकीर्तिवर्जानां देवप्रायोग्याणां

नाम्नां नियमेन बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु स्वजघन्यतः संख्यातभागाधिकं करोति, आसां जघन्यप्रदेशबन्धस्य तिर्यग्मनुष्यप्रायोग्यत्रिंशद्बन्धस्थान एव भावात् संख्यातभागाधिकत्वम् । शेषप्रकृतयस्त्विमाः-पञ्चेन्द्रियजातिसमचतुरस्रसंस्थानसुखगतिवर्णचतुष्कागुरुलघूपघातपराघातोच्छ्वासत्रसदशकनामानीति द्वाविंशतिः ।

अथ प्रस्तुतमार्गणाऽष्टके नामप्रकृतीनां प्रत्येकं प्रधानीकृत्य परस्थानजघन्यप्रदेशबन्धसन्निकर्षं निरूपयितुकाम आदौ तिर्यग्द्विकप्रथमवर्जसंहननपञ्चकसंस्थानपञ्चककुखगतिदुर्भगत्रिकोद्योतनाम्नां सप्तदशानां प्रत्येकं प्रधानीकृत्य प्रस्तुतं गाथाद्वयेन दर्शयति "पणे"त्यादि, आसां जघन्यप्रदेशबन्धो नाम्नां तिर्यक्प्रायोग्यं त्रिंशतं बध्नन् करोति, अतो नाम्नां स्वस्थानवत् प्रस्तुतसन्निकर्षो विज्ञेयः । नामवर्जानामष्टात्रिंशद्ध्रुवबन्धिप्रकृतीनां तिर्यगायुर्नीचैर्गोत्रयोर्नियमेन बन्धं करोति, वेदत्रयहास्यादियुगलद्वयवेदनीयद्वयरूपाणां नवानां स्याद्बन्धको भवति, प्रदेशबन्धं त्वेकोनपञ्चाशतोऽपि प्रकृतीनां जघन्यमेव करोति, अत्रायुर्बन्धस्य नियमनं तु जघन्यप्रदेशबन्धसन्निकर्षानुरोधेनाष्टविधमूलप्रकृतिबन्धस्यावश्यकत्वाद्विज्ञेयम् । नीचैर्गोत्रस्य नियमनं तु प्रस्तुतबन्धकस्य तिर्यक्प्रायोग्यस्यैव बन्धकत्वेनोच्चैर्गोत्रबन्धस्य तदानीमसंभवात् ।

ततो गाथात्रयेण मनुष्यद्विकजिननाम्नोश्चेति प्रकृतित्रयस्य प्रत्येकं प्रधानीकृत्य प्रस्तुतसन्निकर्षो दर्शितः, तत्र नाम्नां स्वस्थानवत्प्रस्तुतसन्निकर्षो विज्ञेयस्तथा प्रस्तुतबन्धकस्य मनुष्यप्रायोग्यत्रिंशद्बन्धकत्वेन नियमतः सम्यग्दृष्टित्वात् स्त्यानद्धर्यष्टकस्त्रीनपुंसकवेदनीचैर्गोत्राणि स नैव बध्नाति। तथा स मनुष्यायुर्ज्ञानावरणपञ्चकान्तरायपञ्चकलक्षणैकादशानां नियमेन जघन्यप्रदेशबन्धं च करोति, वेदनीयद्वयस्य स्याज्जघन्यप्रदेशबन्धं च निर्वर्तयति, दर्शनावरणषट्कपुरुषवेदाद्यवर्जद्वादशकषायभयजुगुप्सानामेकविंशतेर्नियमेन बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं त्वनन्तभागाधिकं जघन्यम्, आसां जघन्यप्रदेशबन्धस्य प्रथमगुणस्थान एव भावात् । हास्यादियुगलद्वयस्य स्यादनन्तभागाधिकं च जघन्यप्रदेशबन्धं करोति ।

तदनु गाथाद्वयेन देवद्विकप्रधानः प्रस्तुतसन्निकर्षो दर्शितस्तत्र नाम्नां स्वस्थानवत्प्रस्तुतसन्निकर्षो बोध्यः, तथा देवायुर्ज्ञानावरणपञ्चकान्तरायपञ्चकोच्चैर्गोत्रसातवेदनीयरूपाणां त्रयोदशानां नियमेन जघन्यप्रदेशबन्धं च करोति, पुरुषवेदसंज्वलनचतुष्कदर्शनावरणषट्कहास्यरतिभयजुगुप्सानां नियमेनानन्तभागाधिकं जघन्यप्रदेशबन्धं करोति, प्रस्तुतबन्धकस्य जिननामसहितं देवप्रायोग्यैकोनत्रिंशदेकत्रिंशत्स्थानबन्धकत्वेन नियमतः सम्यग्दृष्टित्वात्पुरुषवेदादीनामनन्तभागाधिको जघन्यप्रदेशबन्धो विज्ञेयः। प्रस्तुतबन्धकस्य देवायुर्बन्धसहितत्वेन हास्यरतिसातवेदनीयानां नियमतो बन्धो भवति। मध्यमकषायाष्टकस्य स्यादनन्तभागाधिकं च

जघन्यप्रदेशबन्धं करोति, प्रस्तुतबन्धकस्य चतुर्थादिसप्तमान्तगुणस्थानभावित्वात्स्यादिति । तथा देवद्विकजघन्यप्रदेशबन्धकः स्त्यानर्द्धित्रिकादिप्रकृतीर्नैव बध्नातीति ।

ततो गाथाद्वयेनैकान्तासंज्ञितिर्यक्प्रायोग्याणा जातिचतुष्कस्थावरसूक्ष्मसाधारणातपनाम्नां प्रत्येकं प्रधानीकृत्य प्रस्तुतसन्निकर्षो दर्शितः, तत्र एताभ्यः प्रधानीकृतप्रकृत्या सह शेषबन्धयोग्यनामप्रकृतीनां स्वस्थानवत् प्रस्तुतसन्निकर्षो विज्ञेयः। तथा स प्रस्तुतबन्धको नामवर्जानामष्टात्रिंशद्ध्रुवबन्धिप्रकृतीनां तिर्यगायुर्नपुंसकवेदनीचैर्गोत्राणां च नियमेन जघन्यप्रदेशबन्धं करोति, वेदनीयद्वयस्य हास्यादियुगलद्वयस्य च स्याज्जघन्यप्रदेशबन्धं करोति। स्त्रीपुंवेदोच्चैर्गोत्राणां स बन्धमेव न करोतीति न तन्निर्देशः। शेषभावना तु सुगमा।

ततो गाथाद्वयेनैकत्रिंशद्बन्धस्थानेऽप्रमत्तसंयतस्यैव जघन्यप्रदेशबन्धप्रायोग्याणां तैजसकार्मणशरीरद्वयवैक्रियद्विकाहारकद्विकनाम्नां शरीरचतुष्काङ्गोपाङ्गद्वयरूपषण्णां नामप्रकृतीनां प्रत्येकं प्रधानीकृत्य प्रस्तुतसन्निकर्षो निरूपितः, तत्र बन्धार्हनामप्रकृतीनां स्वस्थानवत्प्रस्तुतसन्निकर्षो विज्ञेयस्तथा स देवायुर्ज्ञानावरणपञ्चकान्तरायपञ्चकोच्चैर्गोत्रसातवेदनीयानां नियमेन जघन्यप्रदेशबन्धं च करोति, पुरुषवेदसंज्वलनचतुष्कदर्शनावरणषट्कहास्यरतिभयजुगुप्सानां पञ्चदशानां नियमेन बन्धं करोति, अनन्तभागाधिकं जघन्यप्रदेशबन्धं करोति, भावना तु सुगमा।

तदनु गाथाद्वयेनाऽपर्याप्तनामप्रधानीकृत्य प्रस्तुतसन्निकर्षं प्ररूपयन्नाह–"बंधमाणो" इत्यादि, अपर्याप्तनाम्नो जघन्यप्रदेशबन्धं कुर्वन् तेन सह बन्धप्रायोग्यनाम्नां स्वस्थानवत्सन्निकर्षो विज्ञेयः, तथा स नामवर्जानामष्टात्रिंशद्ध्रुवबन्धिप्रकृतीनां नपुंसकवेदनीचैर्गोत्रयोश्चेति चत्वारिंशतो नियमेन जघन्यप्रदेशबन्धं च करोति, वेदनीयद्वययुगलद्वयरूपाणां षण्णा स्याद्बन्धं जघन्यप्रदेशबन्धं च निर्वर्तयति, भावना तु सुगमा। पुरुषवेदस्त्रीवेदोच्चैर्गोत्राणां स अपर्याप्तनामबन्धको बन्धमेव न करोति।

अथ गाथात्रयेण सम्यग्दृष्टि-मिथ्यादृष्ट्योर्यासां जघन्यप्रदेशबन्धं नाम्नस्त्रिंशद्बन्धस्थाने निर्वर्तयति तासां प्रत्येकं प्रधानीकृत्य प्रस्तुतसन्निकर्षं "सेसाणं णामाणं" इत्यादिना दर्शयति- अत्र शेषा अष्टाविंशतिनामप्रकृतयः पुनरिमाः-पञ्चेन्द्रियजातिनामौदारिकद्विकप्रथमसंहननसंस्थानसुखगतिवर्णचतुष्कागुरुलघुचतुष्कनिर्माणत्रसदशकास्थिराशुभायशःकीर्तिनामानि, एताः प्रधानीकृत्य प्रस्तुतसन्निकर्षं भणमाणे नाम्नः स्वस्थानसन्निकर्षवत् प्रस्तुतं विज्ञेयम्। तथा स ज्ञानावरणपञ्चकान्तरायपञ्चकयोर्नियमेन जघन्यप्रदेशबन्धं च करोति। स्त्यानर्द्धित्रिकवेदनीयद्वयतिर्यग्मनुष्यायुर्द्वयमिथ्यात्वानन्तानुबन्धिचतुष्कस्त्रीवेदनपुंसकवेदगोत्रद्वयानां च षोडशानां स स्याद्बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु तासां जघन्यमेवेति, दर्शनावरणषट्काद्यवर्जद्वादशकषायभयजुगुप्सानां विंशतेः स नियमेन बन्धं करोति, प्रदेशबन्धमपि तासां प्रथमगुणस्थाने जघन्यं चतु-

र्थगुणस्थानेऽनन्तभागाधिकजघन्यं करोति, हास्यादियुगलद्वयपुरुषवेदयोः स्याद्बन्धं जघन्यप्रदेशबन्धमनन्तभागाऽधिकजघन्यप्रदेशबन्धं वा करोति । उक्ताष्टाविंशतिप्रकृतीनां जघन्यप्रदेशबन्धकस्य देवनरकप्रायोग्यबन्धाभावेन देवनरकायुषोर्बन्धमेव स न करोति, अतस्तिर्यग्मनुष्यायुषोरन्यतरस्य एवात्र ग्रहणं विज्ञेयम् , शेषभावना तु सुगमा ।

एवं मनोयोगादिमार्गणाऽष्टके नामकर्मप्रधानं परस्थानजघन्यप्रदेशबन्धसन्निकर्षं निरूप्योच्चैर्गोत्रकर्मप्रधानीकृत्य प्ररूपयन्नाह-'उच्चस्से' त्यादि, उच्चैर्गोत्रस्य जघन्यं प्रदेशबन्धं कुर्वन् नामायुर्गोत्रवर्जपञ्चकर्मसत्कोत्तरप्रकृतीनां मतिज्ञानावरणप्रधानसन्निकर्षवत्स्यान्नियतादिकं जघन्यादिप्रदेशबन्धं च करोति । तद्यथा-ज्ञानावरणपञ्चकान्तरायपञ्चकयोर्नियमेन जघन्यप्रदेशबन्धं च करोति । स्त्यानर्द्धित्रिकानन्तानुबन्धिकषायचतुष्कमिथ्यात्वस्त्रीवेदनपुंसकवेदवेदनीयद्वयानां द्वादशानां स्याज्जघन्यप्रदेशबन्धं च करोति । मध्यमकषायाऽष्टकहास्यादियुगलद्वयपुरुषवेदरूपाणां त्रयोदशानां स्याद्बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु जघन्यमनन्तभागाधिकजघन्यं वा बध्नाति । दर्शनावरणषट्कसंज्वलनचतुष्कभयजुगुप्सानां नियमतो बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु द्विविधं करोति । नीचैर्गोत्रं नरकतिर्यगायुषी च नैव बध्नाति । देवमनुष्यायुषोः स्याद्बन्धको भवति, अन्यतरत्तु प्रस्तुते नियमतो बध्नाति प्रदेशबन्धं तु तयोर्जघन्यमेव करोति । तथा स उच्चैर्गोत्रजघन्यप्रदेशबन्धको मनुष्यद्विकदेवद्विकवैक्रियद्विकाहारकद्विकौदारिकद्विकसुखगतिवज्रर्षभनाराचसंहननतीर्थकरनामसमचतुरस्रसुभगत्रिकस्थिरादियुगलत्रयरूपाणां त्रयोविंशतेः स्याद्बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु जघन्यं संख्यातभागाधिकजघन्यं वा करोति । अत्राऽऽसां सप्रतिपक्षत्वात्स्याद्बन्धः, प्रदेशबन्धस्तु ज्ञानावरणप्रधानसन्निकर्षवद्भावनीयः । अत्र वैक्रियाङ्गोपाङ्गस्य प्रदेशबन्धो ज्ञानवरणप्रधानसन्निकर्षे दर्शितप्रकारेण जघन्यः संख्यातभागाधिकाजघन्यो वा सातिरेकद्विगुणरूपाजघन्यो वा विज्ञेयः । तथा स नवनामध्रुवबन्धिनीनां पञ्चेन्द्रियजाति-पराघातोच्छ्वासत्रसचतुष्करूपाणां नियमेन बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु जघन्यं संख्यातभागाधिकजघन्यं वा करोति, मनुष्यप्रायोग्यं त्रिंशतं बध्नन् जघन्यम् , मनुष्यप्रायोग्यैकोनत्रिंशतं देवप्रायोग्यमष्टाविंशतिमेकोनत्रिंशतं त्रिंशतमेकत्रिंशतं वा बध्नन् संख्यातभागाधिकं जघन्यं करोति । भावना तु सुगमा । तथा स द्वितीयादिसंहननसंस्थानपञ्चककुखगतिदुर्भगत्रिकाणां चतुर्दशानां स्याद्बन्धं करोति सप्रतिपक्षत्वात्प्रदेशबन्धं तु संख्यातभागाधिकमेव, मनुष्यप्रायोग्यं त्रिंशतं बध्नन् आसां बन्धाभावेन मनुष्यप्रायोग्यमेकोनत्रिंशतं बध्नन्नेवैता बध्नाति, अतः संख्यातभागाधिकत्वम् । शेषा नामसत्का नरकद्विकतिर्यग्द्विकजातिचतुष्कातपोद्योतस्थावरचतुष्कनामानि चतुर्दश नैव बध्नाति, प्रस्तुतबन्धकस्य देवप्रायोग्यस्य पर्याप्तमनुष्यप्रायोग्यस्यैव वा बन्धभावात् । तदेवं-पञ्चपञ्चाशद् गाथाभिर्मनोयोगपञ्चक-वचोयोगत्रयरूपास्वष्टमार्गणासु प्रस्तुतपरस्थानजघन्यप्रदेशबन्धसन्निकर्षो दर्शितः ॥१२२-७६॥

अथ वचन योगौघ-व्यवहारवचनयोगद्वये परस्थानजघन्यप्रदेशबन्धसन्निकर्षं दर्शयन्नाह—

विउव्वअडगस्स दुवयेसु तिरिक्खिव्व तिरियाउल्हुबंधी। बंधेइ लहुपएसं णियमा धुववंधिणीआणं ॥
बंधइ लहु सिआऽऽयवदुवेअणीअसगणोकसायाणं। णियमा बंधइ तिरिदुगउरालधुववंधिणामाणं ॥
लहुमुअ संखंसहियं सिआऽण्णतिरिजोग्गणामाणं। णियमा धुववंधीणऽडतीसाअ लहु णराउलहुवंधी ॥
वधइ सिआ जहण्णं सायियरतिवेअजुगलगोआणं। णियमा बंधइ लहुमुअ संखंसहिय णरदुगस्स ॥
णियमा पणिंदियउरलदुगधुवपत्तेअवायरतसाणं। बंधइ संखंसहियं सिआऽण्णणरजोग्गणामाणं ॥
सेसाणोघव्व णवरि जहण्णगं णरदुगुच्चलहुवंधी। मणुयाउगस्स णियमा जिणलहुवंधी असंखगुणं ॥
तिरियमणुयाउगाणं सिआ जहण्णं तु बंधइ पएसं। णामरहियसेसपयडिअडयालीसाअ लहुवंधी ॥
तिरियाउगस्स णियमा आहारदुगरहिअऽण्णलहुवंधी। लहुमाहारगदुगलहुवंधी तित्थस्स संखभागहियं ॥

(वृत्तं यद्वितिस्तथाद्यमी गीतिः) ॥१३७७-१३८४॥

(प्रे०) "विउव्वअड" इत्यादि, गाथाऽष्टकम्, वचनयोगौघ-व्यवहारवचनयोगमार्गणाद्वये वैक्रियद्विकदेवत्रिकनरकत्रिकरूपं वैक्रियाष्टकं प्रधानीकृत्य प्रस्तुतसन्निकर्षस्तिरश्चीमार्गणावद्भवति, भावना अत्रापि तद्वद्विधेया। तिर्यगायुषो जघन्यप्रदेशबन्धं कुर्वन् ज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरणनवककषायषोडशकभयजुगुप्सामिथ्यात्वान्तरायपञ्चकरूपाणामष्टात्रिंशन्नामेतरध्रुवबन्धिनीनां नीचैर्गोत्रस्य च नियमेन जघन्यप्रदेशबन्धं च करोति. पर्याप्तवोलमानयोगरथस्य द्वीन्द्रियस्य मार्गणागतजघन्ययोगवत्त्वात् प्रस्तुतबन्धकस्यापि तथात्वाज्जघन्यमेव प्रदेशबन्धं स करोति। तथा स सातासातवेदनीयहास्यादियुगलद्वयवेदत्रयातपनाम्नां स्याज्जघन्यप्रदेशबन्धं च करोति। तिर्यग्द्विकौदारिकशरीरनवनामध्रुवबन्धिप्रकृतीनां नियमेन बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु तासां जघन्यं संख्यातभागाधिकं जघन्यं वा करोति, नाम्नो नानाबन्धस्थानकस्य संभवेन त्रिंशद्बन्धकस्य जघन्यम्, एकोनत्रिंशदादिबन्धकस्य संख्यातभागाधिकं जघन्यम्। तिर्यग्गतिप्रायोग्याणामुक्तशेषाणां नाम्नां स्याद्बन्धं जघन्यप्रदेशबन्धं संख्यातभागाधिकजघन्यप्रदेशबन्धं च करोति, भावना तु सुगमा। शेषनामप्रकृतयस्त्विमाः—जातिपञ्चकौदारिकाङ्गोपाङ्गसंहननषट्कसंस्थानषट्कखगतिद्वयपराघातोच्छ्वासोद्योतनामत्रसदशकस्थावरदशकनामानीति त्रिचत्वारिंशत्।

मनुष्यायुषो जघन्यप्रदेशबन्धं कुर्वन् नामवर्जानामष्टात्रिंशद्ध्रुवबन्धिप्रकृतीनां नियमेन जघन्यप्रदेशबन्धं च करोति। तथा स मनुष्यायुर्जघन्यप्रदेशबन्धकः सातासातवेदनीयहास्यादियुगलद्वयवेदत्रयगोत्रद्वयरूपाणामेकादशानां स्याज्जघन्यप्रदेशबन्धं च करोति। भावना तु सुगमा। तथा स मनुष्यद्विकौदारिकशरीरौदारिकाङ्गोपाङ्गलक्षणौदारिकद्विकनवनामध्रुवबन्धिपञ्चेन्द्रियजातित्रसबादरप्रत्येकनाम्नां सप्तदशानां नियमेन बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु मनुष्यद्विकस्यैकोनत्रिंशद्बन्धकस्य जघन्यम्, पञ्चविंशतिं बध्नतः संख्यातभागाधिकं जघन्यम्, शेषाणां पञ्चदशानां संख्यातभागाधिकमेव प्रदेशबन्धं करोति, आसां जघन्यप्रदेशबन्धस्य

त्रिंशद्बन्धस्थानगतस्यैव भावात्प्रस्तुतबन्धकस्य त्रिंशद्बन्धस्थानस्यैवासंभवात् । शेषाणां मनुष्यप्रायोग्याणां नामप्रकृतीनां स्याद्बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु स्वजघन्यतः संख्यातभागाधिकमेव, प्रस्तुतबन्धकस्य त्रिंशद्बन्धस्थानस्यैवाभावात् । शेषप्रकृतयः पुनरिमाः–संहननषट्कसंस्थानषट्कखग तेद्वय-पराघातोच्छ्वासपर्याप्तऽपर्याप्तस्थिरषट्कास्थिरषट्कनामानीति त्रिंशत् । एवं सार्धगाथाचतुष्केण वचनयोगमार्गणाद्वये वैक्रियाष्टकस्य तिर्यग्मनुष्यायुषोः सन्निकर्षो दर्शितः । शेषाणां दशोत्तरशतस्य प्रत्येकं प्रधानीकृत्य प्रस्तुतसन्निकर्षे वक्ष्यमाणापवादपदानि विहायौघवत् सन्निकर्षगमो भवति अत्र स्वामिनां भिन्नत्वेऽपि बन्धस्थानानां तुल्यत्वात् सन्निकर्षस्यालाप ओघवद्भवति, केवलमत्र वचनयोगमार्गणाद्वये द्वीन्द्रियस्य ज्ञानावरणादिसप्तोत्तरशतप्रकृतिजघन्यप्रदेशबन्धसन्निकर्षे आयुषो बन्धो नियमेन भवति, अष्टविधबन्धकस्य परावर्तमानजघन्ययोगिन एव ज्ञानावरणादीनां जघन्यप्रदेशबन्धस्वामित्वात् । तत्र मनुष्यद्विकोच्चैर्गोत्रयोर्जघन्यप्रदेशबन्धको मनुष्यायुषो नियमेन जघन्यप्रदेशबन्धं च करोति, ओघे तु स आयुरेव न बध्नाति, भवप्रथमसमये तस्य वर्तमानत्वात् । तथा जिननामजघन्यप्रदेशबन्धकः प्रस्तुते मनुष्यायुषो नियमेन बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु तस्य स्वजघन्यप्रदेशतोऽसंख्येयगुणम् , अस्य जघन्यप्रदेशबन्धस्य द्वीन्द्रियस्य पर्याप्तस्य घोलमानयोगिन एव भावात् , जिननामजघन्यप्रदेशबन्धकस्तु सम्यग्दृष्टिर्देवनारको वा परावर्तमानजघन्ययोगी भवति, तद्योगस्य च द्वीन्द्रिययोगतोऽसंख्येयगुणत्वान्मनुष्यायुषोऽसंख्येयगुणाधिकमेव प्रदेशबन्धं स करोति, ओघे तु जिननामजघन्यप्रदेशबन्धक आयुरेव न बध्नातीति । तथा ज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरणनवकमोहनीयषड्विंशतिवेदनीयद्वयनीचैर्गोत्रान्तरायपञ्चकरूपाणामष्टचत्वारिंशत्प्रकृतीनां अपर्याप्तनाम्नश्च प्रत्येकं प्रधानीकृत्य परस्थानजघन्यप्रदेशबन्धसन्निकर्षे तिर्यग्मनुष्यायुषोः स्याद्बन्धं करोति, अन्यतरत् तु स नियमेन, प्रदेशबन्धं तु स जघन्यमेवेति । तथा तिर्यग्द्विकजातिपञ्चकौदारिकद्विकनवनामध्रुवबन्धिसंहननषट्कसंस्थानषट्कखगतिद्वयपराघातोच्छ्वासातपोद्योतत्रसदशकस्थावरनवकनामानि, तासां पञ्चपञ्चाशतः प्रत्येकं प्रधानीकृत्य प्रस्तुतसन्निकर्षे तिर्यगायुषो नियमेन जघन्यप्रदेशबन्धं च करोति, आसां जघन्यप्रदेशबन्धस्य तिर्यक्प्रायोग्यबन्धकस्यैव भावात् । ओघे त्वासां चतुरुत्तरशतस्य जघन्यप्रदेशबन्धक आयुषो बन्धमेव न करोति, अतोऽपवादभणनम् । तथाऽऽहारकद्विकजघन्यप्रदेशबन्धको जिननाम्नो नियमेन संख्यातभागाधिकजघन्यप्रदेशबन्धं च करोति, तज्जघन्यप्रदेशबन्धस्याष्टविधबन्धकस्य नाम्नस्त्रिंशद्बन्धकस्य देवस्य नैरयिकस्य वा भावेन प्रस्तुते स तस्य संख्यातभागाधिकजघन्यप्रदेशं बध्नाति, ओघे तु भवप्रथमसमये जिननाम्नो जघन्यप्रदेशबन्धलाभेनाऽऽहारकद्विकजघन्यप्रदेशबन्धकाले जिननाम्नोऽसंख्येयगुणाधिकजघन्यप्रदेशबन्धो भवति, अतस्ततो विशेषभणनम् । शेषभावना त्वोघानुसारतः स्वयमवधेया ॥१३७७-१३८४॥

अथ वैक्रियमिश्र आहारकयोगद्वये देशविरतिमार्गणायां च परस्थानजघन्यप्रदेशबन्धसन्निकर्षं प्ररूपयन्नाह—

सप्पाउग्गाण विउव्वमीसे विउव्वव्व एगलहुबंधी । आहारदुगे देसेऽसायअरइसोगणामवज्जाओ ॥
णियमाऽण्णाण लहुं सिअ जिणस्स बंधेइ णियमओऽण्णेसिं । अथिरासुहाजसरहिअणामाण लहुमुअ संखभागहियं
सोगारईण हस्सं असायलहुबंधगा सिआ कुणए । अथिरअसुहअजसाणं लहुं अहव संखभागहियं ॥
हस्सरइथिरसुहजसजिणाण सिआ कुणइ संखभागहियं । णियमा सायसुराउगवज्जाणेमेव सोगअरईणं ॥
अथिरअसुहअजसाणं लहुबंधी बंधए सठाणव्व । णामाण लहुं बंधइ असाय सोगारईण सिआ ॥
णियमा धुवबंधीणं तहा पुरिसवेअउच्चगोआणं । बंधइ संखंसहियं सिआ उ सायरइहस्साणं ॥
सेसाणं णामाणं लहुबंधी बंधए सठाणव्व । णामाणं पयडीणं णाणावरणव्व सेसाणं ॥

(प्रथमाद्वितीया चतुर्थी च गीतिः) ॥१३८५-१३९१॥

(प्रे०) "**सप्पाउग्गाणे**"त्यादि, वैक्रियमिश्रकाययोगे स्वप्रायोग्याणां द्व्युत्तरशतस्य परस्थानजघन्यप्रदेशबन्धसन्निकर्षो वैक्रियकाययोगसन्निकर्षवद्भवति, उभयत्राऽऽयुर्वर्जशेषप्रकृतिप्रधानजघन्यप्रदेशबन्धसन्निकर्षे आयुषो बन्धाभावादासां द्व्युत्तरशतस्य जघन्यप्रदेशबन्धस्वामिनां गुणस्थानादिना बन्धस्थानादिना च तुल्यत्वाद्भावना तु वैक्रियकाययोगप्रधानसन्निकर्षमवलम्ब्य स्वतः कार्या सुगमा चेति ।

"**एगे**"त्यादि, आहारकतन्मिश्रदेशविरतिमार्गणासु परस्थानजघन्यप्रदेशबन्धसन्निकर्षो निरूपणीयः, एतासु मार्गणासु केवलं देवायुष एव बन्धः, तथाऽसातादिप्रकृतिषट्कं विहाय शेषाणां जघन्यप्रदेशबन्धमष्टविधमूलप्रकृतिबन्धक एव करोति, असातादिषण्णां सप्तविधबन्धकस्तदनुसारेण प्रस्तुतसन्निकर्ष आहारकमार्गणाद्विके देशविरतौ च विज्ञेयः । तत्र ज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरणषट्कसंज्वलनचतुष्कभयजुगुप्साऽन्तरायपञ्चकहास्यरतिपुंवेदसातवेदनीयोच्चैर्गोत्रदेवायुषामन्यतमस्या जघन्यप्रदेशबन्धं कुर्वन् शेषाणां सप्तविंशतेर्नियमेन जघन्यप्रदेशबन्धं च करोति, जिननाम्नः स्याद्बन्धं जघन्यप्रदेशबन्धं च करोति । शेषाणामस्थिराशुभायशःकीर्तिवर्जानां देवप्रायोग्याणामष्टाविंशतेर्नामप्रकृतीनां नियमेन बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु जिननाम बध्नन् प्रस्तुतबन्धको जघन्यं करोति, जिननामबन्धाभावे तु संख्यातभागाधिकं जघन्यं करोति । देशविरत्यामेवमेव, केवलं प्रत्याख्यानावरणचतुष्कस्य तत्रावश्यं बन्धभावाज्ज्ञानावरणवत्तस्य सन्निकर्षो वाच्यः ।

असातवेदनीयस्य जघन्यं प्रदेशं बध्नन्नरतिशोकयोः स्याज्जघन्यप्रदेशबन्धं च करोति, अस्थिराशुभायशःकीर्तिनामानि स्याद्बध्नाति, प्रदेशबन्धं तु नाम्न एकोनत्रिंशद्बन्धस्थाने वर्तमानो जघन्यम् , अष्टाविंशतिबन्धस्थाने वर्तमानः संख्यातभागाधिकं जघन्यं करोति । हास्यरतिस्थिरशुभ-

यशःकीर्तिजिननाम्नां सप्रतिपक्षाणामपि बन्धप्रायोग्यत्वेन स्याद्बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु संख्यातभागाधिकमेव, आसां जघन्यप्रदेशबन्धस्यायुर्बन्धसहितस्यैव भावात् प्रस्तुतबन्धकस्यायुषोऽबध्यमानत्वाच्च । सातवेदनीयं देवायुश्च नैव बध्नाति । शेषाणामाहारकद्विकमार्गणायामेकोनपञ्चाशत्प्रकृतीनां देशविरतिमार्गणायां प्रत्याख्यानावरणचतुष्कसहितानां त्रिपञ्चाशत्प्रकृतीनां नियमेन संख्यातभागाधिकजघन्यप्रदेशबन्धं च करोति। एवमेव शोकारतिप्रधानसन्निकर्षोऽपि विज्ञेयः, केवलं हास्यरत्योर्बन्धं नैव करोति । सातवेदनीयस्य स्यात्संख्यातभागाधिकजघन्यप्रदेशबन्धं च करोति। अस्थिराशुभायशःकीर्तिनाम्नामन्यतमस्या जघन्यप्रदेशबन्धं कुर्वन् शेषद्वयोररतिशोकासातवेदनीयानां च स्याद्बन्धं जघन्यप्रदेशबन्धं च करोति, यथासंभवं प्रतिपक्षं विहाय स्थिरशुभयशःकीर्तिनामभ्यो द्वयोर्हास्यरतिसातवेदनीयानां जिननाम्नश्च स्याद्बन्धं संख्यातभागाधिकजघन्यप्रदेशबन्धं च करोति, देवायुः प्रतिप्रक्षप्रकृतिं च नैव बध्नाति । शेषाणां नाम्नां पञ्चविंशतेः प्रकृतीनां मतिज्ञानावरणादीनां चतुर्विंशतेश्चेति नवचत्वारिंशत्प्रकृतीनां नियमेन संख्यातभागाधिकजघन्यप्रदेशबन्धं करोति । देशविरत्यां प्रत्याख्यानावरणचतुष्कसहितानां त्रिपञ्चाशत्प्रकृतीनां नियमेन संख्यातभागाधिकजघन्यप्रदेशबन्धं च करोति, भावना तु सुगमा ।

तथा देवद्विकपञ्चेन्द्रियजातिनामवैक्रियद्विकतैजसकार्मणशरीरद्वयसमचतुरस्रसुखगतिवर्णचतुष्कागुरुलघुचतुष्कनिर्माणजिननामत्रसदशकनामानीत्येकोनत्रिंशत्प्रकृतिष्वेकस्या जघन्यप्रदेशबन्धं कुर्वन् शेषाष्टाविंशतेर्नियमेन जघन्यप्रदेशबन्धं च करोति, ज्ञानावरणादीनामष्टाविंशतेर्देशविरतिमार्गणायां प्रत्याख्यानावरणयुतद्वात्रिंशतो नियमेन जघन्यप्रदेशबन्धं च करोति, असातवेदनीयशोकारतिमोहनीयास्थिराशुभयशःकीर्तिनामानि नैव बध्नाति । भावना तु सुगमा ।

औदारिककाययोगे तन्मिश्रे च प्राग् मनुष्यादिमार्गणाभिः सह तथा वैक्रियकाययोगे सौधर्मदेवमार्गणायाः प्ररूपणावसरे तया सह प्रस्तुतसन्निकर्षो निरूपितस्तथा कार्मणकाययोगमार्गणायामोघवत्प्रस्तुतसन्निकर्षस्य भावात् **"सेसासु ओघव्व"** इत्यादिना प्रान्ते निरूपयिष्यति । १३८५-१३९१॥

एवं योगमार्गणाभेदेषु सप्रभेदं परस्थानजघन्यप्रदेशबन्धसन्निकर्षं निरूप्य स्त्रीनपुंसकवेदमार्गणाद्वये प्रस्तुतसन्निकर्षं निरूपयन्नाह—

माणुसिणिव्वित्थीए विउवछगजिणाण विउवअडगस्स । तिरिजोणिणव्व णपुमे दोसु वि ओघव्व सेसाणं ॥ ।१३९२॥

(प्रे०) **"माणुसि"** इत्यादि, स्त्रीवेदमार्गणायां वैक्रियषट्कजिननामरूपसप्तप्रकृतीनां प्रत्येकं प्रधानीकृत्य प्रस्तुतसन्निकर्षो माणुषीमार्गणावद्विज्ञेयः, यतो मानुषीमार्गणावदत्रापि देवद्विकवैक्रियद्विकजिननाम्नां भवप्रथमसमये देवप्रायोग्यामेकोनत्रिंशतं बध्नन् जघन्यप्रदेशबन्धं करोति, नरकद्विकस्य तु तद्वदेव परावर्तमानयोग्यष्टविधमूलप्रकृतिबन्धको जघन्यप्रदेशबन्धं विदधाति,

इति न सन्निकर्षस्य मानुषीभ्यः कश्चिद्विशेषः, भावनायां नरकद्विकप्रधाने भवति विशेषः, स चोपयुज्य वाच्यः सुगमश्चेति । यद्वा मतान्तरमधिकृत्य प्रस्तुतसन्निकर्षस्तद्वदेव व्याख्येयः, तत्रापि मतद्वयस्य दर्शितत्वात् ।

शेषाणां त्रयोदशोत्तरशतस्य प्रस्तुतसन्निकर्ष ओघवद्विज्ञेयः, ओघवत् सूक्ष्माणामत्राऽप्रवेशेऽपि सप्तोत्तरशतस्यासंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्य लब्धिपर्याप्तकस्य भवप्रथमसमय एव जघन्यप्रदेशबन्धभावेन बन्धस्थानादिना च तत्तुल्यत्वात् । एवं तिर्यग्मनुष्यायुषः पर्याप्तासंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्य जघन्यप्रदेशबन्धकत्वेऽपि तयोः सह बन्धार्हप्रकृतीनामसंख्येयगुणरूपस्य प्रदेशबन्धस्य ओघतुल्यगमकत्वात् सन्निकर्षोऽप्योघतुल्यः प्राप्यते । आहारकद्विकप्रधानेऽपि भावना ओघानुसारेण यथासंभवं विधेया सुगमा च । एवं देवनरकायुःप्रधानसन्निकर्षोऽप्योघानुसारेण भावनीयः । मतान्तरमधिकृत्याहारकद्विकप्रधानसन्निकर्षो देवनरकायुःप्रधानसन्निकर्षश्च मानुषीमार्गणावद्विज्ञेयः, यश्चौघतो विशेषः, स मानुषीमार्गणामधिकृत्य विभावनीय इति । नपुंसकवेदमार्गणायां वैक्रियाष्टकस्य तिरश्चीमार्गणावत्प्रस्तुतसन्निकर्षो विज्ञेयः, तद्वदत्राप्यसंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्यैव तज्जघन्यप्रदेशबन्धस्वामित्वात् । शेषाणां द्वादशोत्तरशतस्योघवत्प्रस्तुतसन्निकर्षो विज्ञेयः, ओघवदेवात्र नवोत्तरशतस्य सूक्ष्माणां, जिननाम्नो नैरयिकस्याऽऽहारकद्विकस्याप्रमत्तसंयतस्य जघन्यप्रदेशबन्धस्वामित्वात् । केवलं आहारकद्विकप्रधाने देवद्विकवैक्रियद्विकयोः प्रदेशबन्धस्याऽसंख्यगुणाधिकत्वे भावनायां यो विशेषः, स सुगमः, स्वयं विभावनीयः । एवं स्त्रीनपुंसकवेदमार्गणाद्वये प्रस्तुतसन्निकर्षो निरूपितः ॥१३९२॥

पुरुषवेदमार्गणायां तु शेषमार्गणाभिः सह प्रान्ते प्रस्तुतसन्निकर्षो दर्शयिष्यति । ततः क्रमप्राप्तापगतवेदमार्गणायां प्रस्तुतसन्निकर्षं प्ररूपयन्नाह—

एगस्स अवेए लहुबंधी संजलणचउगवज्जाओ । सेसाण लहुं णियमा लोहस्स लहुमहवा दुठाणगयं ॥
हस्सं कोहस्स सिआ माणस्स लहुमुअ संखभागहियं । मायाअ सिआ बंधइ जहण्णमहवा दुठाणगयं ॥
अंतिमकोहस्स लहुं बंधंतो बंधए लहुं णियमा । सेसाणं वीसाए संजलणतिगस्स एमेव ॥
॥१३९३-१३९५॥ (प्रथमागीतिः)

(प्रे०) "एगस्से"त्यादि, अपगतवेदमार्गणायां ज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरणचतुष्कान्तरायपञ्चकसातवेदनीययशःकीर्त्युच्चैर्गोत्ररूपाणां सप्तदशानामन्यतमस्या जघन्यप्रदेशबन्धं कुर्वन् शेषाणां षोडशानां नियमेन जघन्यप्रदेशबन्धं च करोति, आसां जघन्यप्रदेशबन्धो नवमगुणस्थाने द्वितीयादिपञ्चमान्तभागेषु भवति ततः संज्वलनलोभस्य नियमेन बन्धः । शेषाणां त्रयाणां संज्वलनक्रोधमानमायानां स्याद्बन्धं करोति, तत्र संज्वलनक्रोधस्य जघन्यप्रदेशबन्धमेव करोति, संज्वलनमानस्य संज्वलनक्रोधबन्धकाले जघन्यं तदबन्धकाले त्रिविधबन्धकस्य संख्यातभागा-

धिकजघन्यं प्रदेशबन्धं करोति । संज्वलनमायायाः संज्वलनलोभस्य च जघन्यं संख्यातभागाधिकजघन्यं संख्यातगुणं वा बध्नाति । तत्र चतुर्विधबन्धकस्य जघन्यं त्रिविधबन्धकस्य संख्यातभागाधिकजघन्यं द्विविधबन्धकस्यैकविधबन्धकस्य च संख्यातगुणाधिकं जघन्यं करोति । संज्वलनचतुष्केष्वन्यतमस्य जघन्यप्रदेशबन्धं कुर्वन् शेषत्रयस्य ज्ञानावरणादिसप्तदशानां चेति विंशतेर्नियमेन बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु तासां विंशतेरपि जघन्यमिति, भावना तु सुगमा । एवं वेदमार्गणाभेदचतुष्के प्रस्तुतसन्निकर्षः समाप्तः ॥१३९३-१३९५॥

तदनु क्रमप्राप्तकषायमार्गणाचतुष्क ओघवत्प्रस्तुतसन्निकर्षस्य भावेन प्रान्ते "**सेसासु ओघव्व**" इत्यनेन वक्ष्यमाणत्वात् ता विहाय तदनु प्राप्तज्ञानमार्गणोत्तरभेदेषु तत्तुल्यप्रायोवक्तव्यत्वादन्यमार्गणा अपि संगृह्य तासु परस्थानजघन्यप्रदेशबन्धसन्निकर्षं दर्शयति—

एगस्स तिणाणावहिसम्मखइअवेअगेसु लहुवंधी । पुरिसुच्चाओ तह धुववंधीओ णामवज्जाओ ॥
णियमाऽण्णाण जहण्णं सिआ उण दुवेअणीअजुगलाणं । णरसुरउरलविउव्वदुगवइरजिणथिराइतिजुगलाण सिआ ॥
लहुमुअ संखंसहियं सेसाहारदुगवज्जणामाणं । णियमा वंधइ एवं दुवेअणीअजुगलाण भवे ॥
मणुयाउहस्सवंधी जिणस्स सायाइवारसण्ह सिआ । वंधेइ असंखगुणं णियमाऽण्णाण णरजोग्गाणं ॥
देवाउहस्सवंधी असंखगुणमडकसायतित्थाणं । सिअ आहारदुगस्स उ जहण्णमुअ संखभागहियं ॥
वंधेइ असंखगुणं णियमा धुववंधिएगतीसाए । रइहस्सपुमाणं तह सुहसुरजोग्गाण एगवीसाए ॥
एगस्साहारदुगा लहुवंधीयरसुराउगाण लहुं । णियमा असंखियगुणं तज्जोग्गछवण्णसेसाणं ॥
सेसाणं णामाणं लहुवंधी वंधए सठाणव्व । णामाणं पयडीणं णाणावरणव्व सेसाणं ॥
(द्वितीया षष्ठी च गीतिः) ॥१३९६-१४०३॥

(प्रे०) 'एगस्से'त्यादि, मतिश्रुतावधिज्ञानत्रयाऽवधिदर्शनसम्यक्त्वौघक्षायिकसम्यक्त्वक्षयोपशमसम्यक्त्वरूपासु सप्तसु मार्गणासु ज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरणषट्काऽऽद्यवर्जद्वादशकषायभयजुगुप्साऽन्तरायपञ्चकपुरुषवेदोच्चैर्गोत्ररूपाणां द्वात्रिंशत्प्रकृतीनामन्यतमस्या जघन्यप्रदेशबन्धं कुर्वन् शेषैकत्रिंशत्प्रकृतीनां नियमेन जघन्यप्रदेशबन्धं च करोति, सातासातवेदनीयहास्यादियुगलद्वयरूपाणां षण्णां स्याज्जघन्यप्रदेशबन्धं च करोति, मनुष्यद्विकदेवद्विकौदारिकद्विकवैक्रियद्विकवज्रर्षभनाराचसंहननजिननामस्थिरादियुगलत्रयरूपाणां षोडशानां स्याद्बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु जघन्यं संख्यातभागाधिकजघन्यं वा करोति, तत्रासां भिन्नभिन्नजीवापेक्षया स्याद्बन्धः, नानाबन्धस्थान आसां बन्धसंभवाद् द्विविधप्रदेशबन्धः, भावना तु सुगमा । शेषाणां पञ्चेन्द्रियजात्यादीनामेकविंशतेर्नियमेन बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु जघन्यं संख्यातभागाधिकजघन्यं वा करोति । आहारकद्विकं देवमनुष्यायुर्द्वयं च नैव बध्नाति, प्रस्तुतबन्धकस्य भवप्रथमसमय एव भावात् ।

यथा ज्ञानावरणप्रधानसन्निकर्षो निरूपितस्तथैव सातासातवेदनीयद्वयस्य हास्यादियुगलद्वयस्य च प्रत्येकं प्रधानीकृत्य प्रस्तुतसन्निकर्षो वक्तव्यः, केवलं तत्र प्रतिपक्षप्रकृतिर्न बध्यते इति विशेषः ।

मनुष्यायुषो जघन्यप्रदेशबन्धं कुर्वन् सर्वा बन्धप्रायोग्याप्रकृतीः स्वजघन्यप्रदेशबन्धतोऽसंख्येयगुणाधिका बध्नाति स्यान्नियतबन्धादिकं तु सुगमम् ।

देवायुर्जघन्यप्रदेशबन्धकश्चतुर्थादिसप्तमान्तगुणस्थानकेषु भवति ततः कषायाष्टकं जिननाम च स्याद्बध्नाति । प्रदेशबन्धं तु तासां नवानामसंख्येयगुणाधिकं करोति, आहारकद्विकं तु स स्याद्बध्नाति, प्रदेशबन्धं तु तस्यैकत्रिंशद्बध्नञ्जघन्यं करोति त्रिंशतं बध्नन् संख्यातभागाधिकं जघन्यमिति । शेषाणां सप्तमगुणस्थाने बन्धप्रायोग्याणां पञ्चपञ्चाशत्प्रकृतीनां नियमेनासंख्यगुणाधिकजघन्यप्रदेशबन्धं च करोति । भावना तु सुगमा ।

अथ आहारकद्विकप्रधानं प्रस्तुतसन्निकर्षं गाथया दर्शयति—"**एगस्से**"त्यादि, आहारकशरीरतदङ्गोपाङ्गरूपप्रकृतिद्वयादेकस्या जघन्यप्रदेशबन्धं कुर्वन् तदन्यस्या देवायुश्च नियमेन जघन्यप्रदेशबन्धं च करोति । शेषाणां देवगतिप्रायोग्याणां सप्तमगुणस्थाने बन्धयोग्यानां पञ्चपञ्चाशत्प्रकृतीनां नियमेन बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु तासां स्वजघन्यतोऽसंख्येयगुणाधिकं निर्वर्तयति, आसां जघन्यप्रदेशबन्धस्य भवप्रथमसमये भावेन तद्गतयोगतः प्रस्तुतबन्धकयोगस्यासंख्येयगुणत्वात् ।

अथ शेषाणां भवप्रथमसमये बन्धप्रायोग्याणां सप्तत्रिंशन्नामप्रकृतीनां प्रत्येकं प्रधानीकृत्य प्रस्तुतसन्निकर्षो दर्शयति-"**सेसाण**" मित्यादि, शेषनामप्रकृतयः पुनरिमाः-मनुष्यद्विकपञ्चेन्द्रियजातिनामौदारिकद्विकतैजसकार्मणशरीरवज्रर्षभनाराचसंहननसमचतुरस्रसुखगतिवर्णचतुष्कागुरुलघुचतुष्कनिर्माणजिननामत्रसदशकास्थिराशुभायशःकीर्तिनामानि देवद्विकवैक्रियद्विके चेति सप्तत्रिंशत् । एतासामन्यतमस्या जघन्यप्रदेशबन्धं कुर्वन् तया सह बन्धप्रायोग्याणां शेषनाम्नां स्वस्थानसन्निकर्षवच्छेषाणां ज्ञानावरणादीनामष्टात्रिंशत्प्रकृतीनामत्रैव दर्शितज्ञानावरणप्रधानसन्निकर्षवत्तासां स्यान्नियतबन्धादिकं जघन्याजघन्यादिप्रदेशबन्धं च करोति इति विज्ञेयम् । भावना तु सुगमप्राया स्वतोऽवधार्येति ॥१३९६-१४०३॥

अथ मनःपर्यवज्ञानादिपञ्चमार्गणासु प्रस्तुतं निरूपयन्नाह—

सायुच्चहस्सरइपुमसुराउगधुवाउ णामवज्जाओ । मणणाणसंजमेसुं समइअछेअपरिहारेसुं ॥
एगस्स हस्सवधी णियमाऽणेगेसिं लहुं जिणस्स सिआ । आहारदुगस्स सिआ लहुं अहव संखभागहियं ॥
णियमाओ सेसाण अथिरअसुहअजसवज्जणामाणं । आहारदुगव्व अरइसोगासायाथिरा-ऽसुह-ऽजसाणं ॥
सेसाणं णामाणं लहुबंधी बंधए सठाणव्व । णामाणं पयडीणं णाणावरणव्व सेसाणं ॥
॥१४०४-१४०७॥ (तृतीया गीतिः)

(प्रे०) "**सायुच्चे**"त्यादि, मनःपर्यवज्ञानसंयमसामान्यसामायिकच्छेदोपस्थापनीयसंयमपरिहारविशुद्धिसंयममार्गणासु ज्ञानावरणादीनामष्टविधबन्धकस्यैव जघन्यप्रदेशबन्धभावादायुषो

बन्धे शेषायुषां बन्धाभावेन देवायुष एव बन्धसंभवात्तेन सह सातवेदनीयहास्यरतिमोहनीयरूपप्रकृतित्रयस्य नियमेन बन्धभावादुच्चैर्गोत्रपुंवेदयोर्बन्धविच्छेदं यावन्मार्गणाप्रायोग्यध्रुवबन्धिकल्पत्वात् सातवेदनीयहास्यरतिपुरुषवेदोच्चैर्गोत्रदेवायुषां ज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरणषट्कसंज्वलनचतुष्कभयजुगुप्सान्तरायपञ्चकरूपाणां द्वाविंशतिध्रुवबन्धिप्रकृतीनां चेत्यष्टाविंशतेऽन्यतमस्या जघन्यप्रदेशबन्धं कुर्वन् शेषसप्तविंशतिप्रकृतीनां नियमेन बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु तासां जघन्यमेव करोति नानाविधबन्धस्थानाभावात् । असातवेदनीयशोकारत्यस्थिराशुभायशःकीर्तिनामानि तु नैव बध्नाति। तथा स जिननाम्नः स्याद्बन्धको भवति, प्रदेशबन्धं तु तस्य जघन्यमेव निर्वर्तयति, भावना तु सुगमा । तथा स आहारकद्विकस्य स्याद्बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु तस्यैकत्रिंशद्बन्धकस्य जघन्यं त्रिंशद्बन्धकस्य संख्यातभागाधिकं जघन्यमिति । शेषाणां देवगतिप्रायोग्याणामस्थिराशुभायशःकीर्तिवर्जानामष्टाविंशतिप्रकृतीनां स नियमेन बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु जघन्यं संख्यातभागाधिकजघन्यं वा करोतीति। एवं सार्धगाथाद्वयेनाष्टाविंशतिप्रकृतिप्रधानसन्निकर्षो दर्शितः । ततो गाथार्धेनाऽस्थिरादिषट्प्रकृतीनामतिदेशेन प्रस्तुतसन्निकर्षो दर्शितः, अतिदेशविषयिकृतस्याहारककाययोगतन्मिश्रयोगद्वयस्य षष्ठगुणस्थान एव भावात् तद्वत्प्रस्तुतबन्धकस्यापि षष्ठगुणस्थान एव बन्धभावाद्बन्धस्थानादीनां बन्धप्रायोग्यप्रकृतीनां च तुल्यत्वाच्चोक्तषट्प्रकृतीनां सन्निकर्षस्तद्वदेव प्राप्यत इति। ततो गाथया बन्धप्रायोग्याणां शेषाणामेकत्रिंशन्नामप्रकृतीनां प्रत्येकं प्रधानीकृत्य प्रस्तुतसन्निकर्षोऽतिदेशेन दर्शितः, अतिदेशस्त्वेवम्—नाम्नः स्वस्थानवच्छेषाष्टाविंशतेर्ज्ञानावरणप्रधानवत्प्रस्तुतः सन्निकर्षो विज्ञेयः । असातवेदनीयादिषट्प्रकृतीस्तु तद्वदत्रापि नैव बध्नाति । शेषैकत्रिंशन्नामप्रकृतयस्त्विमाः—देवद्विक-पञ्चेन्द्रियजाति-वैक्रियद्विकाऽऽहारकद्विक-तैजसकार्मणशरीरसमचतुरस्रसुखगतिवर्णचतुष्काऽगुरुलघुचतुष्कनिर्माणजिननामत्रसदशकनामानि। भावना तु सुगमा ॥१४०४-१४०७॥

अथ विभङ्गज्ञानमार्गणायां प्रस्तुतमाह—

सट्ठाणव्व विभंगे विगलसुहुमतिगजहण्णबंधी उ। णामाण लहुं णियमा तिरियाउस्स धुवणपुमणीआणं ॥
णियमा असंखियगुणं सिआ उण दुवेअणीअजुगलाणं। णवरि तिरिणराऊणं सिआ लहुमपज्जलहुबंधी ॥ २
णिरयतिगेगस्स लहुं बंधंतोऽण्णदुगविक्कियदुगाणं । बंधेइ लहुं णियमा असंखगुणमण्णणिरयजोग्गाणं ॥ ३
एगस्स सुरतिगा लहुबंधी उ इयरविउव्वियदुगाणं । णियमा लहुं च बंधइ पुमथीण सिआ असंखगुणं ॥
सेसाण असायअरइसोगअथिरअसुहअजसवज्जाणं। देवप्पाउग्गाणं बंधइ णियमा छसट्ठीए ॥ ५
विउव्वदुगेगस्स लहुं बंधंतोऽण्णस्स णियमओ हस्सं । णिरयसुरतिगाण सिआ दुवेअणीअजुगलाण तहा ॥
वेअतिगज्जंतागिइदुखगइथिरअथिरछक्कगोआणं । बंधइ असंखियगुणं धुवबंधीण सगचत्ताए ॥
तह णामाण पणिंदियपरघाऊसासतसचउक्काणं । णियमा सुण्ठव णेयो सप्पाउग्गाण सेसाणं ॥ ८
णवरं तिरियाउगलहुबंधी लहुमहव संखभागहियं । अलहुं सिआ पएसं बंधइ विगलसुहुमतिगाणं ॥

बंधइ सिआ पएसं परघाऊसासबायरतिगाणं । एवं पराउबंधी परघाऊसासपज्जइयराणं ॥ १०

(प्रथमा तृतीया दशमी च गीति.) ॥१४०८-१४१७॥

(प्रे०) "सट्ठाणव्वे"त्यादि, विभंगज्ञाने वैक्रियाष्टकसूक्ष्मत्रिकविकलत्रिकतिर्यग्मनुष्यायुःप्रकृतीर्विहाय शेषाणामेकोत्तरशतस्य परस्थानज्येष्ठप्रदेशबन्धसन्निकर्षो देवौघमार्गणावद्विज्ञेयः, यथासंभवं देवनैरयिकाणामेव भवप्रथमसमयवर्तिनां तज्जघन्यप्रदेशबन्धस्वामित्वात्, मनुष्यतिरश्चामपर्याप्तावस्थाया विभंगज्ञानस्य मतविशेषेण श्रीमद्भगवतीसूत्रस्याष्टमशतकस्याभिप्रायेणानङ्गिकारात् । देवौघवदतिदेशेऽप्ययं विशेषः—तत्राऽसंज्ञिपश्चात्कृतभवप्रथमसमयस्थो स्वामी भवति, अत्र तु संज्ञिपश्चात्कृत् स्वामी विज्ञेयः, अतस्तत्र नियमतो मिथ्यादृष्टिः, प्रस्तुते तु यथासंभवं मिथ्यादृष्टिः सास्वादनो वा भवति, तथाऽपि प्रस्तुते मिथ्यादृष्टिमधिकृत्य निरूपितः, सास्वादनमधिकृत्य तु स्वयं परिभावनीय इति। अत्र आद्यगाथाद्वयेन सूक्ष्मत्रिकप्रधानो विकलत्रिकप्रधानश्च परस्थानजघन्यप्रदेशबन्धसन्निकर्षो दर्शितस्तत्र नाम्नः स्वस्थानवत्प्रस्तुतोऽपि सन्निकर्षो विज्ञेयः, तथा स तिर्यगायुषो नियमेन जघन्यप्रदेशबन्धं च करोति, प्रस्तुत आयुर्जघन्यप्रदेशबन्धस्य परावर्तमान-घोलमानयोगिन एव भावात् । नामवर्जानां ज्ञानावरणाद्यष्टात्रिंशद्ध्रुवबन्धिप्रकृतीनां नपुंसकवेदनीचैर्गोत्रयोश्चेति चत्वारिंशत्प्रकृतीनां बन्धो नियमेन भवति, प्रदेशबन्धं तु स्वजघन्यतोऽसंख्यगुणाधिकमेव, आसां जघन्यप्रदेशबन्धस्य देवनैरयिकाणां भवप्रथमसमय एव भावात्प्रस्तुतबन्धकस्य ततोऽसंख्येयगुणयोगवत्वाच्च । सातासातवेदनीयद्वयहास्यादियुगलद्वयरूपाणां षण्णां सप्रतिपक्षत्वात्स्याद्बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु स्वजघन्यतोऽसंख्येयगुणाधिकमिति । अत्राऽयमपवादः-अपर्याप्तनाम्नो जघन्यप्रदेशबन्धं कुर्वन् तिर्यग्मनुष्यायुषोः स्याद्बन्धं करोति, अन्यतरायुषो बन्धस्तु नियमेनेति, प्रदेशबन्धं तु तयोर्जघन्यमेवेति ।

ततस्तृतीयगाथया नरकत्रिकप्रधानं प्रस्तुतसन्निकर्षं दर्शयति—"णिरयतिगस्से"त्यादि, नरकत्रिकादेकस्या जघन्यप्रदेशबन्धं कुर्वन् शेषयोर्द्वयोर्वैक्रियद्विकस्य च नियमेन जघन्यप्रदेशबन्धं च करोति, आसां जघन्यप्रदेशबन्धस्य घोलमानयोगित्वेन बन्धस्थानतुल्यत्वेन च तुल्यत्वात् । शेषाणां नरकगतिप्रायोग्याणां सप्तषष्टेः प्रकृतीनां नियमेनासंख्यगुणाधिकजघन्यप्रदेशबन्धं च करोति, आसां जघन्यप्रदेशबन्धस्य भवप्रथमसमय एव भावात् । शेषसप्तषष्टिप्रकृतयः पुनरिमाः-सप्तचत्वारिंशद्ध्रुवबन्धिनीशोकारतिनपुंसकवेदासातवेदनीयपञ्चेन्द्रियजातिहुण्डककुखगतिपराघातोच्छ्वासत्रसचतुष्कास्थिरषट्कनीचैर्गोत्राणीति ।

ततो गाथाद्वयेन देवत्रिकप्रधानं परस्थानजघन्यप्रदेशबन्धसन्निकर्षं दर्शयति—"एगस्से" त्यादि, देवत्रिकस्य जघन्यप्रदेशबन्धः पर्याप्ततिर्यग्मनुष्याणां घोलमानयोगिनां मूलाष्ट-

प्रकृतिबन्धकस्यैव भवति, ततः स देवत्रिकादन्यतमस्या जघन्यप्रदेशबन्धं कुर्वन् शेषयोर्द्वयो-र्वैक्रियद्विकस्य च नियमेन जघन्यप्रदेशबन्धं करोति । स्त्रीपुरुषवेदयोः स्याद्बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं त्वसंख्येयगुणाधिकमेवेति, सप्रतिपक्षत्वात्स्याद्बन्धः, भवप्रथमसमय एव जघन्यप्रदेशबन्धलाभादसंख्येयगुणाधिकमेव प्रदेशं बध्नाति । तथा देवायुषा सहा-सातवेदनीयशोकारतिमोहनीयास्थिराशुभायशःकीर्त्तीनां बन्धाभावात्ता विहाय शेषाणां देवगति-प्रायोग्याणां सप्तचत्वारिंशद्ध्रुवबन्धिनीसातवेदनीयहास्यरतिपञ्चेन्द्रियजातिसमचतुरस्रसुखगति-पराघातोच्छ्वासत्रसदशकोच्चैर्गोत्राणां षट्षष्टेर्नियमेन स्वजघन्यप्रदेशबन्धतोऽसंख्येयगुणाधिकं प्रदेशबन्धं करोति, भावना तु सुगमा ।

ततः सार्धगाथाद्वयेन वैक्रियद्विकप्रधानसन्निकर्षो दर्शितः, स चैवम्–वैक्रियद्विकादेकस्य जघन्यप्रदेशबन्धं कुर्वन् तदितरस्य नियमेन जघन्यप्रदेशबन्धं च करोति, देवत्रिकनरक-त्रिकयोः स्याज्जघन्यप्रदेशबन्धं च करोति, अन्यतरत्रिकं तु नियमतो बध्नाति । साता-सातवेदनीयद्वयहास्यादियुगलद्वयवेदत्रयसमचतुरस्रहुण्डकखगतिद्वयस्थिरषट्कास्थिरषट्कगोत्र–द्वयानां सप्तविंशतिप्रकृतीनां स्याद्बन्धं स्वजघन्यप्रदेशबन्धतोऽसंख्येयगुणाधिकप्रदेशबन्धं च करोति, अत्र प्रस्तुतबन्धकस्य नरकदेवगतिप्रायोग्यबन्धकत्वात्स्याद्बन्धः, तत्र देवगतिप्रायो-ग्यं बध्नत आस्यः शुभा एव बध्यन्ते, नरकगतिप्रायोग्यं बध्नतस्त्वशुभा इति । शेषभावना तु सुगमा । ध्रुवबन्धिसप्तचत्वारिंशत्प्रकृतीनां पञ्चेन्द्रियजातिपराघातोच्छ्वासत्रसचतुष्कानां च नियमेन बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु तासां स्वजघन्यतोऽसंख्यगुणाधिकं करोति । शेषाः प्रकृतीस्तु नैव बध्नाति । एवं गाथाष्टकेन विकलत्रिकसूक्ष्मत्रिकवैक्रियषट्करूपाणां द्वादशानां प्रत्येकं प्रधानीकृत्य परस्थानज्येष्ठप्रदेशबन्धसन्निकर्षो दर्शितः ।

उक्तशेषाणां प्रस्तुतमार्गणायां बन्धप्रायोग्याणां पञ्चोत्तरशतप्रकृतीनामतिदेशेन प्रस्तुतसन्निकर्षं निरूपयन् तथाऽत्र बन्धप्रायोग्यतिर्यग्मनुष्यायुर्द्वयं विहाय त्र्युत्तरशतस्य जघन्यप्रदेशबन्धो यथा-संभवं भवप्रथमसमयस्थस्य देवस्य नैरयिकस्य वा भवति, न पुनस्तिर्यग्मनुष्याणां, अतस्तासां सन्निकर्षस्य देवौघवत्सर्वथा लाभेऽपि तिर्यग्मनुष्यायुर्विषयकापवादस्यावश्यकत्वात् तद्दर्शयन्नाह–“सुरव्वे”त्यादि, देवौघवदेव पञ्चोत्तरशतस्य प्रस्तुतसन्निकर्षो भावनीयः, केवलं तिर्यगायुर्बध्नन् विकलत्रिकं सूक्ष्मत्रिकं स्याद्बध्नाति, प्रदेशबन्धं च तयोर्जघन्यं संख्यातभागाधिकजघन्यं वा । तथा पराघातोच्छ्वासनाम्नी बादरत्रिकं च स स्याद्बध्नाति, प्रदेशबन्धं तु तस्यातिदेशानुसारेणासंख्ये-यगुणाधिकमेवेति । तथा मनुष्यायुषो जघन्यप्रदेशं बध्नन् तिर्यग्मनुष्यबन्धकापेक्षयाऽपर्याप्तप्रायो-ग्यबन्धस्यापि संभवात् पर्याप्ताऽपर्याप्तनाम्नां स्याद्बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं त्वपर्याप्तनाम्नो जघन्यं पर्याप्तनाम्नः संख्येयगुणाधिकजघन्यमिति । तथा पराघातोच्छ्वासनाम्नी स्याद्बध्नाति, अपर्याप्त-नाम्ना सह तयोर्बन्धाभावात् , प्रदेशबन्धं तु तयोरसंख्येयगुणाधिकमिति ॥१४०८-१४१७॥

अथ मतान्तरमधिकृत्य विभङ्गज्ञानमार्गणायां परस्थानजघन्यप्रदेशबन्धसन्निकर्षं प्ररूपयन्नाह—

अण्णे उण लहुबंधी एगस्स धुवाउ णामवज्जाओ । बंधइ लहु विभंगे णियमा सेससगतीसाए ॥
बंधइ सिआ जहण्णं दुवेअणीअसगणोकसायाणं । आऊण चउण्ह तहा विउव्वछगायवदुगोआणं ॥
णियमा धुवणामाणं णवण्ह लहुमहव संखभागहियं । बंधेइ सिआऽण्णेसिं णामाणं अट्ठचत्ताए ॥ ३
सायरइहस्सगाणं एवं णवरं ण कुणइ णिरयतिगं । तेसिं पडिवक्खाण वि णाणावरणव्व णवरि ण सुराउं ॥ ४
होएज्ज सण्णियासो णाणावरणव्व णपुमणीआणं । णवरं ण चेव बंधइ सुरगइअणुपुव्विआऊणि ॥ ५
थीअ जहण्णपएसं बंधंतो कुणइ णामवज्जाणं । णियमा धुवबंधीणं अडतीसाए लहुपएसं ॥
कुणइ सिआ सायेयरदुजुगलतिरियाउणरसुरतिगाणं । विउव्वदुगुज्जोआणं णीउच्चाणं लहुपएसं ॥
तिरियउरलखगइदुगछसंघयणागिइथिराइजुगलाणं । बंधइ सिआ पएसं लहुं अहव संखभागहियं ॥
धुवणामाण पणिंदियपरघाऊसासतसचउक्काणं । लहुमुअ संखंसहियं णियमा एवं पुमस्स भवे ॥ ९
णिरयाउहस्सबंधी परघाऊसासतसचउक्काण । धुवणामाण पणिंदियकुखगइहुंडअथिरछगाणं ॥
संखसहियं णियमा बंधइ सेसाण णिरयजोग्गाणं । सगयालीसाअ लहुं णिरयदुगस्सेवमेव भवे ॥ ११
देवतिगहस्सबंधी बंधइ सुहखगइआगिईण तहा । धुवणामपणिंदियपरघाऊसासतसदसगाणं ॥
संखंसहियं णियमा सिआ दुवेआण बंधइ जहण्णं । णियमा सुरजोग्गाणं असायआइछगवज्जसेसाणं ॥ १३
तिरियाउहस्सबंधी लहुमडतीसधुवबंधिणीआणं । णियमा सिअ सायियरतिवेअदुजुगलायवाण लहुं ॥
णियमा तिरिदुगुरलधुवणामाण लहुमुअ संखभागहियं । बंधेइ सिआऽण्णेसिं तिगचत्ताअ तिरिजोग्गाणं ॥ १५
मणुयाउगलहुबंधी अडतीसाअ णियमा धुवाण लहुं । सिअ सायेयरदुजुगलवेअतिगअपज्जगोआणं ॥
संखंसहियं णियमा बंधेइ णवधुवबंधिणामाणं । उरलदुगपणिंदियतसबायरपत्तेअणामाणं ॥
मणुयदुगस्स उ बंधइ सिआ जहण्णमुअ संखभागहियं । संखेज्जभागअहियं सिआऽण्णणरजोग्गाणमाणं ॥ १८
मणुयदुगहस्सबंधी णामाणं बंधए सठाणव्व । मणुयाउव्वऽण्णेसिं णियमा मणुयाउगस्स लहुं ॥ १९
णामाण सठाणव्वायवथावरजाइचउगलहुबंधी । मणजोगव्वऽण्णेसिं बंधइ विउवदुगलहुबंधी ॥
णामाण सठाणव्व उ णियमा धुवबंधिअट्ठतीसाए । हस्सं सिअ सायेयरदुआउसगणोकसायगोआण ॥ २१
सेसाणं णामाणं बंधेमाणो लहुपएसं । णामाणं पयडीणं सट्ठाणव्व खलु बंधेइ ॥
णियमा धुवबंधीणं अडतीसाअ तिरियाउणीआणं । हस्सं बंधेइ सिआ सायियरतिवेअजुगलाणं ॥ २३
उच्चलहुगबंधी धुवअडतीसाअ णियमा जहण्णं वा । सायियरतिवेअजुगलणरसुरतिगविउव्वजुगलाणं ॥
ओरालियखगइदुगछसंघयणागिइथिराइजुगलाणं । बंधइ सिआ पएसं संखेज्जइभागअब्भहियं ॥
धुवणामाण पणिंदियपरघाऊसासतसचउक्काणं । बंधइ णियमाहिन्तो संखेज्जइभागअब्भहियं ॥ २६

(चतुर्थी त्रयोदश्येकविंशतितमी च गीतिस्तथा द्वाविंशतितम्युपगीतिः)

॥१४१८-१४४३॥

(प्रे०) "अण्णे उण" इत्यादि, अस्मिन्मते चातुर्गतिकेष्वप्यपर्याप्तावस्थायां विभङ्गज्ञानस्याभावात्पर्याप्तानां घोलमानयोगिन आयुर्बन्धकस्यैव बन्धार्हसर्वप्रकृतीनां जघन्यप्रदेशबन्धस्य भावाच्च स्वामिनमवगम्य प्रस्तुतसन्निकर्षस्य भावना कार्या । सन्निकर्षः पुनरेवम्—ज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरणनवकषोडशकषायभयजुगुप्सामिथ्यात्वान्तरायपञ्चकरूपाणामष्टात्रिंशत्प्रकृतीनामन्यतमस्या

जघन्यप्रदेशबन्धं कुर्वन् शेषाणां सप्तत्रिंशत्प्रकृतीनां नियमेन जघन्यप्रदेशबन्धं च करोति। सातासातवेदनीयद्वयवेदत्रयहास्यादियुगलद्वयायुश्चतुष्कगोत्रद्वयरूपाणां पञ्चदशानां स्याज्जघन्यप्रदेशबन्धं च करोति। वैक्रियषट्कातपनामसंज्ञकसप्तानां स्याद्बन्धं जघन्यप्रदेशबन्धं च करोति, आसां बन्धस्य नाम्न एकैकबन्धस्थाने एव भावान्न प्रदेशबन्धे द्वैविध्यम्। नवनामध्रुवबन्धिनीनां नियमेन बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु तिर्यक्प्रायोग्यं त्रिंशद्बध्नन् जघन्यम् एकोनत्रिंशदादिकं बध्नन् संख्यातभागाधिकं जघन्यं करोति। शेषाणां बन्धप्रायोग्याणामष्टचत्वारिंशत्प्रकृतीनां सप्रतिपक्षत्वादिना स्याद्बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु जघन्यं संख्यातभागाधिकजघन्यं वा करोति, प्रस्तुतबन्धकस्य नानाविधबन्धस्थान आसां बन्धसंभवाद् बन्धप्रायोग्यज्येष्ठबन्धस्थाने जघन्यम्, तदितरबन्धस्थाने वर्तमानस्तु संख्यातभागाधिकं जघन्यं प्रदेशबन्धं करोति। एवं हास्यरतिसातवेदनीयप्रधानसन्निकर्षो विज्ञेयः, केवलं नरकत्रिकं नैव बध्नाति तथा प्रतिपक्षप्रकृतिमपि न बध्नाति। असातवेदनीयशोकारतिप्रकृतित्रयस्य प्रत्येकं प्रधानीकृत्य प्रस्तुतसन्निकर्षो ज्ञानावरणप्रधानसन्निकर्षवद्विज्ञेयः, केवलं देवायुषो बन्धं स प्रकृतिबन्धसन्निकर्षविरोधान्नैव करोतीति विशेषः।

तथा नपुंसकवेदनीचैर्गोत्रप्रधानसन्निकर्षोऽपि ज्ञानावरणप्रधानसन्निकर्षवद्विज्ञेयः, केवलं प्रतिपक्षां प्रकृतिं तथा देवत्रिकं च स नैव बध्नाति, ततो नीचैर्गोत्रप्रधाने प्रकृतिचतुष्कं वर्जनीयमुच्चैर्गोत्रं देवत्रिकं चेति। नपुंसकवेदप्रधाने पञ्चप्रकृतयो मोच्याः शेषवेदद्वयं देवत्रिकं चेति। स्त्रीवेदस्य जघन्यप्रदेशं बध्नन्मतिज्ञानावरणादीनां नामवर्जानामष्टात्रिंशद्ध्रुवबन्धिप्रकृतीनां नियमेन-जघन्यप्रदेशबन्धं च करोति। सातासातवेदनीयद्वयहास्यादियुगलद्वयतिर्यगायुर्मनुष्यत्रिकदेवत्रिकवैक्रियद्विकोद्योतनाम्नां गोत्रद्वयस्य च स्याज्जघन्यप्रदेशबन्धं च करोति। अत्र प्रस्तुतबन्धकस्य पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्मनुष्यदेवप्रायोग्यस्यैव बन्धकत्वान्मनुष्यद्विकोद्योतनाम्नोरपि जघन्य एव प्रदेशबन्धो नरकद्विकस्याबन्धश्चेति। तिर्यग्द्विकौदारिकद्विकखगतिद्विकसंहननषट्कसंस्थानषट्कस्थिरषट्कास्थिरषट्कानां त्रिंशत्प्रकृतीनां स्याद्बन्धं जघन्यं संख्यातभागाधिकजघन्यप्रदेशबन्धं च करोति। नवनामध्रुवबन्धिनीनां पञ्चेन्द्रियपराघातोच्छ्वासत्रसचतुष्कनामानि चेति षोडशप्रकृतीनां नियमेन बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु तासां जघन्यं संख्यातभागाधिकं जघन्यं वा करोति भावना तु सुगमा। एवं पुरुषवेदं प्रधानीकृत्य प्रस्तुतसन्निकर्षो वाच्यः।

नरकायुषो जघन्यप्रदेशं बध्नन् नरकद्विकवैक्रियद्विके विहाय नाम्नो बन्धप्रायोग्याणां चतुर्विंशतेः प्रकृतीनां नियमेन संख्यातभागाधिकजघन्यप्रदेशबन्धं च करोति, तासां जघन्यप्रदेशबन्धस्य नाम्नस्त्रिंशद्बन्धस्थान एव भावात्। ताश्चतुर्विंशतिनामप्रकृतयः पुनरिमाः-पञ्चेन्द्रियजातितैजसकार्मणशरीरहुण्डकसंस्थानकुखगतिवर्णचतुष्कागुरुलघुचतुष्कनिर्माणत्रसचतुष्कास्थिरषट्कनामानीति। शेषाणां नरकायुषा सह बन्धप्रायोग्याणामष्टात्रिंशन्नामवर्जध्रुवबन्धिनीनामसातवेदनीयनपुंस-

कवेदशोकारतिमोहनीयनीचैर्गोत्राणि नरकद्विकवैक्रियद्विके चेति सप्तचत्वारिंशत्प्रकृतयस्तासां नियमेन जघन्यप्रदेशबन्धं च करोति। एवमेव नरकद्विकप्रधानसन्निकर्षोऽपि विज्ञेयः।

देवायुषो जघन्यप्रदेशबन्धं कुर्वन् पञ्चेन्द्रियजातितैजसकार्मणशरीरसमचतुरस्रसुखगतिवर्णचतुष्कागुरुलघुचतुष्कनिर्माणत्रसदशकनाम्नां चतुर्विंशतिनामप्रकृतीनां नियमेन संख्यातभागाधिकं जघन्यं प्रदेशबन्धं च करोति, आसां जघन्यप्रदेशबन्धस्य नाम्नस्त्रिंशद्‌बन्धकस्यैव भावात्। स्त्रीवेदपुरुषवेदयोः स्याज्जघन्यप्रदेशबन्धं च करोति। ज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरणनवकषोडशकषायभयजुगुप्सामिथ्यात्वहास्यरतिमोहनीयसातवेदनीयोच्चैर्गोत्रान्तरायपञ्चकदेवद्विकवैक्रियद्विकरूपाणि षट्चत्वारिंशत्प्रकृतयः, तासां नियमेन जघन्यप्रदेशबन्धं च करोति, भावना तु सुगमा। देवद्विकप्रधानसन्निकर्षोऽपि देवायुर्वदेव विज्ञेयस्तयोर्जघन्यप्रदेशबन्धस्वामिनामैक्यात्।

तिर्यगायुषो जघन्यप्रदेशबन्धं कुर्वन् नामवर्जानामष्टात्रिंशद्ध्रुवबन्धिप्रकृतीनां नीचैर्गोत्रस्य च नियमेन जघन्यप्रदेशबन्धं च करोति, वेदनीयद्वयहास्यादियुगलद्वयवेदत्रयाणां आतपनाम्नश्च स्याज्जघन्यप्रदेशबन्धं च करोति, तिर्यग्द्विकनवनामध्रुवबन्धिन्यौदारिकशरीरनाम्नां नियमेन बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु जघन्यं संख्यातभागाधिकजघन्यं वा निर्वर्तयति। शेषाणां तिर्यग्गतिप्रायोग्याणां जातिपञ्चकौदारिकाङ्गोपाङ्गसंहननषट्कसंस्थानषट्कखगतिद्वयपराघातोच्छ्वासोद्योतत्रसदशकस्थावरदशकनामानि त्रिचत्वारिंशदेताः प्रकृतयः, तासां जघन्यप्रदेशबन्धं संख्यातभागाधिकजघन्यप्रदेशबन्धं च करोति, नाम्नो नानाविधबन्धस्थानस्य भावात्।

मनुष्यायुषो जघन्यप्रदेशबन्धं कुर्वन्नामवर्जाष्टात्रिंशद्ध्रुवबन्धिप्रकृतीनां नियमेन जघन्यप्रदेशबन्धं च करोति। वेदनीयद्वयवेदत्रयहास्यादियुगलद्वयाऽपर्याप्तनामगोत्रद्वयरूपाणां द्वादशानां स्याज्जघन्यप्रदेशबन्धं च निर्वर्तयति। नवनामध्रुवबन्धिन्यौदारिकद्विकपञ्चेन्द्रियजातित्रसबादरप्रत्येकनाम्नां पञ्चदशानां नियमेन संख्यातभागाधिकजघन्यप्रदेशबन्धं च करोति, आसां जघन्यप्रदेशबन्धस्य नाम्नस्त्रिंशद्‌बन्धस्थान एव भावात्, प्रस्तुतबन्धकस्तु नाम्न एकोनत्रिंशतं पञ्चविंशतिं वा बध्नातिः अतो न जघन्यप्रदेशबन्धसंभव इति। तथा स मनुष्यद्विकं तु नियमेन बध्नाति, प्रदेशबन्धं तु जघन्यं संख्यातभागाधिकजघन्यं वा, बन्धस्थानद्वयभावेनैकोनत्रिंशतौ जघन्यम्, पञ्चविंशतौ संख्यातभागाधिकं जघन्यम्। अन्यासां मनुष्यप्रायोग्याणां नाम्नां संहननषट्कसंस्थानषट्कस्थिरषट्कास्थिरषट्कखगतिद्वयपर्याप्तनामरूपाः सप्तविंशतिः प्रकृतयस्तासां स्यात्संख्यातभागाधिकजघन्यप्रदेशबन्धं च करोति, भावना तु सुगमा। अथ गाथया मनुष्यद्विकप्रधानं दर्शयति—"**मणुयदुगे**"त्यादि, मनुष्यद्विकस्य जघन्यप्रदेशबन्धं कुर्वतो नाम्नः स्वस्थानवत्प्रस्तुतसन्निकर्षो विज्ञेयः, नामवर्जानां ज्ञानावरणादीनां मनुष्या-

युःप्रधानसन्निकर्षवत्प्रस्तुतसन्निकर्षो वाच्यः, मनुष्यायुषो नियमेन जघन्यप्रदेशबन्धं च करोति, भावना न्वतिदेशानुसारेण स्वयं परिभावनीया सुगमा चेति। ततः पादोनगाथया जातिचतुष्कस्थावरचतुष्का-तपनाम्नां प्रत्येकं प्रधानीकृत्य प्रस्तुतपरस्थानज्येष्ठप्रदेशबन्धसन्निकर्षोऽतिदेशद्वयेन दर्शितः, तत्र नाम्नां स्वस्थानवन्नामेतरासां मनोयोगमार्गणायां जातिचतुष्कादिप्रकृतिप्राधान्ये यथा दर्शितस्तथा द्रष्टव्यः, तद्यथा-ज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरणनवकषोडशकषायभयजुगुप्सामिथ्यात्वान्त-रायपञ्चकनपुंसकनीचैर्गोत्राणां नियमेन जघन्यप्रदेशबन्धं च करोति । सातासातवेदनीयहास्यादि-युगलद्वयरूपषट्प्रकृतीनां स्याज्जघन्यप्रदेशबन्धं च करोति । अपर्याप्तनामप्रधाने तिर्यग्मनुष्यायुषो-रन्यतरस्य नियमेन जघन्यप्रदेशबन्धं च करोति, जातिचतुष्कस्थावरसूक्ष्मसाधारणातपनामप्रधान-प्रस्तुतसन्निकर्षे तिर्यगायुषो नियमेन जघन्यप्रदेशबन्धं च करोति, भावना तु सुगमा । ततः माधिकगाथया वैक्रियद्विकप्रधानं परस्थानजघन्यप्रदेशबन्धसन्निकर्षं दर्शयति--"**विउवे**"त्यादि, वैक्रियद्विकजघन्यप्रदेशबन्धं कुर्वन् देवनरकोभयगतिप्रायोग्यं बध्नाति, ततो वेदनीयद्वयहास्यादि-युगलद्वयवेदत्रयगोत्रद्वयदेवनरकायुरूपाणां त्रयोदशानां स्याद्बन्धं करोति, नामवर्जानामष्टात्रिंशद्-ध्रुवबन्धिनीनां नियमेन बन्धं करोति, आसामेकपञ्चाशत्प्रकृतीनां प्रदेशबन्धं तु जघन्यमेव करोति। बन्धार्हाणां नामप्रकृतीनां तु स्वस्थानवत्प्रस्तुतेऽपि विज्ञेयः ।

ततो गाथाद्वयेनोक्तशेषाणां नामप्रकृतीनां प्रत्येकं प्रधानीकृत्यातिदेशादिना प्रस्तुतं दर्शयति-'**सेसाणं**'इत्यादि, शेषाः प्रकृतयः पुनः पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यक्प्रायोग्यत्रिंशद्बन्धस्थाने वर्तमानाः, ता नामत इमाः—तिर्यग्द्विकं पञ्चेन्द्रियजातिरौदारिकद्विकं नवनामध्रुवबन्धिन्यः संहननषट्कं संस्था-नषट्कं खगतिद्वयं पराघातोच्छ्वासोद्योतनामानि त्रसदशकमस्थिरषट्कं चेति सप्तचत्वारिंशत् । एताः प्रत्येकं प्रधानीकृत्य प्रस्तुतसन्निकर्षो नामकर्मसत्कोत्तरप्रकृतीनां स्वस्थानसन्निकर्षवद् वाच्य-स्तथा स प्रथमगुणस्थाने बन्धार्हाणां ज्ञानावरणाद्यष्टात्रिंशद्ध्रुवबन्धिप्रकृतीनां तिर्यगायुषो नीचै-र्गोत्रस्य च नियमेन जघन्यप्रदेशबन्धं च करोति । सातासातवेदनीयवेदत्रयहास्यादियुगलद्वयरू-पाणां नवानां स्याज्जघन्यप्रदेशबन्धं च करोति, भावना तु सुगमा ।

अथ गाथात्रयेणोच्चैर्गोत्रप्रधानं प्रस्तुतसन्निकर्षं दर्शयति । तद्यथा—उच्चैर्गोत्रस्य ज्येष्ठप्रदेशं बध्नन् नामवर्जाष्टात्रिंशद्ध्रुवबन्धिप्रकृतीनां नियमेन जघन्यप्रदेशबन्धं च करोति । तथा सातासातवेदनीयवेदत्रयहास्यादियुगलद्वयमनुष्यत्रिकदेवत्रिकवैक्रियद्विकरूपाणां सप्तदशानां स्याज्जघन्यप्रदेशबन्धं च करोति, सप्रतिपक्षत्वादिना स्याद्बन्धः, प्रस्तुतबन्धकस्य नाना-बन्धस्थानाभावाज्जघन्यप्रदेशबन्ध इति । तथा स औदारिकद्विकखगतिद्विकसंहननषट्कसंस्थानषट्-कस्थिरादियुगलषट्करूपाणामष्टाविंशतेः स्याद्बन्धं संख्यातभागाधिकजघन्यप्रदेशबन्धं च करोति, आसां जघन्यप्रदेशबन्धस्य तिर्यक्प्रायोग्यत्रिंशद्बन्धस्थान एव भावात्, सप्रतिपक्षत्वात्स्या-

द्बन्धः । तत्रनामध्रुवबन्धिनीनां पञ्चेन्द्रियजातिपराघातोच्छ्वासत्रसचतुष्काणां चेति षोडशानां बन्धं नियमेन करोति, प्रस्तुतबन्धकस्य पर्याप्तमनुष्यदेवप्रायोग्यस्यैव बन्धकत्वात् , प्रदेशबन्धं त्वासां संख्यातभागाधिकजघन्यं करोतीति । तदेवं षड्विंशतिगाथाभिः परमतेन विभङ्गज्ञान-मार्गणायां प्रस्तुतसन्निकर्षो दर्शितः ॥१४१८-१४४३॥

मत्यज्ञानश्रुताज्ञानमार्गणाद्वये तिरश्चीमार्गणया समं प्रस्तुतसन्निकर्षो निरूपितः । तदनु संयममार्गणाभेदे स वक्तव्यः । तत्र संयमसामायिकच्छेदोपस्थापनीयपरिहारविशुद्धिमार्गणासु मनःपर्यवज्ञानमार्गणया सममुक्तः । देशविरतिमार्गणायां तु आहारककाययोगमार्गणया समं दर्शितः । असंयममार्गणायां प्रस्तुतसन्निकर्षस्यौघवद् भावात्तस्य च प्रान्ते **"सेसासु मग्ग-णासु"** इत्यादिनाऽतिदेशेन वक्ष्यति ग्रन्थकारः, ततः परिशेषीभूतायां सूक्ष्मसंपरायमार्गणायां प्ररूपयन्नाह—

एगस्स लहुपएस बंधंतो सुहुमसंपरायम्मि । सेसाण सोलसण्ह णियमा बंधइ लहुपएस ॥
॥१४४४॥

(प्रे०) **"एगस्से"**त्यादि, सूक्ष्मसम्परायसंयमे सप्तदश प्रकृतयो बध्यन्ते तास्वेकस्या जघ-न्यप्रदेशं बध्नन् शेषाणां षोडशानां नियमेन जघन्यप्रदेशं च बध्नाति, प्रतिपक्षप्रकृतीनां परावर्तमानादिना च बन्धाऽभावात् नियमाद् बन्धः, जघन्यप्रदेशबन्धस्वामिनां तुल्यत्वान्नानाविध-बन्धस्थानाऽभावाच्च जघन्यप्रदेशबन्ध इति ॥१४४४॥

ततः क्रमप्राप्तदर्शनमार्गणाभेदेभ्योऽवधिदर्शनमार्गणायामुक्तः चक्षुरचक्षुर्दर्शनमार्गणयोः प्रान्त ओघवदतिदिश्यते मूलकारेणैवमौघवदेवाऽशुभलेश्यात्रये प्रान्ते साऽपवादमतिदेशेन प्रस्तुत-सन्निकर्षो दर्शयिष्यते । ततः क्रमप्राप्ततेजोलेश्यामार्गणायां प्रस्तुतपरस्थानजघन्यप्रदेशबन्धसन्निकर्षं प्ररूपयन्नाह—

एगस्स हस्सबंधी पणणाणावरणअंतरायाओ । तेऊअ लहुं णियमा सेसाण णवण्ह बंधेइ ॥
बंधइ सिआ जहण्णं थीणद्धियतिगदुवेअणीआणं । मिच्छत्ताणचउगथीणपुमायवणीअउज्जाणं ॥
णियमा छदंसणावरणबारसकसायभयजुगुच्छाणं । लहुमुअऽणंतंसहियं बंधइ पुमदुजुगलाण सिआ ॥
णियमा धुवणामाणं परघाऊसासबायरतिगाण । लहुमुअ संखंसहियं सिआऽण्णबायालणामाणं ॥ ४
लहुबंधी णवदंसणसोलकसायभयकुच्छमिच्छाओ । एगस्स लहु णियमा धुवबंधीण सगतीसाए ॥
बंधइ हस्सपएसं दुवेअणीअसगणोकसायाण । आयवगोअदुगाणं सिआ णरदुगस्स संखभागहियं ॥
णियमा धुवणामउरलपरघाऊसासबायरतिगाण । लहुमुअ संखंसहियं सिआऽण्णतिरिजोग्गणामाणं ॥ ७
णाणावरणव्व सवे दुवेअणीयाण णवरि ण विरुद्ध । णिद्दव्व णपुमदुजुगलणीआण पर ण पडिवक्खं ॥ ८
थीअ लहुं बंधंतो णियमा धुवबंधिअट्ठतीसाए । हस्सं सायियरजुगलगोअदुगुज्जोअगाण सिआ ॥
तिरिक्खगइदुगाण तह छसंघयणागिइथिराइजुगलाण । लहुमुअ संखंसहियं सिआ णरदुगस्स संखभागहियं

धुवणामपणिंदिउरलदुगपरघूसासतसचउक्काणं । लहुमुअ संखंसहियं णियमा एवं पुमस्स भवे ॥ ११
देवाउस्स जहण्णगबंधी बंधइ सिआ असंखगुणं । थीणद्धितिगपुरिसथीबारकसायजिणमिच्छाणं ॥
लहुमुअ संखंसहियं आहारदुगस्स सिअ असंखगुणं । णियमा धुवहस्सरइसुसुरजोग्गऽण्णेगवीसाणं ॥ १३
णरसुरविउव्वदुगजिणलहुबंधी बंधए सठाणव्व । णामाण लहुं णियमा णाणा वरणुब्वविग्घाणं ॥
छदरिसणावरणपुरिसदुवालसकसायभयजुगुच्छाणं । णियमाऽणंतंसहियं बंधइ जुगलाण दोण्ह सिआ ॥
बंधइ सिआ पएसं जहण्णगं खलु दुवेअणीआणं । आहारदुगस्सोघव्व णवरि देवाउगस्स लहुं ॥ १६
तिरितिगणराउपणसंघयणागिइदुहगतिगकुखगईण । एगिंदिथावरायवदुगाण देवव्व विण्णेयो ॥ १७
सेसाणं णामाणं लहुबंधी बंधए सठाणव्व । णामाणं पयडीणं णाणावरणव्व सेसाणं ॥ १८
दंसस्स लहुपएसं बंधंतो बंधए लहुपएसं । णियमाहिन्तो खलु पणणाणावरणंतरायाणं ॥
बंधइ सिआ पएसं थीणद्धियतिगदुवेअणीयाणं । मिच्छत्ताऽणचउगथीणपुंसगाणं खलु जहण्णं ॥
णियमा छदंसणावरणबारसकसायभयजुगुच्छाणं । लहुमुअऽणंतंसहियं बंधइ पुमदुजुगलाण सिआ ॥
णियमा धुवपराघाउसासतसचउगपणिंदिणामाणं । लहुमुअ संखंसहियं सिआऽण्णणरदेवजोग्गणामाणं ॥ २२
(षष्ठी दशमी द्वाविंशतितमी च गीतिः) ॥१४४५-१४६६॥

(प्रे०) "एगस्से"त्यादि, तेजोलेश्यामार्गणायां ज्ञानावरणपञ्चकाऽन्तरायपञ्चकरूपदशप्रकृतिष्वन्यतमस्या जघन्यप्रदेशबन्धं कुर्वन् शेषाणां नवानां नियमेन जघन्यप्रदेशबन्धं च करोति। स्त्यानर्द्धित्रिका-ऽनन्तानुबन्धिचतुष्कमिथ्यात्वस्त्रीवेदनपुंसकवेदसाताऽसातवेदनीयद्वयाऽऽतपनामगोत्रद्वयानां पञ्चदशानां स्याद् बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु जघन्यम्, सप्रतिपक्षत्वात् परावर्तमानानां स्याद् बन्धः, प्रथमगुणस्थाने स्त्यानर्घ्यष्टकस्य बन्धभावेऽपि चतुर्थगुणस्थानगतस्य प्रस्तुतबन्धकस्य बन्धाऽभावात्तस्य स्याद्बन्धः, जघन्यप्रदेशबन्धस्वामिनां तुल्यत्वान्नानाविधबन्धस्थानाऽभावाच्च जघन्यप्रदेशबन्ध एवेति। तथा स दर्शनावरणषट्काऽऽद्यवर्जद्वादशकषायभयजुगुप्सानां विंशतेर्ध्रुवबन्धिप्रकृतीनां नियमेन बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु प्रथमगुणस्थानगतानां जघन्यं चतुर्थगुणस्थानगतानामनन्तभागाऽधिकजघन्यमिति। हास्यरत्यरतिशोकपुरुषवेदानां स्याद् बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु जघन्यमनन्तभागाऽधिकजघन्यं वा। नाम्नां नवध्रुवबन्धि पराघातोच्छ्वासबादरत्रिकनाम्नां चतुर्दशानां नियमेन जघन्यप्रदेशबन्धं संख्यातभागाधिकजघन्यप्रदेशबन्धं वा करोति, नानाबन्धस्थानसंभवात्। शेषाणां द्विचत्वारिंशन्नामप्रकृतीनां स स्याद् बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु जघन्यं संख्यातभागाधिकजघन्यं वा। शेषा द्विचत्वारिंशत्प्रकृतयः पुनरिमाः—तिर्यग्द्विकमनुष्यद्विकदेवद्विकैकेन्द्रियपञ्चेन्द्रिजातिद्वयौदारिकद्विकवैक्रियद्विकसंहननषट्कसंस्थानषट्कखगतिद्वयोद्योतत्रसनामस्थावरनामस्थिरषट्काऽस्थिरषट्कजिननामानि। आहारकद्विकं तु प्रस्तुतबन्धको नैव बध्नाति, भवप्रथमसमय एव तस्य वर्तमानत्वेन तत्राऽऽहारकद्विकबन्धस्याऽसंभवात्।

ततो गाथात्रयेण नवदर्शनावरणाद्यष्टाविंशतिप्रकृतीनां प्रत्येकं प्रधानीकृत्य प्राह—"लहुबंधो" इत्यादि, दर्शनावरणनवकषोडशकषायभयजुगुप्सामिथ्यात्वरूपाणामष्टाविंशतिप्रकृतीनामन्यतमस्या

भावात् । शेषभावना तु सुगमा । तथा स दर्शनावरणषट्कपुरुषवेदाऽप्रत्याख्यानावरणप्रत्याख्यानावरणसञ्ज्वलनकषायभयजुगुप्सानामेकविंशतेर्नियमेन बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं त्वासामनन्तभागाधिकमेवाऽऽसां जघन्यप्रदेशबन्धस्य प्रथमगुणस्थानके निर्वर्तनात् । हास्यरतिशोकाऽरतिमोहनीयानां स्यादनन्तभागाधिकजघन्यप्रदेशबन्धं च करोति । साताऽसातवेदनीयद्वयस्य स्याद्बन्धं जघन्यप्रदेशबन्धं च करोति ।

तदनु गाथार्धेनाऽऽहारकद्विकप्रधानसन्निकर्षोऽतिदेशेन दर्शितः, तद्यथा—आहारकद्विकप्रधानसन्निकर्ष ओघवज्ज्ञातव्यः केवलमोघे देवायुषोऽसंख्येयगुणाधिकजघन्यप्रदेशबन्धं करोति, तत्राऽसंज्ञिन एव तस्य जघन्यप्रदेशबन्धस्वामित्वात्, प्रस्तुते तु संज्ञिन एव जघन्यप्रदेशबन्धस्वामित्वात् स देवायुषो जघन्यमेव प्रदेशबन्धं करोति, नियतबन्धं त्वतिदेशवदेव भवति । भावना त्वोघानुसारेण यथासंभवं कार्या, न पुनरोघवदेवाऽविशेषेण विभावनीया नानाविशेषाणामत्र प्राप्यमाणत्वात्, सुगमप्रायस्त्वान्न साऽत्र प्रतन्यते ।

तत एकगाथया तिर्यक्त्रिकमनुष्यायुर्द्वितीयादिपञ्चसंहननद्वितीयादिपञ्चसंस्थानदुर्भगत्रिककुखगतिनामैकेन्द्रियस्थावरातपोद्योतनाम्नां समुदितानां द्वाविंशतिप्रकृतीनां प्रत्येकं प्रधानीकृत्य देवौघवत्सन्निकर्षोऽतिदेशेन दर्शितः । अत्र तिर्यग्मनुष्यायुर्द्वयं विहाय विंशतेर्भवप्रथमसमयवर्तिनां मिथ्यादृशामुभयत्र जघन्यप्रदेशबन्धस्वामित्वात् तत्र बन्धाऽर्हप्रकृतीनां तुल्यत्वाच्च । उभयत्र तिर्यगायुषो जघन्यप्रदेशबन्धे तेन सह बन्धाऽर्हप्रकृतीनां भवप्रथमसमय एव जघन्यप्रदेशबन्धस्वामित्वेनाऽसंख्येयगुणाऽधिकजघन्यप्रदेशबन्धं करोति, स्याद्नियतबन्धवतीनामपि स्थानद्वये तुल्यप्रायत्वात् तुल्यत्वम् । एवं मनुष्यायुःप्रधानसन्निकर्षोऽपि, अतो न काश्चिदपवादविषयता ।

तत एकगाथया बन्धाऽर्हाणां शेषाणां त्रिंशन्नामप्रकृतीनां प्रत्येकं प्रधानीकृत्य परस्थानजघन्यप्रदेशबन्धसन्निकर्षोऽतिदेशेन दर्शितः, शेषा नामप्रकृतयः पुनरिमाः-पञ्चेन्द्रियजातिनामौदारिकद्विकनवनामध्रुवबन्धिनीवज्रर्षभनाराचसंहननसमचतुरस्रसंस्थानसुखगतिपराघातो-च्छ्वासत्रसदशकाऽस्थिराऽशुभाऽयशःकीर्तिनामानीति । आसां जघन्यप्रदेशबन्धं सम्यग्दृष्टयो मनुष्यप्रायोग्यं त्रिंशतं बध्नन्तः कुर्वन्ति, मिथ्यादृष्टयस्तु तिर्यक्प्रायोग्यं त्रिंशतं बध्नन्तो निर्वर्तयन्ति, अत आभिस्सह बन्धप्रायोग्यनामप्रकृतीनां स्वस्थानवत्प्रस्तुतसन्निकर्षो विज्ञेयः, नामेतरासां बन्धप्रायोग्याणां पुनर्ज्ञानावरणप्रधानसन्निकर्षवत्प्रस्तुतसन्निकर्षो द्रष्टव्य इति, भावना तु सुगमा गतार्थप्राया चेति ।

तदनु गाथाचतुष्केण शेषमुच्चैर्गोत्रप्रधानं प्रस्तुतसन्निकर्षं निरूपयति—उच्चैर्गोत्रस्य जघन्यप्रदेशबन्धं कुर्वन् ज्ञानावरणाऽन्तरायपञ्चकयोर्नियमेन बन्धं जघन्यप्रदेशबन्धं च करोति । स्त्यानर्द्धित्रिकसाताऽसातवेदनीयद्विकमिथ्यात्वाऽनन्तानुबन्धिचतुष्कस्त्रीवेदनपुंसकवेदानां द्वाद-

शानां सप्रतिपक्षत्वाद् गुणस्थानभेदेन वा स्याद् बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु तासां जघन्यमेव निर्वर्तयति। तथा स दर्शनावरणषट्काऽप्रत्याख्यानावरणादिद्वादशकषायभयजुगुप्सानां विंशतेर्ध्रुवबन्धिप्रकृतीनां नियमेन बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं त्वासां प्रथमगुणस्थाने जघन्यं चतुर्थगुणस्थानेऽनन्तभागाधिकजघन्यं करोति। भावना तु सुगमा। पुरुषवेदहास्यरतिशोकाऽरतिमोहनीयानां पञ्चानां स्याद्बन्धं जघन्यप्रदेशबन्धमनन्तभागाऽधिकजघन्यप्रदेबन्धश्च करोति, भावना तु सुगमा। तथा स नवनामध्रुवबन्धिनीपराघातोच्छ्वासत्रसचतुष्कपञ्चेन्द्रियजातिनाम्नां नियमेन बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु जघन्यं संख्यातभागाधिकजघन्यप्रदेशं वा बध्नाति। देवद्विकमनुष्यद्विकौदारिकद्विकवैक्रियद्विकप्रथमसंहननप्रथमसंस्थानसुखगतिस्थिरषट्काऽस्थिराऽशुभाऽयशःकीर्तिनाम्नां स स्याद्बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु जघन्यं संख्यातभागाऽधिकजघन्यं वा करोतीति ॥१४४५-१४६६॥

एवं तेजोलेश्यायां परस्थानजघन्यप्रदेशबन्धसन्निकर्षं निरूप्य पद्मलेश्यायां तं प्ररूपयन्नाह—

एगस्स हस्सबंधी पणणाणावरणअंतरायाओ । पम्हाअ लहु णियमा सेसाण णवण्ह बंधेइ ॥
बधइ सिआ जहण्ण थीणद्धियतिगदुवेअणीयाणं । मिच्छत्ताणवउगथीणउमुज्जोउच्चणीआणं ॥
णियमा छद्दंसणावरणबारसकसायभयजुगुच्छाणं । लहुमुअऽणतसहियं बंधइ पुमदुजुगलाण सिआ ॥
णियमा पणिंदिधुवपरघाऊसासतसचउगणामाणं । लहुमुअ संखसहियं सिआऽण्णसगतीसणामाणं ॥ ४
लहुबंधी णवदसणसोलकसायभयकुच्छमिच्छाओ । एगस्स लहु णियमा धुवबंधीण सगतीसाए ॥
बंधइ हस्सपएसं दुवेअणीअसगणोकसायाणं । उज्जोअदुगोआणं सिआ णरदुगस्स संखभागहियं ॥
णियमुरलदुगपणिंदियधुवपरघूसासतसचउक्काणं । लहुमुअ संखसहियं सिआऽण्णतिरिजोग्गणामाणं ॥ ७
णाणावरणव्व भवे दुवेअणीआण णवरि ण विरुद्धं । णिद्दव्व णपुमदुजुगलणीआण परं ण पडिवक्ख ॥ ८
णिरयव्व मणिणामो णेयो तिरियाउगस्स नेउव्व । सेसाणं पयडीणं सप्पाउग्गाण विण्णेयो ॥ ९
(पचमी गीतिः)॥१४६७-१४७५॥

(प्रे०) "एगस्से"त्यादि, गाथानवकं पद्मलेश्यायाम्, पद्मलेश्यामार्गणायां बन्धप्रायोग्याणामष्टोत्तरशतस्य प्रत्येकं प्रधानीकृत्य परस्थानजघन्यप्रदेशबन्धसन्निकर्षो बाहुल्यतस्तेजोलेश्यामार्गणावद् भवति, केवलमत्रैकेन्द्रियस्थावराऽऽतपनाम्नां बन्धाऽभावात्तत्प्रधानसन्निकर्षो न वक्तव्यः। तथा ज्ञानावरणादिप्रकृतिप्रधानजघन्यप्रदेशबन्धसन्निकर्षे एकेन्द्रियस्थावराऽतपनाम्नां बन्धाऽभावात्पञ्चेन्द्रियजातित्रसनाम्नोर्नियमेन बन्धं स करोतीति विज्ञेयम्। तथोद्योतनाम्नो यत्र बन्धस्तत्र तस्य जघन्य एव प्रदेशबन्धो भवति, तद्योग्यबन्धस्थानद्वयाऽभावात्। भावना तु सुगमा। सन्निकर्षः पुनरेवम्—ज्ञानावरणपञ्चकाऽन्तरायपञ्चकरूपदशप्रकृतिष्वेकस्या जघन्यप्रदेशं बध्नन् शेषाणां नवानां नियमेन जघन्यप्रदेशबन्धं च करोति। स्त्यानर्द्धित्रिकसातासातवेदनीयद्वयमिथ्यात्वाऽनन्तानुबन्धिचतुष्कस्त्रीवेदनपुंसकवेदनीचैर्गोत्रोच्चैर्गोत्रोद्योतनामलक्षणानां पञ्चदशानां स्याद् बन्धं करोति, प्रथमचतुर्थगुणस्थानभेदेन मिथ्यात्वादीनां बन्धाऽबन्धयोर्भावात् स्याद् बन्धः, सातवेदनीयादिप्रकृतीनां सप्रतिपक्षाणां परावर्तमानत्वात् स्याद्बन्धः, उद्योतनाम्नः स्याद्बन्धस्तु स्वभावादेवेति, जघन्यप्रदेशबन्धस्तु नानाबन्धस्थानाऽभावात्। तथा स दर्शनावरणषट्काद्यवर्ज-

जघन्यप्रदेशबन्धं कुर्वन् शेषाणां सप्तविंशतेर्ज्ञानावरणान्तरायपञ्चकयोश्चेति सप्तत्रिंशतो नियमेन जघन्यप्रदेशबन्धं च करोति, प्रथमगुणस्थान एवाऽऽसां जघन्यप्रदेशबन्धस्य भावात्, ज्ञानावरणान्तरायपञ्चकयोः सम्यग्दृष्टिमिथ्यादृष्टयोरुभयोर्जघन्यप्रदेशबन्धलाभाच्च, शेषभावना तु सुगमा । तथा स साताऽसातवेदनीयद्वयहास्यादियुगलद्वयवेदत्रयाऽऽतपनामगोत्रद्वयरूपाणां द्वादशानां स्याद्बन्धं जघन्यप्रदेशबन्धं च करोति, सप्रतिपक्षत्वात्स्याद् बन्धः प्रस्तुतबन्धकस्याऽऽसां बन्धे नानाबन्धस्थानाऽभावात् जघन्यप्रदेशबन्ध एवेति । मनुष्यद्विकस्य स्याद् बन्धं संख्यातभागाऽधिकजघन्यप्रदेशबन्धं च करोति, प्रस्तुतबन्धकस्य मिथ्यादृष्टित्वेन मनुष्यप्रायोग्यत्रिंशद्बन्धस्थानाऽभावान्न जघन्यप्रदेशबन्धसंभव इति । नवनामध्रुवबन्धिन्यौदारिकशरीरपराघातोच्छ्वासबादरत्रिकनाम्नां नियमेन बन्धं करोति । अत्रौदारिकशरीरनाम विहाय शेषाणां चतुर्दशानां मार्गणायां ध्रुवबन्धित्वात् तत्कल्पत्वात् वा, औदारिकशरीरनाम्नस्तु देवाना ध्रुवबन्धिकल्पत्वात्, मिथ्यादृष्टितिर्यग्मनुष्याणां भवाद्याऽन्तर्मुहूर्ते केषाञ्चिन्मते प्रस्तुतमार्गणाया एवाभावात्, श्रीप्रज्ञापनादिसूत्राऽभिप्रायेण तद्भावेऽपि तत्राऽपर्याप्ताऽवस्थायां तासां देवप्रायोग्यस्य बन्धाऽभावात् औदारिकशरीरनाम्नो नियमेन बन्धः प्राप्यते, प्रदेशबन्धस्तु जघन्यः संख्यातभागाधिकजघन्यो वा । भावना तु सुगमा । देवद्विकवैक्रियद्विकयोः प्रस्तुतबन्धकस्य बन्ध एव न भवति, एवमाहारकद्विकजिननाम्नोऽपि बन्धाऽभावो विज्ञेयः । शेषाणां बन्धाऽर्हाणां तिर्यक्प्रायोग्याणां नामकर्मणां स्याद्बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु जघन्यं संख्यातभागाऽधिकजघन्यप्रदेशबन्धं वा, नानाविधबन्धस्थानभावात् । भावना तु सुगमा । शेषचतुस्त्रिंशन्नामप्रकृतयः पुनरिमाः—तिर्यग्द्विकैकेन्द्रियपञ्चेन्द्रियजातिनामौदारिकाङ्गोपाङ्गनामसंहननषट्कसंस्थानषट्कखगतिद्वयोद्योतत्रसस्थावरस्थिरषट्काऽस्थिरषट्कनामानि ।

साताऽसातवेदनीयद्वयप्रधानपरस्थानजघन्यप्रदेशबन्धसन्निकर्षोऽत्रैव दर्शितज्ञानावरण-प्रधानसन्निकर्षवद् वक्तव्यः, जघन्यप्रदेशबन्धस्वामिनामैक्यात्, केवलं प्रतिपक्षां प्रकृतिं तु नैव बध्नाति इति विशेषः । तथा नपुंसकवेदहास्यरतिशोकाऽरतिनीचैर्गोत्राणां जघन्यप्रदेशबन्धः प्रथमगुणस्थाने भवति, तासां प्रत्येकं प्रधानीकृत्य प्रस्तुतसन्निकर्षो निद्राद्विकप्रधानसन्निकर्षवद् वक्तव्यः, उभयत्राऽतिदिष्टप्रकृतौ प्रधानीकृतप्रकृतौ च जघन्यप्रदेशबन्धस्वामिनां समानत्वाद् देवप्रायोग्यस्य बन्धाऽभावाच्च । भावना तूपयुज्य स्वयं कार्या सुगमा च, केवलमत्र प्रधानीकृतप्रकृतेः सप्रतिपक्षत्वात्प्रतिपक्षां प्रकृतिं नैव बध्नातीति विशेषः ।

ततो देशोनगाथात्रयेण स्त्रीवेदप्रधानं परस्थानजघन्यप्रदेशबन्धसन्निकर्षं दर्शयति । अत्र स्त्रीवेदस्य जघन्यप्रदेशं बध्नन् मिथ्यादृष्टिर्नाम्नस्तिर्यग्मनुष्यप्रायोग्यमेकोनत्रिंशतं तिर्यक्प्रायोग्यं

त्रिंशतं वा बध्नन्नेव भवति, देवप्रायोग्यं तु नैव बध्नाति, अतः स्वामित्वमनुसृत्य भावना कार्या। सन्निकर्षः पुनरेवम्—स्त्रीवेदस्य जघन्यप्रदेशं बध्नन् ज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरणनवकषोडशकषायभयजुगुप्सामिथ्यात्वाऽन्तरायपञ्चकलक्षणाऽष्टात्रिंशद्ध्रुवबन्धिप्रकृतीनां नियमेन जघन्यप्रदेशबन्धं च करोति, साताऽसातवेदनीयहास्यादियुगलद्वयगोत्रद्वयोद्योतनामरूपाणां स्याज्जघन्यप्रदेशबन्धं च करोति, अत्रोद्योतनाम्नः केवलं त्रिंशद्बन्धस्थान एव बन्धभावात् जघन्यप्रदेशबन्धः शेषं सुगमम् । तिर्यग्द्विकखगतिद्विकसंहननषट्कसंस्थानषट्कस्थिरषट्काऽस्थिरषट्कानामष्टाविंशतेः सप्रतिपक्षत्वात् स्याद्बन्धं करोति, त्रिंशद्बध्नञ्जघन्यप्रदेशबन्धं करोति, एकोनत्रिंशतं बध्नंस्तु संख्यातभागाधिकजघन्यप्रदेशं बध्नाति । मनुष्यद्विकस्य तु स्यात्संख्यातभागाधिकजघन्यप्रदेशबन्धं च करोति, अत्र मनुष्यगतिप्रायोग्यत्रिंशद्बन्धस्थानस्याऽभावात् न तस्य जघन्यप्रदेशबन्ध इति । तथा नवनामध्रुवबन्धिनीपञ्चेन्द्रियजातिनामौदारिकद्विकपराघातोच्छ्वासत्रसचतुष्कनाम्नामष्टादशानां स नियमेन बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु तासां जघन्यं संख्यातभागाधिकजघन्यं वा, भावना तु तिर्यग्द्विकप्रधानसन्निकर्षवत्कार्या । यथा स्त्रीवेदप्रधानसन्निकर्षो दर्शितस्तथैव पुरुषवेदप्रधानसन्निकर्षोऽपि भावनीयः, पुरुषवेदस्याऽपि जघन्यप्रदेशबन्धं मिथ्यादृष्टिरेव करोति, न च सास्वादनो कथं न करोतीति वाच्यम् , तत्र मिथ्यात्वस्याऽबध्यमानत्वेन भागहराणामल्पत्वेन भागफलस्याऽऽधिक्यात् ।

देवायुषो जघन्यप्रदेशबन्धं कुर्वन् स्त्यानर्द्धित्रिकाऽनन्तानुबन्धिचतुष्कमिथ्यात्वाऽप्रत्याख्यानावरणप्रत्याख्यानावरणपुरुषवेदस्त्रीवेदजिननामरूपाणामेकोनविंशतेः स्याद् बन्धमसंख्यगुणाधिकजघन्यप्रदेशबन्धं च करोति। आहारकद्विकस्य स्याद् बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु जघन्यं संख्यातभागाऽधिकं वा, तत्रैकत्रिंशतं बध्नञ्जघन्यं त्रिंशतं बध्नन् संख्यातभागाधिकं करोति । ज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरणचतुष्कनिद्राद्विकसंज्वलनचतुष्कभयजुगुप्सानामनवध्रुवबन्धिन्यन्तरायपञ्चकरूपाणामेकत्रिंशद्ध्रुवबन्धिप्रकृतीनां हास्यरतिसातवेदनीयदेवद्विकपञ्चेन्द्रियजातिवैक्रियद्विकसमचतुरस्रसुखगतिपराघातोच्छ्वासत्रसदशकोच्चैर्गोत्राणां च स नियमेन बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु तासामसंख्येयगुणाधिकं करोति ।

अथ भवप्रथमसमयवर्तिनां केवलमविरतसम्यग्दृष्टीनां येषां नामकर्मणां जघन्यप्रदेशबन्धो भवति, तेषां देवद्विकमनुष्यद्विकवैक्रियद्विकजिननाम्नां प्रत्येकं प्रधानीकृत्य परस्थानजघन्यप्रदेशबन्धसन्निकर्षं साऽर्धगाथाद्वयेन दर्शयति—"णरे"त्यादि, उक्तसप्तानामपि नामकर्माऽन्तर्गतत्वाद् बन्धप्रायोग्यनामप्रकृतीनां स्वस्थानसन्निकर्षवत्सन्निकर्षो विज्ञेयः । तथा स मनुष्यद्विकादिजघन्यप्रदेशं बध्नन् ज्ञानावरणपञ्चकाऽन्तरायपञ्चकोच्चैर्गोत्राणामेकादशानां नियमेन जघन्यप्रदेशबन्धं च करोति, अत्रोच्चैर्गोत्रस्य नियमेन बन्धस्तु प्रस्तुतबन्धकस्य सम्यग्दृष्टित्वेन नीचैर्गोत्रस्य बन्धाऽ-

द्वादशकषायभयजुगुप्सानां विंशतेः नियमेन बन्धं जघन्यमनन्तभागाधिकजघन्यप्रदेशबन्धं वा करोति हास्यादियुगलद्वयस्य पुरुषवेदस्य च स्याद्बन्धं जघन्यमनन्तभागाधिकजघन्यप्रदेशबन्धं वा करोति। तथा 7 नव ध्रुवबन्धिनी-पञ्चेन्द्रियजाति-पराघातो-च्छ्वास त्रसचतुष्करूपाणां षोडशानां नियमेन बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं जघन्यं संख्यातभागाऽधिकजघन्यं वा करोति. तत्र त्रिंशतं बध्नञ्जघन्यमेकोनत्रिंशदादिकं बध्नन्संख्यातभागाऽधिकं जघन्यमिति। शेषाणां बन्धप्रायोग्यनामप्रकृतीनां देवद्विकमनुष्यद्विकतिर्यग्द्विकौदारिकद्विकवैक्रियद्विकसंहननषट्कसंस्थानषट्कखगतिद्वयजिननामस्थिरषट्काऽस्थिरषट्करूपाणां सप्तत्रिंशत्प्रकृतीनां सप्रतिपक्षत्वादिना स्याद् बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु तासां जघन्यं संख्यातभागाऽधिकजघन्यं वा करोति। विशेषभावना सुगमा बन्धस्थानानि स्वामिनश्चाऽवधार्य कार्या।

दर्शनावरणनवकषोडशकषायभयजुगुप्सामिथ्यात्वानामष्टाविंशतेरन्यतमस्या जघन्यप्रदेशबन्धं कुर्वन् शेषाणां सप्तविंशतेर्ज्ञानावरणपञ्चकाऽन्तरायपञ्चकयोश्चेति सप्तत्रिंशत्प्रकृतीनां नियमेन जघन्यप्रदेशबन्धं च करोति, अष्टाविंशतेर्जघन्यप्रदेशबन्धस्वामिनामैक्यात् तत्र नानाविधबन्धस्थानाऽभावाच्च। सातासातवेदनीयवेदत्रयहास्यादियुगलद्वयानामुद्योतनाम्नो गोत्रद्वयस्य च स्याज्जघन्यप्रदेशबन्धश्च करोति। मनुष्यद्विकस्य स्याद्बन्धं संख्यातभागाऽधिकजघन्यप्रदेशबन्धश्च करोति, प्रस्तुतबन्धकस्य मनुष्यप्रायोग्यत्रिंशद्बन्धस्थानस्याऽभावात्। औदारिकद्विकपञ्चेन्द्रियजातिनवनामध्रुवबन्धिनीपराघातोच्छ्वासत्रसचतुष्करूपाणामष्टादशानां नियमेन बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु जघन्यं संख्यातभागाऽधिकजघन्यं वा करोति, तत्र त्रिंशद्बन्धकस्य जघन्यमेकोनत्रिंशतं बध्नतस्संख्यातभागाधिकजघन्यं करोति। भावना तु तेजोलेश्यामार्गणावत्कार्या। उक्तेतरासां नामप्रकृतीनां तिर्यग्द्विकसंहननषट्कसंस्थानषट्कखगतिद्वयस्थिरषट्काऽस्थिरषट्करूपाणामष्टाविंशति--प्रकृतीनां स्याज्जघन्यप्रदेशबन्धं संख्यातभागाधिकजघन्यप्रदेशबन्धं वा करोति, सप्रतिपक्षत्वात्स्याद्बन्धम्, बन्धस्थानद्वय आसां बन्धकत्वात् द्विविधप्रदेशबन्धश्च करोतीति ज्ञेयम्। तथा प्रस्तुतबन्धको देवद्विकं वैक्रियद्विकं जिननामाऽऽहारकद्विकमायुस्त्रयं च नैव बध्नाति।

वेदनीयद्वयस्य प्रत्येकं प्रधानीकृत्य प्रस्तुतपरस्थानजघन्यप्रदेशबन्धसन्निकर्षो मतिज्ञानावरणप्रधाने यथा दर्शितस्तथा ज्ञातव्यः, केवलं प्रतिपक्षप्रकृतिं न बध्नाति, इति विशेषः, उभयत्र जघन्यप्रदेशबन्धस्वामिनां समानत्वाद्, बन्धस्थानादीनां तुल्यत्वे सति भवप्रथमसमयगता मिथ्यादृष्टयः सम्यग्दृष्टयश्च स्वामिनो भवन्तीत्यर्थः. भावना तु सुगमा।

नपुंसकवेदहास्यरतिशोकारतिनीचैर्गोत्राणां षण्णां प्रत्येकं प्रधानीकृत्य प्रस्तुतसन्निकर्षो निद्राद्विकप्रधानसन्निकर्षवद्विज्ञेयः, उभयत्र जघन्यप्रदेशबन्धस्वामिनां मिथ्यादृष्टित्वादिना तुल्यत्वात्, केवलं प्रतिपक्षप्रकृतीस्तु न बध्नातीति। एवं नामायुर्वर्जप्रकृतिषु याभिस्सहैकेन्द्रियस्थाव-

गाऽऽतपनाम्नां बन्धः, तत्प्रधानसन्निकर्षो दर्शितः। अथ तिर्यगायुः प्रधानीकृत्य प्रस्तुतसन्निकर्षो नरकमार्गणावद् सनत्कुमारदेवमार्गणावद् वा विज्ञेयः, भावना तु सुगमा ततश्चाऽवधारणीयेति। पुरुषवेदस्त्रीवेदोच्चैर्गोत्रदेवमनुष्यायुष्करूपाः पञ्चप्रकृतयः ताभिस्सहैकेन्द्रियस्थावराऽऽतपनाम्नां बन्धाऽभावात्तत्प्रधानसन्निकर्षस्तेजोलेश्यामार्गणावदेव भवति। एवं नामकर्मसत्कोत्तरप्रकृतिषु तेजोलेश्यायामेकेन्द्रियस्थावराऽऽतपनामवर्जानां षट्पञ्चाशद्बन्धाऽर्हनामप्रकृतीनां जघन्यप्रदेशबन्धस्याऽष्टाविंशत्यादिबन्धस्थान एव भावेन तत्प्रधानसन्निकर्षे एकेन्द्रियस्थावराऽऽतपनाम्नां बन्धाऽभावाद्यथा सन्निकर्षः प्राप्यते तथैवाऽत्राऽपि विज्ञेयः। अत एव शेषप्रकृतीनां तेजोलेश्यामार्गणावदेव प्रस्तुतसन्निकर्षाऽतिदेशः। शेषप्रकृतयः पुनरिमा एकषष्टि—स्त्रीवेदपुरुषवेदोच्चैर्गोत्रदेवमनुष्यायुर्द्वयदेवद्विकमनुष्यद्विकतिर्यग्द्विकपञ्चेन्द्रियजातिनामौदारिकद्विकवैक्रियद्विकाऽऽहारकद्विकतैजस-कार्मणशरीरसंहननषट्कसंस्थानषट्कखगतिद्वयवर्णचतुष्काऽगुरुलघुचतुष्कनिर्माणनामोद्योतनाम-जिननामत्रसदशकाऽस्थिरषट्कनामानि ॥१४६७-१४७५॥

अथ शुक्ललेश्यामार्गणायां परस्थानजघन्यप्रदेशबन्धसन्निकर्षं निरूपयन्नाह—

एगस्स हस्सबंधी पणणाणावरणअंतरायाओ । सुक्काअ लहु णियमा सेसाण णवण्ह बंधेइ ॥
हस्सं सिआऽणमिच्छणपुमथीणद्धितिगसायइयराण । थीपणसंघयणागिइकुखगइदुहगतिगगोआणं ॥
णियमा छदसणावरणबारसकसायभयजुगुच्छाणं । लहुमुअऽणतगमहियं बंधइ पुमदुजुगलाण सिआ ॥
णियमा पंचिंदियधुवपरघाऊसासतससचउक्काणं । लहुमुअ संखसहियं सिआऽण्णणामेगवीसाए ॥ ४
लहुबंधी णवदंसणसोलकसायभयकुच्छमिच्छाओ । एगस्स लहुं णियमा धुवबंधीण सगतीसाए ॥
बंधइ सिआ जहण्णं दुवेअणीअसगणोकसायाणं । पणसंघयणागिइकुखगइदुहगतिगुच्चणीआणं ॥
णरउरलदुगपणिंदियपरघाऊसासतससचउक्काणं । धुवणामाण णियमा संखंसहियं सिआऽण्णणामाणं ॥ ७
सायियरुच्चाण सवे णाणावरणव्व णवरि ण विरुद्ध । णिद्दव्व तिवेअजुगलणीआण परं ण पडिवक्खं ॥ ८
मणुयाउस्स जहण्णं बंधंतो बंधए असंखगुणं । णियमाहिंतो खलु धुवबंधीणेगूणचत्ताए ॥
णरउरलदुगपणिंदियपरघाऊसासतससचउक्काणं । णरजोग्गछचत्ताए सेसाण सिआ असंखगुणं ॥ १०
देवाउस्स जहण्णं बंधंतो बंधए असंखगुणं । थीणद्धितिगदुबालसकसायमिच्छजिणाण सिआ॥
लहुमुअ संखंसहियं वाऽऽहारदुगस्स बंधए णियमा । धुवहस्सरइपुमऽण्णासुरजोग्गाणं असंखगुणं ॥ १२
आहारदुगस्सोवव्व णवरि देवाउगस्स लहुमेव । संघयणागिइपंचगकुखगइदुहगतिगलहुबंधी ॥
णामाण सठाणव्व उ बंधइ णिद्दव्व सेसाणं । लहुबंधी सेसाणं णामाणं बंधए सठाणव्व ॥
णियमाओ बंधइ पणणाणावरणुच्चपंचविग्घाणं । हस्सरएसं बंधइ सिआ खलु दुवेअणीआणं ॥
छदरिसणावरणपुरिसदुबालसकसायभयजुगुच्छाणं । णियमाऽणंतसहियं बंधइ जुगलाण दोण्ह सिआ ॥ १६

॥१४७६-१४९१॥ (सप्तमी गीतिरन्या चतुर्दश्युद्गीति)

(प्रे०) "एगस्से"त्यादि, शुक्ललेश्यामार्गणायामेकस्या ज्ञानावरणाऽन्तरायपञ्चकयो-र्जघन्यप्रदेशं बध्नन् शेषाणां नवानां नियमेन जघन्यप्रदेशबन्धञ्च करोति। स्त्यानर्द्धित्रिकमि-थ्यात्वाऽनन्तानुबन्धिचतुष्कस्त्रीवेदनपुंसकवेदसाताऽसातवेदनीयद्वितीयादिसंहननपञ्चकद्वितीया-दिसंस्थानपञ्चककुखगतिदुर्भगत्रिकगोत्रद्विकरूपाणामष्टाविंशतेः स्याज्जघन्यप्रदेशबन्धं च करोति।

दर्शनावरणषट्काऽऽद्यवर्जद्वादशकषायभयजुगुप्सानां नियमेन बन्धं करोति, ध्रुवबन्धित्वात्, प्रदेशबन्धं तु प्रथमगुणस्थानगत आसां जघन्यं करोति, चतुर्थगुणस्थानगतश्चाऽनन्तभागाधिकं जघन्यम्। पुरुषवेदहास्यरतिशोका ऽरतिमोहनीयानां स्याद्बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु जघन्यमनन्तभागाधिकजघन्यं वा निर्वर्तयति। नवनामध्रुवबन्धिनी-पञ्चेन्द्रियजाति-पराघातो-च्छ्वासत्रसचतुष्काणां षोडशानां नियमेन बन्धं करोति, प्रस्तुतबन्धकस्य भवप्रथमसमयगतस्य मनुष्यस्य देवस्य वाऽऽसामवश्यं बन्धभावात्प्रदेशबन्धं तु तासां जघन्यं संख्यातभागाधिकजघन्यं वा करोति, तत्र सम्यग्दृष्टिमनुष्यप्रायोग्य त्रिंशतं बध्नन्भवप्रथमसमयस्थो देव आसां षोडशानां जघन्यप्रदेशबन्धं करोति, तदितरस्तु संख्यातभागाऽधिकजघन्यप्रदेशबन्धं करोति। शेषाणामाहारकद्विकवर्जानां बन्धप्रायोग्याणां नामप्रकृतीनां स्याद्बन्धं करोति, परावर्तमानत्वेन गुणस्थानभेदेन भवभेदेन वा स्याद्बन्धः, प्रदेशबन्धं तु तासा जघन्यं संख्यातभागाऽधिकजघन्यं वा करोति। तत्र देवद्विकवैक्रियद्विकयोर्देवप्रायोग्यैकोनत्रिंशतं बध्नन जघन्यप्रदेशबन्धं करोति, अष्टाविंशतिं बध्नन् संख्यातभागाऽधिकजघन्यम्। मनुष्यद्विकौदारिकद्विकप्रथमसंहननप्रथमसंस्थानसुखगतिजिननामस्थिरषट्काऽस्थिराऽशुभाऽयशःकीर्तिनामानि, तासां सप्तदशानां मनुष्यप्रायोग्यां त्रिंशतं बध्नञ्जघन्यप्रदेशबन्धं करोति, मनुष्यप्रायोग्यामेकोनत्रिंशतं देवप्रायोग्यामष्टाविंशतिमेकोनत्रिंशतं वा बध्नन् यथासंभवं बन्धे सति संख्यातभागाऽधिकजघन्यप्रदेशबन्धं करोतीति। आहारकद्विकं तु नैव बध्नातीति। भावना तु सुगमा।

अथ गाथात्रयेण दर्शनावरणनवकादीनामष्टाविंशतेर्ध्रुवबन्धिप्रकृतीनां प्रत्येकं प्रधानीकृत्य प्रस्तुतसन्निकर्षं दर्शयति, तद्यथा--दर्शनावरणनवकषोडशकषायभयजुगुप्सामिथ्यात्वरूपाणा--मष्टाविंशतेरन्यतमस्या जघन्यप्रदेशं बध्नंस्तदितरासां सप्तविंशतेर्ज्ञानावरणपञ्चकाऽन्तरायपञ्च--कयोश्चेति सप्तत्रिंशत्प्रकृतीनां नियमेन बन्धं जघन्यप्रदेशबन्धं च करोति। साताऽसातवेदनीयद्वयवेदत्रयहास्यादियुगलद्वयद्वितीयादिसंहननपञ्चकद्वितीयादिसंस्थानपञ्चककुखगतिदुर्भगत्रिकगोत्रद्वयरूपाणां पञ्चविंशतेः स्याद्बन्धं जघन्यप्रदेशबन्धं च करोति, तत्र सप्रतिपक्षत्वात् स्याद्बन्धः, चतुर्दशनामप्रकृतीनामेकस्मिन्नेवैकोनत्रिंशद्बन्धस्थाने बन्धभावाज्जघन्यम्, वेदनीयगोत्रयुगलयोः स्त्रीनपुंसकवेदयोश्च जघन्यप्रदेशबन्धस्सुगमः, पुरुषवेदहास्यरतिशोकाऽरतिमोहनीयानां जघन्य एव प्रदेशबन्धस्तु प्रस्तुतबन्धकस्य प्रथमगुणस्थान एव भावादिति। मनुष्यद्विकौदारिकद्विकपञ्चेन्द्रियजातिपराघातोच्छ्वासत्रसचतुष्कनवनामध्रुवबन्धिरूपाणां विंशतेर्नियमेन बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु संख्यातभागाऽधिकजघन्यम्, प्रस्तुतबन्धकस्य नाम्न एकोनत्रिंशत एव बन्धभावात्, आसां जघन्यप्रदेशबन्धस्य त्रिंशद्बन्धस्थान एव निर्वर्तनाच्च। अत्र प्रस्तुतबन्धकस्य मिथ्यादृष्टित्वेन देवप्रायोग्यबन्धाऽभावाद् मनुष्यद्विकौदारिकद्विकयोर्नियमाद् बन्धो दर्शितः। शेषाणां

प्रस्तुतबन्धकस्य बन्धप्रायोग्यनामप्रकृतीनां प्रथमसंहननप्रथमसंस्थानसुखगतिस्थिरषट्काऽस्थिराऽशुभाऽयशःकीर्तिनाम्नां द्वादशानां स्याद्बन्धं संख्यातभागाऽधिकजघन्यप्रदेशबन्धं च करोति। भावना तु सुगमा। साताऽसातवेदनीयद्वयस्य प्रत्येकं प्रधानीकृत्य प्रस्तुतपरस्थानजघन्यप्रदेशबन्धसन्निकर्षो ज्ञानावरणप्रधानसन्निकर्षवज्ज्ञातव्यः, उभयत्र सम्यग्दृष्टिमिथ्यादृष्टीनां जघन्यप्रदेशबन्धस्वामित्वात्, केवलं प्रतिपक्षां प्रकृतिं नैव बध्नातीति विशेषः। वेदत्रयहास्यादियुगलद्वयनीचैर्गोत्राणां प्रत्येकं प्रधानीकृत्य प्रस्तुतसन्निकर्षो निद्राद्विकप्रधानसन्निकर्षवद्विज्ञेयः, केवलं प्रतिपक्षाः प्रकृतीर्नैव बध्नाति। प्रधानीकृतप्रकृतीनामतिदिष्टप्रकृतिवद् मिथ्यादृष्टिन एव जघन्यप्रदेशबन्धस्वामित्वात् बन्धप्रायोग्यप्रकृतिभिर्बन्धस्थानादिना च तुल्यत्वाच्च।

मनुष्यायुषो जघन्यप्रदेशं बध्नन् ज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरणषट्काऽप्रत्याख्यानावरणप्रत्याख्यानावरणसञ्ज्वलनचतुष्कभयजुगुप्सानवनामध्रुवबन्धिन्यन्तरायपञ्चकरूपाणामेकोनपञ्चाशत्प्रकृतीनां मनुष्यद्विकौदारिकद्विकपञ्चेन्द्रियजातिपराघातोच्छ्वासत्रसचतुष्कनाम्नां चेति पञ्चाशत्प्रकृतीनां नियमेन बन्धं करोति, स्वजघन्यप्रदेशबन्धतोऽसंख्येयगुणाऽधिकं प्रदेशं बध्नाति। शेषाणां मनुष्यप्रायोग्याणां षट्चत्वारिंशतः स्याद् बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं त्वसंख्येयगुणाऽधिकमिति। भावना तु सुगमा। शेषा मनुष्यप्रायोग्यषट्चत्वारिंशत्प्रकृतयः पुनरिमाः—मिथ्यात्वस्त्यानर्द्धित्रिकाऽनन्तानुबन्धिचतुष्करूपा अष्टौ ध्रुवबन्धिन्यः वेदनीयद्वयवेदत्रयहास्यादियुगलद्वयगोत्रद्वयसंहननषट्कसंस्थानषट्कखगतिद्वयजिननामस्थिरषट्कास्थिरषट्करूपा अष्टात्रिंशदध्रुवबन्धिप्रकृतयश्च।

देवायुषो जघन्यप्रदेशबन्धं कुर्वन् स्त्यानर्द्धित्रिकाऽऽद्यद्वादशकषायमिथ्यात्वजिननाम्नां स्याद् बन्धं करोति, गुणस्थानभेदेन बन्धाबन्धभावात्, सप्तमगुणस्थान आसां बन्धाऽभावाद् वा स्याद्बन्धः, प्रदेशबन्धं त्वासामसंख्येयगुणाधिकजघन्यं करोति, जघन्यप्रदेशबन्धस्य भवप्रथम समये भावात्, प्रस्तुतबन्धकस्तु पर्याप्ताऽवस्थागत इति। पद्मशुक्ललेश्याद्वये देवायुषा सह स्त्रीवेदस्य बन्धाऽभावाच्च स्त्रीवेदस्य ग्रहणम्। आहारकद्विकस्य स्याद्बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु जिननाम बध्नन् जघन्यं करोति, तस्य बन्धाऽभावे तु संख्यातभागाऽधिकजघन्यप्रदेशबन्धं करोति। ज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरणषट्कसञ्ज्वलनचतुष्कभयजुगुप्सातैजसकार्मणशरीरवर्णचतुष्काऽगुरुलघुपघातनिर्माणाऽन्तरायपञ्चकरूपा एकत्रिंशद्ध्रुवबन्धिप्रकृतयः, तथा हास्यरतिपुरुषवेदसातवेदनीयदेवद्विकपञ्चेन्द्रियवैक्रियद्विकसमचतुरस्रसुखगतिपराघातोच्छ्वासत्रसदशकोच्चैर्गोत्ररूपाश्चतुर्विंशतिरध्रुवबन्धिप्रकृतयः, तासां पञ्चपञ्चाशत्प्रकृतीनां नियमेन बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु स्वजघन्यप्रदेशबन्धतोऽसंख्येयगुणाऽधिकमिति। भावना तु सुगमा।

द्वितीयादिसंहननपञ्चकद्वितीयादिसंस्थानपञ्चककुखगतिदुःस्वरनामानि चतुर्दश प्रकृतयः, तासां जघन्यप्रदेशबन्धो भवप्रथमसमयवर्ती मार्गणागतमिथ्यादृष्टिरेव करोति, तासां प्रत्येकं प्रधानीकृत्य प्रस्तुतसन्निकर्षे नाम्नः स्वस्थानवत्सन्निकर्षो विज्ञेयः, नामेतरासां तु निद्राद्विकप्रधानसन्निकर्षवत्सन्निकर्षो विज्ञेयः, निद्राद्विकस्याऽपि मिथ्यादृष्टेरेव जघन्यप्रदेशबन्धलाभात् । भावना त्वतिदेशाऽनुसारेण विधेयेति । आहारकद्विकप्रधानसन्निकर्षस्त्वोघवद् भवति, केवलं देवायुषो जघन्यप्रदेशबन्धमेव करोतीति विशेषः, भावना तु तेजोलेश्यावत्कार्या । उक्तशेषाणां बन्धप्रायोग्याणां नामप्रकृतीनां मनुष्यप्रायोग्यत्रिंशद्बन्धस्थाने जघन्यप्रदेशबन्धयोग्यानां मनुष्यद्विकपञ्चेन्द्रियजात्यौदारिकद्विकतैजसकार्मणशरीरवर्णचतुष्काऽगुरुलघूपघातनिर्माणवज्रर्षभनाराचसंहननसमचतुरस्रसंस्थानसुखगतिपराघातोच्छ्वासजिननामत्रसदशकाऽस्थिराऽशुभाऽयशःकीर्तिनामानीति त्रयस्त्रिंशत्प्रकृतयः, तासां प्रत्येकं प्रधानीकृत्य परस्थानजघन्यप्रदेशबन्धसन्निकर्षो नाम्नां स्वस्थानवज्ज्ञातव्यः, यथा तत्र निरूपितस्तथैव प्रस्तुतेऽपि निरूपणीयः। ननु तर्हि परस्थानसन्निकर्ष एव निरूपणीयः, तस्मिन् स्वस्थानस्य सन्निकर्षस्याऽन्तर्भावात्, इति चेत्, सत्यम्, तस्य तदन्तर्भावेऽपि बालजीवानां स्मृत्यवष्टम्भकत्वात् पृथग्निर्देशः, तद्यथा—मूलप्रकृत्यभिन्नोत्तरप्रकृतीनां प्रथमं स्वस्थानसंज्ञया तं निरूप्य पश्चात्सर्वोत्तरप्रकृतिषु परस्थानलक्षणासु तं निरूपयन् शिष्याणां सुखेन हेत्वादीनामवगतिभावेन ग्रहणं स्यात् । अथ प्रकृतम्—मनुष्यगत्यादित्रयस्त्रिंशत्प्रकृतीनां प्रत्येकं प्रधानीकृत्य प्रस्तुतसन्निकर्षे नामेतरासां सन्निकर्षस्त्वेवम्—ज्ञानावरणपञ्चकाऽन्तरायपञ्चकयोरुच्चैर्गोत्रस्य च नियमेन बन्धं करोति, जघन्यप्रदेशबन्धं च । वेदनीयद्वयस्य स्याज्जघन्यप्रदेशबन्धं च करोति । दर्शनावरणषट्कपुरुषवेदाऽऽद्यवर्जद्वादशकषायभयजुगुप्सानामेकविंशतेर्नियमेन हास्यादियुगलद्वयस्य स्याद्बन्धं करोति, प्रस्तुतबन्धकस्य सम्यग्दृष्टित्वात् अनन्तभागाऽधिकजघन्यप्रदेशबन्धं च करोति। भावनादयस्तु सुगमाः । एवं षोडशगाथाभिः शुक्ललेश्यामार्गणायां परस्थानजघन्यप्रदेशबन्धसन्निकर्षो दर्शितः । एवं लेश्यामार्गणायां सन्निकर्षो निरूपितः । तदनु भव्यमार्गणायां सर्वोऽपि सन्निकर्ष ओघवदेव भवति, स च प्रान्तेऽतिदेशेन वक्ष्यते, अभव्यमार्गणायां तिरश्चीमार्गणया समं प्रस्तुतसन्निकर्षो निरूपितः ॥१४७६-१४९१॥

अथ क्रमप्राप्तायामुपशमसम्यक्त्वमार्गणायां परस्थानजघन्यप्रदेशबन्धसन्निकर्षं दर्शयन्नाह—

णामाण सुरविउव्वदुगलहुबंधी उवसमे सठाणव्व । सेसाण असखगुणं व सोलसण्ह णियमा दुवीसाए ॥
एगस्साहारदुगा लहुबंधी बंधए सठाणव्व । णामाण वीसधुवरइहस्सपुरिससायउच्चाणं ॥
णियमा असंखियगुणं बंधेइ सिआ दुणिद्दाणं । सेसाणिगसयरीए अणुत्तरसुरव्व विण्णेया ॥
(प्रथमा गीतिस्तथातृतीयोद्गीतिः) १४९२-१४९४॥

(प्रे०) "णामाणे"त्यादि, उपशमसम्यक्त्वमार्गणायां सप्तसप्ततिप्रकृतयो बन्धप्रायोग्यास्तास्य एकसप्ततेर्जघन्यप्रदेशबन्धो वैमानिकदेवस्य भवप्रथमसमये वर्तमानस्य सम्यग्दृष्टेरेव भवति,

अतस्तासां प्रत्येकं प्रधानीकृत्य प्रस्तुतसन्निकर्षोऽनुत्तरदेवमार्गणावद्भवति, भावनाऽपि तद्वद्विधेया । स च तृतीयगाथाप्रान्तेऽतिदिष्टः। अतो देवद्विकवैक्रियद्विकाहारकद्विकप्रधानसन्निकर्षं देशोनगाथात्रयेण दर्शयति, तद्यथा—देवद्विकवैक्रियद्विकयोरेकस्या जघन्यप्रदेशबन्धं कुर्वन् शेषाणां प्रधानीकृतेतरेषां नामकर्मणां सन्निकर्षो यथा स्वस्थानसन्निकर्षे दर्शितस्तथा ज्ञेयः, तथात्वात् । तथा स नामेतरासां ज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरणचतुष्कसंज्वलनचतुष्कपुरुषवेदभयजुगुप्साऽन्तरायपञ्चकोच्चैर्गोत्ररूपाणां द्वाविंशतिप्रकृतीनां नियमेनाऽसंख्येयगुणाऽधिकजघन्यप्रदेशबन्धं च करोति। निद्राद्विकप्रत्याख्यानावरणाप्रत्याख्यानावरणसाताऽसातवेदनीयहास्यादियुगलद्वयरूपाणां षोडशप्रकृतीनां स्याद्बन्धमसंख्येयगुणाऽधिकजघन्यप्रदेशबन्धं च करोति । प्रस्तुतबन्धकश्चतुर्थाद्यष्टमगुणस्थानषष्ठभागान्तं यावद् वर्तमानः परावर्तमानयोगी भवतीति स्वामित्वमवधार्य भावना कार्या। आहारकद्विकमध्यादेकस्या जघन्यप्रदेशं बध्नंस्तदितरस्या देवद्विकवैक्रियद्विकयोश्च नियमेन जघन्यप्रदेशबन्धं च करोति । ज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरणचतुष्कसंज्वलनचतुष्कपुरुषवेदहास्यरतिभयजुगुप्सासातवेदनीयपञ्चेन्द्रियजातितैजसकार्मणशरीरसमचतुरस्रसुखगतिवर्णचतुष्काऽगुरुलघुचतुष्कनिर्माणजिननामत्रसदशकोच्चैर्गोत्राऽन्तरायपञ्चकरूपाणां पञ्चाशत्प्रकृतीनां नियमेनाऽसंख्येयगुणाऽधिकजघन्यप्रदेशबन्धं च करोति, निद्राद्विकस्य स्याद्बन्धमसंख्येयगुणाऽधिकं जघन्यप्रदेशबन्धं च करोति । भावना तु सुगमेति ॥१४९२ १४९४॥

अथ सम्यग्मिथ्यात्वमार्गणायां प्रस्तुतसन्निकर्षं दर्शयन्नाह—

एगस्स हस्सबंधी मीसे णामूणधुवपुमुच्चाओ । णियमा बंधइ हस्सं अण्णेसिं एगतीसाए ॥
बंधइ सिआ पएसं जहण्णगं खलु दुवेअणीआणं । जुगलाण दोण्ह णरसुरउरलविउव्वदुगवइराणं ॥
तिथिराइगजुगलाणं सिआ लहुं अहव संखभागहियं । णियमाऽण्णेसिं एवं दुवेअणीयजुगलाण भवे ॥
णामाण लहुपएसं बंधंतो बंधए सठाणव्व । णामाणं पयडीणं णाणावरणव्व सेसाण ॥
॥१४९५-१४९८॥

(प्रे०) "एगस्से"त्यादि, सम्यग्मिथ्यात्वमार्गणायां चतुस्सप्ततिः प्रकृतयो बन्धप्रायोग्याः, आसां प्रत्येकं प्रधानीकृत्य प्रस्तुतसन्निकर्षो मतिश्रुताऽवधिज्ञानमार्गणावद् भवति । केवलं जिननाम न बध्नाति । भावनायां पुनरयं विशेषः—तत्र भवप्रथमसमय एवासां जघन्यप्रदेशबन्धभावात् भवप्रथमसमयस्थितिनामाश्रित्य भावना कृता, प्रस्तुते तु पर्याप्तावस्थागतानामेव लाभेन आसां जघन्यप्रदेशबन्धस्य परावर्तमानजघन्ययोगिनामेव लाभात्तानधिकृत्य भावना विधेया । तथा तत्र त्रयस्त्रिंशन्नामप्रकृतीनां मनुष्यप्रायोग्यत्रिंशतं बध्नन् देवो नारको वा जघन्यप्रदेशबन्धं करोति, प्रस्तुते जिननामवर्जानां नाम्नो द्वात्रिंशत्प्रकृतीनां मनुष्यप्रायोग्यैकोनत्रिंशत्प्रकृत्यात्मकबन्धस्थानं बध्नन् देवो नारको वा जघन्यप्रदेशबन्धं करोति ।

देवद्विकवैक्रियद्विकयोस्तत्रैकोनत्रिंशतं बध्नन्, प्रस्तुते त्वष्टाविंशतिं बध्नन् जघन्यप्रदेशबन्धं करोतीति ॥१४९५-१४९८॥

अथ सास्वादनमार्गणायां परस्थानजघन्यप्रदेशबन्धसन्निकर्षं निरूपयन्नाह—

एगस्स सासणे लहुबंधी बंधेइ णामवज्जाओ । धुवबंधीओ णियमा लहुं छनीमाअ सेसाणं ॥
बंधइ सिआ पएस दुवेअदुजुगलदुवेअणीआणं । णरदुगउज्जोआणं णीउच्चाणं खलु जहण्णं ॥
णियमा पणिंदिधुवुरलदुगपरघूसासतसचउक्काणं । लहुमुअ संखंमहिय सिआऽण्णतिरिजोग्गणामाणं ॥
एमेव सण्णियासो णेयो थीपुमदुवेअणीआणं । तह दुजुगऽणीआणं णवरं बंधइ ण पडिवक्खं ॥
तिरियाउहस्सबंधी णियमा धुवबंधितसचउक्काणं । तिरिउरलदुगपणिंदियखगाऊसासणीआणं ॥
बंधेइ असखगुणं सिआऽण्णतेत्तीसतिरियजोग्गाण । मणुयाउहस्सबंधी धुवबंधीणं छचत्ताए ॥
णरउरलदुगपणिंदियखगाऊसासतसचउक्काणं । णियमा असंखियगुणं सिआऽण्णणरजोग्गपयडीणं ॥
एगस्स हस्सबंधी देवतिगविउव्वदुगाउ इयरेसिं । णियमा लहुं च बंधइ पुमथीण सिआ असंखगुणं ॥
बधुवधिछचत्ताए सुहसत्तरससुरजोग्गसेसाणं । हस्सरईण य बंधइ णियमाहिन्तो असंखगुण ॥
णरदुगजहण्णबंधी णामाणं बंधए सठाणव्व । सेसाणं पयडीणं णाणावरणव्व एवमुच्चस्स ॥ (गीतिः)
सेसाणं णामाणं लहुबंधी बंधए सठाणव्व । णामाण लहुं णियमा बंधइ धुवबंधिणीआणं
बंधइ सिआ जहण्णं दुवेअदुजुगलदुवेअणीयाणं । ॥१४९९-१५०९॥

(प्रे०) "एगस्से"त्यादि, सास्वादनसम्यक्त्वमार्गणायां पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्मनुष्य-देवप्रायोग्यप्रकृतीनामेव बन्धो भवति । तत्राऽपि भवप्रथमसमये बन्धप्रायोग्यप्रकृतीनां भवप्रथमसमय एव जघन्यप्रदेशबन्धो भवति । तत्र च भवप्रथमसमये मिथ्यादृष्टीनामिव सास्वादनगुणस्थानस्थितानां देवप्रायोग्यस्य बन्धाऽभावात्तिर्यग्मनुष्यप्रायोग्यमेव ते बध्नन्ति । ततो भवप्रथमसमये बन्धप्रायोग्याणां चतुर्नवतेः प्रकृतीनां प्रत्येकं प्रधानीकृत्य प्रस्तुतसन्निकर्षो नरकौघमार्गणावद् भवति, उभयत्र पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्मनुष्यप्रायोग्यस्यैव बन्धकत्वात्, केवलं तत्राऽसंज्ञित्वं पश्चात्कृत्वागतस्य भावेन नियमतो मिथ्यादृष्टित्वात्प्रस्तुते तु सास्वादनसम्यग्दृष्टिरित्यतस्तत्र-मिथ्यात्वस्य नियमतो बन्धो भवति नपुंसकवेदहुण्डकसंस्थानसेवार्तसंहननानां त्रयाणां स्याद्बन्धो भवति, प्रस्तुते तु तासां चतसृणां बन्ध एव न भवतीति, तथा तत्प्रधानसन्निकर्षोऽपि नाऽस्ति । चतुर्नवतिप्रकृतयः पुनरिमाः—ज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरणनवकषोडशकषायभयजुगुप्साहास्यरतिशोकारतिस्त्रीवेदपुरुषवेदसातासातवेदनीयद्वयोच्चैर्गोत्रनीचैर्गोत्रतिर्यग्द्विकमनुष्यद्विकपञ्चेन्द्रियजातिनामौदारिकद्विकतैजसकार्मणशरीराऽऽद्यसंहननपञ्चकाऽऽद्यसंस्थानपञ्चकखगतिद्वयवर्णचतुष्काऽगुरुलघुचतुष्कनिर्माणोद्योतत्रसदशकाऽस्थिरषट्काऽन्तरायपञ्चकानि । आद्यगाथाचतुष्केण ग्रन्थकारेण षट्चत्वारिंशत्प्रकृतीनां सर्वोऽपि प्रस्तुतसन्निकर्षः दर्शितः । पञ्चमादिसार्धगाथायां तिर्यगायुः-प्रधानसन्निकर्षो गदितः, सोऽपि नरकगतिवदेव, केवलं मिथ्यात्वादिप्रकृतिचतुष्कस्य बन्धो न भवति । अत्र "ऽण्णतेत्तीसतिरियजोग्गाणं" इत्यनेन सातासातवेदनीयद्वयस्त्रीपुरुषवेदद्वय-

हास्यादियुगलद्वयसंहननपञ्चकसंस्थानपञ्चकखगतिद्वयोद्योतस्थिरषट्काऽस्थिरषट्करूपाः प्रकृतयो विज्ञेयाः। ततः षष्ठगाथाया उत्तरार्धप्रभृतिसार्धगाथया मनुष्यायुःप्रधानसन्निकर्षो दर्शितः, सोऽपि नरकगतिमार्गणावद्विज्ञेयः, केवलं तत्र मनुष्यायुषो जघन्यप्रदेशबन्धस्य चतुर्थगुणस्थानेऽपि भावेन स्त्यानर्द्धित्रिकाऽनन्तानुबन्धिचतुष्कमिथ्यात्वमोहनीयानां जिननाम्नश्च स्याद्बन्धो भवति, प्रस्तुते तु मिथ्यात्वजिननाम्नोर्बन्धाऽभावः, स्त्यानर्द्धित्रिकादिसप्तानां नियमेन बन्धश्च। एवं नपुंसकवेदहुण्डकसेवार्तनाम्नां बन्धाऽभावश्च। गाथार्थस्तु सुगमः। "सिआऽण्णणरजोग्गपयडीणं" इत्यनेन साताऽसातवेदनीयस्त्रीपुरुषवेदद्वयहास्यादियुगलद्वयसंहननपञ्चकसंस्थानपञ्चकखगतिद्वयस्थिरषट्काऽस्थिरषट्कनामगोत्रद्वयरूपाश्चतुस्त्रिंशत्प्रकृतयो ग्राह्याः। ततो गाथाद्वयेन देवत्रिकवैक्रियद्विकप्रधानसन्निकर्षो दर्शितः, तद्यथा-देवायुषो जघन्यप्रदेशं बध्नन् देवद्विकवैक्रियद्विकयोर्नियमेन बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु जघन्यं करोति, आसां पञ्चानां जघन्यप्रदेशबन्धस्य पर्याप्तावस्थागतानां घोलमानयोगिनां तिर्यग्मनुष्याणां युगपदेव भावात्। स्त्रीपुरुषवेदयोः स्याद् बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु तयोरसंख्येयगुणाऽधिकजघन्यम्, शेषाणां देवायुषा सह बन्धप्रायोग्याणां मिथ्यात्ववर्जषट्चत्वारिंशद्ध्रुवबन्धिहास्यरतिसातवेदनीयपञ्चेन्द्रियजातिसमचतुरस्रसुखगतिपराघातोच्छ्वासत्रसदशकोच्चैर्गोत्राणां पञ्चषष्टेर्नियमेन स्वजघन्यप्रदेशबन्धतोऽसंख्येयगुणाऽधिकं प्रदेशबन्धं च करोति, भावना तु सुगमा। एवं देवायुःप्रधानसन्निकर्षवदेव देवद्विकवैक्रियद्विकयोः प्रत्येकं प्रधानीकृत्य प्रस्तुतसन्निकर्षो भवति। पञ्चानां जघन्यप्रदेशबन्धस्वामिनामैक्यात्सन्निकर्षेऽप्येकरूपता। ततो गाथया मनुष्यद्विकोच्चैर्गोत्रयोः प्रधानीकृत्य प्रस्तुतसन्निकर्षो दर्शितः, स च सुगमः, नरकगतिमार्गणावद्भावनीयः। अत्र "एवमुचस्स" इत्यनेन यथा मनुष्यद्विकप्रधानसन्निकर्षे तेन सह बन्धप्रायोग्यप्रकृतीनां स्याद्बन्धादिकं जघन्यादि प्रदेशबन्धं च करोति, तथैव उच्चैर्गोत्रप्रधानेऽपि भावनीयमिति। ततः सार्धगाथया शेषाणां पञ्चचत्वारिंशन्नामप्रकृतीनां सन्निकर्षो दर्शितः, स च नरकगतिवदिह भावनीयः, मिथ्यात्वादिचतसृणां बन्धो न भवतीति विशेषः। शेषाः पञ्चचत्वारिंशन्नामप्रकृतयस्त्विमाः—तिर्यग्द्विक-पञ्चेन्द्रियजातिनामौ-दारिकद्विक-तैजसकार्मणा-द्यसंहननपञ्चका-द्यसंस्थानपञ्चक--खगतिद्वय- वर्णचतुष्का-ऽगुरुलघुचतुष्क-निर्माणो-द्योत-त्रसदशका-ऽस्थिरषट्कनामानि। तदेवं सार्धैकादशगाथाभिः सास्वादनमार्गणायां प्रस्तुतसन्निकर्षो निरूपितः॥१४९१-१५०६॥

मिथ्यात्वमार्गणायां तिर्यग्मार्गणया समं निरूपितः प्रस्तुतसन्निकर्षः, एवमसंज्ञिमार्गणायामपि तत्रैव दर्शितः, अधुना संज्ञ्याहारकाऽनाहारकमार्गणासु प्रस्तुतसन्निकर्षो वक्तव्यः, स चौघवत्, एवं यासु यासु मार्गणास्वोघवत्प्रस्तुतसन्निकर्षो भवति, ता तत्र तत्र स्थाने नोक्ताः, अतस्तासु सर्वासु स्वप्रायोग्यप्रकृतीनां परस्थानजघन्यप्रदेशबन्धसन्निकर्षमोघवदतिदेशेन तत्रापि कासुचिन्मार्गणासु कासाञ्चित्प्रकृतीनामपवादं च दर्शयन्नाह—

। सेसासु मग्गणासुं सण्णाउग्गाण ओघव्व ॥
णवरि सुरविउव्वदुगलहुबंधी नित्थं ण णीलकिण्हासु । जिणबंधी णरुरलदुगवइररिट्ठाणम्मि देवविउव्वदुगं ॥
(गीतिः) ॥१५१०-१५११॥

(प्रे०) "**सेसासु**" इत्यादि, शेषमार्गणा नामत इमाः—अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यगपर्याप्तमनुष्याऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रियाऽपर्याप्तत्रसमस्तैकेन्द्रियनवविकलाक्षसप्तपृथ्वीकायसप्ताऽप्कायैकादशवनस्पतिकायपञ्चेन्द्रियौघपर्याप्तपञ्चेन्द्रियत्रसकायौघपर्याप्तत्रसकायकाययोगौघकार्मणकाययोगपुरुषवेदक्रोधादिकषायचतुष्काऽसंयमचक्षुर्दर्शनाऽचक्षुर्दर्शनकृष्णनीलकापोतलेश्या-भव्यसंज्ञ्याहारकाऽनाहारकमार्गणाः, षट्षष्टिश्चैता मार्गणाः। एतासु बन्धप्रायोग्यप्रकृतीनां प्रत्येकं प्रधानीकृत्य प्रस्तुतसन्निकर्ष ओघवद्विज्ञेयः, यथौघे सप्तोत्तरशतस्यायुषां देवद्विकवैक्रियद्विकयोर्जिननाम्नश्च जघन्यप्रदेशबन्धस्वामिनां परस्परं भेदः, तथा प्रस्तुतसर्वमार्गणास्वपि, यथा चौघे यद्यद्बन्धस्थाने यासां जघन्यप्रदेशबन्धः; प्रस्तुतमार्गणासु तत्तद्बन्धस्थान एव तासां जघन्यप्रदेशबन्धः, यथौघे यासां भवप्रथमसमये यासाञ्च पर्याप्तावस्थायां जघन्यप्रदेशबन्धस्तासां प्रस्तुतेऽपि तथैव, केवलं पर्याप्तमार्गणासु चक्षुर्दर्शने पुरुषवेदमार्गणायाञ्च तिर्यग्मनुष्यायुषोः पर्याप्तावस्थायामेव बन्धभावेऽपि ताभ्यां सह बन्धप्रायोग्यप्रकृतीनां ततो भिन्नस्थाने भवप्रथमसमये जघन्यप्रदेशबन्धभावात्तत्र बन्धप्रायोग्यप्रकृतीनां तुल्यत्वाच्च नौघतस्तयोः सन्निकर्षे विशेषः । बन्धप्रायोग्यप्रकृतयस्तु सुगमाः प्रागनेकशो वर्णिताश्च । अत्र कृष्णलेश्यानीललेश्यामार्गणाद्वये जिननाम्नो भवप्रथमसमयेऽपर्याप्तावस्थायां बन्धाऽभावात्परावर्तयोगेन जिननाम्नो जघन्यप्रदेशबन्धस्य केवलं मनुष्येष्वेव लाभादोघे तु देवनैरयिकाणां तत्प्राप्तेश्चौघतस्तत्स्वामिनां प्रस्तुते भिन्नत्वम्, अतः सन्निकर्षोऽपि भिन्नः, ततोऽत्र विशेष दर्शयति—"णवरी"त्यादि, देवद्विकवैक्रियद्विकयोर्जघन्यप्रदेशबन्धं कुर्वञ्जिननाम नैव बध्नाति, तद्बन्धकस्य देवप्रायोग्याऽष्टाविंशतेरेव बन्धकत्वात् । तथा जिननाम्नो जघन्यप्रदेशबन्धं कुर्वन् मनुष्यद्विकौदारिकद्विकवज्रर्षभनाराचसंहनननाम्नां बन्धं नैव करोति, देवद्विकवैक्रियद्विकयोर्नियमेन बन्धं करोति, प्रदेशबन्धं तु यथौघे मनुष्यपञ्चकस्य स्वजघन्यतोऽसंख्येयगुणाधिकं करोति तथा प्रस्तुते देवद्विकवैक्रियद्विकयोः स्वजघन्यतोऽसंख्येयगुणाधिकप्रदेशबन्धं करोति । तथा स जिननाम्नो जघन्यप्रदेशं बध्नन्नेकेन कार्मग्रन्थिकमतेन देवायुषो नियमेन जघन्यप्रदेशबन्धश्च करोति, श्रीमद्भगवतीसूत्राऽभिप्रायेण तु सम्यग्दृष्टितिर्यग्मनुष्याणामशुभलेश्यायामायुषो बन्धाऽभावः, ततस्तन्मते देवायुषो बन्धो न भवतीति ॥१५१०-१५११॥

तदेवं परस्थानजघन्यप्रदेशबन्धसन्निकर्षः समाप्तस्तत्समाप्तौ च सप्तमं सन्निकर्षद्वारं निरूपणायां समाप्तिमगात् ।

॥ इति श्रीप्रेमप्रभाटीकासमलङ्कृते बन्धविधाने उत्तरप्रकृतिप्रदेशबन्धे
प्रथमाधिकारे सप्तमं सन्निकर्षद्वारं समाप्तम् ॥

टीकाकृत्-प्रशस्तिः



दिव्यप्रभावसम्पन्न-मखण्डब्रह्मवर्चसम् ।
प्रणुमो भव्यकल्पद्रुं **प्रेमसूरीश्वरं** गुरुं ॥१॥
येषां संशोधनेनायं ग्रन्थशुद्धो विभासते ।
सूक्ष्मशास्त्रदृशं तं **श्रीजम्बूसूरीश्वरं** नुमः ॥२॥
धर्मानन्दो मुनिर्विद्वान् कर्मसाहित्यसूक्ष्मधिः ।
विवेकवारिधिर्मान्यो व्यवहारविचक्षणः ॥३॥
शास्त्रे व्याकरणे चैव चतुरो धीधनो गुणी ।
शास्त्रेषु सूक्ष्मताद्रष्टा **मुनिश्रीवीरशेखरः** ॥४॥
इयं मुनिद्वयी श्रेष्ठा संशोधनविधायिनी ।
तां प्रति प्रवहामोऽत्र भूरीभागां कृतज्ञताम् ॥५॥
ग्रन्थनिर्माणमेतत्तु पाथोधिमन्थनोपमं ।
सहाया मुनिराजा ये तान् स्मरामोऽत्र सादरम् ॥६॥
नीरक्षीरविवेकेन विज्ञाः सारजिघृक्षवः ।
ग्रन्थं कृतार्थयन्त्वेनमिति विज्ञापनाऽस्ति नः ॥७॥
ग्रन्थनिर्माणजन्यं यत् प्राप्तं पुण्यं सुशोभनम् ।
मुच्यतात्तेन कर्मोत्थप्रकृतेर्बन्धनाज्जगत् ॥८॥
प्रदेशबन्धप्रथमा-धिकारद्वारसप्तकात् ।
सन्निकर्षमितं चात्र समाप्तं वर्णनं वरम् ॥९॥



द्रव्यसहायक-प्रशस्तिः

समनमयत वालः शात्रवान् योऽप्यवाल-
प्रकृतिरसितवालः श्रस्तरुक्चक्रवालः ।
जयतु नमिरवालः सोऽधरास्तप्रवालः
श्वसितविजितवालः पुण्यवल्ल्यालवालः ॥१॥

सज्ज्ञानं दर्शनं सत् सुविमलचरणं चेति रत्नत्रयीयं,
प्राप्ता भव्यैर्यतोऽब्धेरिव किल भपतिः श्रीः सुधा चादितेयैः ।
शुद्धं मार्गं क्रियाख्यं प्रकटयति तु गौर्यस्य हेलेरिव स्म,
जीयात् सद्दानसूरिः स विजयकमलाचार्यसत्पट्टधारी ॥२॥

दूरतो धूमोद्गारितुङ्गतरस्तम्भराजिदर्शनं कारयदहमदावादनगरं प्रेक्षावतां चेतसि स्वकीय-कार्पासोद्योगकेन्द्रियतां प्रत्यापयतीति प्रतिभाति । किन्तु कृते नगरप्रवेशे विशालतरराजमार्गाः संकोचभागुपवीथिकाश्च दृङ्मार्गमवतरन्ति, नगरस्य च रामणीयकावलोकनारम्भो भवति । अत्र च प्रायः प्रतिमार्गं प्रत्युपमार्गं चोच्चतरशिखरवन्ति प्रस्फुरद्ध्वजपताकाविभूषितानि बद्धपद्मा-सनप्रतिमावन्ति च जैनमन्दिराणि ददति नेत्रोत्सवम् ! प्रत्येकचैत्यं जिनशासनसमर्पितान् प्रायः सर्वानादर्शान् प्रत्यक्षीकारयति (प्रतिबिम्बयति) । महाशिलानिर्मितान्येवंविधानि समासन्नसार्द्ध द्विशतसंख्याकानि मन्दिराण्यत्र सन्तीदानीम्, अत्रैतावत्सु प्रभवत्सु सत्सु चैत्येसु 'हठीभाइवाडी' मन्दिरं त्वतिविशालं वर्तते । प्रातर्भक्तिभावाश्चितचेतसो जैनाः पूजाद्यर्थं मन्दिराणि गच्छन्त आगच्छन्तश्च यदा दर्शनगोचरीभवन्ति तदा नगरमिदं जैनपुरीति ज्ञायते । चातुर्मास्ये तदितर-समये चात्रत्योपाश्रयेषु साधूनां व्याख्यानानि, शास्त्राध्ययनानि सम्यग्ज्ञानक्रियातद्विषयक-वार्तालापाश्चेत्यादिकं च प्रेक्षकान् साश्चर्यमानन्दाम्बुधौ विहारयति । एष व्यतिकरो धर्मविषये जैनानां जागरुकतां साक्षात् कारयति, नगरं चेदं सविशेषतया पावित्र्यं प्रापयति ।

समृद्धिमन्नगरमिदं न केवलं द्रव्याकर्षणक्षेत्रे साफल्यमनुबोभवीति, किन्तु धर्ममूल-कमभग्नप्रवृत्त्युपप्रवृत्तिपरम्परायां सम्यक्तया सर्वात्मना च सम्यग्ज्ञानादिप्राप्तिव्यवस्थादिष्वपि । किञ्च अस्त्यत्र विश्वविद्यालयद्वयम् । जैनीयानि शास्त्रभाण्डागाराणि, ग्रन्थसंग्रहालयाश्चात्र चका-सति । तेषु च प्राचीनार्वाचीनसमग्रपुस्तकानि सन्ति संरक्षितानि । अमीषु सर्वेषु शास्त्रसंग्रहालयेषु एकं प्रधानशास्त्रसंचयं बिभ्राणं पौषधालयसंपृक्तं श्रीदानसूरीश्वरज्ञानमंदिरमस्ति यदेदमेकोनविंश-तिशताधिकाष्टानवतितमे वैक्रमे संवत्सरे निर्मापितमासीत् । सकलागमरहस्यविज्ज्योतिः-

शास्त्रविशारदाऽऽचार्यदेवश्रीमद्विजयदानसूरीश्वरपूज्यपादानां प्रतिमा अस्मिन्नेव ज्ञानमन्दिरे प्रतिष्ठापिता विद्यते। षड्भूमिकमिदमतिभव्यं ज्ञानमन्दिरं भूमिगृहसनाथमस्ति । तत्र च भूमिगृहे ऽयोनिर्मितेषु बृहत्तरेषु समुद्गकेषु सुव्यवस्थिततया निहितानि सन्ति सर्वविषयकपुस्तकानि । विश्वस्य विविधखण्डीयदेशीयस्य संस्कृतिविषयकेतिहासग्रंथाः धर्मशास्त्रग्रंथाः तत्त्वविमर्शादर्शाः दर्शनशास्त्राणि संस्कृत-प्राकृता-ऽऽङ्ग्ल-जर्मन-हिन्दीभाषामयाश्च ये ग्रन्था तेऽत्र विद्यन्ते । बहवो विमर्शका जिज्ञासवः पिपठिषवश्चा सुसाध्वादयोऽत्रागत्य सन्तर्पयन्ति स्वीयं स्वान्तम्। आचार्यप्रवरश्रीविजयदानसूरीश्वरमहाराजवरेण्यानां स्मारकत्वेन स्थितिजुडिदं स्थानं ध्रुवं ज्ञानदीपायते । एष ज्ञानदीपश्चिरायुर्भूयादित्यभ्यर्थना नरीनृत्यत्यस्मदन्तरङ्गे ।

अन्यदा पौषधालयसंपृक्तादसीयज्ञानमन्दिरसंचालका संश्रितज्ञानद्रव्यनिधितो भारतीयप्राच्यतत्त्व प्रकाशनसमितिसंस्थायै दशसहस्ररुप्यकपरिमितं धनराशिं विश्राणितवन्तः । तत्प्रदत्तैतद्धनराशितो व्ययं संपाद्य संस्थैषा पुस्तकमिदं मुद्रापितवती । सानन्दश्च सर्वान् विस्मापयत्येतत्संचालकानां नितरामनुकरणीया समादरणीया च श्रुतभक्तिः। एतेषां संस्थासंचालकानां संस्थायाश्च ट्रस्टीमहोदयानां धर्मसंस्कारानुरञ्जिताश्रुतभक्तिभावना परां विकस्वरतां प्रयायादिति शम् ।



बन्धविधाने

उत्तरप्रकृतिप्रदेशबन्धे

पूर्वार्धः समाप्तः

—: शुद्धिपत्रकम् :—

पृष्ठम्,	पंक्तिः,	अशुद्धिः	शुद्धिः,
२३	११	दर्शतिं	दर्शिनिं
२४	६	वन्धस्थानि	वन्धस्थानानि
२६	१५	ऽशुमा	ऽशुम
२६	२५	स्याद्यगाथा	इत्याद्यगाथा
२८	१७	षड्प्रकृति	षट्प्रकृति
२९	७	वन्धस्थान	वन्धस्थानं
२९	१३	विच्छेद	विच्छेदं
२९	१६	यावात्प०	यावत्प०
३०	२०	यथासंभव	यथासंभवं
३२	४	नामोच्चं	नामोच्च
३२	९	ट्टिपनके	टिप्पनके
३३	१८	ज्येष्ठ; प्रदेशवन्धको	ज्येष्ठप्रदेशवन्धको
३५	१८	बोद्धव्यः, ।	बोद्धव्यः ।
३६	३	त्ति	त्ति,
३७	१४	तन्नवक्तव्यं	तन्न वक्तव्यं
३७	२१	पर्याप्तीये र्नि ...	पर्याप्तीयें नि ...
३७	२८	जीवास्यी ...	जीवस्यो ...
४०	२	एवंयथा सम्भव	एवं यथासम्भवं
४२	१०	५५ ५८	५६-५९
४२	२६	वतिको	वर्तिको
४३	२७	°घार्गणायां	°घमार्गणायां
४३	२७	स्वामित्व	स्वामित्वं
४६	१	मिश्रा दि	मिश्रादि
४६	१३	सम्यद्दष्टि०	सम्यग्दृष्टि०
४८	१०	अतपो	आतपो
५०	३-४	सज्वलन कषायाणां	संज्वलनकषायाणां
५०	२६	दर्शितं,	दर्शितम्,
५०	५६	॥	॥७९-८१॥
५१	२०	॥	।
५१	२४	वन्धकाणाम	वन्धकानाम
५१	२७	कर्तरिड	कर्तरि ड
५२	१७	६३-६३	९२-६३
५३	८	चतुकस्य	चतुष्कस्य
५३	२३	त्रसयाम	त्रसनाम
५६	६	१०४॥	१०५॥
५९	७	कुत्रन्ति	कुर्वन्ति
५९	१६	ज्यष्ट	ज्येष्ठ
५९	१९	पर्यन्तामेव	पर्यन्तानामेव
६०	४-५	ऽतिदेश	ऽतिदेशो
६०	१७	ज्यष्ठ	ज्येष्ठ
६१	२०	विज्ञेयो,	विज्ञेयः,
६१	२४	देवप्राप्रायो०	देवप्रायो०
६३	२४	त्रयं	त्रिके
६५	२३	तिरश्चः	तिर्यञ्चः
६६	५	"सासार्णे"	"सासाणे"
६८	५	धोलण	घोलण
६८	९	योगी	जोगी
६८	११	संकशेश	संक्लेश
६८	११	जघन्यरवन्ध०	जघन्यरसवन्ध०

पृष्ठम्,	पंक्तिः,	अशुद्धिः,	शुद्धिः,
३४३	११	प्रकृतिर	प्रकृतिं
३४३	२१	मष्टविंशतेः	मष्टाविंशते
३४३	२६	छदरिसाणा	छदरिसणा
३४४	५	सम्मवो,	संभवः,
३४५	१५	६१४	८१४
३४५	२५	८१५॥	८१५-८१६॥
३४६	१५	स्वामिकानां	स्वामिकानां
३४७	५	णिद्धत्र	णिद्दत्र
३४७	३३	एकया	एकया
३४६	६-७	-ऽष्टाविंशति	ष्टाविंशति
३५०	२६	प्रायोग्यास्त	प्रायोग्यास्ता
३५१	४	दष्टव्य.	द्रष्टव्यः
३५३	१	ऽसन्निकर्ष	सन्निकर्ष
३५५	२६	मार्गणापु	मार्गणासु
३५६	६	चतुविंशति	चतुर्विंशति
३५७	१	सन्निकषः	सन्निकर्षः
३५७	३४	वेदनीयद्विक	वेदनीयद्विकं
३५८	१	ऽ०ना	ऽना०
३५८	४	नानो	नाम्नो
३५८	१२	तियग्द्विक	तिर्यग्द्विक
३५६	११	एत्र गाथया	एकगाथया
३५६	१७	प्ररूपितस्तापुन	प्ररूपितस्ताःपुन
३६०	७	संखसूण	संखंसूणं
३६०	१३	इति द्वे	इति तस्य द्वे
३६०	१४	प्रकृत्या	प्रकृतिभिः
३६१	२	स्त्यानर्द्धि	स्त्यानर्द्धि
३६१	४	प्रदर्शन्नाह	प्रदर्शयन्नाह
३६१	७	गुरुमुअ	गुरुमुअ
३६१	८	संखमागूण	संखमागूणं
३६२	६	संखंगुणूणं	संखगुणूणं
३६३	१	सन्निकप	सन्निकर्ष
३६८	६	जस ।णंत	जसपणंत
३६८	२७	विज्ञेयः	विज्ञेयः
३७०	१६	माय	माया
३७४	२२	हीनञ्च	हीनश्च
३७४	२६	कार्ति	कीर्ति
३७६	२०	संखसूणं	संखंसूणं
३७६	३२	षष्टी	षष्ठी
३७६	३३	विभ्भंग	विभङ्ग
६७८	२१	वेदयुगलगोत्राणां	वेदहास्यादि-युगलगोत्राणां
३७८	२९	सप्तभेदानां	सप्तभेदानां
३७८	२९	बन्धप्रायोग्त्वाद्	बन्धप्रायोग्यत्वाद्
३७९	१०	शेषा	शेष
३७६	२१	प्रधा	प्रधान
३७६	२५	त्रयानां	त्रयाणां
३८०	१८	दिवड्ढ	दिवड्ढ
३८०	२०	दिवड्ढ	दिवड्ढ
३८०	११	१०२५	१०२५
३८१	१६	द्दष्टव्यः	द्रष्टव्यः
३८२	२	अयश	मयश
३८४	७	सोगाण हार०	सोगाण हार०
३८६	३	सुगमा.	सुगमा
३८७	२	सन्निकर्ष	सन्निकर्ष
३८७	३०	ऽन्यतम	न्यतम
३८६	४	दुगिदिंय	दुगिंदिय
३९२	३०	मनु य	मनुष्य
३९३	२१	प्रदेशबन्धं स्त्व	प्रदेशबन्धं त्व
३९३	२२	ऽन देय	ऽनादेय
३९५	६	दृष्टव्य	द्रष्टव्य.,
३९७	३	षतु	चतु
३९७	४	तम्ये क	तम्येक
३९७	२६	ऽननन्ता	ऽनन्ता
३९७	२६	त्ताश्चमनुष्य	त्ताश्च मनुष्य
३९७	२६	सूचिता	सूचिता
३९७	३०	विज्ञेया	विज्ञेयाः
३९७	३२	सन्निकर्षं	सन्निकर्ष
३९८	३०	प्रायोग्यानामे	प्रायोग्यनामे
४०३	१४	बन्धस्त्व	बन्धं त्व
४००	१	११ ६	११३६

पृष्ठम्,	पंक्तिः,	अशुद्धिः	शुद्धिः,	पृष्ठम्,	पंक्तिः,	अशुद्धिः,	शुद्धिः,
४००	२६	संख्यातभगही	संख्यातभागहीन	४३२	३२-३३	षड्त्रिंशतः	षट्त्रिंशतः
४०४	१२	पञ्चेन्द्रि	पञ्चेन्द्रिय	४३३	१२	पञ्चेन्द्रिय	पञ्चेन्द्रिय
४०४	२८	प्रस्तु-	प्रस्तुत-	४३६	१५	करूत्वात्	करूपत्वात्
४०५	८	मज्ज्ञ	मज्ज	४३७	१	वयोभेदेपु	वचोभेदेषु
४०७	२३	प्रदश्य	प्रदर्श्य	४३७	४	उक्त अष्ट	उक्ताऽष्ट
४०७	२७	पञ्चेन्द्रि	पञ्चेन्द्रिय	४३८	१२	हुमुअ	लहुमुअ
४०८	१०	घुवणाम	धुवणाम	४३८	१८	दुगुच्छाणं	जुगुच्छाणं
४०९	७	स	तं	४३९	६	गौत्र	गोत्र
४०९	१७	एत्रौद्योत	एत्रोद्योत	४३९	१५	कषायानां	कषायाणां
४०९	१७	संयुता चतु	संयुताश्चतु	४४३	४	समुदीतानां	समुदितानां
४१४	३	तिर्यग्द्विकैदारि	तिर्यग्द्विकौदारि०	४५०	६	भागहियं	भागहियं ॥
४१४	११	२१२	१२१२	४४१	८	प्रदेशन्धं	प्रदेशबन्धं
४१७	७	१२२३२४	१२२३-२४	४४४	४	पर्याप्तामनुष्य	पर्याप्तमनुष्य
४१७	२५	३४	२४	४४९	५	खगतेद्वय	खगतिद्वय
४२२	१	तिरच्च्यां	तिरश्च्यां	४५१	१९	यशः	ऽयशः
४२२	५	तत्वन्धस्य	तद्वन्धस्य	४५१	२६	स्थिीए	त्थीए
४२३	६	नाम इति	नाम्नामिति	४५२	१४	शतस्योघ	शतस्यौघ
४२३	१५	ऽसंख्ये	ऽसंख्येय	४५४	२	प्रायोग्याप्रकृतीः	प्रायोग्याः प्रकृती
४२३	३०	विज्ञेयो.	विज्ञेयः,	४५४	१६	सन्निकर्षो	सन्निकर्ष
४२४	१७	धिकंज घन्य	धिकं जघन्य	४५४	२७	णमाणं	णामाणं
४२४	३०	शेषणां	शेषाणां	४५४	२८	१४४	१४०४
४२४	३०	र्निमेन	र्नियमेन	४५७	१८	चतुष्कानां	चतुष्काणां
४२५	१०	वेनीय	वेदनीय	४५८	२१	जोग्गाण माणं	जोग्गणामाणं
४२७	३	परघात	पराघात	५५९	१	सन्निकष	सन्निकर्ष
४२८	१३	सोधर्मे	सौधर्मे	४६६	१९	काश्चिद	काचिद
४२९	२५	जिनानाम	जिननाम	४६१	९	एकषष्टि	एकषष्टिः
४३०	८	रत स	रत' स	४६६	१०	वैक्रिक	वैक्रिय
४३१	५५	शतपानाम्नां	रातपनाम्नां	४७१	२५	लघुपघात	लघूपघात
४३२	१८	सहस्त्रारन्त	सहस्त्रारान्त	४७२	६	जात्यौदारिक	जात्यौदारिक



पृष्ठम्,	पंक्तिः,	अशुद्धिः,	शुद्धिः,
१८८	२२	बन्धस्य,	बन्धस्य
१८९	२२	वैक्रय	वैक्रिय
१९०	६	पञ्चविशतौ	पञ्चविंशतौ
१९०	१५	वैक्रय	वैक्रिय
१९१	५	सोधर्मे	सौधर्मे
१९२	१४	रशुभायश कीति	राशुभायशःकीर्ति
१९५	२	द्वयं,	द्वयं
१९६	१०	मुंहूर्तं,	मुंहूर्तं
१९६	११	चतुष्केना०	चतुष्केणा०
१९६	२३	भवप्रत्येन	भवप्रत्ययेन
१९६	२	बन्धोत्कृष्टोत्कृष्टान्तरं	बन्धोत्कृष्टान्तरं
१९८	८	द्वयं,	द्वयम्,
१९८	९	प्राप्यमानत्वात्	प्राप्यमाणत्वात्
२०१	२५	मनुष्कृष्ट	मनुत्कृष्ट
२०४	६	मनुम्य	मनुष्य
२०४	१५	तदेवं	तदेवं
२०६	१६	जीवपेक्षया	जीवाऽपेक्षया
२०८	१२	षष्मार्गणासु	षण्मार्गणासु
२०८	१३	०केसु	०केषु
२०८-९	१	०बन्धान्तरम् त्कृष्टप्रदेशबन्धस्यो. त्कृष्टा तरम्]	०बन्धान्तरमनु- त्कृष्टप्रदेशबन्धस्य जघन्योत्कृष्टान्तरम्]
२०९	१५	मागणा	मार्गणा
२०९	१५	तियग०	तिर्यग०
२१०	५	ज्येष्ठान्तरं।	ज्येष्ठान्तरं
२१०	२२	देशोना	देशोनाः
२११	८	ऽप्येव,	ऽप्येवम्,
२१२	१७	किञ्चत्	किञ्चित्
२१३	१७	स्त्यार्द्धित्रिक	स्त्यानर्द्धित्रिक
२१५	७	ऽणाहारक	ऽनाहारक
२१८	५	चतुष्केत्व	चतुष्के त्व
२२०	१४	उत्पति	उत्पत्ति
२२२	१५	प्रतिपतेः	प्रतिपत्तेः
२२४	४	प्राप्यमानत्वात्	प्राप्यमाणत्वात्

पृष्ठम्,	पंक्तिः,	अशुद्धिः,	शुद्धिः,
२२६	२३	प्रदर्शितं,	प्रदर्शितम्,
२२७	३	मनुष्योघ	मनुष्यौघ
२२८	१५	मुंहूर्त,	मुंहूर्तम्,
२२९	५	एतादृशा	एतादृशाः
२३०	४	वाच्यं	वाच्यम्,
२३०	१	प्राया'	प्राया
२३२	९	भाव	भावः
२३३	२९	कामांश्चित्	कामाञ्चित
२३४	२४	प्रयस्वीकर्तु०	प्रयं स्वीकर्तु०
२३५	२६	"पञ्चे"	पंचे
२३६	६	मार्गणया	मार्गणाया
२४०	४	ऽन्तर अन्त	ऽन्तरमन्त
२४१	५	प्रयुक्तं,	प्रयुक्तम्,
२४२	७	विज्ञेयं।	विज्ञेयम्।
२४२	१७	प्रयुक्तं,	प्रयुक्तम्,
२४२	२९	बन्धान्तरं प्रयुक्तम्,	बन्धान्तरप्रयुक्तम्,
२४४	८	बध्नाति	बध्नन्ति
२४४	१४	स्वायुवर्ज	स्वायुर्वर्जे
२४४	१४	स्यान्तंर	स्यान्तरं
२४५	८	ऽनन्तर	नन्तर
२४७	१	निरुपणां	निरूपणं
२५१	२६	पञ्चन्द्रिय	पञ्चेन्द्रिय
२५१	३०	अहारक	आहारक
२५२	२१	पञ्चाशत	पञ्चाशत्
२५४	२४	तिर्यगौघे	तिर्यगोघे
२५४	२८	बादरके	बादरैके
२५९	१५	तत	ततः
२५९	२७	दृष्टव्यः	द्रष्टव्यः
२६०	११	निरूयति	निरूपयति
२६२	१	स्योघतो	स्यौघतो
२६२	१६	त्वौघवद्	त्वोघवद्
२६४	२२	त्रिशत प्रमाण	त्रिशतप्रमाण
२६५	२४	जुगुप्साणं	जुगुच्छाणं
२६६	२२	शेषा चतु	शेषाश्चतु
२६७	२१	सनिकर्षो	सन्निकर्षो

पृष्ठम्,	पंक्तिः,	अशुद्धिः,	शुद्धिः,
२६७	२२	सनिकर्षो	सन्निकर्षो
२६८	५	।	॥
२७२	३०	रूपाष्वेका	रूपास्वेका
२७७	३	वन्धाऽभावात्,	बन्धाभावात्
२८१	१	सनिकर्षः	सन्निकर्षः
२८७	४	द्रष्ट्रप्य;	द्रष्टव्यः
२८७	१३	ऽनादेया-	ऽनादेव
२९०	१७	(प्रै०)	(प्रे०)
२९१	१	सन्निकष	सन्निकर्ष
२९१	२१	त्रिज्ञेय.	विज्ञेयम्
२९२	१	बन्धर्विहाणे	बंधविहाणे
२९२	११	५२१	६२१
२९३	१५	सखसूणं	संखसूणं
२९५	४	६३९	(६३९ अ.व.क.)
२९५	१३	जेष्ठ	ज्येष्ठ
२९५	२२	प्रकृतयोः	प्रकृत्योः
२९६	५	तदुवन्धो	तदुवन्धो
२९६	१३	देव	द्वेव
२९६	१८	६३९	६३९ क.
२९७	९	तेजस	तैजस
२९८	१३	वघ्नातीति	वध्नातीति
२९८	१५	मोवता	मोघतो
२९९	१२	मेहस्स	मोहस्स
३००	१	पएडि	पयडि
३००	१६	द्वयोयुगलयो	द्वयोर्युगलयो
३०२	२	सिंअ	सिअ
३०४	२३	सर्वासांजघन्य०	सर्वासां जघन्य०
३०४	२६	तेजस	तैजस
३०४	२६	तिर्येद्विक	तिर्यग्द्विक
३०७	१	सन्निकष	सन्निकर्ष
३०९	३	तुक	तुक्त
३१०	३	वति	भवति
३१३	६	सौधर्मैशान	सौधर्मेशान
३१५	१	मोनोयगाद्य	मनोयोगाद्य
३१७	७	पर्ड्विशतौ	पड्विंशतौ

पृष्ठम्,	पंक्तिः,	अशुद्धिः,	शुद्धिः,
३१८	१२	सहै	सहैव
३१८	२३	द्दष्टव्यः	द्रष्टव्यः
३१९	१	प्र० वं	प्र० वं० सन्नि
३१९	२६	आगइ	आगिइ
३२०/२२	१	विभंग	विभङ्ग
३२६	१	उत्तरपयडिबंधो	उत्तरपयडिपएसबंधो
३२६	१४	ऽस्थि-	ऽस्थिर-
३२६	२१	भावत्ता	भावात्ता
३२८	१३	णिद्ध	णिद्द
३२९	१७	स्यात्-	स्यात्
३२९	१३	माहारद्विक	माहारकद्विक
३२९	२७	आयुकर्म	आयु.कर्म
३३०	१२	बन्धिनी	बन्धिनीनां
३३०	१५	वर्तित्वेन्	वर्तित्वेन
३३१	२१	त्रिशतं	त्रिंशत
३३२	११	स्थन	स्थान
३३२	१२	करेति	करोति
३३२	१६	तद्युत्कृष्ट	तद्युत्कृष्ट
३३३	१	सन्निकप	सन्निकर्ष
३३४	२३	प्रधानीप्रकृते	प्रधानीकृतप्रकृते
३३६	१	डिपएसबंधो ।	बंधविहाणे उत्तरपयडिपएसबंधो
३३६	६	(प्र०)	(प्रे०)
३३६	१०	बन्धामा-	बन्धाऽ-
३३७	२८	त्वात्ता	त्वात्तद्
३३८	७	दग	दुग
३३८	८	णिद्दादग	णिद्दादुग
३३८	२१-२२	ज्वलन	संज्वलन
३३९	३	णियमा णा	णियमा णो
३४२	१	नरकोघद्य	नरकौघाद्य
३४२	१	मान	मान्त
३४२	३	दवेअ	दुवेअ
३४२	३०	प्रायोग्य	प्रायोग्ये
३४३	१०	द्दष्टव्यः,	द्रष्टव्यः,

पृष्ठम्,	पंक्तिः,	अशुद्धिः,	शुद्धिः,
६८	१३	योगी	जौगी
७०	१३	सप्तोरशत०	सप्तोत्तरशत०
७०	१६	निर्दशो	निर्देश
७०	२२	षड्विशतेः	षड्विंशतेः
७०	२७	मौदारिद्विकं	मौदारिकद्विकं
७१	२३	तस्याङ्ख्येय०	तस्यासङ्ख्येय०
७२	२०	ञ्चेन्द्रिय	पञ्चेन्द्रिय
७३	७	व्यंतर	व्यन्तर
७३	८	भवगदुगे	भवणदुगे
७३	६	निरुपितं।	निरूपितम्
७४	२८	धामिक०	धार्मिक०
७५	१६	तियगोघ	तिर्यगोघ
७५	२०-२१	द्विकयो	द्विकयो
७६	२८	रप्रकृतिपु	उत्तरप्रकृतिपु
७७	१३	व्यतिते	व्यतीते
७७	१३	ज्ञेय,	ज्ञेयः
७७	२५	प्रकृतीनां,	प्रकृतीनां
७८	११	सोधर्मे	सौधर्मे
८१	१६	दृष्टव्यः	द्रष्टव्यः
८१	१६	मागणा	मार्गणा
८२	२४	मेन्द्रिय	मिन्द्रिय
८२	२५	प्रकृतय	प्रकृतय-
८२	२६	चतुरोत्तरशम्	चतुरुत्तरशतम्
८३	४	पर्याप्तो,	पर्याप्तः,
८४	२६	कृत्यामक	प्रकृत्यात्मक
८५	१०	दर्शितं,	दर्शितम्।
८५	१६	यन्धमावान्न	यन्धाऽभावान्न
८५	२८	अहारक	आहारक
८८	२	वक्तव्य	वक्तव्यः
८८	२	पर्याप्तिं	पर्याप्ति
८९	६	ऋजु	ऋजु
९०	९	यंको त्रिशतं	यंकोनत्रिंशतं
९१	१०	पर्याप्तासंज्ञिनां	पर्याप्तासंज्ञिपञ्चे-न्द्रियाणां
९२	४-५	प्रायोग्यणां	प्रायोग्याणां
९३	२२	शरिर	शरीर
९४	५	मावादेकोन	रमावादेकोन
९४	१६	सज्ञि	संज्ञि
९५	२८	केन्दियाणां	केन्द्रियाणां
९६	१	चक्षुर्दशन	चक्षुर्दर्शन
९६	७	२०३	२०२
९१	१८	याद्वा०	या द्वा०
९८	१८	तेजः	तेजः-
९९	७	स्त्यानर्धि	स्त्यानर्द्धि
९९	२७	मुक्वत्वात्	मुक्तत्वात्
१००	५	लेश्यामा	लेश्यायामा
१००	१४	कालकरणान्तरं	कालकरणानन्तरं
१०३	१	ज	ज०
१०३	२२	न तु न	न तु
१०५	२४	विकलोघ	त्रिकलौघ
१०६	२१	प्र०	प्रे०
१०६	२८	न्द्रियोघ	न्द्रियौघ
१०६	२५	पत्यौघादौ	पत्योघादौ
११०	६	प्रस्तुत मनः	प्रस्तुतमनः
११२	४	गतिको,	गतिकः
११३	१८	कहि	कर्हि
११५	१९-२०	स्यानवरण	स्त्यानावरण
११५	२६	क्रम मध्यात्	क्रममध्यात्
११६	२४	तत्तीसा	तेत्तीसा
११७	२१	च्चेर्गोत्र	च्चैर्गोत्र
११८	१५	प्रकृती	प्रकृति
१२०	१२	वधमान	वर्धमान
१२१	११	ऽनुत्कृष्टदेश०	ऽनुत्कृष्टप्रदेश
१२२	१५	१६३-१६५	२६३-२६५
१२३	२६	मार्गयाः	मार्गणायाः
१२४	१७	वादरपयाप्तै०	वादरपर्याप्तै०
१२४	२५	गत्यौघ	गत्योघ
१२५	२४	१७०	२७०
१२७	८	शोकरति	शोकाऽरति

पृष्ठम् ,	पंक्तिः,	अशुद्धिः,	शुद्धिः,
१२७	१२	तिर्यंयग्द्विक	तिर्यग्द्विक
१२७	१५	सप्तनां	सप्तानां
१२७	२१	कपोत	कापोत
१२७	२६	पमाणो	प्रमाणो
१२८	१	मनु०	मनु-
१२८	२३	नीति।	नीति ॥२७७॥
१२८	२६	चेत्याष्ट	चेत्यष्ट
१३३	१६	पडौघ	पडोघ
१३३	२४	सुगमाः	सुगमा
१३४	१	शेषे	शेषे
१३४	२६	त्वौघ	त्वोघ
१३५	१६	ऽधिकाल	ऽधिककाल
१३६	१५	प्रायोग्या,	प्रायोग्या
१३७	२	वर्षप्रमाण०	साधिकाष्टवर्षप्रमाण०
१३८	१३	एतदौघ	एतदोघ
१३८	२२ २३	यावदाय्युत्पादो	यावदायुष्युत्पादो
१३९	१५-१६	वोत्पादाभावेन	वोत्पादस्य भावेन
१३९	२६	ऽवसेयः	ऽऽवसेयः
१४०	११	ऽस्थिराशुभा	ऽस्थिरशुभा
१४२	२	त्रयस्त्रिंश	त्रयस्त्रिंश
१४२	१८	प्रमाणष्वडा०	प्रमाणषडा०
१४३	३	४११	३११
१४३	१०	गौत्र	गोत्र
१४३	१२	दतिदेशो कृतो।	दतिदेशः कृतः
१४३	१६	निर्देशः	निर्देशः
१४३	१८	मुहूर्ते	मुहूर्ते
१४४	२१	तद्वितीय	तद्द्वितीय
१४८	२२	चक्षुर्दशन	चक्षुर्दर्शन
१५०	१	र्वजानां	र्वर्जानां
१५०	११	ऽणाहारि	ऽनाहारि
१५०	१७	तिर्यगऽसंयम	तिर्यगसंयम
१५१	२६	दर्शयेन्	दर्शयन्
१५६	१	गत्यौघादि	गत्योघादि
१५६	११	व्यंतर	व्यन्तर
१५८	१६	कालोस्तत्त	कालस्तत्त

पृष्ठम ,	पंक्तिः,	अशुद्धिः,	शुद्धिः,
१५८	२१	गन्तु	गन्तुं
१५८	२१-२२	एततत्	एतत्
१५९	८	पुन जघन्य	पुनर्जघन्य
१६१	१५	प्रमाण	प्रमाणः
१६२	१७	१४६	३४६
१६४	२५	निर्वत्य	निर्वर्त्य
१६४	२१	मऽवरोह	तोऽवरोह
१६७	३२	श्री बन्ध	श्रीवन्ध
१६८	६	मऽनुत्कृष्ट	मनुत्कृष्ट
१६८	९	कौत्कृष्ट	कोत्कृष्ट
१६९	२५-२६	चतुष्कानां	चतुष्काणां
१७०	१२	ऽधिक्यं	ऽऽधिक्यं
१७०	२६	पल्योपमपत्रय	पल्योपमत्रय
१७१	२	सागरोपम	सागरोपमशत
१७०	१६	निश्रेय	निःश्रेय
१७२	४	अत्थे	अत्थ
१७२	४	नेकशौ	नेकशो
१७५	१७	मुंहूर्तान्तो	मुहूर्ताऽन्तो
१७६	११	शूक्ष्माप्यका०	शूक्ष्माप्का०
१७६	१४	श्रेण्यासं	श्रेण्यसं
१७६	१४	व्यतिते	व्यतीते
१७९	१	ज्येष्ठान्तरं	ज्येष्ठाऽन्तरम्
१७९	१४	ऽवलिका	ऽऽवलिका
१७९	१५	प्रमाण	प्रमाणं
१७९	१६	तिर्यगऽपर्या	तिर्यगपर्याप्त
१८०	६	द्दष्टव्यम्	द्रष्टव्यम्
१८१	४	येतावदन्तर	यैतावदन्तर
१८१	११	लामो,	लाभः
१८२	६	ज्येष्टप्रदे बन्धस्य	ज्येष्ठप्रदेशबन्धस्य
१८२	११	मुहूर्त	मुंहूर्ते
१८३	२७	प्रवस्थाया	प्रावस्थायां
१८४	१०	प्रवस्था	प्रावस्था
१८४	२९	सुमगत्रि	सुमगत्रिक
१८७	६	प्रवर्तनेव	प्रवर्तनेन
१८८	८	भिरंतरं	भिरन्तरं